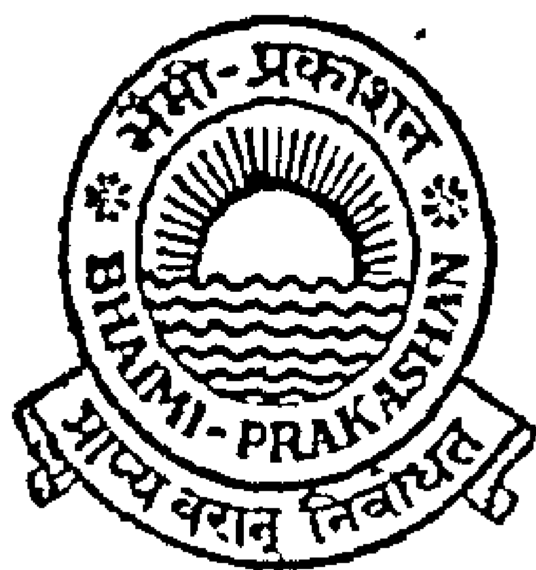
लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

प्रथम भाग
(पूर्वार्धम्)

भीमसेन शास्त्री

एम्० ए०, पीएच्० डी०, साहित्यरत्न



भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली—११०००६

प्रकाशक—

भैमी प्रकाशन
५३७, लाजपतराय मार्केट,
दिल्ली—११०००६

●

LAGHU SIDDHANTA KAUMUDI BHAIMIVYAKHYA

Part II Revised & Enlarged Second Edition 1983

●

मूल्य एक सौ रुपये

Price Rs One Hundred Only

●

संशोधित एवं परिवर्धित द्वितीय संस्करण १९८३

●

बी. के. कम्पोजिंग एजेंसी दिल्ली द्वारा कम्पोज करवा कर राधा प्रेस, मेन रोड, गांधी नगर, दिल्ली में मुद्रित।

तस्मै पाणिनये नमः

(१) येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥

(२) अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः ॥

(३) प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म । तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण ।

(४) तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत ।

(५) तदाचार्यः सुहृद् भूत्वाऽन्वाचष्टे ।

(६) शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः ।

(७) आकुमारं यशः पाणिनेः ।

(८) महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य ।

(९) सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम् ।

(१०) यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् ।

१. पाणिनीयशिक्षा (५८)।
२. पाणिनीयशिक्षा (५९) ।
३. महाभाष्य (१.१.१) ।
४. महाभाष्य (१.४.५१)।
५. महाभाष्य (१.२.३२) ।
६. महाभाष्य (२.३.६६) ।
७. महाभाष्य (१.४.८९) ।
८. काशिका (४.२.७४) ।
९. महाभाष्य (२.१.५८) ।
०. महाभाष्य (२.१.१) ।

विषय-सूची

(१) तस्मै पाणिनये नमः ... ... [३]

(२) आत्म-निवेदनम् ... ... [५]—[१६]

(३) व्याख्याकारस्य मङ्गलाचरणम् ... ... १— १

(४) सञ्ज्ञा-प्रकरणम् .. .. २— ३३

(५) अच्सन्धि-प्रकरणम् ... ... ३४— ९७

(६) हल्सन्धि-प्रकरणम् . ... ९८—१४२

(७) विसर्गसन्धि-प्रकरणम् ... ... १४३—१५८

(८) षड्लिङ्ग्याम्—

[१] अजन्तपुँलिङ्ग-प्रकरणम् ... ... १५९—२८५
[२] अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणम् ... .. २८५—३२०
[३] अजन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणम् ... ... ३२१—३४६
[४] हलन्त-पुँलिङ्ग-प्रकरणम् .. . ३४६—४७९
[५] हलन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणम् ... ... ४८०—४९३
[६] हलन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणम् . . ... ४९४—५१४

(९) अव्यय-प्रकरणम् ... ... ५१५—५८४

(१०) परिशिष्टे—

[१] विशेष-स्मरणीय-पद्यतालिका ... ... ५८५—५८६
[२] ग्रन्थ-सङ्केत-तालिका ... . . ५८७—५८७
[३] अव्यय-तालिका . ... ५८८—५९२
[४] पूर्वार्धगताष्टाध्यायीसूत्र-तालिका ... ५९३—५९७
[५] पूर्वार्धगतवार्त्तिकादि-तालिका ... ५९७—५९७
[६] सुँबन्त-शब्द-तालिका ... ... ५९७—५९९
[७] परिभाषा-न्यायादि-तालिका .. ... ६००—६०२

——×——

आत्म-निवेदनम्

संस्कृतभाषा अनेक भाषाओं की जननी तथा विश्व की एक अत्यन्त प्राचीन समृद्ध भाषा है। विश्व का अद्ययावत् ज्ञात प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद इसी भाषा में ही निबद्ध है। यदि कोई संस्कृतभाषा पर अधिकार कर ले तो विश्व की अनेक भाषाओं पर उस का आधिपत्य अल्प आयास से ही सिद्ध हो सकता है। इस के अतिरिक्त संस्कृताध्ययन का एक और भी बड़ा प्रयोजन है। क्योंकि विश्व के अनेक देशों की सांस्कृतिक परम्पराओं वा कलाकौशल आदि विद्याओं का आधार या उत्प्रेरक भारत और तत्कालीन भाषा संस्कृत ही रही है अतः संस्कृत के ज्ञान से ही उन का ज्ञान सम्भव है। आजकल के नवप्रसूत भाषाविज्ञान जैसे अपूर्वशास्त्र का भी एक प्रमुख आधार-स्तम्भ संस्कृतभाषा का अध्ययन ही रहा है। हिन्दू-आर्यों के लिए संस्कृतभाषा का जानना तो और भी आवश्यक है क्योंकि उन की निखिल धार्मिक वा सांस्कृतिक परम्पराएं संस्कृतभाषा में ही निबद्ध हैं। संस्कृतभाषा में केवल भारत का ही नहीं अपितु विश्व और मानव जाति के हज़ारों वर्ष पूर्व का इतिहास अब इस जीर्ण अवस्था में भी सुरक्षित है। अतः इतिहास ज्ञान की दृष्टि से भी यह भाषा कम उपादेय नहीं है।

संस्कृतभाषा यद्यपि हजारों वर्षों तक लोकव्यवहार वा बोलचाल की भाषा रह चुकी है और उस में यह उपयोगी गुण संसार की किसी भी भाषा से कम नहीं है तथापि विधिवशात् लोकव्यवहार वा बोलचाल से सर्वथा उठ जाने के कारण वह आज मृतभाषा (Dead Language) कही जाती है। अतः आज के युग में उस का अध्ययन बिना व्याकरणज्ञान के होना सम्भव नहीं। इस के साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि संसार में केवल संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जिस के व्याकरण सर्वाङ्गीण और पूर्ण परिष्कृत कहे जा सकते हैं। संस्कृतभाषा के इन व्याकरणों में महामुनिपाणिनि-प्रणीत पाणिनीयव्याकरण ही इस समय तक के बने व्याकरणों में सर्वश्रेष्ठ, अत्यन्त परिष्कृत, वेदाङ्गों में गणनीय, प्राचीन तथा लब्धप्रतिष्ठ है। व्याख्योपव्याख्याओं तथा टीकाटिप्पण के रूप में जितना इस का विस्तार हुआ है उतना शायद भारत में किसी अन्य व्याकरण वा विषय का नहीं हुआ। आज भी लगभग एक हजार से अधिक ग्रन्थ पाणिनीयव्याकरण पर उपलब्ध हैं।

महामुनि पाणिनि का काल अभी तक ठीक तरह से निश्चित नहीं हुआ। परन्तु अनेक विद्वानों का कहना है कि उन का आविर्भाव भगवान् बुद्ध (५४३ ई० पूर्व) से बहुत पूर्व हो चुका था। कारण कि भगवान् बुद्ध के काल में जहां पाली और प्राकृत भाषाएं जनसाधारण की भाषाएं थीं वहां पाणिनि के काल में उदात्तादिस्वरयुक्त संस्कृतभाषा

का ही जनभाषा होना अष्टाध्यायी के अनेक साक्ष्यों से सुतरां सिद्ध होता है[1]। पाणिनि ने स्वयं भी लोकभाषा को अष्टाध्यायी मे 'भाषा' के नाम से अनेकश प्रयुक्त किया है[2]। जो लोग अष्टाध्यायी मे आये श्रमण, यवन, मस्करिन्[3] आदि शब्दो को देख कर पाणिनि को बुद्ध और सिकन्दर से अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं वे भ्रान्त हैं, क्योंकि ये शब्द तो बुद्ध से बहुत पूर्व ही भारतीयो को परिचित थे। सन्यासी अर्थ मे श्रमण शब्द ब्राह्मणग्रन्थों मे प्रयुक्त है। मस्करिन् शब्द दण्डधारण करने के कारण साधारण परिव्राजकमात्र का वाचक है बुद्धकालीन मखली गोसाल नामक आचार्य का नहीं[4]। यवनजाति से तो भारतीय लोग यूनानी सम्राट् सिकन्दर के भारत पर आक्रमण करने से बहुत पहले ही परिचित थे। महाभारत मे अनेक स्थानो पर यवनजाति का उल्लेख

---

१. पाणिनि ने उस समय की जनभाषा मे व्यवहृत अत्यन्त सूक्ष्मभेदो को भी अपनी अष्टाध्यायी मे सुचारुरूप मे सकलित किया है। यथा—विपाश् (व्यास)नदी के उत्तर को ओर वर्तमान कूपो के लिए आद्युदात्त 'दात्त' शब्द तथा दक्षिण की ओर वर्तमान कूपों के लिये अन्तोदात्त 'दात्त' शब्द का व्यवहार किया है, देखें पाणिनिसूत्र—उदक् च विपाश. (४ २ ७४)। पाणिनि ने तत्कालीन लोकभाषा मे प्रचलित अनेक मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग दर्शाया है, यथा—कर्णेहत्य पय. पिबति, मनोहत्य पय. पिबति (१.४ ६५), शय्योत्थाय धावति (३.४ ५२), यष्टिग्राह युध्यन्ते (३ ४.५३), केशग्राह युध्यन्ते (३.४ ५०), स्वादुङ्कार भुङ्क्ते (३ ४ २६)। केशाकेशि, दण्डादण्डि (२.२.२७), तीर्थध्वाङ्क्ष (२ १.४२), मूलकपणः (मूली की गड्डी), शाकपण (शाक की गड्डी—३ ३ ६६), गोपुच्छिक. (गाय की पूछ को पकड कर नदी पार करने वाला—४ ४ ६), नाविक, घटिक., बाहुका (४.४ ७), माञ्जिष्ठम् (मजीठ से रगा गया वस्त्र—४ २ १) इत्यादि सैंकडो लोकभाषा मे प्रचलित शब्दो का अन्वाख्यान अष्टाध्यायी मे उपलब्ध होता है।

२ यथा—भाषायां सदवसश्रुव. (३.२.१०८), प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (७ २ ८८), सप्यशिश्वोति भाषायाम् (४ १ ६२), स्थे च भाषायाम् (६ ३.२०), पूर्वे तु भाषायाम् (८ २ ६८), विभाषा भाषायाम् (६.१ १८१) इत्यादि।

३ कुमारः श्रमणादिभि (२ १ ७०), इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् (४.१.४९), मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयो. (६.१. १५४)।

४ यदि यह मखली गोसाल—परिव्राजकविशेष के लिये ही प्रयुक्त हुआ होता तो उस के अर्थनिर्देश के लिये पाणिनि सामान्य परिव्राजक पद का निर्देश न करते।

आया है[१]। भगवान् कृष्ण का भी कालयवन से युद्ध हुआ था[२]। इसके अतिरिक्त अष्टाध्यायी में निर्वाणोऽवाते (८.२.५०) सूत्र में प्रतिपादित 'निर्वाण' पद बौद्धकालिक (मोक्ष) अर्थ की ओर संकेत नहीं करता अपितु 'निर्वाणः प्रदीपः' (दीपक बुझ गया) अर्थ की ओर संकेत करता है, इस से भी पाणिनि का बुद्ध से पूर्वभावी होना निश्चित होता है अन्यथा वे निर्वाण शब्द के बौद्धकाल में अत्यन्त प्रसिद्ध मोक्ष अर्थ का कभी भी अपलाप न कर पाते।

गोल्डस्टूकर तथा रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर आदि ने पाणिनि का समय सातवीं ईसापूर्व शताब्दी माना है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि को ईसा से ४५० वर्ष पूर्व का सिद्ध किया है। इन सब से हटकर नये भारतीय ढंग के विवेचक श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक अपनी अनेक युक्तियों से पाणिनि का काल विक्रम से २९०० वर्ष पूर्व सिद्ध करते हैं[३]। इस तरह पाणिनि का काल अभी विवादास्पद ही समझना चाहिये।

पाणिनि का इतिवृत्त उन के काल से भी अधिक अज्ञात है। भाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार इन की माता का नाम दाक्षी था[४]। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि, काव्यालङ्कारकार भामह तथा गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान ने पाणिनि के पूर्वजों का निवासस्थान शलातुर नामक ग्राम माना है[५]। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार यह स्थान इस समय पाकिस्तान के उत्तरपश्चिमीसीमाप्रान्त के निकट अटक के पास लहुर नाम से (जो शलातुर का अपभ्रंश है) अभी तक प्रसिद्ध है। चीनी यात्री य्यूआन् चुआङ् (प्रसिद्ध नाम ह्वेन्त्साङ्ग) सप्तम शताब्दी के आरम्भ में मध्यएशिया से स्थलमार्गद्वारा भारत आता हुआ इसी स्थान पर ठहरा था। उस ने लिखा है कि—"उद्भाण्ड (ओहिन्द) से लगभग चार मील दूर शलातुर स्थान है। यह वही स्थान है जहां ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ था। यहां के लोगों ने पाणिनि की स्मृति में एक मूर्त्ति बनाई है जो अब तक मौजूद है।[६]" कथासरित्सागर के अनुसार पाणिनि बचपन में जड़बुद्धि थे।

---

१. तुर्वसु की सन्तान यवन कहलाई—(महाभारत० १.८५.३४); सहदेव ने दिग्विजय के समय इन के नगर को जीता था—(महाभारत० सभा० ३१.७३); नकुल ने यवनों को परास्त किया था—(महाभारत० २.३२.१७); काम्बोजराज एक लाख यवनों की सेना ले कर दुर्योधन के पास आया—(महाभारत० उद्योग० १९.२१-२२); यवन पहले क्षत्रिय थे परन्तु ब्राह्मणों के साथ द्वेष के कारण शूद्रभाव को प्राप्त हो गये—(महाभारत० अनुशासन० ३५.१८)।

२. देखें—महाभारत० २.३८.२९ दाक्षिणात्यपाठ।

३. देखें—संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथमभाग, पृष्ठ २०५।

४. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः—(महाभाष्य १.१.२०)।

५. देखें—मैमीप्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित न्यास-पर्यालोचन (पृष्ठ ४५—४६)।

६. देखें—हुएन्त्साङ्ग का भारतभ्रमण, इण्डियनप्रेस प्रयाग (पृष्ठ १०८)।

इन के गुरु का नाम 'वर्ष' था। गुरुपत्नी की प्रेरणा से इन्होंने हिमालय पर जा कर तपस्या से विद्या प्राप्त की।[१] कतिपय विद्वानों का कथन है कि छन्द सूत्र के निर्माता पिङ्गल मुनि इन के कनिष्ठ भ्राता थे।[२] कुछ अन्य विद्वान् पाणिनि पिङ्गल और निरुक्तकार यास्क को लगभग समकालिक ही मानते हैं[३]। श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार पाणिनि के मामा का नाम व्याडि था। इन्होंने पाणिनीय व्याकरण के दार्शनिकपक्ष पर एक लाख श्लोकों में 'संग्रह' नामक ग्रन्थ रचा था जो अब बहुत काल से सर्वथा लुप्त हो चुका है। महाभाष्य और काशिका के अनुसार पाणिनि ने अपना ग्रन्थ अनेक शिष्यों को कई बार पढ़ाया था।[४] भाष्य में इन के एक शिष्य कौत्स का उल्लेख भी मिलता है।[५] राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में एक अनश्रुति का उल्लेख किया है जिस के अनुसार पाणिनि की विद्वत्ता की परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई थी और उस के बाद ही उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त हुई।[६]

महामुनि पाणिनि जैसा वैयाकरण संसार में फिर आज तक उत्पन्न नहीं

---

१. अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत्,
तत्रैकः पाणिनिर्नाम जडबुद्धितरोऽभवत्।
स शुश्रूषापरिक्लिष्टः प्रेषितो वर्षभार्यया,
अगच्छत्तपसे खिन्नो विद्याकामो हिमालयम्॥
(कथासरित्सागर, निर्णयसागर, पृष्ठ ८)

२. ऋक्सर्वानुक्रमणी के वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य अपनी वेदार्थदीपिका में लिखते हैं—तथा च सूत्र्यते भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन—क्वचिन्नवकाश्चत्वारः(पिङ्गलसूत्र ३.३३) इति परिभाषा।

३. यास्क ने निरुक्त १ १७ पर पाणिनि का पर सन्निकर्षः संहिता (१.४.१०८)सूत्र उद्धृत किया है। पिङ्गल उरोबृहतीति यास्कस्य (छन्द सूत्र ३.३०) में यास्क का स्मरण करते हैं। पाणिनि ने ६ २.८५ के गण में पिङ्गल का तथा ४.३ ७३ के गण में पिङ्गलकृत छन्दोविचिति का स्मरण किया है। यस्कादिभ्यो गोत्रे(२.४.६३) में यास्क का भी उल्लेख किया है। अत इन प्रमाणों के आलोक में श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक आदि इन तीनों की समकालिकता का प्रतिपादन करते हैं। देखें—संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग (पृष्ठ २०४)।

४. उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। केचिदाकडारादेका संज्ञा इति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति—(महाभाष्य १.४.१)। पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः—(काशिका ६.२.१०४)।

५ उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्—(महाभाष्य ३.२.१०८)। अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्, उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम्—(काशिका ३ २.१०८)।

६. श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा। अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।

हुआ। साङ्गोपाङ्ग वेद, उस की अनेकविध शाखाएं, ब्राह्मण साहित्य, उपनिषत्, कल्प, ज्योतिष्, इतिहास, कोष, विविधकलात्मक ग्रन्थ, काव्यनाटक, नानाविध देशीय वा प्रान्तीय लोकभाषाओं के सूक्ष्मप्रभेदक प्रबन्ध—इस प्रकार न जाने अन्य भी कितना विशाल वाङ्मय उन के अध्ययन और मनन का विषय रहा होगा इस की आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। उन का निःसन्देह लोक एवं वेद पर समानरूप से अधिकार था। वे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी में प्रत्यक्षतः वा अप्रत्यक्षतः सैकड़ों व्यक्तियों, ग्रन्थों, ग्रामों, जनपदों और स्थानों का स्मरण करते हैं[1] जिन से तत्कालीन संस्कृति, इतिहास, समाजव्यवस्था तथा राजनैतिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस में कुछ सन्देह नहीं कि उन्हें तत्कालीन इतिहासपरम्परा, साहित्य, कला, दर्शन आदि का पूर्ण ज्ञान था। सचमुच वे अलौकिकप्रतिभाशाली व्यक्ति थे।[2] उन जैसे व्यक्ति को जन्म दे कर भारत का मुख चिरकाल तक उज्ज्वल रहेगा। इस प्रकार के व्यक्ति सृष्टि मे बार बार उत्पन्न नहीं होते। एक सुभाषित के अनुसार उन का निधन एक जङ्गली सिंह के कारण हुआ माना जाता है[3]। वैयाकरणों में प्रसिद्धि है कि उन का निधन त्रयोदशी के दिन हुआ था। मास और पक्ष ज्ञात न होने से प्राचीन परिपाटी के पण्डित अब भी प्रत्येक त्रयोदशी के दिन व्याकरण का अनध्याय मनाते हैं।

पाणिनि के व्याकरण का सम्भवतः उस की विशेषताओं के कारण बहुत शीघ्र प्रचार वा प्रसार हुआ। लोगों ने पाणिनीयव्याकरण के आगे पूर्वप्रचलित ऐन्द्र आदि सब व्याकरणों को तुच्छ वा हेय समझा। पाणिनि से कतिपय शताब्दी बाद कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों द्वारा पाणिनि के सूत्रार्थों वा गुप्त आशयों को भली-भांति प्रकट

---

१. निदर्शनार्थ यथा—वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (४.३.९८); कठचरकाल्लुक् (४.३.१०७); पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४.३.११०); तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् (४.३.१०२); काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः (४.३.१०३); पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (४.३.१०५); शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४.३.१०६); कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (४.३.१११); सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ (४.३.९३); लोपः शाकल्यस्य (८.३.१९); लङः शाकटायनस्यैव (३.४.१११); ऋतो भारद्वाजस्य (७.२.६३); अड् गार्ग्यगालवयोः (७.३.९९) इत्यादि।

२. पाणिनीयव्याकरण मानवीय मस्तिष्क की सब से बड़ी रचनाओं में से एक है—(लेलिनग्राड के प्रो० टी० शेरबात्सकी)।
संसार के व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण सर्वशिरोमणि है। यह मानवीय मस्तिष्क का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आविष्कार है—(सर W. W. हण्टर)।
पाणिनीयव्याकरण उस मानवमस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है जिसे किसी दूसरे देश ने आज तक सामने नहीं रखा—(मोनियर विलियम्स)।

३. सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः—(पञ्चतन्त्र २.३६)।

किया। सूत्रकारद्वारा विस्मृत या अदृष्ट विषयों पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला।[1] कात्यायन को वार्त्तिककार या वाक्यकार भी कहा जाता है। कुछ लोगों का विश्वास है कि वार्त्तिककार एक नहीं अनेक हुए हैं कात्यायन उन सब में अन्तिम थे। कात्यायन के कुछ शताब्दी बाद महामुनि पतञ्जलि ने पाणिनीयव्याकरण को परिष्कृत करने का अपूर्व कार्य कर इस व्याकरण की कीर्त्तिपताका चहुं दिशाओं में फहरा दी। पाणिनीयव्याकरण पर पतञ्जलि का लिखा महाभाष्य नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक और अपनी प्रवाहपूर्ण सरलतम शैली का अपूर्व भाष्य है। पतञ्जलि का समय पाश्चात्यों की दृष्टि में ईसापूर्व १५० के लगभग बहुसम्मत है।

पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ये तीनों पाणिनीय व्याकरण के प्रमुख आचार्य या मुनित्रय कहलाते हैं। इस व्याकरण में इन का ही प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। इन में भी उत्तरोत्तर मुनि पूर्वपूर्व से अधिक प्रामाणिक माना जाता है। अत एव कहा जाता है—**उत्तरोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम्।**

इस प्रकार सैंकड़ों वर्षों तक पाणिनीयव्याकरण अपने असली रूप अर्थात् अष्टाध्यायीसूत्रपाठ के क्रमानुसार पठनपाठन में प्रचलित रहा। परन्तु जब संस्कृत का स्थान अपभ्रंश या प्राकृत आदि भाषाओं ने लेना शुरू किया और संस्कृत केवल साहित्य में ही प्रयुक्त होने वाली शिष्टभाषा मात्र रह गई तब लोगों को ज़रा असुगमता का भास हुआ। तब सूत्रक्रम के साथ प्रक्रियाक्रम का भी प्रचलन आरम्भ हुआ। इस के फलस्वरूप पाणिनिसूत्रों का आश्रय करते हुए रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी, प्रक्रियासर्वस्व, सिद्धान्तकौमुदी आदि अनेक ग्रन्थ बने। परन्तु जिस प्रकार पाणिनि का व्याकरण अपने से पूर्ववर्त्ती सब व्याकरणों में मूर्धस्थानीय बन पड़ा था, ठीक उसी प्रकार भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी भी प्रक्रियामार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ बनी। दीक्षितजी की यह कृति प्रक्रियामार्ग की पराकाष्ठा या चरमसीमा समझनी चाहिये। इस में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का प्रक्रियानुसार भिन्न क्रम से समावेश है। अत एव भारत में उन के ग्रन्थ का महान् आदर हुआ और वह पठनपाठन में शीघ्र प्रचलित हो गया। दीक्षितजी पाणिनीयव्याकरण में कृतभूरिपरिश्रम थे। अष्टाध्यायीसूत्रक्रमानुसार लिखा गया उन का शब्दकौस्तुभ नामक ग्रन्थ उन के पाण्डित्य का परिचायक है। भट्टोजिदीक्षित का काल ईसा की सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे परन्तु इन का निवास काशी में था। इन के पिता का नाम लक्ष्मीधर पण्डित तथा गुरु का नाम शेषकृष्ण था। दीक्षितजी के पुत्र भानुजिदीक्षित की अमरकोष पर व्याख्यासुधा नामक व्याख्या अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन के

---

1. यद् विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत्स्फुटम्।
वाक्यकारो ब्रवीत्येव तेनादृष्टं च भाष्यकृत्॥
उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकम्प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा विचक्षणाः॥

पौत्र हरिदीक्षित सुप्रसिद्ध वैयाकरण नागेशभट्ट के गुरु थे । दीक्षितजी केवल वैयाकरण ही न थे किन्तु धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड आदि के भी महापण्डित थे । इन के बनाये ग्रन्थों की संख्या ३१ बताई जाती है ।

इन्ही दीक्षितजी के शिष्य वरदराज ने[1] आरम्भ से ही सिद्धान्तकौमुदी के अध्ययन मे विद्यार्थियो की असमर्थता को देखते हुए मध्यसिद्धान्तकौमुदी (मध्यकौमुदी) और लघुसिद्धान्तकौमुदी (लघुकौमुदी) नामक दो ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी को संक्षिप्त कर के लिखे । इन्हें सिद्धान्तकौमुदी का संक्षिप्त संस्करण भी कहा जा सकता है । सिद्धान्तकौमुदी मे जहां पाणिनि के समस्त ३९६५ सूत्र व्याख्यात हैं वहां मध्यकौमुदी में २३१५ तथा लघुकौमुदी मे १२७२ सूत्र गुम्फित किये गये हैं । वरदराज का ध्येय पाणिनीयव्याकरण में बालकों को सरलता से प्रवेश कराना था । यह बात दोनों ग्रन्थों के आरम्भ में स्वयं उन्होंने स्वीकार की है[2] । इन दोनों संक्षिप्त संस्करणों में लघुसिद्धान्तकौमुदी (लघुकौमुदी) नामक ग्रन्थ विशेषरूप से प्रचलित हुआ है । इस ग्रन्थ से पाणिनीयव्याकरणरूप महाप्रासाद के प्रत्येक अङ्ग का संक्षिप्त पर पर्याप्त उपयोगी परिचय छात्र को प्राप्त हो जाता है । प्रायः विद्यार्थी प्रारम्भ में एक-दो वर्षों में इसे पढ़ कर तदनन्तर सिद्धान्तकौमुदी के अध्ययन मे प्रवृत्त हुआ करते हैं ।

---

१. वरदराज का काल भी दीक्षितजी वाला काल है । वरदराज दाक्षिणात्य थे । इन के पिता का नाम दुर्गातनय था । इन्होंने मध्यकौमुदी और लघुकौमुदी के अतिरिक्त सारकौमुदी और गीर्वाणपदमञ्जरी नामक अन्य दो ग्रन्थ भी लिखे हैं । वरदराज ने यद्यपि सिद्धान्तकौमुदी का संक्षिप्त संस्करण ही लघुकौमुदी बनाया है तथापि प्रकरणों की दृष्टि से लघुकौमुदी का क्रम सिद्धान्तकौमुदी के क्रम से बहुत श्रेष्ठ है । सिद्धान्तकौमुदी में अव्ययप्रकरण के बाद स्त्रीप्रत्ययप्रकरण प्रारम्भ होता है, पर लघुकौमुदी में स्त्रीप्रत्ययप्रकरण सब प्रकरणों के अन्त में रखा गया है—और यह उचित भी है, क्योंकि बिना कृत्, तद्धित और समास आदि का ज्ञान प्राप्त किये स्त्रीप्रत्ययप्रकरण के—**टिड्ढाणञ्०, कृदिकारादक्तिनः, द्विगोः, प्राचां ष्फस्तद्धितः, बहुव्रीहेरूधसो ङीष्** आदि सूत्रों का समझना अतीव दुष्कर है । इसी प्रकार कारकप्रकरण के विषय में भी समझना चाहिये । कारकप्रकरणगत **कर्तृकरणयोस्तृतीया, अकथितञ्च** आदि सूत्र तथा अभिहित अनभिहित आदि की व्यवस्था बिना तिङन्त और कृदन्त प्रकरणों के ज्ञान के समझनी कठिन है । अतः वरदराज ने तिङन्त और कृदन्त प्रकरणों के अनन्तर ही कारकप्रकरण को रखा है ।

२. **नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।**
करोति पाणिनीयानां मध्य-सिद्धान्त-कौमुदीम् ॥ (म०कौ०)
नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघु-सिद्धान्त-कौमुदीम् ॥ (ल०कौ०)

लघुकौमुदी वा सिद्धान्तकौमुदी पर—जहां तक मेरा विचार है—अभी तक कोई आधुनिक ढंग पर विश्लेषणात्मक मर्म समझाने वाली परिष्कृत वैज्ञानिक ढंग से विस्तृत हिन्दीव्याख्या नहीं निकली, जो थोड़ी बहुत हिन्दीव्याख्याएं मिलती भी हैं वे प्रायः सब पुरानी शैली की केवल संस्कृतशब्दों के स्थान पर हिन्दी-पर्याय रख देने मात्र में ही सन्तोष प्रकट करने वाली हैं। ग्रन्थकार के एक एक शब्द वा विचार का विस्फोरण कर पाठकों के हृदयों पर उसे अङ्कित कर देने का तो किसी को विचार ही उपस्थित नहीं हुआ। उदाहरणतः आप—**स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था; नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्; अष्टन इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसो-र्विषय आत्वं ज्ञापयति**—इत्यादि स्थलों को उन टीकाओं में देखें, आप सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे।

आज भारत स्वतन्त्र है। इस की राष्ट्रभाषा प्रधानतया हिन्दी है। परन्तु हिन्दी अपने शब्दभण्डार के लिये संस्कृत से ही सदा अनुप्राणित होती चली आ रही है। अतः बिना संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किये हिन्दी में प्रौढता प्राप्त करना दुष्कर ही नहीं वरन् असम्भव सा है। इसलिये संस्कृत के प्रचारार्थ हिन्दी में मुख्यतया संस्कृतव्याकरण के ऊँचे से ऊँचे ज्ञानवर्धक वा शोधपूर्ण ग्रन्थ सरल से सरल भाषा में प्रकाशित करने चाहियें। यह व्याख्या इसी ध्येय को सामने रखते हुए लिखी गई है। इस में मुख्यदृष्टि पदे पदे भावाशयविस्फोरण और शोध पर ही केन्द्रित रही है। ग्रन्थकार के अन्तस्तल तक पाठकों को पहुंचाना इस व्याख्या का मुख्य उद्देश्य रहा है। मूल में जहां जहां कोई कठिन स्थल आया है वहां वहां ग्रन्थविस्तार का भय छोड़ कर उसका पूरा पूरा विवरण प्रस्तुत किया गया है। ऊपर के उद्धृत स्थलों को आप इस व्याख्या में देख कर अनुभव करेंगे कि अब इस विषय पर कुछ भी कहना शेष नहीं रहा।

यह व्याख्या सार्वजनीन अर्थात् सब लोगों के लिये उपयोगी है। इसे अत्यल्प-मति विद्यार्थी, प्रौढ विद्यार्थी, व्युत्पन्न छात्र, व्याकरणप्रेमी, अध्यापक, शोधरत विद्वज्जन—जो भी देखेंगे अपने अपने सामर्थ्यानुकूल पूर्ण उपयोगी पाएंगे। अध्यापक यदि इस का स्वयं सम्यगवलोकन कर विद्यार्थियों को पाठ पढ़ायेंगे तो वे ग्रन्थकार का आशय अपने छात्रों के हृदयपटल पर अतिशीघ्र अङ्कित करने में पूर्ण समर्थ हो सकेंगे। इसी प्रकार यदि छात्र अपने अध्यापकों से ग्रन्थ का पाठ पढ़ कर इस व्याख्या का अवलोकन करेंगे तो उन्हें निश्चय ही अपूर्व लाभ होगा। एवं शोधप्रिय विदेशी वा स्वदेशी विद्वानों के लिये भी यह समानरूपेण उपयुक्त सिद्ध होगी।

इस व्याख्या में व्याकरण जैसे कठिन विषय को सरल से सरल बना कर प्रस्तुत करने का पूरा पूरा प्रयास किया गया है। अनेक विवादास्पद स्थलों का स्पष्टी-करण करते हुए भिन्न भिन्न विद्वानों की सम्मति भलीभांति दे कर अपनी सम्मति भी स्पष्टरूपेण अङ्कित कर दी है। कई कठिन स्थल अत्यन्त सरल रीति से लौकिक

उदाहरण दे कर स्पष्ट किये गये हैं। यथा—न लुमताऽङ्गस्य की अनित्यता वाला स्थल, स्थानिवद्भाव में अनल्विधौ वाला अंश, अन्वादेशव्याख्या आदि।

इस भैमीव्याख्या की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नस्थ हैं—

(१) सूत्रार्थ; (२) अभ्यास; (३) शब्दसूचियां; (४) अव्ययप्रकरण।

(१) सूत्रार्थ—

जहां तक हमें ज्ञात है कि लघुकौमुदी के किसी टीकाकार ने सूत्र से अर्थ कैसे उत्पन्न होता है—इस पर कुछ भी विचार नहीं किया। लघुकौमुदी तो क्या सिद्धान्तकौमुदी तक के कुछ टीकाकारों को छोड कर प्रायः सब व्याख्याताओं ने इस विशेषता की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। तीन अक्षरों के सूत्र का पैंतीस अक्षरों वाला अर्थ कैसे हो गया—यह वे नहीं बताते। केवल वृत्ति को घोट कर सूत्रार्थ का स्मरण करना महान् दोषावह है। अनेक अच्छे-अच्छे व्युत्पन्न विद्यार्थी देखे जाते हैं जो प्रत्येक सूत्र का अर्थ तो बता सकते हैं परन्तु सूत्र का पदच्छेद तक नहीं कर सकते। यह सारा दोष केवलमात्र वृत्ति घोटने (रटने) का है। हमारे विचार में तो प्रत्येक विद्यार्थी को व्याकरण अध्ययन करने से पूर्व पाणिनि का अष्टाध्यायीसूत्रपाठ क्रम-पूर्वक कण्ठस्थ करना चाहिये। इस से वृत्ति रटने की आवश्यकता ही नहीं रहती, केवल-मात्र वृत्ति को समझ लेना ही पर्याप्त होता है, क्योंकि सूत्रों का पौर्वापर्य तो विदित होता ही है। यदि अष्टाध्यायीसूत्रपाठ कण्ठस्थ न भी हो तो भी उसे पास अवश्य रखना चाहिये और कौमुदी का प्रत्येक सूत्र उस में देख लेना चाहिये। हमारी यह निश्चित धारणा है कि बिना अष्टाध्यायीसूत्रक्रम जाने प्रक्रियामार्ग से पूर्वत्रासिद्धम्, एक-सञ्ज्ञाधिकार, एकदेशाधिकार, भसंज्ञा, पदसंज्ञा, तद्धितश्चासर्वविभक्तिः वाला परिगणन आदि अनेक सूत्र वा स्थल कौमुदी-अध्येता को ठीक-ठीक रीति से कदापि हृदयंगम नहीं हो सकते। इस के अतिरिक्त अष्टाध्यायी में दर्जनों प्रकरण अपने अपने स्थान पर एकत्र अवस्थित हैं। आप को यदि प्रक्रिया में कोई सूत्र भूल जाये या सन्देह पड जाये तो आप अष्टाध्यायी का वह सम्पूर्ण प्रकरण मन में पढ़ सकते या ग्रन्थ में देख सकते है, तुरन्त सन्देह मिट जायेगा और वह विस्मृत सूत्र याद आ जायेगा। यथा आप को कहीं प्रक्रिया में इत्संज्ञक सूत्र के विषय में सन्देह है तो आप अष्टाध्यायी का वह प्रकरण मन ही मन पढ कर अपना सन्देह निवारण कर सकते हैं। अष्टाध्यायी का इत्सञ्ज्ञक-प्रकरण प्रथमाध्याय के तृतीयपाद के आरम्भ में निम्नप्रकारेण पढा गया है—

उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१.३.२)
हलन्त्यम् (१.३.३)
न विभक्तौ तुस्माः (१.३.४)
आदिर्ञिटुडवः (१.३.५)
षः प्रत्ययस्य (१.३.६)
चुटू (१.३.७)
लशक्वतद्धिते (१.३.८)
तस्य लोपः (१.३.९)

इस स्थान के अतिरिक्त इत्सञ्ज्ञाविषयक सूत्र आपको अन्यत्र कहीं भी अष्टाध्यायी मे नही मिलेगा। यह विशेषता प्रक्रियामार्गगामी कौमुदी आदि ग्रन्थो मे उत्पन्न नही की जा सकती। इसी प्रकार-णत्व, षत्व, कित्त्व, पित्त्व, प्रगृह्यसञ्ज्ञा, आत्मनेपदप्रक्रिया, परस्मैपदप्रक्रिया, समासान्त, एकसञ्ज्ञाधिकार, एकादेशाधिकार, इड्विधान आदि दर्जनो प्रकरण आपको अष्टाध्यायी म एक ही स्थान पर मिल सकेंगे। अत एव पटना कालेज के व्याकरणशास्त्र के प्रधानाध्यापक श्रीपण्डित हरिसङ्करशर्मा पाण्डेय स्वनिर्मित आर्षं पाणिनीय व्याकरणम् म इस विषय पर अत्यन्त मार्मिक लेखनी उठाते हुए लिखते हैं—

मच्छास्त्रं षड्भिर्दिनैः कतिपयैः क्रीडामनस्कैरपि
स्वाचार्याश्रमवासिभि सरलया रीत्या पुराऽधीयते।
गुर्वर्थं परिपूर्णमुत्तमतया सङ्क्षिप्तकायञ्च यत्
तत्कौदृग्विपरीतरूपमधुना हा हन्त! जोघुष्यते॥

तदिदानीं महाकाय भीमरूप गृहीतवत्।
यद् दृष्ट्वा प्रपलायन्ते बालाः कोमलबुद्धयः॥
योऽप्याग्रहेण पठति पाणिनिश्रमवर्जितम्।
तदवश्य स सम्पूर्णं यापयत्यत्र जीवितम्॥
अयि विद्वद्वरा धीरा निजशिष्यायुषः क्षयम्।
रात्रिन्दिव जायमान मनागपि न पश्यथ!॥
तस्मात्क्रमेण सूत्राणि पठनीयानि यत्नतः।
अनुवृत्त्यादिसौकर्यात्तदर्थोऽपि न दुर्ग्रहः॥

पाणिनीयपठनाय पाणिनेर्यः श्रमः स न कदापि हीयताम्।
वृत्तिघोषणमहापरिश्रमान्मुक्तिरेव फलमस्य दृश्यताम्॥

तो हम ने इस व्याख्या मे लघुकौमुदी के प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, पदो का विभक्तिवचन, पिछले सूत्रो से आ रहे अनुवर्तित पद और उन का विभक्ति-वचन, समास और आवश्यक प्रत्यय तथा परिभाषाओ के कारण होने वाले परिवर्तनो का पूरा-पूरा वर्णन किया है। इस के पढने से विद्यार्थियो के हृदय मे सूत्रार्थ के प्रति तनिक भी सन्देह शेष नही रह जाता—वह सूत्र के अ दर तक घुस कर स्वय ही वृत्ति वाला अर्थ निकाल सकता है। हमारे ध्यान मे आज तक इस प्रकार का प्रयत्न लघुकौमुदी पर कही नही किया गया।[1]

---

१ सन् १९५० म इस भैमीव्याख्या के प्रथमसस्करण के प्रकाशित होने के बाद कई लोगो ने इस व्याख्या की नकल करने की बहुविध चेष्टाए की, जिन मे वे बुरी तरह से असफल हुए। कारण यह है कि अष्टाध्यायी तो उन्हें कण्ठस्थ थी नही तथा आर्षपाठविधि मे भी वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। बनारस मे प्रकाशित लघुकौमुदी के एक टीकाकार ने तो हमारी व्याख्या की दानश पङ्क्तियो को चुरा कर अपनी टीका को सजाया

(२) अभ्यास—

इस ग्रन्थ की दूसरी बड़ी विशेषता अभ्यास हैं। प्रायः प्रत्येक प्रकरण वा अवान्तर-प्राकरणिक विषय के अन्त में 'अभ्यास' जोड़ दिया गया है। ये अभ्यास साधारण पुस्तकों के अभ्यासों की तरह नहीं हैं, किन्तु महान् परिश्रम से जुटाए गये अभ्यास हैं। सन्धिप्रकरण के अभ्यासों मे आप ऐसे अनेक उदाहरण पाएगे—जो अन्यत्र मिलने दुर्लभ हैं। इसी प्रकार अन्य अभ्यासों में भी विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिये अनेक भ्रमोत्पादक रूप भ्रमोच्छेदपूर्वक बड़े परिश्रम से सङ्गृहीत किये गये है, इन्हें देख कर विद्वत्समाज को निश्चय ही सन्तोष होगा। हमारी यह धारणा है कि यदि इन अभ्यासों को कोई छात्र युक्तरीत्या अभ्यस्त (हल) कर ले तो वह साधारण सिद्धान्तकौमुदी पढ़े-लिखे छात्र से कहीं अधिक व्युत्पन्न होगा। विद्यार्थियों को इन अभ्यासों का पुनः-पुनः मनन करना चाहिये। व्याख्यागत सभी विशिष्ट बातें प्रायः इन अभ्यासों में प्रश्नरूप से पूछ ली गई है।

(३) शब्दसूची—

इस व्याख्या की तीसरी असाधारण विशेषता है—शब्दसूची। आपको आज तक के मुद्रित व्याकरणग्रन्थों में इस प्रकार का प्रयत्न कहीं भी किया गया नहीं मिलेगा। इन शब्दसूचियों का उद्देश्य विद्यार्थियों को अनुवादादि के लिये अत्यन्त उपयोगिशब्दसङ्ग्रह प्रदान करना है। इन सूचियों में प्रायः दो हजार (२०००) चुने हुए शब्दों का सार्थ सङ्ग्रह किया गया है। इन में से कई सूचियां तो अत्यन्त कठोर परिश्रम से सङ्ग्रह की गई हैं। शब्दों के प्रायः लोकप्रचलित प्रसिद्ध अर्थ ही दिये गये हैं। विशेष विशेष स्थानों पर काव्य-कोष आदि के वचन भी टिप्पणरूपेण दे दिये हैं। विद्यार्थियों के सुभीते के लिये णत्वप्रक्रियानिर्देशक चिह्न भी सर्वत्र लगा दिये हैं।

(४) अव्ययप्रकरण—

इस व्याख्या की चौथी बड़ी तथा सब से अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है—अव्ययप्रकरण। आप को कहीं भी इस प्रकार की व्याख्या सहित यह प्रकरण देखने को नहीं मिलेगा। प्रत्येक अव्यय का विस्तृत अर्थ उस का साहित्यगत उदाहरण [जहां तक हो सका है किसी प्रसिद्ध सूक्ति वा सुभाषित को ही चुना गया है] तथा तद्विषयक विस्तृत शोधपूर्ण टिप्पण आप इस प्रकरण में देख सकेंगे। लघुकौमुदी के डेढ़ पृष्ठ का यह प्रकरण इस व्याख्या के ७८ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। प्रथमसंस्करण में जहां इस व्याख्या में तीन सौ अव्ययों का संकलन था वहां अब द्वितीयसंस्करण में सवा पांच सौ अव्ययों का व्याख्यान किया गया है। इस प्रकरण के कई अव्यय तो बड़े विवाद का विषय बने हुए हैं—उन सब का भी यथास्थान पूर्णरीत्या स्पष्टीकरण किया गया है।

और चाटुकारिता से राजकीय सम्मान भी पा लिया पर उन्हें ज़रा भी लज्जा नहीं आई कि जिस का माल चुरा रहा हूं उस का कहीं परोक्ष रूप से नामनिर्देश तो कर दूं—यह है आज के युग के लेखकों की नैतिकता।

इन मे कतिपय अव्ययों पर कई कई मास तक सोच विचार किया गया है और कई आदरणीय विद्वानों की सम्मति भी ली गई है। इस प्रकरण को लिखने में सब से बडी सहायता हमारे विशाल संस्कृत पुस्तकालय की है जिस में हम ने प्राय पाञ्च सहस्र संस्कृतग्रन्थ अपना सम्पूर्ण जीवन लगा कर संगृहीत किये हैं।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार की छोटी-मोटी विशेषताओं का भी यह ग्रन्थ आगार है। जैसे लघुकौमुदी में आये प्रत्येक शब्द की पूरी पूरी रूप-माला इस में दी गई है, किसी शब्द पर तद्वत् नही लिखा गया। प्रत्येक स्थान पर ढेरों उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं ताकि विद्यार्थियों को विषय हृदयंगम हो सके। अकेले इको यणचि सूत्र पर ही पचास उदाहरण दिये गये हैं। सन्धिप्रकरण मे इस तरह एक हजार नये उदाहरण अभ्यासार्थ दिये गये हैं। अव्ययप्रकरण मे उदाहृत लगभग पन्द्रह सौ सुभाषितों वा विशेष वचनों के मूलग्रन्थ और पते पूरी तरह ढूंढ ढूंढ कर निर्दिष्ट किये गये हैं। कठिन सुभाषितों के हिन्दी मे अर्थ भी दिये गये हैं। सूत्र, वार्त्तिक तथा परिभाषा आदियों की सूची के साथ साथ तीन सौ सुबन्त शब्दो और सवा पाञ्च सौ अव्ययों की भी वर्णानुक्रमणी इस संस्करण में उट्टङ्कित की गई है ताकि विद्यार्थियों को किसी अव्यय या सुबन्त के ढूंढने मे कठिनाई न हो।

भैमीव्याख्या के प्रथम भाग का यह द्वितीयसंस्करण है। इस संस्करण में प्रथमसंस्करण की अपेक्षा लगभग डेढ सौ पृष्ठों की ठोस सामग्री अधिक है। दो सौ के करीब शोधपूर्ण नये टिप्पण वा फुटनोट्स और जोडे गये हैं। इस ग्रन्थ के शोधन में भी विशेष प्रयत्न किया गया है। कतिपय अनिवार्य मानव-सुलभ भूलों को छोड कर प्राय यह ग्रन्थ लेखक के अपने तत्त्वावधान मे अतीव शुद्ध छपा है। ग्रन्थमुद्रापण मे लेखक को अपने दो पुत्रों—पतञ्जलिकुमार भाटिया शास्त्री तथा अश्विनीकुमार शास्त्री—से विशेष सहायता मिली है।

इस ग्रन्थ का प्रथमसंस्करण श्री प० दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत भूतपूर्व प्रिंसिपल सनातनधर्मकालेज मुलतान के तत्त्वावधान मे छपा था। हमे बडा दुःख है कि आदरणीय शास्त्रीजी अब इस द्वितीयसंस्करण के समय अपनी इहलीला समाप्त कर परलोक सिधार चुके हैं। अत अब उन से साहाय्य नही लिया जा सका। पर उन की प्रेरणा और शुभ कामनाए हमेशा हमारे साथ रही हैं और रहेंगी—इस में तनिक भी सन्देह नही।

यह है हमारा आत्मनिवेदन। अब आगे पाठकों का काम है कि लेखक को उत्साहित कर आगे सेवा करने का अवसर दें या न दें।

सुधर्मा स्ट्रीट
गांधीनगर, दिल्ली-११००३१
विजयदशमी (१६.१०.१९८३)

सुरभारती-समुपासक
भीमसेन शास्त्री



श्रीमद्वरदराजाचार्य्यप्रणीता

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितया भैमीव्याख्ययोद्भासिता

[पूर्वाऽर्धम्]

—:○:—

(व्याख्याकर्तुर्मङ्गलाचरणम्)

प्राप्यतेऽन्विष्यमाणो न यः कुत्रचिद्
योगिविद्वज्जनैर्हा कुतोऽन्यैर्नरैः ।
आदिमध्यान्तशून्यं प्रभुं निर्गुणं
स्वस्य चित्तोपशान्त्यै तमेवाश्रये ॥ १ ॥

सर्वाऽभिलाप - दातारं शरणाऽऽगत - तारकम् ।
अभिलाषशतं त्यक्त्वा प्रपन्नोऽस्मि जगद्गुरुम् ॥ २ ॥

व्याख्याता सूरिभिः कामं, लघुसिद्धान्तकौमुदी ।
भाषाटीका तथाप्यस्या बोधदा नैव दृश्यते ॥ ३ ॥

अक्षरार्थपराः सर्वे विमुखा भाववर्णनात् ।
वृथाऽनपेक्षं जल्पन्तः पाण्डित्यमदगर्विताः ॥ ४ ॥

तेभ्यः खिन्नो विनोदाय बालानामुपकारिणीम् ।
स्वाधीतस्य प्रचाराय टीकामेतां करोम्यहम् ॥ ५ ॥

सुस्पष्टपदलालित्यं सुष्ठु भावस्य कीर्तनम् ।
बहून् दृष्ट्वा कृतं सर्वं न च पाण्डित्यगर्वतः ॥ ६ ॥

टीकामेतां जगद् दृष्ट्वा गदिष्यत्येकया गिरा ।
बालानामुपकारोऽभूद् यः कृतो नैव केनचित् ॥ ७ ॥

कृपा स्याज्जगदीशस्य यत्नो मे सफलो भवेत् ।
यतो मौर्ख्याभिभूतस्य को देवादपरोऽस्ति मे ॥ ८ ॥

[लघु०] नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥ १ ॥

अन्वय—अहम् (वरदराज) शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं देवीं नत्वा पाणिनीय-प्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि ।

अर्थ—मैं (वरदराज) शुद्ध तथा गुणों से युक्त सरस्वती देवी को नमस्कार कर पाणिनि के बनाये व्याकरणशास्त्र में (बालकों के) प्रवेश के लिये लघुसिद्धान्त-कौमुदी को बनाता हूं ।

व्याख्या—ज्ञान की अधिष्ठात्री (स्वामिनी) एक देवी मानी जाती है, जिसे सरस्वती कहते हैं । ग्रन्थकार ने आदि में उसे इसलिये नमस्कार किया है कि वह प्रसन्न होकर मेरे ऊपर कृपा करे जिस से मैं ग्रन्थ बनाने में समर्थ हो सकूं । इस ग्रन्थ के बनाने वाले वरदराज नामक पण्डित हैं । इन का सम्पूर्ण वृत्तान्त भूमिका में लिखा है देख लें । जिस से किसी भाषा के शुद्ध अशुद्ध होने का ज्ञान हो उसे उस भाषा का व्याकरण कहते हैं । संस्कृतभाषा के अनेक व्याकरण हैं । यथा—पाणिनीय, कातन्त्र, चान्द्र, मुग्धबोध, सारस्वत आदि । संस्कृतभाषा के सम्पूर्ण व्याकरणों में पाणिनिमुनि का बनाया व्याकरण ही सब से श्रेष्ठ और प्रचलित है । इस के अध्ययन में कठिनता का अनुभव कर वरदराज ने यह लघुसिद्धान्तकौमुदी बनाई है । 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' शब्द का अर्थ कुछ व्याकरण-सिद्धान्तों को चांदनी के समान प्रकाशित करने वाली है ।

टिप्पणी—गुण्याम्=प्रशस्ता गुणाः सन्त्यस्या इति गुण्या । ताम्=गुण्याम् । [रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् (५. २. १२०) इति सूत्रस्थेन अन्येभ्योऽपि दृश्यते इति वार्तिकेन यप्] । पाणिनीयप्रवेशाय—पाणिनिना प्रोक्तम्=पाणिनीयम्, तस्मिन् प्रवेशः=पाणिनीयप्रवेशस्तस्मै=पाणिनीयप्रवेशाय । लघुसिद्धान्तकौमुदी—लघवः=असमग्रा ये सिद्धान्ताः=ऊहापोहकृतनिश्चितविचारास्तेषां कौमुदी=कौमुदीव=चन्द्रिकेव । [अत्रत्य कौमुदीशब्दः कौमुदीवेत्यर्थे लाक्षणिकः] । यथा हि ज्योत्स्ना तमो निरस्य सकलभावान् प्रकाशयति, दिनकरकिरणजनितं तापमुपशमयति, तथेयमप्यज्ञानन्दूरीकृत्य महाभाष्यादिदुरूहग्रन्थजनितं तापमुपशमय्य व्याकरणसिद्धान्तान् मानसे प्रकटीकरोतीति सादृश्यम् ।

अथ संज्ञाप्रकरणम्

[लघु०] अइउण् ॥१॥ ऋऌक् ॥२॥ एओङ् ॥३॥ ऐऔच् ॥४॥ हयवरट् ॥५॥ लँण् ॥६॥ ञमङणनम् ॥७॥ झभञ् ॥८॥ घढधष् ॥९॥ जबगडदश् ॥१०॥ खफछठथचटतव् ॥११॥ कपय् ॥१२॥ शषसर् ॥१३॥ हल् ॥१४॥

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसञ्ज्ञार्थानि। एषामन्त्या इतः। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। लँण्मध्ये त्वित्सञ्ज्ञकः॥

अर्थः—ये चौदह सूत्र माहेश्वर अर्थात् महादेव से आये हुए हैं। इन का प्रयोजन अण् आदि संज्ञा करना है। इन के अन्त्य वर्ण इत्सञ्ज्ञक हैं। हकार आदियों में अकार उच्चारण के लिये है। परन्तु 'लँण्' सूत्र में वह इत्सञ्ज्ञक है।

व्याख्या—कहते हैं कि महामुनि पाणिनि विद्यार्थि-अवस्था में अत्यन्त मन्दमति थे। जब इन्हें पढ़ने से भी कुछ ज्ञान न हुआ, तब ये खिन्न हो गुरुकुल छोड़ तपस्या करने के लिये हिमाचल पर चले गये। वहां इन्होंने शिवजी की आराधना की। शिवजी ने प्रसन्न हो, चौदह बार डमरू बजाया। उस से पाणिनि ने अइउण् आदि चौदह सूत्र प्राप्त किये। इस लिये इन सूत्रों को माहेश्वर अर्थात् महादेव से प्राप्त हुआ कहते हैं। परन्तु कई एक इस बात को प्रमाण-शून्य होने से ग़लत मानते हैं। उन का कथन है कि इन सूत्रों को बनाने वाले पाणिनि ही हैं[1]। परन्तु चाहे कुछ भी क्यों न हो, इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि ये सूत्र पाणिनीय-व्याकरण के प्राण हैं। इन के बिना पाणिनीय-व्याकरण चल ही नहीं सकता। इन का उपयोग आगे चल 'अण्' आदि संज्ञाओं के करने में किया जावेगा। हम वहीं पर इन्हें स्पष्ट करेंगे।

जो अन्त में रहे उसे अन्त्य या अन्तिम कहते हैं। इन चौदह सूत्रों के 'ण्, क्, ङ्, च्, ट्, ण्, म्, ञ्, ष्, श्, व्, य्, र्, ल्' ये चौदह वर्ण अन्त्य हैं। इन की इत्संज्ञा है अर्थात् ये इत् नाम वाले हैं। ध्यान रहे कि इस शास्त्र में संज्ञा, संज्ञक और संज्ञी शब्दों का बहुत व्यवहार होता है। जो नाम हो वह संज्ञा और जिसका नाम हो वह संज्ञक या संज्ञी होता है। जैसे 'इस का नाम देवदत्त है' यहां 'देवदत्त' यह शब्द संज्ञा और सामने खड़ा हुआ हाड मांस वाला लम्बा चौड़ा मनुष्य संज्ञक या संज्ञी है। इसी प्रकार यहां ण्, क् आदि संज्ञक या संज्ञी होंगे और 'इत्' यह संज्ञा होगी। प्रत्येक वस्तु की संज्ञा व्यवहार की आसानी के लिये ही होती है; यथा मेरी संज्ञा 'भीमसेन' है। इस से यह होगा कि लोग मुझे व्यवहार में आसानी से ला सकेंगे। कोई मुझे बुलाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन! आओ'; कोई मुझे पढ़ाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन! पढ़ो'; कोई खिलाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन! खाओ'; कोई मेरा पता पूछेगा तो कहेगा 'भीमसेन कहां हैं?' अब कल्पना करें कि यदि मेरा कोई नाम न होता तो जिस ने मुझे बुलाना होता वह दूसरे के प्रति क्या कहता? कि 'उस दुबले पतले मनुष्य को जिस का रङ्ग ऐसा २ है, सिर पर अमुक २ रङ्ग की टोपी है, पैर में फलां प्रकार का जूता है, लाओ'। तब सम्भव है कि सुनने वाला पुरुष उसे न समझ पाता। अथवा मेरी जगह किसी अन्य को ला खड़ा करता; तो कहने का तात्पर्य यह है कि नाम अर्थात् संज्ञा के बिना न तो जगत् का व्यवहार और न ही शास्त्र का व्यवहार चल

१. इस विषय पर **प्रत्याहार-सूत्रों का निर्माता कौन?** नामक हमारा लघुशोधनिबन्ध देखें, जो **भैमी प्रकाशन दिल्ली** से प्रकाशित हो चुका है।

सकता है। व्यवहार के लिये आवश्यक है कि जिसका हम व्यवहार करना चाहें उस की कोई न कोई संज्ञा अवश्य करें। बिना संज्ञा के कभी व्यवहार नहीं चल सकता। यहां आगे आदिरन्त्येन सहेता (४) आदि सूत्रों में इन ण्, क् आदि अक्षरों का व्यवहार करना है, अतः इन की 'इत्' यह संज्ञा की जाती है।

हमारी लिपि अर्थात् वर्णमाला में दो प्रकार के अक्षर हैं। एक तो 'अ, इ, उ' आदि स्वर, दूसरे 'क्, ख्, ग्, घ्' आदि व्यञ्जन या हल्। व्यञ्जनों का उच्चारण स्वरों के मिलाये बिना नहीं हो सकता। इसलिये आजकल की वर्णमाला की छोटी २ पुस्तकों में भी 'क, ख, ग, घ, ङ' इत्यादि प्रकार से अकार-युक्त व्यञ्जन देखने में आते हैं।[1]

इन चौदह सूत्रों में 'हयवरट्' सूत्र के हकार से व्यञ्जन आरम्भ होते हैं। इन में भी अकार केवल इसीलिये है कि इन का उच्चारण हो सके, क्योंकि अकार के बिना 'ह्, य्, व्, र्, ट्' इस प्रकार उच्चारण नहीं हो सकता। अतः अकार का इन में ग्रहण नहीं करना चाहिये। यदि अलग २ अकार ग्रहण के लिये होता तो उस का बार २ उच्चारण न होता। क्योंकि ग्रहण तो एक बार के उच्चारण से भी हो जाता, तो पुनः ग्रन्थ क्यों बढ़ाते ?

लँण् इस सूत्र में लकारस्थ (लकार में ठहरा हुआ) अकार उच्चारण के लिये नहीं किन्तु प्रयोजन वशात् इत्संज्ञक है। इसका प्रयोजन 'रँ' प्रत्याहार सिद्ध करना है जो आगे उपदेशेऽजनुनासिक इत् (२८) सूत्र पर मूल में ही स्पष्ट हो जावेगा। हम भी इस की वहीं व्याख्या करेंगे।

टिप्पणी—महेश्वरादागतानि=माहेश्वराणि। तत आगतः (१०६५) इत्यण्। अण् आदिर्येषां ता अणादयः, अणादयश्च ताः संज्ञाः=अणादिसंज्ञाः। अणादिसंज्ञा अर्थः प्रयोजनं येषान्तानीमानि=अणादिसंज्ञार्थानि।

अन्त्या वर्णा इतो ज्ञेयाः, प्रत्याहारोपयोगिनः।
अकारो मुखसौख्याय हकारादौ प्रकीर्तितः ॥१॥
परमेतं बुधाः प्राहुर् इतमेव गतं लँणि।
रेफपूर्वस्ततस्तेन प्रत्याहारः प्रजायते ॥२॥

---

१ व्यञ्जनों के साथ स्वर मिलाने का प्रकार यथा—
क्+अ=क, क्+आ=का, क्+इ=कि, क्+ई=की, क्+उ=कु, क्+ऊ=कू, क्+ऋ=कृ, क्+ॠ=कॄ, क्+ऌ=कॢ, क्+ए=के, क्+ऐ=कै, क्+ओ=को, क्+औ=कौ, क्+अं=कं, क्+अः=कः। इसी प्रकार अन्य व्यञ्जनों के साथ भी संयोग कर लेना चाहिये। इन में से 'कि' पर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रायः कई बालक 'कि' में 'ि' को प्रथम और क् को पश्चात् लिखा माना करते हैं, उन्हें उपर्युक्त प्रकार से अपनी भ्रान्ति दूर कर लेनी चाहिये। ध्यान रहे कि बिना स्वर व्यञ्जन का संयोग जाने कदाचित् इस ग्रन्थ में प्रवेश ही नहीं हो सकता।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१) हलन्त्यम् ।१।३।३॥

उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । सूत्रेष्वदृष्टम्पदं सूत्रान्तरादनुवर्त्तनीयं सर्वत्र ॥

अर्थः—उपदेश में वर्तमान अन्त्य हल् इत्संज्ञक हो । उपदेशः—आद्यों के उच्चारण को अथवा धातु आदि के आद्य उच्चारण को उपदेश कहते हैं। सूत्रेषु—सूत्रों में जो पद न हो (पर वृत्ति में दिखाई दे) वह पद सर्वत्र पिछले (या कहीं २ अगले) सूत्रों से ले लेना चाहिये ।

व्याख्या—इस व्याकरण के प्रथम कर्त्ता महामुनि पाणिनि हैं। इन्होंने 'अष्टाध्यायी' नामक जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा है। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार २ पाद हैं। अर्थात् सब मिला कर बत्तीस पाद अष्टाध्यायी में हैं। हर एक पाद में भिन्न भिन्न सङ्ख्याओं से सूत्र हैं। इन सब की तालिका निम्न प्रकार से समझनी चाहिये ।

अध्यायनाम	प्रथमपाद	द्वितीयपाद	तृतीयपाद	चतुर्थपाद	सम्पूर्णसंख्या
प्रथमाध्याय	७४	७३	९३	१०९	३४९
द्वितीयाध्याय	७१	३८	७३	८५	२६७
तृतीयाध्याय	१५०	१८८	१७६	११७	६३१
चतुर्थाध्याय	१७६	१४४	१६६	१४४	६३०
पञ्चमाध्याय	१३५	१४०	११९	१६०	५५४
षष्ठाध्याय	२१७	१९८	१३८	१७५	७२८
सप्तमाध्याय	१०३	११८	११९	९७	४३७
अष्टमाध्याय	७४	१०८	११९	६८	३६९
समग्र अष्टाध्यायी की सूत्रसंख्या—					३९९५

प्राचीन काल में यह सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ की जाती थी। तदनन्तर व्याकरण पढ़ा जाता था। तभी तो काशिकाकार जयादित्य, पदमञ्जरीकार हरदत्त, शेखरकार नागेशभट्ट सरीखे विद्वान् उत्पन्न होते थे। परन्तु अब इस परिपाटी के मन्द

हो जाने से वैसे विद्वान् उत्पन्न नहीं होते। अब भी यदि इस परिपाटी का पुनरुद्धार हो जावे तो पुन वैसे विद्वान् निकलने लग पड़ेंगे। **कर्त्तव्योऽत्र यत्न** ।

इस ग्रन्थ म अष्टाध्यायी के सूत्र बिखरे हुए हैं। इन सूत्रों के आगे तीन अङ्क लिखे हैं। इन मे स पहला अष्टाध्यायी के अध्याय का सूचक, दूसरा पादसूचक तथा तीसरा सूत्रसूचक समझना चाहिये। यथा — हलन्त्यम् ।१।३।३।। यहा '१' से तात्पर्य प्रथमाध्याय, '३' से तात्पर्य तृतीयपाद और अन्तिम ३ स तात्पर्य तीसरे सूत्र से है। तो इस प्रकार यह सूत्र प्रथमाध्याय के तृतीय पाद का तीसरा है ऐसा ज्ञात होता है। एवम् आगे भी सर्वत्र समझ लेना। पाणिनि के सूत्रपाठ के अर्थ करने का विचित्र ढग है। कई पदों का सूत्रों में नामोनिशान नहीं होता, परन्तु अर्थ करते समय वे आ जाया करते हैं। अब सूत्रों क अर्थ करन के ढग पर कुछ थोडा विचार करते हैं।

(१) सब स प्रथम सूत्रों का पदच्छेद करना चाहिये। जैसे— **हलन्त्यम्** ।१।३।३।। हल् । अन्त्यम् । **आदिरन्त्येन सहेता** ।१।१।७०।। आदि । अन्त्येन । सह । इता । **इको यणचि** ।६।१।७६।। इक । यण् । अचि । **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय** । ।१।१।६८।। अण् । उदित् । सवर्णस्य । च । अप्रत्यय । कई स्थानों पर पिछले सूत्रों से तथा कहीं २ अग्रिम सूत्रों से भी[1] पद ले लिये जाते हैं। महामुनि पाणिनि ने यद्यपि इन की स्वरित के चिह्न से व्यवस्था की थी, परन्तु अब वह व्यवस्था बिगड़ गई है। अब तो गुरुपरम्परा से जो जो पद पीछे से या आगे से लिया जाता है लिया जाना चाहिये। इस मे अपनी ओर से कोई गडबड नहीं करनी चाहिये। यथा— **हलन्त्यम्** यहा पिछले **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से 'उपदेशे' और 'इत्' ये दो पद आते हैं। इन पदों को भी पदच्छेद मे लिखना चाहिये और कोष्ठ मे बता देना चाहिये कि ये पद कहा से आते हैं[2]। यथा—उपदेशे (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से)। हल् । अन्त्यम् । इत् (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र स)।

(२) पदच्छेद के बाद उन पदों की विभक्तियां जाननी चाहियें। यथा— हलन्त्यम् । उपदेशे ।७।१। अन्त्यम् ।१।१। हल् ।१।१। इत् ।१।१। (यहा पहले अङ्क से विभक्ति तथा दूसरे अङ्क स वचन समझना चाहिये)। **आदिरन्त्येन सहेता**। आदि ।१।१। अन्त्येन ।३।१। सह इत्यव्ययपदम् । इता ।३।१। **इको यणचि** । इक ।६।१। यण् ।१।१। अचि ।७।१। **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय** । अण् ।१।१। उदित् ।१।१। सवर्णस्य

---

१ यथा ईड्ज से (७ २ ७७) सूत्र मे अगले सूत्र से 'ध्वे' पद लाया जाता है।

२ इस अनुवृत्ति का व्यवहार लोक मे भी देखा जाता है, जैसे किसी ने कहा 'भरत को चार आम दो' 'राम को तीन'। अब यहाँ 'राम को तीन' यह वाक्य अपूर्ण है, इस की पूर्णता 'आम दो' इतने पद मिलाकर 'राम को तीन आम दो' इस प्रकार हो जाती है, तो यहा 'आम दो' इन दो पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। इस प्रकार इस का लोक में सर्वत्र अतीव प्रयोग देखा जाता है।

।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अप्रत्ययः ।१।१। स्मरण रहे कि कई स्थानों पर विभक्ति का लुक् तथा अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति भी लगी रहती है। इसे सूत्रकार की ग़लती नहीं समझी जाती क्योंकि **छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति** अर्थात् सूत्र वेद की नाईं होते हैं। जैसे वेद में विभक्ति का लुक् तथा अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति लगी रहती है, वैसे सूत्रों में भी होता है। विभक्ति का लुक् यथा—**न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) यहां 'न' और 'प्रातिपदिक' शब्दों से परे षष्ठी-विभक्ति का लुक् हुआ है। अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति लगे रहने के उदाहरण आगे यत्र तत्र बहुत आएंगे।

(३) पदच्छेद और विभक्ति जानने के पश्चात् समास जानना चाहिये। समास कहीं होता है और कहीं नहीं भी होता। यथा—**तस्य लोपः** (३) इस सूत्र में कोई समास नही। **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** (१०) इत्यादि सूत्रों में समास है। आवश्यक तद्धितादि का समावेश भी हम ने समास में कर दिया है। अर्थात् समास के जानने के साथ २ आवश्यक तद्धित आदि प्रत्यय भी जान लेने चाहियें।

(४) इतना जान लेने के पश्चात् महामुनि पाणिनि के अर्थ करने के नियमों का ध्यान रख कर सूत्र का अर्थ करना चाहिये। वे नियम प्रायः ये हैं—

(१) षष्ठी स्थानेयोगा (१.१.४८)
(२) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (१.१.६५)
(३) तस्मादित्युत्तरस्य (१.१.६६)
(४) अलोऽन्त्यस्य (१.१.५१)
(५) आदेः परस्य (१.१.५३)
(६) इको गुणवृद्धी (१.१.३)
(७) अचश्च (१.२.२८)
(८) येन विधिस्तदन्तस्य (१.१.७१)
(९) यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे (वा०)
(१०) प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् (प०)

इन सब को हम यथास्थान स्पष्ट करेंगे।

पीछे 'एषामन्त्या इतः' कह कर ण् क् आदियों को 'इत्' कह आये हैं। अब वह सूत्रों से सिद्ध करते हैं। **हलन्त्यम्**। उपदेशे ।७।१। (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से)। हल् ।१।१। अन्त्यम् ।१।१। इत् ।१।१। (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से)। अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में विद्यमान (अन्त्यम्) अन्तिम (हल्) हल्=व्यञ्जन (इत्) इत्सञ्ज्ञक होता है। यदि उपदेश में कहीं हमें अन्त्य हल् मिलेगा तो वह इत्सञ्ज्ञक होगा। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि उपदेश क्या है? इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि **उपदेश आद्योच्चारणम्** आद्योच्चारण उपदेश होता है। इस शब्द पर शेखरादि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में बहुत विवाद है। हम उस विवाद के निकट नही जाते, क्योंकि वह प्रपञ्च बालकों की समझ में नहीं आ सकता। यहां सरल मार्ग यह है कि यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास है—आद्यानाम् उच्चारणम् आद्योच्चारणम्। जो आद्यों अर्थात् शिव, पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि का उच्चारण

है, उसे 'उपदेश' कहते हैं। भाष्यकार ने सब स्थल नियत कर दिये हैं; उन का कथन है कि प्रत्याहार-सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ, प्रत्यय, आगम और आदेश ये सब उपदेश हैं[1]। इन में अन्त्य हल् इत्सञ्ज्ञक होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(२) अदर्शनं लोपः ।१।१।५९॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसञ्ज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—विद्यमान का अदर्शन लोपसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—स्थानस्य ।६।१। (स्थानेऽन्तरतम सूत्र से 'स्थाने' पद आकर विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है)। अदर्शनम् ।१।१। लोप ।१।१। अर्थ—(स्थानस्य) विद्यमान का (अदर्शनम्) न सुनाई देना (लोप) लोप होता है। यहां अदर्शन सञ्ज्ञी तथा लोप सञ्ज्ञा है। हम ने 'अदर्शन' का अर्थ 'न सुनाई देना' किया है। इस का यह कारण है कि यह 'शब्दानुशासन' अर्थात् शब्द-शास्त्र है। इस में शब्दों के साधु (ठीक) असाधु (गलत) होने का विवेचन है। शब्द कान से सुने जाते हैं, आंख से देखे नहीं जाते अतः यहां पर 'अदर्शन' का अर्थ 'न दिखाई देना' की अपेक्षा 'न सुनाई देना' ही युक्त है। ऐसा अर्थ करने पर 'दृश्' धातु को ज्ञानार्थक मानना चाहिये। ज्ञान—आंख, कान, नाक आदि सब से हो सकता है। 'शब्दानुशासन' का अधिकार होने से हम यहां ज्ञान कान-विषयक ही मानेंगे। यहां स्थानेऽन्तरतम (१७) से स्थान शब्द लाने का तात्पर्य यह है कि विद्यमान का अदर्शन ही लोपसञ्ज्ञक हो, अविद्यमान का अदर्शन लोपसञ्ज्ञक न हो। यथा—'दधि, मधु' यहाँ 'क्विप्' प्रत्यय कभी नहीं हुआ अतः उस का अदर्शन है। यदि पीछे से स्थान शब्द न लावें तो यहां क्विप् प्रत्यय का अदर्शन होने से प्रत्ययलक्षण द्वारा ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (७७७) से तुक् प्राप्त होगा जो कि अनिष्ट है; अतः 'स्थान' शब्द की अनुवृत्ति लाकर विद्यमान के अदर्शन की ही लोपसञ्ज्ञा करनी युक्त है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३) तस्य लोपः ।१।३।९॥

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः ॥

अर्थ—उस इत्सञ्ज्ञक का लोप होता है। ण् आदि 'अण्' आदियों के लिये हैं।

---

१. प्रत्याहारसूत्र यथा—अइउण् आदि। धातुपाठ यथा—डुपचष् पाके आदि। गणपाठ यथा—भवट्, देवट् आदि। प्रत्यय यथा—तृच्, तुन्, तसिल् आदि। आगम यथा—कुक्, टुक्, इट् आदि। आदेश यथा—अर्वणस्त्रसावनञः (२९२) द्वारा 'तृ' आदेश आदि।

प्रत्ययाः शिवसूत्राणि, आदेशा आगमास्तथा।
धातुपाठो गणे पाठः; उपदेशाः प्रकीर्त्तिताः ॥

व्याख्या—तस्य ।६।१। इतः ।६।१। (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** सूत्र से प्रथमान्त 'इत्' पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है) । लोपः ।१।१। अर्थः— (तस्य) उस (इतः) इत्सञ्ज्ञक का (लोपः) लोप होता है । अब यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि इस सूत्र मे 'तस्य' पद न लेते तो भी अर्थ मे कोई हानि नही हो सकती थी, क्योंकि 'इतः' पद की अनुवृत्ति तो आ ही रही थी । इस का समाधान यह है कि यदि 'तस्य' पद ग्रहण न करते तो इत्सञ्ज्ञक के अन्त्य वर्ण का लोप होता, सम्पूर्ण इत्सञ्ज्ञक का लोप न होता । तथाहि—**ञिमिदा स्नेहने, टुनदि समृद्धौ, डुकृञ् करणे** यहां **आदिर्ञिटुडवः** (४६२) सूत्र द्वारा ञि, टु, डु, की इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप प्राप्त होने पर **अलोऽन्त्यस्य** (२१) सूत्र द्वारा अन्त्य इकार, उकार का लोप प्रसक्त होता है जो कि अनिष्ट है । अब यदि सूत्र मे **तस्य** पद ग्रहण करते है तो यह दोष नही आता क्योंकि आचार्य का '**तस्य**' यह कहना बतलाता है कि आचार्य सारे इत् का लोप चाहते है केवल अन्त्य का नही ।

अब इस सूत्र से ण्, क्, ङ्, च् आदि इतो का लोप प्राप्त होता है । उस पर कहते है कि इन का लोप नहीं करना, क्योंकि इन मे अण् आदि प्रत्याहार बनाये जायेंगे । यदि इन का लोप करना होता तो इन का ग्रहण किस लिये करते ? अतः इन का लोप नही करना चाहिये ।

अब इत्सञ्ज्ञकों से प्रत्याहार बनाने के लिए अग्रिमसूत्र लिखते है :—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४) आदिरन्त्येन सहेता ।१।१।७०॥

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च सञ्ज्ञा स्यात् । यथाण् इति 'अ इ उ' वर्णानां सञ्ज्ञा । एवमक्, अच्, हल्, अल् इत्यादयः ॥

अर्थ.—अन्त्य इत् से युक्त आदिवर्ण, मध्यगत वर्णो की तथा अपनी सञ्ज्ञा हो । **यथाण्**—जैसे **अण्** यह अ इ उ वर्णो की सञ्ज्ञा है । इसी प्रकार अक्, अच्, हल्, अल् आदि भी जान लेने चाहियें ।

व्याख्या—आदिः ।१।१। अन्त्येन ।३।१। सह इत्यव्ययपदम् । इता ।३।१। स्वस्य ।६।१। (**स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा** से 'स्वम्' यह प्रथमान्त पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है) । यह सूत्र सञ्ज्ञाधिकार के बीच पढ़ा जाने से सञ्ज्ञासूत्र है । यहां 'अन्त्येनेता सहादिः' अर्थात् 'अन्त्य इत् से युक्त आदि' यह सञ्ज्ञा है । अब सञ्ज्ञी का निर्णय करना है कि सञ्ज्ञी कौन हो ? क्योंकि सूत्र में तो किसी का निर्देश है ही नहीं । आदि और अन्त्य अवयव शब्द है । अवयवों से अवयवी लाया जाता है । अतः यहां अवयवी ही सञ्ज्ञी होगा । उस अवयवी (समुदाय) से आदि और अन्त्य सञ्ज्ञा होने के कारण निकल जायेंगे । शेष मध्यगत वर्ण ही सञ्ज्ञी ठहरेंगे । पुनः 'स्वस्य' पद की अनुवृत्ति आकर आदि भी सञ्ज्ञी हो जायेगा । इस प्रकार आदि तथा मध्यगत वर्ण सञ्ज्ञी बनेंगे । तो अब इस सूत्र का अर्थ यह हुआ—

अर्थ —(अन्त्येन) अन्त्य (इता) इत् से (सह) युक्त (आदि) आदि वर्ण (स्वस्य) अपनी तथा मध्यगत वर्णों की सञ्ज्ञा होता है। यहा हमने 'स्वस्य' पद में आदि का ग्रहण किया है, पर कोई पूछ सकता है कि 'स्वस्य' पद मे अन्त्य का ग्रहण कर 'अन्त्य इत् से युक्त आदि अन्त्य तथा मध्यगत वर्णों की सञ्ज्ञा हो' ऐसा अर्थ क्यों न किया जाये ? इसका उत्तर यह है कि 'स्व' यह सर्वनाम है। सर्वनाम प्रधान का ही निर्देश कराने वाले होते हैं, अप्रधान का नही। 'अन्त्येनेता सहादि' यहा प्रधान आदि है, अन्त्य नही। क्योंकि **सहयुक्तेऽप्रधाने** (२ ३ १९) से अप्रधान मे ही तृतीया होती है, अत 'स्व' यह सर्वनाम प्रधान=आदि का ही ग्रहण करायेगा, अप्रधान अन्त्य का नही।

अ इ उ ण् यहा अन्त्य इत्=ण् है। आदि 'अ' है। अत अन्त्य इत् से युक्त आदि 'अण्' हुआ। यह सञ्ज्ञा है। 'इ उ' मध्यगत तथा 'अ' आदि ये तीन सञ्ज्ञी हैं। इसी प्रकार अच्, अक्, हल्, अल् आदि भी जानने चाहियें। इन अण् आदि सञ्ज्ञाओं को पूर्ववर्ती आचार्य 'प्रत्याहार' कहते चले आ रहे हैं। यहा इस शास्त्र मे भी इन के लिये प्रत्याहार शब्द व्यवहृत होता है। प्रत्याह्रियन्ते=संक्षिप्यन्ते वर्णा अत्रेति प्रत्याहार।

यहा अन्त्य और आदि **अ इ उ ण्** आदि सूत्रो की अपेक्षा मे नही लेने, किन्तु मन में रखे समुदाय की अपेक्षा से लेने हैं। यथा—**इ उ ण् ऋ लृ क्** इस समुदाय का आदि 'इ' और अन्त्य 'क्' है। अन्त्य युक्त आदि=इक् सञ्ज्ञा होगा। इ उ ऋ लृ— ये संज्ञी होंगे। 'रट्लँ' यहा **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से लकारस्थ अकार इत् है। समुदाय का आदि 'र्' है। अन्त्य अँ है। अन्त्य युक्त आदि र्+अँ='रँ' यह सञ्ज्ञा होगा। इस संज्ञा में 'र्' और 'ल्' दो ही सञ्ज्ञी हैं।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अण् आदि प्रत्याहारो मे आदि और मध्यगत वर्ण सञ्ज्ञी होते हैं तो इक् प्रत्याहार में 'क्' भले ही न आये, पर ण् तो आना चाहिये; क्योंकि वह मध्यगत वर्ण है। इस का उत्तर यह है कि आचार्य पाणिनि की शैली से यह प्रतीत होता है कि मध्यगत वर्ण यदि इत्सञ्ज्ञक होंगे तो उन का प्रत्याहारो के सञ्ज्ञियो मे ग्रहण न होगा। तथाहि—यदि वे सञ्ज्ञी होते तो 'अच्' प्रत्याहार में 'क्' का भी ग्रहण होता क्योंकि यह मध्यवर्ण है। 'क्' के ग्रहण होने से **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) इस सूत्र के 'अनुनासिक.' इस पद मे 'क्' इस अच् के परे होने पर सकारस्थ इकार को **इको यणचि** (१५) से यण् तथा यण् का **लोपो व्योर्वलि** (४२९) से लोप होकर 'अनुनास्क' हुआ होता; पर आचार्य पाणिनि ने ऐसा नही किया। इस से यह विदित होता है कि इत्सञ्ज्ञक मध्यवर्त्ती होने पर भी सञ्ज्ञी नही होते।

अ इ उ ण् आदि चौदह सूत्रों से यद्यपि अनेक प्रत्याहार बन सकते हैं तथापि इस व्याकरणशास्त्र मे जिन का व्यवहार किया गया है उन की सङ्ख्या चवालीस

(४४) है। कई लोग 'रँ' प्रत्याहार को नहीं मानते उन के मत में तेंतालीस (४३) प्रत्याहार होते हैं। इन में से बयालीस ('रँ' प्रत्याहार न मानने वालों के मत में इकतालीस ४१) प्रत्याहार तो मुनिवर पाणिनि ने स्वयं सूत्रों में व्यवहृत किये हैं। शेष दो में से एक 'ञम्' उणादि सूत्रों का तथा दूसरा 'चय्' वार्त्तिकपाठ का है। हम इन प्रत्याहारों के लिखने से पूर्व यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि प्रत्याहारगत वर्णों के जानने का सुगम उपाय क्या है? प्रत्याहारगत वर्णों के जानने का सुगम उपाय यह है कि निम्नलिखित बातों को अच्छी तरह से बुद्धि में बिठा लिया जाये—

(क) वर्गों के पाञ्चवें वर्ण **ञमङणनम्** सूत्र में हैं।

(ख) वर्गों के चौथे वर्ण **झभञ्, घढधष्** सूत्रों में हैं।

(ग) वर्गों के तीसरे वर्ण **जबगडदश्** सूत्र में हैं।

(घ) वर्गों के दूसरे वर्ण **खफछठथ** तक हैं।

(ङ) वर्गों के प्रथम वर्ण **चटतव्, कपय्** सूत्रों में हैं।

(च) ऊष्मवर्ण **शषसर्, हल्** सूत्रों में हैं।

(छ) अन्तःस्थवर्ण **यवरट्, लँण्** सूत्रों में हैं।

(ज) स्वरवर्ण **अइउण्, ऋऌक्, एओङ्, ऐऔच्** सूत्रों में हैं।

इस के अतिरिक्त जिन सूत्रों के बीच से कटाव हो कर प्रत्याहार बनते हैं उन सूत्रों के स्थान भी याद रखने योग्य हैं। वे स्थान निम्नलिखित हैं—

अइउण्। यहाँ 'इ' से कटाव होकर इक्, इच् तथा 'उ' से कटाव हो कर उक् प्रत्याहार बनता है।

हयवरट्। यहां 'य' से कटाव हो कर यण्, यञ्, यम्, यय्, यर् प्रत्याहार 'व' से कटाव होकर वल् प्रत्याहार तथा 'र्' से कटाव हो कर रँ प्रत्याहार बनता है।

ञमङणनम्। यहां 'म' से कटाव होकर मय् तथा 'ङ' से कटाव होकर ङम् प्रत्याहार बनता है।

झभञ्। यहां 'भ' से कटाव होकर भष् प्रत्याहार बनता है।

जबगडदश्। यहां 'ब' से कटाव होकर बश् प्रत्याहार बनता है।

खफछठथचटतव्। यहां 'छ' से कटाव हो कर छव् तथा 'च' से कटाव हो कर चय् प्रत्याहार बनता है।

इस व्याकरण में प्रयुक्त होने वाले प्रत्याहारों का दो श्लोकों में संग्रह यथा—

ङणटञ्वात् स्मृतो ह्येकः, चत्वारश्च चमान्मताः।
शलाभ्यां षड् यरात्पञ्च, पाद् द्वौ च कणतस्त्रयः॥१॥
केषाञ्चिच्च मते रोऽपि, प्रत्याहारोऽपरो मतः।
लस्याऽवर्णेन वाञ्छन्त्यनुनासिकवलादिह॥२॥

समास—उश्च ऊश्च ऊ३श्च=व । इतरेतरद्वन्द्व । व कालो यस्य स=ऊकाल । बहुव्रीहि-समास । (एकमात्रिक उकार द्विमात्रिक उकार तथा त्रिमात्रिक उकार का द्वन्द्व करने से 'जस्' विभक्ति मे 'व' रूप निष्पन्न होता है। यहा सब उकार लक्षणा-शक्ति मे अपने २ उच्चारणकाल के सदृश अर्थ वाले हैं)। ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च=ह्रस्वदीर्घप्लुत । इतरेतरद्वन्द्व । (यहा इतरेतरद्वन्द्व होने से यद्यपि बहुवचन होना चाहिये था तथापि सौत्र होने के कारण एकवचन हो गया है)। अर्थ—(ऊकाल) एकमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला, द्विमात्रिक उकार के सदृश उच्चारण-काल वाला तथा त्रिमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला (अच्) अच्, क्रमश (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत) ह्रस्व दीर्घ तथा प्लुत सञ्ज्ञक होता है। भाव—यदि एकमात्रिक[1] उकार के उच्चारणकाल के समान किसी अच् का उच्चारण-काल होगा तो वह ह्रस्व, यदि द्विमात्रिक उकार के उच्चारण-काल के समान किसी अच् का उच्चारण-काल होगा तो वह दीर्घ और यदि त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के समान किसी अच् का उच्चारण-काल होगा तो वह प्लुत सञ्ज्ञक होगा।

कुक्कुट के 'कु कू कू३' शब्द मे क्रमश ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उकार का उच्चारण स्पष्ट प्रतीत होता है अत यहा दृष्टान्त के लिये उकार को उपयुक्त समझा गया है वरन् 'आकाल' आदि भी कहा जा सकता था।

इस प्रकार अचो के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन २ भेद हो जाते है (ध्यान रहे कि यहा सामान्यत कथन किया गया है, सब अचो के तीन तीन भेद नही होते, पर हा यह तीनो भेद अचो के ही होते हैं अन्य वर्णों के नही)। अब अग्रिम तीन सूत्रो से प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन २ भेद कहे जाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(६) उच्चैरुदात्तः ।१।२।२९॥

(ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसञ्ज्ञः स्यात् ॥)

सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(७) नीचैरनुदात्तः ।१।२।३०॥

(ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसञ्ज्ञः स्यात् ॥)

अर्थ—भागो वाले तालु आदि स्थानो मे जो अच् उपरले भाग मे बोला जाय वह उदात्त होता है ॥६॥

---

१. कई लोग—जितनी देर मे आँख झपकती है उसे 'मात्रा' कहते हैं। कुछ लोग—जितनी देर मे बिजली चमकती है उसे 'मात्रा' कहते हैं। अन्य लोग—जितनी देर मे झरोखे के बीच कण दिखाई देता है उसे 'मात्रा' कहते हैं। इतर लोग—चाष—नीलकण्ठ पक्षी जितनी देर मे बोलता है उसे 'मात्रा' मानते हैं। ये सब प्राचीन शिक्षाकार आचार्यों के मत हैं। परन्तु आजकल एक सैकेण्ड के समय को मात्रा-समय मानना सरल प्रतीत होता है। ह्रस्व के बोलने मे एक सैकेण्ड,

भागों वाले तालु आदि स्थानों में जो अच् निचले भाग में बोला जाय वह अनुदात्त होता है ॥७॥

व्याख्या—उच्चैः इत्यव्ययपदम् । उदात्तः ।१।१। अच् ।१।१। (ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः सूत्र से) ॥६॥ नीचैः इत्यव्ययपदम् । अनुदात्तः ।१।१। अच् ।१।१। (ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः सूत्र से) ॥७॥ 'उच्चैस्' शब्द का अर्थ ऊँचा तथा 'नीचैस्' शब्द का अर्थ नीचा है। भाष्य के प्रमाणानुसार वर्णों का अपने २ स्थानों में ही ऊँचा या नीचापन समझना चाहिये। यदि स्थान अखण्ड हों अर्थात् उन के भाग न हो सकते हों तो ऊँचापन या नीचापन नहीं बन सकता। अतः स्थानों के दो भाग मानने पड़ेंगे एक ऊँचा भाग दूसरा नीचा भाग। वृत्ति में इसीलिये 'सभाग' शब्द लिखा गया है। अर्थः—(उच्चैः) अपने स्थान के ऊपर वाले भाग में उच्चार्यमाण (अच्) अच् (उदात्तः) उदात्तसंज्ञक होता है ॥६॥ (नीचैः) अपने स्थान के नीचे वाले भाग में उच्चार्यमाण (अच्) अच् (अनुदात्त) अनुदात्तसंज्ञक होता है ॥७॥ यथा अकार का 'कण्ठ' स्थान है। यदि अकार कण्ठ में उपरले भाग से बोला जायेगा तो उदात्त और यदि निचले भागमें बोला जायेगा तो अनुदात्त संज्ञक होगा। एवम् आगे इकार आदियों के विषय में भी जान लेना चाहिये।

कुछ लोग 'जो ऊँची स्वर से बोला जाय वह उदात्त होता है' ऐसा अनर्थ किया करते हैं। उनके अनर्गल—प्रलाप से सावधान रहना चाहिये; क्योंकि तब मानसिक जप में उदात्तत्व आदि न माना जा सकेगा, पर यह अनिष्ट है।

नोटः—इन सूत्रों की तथा अगले सूत्र की वृत्ति 'लघुकौमुदी' में नहीं दी गई। हम ने सुगमता के लिये 'सिद्धान्तकौमुदी' से ले कर कोष्ठ में दे दी है।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(८) समाहारः स्वरितः ।१।२।३१॥

(उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्)। स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ॥

अर्थः—उदात्त और अनुदात्त वर्णों के धर्म जो उदात्तत्व और अनुदात्तत्व ये दोनों जिस अच् में विद्यमान हों वह अच् 'स्वरित' संज्ञक होता है। **स नवविधोऽपि**— इस तरह नौ प्रकार का वह अच् पुनः अनुनासिक तथा अननुनासिकधर्मों के कारण दो प्रकार का हो जाता है।

व्याख्या—उदात्तस्य ।६।१। अनुदात्तस्य ।६।१। (**उच्चैरुदात्तः** से 'उदात्तः' तथा **नीचैरनुदात्तः** से 'अनुदात्तः' पद का अनुवर्त्तन होता है। इन दोनों का यहां षष्ठी-विभक्ति में विपरिणाम हो जाता है। ये दोनों पद भाष्य के प्रमाणानुसार धर्मप्रधान हैं, अर्थात् इन का अर्थ उदात्तत्व और अनुदात्तत्व) है। समाहारः ।१।१। [समाहरणम् =समाहारः, भावे घञ्। समाहारोऽस्त्यस्मिन्निति समाहारः, अर्शआदिभ्योऽच्

दीर्घ के बोलने में दो सकेण्ड तथा प्लुत के बोलने में तीन सैकेण्ड का समय लगाना चाहिये।

(११६१) इनि मत्वर्थीयोऽच प्रत्यय]। स्वरित ।१।१। अर्थ —(उदात्तस्य=उदात्तत्वस्य) उदात्तपन (अनुदात्तस्य=अनुदात्तत्वस्य) और अनुदात्तपने के (समाहार) मत वाला (अच्) अच (स्वरित) स्वरितसज्ञक होता है। पूर्व-सूत्रो मे स्थानो के दो भाग कह आये हैं एव ऊपर वाला भाग और दूसरा नीचे वाला भाग। जो अच् इन दोनो भागो म बोला जाय उसे 'स्वरित' कहते हैं। यथा अकार का 'कण्ठ' स्थान होता है यदि अकार कण्ठ के उपरले और निचले दोनो भागो से बोला जायेगा तो स्वरित' सज्ञक होगा। इसी प्रकार अपने २ स्थानो के दोनो भागो म बोले जाने वाले इकार आदि भी स्वरितसज्ञक होगे।

अब इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त तथा स्व तीन २ भेद हो कर प्रत्येक अच् के नौ २ भेद हो जाते हैं (ध्यान रहे कि ५ सामान्यत कथन किया गया है क्योंकि जिन अचो के ह्रस्व या दीर्घ नही होते उन १ नौ छ २ भेद ही होते हैं)। ये नौ भेद निम्नलिखित हैं—

(१) ह्रस्व	उदात्त	(४) दीर्घ	उदात्त	(७) प्लुत	उदात्त
(२) ह्रस्व	अनुदात्त	(५) दीर्घ	अनुदात्त	(८) प्लुत	अनुदात्त
(३) ह्रस्व	स्वरित	(६) दीर्घ	स्वरित	(९) प्लुत	स्वरित

इन नौ भेदो म भी हर एक के पुन अनुनासिक तथा अननुनासिक धर्मों के कारण दो २ भेद होकर प्रत्येक अच् के अठारह २ भेद हो जाते हैं यह सब अग्रिम सूत्र म प्रतिपादन किया गया है।

कोई समय था जब उदात्त आदि स्वरो का प्रयोग लोक मे भी किया जाता था, पर अब इन का प्रचार लोक से सर्वथा नष्ट हो गया है। ये प्राय वेद म ही प्रयुक्त होते हैं। वेद म इन का सङ्केत चिह्नो द्वारा किया जाता है। उदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं होता, अनुदात्त के नीचे पडी रेखा तथा स्वरित के ऊपर खडी रेखा का चिह्न होता है। यथा—

उदात्त —अ । इ । उ । इत्यादि।

अनुदात्त —अ॒ । इ॒ । उ॒ । इत्यादि।

स्वरित —अ॑ । इ॑ । उ॑ । इत्यादि।

सामवेद आदि म अन्य प्रकार के भी चिह्न होते हैं जो वैदिक ग्रन्थो मे जानने चाहियें।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(६) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ।१।१।८॥

मुख-सहित-नासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्[1]। तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। लृ-वर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्॥

अर्थः—मुखसहित नासिका से बोला जाने वाला वर्ण अनुनासिक-संज्ञक होता है। इस प्रकार—'अ, इ, उ, ऋ' इन वर्णों से प्रत्येक के अठारह २ भेद हो जाते हैं। 'लृ' वर्ण के—दीर्घ न होने से बारह भेद होते हैं। एचों (ए, ओ, ऐ, औ) के भी—ह्रस्व न होने से बारह २ भेद होते हैं।

व्याख्या—मुख-नासिका-वचनः ।१।१। अनुनासिकः ।१।१। समासः—मुखेन सहिता मुख-सहिता, तृतीया-तत्पुरुष-समासः, मुख-सहिता नासिका मुखनासिका, **शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्** इति वार्तिकेन समासः। उच्यत इति वचनः (वर्ण इत्यर्थः), कर्मणि ल्युट्। मुखनासिकया वचनः=मुखनासिकावचनः। तृतीया-तत्पुरुष-समासः। अर्थः—(मुख-नासिका-वचनः) मुखसहित नासिका से बोला जाने वाला वर्ण (अनुनासिकः) अनुनासिक-संज्ञक होता है।

भाव यह है कि मुख से तो प्रत्येक वर्ण बोला ही जाता है, पर जो मुख और नासिका दोनों से बोला जाये वह अनुनासिक होता है। यथा ङ्, ञ्, ण्, न्, म् इत्यादि मुख और नासिका दोनों से बोले जाते हैं अतः 'अनुनासिक' संज्ञक हैं। इसी प्रकार यदि अच् मुख और नासिका दोनों से बोला जायेगा तो 'अनुनासिक' होगा और यदि केवल मुख से ही बोला जायेगा तो 'अननुनासिक' (न अनुनासिकः, जो अनुनासिक नहीं) होगा। इस प्रकार पीछे कहे तो २ भेदों के अनुनासिक और अननुनासिक धर्म के कारण अठारह २ भेद हो जाते हैं।

अब अचों का सामान्यतः भेद-निरूपण करके पुनः प्रत्येक का विशेषतः भेद-निरूपण करते हैं।

'अ, इ, उ, ऋ' इन में से प्रत्येक वर्ण के अठारह भेद होते हैं। 'लृ' वर्ण के बारह भेद होते हैं। इस के दीर्घ न होने से छः भेद कम हो जाते हैं। 'एच्' अर्थात् 'ए, ओ, ऐ, औ' वर्णों के भी बारह २ भेद होते हैं, क्योंकि इन का ह्रस्व नहीं होता। ह्रस्व न होने से छः २ भेद कम हो जाते हैं। यह ध्यान रहे कि 'ए, ऐ' तथा 'ओ, औ' परस्पर ह्रस्व दीर्घ नहीं, किन्तु सब दीर्घ और भिन्न २ जाति वाले हैं। इन सब की तालिका यथा—

---

1. अत्र **मुखसहितया नासिकया** इति व्यास एव न्याय्यः। समासे तु शाकपार्थिवादित्वात् सहितपदलोपप्राप्तिः।

अ, इ, उ, ऋ, लृ	अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ
१ ह्रस्व उदात्त अनुनासिक	७ दीर्घ उदात्त अनुनासिक	१३ प्लुत उदात्त अनुनासिक
२ ,, ,, अननुनासिक	८ अननुनासिक	१४ ,, अननुनासिक
३ ,, अनुदात्त अनुनासिक	९ अनुदात्त अनुनासिक	१५ ,, अनुदात्त अनुनासिक
४ ,, ,, अननुनासिक	१० अननुनासिक	१६ , अननुनासिक
५ ,, स्वरित अनुनासिक	११ , स्वरित अनुनासिक	१७ , स्वरित अनुनासिक
६ ,, ,, अननुनासिक	१२ अननुनासिक	१८ , अननुनासिक

प्रकरण का सार—

इस प्रकरण का सार यह है कि सजातीय (एक ही स्थान वाले) अचों में परस्पर तीन प्रकार के भेद होते हैं। १ कालकृत भेद। २ स्थानभागकृत भेद। ३ नासिकाकृत भेद।

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (५) सूत्र कालकृत भेद करता है। उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः (६, ७, ८) ये सब स्थानभागकृत भेद करते हैं। मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (९) यह सूत्र नासिकाकृत भेद करता है। उदाहरणार्थ अकार के अठारह भेदों की आकृति यथा—

ह्रस्व—अँ, अ, अँ, अ, अँ, अ ॥

दीर्घ—आँ, आ, आँ, आ; आँ, आ ॥

प्लुत—आँ३, आ३; आँ३, आ३, आँ३, आ३ ॥

(१) अँ और अ में केवल नासिकाकृत भेद है क्योंकि पहला अनुनासिक और दूसरा अननुनासिक है। दोनों एकमात्रिक हैं अतः कालकृत भेद नहीं है। दोनों उदात्त होने के कारण स्थान के ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न होते हैं अतः स्थानभागकृत भेद भी नहीं है।

(२) अ और अँ में नासिकाकृत तथा स्थानभागकृत दो प्रकार का भेद है। क्योंकि पहला अननुनासिक तथा कण्ठ स्थान के ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न होता है, दूसरा अनुनासिक तथा कण्ठ स्थान के अधोभाग में निष्पन्न होता है। इन दोनों में कालकृत भेद नहीं है क्योंकि दोनों एकमात्रिक हैं।

(३) अ और आ में तीनों प्रकार का भेद है। पहला एकमात्रिक तथा दूसरा द्विमात्रिक है अतः कालकृत भेद हुआ; पहला उदात्त होने से ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न होने वाला तथा दूसरा अनुदात्त होने से अधोभाग में निष्पन्न होने वाला है अतः स्थान-भागकृत भेद हुआ; पहला अननुनासिक तथा दूसरा अनुनासिक है अतः नासिकाकृत भेद हुआ।

(४) सजातीय अर्थात् एक स्थान वाले अचों में इन तीन भेदों से अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं हो सकता, पर विजातीय अर्थात् भिन्न २ स्थानों वाले अचों में चौथा 'स्थानकृत' भेद भी हुआ करता है। यथा—अँ और ई में; पहला कण्ठस्थानीय तथा दूसरा तालुस्थानीय है अतः स्थानकृत भेद है।

नोट—विद्यार्थियों को अचों के परस्पर इन चार प्रकार के भेदों का सुचारु रूप से अभ्यास कर लेना चाहिये।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१०) **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** ।१।१।९॥

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्ण-संज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—तालु आदि स्थान तथा आभ्यन्तर-प्रयत्न ये दोनों जिस वर्ण के जिस वर्ण के साथ तुल्य हों वह वर्णजाल (अक्षर-समुदाय) परस्पर सवर्णसंज्ञक होता है।

व्याख्या—तुल्यास्यप्रयत्नम् ।१।१। सवर्णम् ।१।१। समासः—आस्ये (मुखे) भवम्=आस्यम्, **शरीरावयवाच्च** (१०९१) इति भवार्थे यत्प्रत्ययः। **यस्येति च** (२३६) इत्यकारलोपे **हलो यमां यमि लोपः** (६९७) इति यकारलोपः। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः, यद्वा प्राक्तनो यत्नः प्रयत्नः, **कुगतिप्रादयः** (९४९) इति प्रादिसमासः। आस्यञ्च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, इतरेतरद्वन्द्वः। तुल्यौ आस्य-प्रयत्नौ यस्य (वर्णजालस्य) तत्=तुल्यास्यप्रयत्नम्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(तुल्यास्य-प्रयत्नम्) जिस वर्ण समूह का पारस्परिक ताल्वादिस्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हो वह (सवर्णम्) परस्पर सवर्ण-संज्ञक होता है।

स्थान कण्ठ से शुरू होते हैं अतः 'ताल्वादि' की अपेक्षा 'कण्ठादि' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कई लोग—'तालुन आदिस्ताल्वादिः (कण्ठः)। तालु आदिर्येषान्तानीमानि ताल्वादीनि, ताल्वादिश्च ताल्वादीनि च ताल्वादीनि, एकशेषः। इस प्रकार विग्रह कर के कण्ठ को भी ला घसीटते हैं, परन्तु हमारी सम्मति में सीधा 'कण्ठादि' न कह कर 'ताल्वादि' कहना द्रविड़-प्राणायाम से कम नहीं।

लोक में आभ्यन्तर तथा बाह्य यत्नों के लिये सामान्यतया 'प्रयत्न' शब्द प्रयुक्त होता है, पर शास्त्र में इन दोनों के लिये 'यत्न' शब्द का ही प्रयोग होता है। इस सूत्र में 'यत्न' शब्द के साथ 'प्र' जुड़ा हुआ है, जो बाह्ययत्न को हटा कर आभ्यन्तर-

यत्न का ही बोध कराता है। तथाहि—प्राक्तनो यत्न प्रयत्न, अथवा प्रकृष्टो यत्न प्रयत्न ' जो पहला यत्न अथवा उत्कृष्ट यत्न हो उसे प्रयत्न' कहते हैं। इस रीति से 'आभ्यन्तर' ही 'प्रयत्न' ठहरता है क्योंकि वह वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है तथा वर्णोत्पत्ति का कारण होने से उत्कृष्ट है। बाह्ययत्न वर्णोत्पत्ति के पश्चात् होने तथा वर्णोत्पत्ति में कारण न होने से वैसा नही है।

यहा यह ध्यान रखना चाहिये कि जब तक सम्पूर्ण स्थान और सम्पूर्ण प्रयत्न तुल्य न हो तब तक 'सवर्ण' सज्ञा नही होगी। यथा 'इ' और 'ए' वर्णों का प्रयत्न तुल्य है तालुस्थान भी तुल्य है, परन्तु 'ए' का 'इ' से कण्ठस्थान अधिक है अत इन की सवर्णसज्ञा नही होती। सवर्णसज्ञा न होने से 'भवति+एव' इत्यादि में अनिष्ट सवर्ण-दीर्घ की निवृत्ति हो जाती है। यह सब मुनिवर पाणिनि के यजुष्येकेषाम् (८ ३ १०४) सूत्र मे (यजुषि+एकेषाम) सवर्णदीर्घ न कर के यण करने से विदित होता है।

अब यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सम्पूर्ण स्थान+प्रयत्न के साम्य होने से ही सावर्ण्य माना जायेगा तो 'क' और 'ङ' की सवर्णसज्ञा न हो सकेगी, क्योंकि कण्ठस्थान और स्पृष्ट प्रयत्न के तुल्य होने पर भी ङकार का नासिकास्थान अधिक होता है। और यदि इन की सवर्ण-सज्ञा न होगी तो क्विन्प्रत्ययस्य कु (३०८) सूत्र मे कवर्ग ङकार का ग्रहण न करायेगा इस से 'प्राङ' आदि प्रयोगो मे नकार को ङकार न हो कर अनिष्ट प्रयोग निष्पन्न होंगे। इस का समाधान यह है कि सूत्र मे आस्य+प्रयत्न के तुल्य होने का उल्लेख है। 'आस्य' का अर्थ मुख में होने वाला स्थान' है। ककार और ङकार का मुख मे होने वाला स्थान कण्ठ तुल्य ही है। 'नासिका' तो मुख से बाहर का स्थान है, फिर चाहे वह तुल्य हो या न हो चिन्ता नही, सवर्णसज्ञा हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि—

यदि किसी वर्ण के मुखगत कण्ठादि स्थान तथा आभ्यन्तर यत्न अन्य वर्ण से पूरी तरह से तुल्य हो तो वे परस्पर 'सवर्ण' सज्ञक होते हैं।

स्मरण रहे कि 'ए' और 'ऐ' की तथा 'ओ' और 'औ' की सम्पूर्ण स्थान और प्रयत्न के साम्य होने पर भी सवर्णसज्ञा नहीं होती, इस का कारण यह है कि मुनिवर पाणिनि ने एओङ्, ऐऔच् सूत्रो मे दोनो का पृथक् २ निर्देश किया है।

[लघु०] वा०—(१) ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्॥

अर्थः—ऋकार और लृकार वर्णों की परस्पर 'सवर्ण' सज्ञा कहनी चाहिये।

व्याख्या—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१०) सूत्र के अनुसार ऋकार और लृकार की परस्पर सवर्ण-सज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि ऋकार का स्थान मूर्धा और लृकार का स्थान दन्त है। परन्तु 'तवल्कार' आदि प्रयोगो के लिये इन की सवर्ण सज्ञा करना अतीव आवश्यक है। इस त्रुटि की पूर्ति मुनिवर कात्यायन ने उपर्युक्त वार्त्तिक द्वारा कर दी है। अब दोनो का स्थानसाम्य न होने पर भी सवर्णसज्ञा सिद्ध हो जाती है।

नोट न हि सर्वः सर्वं जानाति (हर एक पुरुष हर एक विषय का ज्ञाता नहीं हुआ करता) इस न्यायानुसार मुनिवर पाणिनि से जो कुछ छूट गया उसकी पूर्ति करने तथा मुनिवर पाणिनि के सूत्रपाठ का तात्पर्य समझाने के लिये महामुनि कात्यायन ने **वार्त्तिक-पाठ** का निर्माण किया है। इस **वार्त्तिक-पाठ** की भी त्रुटियों को दूर करने के लिये तथा कात्यायन का आशय स्पष्ट करने के लिये महामुनि पतञ्जलि ने **महाभाष्य** नामक अति-सुन्दर बृहत्काय ग्रन्थ रचा है। यही तीनों मुनि इस व्याकरण के **मुनित्रय** कहलाते हैं और इन के कारण ही इस पाणिनीय-व्याकरण को **त्रिमुनि व्याकरणम्** कहते हैं। इन मुनियों में उत्तरोत्तर मुनि अर्थात् पाणिनि से कात्यायन तथा कात्यायन से पतञ्जलि अधिक प्रामाणिक हैं। इस का कारण यह है कि जगत् में यह नियम है कि सब से पहले पुरुष को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है वैसा उत्तरोत्तर पुरुषों को नहीं, क्योंकि पहले पुरुष की सम्पूर्ण विचारधारा उत्तर-पुरुष को अनायास प्राप्त हो जाती है इस से वह उस से आगे के लिये यत्न किया करता है, अत एव बुद्धिमान् लोग उत्तरोत्तर को अधिक प्रामाणिक माना करते हैं। **उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** यह उक्ति भी इसी आधार पर आश्रित है।

सूचना—इस ग्रन्थ में कात्यायन की वार्त्तिकों के आदि में **वा०** ऐसा चिह्न कर दिया गया है और इन की क्रमसंख्या भी सूत्रक्रम से पृथक् निर्दिष्ट की गई है।

सवर्णसंज्ञा में स्थान और प्रयत्न का उपयोग होने से अब उन का विवेचन किया जाता है—

[लघु०] अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः ॥

अर्थः—अठारह प्रकार के अवर्ण, कवर्ग, हकार तथा विसर्ग का कण्ठ स्थान होता है।

व्याख्या—अकुहविसर्जनीयानाम् ।६।३। कण्ठः ।१।१। समासः—अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्च अकुहविसर्जनीयाः, तेषाम् = अकुहविसर्जनीयानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां 'अ' से लोकप्रसिद्धचनुसार सारे का सारा अवर्णकुल तथा 'कु' से कवर्ग का ग्रहण समझना चाहिये। विसर्जनीय और विसर्ग पर्याय अर्थात् एकार्थवाची शब्द हैं। यहां यह ध्यान रहे कि विसर्ग का कण्ठस्थान तभी होता है जब वह अकाराश्रित अर्थात् अकार से परे होता है; जैसा कि पाणिनि के नाम से प्रचलित **पाणिनीय-शिक्षा** में कहा गया है—

अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः। (श्लोक २२)

अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) का वही स्थान होता है जिस के वे आश्रित होते हैं। यम और अनुस्वार नासिकास्थानीय ही रहते हैं, क्योंकि शिक्षा में कहा गया है—

अनुस्वारयमानाञ्च नासिकास्थानमुच्यते। (श्लोक २२)

अर्थात् अनुस्वार और यमों का 'नासिका' स्थान होता है। अब अयोगवाहों में शेष रहे जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और विसर्ग। इन में से जिह्वामूलीय का 'जिह्वामूल' ही स्थान निश्चित है, इसी प्रकार उपध्मानीय भी सदैव पकार या फकार के आश्रित होने से ओष्ठस्थानीय ही रहते हैं। तो अब विसर्ग के सिवाय अयोगवाहों में अन्य कोई अनियतस्थान वाला नहीं रहा। उदाहरण यथा—'कवि:' यहां इकाराश्रित होने से विसर्जनीय का तालुस्थान होता है। 'भानु:' यहां उकाराश्रित होने से विसर्जनीय का ओष्ठस्थान है। 'रामयो:' यहां ओकाराश्रित होने से विसर्जनीय का कण्ठ+ओष्ठ स्थान है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जिस २ के आश्रित विसर्ग होगा उस २ का वह २ स्थान विसर्ग का भी होगा।

[लघु०] इचुयशानां तालु ॥

अर्थः—अठारह प्रकार के इवर्ण, चवर्ग, दो प्रकार के यकार तथा शकार का 'तालु' स्थान होता है।

व्याख्या—इचुयशानाम् ।६।३। तालु ।१।१। समासः—इश्च चुश्च यश्च शश्च इचुयशाः, तेषाम्=इचुयशानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां लोकप्रसिद्ध्यनुसार 'इ' से इवर्णकुल, 'चु' से चवर्ग 'य्' से अनुनासिक और अननुनासिक दोनों प्रकार के यकारों का ग्रहण होता है। दान्तों के पीछे जो कठिन मुख की छत है उसे 'तालु' कहते हैं।

[लघु०] ऋ-टु-र-षाणां मूर्धा ॥

अर्थः—अठारह प्रकार के ऋवर्ण, टवर्ग, रेफ तथा षकार का 'मूर्धा' स्थान होता है।

व्याख्या—ऋटुरषाणाम् ।६।३। मूर्धा ।१।१। समासः—ऋश्च टुश्च रश्च षश्च ऋटुरषाः, तेषाम्=ऋटुरषाणाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। 'तालु' स्थान से पीछे मुख की छत का जो कोमल भाग है उसे 'मूर्धा' कहते हैं। आजकल षकार का उच्चारण सम्यग्-रीत्या नहीं हुआ करता अतः इस का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

[लघु०] लृ-तु-ल-सानां दन्ताः ॥

अर्थः—बारह प्रकार के लृकार, तवर्ग, दो प्रकार के लकार तथा सकार का 'दन्त' स्थान होता है।

व्याख्या—लृतुलसानाम् ।६।३। दन्ताः ।१।३। समासः—लृश्च तुश्च लश्च सश्च=लृतुलसाः, तेषाम्=लृतुलसानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां 'दन्त' से तात्पर्य ऊपर वाले दान्तों के पीछे साथ लगे हुए मांस से है, अत एव भग्न दान्तों वाला पुरुष भी इन वर्णों का उच्चारण कर सकता है।

[लघु०] उ-पूपध्मानीयानामोष्ठौ ॥

अर्थः—अठारह प्रकार के उकार, पवर्ग तथा उपध्मानीय का ओष्ठ (होंठ) स्थान होता है।

व्याख्या — उपूपध्मानीयानाम् ।६।३। ओष्ठौ ।१।२। समासः—उश्च पुश्च उपध्मानीयश्च उपूपध्मानीयाः, तेषाम् = उपूपध्मानीयानाम् । इतरेतरद्वन्द्वः । अच् से परे तथा पकार फकार से पूर्व '⌣' इस प्रकार उपध्मानीय होता है । इस का विवेचन आगे इसी प्रकरण में किया जायेगा ।

[लघु०] ञ-म-ङ-ण-नानां नासिका च ॥

अर्थः—ञ्, म्, ङ्, ण्, न् इन पाञ्च वर्णों का 'नासिका' स्थान भी होता है ।

व्याख्या—ञमङणनानाम् ।६।३। नासिका ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । समासः—ञश्च मश्च ङश्च णश्च नश्च = ञमङणनाः, तेषाम् = ञमङणनानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । ञादिष्वकार उच्चारणार्थः । यहाँ मूल में 'च' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि इन वर्णों का अपने-अपने वर्गों का स्थान भी होता है । यथा — ञकार का तालुस्थान और नासिकास्थान दोनों हैं । इस प्रकार मकारादि में भी समझ लेना चाहिये ।

[लघु०] एदैतोः कण्ठ-तालु ॥

अर्थः—बारह प्रकार के एकार तथा ऐकार का कण्ठ और तालु स्थान होता है ।

व्याख्या—एदैतोः ।६।२। कण्ठतालु ।१।१। एच्च ऐच्च = एदैतौ, तयोः = एदैतोः, इतरेतरद्वन्द्वः । कण्ठश्च तालु च = कण्ठतालु । प्राण्यङ्गत्वात् समाहार-द्वन्द्वः । मूल में तकार सुखपूर्वक उच्चारण के लिये ग्रहण किया गया है, इसे तपर नहीं समझना चाहिये ।

[लघु०] ओदौतोः कण्ठोष्ठम् ॥

अर्थः—बारह प्रकार के ओकार तथा औकार का 'कण्ठ' और 'ओष्ठ' स्थान होता है ।

व्याख्या—ओदौतोः ।६।२। कण्ठोष्ठम् ।१।१। समासः—ओच्च औच्च ओदौतौ, तयोः = ओदौतोः, इतरेतर-द्वन्द्वः । कण्ठश्च ओष्ठौ च कण्ठोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः । **ओत्वोष्ठयोः समासे वा** इति वार्तिकेन पररूपता । यहां भी मूल में तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिये ।

[लघु०] वकारस्य दन्तोष्ठम् ॥

अर्थः—वकार का दन्त और ओष्ठ स्थान होता है ।

व्याख्या—वकारस्य ।६।१। दन्तोष्ठम् ।१।१। समासः—दन्ताश्च ओष्ठौ च = दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः । **ओत्वोष्ठयोः समासे वा** इति वार्तिकेन पररूपता । जो लोग वकार के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का प्रयोग करके उसे वकार बना देते हैं उन्हें यह वचन ध्यान से पढ़ना चाहिये ।

[लघु०] जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् ॥

अर्थः—जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वा की जड़ होता है ।

व्याख्या—जिह्वामूलीयस्य ।६।१। जिह्वामूलम् ।१।१। जिह्वा का मूल स्थान

प्राय कण्ठ के ही निकट होता है । अच् से परे तथा ककार खकार से पूर्व '⌣' ऐसा चिह्न जिह्वामूलीय का होता है इस का विवेचन आगे इसी प्रकरण मे मूल मे ही किया जायेगा ।

[लघु०] नासिकाऽनुस्वारस्य ॥

अर्थ—अनुस्वार का नासिका-स्थान होता है ।

व्याख्या—नासिका ।१।१। अनुस्वारस्य ।६।१। अच् से परे '—' इस प्रकार के चिह्न को 'अनुस्वार' कहते हैं । इस का विवेचन आगे मूल मे ही किया जायेगा ।

[लघु०] इति स्थानानि ॥

अर्थः—ये स्थान समाप्त हुए ।

[लघु०] यत्नो द्विधा, आभ्यन्तरो बाह्यश्च । आद्य पञ्चधा, स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात् । तत्र स्पृष्ट प्रयतन स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् । ईषद्विवृतमूष्मणाम् । विवृत स्वराणाम् । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रिया-दशायान्तु विवृतमेव ॥

अर्थ.—यत्न दो प्रकार का होता है, एक 'आभ्यन्तर' और दूसरा 'बाह्य' । पहला आभ्यन्तर-यत्न पाच प्रकार का होता है, १ स्पृष्ट, २ ईषत्स्पृष्ट, ३ ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५ संवृत । इन मे से स्पृष्ट-प्रयत्न स्पर्श अक्षरो का होता है । ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न अन्त स्थ अक्षरो का होता है । ईषद्विवृत-प्रयत्न ऊष्म अक्षरो का होता है । स्वरो का विवृत-प्रयत्न होता है । ह्रस्व अवर्ण का उच्चारण-काल मे संवृत-प्रयत्न और प्रयोग-सिद्धि के समय केवल विवृत-प्रयत्न होता है ।

व्याख्या—कोशिश को 'यत्न' कहते हैं । यह यत्न यहा दो प्रकार का होता है । एक वर्ण की उत्पत्ति से पूर्व और दूसरा वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात् । जो यत्न वर्णोत्पत्ति से पूर्व किया जाता है उसे 'आभ्यन्तर' तथा जो वर्णोत्पत्ति के अनन्तर किया जाता है उसे 'बाह्य' कहते हैं । इन मे प्रथम 'आभ्यन्तर' यत्न पाच प्रकार का होता है । यथा—१ स्पृष्ट, २ ईषत्स्पृष्ट, ३ ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५ संवृत । वर्णों की उत्पत्ति मे जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भागो का उपयोग हुआ करता है । जिह्वा का स्थान को छूना 'स्पृष्ट', थोडा छूना 'ईषत्स्पृष्ट', थोडा दूर रहना 'ईषद्विवृत', दूर रहना 'विवृत' तथा हट कर समीप रहना 'संवृत' यत्न कहलाता है ।

स्पर्श अर्थात् 'क्' से लेकर 'म्' पर्यन्त वर्णो का 'स्पृष्ट' प्रयत्न है, अर्थात् इन के उच्चारण मे जिह्वा (यह उपलक्षणमात्र है, पवर्ग के उच्चारण मे ओष्ठ भी समझ लेना चाहिये) को स्थान के साथ स्पर्शरूप यत्न करना पडता है । अन्त स्थ अर्थात् य्, व्, र्, ल् वर्णो का 'ईषत्स्पृष्ट' प्रयत्न है, अर्थात् इन के उच्चारण मे जिह्वा (ओष्ठ भी) को स्थान के साथ थोडा स्पर्शरूप यत्न करना पडता है । ऊष्म अर्थात् श्, ष्, स्, ह्, वर्णो का 'ईषद्विवृत' प्रयत्न है, अर्थात् इन के उच्चारण मे जिह्वा को स्थान से

थोड़ी दूर रखना चाहिये। स्वरों का 'विवृत' प्रयत्न है; अर्थात् इनके उच्चारण में जिह्वा (उकार के उच्चारण में ओष्ठ) को स्थान से दूर रखना चाहिये। ह्रस्व अवर्ण का 'संवृत' प्रयत्न है; अर्थात् इस के उच्चारण में जिह्वा को स्थान से हटा कर उसके समीप रखना चाहिये।

इन सब प्रयत्नों का शिक्षा-ग्रन्थों में यथावत् वर्णन किया गया है वहीं देखें। इन प्रयत्नों से व्याकरण में और तो कोई दोष नहीं आता किन्तु ह्रस्व अकार दीर्घ आकार का सवर्णी नहीं हो सकता; क्योंकि ह्रस्व अकार का सवृत और दीर्घ आकार का विवृत प्रयत्न होता है। सावर्ण्य न होने से 'दण्ड + आनयन' इत्यादि में **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ न हो सकेगा। इस दोष की निवृत्ति के लिये महामुनि पाणिनि ने इस शास्त्र में प्रक्रिया-अवस्था में ह्रस्व अकार को विवृत माना है, इस से दोनों की सवर्ण-संज्ञा हो जाने से कोई दोष नहीं आता। इस विषय का विस्तार अ अ (८.४.६७) सूत्र पर 'काशिका' आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

अब बाह्य-यत्न का वर्णन किया जाता है -

[लघु०] बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा । विवारः संवारः श्वासो नादोऽघोषो घोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति । खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च । हशः संवारा नादा घोषाश्च । वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः । वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः ॥

अर्थः—बाह्ययत्न ग्यारह प्रकार का होता है। १–विवार, २–संवार, ३–श्वास, ४–नाद, ५–अघोष, ६–घोष,[1] ७–अल्पप्राण, ८–महाप्राण, ९–उदात्त, १०–अनुदात्त, ११–स्वरित। 'खर्' प्रत्याहार के अन्तर्गत वर्ण विवार, श्वास तथा अघोष यत्न वाले होते हैं। 'हश्' प्रत्याहार के अन्तर्गत वर्ण संवार, नाद तथा घोष यत्न वाले होते हैं। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम और यण् अल्पप्राण यत्न वाले होते हैं। वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ और शल् महाप्राण यत्न वाले होते हैं।

व्याख्या—**हशः संवारा नादा घोषाश्च** तथा **यणश्चाल्पप्राणाः** इन दोनों स्थानों पर 'च' से 'अच्' का ग्रहण होता है। अतः अच्—संवार, नाद, घोष तथा अल्पप्राण यत्न वाले हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भी अचों के ही यत्न हैं इन का वर्णन पीछे हो चुका है अतः यहां इन के विषय में कुछ नहीं कहा गया।

यद्यपि यह वर्णन ध्वनिशास्त्र का विषय है तथापि यहां विवार आदि का सङ्क्षिप्त सरलार्थ लिख देना अनुचित न होगा।

विवार—वर्णोच्चारण के समय मुख के खुलने को विवार कहते हैं। जिन वर्णों

---

१. यहां पर **अघोषः, घोषः** ऐसा उपर्युक्त पाठ मानने से अन्वय ठीक हो जाता है, फिर एक २ को छोड़ देने से "विवार, श्वास, अघोष" तथा "संवार, नाद, घोष" यह क्रम भी ठीक हो जाता है।

के उच्चारण करते समय मुख खुलना है वे विवार-यत्न वाले कहाते हैं। संवार—वर्णोच्चारण के समय मुख के विकास न होने को संवार कहते हैं। श्वास—वर्णोच्चारण के समय श्वास चलने को श्वास यत्न कहते हैं। नाद—वर्णोच्चारण के समय नाद अर्थात् गम्भीर ध्वनि होने को नाद यत्न कहते हैं। घोष-अघोष—वर्णोच्चारण के समय घोष अर्थात् गूंज का उठना घोष तथा गूंज का न उठना अघोष यत्न कहाता है। अल्पप्राण-महाप्राण—वर्णोच्चारण के समय प्राणवायु के अल्प उपयोग को अल्पप्राण तथा अधिक उपयोग को महाप्राण यत्न कहते हैं।

अब उपर्युक्त स्थान-यत्न-प्रकरण में आये हुए[1] १ स्पर्श २ अन्तःस्थ या अन्तःस्था, ३ ऊष्म, ४ स्वर, ५ जिह्वामूलीय ६ उपध्मानीय ७ अनुस्वार और ८ विसर्ग इन आठ शब्दों की व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार करते हैं—

[लघु०] कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तःस्थाः। शल ऊष्माणः। अचः स्वराः। ≍क ≍ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ≍प ≍फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। 'अं अः' इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ॥

अर्थः—'क्' से लेकर 'म्' पर्यन्त स्पर्श वर्ण हैं। यण् अर्थात् 'य्, व्, र्, ल्' ये चार वर्ण अन्तःस्थ या अन्तःस्था[2] हैं। शल् अर्थात् 'श्, ष्, स्, ह्' ये चार वर्ण ऊष्म हैं। अच् प्रत्याहार स्वर होता है। 'क्' अथवा 'ख्' वर्ण से पूर्व (तथा अच् से परे) आधे विसर्ग के तुल्य जिह्वामूलीय होता है। 'प्' अथवा 'फ्' वर्ण से पूर्व (तथा अच् से परे) आधे विसर्ग के तुल्य उपध्मानीय होता है। 'अं, अः' यहां अकार स्वर से परे क्रमशः अनुस्वार तथा विसर्ग हैं।

व्याख्या—'क्' से 'म्' तक स्पर्श वर्ण हैं। यहां लौकिक क्रम का आश्रयण किया गया है जो आज तक प्रसिद्ध चला आ रहा है। प्रत्याहारसूत्रों में 'क्' से 'म्' तक मिलना असम्भव है अतः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग ये पच्चीस वर्ण ही स्पर्शसञ्ज्ञक होते हैं। इन का नाम स्पर्श इस कारण से है क्योंकि इन का उच्चारण जिह्वा (ओष्ठ भी) का स्थान के साथ स्पर्श होने से होता है। 'य्, व्, र्, ल्' इन चार वर्णों को अन्तःस्थ या अन्तःस्था इसलिये कहते हैं क्योंकि ये स्वर और व्यञ्जनों के बीच में रहते हैं। प्रत्याहारसूत्रों में भी स्वरों और व्यञ्जनों के मध्य इन को पढ़ा गया है। ये व्यञ्जन भी हैं और स्वर भी। अंग्रेजी में इन को अर्धस्वर (Semi Vowel) भी इसीलिये कहा जाता है। इको यणचि (१५), इग्यणः सम्प्रसारणम्

१ तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्; ईषत्स्पृष्टम् अन्तःस्थानाम्; ईषद्विवृतम् ऊष्मणाम्; विवृतं स्वराणाम्; जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्; उपूपध्मानीयानामोष्ठौ; नासिकाऽनुस्वारस्य, अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।

२ 'अन्तःस्थ' शब्द का उच्चारण रामशब्दवत् तथा 'अन्तःस्था' शब्द का उच्चारण विश्वपाशब्दवत् होता है।

(२५६) आदि सूत्र भी यही प्रकट करते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि प्रसिद्ध-लिपिक्रम में स्पर्शों और ऊष्मों के मध्य में वर्त्तमान होने से इन का नाम अन्तःस्थ पड़ गया है। 'श्, ष्, स्, ह्' ये चार वर्ण ऊष्म कहाते हैं। इन को ऊष्म कहने का कदाचित् यह प्रयोजन है कि इन के उच्चारण में गरम वायु निकलती है। कुछ लोगों की राय है कि इन के उच्चारण में शरीर में उष्णता - गरमी का अधिक सञ्चार होता है अतः ये ऊष्म कहाते हैं। 'क्' या 'ख्' परे होने पर विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय तथा 'प्' या 'फ्' परे होने पर उपध्मानीय आदेश होते हैं यह आगे **कुप्वोः ᳵक ᳶपौ च** (९८) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे। ये जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आधे विसर्ग के सदृश होते हैं। यहां सादृश्य उच्चारण की अपेक्षा से नहीं किन्तु लिपि की अपेक्षा से समझना चाहिये। यथा विसर्ग का स्वरूप 'ः' इन ऊपर नीचे लिखे दो गोल शून्य चिह्नों से प्रकट किया जाता है, इनका आधा 'ᳵ' यही उपध्मानीय और जिह्वा-मूलीय का स्वरूप समझना चाहिये। अनुस्वार की आकृति 'ं' इस प्रकार ऊपर एक बिन्दुरूप होती है। यह सदा स्वर के ऊपर लिखा जाता है परन्तु इस की स्थिति सदा स्वर के अनन्तर स्वीकार की जाती है। अनुस्वार का चिह्न यथा—अं, इं, उं, कं, किं, कुं इत्यादि। विसर्ग की आकृति 'ः' इस प्रकार दो गोल चिह्नों से प्रकट की जाती है। यह सदा स्वर के आगे प्रयुक्त किया जाता है। इसकी स्थिति भी स्वर के अनन्तर ही स्वीकार की जाती है। विसर्ग का उदाहरण यथा—अः, इः, उः, कः, किः, कुः इत्यादि।

(१) अथ स्थान-बोधक-चक्रम्

कण्ठः	तालु	ओष्ठौ	मूर्धा	दन्ताः	नासिका	कण्ठतालु	कण्ठोष्ठम्	दन्तोष्ठम्	जिह्वा०
अ	इ	उ	ऋ	लृ	ञ्	ए	ओ	व्	ᳵक
क्	च्	प्	ट्	त्	म्	ऐ	औ		ᳵख
ख्	छ्	फ्	ठ्	थ्	ङ्				
ग्	ज्	ब्	ड्	द्	ण्				
घ्	झ्	भ्	ढ्	ध्	न्				
ङ्	ञ्	म्	ण्	न्	ं				
ह्	य्	ᳶप	र्	ल्					
ः	श्	ᳶफ	ष्	स्					

(२) अथ आभ्यन्तर-यत्न-बोधक-चक्रम्

स्पृष्टम्	ईषत्स्पृष्टम्	विवृतम्		ईषद्विवृतम्	संवृतम्
क् ख् ग् घ् ङ्	य्	अ	ए	श्	ह्रस्वस्य
च् छ् ज् झ् ञ्	व्	इ	ओ	ष्	अवर्णस्य
ट् ठ् ड् ढ् ण्	र्	उ	ऐ	स्	उच्चारणकाले
त् थ् द् ध् न्	ल्	ऋ	औ	ह्	केवलम्
प् फ् ब् भ् म्		लृ			

(३) अथ बाह्य-यत्न-बोधक-चक्रम्

विवारः, श्वास, अघोष	संवार, नाद, घोष	अल्पप्राण	महाप्राण	उदात्तानुदात्त-स्वरिताः
क् ख्	ग् घ् ङ्	क् ग् ङ्	ख् घ्	अ
च् छ्	ज् झ् ञ्	च् ज् ञ्	छ् झ्	इ
ट् ठ्	ड् ढ् ण्	ट् ड् ण्	ठ् ढ्	उ
त् थ्	द् ध् न्	त् द् न्	थ् ध्	ऋ
प् फ्	ब् भ् म्	प् ब् म्	फ् भ्	लृ
श्	य् व्	य् (अन्तःस्थाः)	श्	ए
ष्	र् ल्	व्	ष्	ओ
स्	ह्	र्	स्	ऐ
	[सर्व स्वर]	ल्	ह्	औ

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्-(११) अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः ।१।१।६८॥

प्रतीयते—विधीयत इति प्रत्ययः । अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य सञ्ज्ञा स्यात् । अत्रैवाण् परेण णकारेण । कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ—एत उदितः । तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां सञ्ज्ञा, तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः, एवम् लृकारोऽपि । एचो द्वादशानाम् । अनुनासिकाऽननुनासिकभेदेन यवला द्विधा, तेनाऽननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः सञ्ज्ञा ॥

अर्थः—जिस का विधान किया जाये उसे 'प्रत्यय' कहते हैं । अप्रत्यय अर्थात् न विधान किया हुआ अण् और उदित् सवर्णों की तथा अपनी सञ्ज्ञा वाला हो । अत्रैवाण्—केवल इसी सूत्र में अण् प्रत्याहार पर णकार से गृहीत होता है । 'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' इन को उदित् कहते हैं । इस प्रकार 'अ' यह अठारह प्रकार की सञ्ज्ञा वाला हो जाता है । इसी प्रकार 'इ' और 'उ' भी । ऋकार तीस प्रकार की सञ्ज्ञा वाला होता है । इसी प्रकार लृकार भी । एच् प्रत्याहार का प्रत्येक बारह २ प्रकार की सञ्ज्ञा है । अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य्, व्, ल् दो प्रकार के होते हैं, अतः अननुनासिक य्, व्, ल् ही दो २ की सञ्ज्ञा होंगे ।

व्याख्या—अण् ।१।१। उदित् ।१।१। सवर्णस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अप्रत्ययः ।१।१। स्वस्य ।६।१। (चकार के बल से स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसञ्ज्ञा सूत्र से 'स्वम्' पद आ कर षष्ठ्यन्त में परिणत हो जाता है) । समासः—उत्=ह्रस्व उवर्णः इत् यस्मात् स उदित्, बहुव्रीहि-समासः । प्रतीयते=विधीयते इति प्रत्ययः, प्रतिपूर्वाद् इणः कर्मणि अच्प्रत्ययः । न प्रत्ययः=अप्रत्ययः, नञ्तत्पुरुषसमासः । अर्थः—(अप्रत्ययः) न विधान किया हुआ (अण्) अण् और (उदित्) उदित् (सवर्णस्य) सवर्णियों की (च) तथा (स्वस्य) अपने स्वरूप की सञ्ज्ञा होता है ।

'प्रत्यय' शब्द यहां यौगिक है, इस का अर्थ है 'विधान किया हुआ' । यथा—**इको यण् अचि** (१५) सूत्र में 'यण्' और **सनाशंसभिक्ष उः** (८४०) सूत्र में 'उ' विधान किया गया है । अतः ये दोनों प्रत्यय हैं ।

अण् तथा इण् प्रत्याहार दो प्रकार से बन सकते हैं । एक—**अ इ उ ण्** के णकार से और दूसरा लँण् के णकार से । कहां पूर्व णकार से तथा कहां पर णकार से इन का ग्रहण करना चाहिये ? इस विषय में ऊहापोह द्वारा निश्चित भाष्य-सम्मत निर्णय यह है—

परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे, पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः ।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥

अर्थात् इण् प्रत्याहार सर्वत्र पर लँण् वाले णकार से तथा अण् प्रत्याहार **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) को छोड़ सर्वत्र **अइउण्** वाले णकार से ग्रहण करना चाहिये । **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** सूत्र में अण् प्रत्याहार लँण् वाले णकार से ग्रहण किया जाता है । इस नियम के अनुसार यहां 'अण्' पर णकार से ग्रहण होता है । तो

इस प्रकार यहां 'अण' मे 'अ इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्' इन चौदह वर्णों का ग्रहण होता है। यदि ये वर्ण अविधीयमान (न विधान किये हुए) होंगे तो अपनी तथा अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे। यथा—**इको यण् अचि** (१५) यहां इक् और अच् अविधीयमान है—विधान नहीं किये गये (विधान तो यण् ही किया गया है), इस मे इक्-प्रत्याहारान्तर्गत 'इ, उ, ऋ लृ' ये चार वर्ण अपनी तथा अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे। इस से 'सुधी+उपास्य' यहां दीर्घ ईकार के स्थान पर भी यण् हो जाता है। एवम् अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ' ये नौ वर्ण भी अपनी तथा अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे। इस से 'दधि+आनय=दध्यानय' यहां दीर्घ आकार के परे होने पर भी यण् सिद्ध हो जाता है।

'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' ये इस शास्त्र मे उदित् माने जाते हैं। इन के उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होती है। यद्यपि 'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' इन समुदायों का कोई सवर्ण नहीं होता तथापि इन समुदायों के आदि वर्ण 'क्, च्, ट्, त्, प्' के सवर्णों का तथा उन के स्वरूप का यहां ग्रहण समझना चाहिये। 'क्' के सवर्ण 'ख्, ग् घ्, ङ्' ये चार वर्ण हैं अतः 'कुँ' कहने से इन चार वर्णों तथा पांचवें अपने रूप 'क्' अर्थात् कुल मिला कर पांच वर्णों का ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'चुँ' से चवर्ग, 'टुँ' से टवर्ग, 'तुँ' से तवर्ग तथा 'पुँ' से पवर्ग का ग्रहण होगा।

उदित् के साथ 'अप्रत्यय' का सम्बन्ध नहीं है, अतः उदित् चाहे विधीयमान हो या अविधीयमान, प्रत्येक अवस्था मे अपनी तथा अपने सवर्णों की सञ्ज्ञा होगा। यथा—**चो: कु:** (३०६) यहां 'चुँ' अविधीयमान और 'कुँ' विधीयमान है, दोनों अपने तथा अपने सवर्णों के ग्राहक होंगे। 'अण्' के साथ 'अप्रत्यय' का सम्बन्ध इस लिये किया गया है कि **सनाशंसभिक्ष उ:** (८४०) इत्यादि स्थानों मे विधीयमान उकार आदि सवर्णों के ग्राहक न हों, इस से दीर्घ ऊकार आदि प्रसक्त न होंगे।

अब अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल् ये सञ्ज्ञाएं हैं, इन के सञ्ज्ञी निम्नप्रकार से होते हैं।

अ, इ, उ

इन सञ्ज्ञाओं के पीछे लिखे अनुसार अठारह २ सञ्ज्ञी होते हैं।

ऋ, लृ

वार्त्तिक (१) से इन दोनों की सवर्णसञ्ज्ञा हो जाने के कारण प्रत्येक वर्ण के तीस २ सञ्ज्ञी होते हैं। ('ऋ' के १८+'लृ' के १२=३०)।

ए, ओ, ऐ, औ

ह्रस्व न होने के कारण इन सञ्ज्ञाओं में से प्रत्येक वर्ण के पीछे लिखे अनुसार बारह २ सञ्ज्ञी होते हैं।

य्, व्, ल्

ये दो प्रकार के होते हैं, एक अनुनासिक और दूसरे अननुनासिक। अण् प्रत्याहार मे अननुनासिक य्, व, ल् का पाठ है, अतः अननुनासिक ही अपनी तथा दूसरे

अनुनासिकों की सञ्ज्ञा होते हैं। यहां यह भी समझ लेना चाहिये कि दीर्घ तथा प्लुत वर्ण अण्प्रत्याहारान्तर्गत न होने से सवर्णों के ग्राहक नहीं हुआ करते। ह्रस्व वर्ण ही (एच् दीर्घ ही) अणों में गृहीत होते हैं, अतः वे ही सवर्णों के ग्राहक हैं।

रेफ और हकार अणों के अन्तर्गत होते हुए भी किसी अन्य वर्ण के ग्राहक नहीं होते, क्योंकि शिक्षाकारों का कथन है कि—**रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति** अर्थात् रेफ और ऊष्म वर्णों के सवर्ण नहीं हुआ करते।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम् —(१२) **परः सन्निकर्षः संहिता** ।१।४।१०८॥

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहिता-सञ्ज्ञः स्यात् ॥

अर्थः—वर्णों की अत्यन्त समीपता संहिता-सञ्ज्ञक होती है।

व्याख्या—परः ।१।१। सन्निकर्षः ।१।१। संहिता ।१।१। अर्थः—(परः) अत्यन्त (सन्निकर्षः) सामीप्य (संहिता) 'संहिता' सञ्ज्ञक होता है। दो वर्णों के मध्य आधी मात्रा से कम का व्यवधान सम्भव नहीं हो सकता; यही अत्यन्त समीपता 'संहिता' कहाती है। संहितासंज्ञा का सोदाहरण विवेचन आगे (१५) सूत्र पर देखें।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१३) **हलोऽनन्तराः संयोगः** ।१।१७॥

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोग-सञ्ज्ञाः स्युः ॥

अर्थः—अचों के व्यवधान से रहित हलों की 'संयोग' सञ्ज्ञा हो।

व्याख्या—हलः ।१।३। अनन्तराः ।१।३। संयोगः ।१।१। समासः—अविद्यमानम् अन्तरम्=व्यवधानं येषान्तेऽनन्तराः, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(अनन्तराः) जिन में अन्तर अर्थात् व्यवधान नहीं ऐसे (हलः) हल् (संयोगः) संयोग-सञ्ज्ञक होते हैं। व्यवधान (परदा) सदा विजातीयों का ही हुआ करता है; सजातीयों का नहीं। हल् के विजातीय अच् हैं। अतः यदि हल्, अचों के व्यवधान से रहित होंगे तो उन की संयोग सञ्ज्ञा होगी। सूत्र में 'हलः' पद मे बहुवचन विवक्षित नहीं, किन्तु जाति में बहुवचन किया गया है। इस से दो या दो से अधिक हलों की संयोग-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है। उदाहरण यथा—मृट्। यहां 'मृस्ज्' शब्द के आगे 'सुँ' प्रत्यय के अपृक्त सकार का लोप होने पर स् और ज् की संयोग-सञ्ज्ञा हो कर **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (३०९) सूत्र से संयोग के आदि सकार का लोप हो जाता है। इसी प्रकार 'इन्द्रः' में नकार दकार और रेफ की, 'उष्ट्रः' मे षकार टकार और रेफ की संयोगसञ्ज्ञा समझनी चाहिये।

नोट—ध्यान रहे कि प्रत्येक हल् की संयोगसञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु सम्पूर्ण हल्समुदाय की ही हुआ करती है। फिर चाहे वह हल्-समुदाय दो हलों का हो अथवा दो से अधिक हलों का।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१४) **सुँप्तिङन्तं पदम्** ।१।४।१४॥

सुँबन्तं तिङन्तञ्च पदसञ्ज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—सुँबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप पद-सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या — सुप्तिङन्तम् ।१।१। पदम् ।१।१। समास — सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, इतरेतरद्वन्द्व । सुप्तिङौ अन्तौ यस्य तत्—सुप्तिङन्तम् (शब्दस्वरूपम्), बहुव्रीहि समास । अर्थ —(सुप्तिङन्तम्) सुबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप (पदम्) पद-सञ्ज्ञक होते हैं । यहां शब्दानुशासन-शास्त्र के प्रस्तुत होने से सुप्तिङन्तम् पद का 'शब्द-स्वरूपम्' विशेष्य अध्याहार कर लिया जाता है। **स्वौजसमौट्०** (११८) सूत्र से विधान किये गये इक्कीस प्रत्यय 'सुप्' तथा **तिप्तस्झिसिप्०** (३७५) सूत्र से विधान किये गये अठारह प्रत्यय 'तिङ्' कहाते हैं । ये सुप् वा तिङ् प्रत्यय जिसके अन्त में हों उस की पद-सञ्ज्ञा होती है । यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन प्रत्ययों से युक्त सम्पूर्ण समुदाय की ही पद सञ्ज्ञा होती है । केवल प्रकृति वा प्रत्यय की नहीं । उदाहरण यथा— 'राम पुरुष , देवस्य पुरुषस्य' इत्यादि सुप् अन्त में होने के कारण पदसञ्ज्ञक' हैं । पचति, पठति अपचत् अपठत्—इत्यादि तिङ् अन्त में होने के कारण पदसंज्ञक हैं । पदसंज्ञा का प्रयोजन आगे (७७ ८० ९३ १०५ आदि) सूत्रों में स्पष्ट होगा । इस सूत्र में 'अन्त' ग्रहण का प्रयोजन आगे (१५५) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे ।

[लघु०] इति सञ्ज्ञा-प्रकरणं समाप्तम् ।।

अर्थ —यह सञ्ज्ञा प्रकरण समाप्त होता है ।

व्याख्या —इस प्रकरण में यद्यपि व्याकरण-गत सम्पूर्ण सञ्ज्ञाओं का समावेश नहीं किया गया तथापि सन्धि-प्रकरण के लिये उपयोगी प्राय सभी सञ्ज्ञाओं का इस में वर्णन आ गया है । 'प्राय' कथन का यह तात्पर्य है कि **अदेङ् गुण** (२५), **वृद्धिरादैच्** (३२), **अचोऽन्त्यादि टि** (३९), **तस्य परमाम्रेडितम्** (९९) प्रभृति सूत्रों में गुण, वृद्धि, टि और आम्रेडित आदि अन्य भी सन्ध्युपयोगी सञ्ज्ञाएं आगे कही गई हैं ।

अभ्यास (१)

(१) 'च्, सु, ण, व्, ढ्, म्, स्, ह्, अ, इ, ओ, ऋ' इन वर्णों के स्थान तथा दोनों प्रकार के यत्न लिख कर यथासम्भव सवर्णों का भी निर्देश करें ।

(२) 'अण्, इक्, रल्, जम्, यण्, छव्, खय्, भय्, र' इन प्रत्याहारों की ससूत्र सिद्धि कर तदन्तर्गत वर्णों का सङ्क्षिप्ततया उल्लेख करें ।

(३) अचों में परस्पर कितने प्रकार का अन्तर सम्भव है, उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें ।

(४) कौन सूत्र 'ऋ' सञ्ज्ञा करता है ? इस के कितने और कौन से सञ्ज्ञी होते हैं ?

(५) **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** सूत्र में 'अप्रत्यय' पद का क्या अभिप्राय है और इस का किस के साथ सम्बन्ध है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(६) सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी स्पष्ट करते हुए **अदर्शनं लोपः** सूत्र के 'अदर्शनम्' पद का विवेचन करें ।

(७) 'इनः' पद के पीछे से प्राप्त होने पर भी **तस्य लोपः** सूत्र मे 'तस्य' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(८) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में परस्पर भेद बताएं ।

(९) 'उपदेश' किसे कहते हैं ? यथाधीन स्पष्ट करें ।

(१०) **अष्टाध्यायी** किस ने बनाई है ? इस मे कितने अध्याय और कितने पाद हैं ? **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी** के साथ **अष्टाध्यायी** का क्या संबन्ध है ?

(११) **त्रिमुनि व्याकरणम्** और **उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** का भाव स्पष्ट करें ।

(१२) **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी** शब्द का अर्थ लिख कर इस के कर्त्ता के विषय में संक्षिप्त नोट लिखें ।

(१३) 'उँ' और 'ई॑' मे, 'ॠ' और 'लृ' मे, 'एँ' और 'ओ' में, 'औ' और 'औ' में पारस्परिक भेद बताएं ।

(१४) आभ्यन्तर और बाह्य यत्नों के भेद लिख कर उन का सार्थ विवेचन करें ।

(१५) यदि सम्पूर्ण स्थान तुल्य होने पर ही सवर्ण-सञ्ज्ञा होती है तो क्या 'क्' और 'ङ्' की सवर्णसञ्ज्ञा नहीं होगी ?

(१६) 'लृ' और 'ऐ' के बारह-बारह भेद सूत्रों द्वारा सिद्ध करें ।

(१७) 'संयोग' सञ्ज्ञा क्या प्रत्येक वर्ण की है या समुदाय की ? स्पष्ट करें ।

(१८) **अर्ध-विसर्ग-सदृश उपध्मानीयः** इस वचन का विवेचन करें ।

(१९) निम्न-लिखित सूत्रों का सूत्रस्थ पदों द्वारा अर्थ निकाल कर व्याख्यान करें—**तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम्** । **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** । **हलोऽनन्तराः संयोगः** । **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** । **समाहारः स्वरितः** ।

(२०) पद, संहिता, अनुनासिक और लोप सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र सार्थ लिखें ।

(२१) **इति सञ्ज्ञा-प्रकरणं समाप्तम्** इस वचन की विस्तृत समालोचना करें ।

(२२) विसर्जनीय के स्थान का शास्त्ररीत्या विवेचन करें ।

(२३) सूत्रों के आगे मुद्रित तीन संख्याओं का क्या तात्पर्य होता है ?

(२४) किस २ प्रत्याहार के अन्तर्गत निम्नस्थ वर्ण आते हैं ?
ग्, प्, स्; य्, व्, र्, ल्; च्, ट्, त्, क्, प्; वर्गतृतीय; वर्गपञ्चम ।

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्त-कौमुद्यां सन्ध्युपयोगिसंज्ञानां प्रायोवर्णनं समाप्तम् ॥

अथाऽच्सन्धि-प्रकरणम्

अब अचों की सन्धि का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में अचों अर्थात् स्वरों का प्रायः स्वरों के साथ मेल दिखाया जायेगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१५) इको यणचि ।६।१।७४॥

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये। 'सुधी+उपास्य' इति स्थिते—

अर्थः—संहिता के विषय में अच् के विद्यमान होने पर इक् के स्थान पर यण् हो जाता है। 'सुधी+उपास्य' ऐसे स्थित होने पर (अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है)।

व्याख्या—इकः ।६।१। यण् ।१।१। अचि—भावसप्तम्यन्तम्[1]। संहितायाम्—विषयसप्तम्यन्तम् (संहितायाम् यह पीछे से अधिकार चला आ रहा है)। महामुनि पाणिनि ने अपने सूत्रों का अर्थज्ञान कराने के लिए कुछ विशेष नियम बनाये हैं, जो कि अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के प्रथमपाद के अन्तर्गत हैं, यह हम पीछे कह चुके हैं। उन में **षष्ठी स्थानेयोगा** (१.१.४८) यह भी एक नियम है। इस का तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र में षष्ठीविभक्ति का अर्थ 'स्थान पर' ऐसा करना चाहिये। यथा—'इकः' ।६।१। इस का अर्थ हुआ 'इक् के स्थान पर'। 'एचः' ।६।१। इस का अर्थ हुआ 'एच् के स्थान पर'। परन्तु यह नियम वहां लागू नहीं होगा, जहां सम्बन्ध पहले से नियत किया गया होगा। *यथा—**ऊदुपधाया गोहः*** (६.४.८९)। ऊत् ।१।१। उपधायाः ।६।१। गोहः ।६।१। यहां गोह् का सम्बन्ध उपधा से नियत किया गया है, अतः यहां स्थानषष्ठी का प्रसङ्ग न होगा। इस विषय का विस्तार काशिका (अष्टाध्यायी की सुप्रसिद्ध व्याख्या) आदि में देखना चाहिये। यहां 'इकः' इस में स्थानषष्ठी है इस से 'इक् के स्थान पर' ऐसा इस का अर्थ होगा। 'अचि' यहां भावसप्तमी या सति-सप्तमी है[2]। अर्थः—(इकः) इक् के स्थान पर (यण्) यण् होता है (अचि) अच् होने पर (संहितायाम्) संहिता के विषय में। अच् विद्यमान हो तो संहिता के विषय में अर्थात् संहिता करने की इच्छा होने पर इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान पर यण् (य्, व्, र्, ल्) करना चाहिये। यहां यण् विधान किया गया है, अतः यह अण् प्रत्याहार में अन्तर्गत होता हुआ भी **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) से अपने सवर्णियों (अनुनासिक य्ँ, व्ँ, ल्ँ वर्णों) का ग्राहक नहीं होगा। इक् और अच् दोनों अविधीयमान अण् हैं, अतः ये अपने सवर्णियों के ग्राहक होंगे।

---

१ नवीनास्त्वत्र औपश्लेषिकाधारे सप्तमीत्याहुः। तन्मतं शेखरादौ द्रष्टव्यम्।

२ यह सप्तमी **यस्य च भावेन भावलक्षणम्** (२.३.३७) सूत्र से विधान की जाती है। इस सप्तमी का 'विद्यमान होने पर' या 'होने पर' ऐसा अर्थ होता है। इस का विवेचन इस व्याख्या के तृतीयभागस्थ कारक प्रकरण (पृ० ३४६) पर देखें।

'सुधीभिरुपास्यः' इस तृतीयातत्पुरुषसमास में **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से भिस् और सुँ का लुक् होने पर 'सुधी+उपास्य' यह रूप हुआ। अब यहां समास के कारण संहिता का विषय स्पष्ट है जैसा कि कहा गया है—

संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥

एकपद अर्थात् अखण्डपद में; धातु और उपसर्ग में तथा समास में संहिता नित्य करनी चाहिये; वाक्य में संहिता करना 'वक्ता' (यह उपलक्षणार्थ है, 'लेखक' भी समझ लेना चाहिये) की इच्छा पर निर्भर है, चाहे करे या न करे। इन के उदाहरण यथा—चयः, जयः। यहां 'चे+अ' 'जे+अ' इस अवस्था में अयादेश एकपद होने के कारण नित्य होता है। 'प्र+एति' यहां धातु और उपसर्ग में नित्य संहिता होने से वृद्धि हो कर नित्य 'प्रैति' रूप ही बनेगा। 'गजेन्द्रः' यहां 'गजानामिन्द्रः' इस प्रकार का समास होने से नित्य गुणादेश होगा। 'नाहं वेद्मि' यहां वाक्य होने से 'न अहं वेद्मि' या 'नाहं वेद्मि' दोनों प्रयोग शुद्ध हैं; वक्ता चाहे जिस का प्रयोग करे।

'सुधी+उपास्य' यहां समास है; अतः संहिता नित्य होगी। इस प्रकार संहिता का विषय होने पर **इको यणचि** (१५) सूत्र प्रवृत्त हुआ। यहां सकारस्थ उकार, धकार में ईकार तथा 'उपास्य' शब्द का आदि उकार इक् हैं। यदि सकारस्थ उकार=इक् को यण् करें तो धकारस्थ ईकार='अच्' विद्यमान है। यदि धकारस्थ ईकार=इक् को यण् करें तो सकारस्थ उकार या 'उपास्य' शब्द का आदि उकार='अच्' विद्यमान है तथा यदि 'उपास्य' शब्द के आदि उकार=इक् को यण् करें तो पकारस्थ आकार या विपरीत दिशा में धकारस्थ ईकार=अच् विद्यमान रहता है। तो अब यह शङ्का उत्पन्न होती है कि किस अच् के विद्यमान रहते किस इक् के स्थान पर यण् किया जाये ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिमसूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(१६) **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य।१।१।६५॥**

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्॥

अर्थः—सप्तम्यन्त के निर्देश से क्रियमाण कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पूर्व के स्थान पर जानना चाहिये।

व्याख्या—तस्मिन्=सप्तम्यन्तानुकरणं लुप्तसप्तम्येकवचनान्तम्[1]। [**इको यणचि** (१५) आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों का अनुकरण यहां 'तस्मिन्' शब्द से किया गया है। इसके आगे सप्तमी विभक्ति का **सुँपां सुँलुक्०** (७.१.३९) सूत्र से लुक् हुआ २ है। इस का अर्थ—**इको यणचि** (१५) आदियों में स्थित 'अचि'

---

१. 'तस्मिन्' इत्यत्र नागेशस्तु 'अची'त्यादि-सप्तम्यन्तार्थकतच्छब्दात् सप्तमीति मन्यते।

आदि सप्तम्यन्त पदों के होने पर—ऐसा होता है]। इति इत्यव्ययपदम्। निर्दिष्टे ।७।१। पूर्वस्य ।६।१।

इति शब्द पद के अर्थ को उल्टा कर दिया करता है, अर्थात् इस के जोड़ने से शब्दपरक पद अर्थपरक और अर्थपरक पद शब्दपरक हो जाते हैं। यथा—'वृक्ष' इस पद का अर्थ लोक में विद्यमान पदार्थ विशेष है, अतः यह अर्थपरक है। अब यदि इस के आगे 'इति' शब्द जोड़ दें 'वृक्ष इति', तो इस का अर्थ 'वृक्ष' यह लिखा हुआ शब्द हो जायेगा। शब्दपरक पद से अर्थपरक पद हो जाना **नवेति विभाषा** (१ १ ४३) सूत्र में **सिद्धान्तकौमुदी** में देखें। तो अब यहां 'तस्मिन्' इस लुप्तसप्तम्यन्त पद का अर्थ—**इको यणचि** (१५) आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के होने पर—ऐसा था। 'इति' के जोड़ने से यह शब्द-परक में अर्थ परक हो गया, अर्थात् इस का अर्थ "**इको यणचि** आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के अर्थों के होने पर" ऐसा हो गया।

'निर्दिष्टे' पद 'तस्मिन्' पद का विशेषण है। 'निर्' का अर्थ निरन्तर और 'दिश्' धातु का अर्थ 'उच्चारण करना' है। तो इस प्रकार 'निर्दिष्टे' पद का अर्थ 'निरन्तर उच्चरित होने पर' ऐसा हो जाता है।

'तस्मिन्' और 'निर्दिष्टे' इन दोनों पदों में भाव-सप्तमी है। भाव-सप्तमी का अर्थ 'होने पर' ऐसा हुआ करता है। इसे 'सति सप्तमी' भी कहते हैं। यह **यस्य च भावेन भावलक्षणम्** (२ ३ ३७) सूत्र से विधान की जाती है, यथा—'गच्छत्सु बालकेषु त्वं स्थितः' यहां भाव-सप्तमी है। इस प्रकार इस सूत्र का यह अर्थ हुआ—(**तस्मिन्निति**) **इको यणचि** आदि सूत्रों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के अर्थों के (**निर्दिष्टे**) निरन्तर उच्चरित होने पर (**पूर्वस्य**) पूर्व के स्थान पर [कार्य होता है]।

यदि सप्तम्यन्त पद के अर्थ से व्यवधान-रहित पूर्व को कार्य करेंगे तो तभी वह सप्तम्यन्त पद का अर्थ निरन्तर उच्चरित हो सकेगा। अतः निरन्तर कथन से यह प्राप्त हुआ कि 'सप्तम्यन्त पदार्थ के उच्चरित होने पर उस से व्यवधान-रहित पूर्व के स्थान पर कार्य हो'।

यथा—**इको यणचि** (१५) सूत्र में 'अचि' यह सप्तम्यन्त पद है। इस सप्तम्यन्त पद का अर्थ यहां 'सुधी+उपास्य' में सकारोत्तर उकार, धकारोत्तर ईकार, 'उपास्य' शब्द का आदि उकार तथा पकारोत्तर आकार है। अब हमें इन में से ऐसा सप्तम्यन्त पदार्थ चुनना है, जिस से अव्यवहित पूर्व इक् हो; हम उसी इक् के स्थान पर ही यण् करेंगे। तो ऐसा सप्तम्यन्त पदार्थ यहां 'उपास्य' शब्द के आदि वाले उकार के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यों से पूर्व अव्यवहित इक् नहीं है। तथाहि—पकारोत्तर आकार को यदि सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो उस से अव्यवहित पूर्व 'उपास्य' शब्द का उकार नहीं होता; पकार का व्यवधान

पड़ता है। यदि धकारस्थ ईकार को सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो उस से अव्यवहित पूर्व सकारस्थ उकार नहीं होता; धकार का व्यवधान पड़ता है। यदि सकारोत्तर उकार को सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो इस से पूर्व कोई इक् नहीं रहता। अतः 'उपास्य' शब्द का आदि उकार ही सप्तम्यन्त पद का अर्थ=अच् होने योग्य है और इस से अव्यवहित पूर्व धकारोत्तर ईकार के स्थान पर ही यण् होना चाहिये।'[1]

यह परिभाषा-सूत्र है। परिभाषा-सूत्रों का उपयोग रूप-सिद्धि में नहीं हुआ करता, किन्तु इन का उपयोग सूत्रों के अर्थ करने में ही होता है; अर्थात् इन की सहायता से हम सूत्रों का अर्थ किया करते हैं। यहां भी इस सूत्र को रखने का तात्पर्य **इको यणचि** (१५) सूत्र का अर्थ करना ही है। इस सूत्र की सहायता से **इको यणचि** (१५) का यह अर्थ होगा—अच् होने पर, उस से अव्यवहित पूर्व इक् के स्थान पर यण् होता है संहिता के विषय में।

शास्त्र में पर-सप्तमी नाम की किसी सप्तमी का विधान नहीं किया गया। यही सूत्र जब सप्तम्यन्त पद के अर्थ से अव्यवहित पूर्व को कार्य करने के लिये कहता है तो एक प्रकार से भावसप्तमी ही पर-सप्तमी हो जाया करती है। अतः कई लोग **इको यणचि** (१५) सूत्र का अर्थ 'इक् के स्थान पर यण् हो अच् परे होने पर संहिता के विषय में' ऐसा भी किया करते हैं। यह अर्थ भी शुद्ध है। आगे चलकर ग्रन्थकार भी इस परिभाषा को सूत्रार्थ के साथ मिलाते हुए 'परे होने पर' ऐसा ही अर्थ करेंगे।

तो अब धकारस्थ ईकार के स्थान पर यण् अर्थात् य्, व्, र्, ल् प्राप्त होते हैं। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन चारों में से कौन सा यण् ईकार के स्थान पर किया जाये? इस शङ्का को दूर करने के लिये ग्रन्थकार एक पाणिनीय परिभाषा को उद्धृत करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(१७) स्थानेऽन्तरतमः।१।१।४९॥

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। सुध्य्+उपास्य इति जाते॥

अर्थः—प्रसङ्ग अर्थात् प्रसक्ति (प्राप्ति) होने पर अत्यन्त सदृश आदेश होता है। 'सुध्य्+उपास्य' इस प्रकार हो जाने पर (अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है)।

व्याख्या—स्थाने।७।१। अन्तरतमः।१।१। यहां अन्तर शब्द का अर्थ सदृश है। अतिशयितोऽन्तरः=अन्तरतमः। अर्थः—(स्थाने) प्राप्ति होने पर (अन्तरतमः) अत्यन्त सदृश आदेश[2] होता है।

---

१. ध्यान रहे कि कार्य केवल अव्यवहित को ही नहीं होता किन्तु जो अव्यवहित होते हुए पूर्व भी हो उसे कार्य होता है। इसीलिये यहां विपरीतता में भी कार्य न होगा अर्थात् 'उपास्य' वाले उकार की विपरीत दिशा में धकारोत्तर ईकार सप्तम्यन्त-पदार्थ अच् मानें तो उकार को यण् न होगा; यद्यपि इस में कोई व्यवधान नहीं, तथापि उकार पूर्व में नहीं।

२. जो किसी के स्थान में उस को हटा कर स्वयं स्थित हो जाता है उसे आदेश

एक के स्थान पर बहुतों की यदि प्राप्ति हो तो उन में से जो स्थानी के अत्यन्त सदृश होगा वही स्थानी के स्थान पर आदेश होगा। वर्णों की सदृशता न तो आकृति से और न ही तराजू में तोल कर जानी जा सकती है। इन की सदृशता अर्थ, स्थान, प्रयत्न अथवा मात्रा की दृष्टि से ही देखी जा सकती है। आगे इन के उदाहरण यत्र तत्र बहुत आयेंगे, हम इन का स्पष्टीकरण भी वहीं करेंगे।

यहां ईकार के साथ यणों की सदृशता अर्थ प्रयत्न और मात्रा की दृष्टि से तो हो नहीं सकती, अब शेष रहे स्थान की दृष्टि से ही समता दर्शेंगे। ईकार का स्थान इचुयशानां तालु के अनुसार तालु है। यणों में तालुस्थान यकार का है, अतः ईकार के स्थान पर यकार होकर सुध्य्+उपास्य ऐसा हो जायगा।

इस सूत्र में अन्तर शब्द के साथ तमप् जोड़ा गया है इस कारण 'सदृशों में भी जो अत्यन्त सदृश हो वही आदेश हो' ऐसा अर्थ हो जाता है। इस का फल वाग्घरिः प्रयोग पर हल्सन्धि में स्पष्ट करेंगे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१८) अनचि च ।८।४।४६॥

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धकारस्य द्वित्वम् ॥

अर्थ—अच् से परे यर् को विकल्प करके द्वित्व हो जाता है परन्तु अच् परे होने पर नहीं होता। इस सूत्र से धकार का द्वित्व हो जाता है।

व्याख्या—अचः ।५।१। (अचो रहाभ्यां द्वे से)। यरः ।६।१। (यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा से)। द्वे ।१।२। (अचो रहाभ्यां द्वे से)। वा इत्यव्ययपदम् (यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा से)। अनचि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। समासः—न अच्=अनच्, तस्मिन्=अनचि, नञ्समासः। नञ्' प्रतिषेधार्थक अव्यय है। प्रतिषेध दो प्रकार का होता है। एक **पर्युदास-प्रतिषेध** और दूसरा **प्रसज्य-प्रतिषेध**। तथाहि—

द्वौ नञौ तु समाख्यातौ, पर्युदास-प्रसज्यकौ ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेध-कृत् ॥१॥
प्राधान्यं तु विधेर्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥२॥
अप्राधान्यं विधेर्यत्र, प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यस्तु स विज्ञेयः, क्रियया सह यत्र नञ् ॥३॥

इन तीनों श्लोकों का तात्पर्य निम्नरीत्या जानना चाहिये—

कहते हैं। **शत्रुवदादेशः** आदेश शत्रु के समान होता है—शत्रु जैसा व्यवहार करता है। वह स्थानी को हटा कर वहां स्वयं बैठ जाता है। यथा 'सुधी+उपास्य' में ईकार के स्थान पर होने वाला 'य्' आदेश है। जिस के स्थान पर आदेश होता है उसे स्थानी कहते हैं। यथा 'सुधी+उपास्य' में ईकार स्थानी है।

पर्युदास-प्रतिषेध	प्रसज्य-प्रतिषेध
(१) इस मे विधि की प्रधानता तथा निषेध की अप्रधानता होती है। यथा —अब्राह्मणमानय । यहां लाने की प्रधानता है निषेध की नहीं; क्योंकि लाने का निषेध नहीं किया गया ।	(१) इस में विधि की अप्रधानता तथा निषेध की प्रधानता होती है। यथा—अनृतं न वक्तव्यम् । यहां 'बोलना चाहिये' इस विधि की अप्रधानता और 'न बोलना चाहिए' इस निषेध की प्रधानता है ।
(२) इस मे 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध किया करता है। यथा—अब्राह्मणमानय । यहां उत्तरपद 'ब्राह्मण' का निषेध किया गया है ।	(२) इसमें 'नञ्' क्रिया का निषेध किया करता है। यथा—अनृतं न वक्तव्यम् यहां 'नञ्' ने 'बोलना चाहिए' इस क्रिया का निषेध कर दिया है।
(३) इस में जिसका निषेध किया जाता है पुनः विधि में उसके सदृश का ही ग्रहण किया जाता है। यथा—अब्राह्मणमानय । यहां ब्राह्मण का निषेध किया गया है, अब जो लाया जायेगा वह भी ब्राह्मण के सदृश अर्थात् मनुष्य ही होगा; पत्थर आदि नहीं ।	(३) यहां केवल निषेध ही होता है। यथा—अनृतं न वक्तव्यम् । यहां केवल निषेध ही है।

हम विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए इन दोनों प्रकार के निषेधों के कुछ उदाहरण दे रहे हैं; इनका अत्यन्त सावधानता से अभ्यास करना चाहिये—

प्रसज्य के उदाहरण—

(१) **न व्यापार-शतेनापि शुकवत् पाठ्यते बकः ।**

यहां 'न पाठ्यते'[1] इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां **प्रसज्य-प्रतिषेध** है ।

---

१. यद्यपि यहां पर पद्य में क्रिया के साथ 'नञ्' साक्षात् नहीं; तथापि

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।

अर्थतो ह्यसमर्थानाम् आनन्तर्यमकारणम् ॥ (न्यायद० वा० भा० १.२.९)

इस न्यायदर्शनोद्धृत पद्यानुसार क्रियया सह यत्र नञ् वाली बात समन्वित हो जाती है ।

(२) न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।

यहां 'न प्रविशन्ति' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां **प्रसज्य-प्रतिषेध** है ।

(३) शत्रुणा न हि सन्दध्यात् ।

यहां 'न सन्दध्यात्' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां **प्रसज्य-प्रतिषेध** है ।

(४) न कुर्यान्निष्फलं कर्म ।

यहां 'न कुर्यात्' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां **प्रसज्य-प्रतिषेध** है ।

(५) एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ।

यहां 'न सिध्यति' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अतः यहां **प्रसज्य-प्रतिषेध** है ।

पर्युदास के उदाहरण—

(१) पुत्रः शत्रुरपण्डितः ।

'अपण्डितः' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अतः यहां **पर्युदास-प्रतिषेध** है ।

(२) जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः ।

'अनाथः' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अतः यहां **पर्युदास-प्रतिषेध** है ।

(३) दूरादस्पर्शनं वरम् ।

'अस्पर्शनम्' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अतः यहां **पर्युदास-प्रतिषेध** है ।

(४) नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति ।

'अप्राप्यम्' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अतः यहां पर्युदास-प्रतिषेध है ।

(५) समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ।

'अपेयाः' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अतः यहां **पर्युदास-प्रतिषेध** है ।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रायः समास में पर्युदास और असमास में प्रसज्य-प्रतिषेध हुआ करता है। 'प्रायः' इसलिये कहा गया है कि कहीं २ इस नियम का उल्लङ्घन भी हो जाया करता है। यथा—**अनचि च** (१८), **सुंडनपुंसकस्य** (१६३) इत्यादि में समास होने पर भी प्रसज्य-प्रतिषेध है।

'अनचि' यहां प्रसज्य-प्रतिषेध है; अतः 'अच् परे होने पर द्वित्व न हो' इस निषेध की ही प्रधानता होगी, विधि की नहीं। अर्थात् अच् परे न हो, अच् से भिन्न चाहे अन्य वर्ण परे हो या न हो द्वित्व हो जायेगा। इस का फल यह होगा कि अवसान में भी द्वित्व हो जायेगा। यथा—वाक्क्, वाक्। यदि 'अनचि' मे पर्युदास-प्रतिषेध होता तो सदृश का ग्रहण होने से अच् के सदृश=हल् के परे होने पर ही द्वित्व होता; 'वाक्' इत्यादि स्थानों पर अवसान मे द्वित्व न हो सकता। अतः पर्युदास की अपेक्षा प्रसज्य-प्रतिषेध मानना ही उपयुक्त है। किञ्च—यदि यहां मुनिवर पाणिनि को पर्युदास-प्रतिषेध अभीष्ट होता; तो वे 'अनचि' न कह कर सीधा इस के स्थान पर 'हलि' ही कह देते; इस से एक वर्ण का लाघव भी हो जाता, परन्तु उन के ऐसा न कहने से यह प्रतीत होता है कि यहां पर्युदास-प्रतिषेध नहीं किन्तु प्रसज्य-प्रतिषेध है।

अर्थः—(अचः) अच् से परे (यरः) यर् प्रत्याहार के स्थान पर (वा) विकल्प करके (द्वे) दो शब्द स्वरूप हो जाते हैं। (अनचि) परन्तु अच् परे होने पर नही होते।

कार्य का होना और पक्ष में न होना **विकल्प** कहाता है। एक को दो करने का नाम **द्वित्व** है। द्वित्व हो भी और न भी हो, इसे द्वित्व का विकल्प कहते हैं[1]।

'सुध्य्+उपास्य' यहां सकारोत्तर उकार=अच् से परे यर्=धकार को इस सूत्र से विकल्प करके द्वित्व करने से दो रूप बन जाते हैं—

(१) सु ध् ध् य्+उपास्य [जहां द्वित्व होता है]।

(२) सु ध् य्+उपास्य [जहां द्वित्व नहीं होता है]।

अब द्वित्व वाले पक्ष में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१९) **झलां जश्झशि** ।८।४।५२॥

स्पष्टम्। इति पूर्व-धकारस्य दकारः॥

अर्थः—झश् प्रत्याहार परे होने पर झलों के स्थान पर जश् हो जाता है। इस सूत्र से पूर्व धकार के स्थान पर दकार हो जाता है।

व्याख्या—झलाम् ।६।३। जश् ।१।१। झशि ।७।१। अर्थः—(झशि) झश् प्रत्याहार परे होने पर (झलाम्) झलों के स्थान पर (जश्) जश् हो जाता है। 'झलाम्' पद में **षष्ठी स्थाने-योगा** (१.१.४८) के अनुसार स्थानषष्ठी है। 'झशि' पद सप्तम्यन्त है; अतः **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१६) सूत्र के अनुसार झश् से

---

१. ध्यान रहे कि विकल्प के दोनों रूप शुद्ध हुआ करते हैं। इन में से चाहे जिस का प्रयोग करें हमारी इच्छा पर निर्भर है।

अव्यवहित पूर्व झल् को ही जश् होगा, अर्थात् भश् परे होने पर झलों को जश् होगा[1]।

झल् प्रत्याहार मे वर्गों के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम और ऊष्म वर्ण आते है। इन के स्थान पर जश् अर्थात् वर्गों के तृतीय वर्ण [ज्, ब्, ग्, ड्, द्] हो जाते हैं, यदि झश् अर्थात् वर्गों के तृतीय या चतुर्थ वर्ण परे हो तो।

'सु ध् ध् य्+उपास्य' यहा द्वित्व वाले पक्ष मे इस सूत्र से पूर्व धकार=झल् को जश् होता है, क्योंकि इस से परे परला धकार=झश् विद्यमान है। जश् पाच हैं—१ ज्, २ ब्, ३ ग् ४ ड्, ५ द्। यहा स्थानेऽन्तरतम (१७) के अनुसार धकार के स्थान पर दकार=जश् होता है [देखें—लृ-तु-ल-सानां दन्ता.]। यथा—

(१) सुद्ध्य्+उपास्य [द्वित्वपक्ष म जश्त्व हो कर]

(२) सुध्य्+उपास्य [द्वित्वाभावपक्ष मे]

अब दोनो पक्षो मे समान रूप म अग्रिम-सूत्र प्राप्त होता है —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२०) संयोगान्तस्य लोप.।८।२।२३॥

सयोगान्त यत् पद तस्य लोप स्यात् ॥

अर्थ— जिस पद के अन्त मे सयोग हो उस का लोप हो जाता है।

व्याख्या—सयोगान्तस्य ।६।१। पदस्य ।६।१। (यह अधिकार पीछे से आ रहा है)। लोप ।१।१। समास —सयोगोऽन्तो यस्य तत्=सयोगान्तम्, बहुव्रीहि-समास। अर्थ —(सयोगान्तस्य) जिस के अन्त मे सयोग है ऐसे (पदस्य) पद का (लोप) लोप हो जाता है।

पाणिनीय-व्याकरण मे येन विधिस्तदन्तस्य (१ १.७१) यह भी एक परिभाषा है। इस का भाव यह है कि विशेषण के साथ तदन्त-विधि करनी चाहिये। यथा— **अचो यत्** (७७३) यहा 'धातो' पद की अनुवृत्ति आ कर 'अच ।५।१। धातो ।५।१। यत् ।१।१।' ऐसा हो जाता है। इस मे 'अच' पद 'धातो' पद का विशेषण है, इस मे तदन्त-विधि होकर 'अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो' ऐसा अर्थ बन जाता है। इस नियम के अनुसार यहा यदि 'सयोगस्य लोप' सूत्र भी बनाते, तो भी 'सयोगस्य' पद के 'पदस्य' पद के विशेषण होने के कारण तदन्त विधि होकर उपर्युक्त अर्थ सिद्ध हो सकता था, पुन यहा स्पष्ट-प्रतिपत्ति अर्थात् विद्यार्थियो के क्लेश का ध्यान रख अनायास-ज्ञान के लिये ही मुनि ने 'अन्त' पद का ग्रहण किया है।

सुद्ध्य्+उपास्य, सुध्य्+उपास्य इन रूपो मे क्रमश 'सुद्ध्य्' और 'सुध्य्' सयोगान्त पद हैं। हलोऽनन्तरा. सयोग (१३) के अनुसार 'द्, ध्, य्' अथवा 'ध्, य्' वर्णो की सयोग सज्ञा है। सुप्तिङन्त पदम् (१४) सूत्र द्वारा यहा पद-सज्ञा होती है। यद्यपि इसके अन्त मे भिस्=सुँप् लुप्त हो चुका है, तथापि प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्

---

१. इस कारण परले 'ध्' को जश् नही होगा, क्योकि समक्षस्थित 'य्' झश् नही है।

(१६०) द्वारा सुँवन्त के अक्षुण्ण रहने से पद-संज्ञा में कोई दोष नहीं होता। इस प्रकार दोनों पक्षों में सम्पूर्ण संयोगान्त पद का लोप प्राप्त होता है। अब अग्रिम-परिभाषा द्वारा केवल अन्त्य के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(२१) **अलोऽन्त्यस्य** ।१।१।५१॥

षष्ठी-निर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात्[1]। इति **यलोपे प्राप्ते—**

अर्थः—आदेश—षष्ठी-निर्दिष्ट के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। इस सूत्र से (दोनों पक्षों में) यकार के लोप के प्राप्त होने पर (अग्रिम वार्त्तिक द्वारा निषेध हो जाता है)।

व्याख्या—स्थाने ।७।१। (**षष्ठी स्थाने-योगा** से)। विधीयमान आदेशः (ये अध्याहार किये जाते हैं)। षष्ठ्या ।३।१। (**षष्ठी स्थानेयोगा** से प्रथमान्त 'षष्ठी' शब्द आ कर तृतीयान्त-रूपेण परिणत हो जाता है)। निर्दिष्टस्य ।६।१। (इस का अध्याहार किया गया है)। अलः ।६।१। अन्त्यस्य ।६।१। अर्थः—(स्थाने) स्थान पर विधान किया आदेश (षष्ठ्या) षष्ठी-विभक्ति से (निर्दिष्टस्य) निर्देश किये गये के (अन्त्यस्य) अन्त्य (अलः) अल् के स्थान पर होता है।

इस का सार यह है कि जो आदेश षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान पर प्राप्त होता है वह उस के अन्तिम अल् को होता है। यथा—**त्यदादीनाम् अः** (१६३) त्यदादियों को 'अ' हो। यहां **षष्ठी स्थाने-योगा** (१.१.४८) सूत्र से सम्पूर्ण त्यदादियों के स्थान पर 'अ' प्राप्त होता है, परन्तु इस परिभाषा (२१) से त्यदादियों के अन्त्य अल् को 'अ' हो जाता है। 'त्यदादीनाम्' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है। **रायो हलि** (२१५) हलादि विभक्ति परे होने पर रै शब्द को आकार आदेश होता है। यहां सम्पूर्ण 'रै' के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=ऐकार को हो जाता है। 'रायः' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है। **दिव औत्** (२६४) सुँ परे होने पर दिव् शब्द को औकार आदेश होता है। यहां सम्पूर्ण 'दिव्' के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=वकार को ही होता है। 'दिवः' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

संयोगान्तस्य लोपः (२०) संयोगान्त पद का लोप होता है। यहां सम्पूर्ण संयोगान्त पद के स्थान पर प्राप्त लोप इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है। 'संयोगान्तस्य' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

यह परिभाषा-सूत्र है, अतः इस का उपयोग रूप-सिद्धि में न हो कर सूत्रार्थ करने में ही होता है। इस की सहायता से **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) सूत्र का यह अर्थ होता है—संयोगान्त पद के अन्त्य अल् का लोप हो जाता है। इस प्रकार—१. सुद्ध्य्य् +उपास्य। २. सुध्य्य्+उपास्य। इन दोनों पक्षों में अन्त्य अल् यकार का ही लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्त्तिक से यकार के लोप का भी निषेध हो जाता है।

---

१. अत्र **षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात्** इति क्वाचित्कः पाठोऽपपाठ एव। यतो न ह्यादेशः क्वचित् षष्ठीनिर्दिष्टो भवति।

[लघु०] वा०—(२) यणः प्रतिषेधो वाच्यः ॥

सुद्ध्युपास्यः, मुध्युपास्य । मद्ध्वरिः, मध्वरि । धात्त्रंशः, धात्रंश । लाकृति ॥

अर्थ —संयोग के अन्त में यणों के लोप का निषेध कहना चाहिये ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक संयोगान्तस्य लोपः (२०) सूत्र का है। जिस सूत्र पर जो वार्त्तिक पढ़ा जाता है वह तद्विषयक ही समझा जाता है। संयोगान्तस्य लोपः (२०) सूत्र—संयोगान्त पद के अन्त्य अल् का लोप करता है, अब यदि वे अन्त्य अल् यण् (य्, व्, र्, ल्) होंगे तो उन का लोप न होगा।

इस प्रकार इस वार्त्तिक से पूर्वोक्त रूपों में प्राप्त यकार-लोप का निषेध हो जाता है। तब (१) सु द् ध् य्+उपास्य। (२) सु ध् य्+उपास्य। ये दोनों उसी तरह अवस्थित रहते हैं।

हमारी लिपि (देव-नागरी) का नियम है कि अज्झीनं परेण संयोज्यम् अर्थात् अच् से रहित हल् अग्रिम वर्ण के साथ मिला देना चाहिये। इस नियमानुसार हलों का अग्रिम वर्णों के साथ संयोग करके 'सुद्ध्युपास्य और सुध्युपास्य' ये दो रूप बनते हैं। अब समास होने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होकर विभक्ति आने पर 'सुद्ध्युपास्यः', 'सुध्युपास्यः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।[1]

नोट—'सुधीः+उपास्यः' इस प्रकार विसर्ग वाला रूप प्रक्रिया-दशा में रखना अत्यन्त अशुद्ध है, क्योंकि समास में विभक्तियों के लुक् के बाद सन्धि और उसके बाद सुँ आदि प्रत्यय करने उचित होते हैं पूर्व नहीं। अतः यहां 'सुधी+उपास्य' ऐसी दशा में प्रथम सन्धि करके 'सुध्युपास्य' बना लेना उचित है, तदनन्तर सुँ प्रत्यय लाकर उस के स्थान पर विसर्ग आदेश करने से 'सुध्युपास्यः' प्रयोग सिद्ध करना चाहिये।

'मधु+अरिः' यहां इको यणचि (१५) सूत्र से धकारोत्तर उकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है, पुनः स्थानेऽन्तरतमः (१७) द्वारा ओष्ठ-स्थान के तुल्य होने के कारण उकार के स्थान पर वकार ही हो जाता है—म ध् व्+अरि। अब अनचि च (१८) से धकार को वैकल्पिक द्वित्व होकर द्वित्वपक्ष में झलां जश् झशि (१९) से आदि धकार को दकार करने पर—१ 'मद्ध्व्+अरि' और २ 'मध्व्+अरि' ये दो रूप बनते हैं। अब इस दशा में दोनों पक्षों में अलोऽन्त्यस्य (२१) की सहायता से संयोगान्तस्य लोपः (२०) सूत्र द्वारा वकार के लोप के प्राप्त होने पर यणः प्रतिषेधो

---

१ सुधी+उपास्य में इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च (५६) से प्रकृति-भाव नहीं होता, न समासे (वा० ६) से निषेध हो जाता है। न भू-सुधियोः (२०२) से यण्निषेध भी नहीं होता, क्योंकि वह अजादि सुँप् में निषेध करता है। किञ्च—अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा इस न्याय से वह एरनेकाच० (२००) के यण् का निषेध कर सकता है, इको यणचि (१५) के नहीं।

वाच्यः वार्त्तिक से उस का निषेध हो जाता है। अब 'सुँ' प्रत्यय लाकर उसके स्थान पर विसर्ग आदेश करने से 'मद्ध्वरिः, मध्वरिः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'धातृ+अंश' यहां **इको यणचि** (१५) सूत्र से तकारोत्तर ऋकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है, पुनः **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) द्वारा मूर्धा-स्थान के तुल्य होने से ऋकार के स्थान पर रेफ ही आदेश हो जाता है – धात्र्+अंश। अब **अनचि च**(१८) सूत्र से तकार को वैकल्पिक द्वित्व होकर दोनों पक्षों में **अलोऽन्त्यस्य** (२१) की सहायता से **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) सूत्र द्वारा रेफ के लोप के प्राप्त होने पर **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० २) वार्त्तिक से उस का निषेध हो जाता है। अब 'सुँ' प्रत्यय लाकर विसर्ग आदेश करने से 'धात्त्रंशः, धात्रंशः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'लृ+आकृति' यहां **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) सूत्र की सहायता से **इको यणचि** (१५) सूत्र द्वारा दन्त-स्थान वाले लृकार के स्थान पर तादृश दन्त-स्थानीय लकार आदेश होकर 'सुँ' प्रत्यय लाकर विसर्ग आदेश करने से 'लाकृतिः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सुद्ध्युपास्यः' और 'मद्ध्वरिः' प्रयोगों की सिद्धि एक समान होती है। 'धात्त्रंशः' में जश्त्व की तथा 'लाकृतिः' में द्वित्व और जश्त्व दोनों की प्रवृत्ति नहीं होती।

टिप्पणी—सुधीभिः=विद्वद्भिर् उपास्यः=आराधनीयः सुद्ध्युपास्यो भगवान् विष्णुरित्यर्थः [विद्वानों द्वारा आराधना करने योग्य, भगवान् विष्णु]। मधोः=तदाख्यस्य दैत्यस्य अरिः=शत्रुः मद्ध्वरिः, भगवान् विष्णुः ['मधु' नामक दैत्य को मारने के कारण भगवान् विष्णु 'मद्ध्वरि' कहाते हैं]। धातुः=ब्रह्मणः, अंशः=भागः धात्त्रंशः [ब्रह्मा का भाग]। लृ आकृतिरिव आकृतिः=स्वरूपं यस्य सः=लाकृतिः, वंशी-वादन-समये वक्राकृतिश्श्रीकृष्ण इत्यर्थः [बांसुरी बजाने के समय 'लृ' के समान टेढ़ी आकृति वाले श्रीकृष्ण]।

अभ्यास (२)

(१) अधोलिखित रूपों में सूत्रोपपत्तिपूर्वक सन्धिच्छेद करें—

१. घस्लादेशः। २. मात्राज्ञा। ३. वद्ध्वागमनम्। ४. यद्यपि। ५. लनुबन्धः। ६. कर्त्त्रायुः। ७. शृण्विदम्। ८. करोत्ययम्। ९. लाकारः। १०. पित्रधीनम्। ११. चार्वङ्गी। १२. वार्येति। १३. लादेशः। १४. धात्त्रेतत्। १५. गुर्वाज्ञा। १६. ह्ययम्। १७. गम्लादेशः। १८. त्रसौ। १९. खल्वेहि। २०. दध्यत्र। २१. मद्ध्वानय। २२. अस्त्यनुभवः। २३. कुर्विदम्। २४. भर्त्रादेशः। २५. पुनर्वस्त्वृक्षः।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्रोपपत्तिपूर्वक सन्धि करें—

१. शशी+उदियाय। २. सिध्यतु+एतत्। ३. भाति+अम्बरे। ४. धातु+आदेश। ५. पातृ+एतत्। ६. लृ+अङ्ग। ७. शिशु+अङ्ग। ८. नृ+आत्मज। ९. स्मृति+आदेश। १०. अनु+आदेश। ११.

पितृ+अर्चा। १२ अपि+एतत्। १३ वृक्षेपु+अभिलाष। १४ त्वष्टृ+आकाङ्क्षा। १५ दर्वी+अमी। १६ अभि+उदय। १७ प्रति+एक। १८ वधू+अलङ्कार। १९ वस्तु+अस्ति। २० भ्रातृ+उक्त। २१ दधि+अज्ञान। २२ तनु+अङ्गी। २३ स्त्री+उत्सव। २४ देवेषु+आसीत्। २५ मनु+आदि।

(३) 'लाकृति' का क्या विग्रह है? 'लृ' शब्द का षष्ठ्येकवचन तथा प्रथमैकवचन क्या बनेगा? अथवा 'लृ' शब्द का उच्चारण लिखें।

(४) प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेधों का तात्पर्य अपनी भाषा में स्पष्ट करते हुए नाय शशी और अश्राद्धभोजी ब्राह्मण में कौन-सा निषेध है सोपपत्तिक लिखें।

(५) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य अलोऽन्त्यस्य तथा स्थानेऽन्तरतमः ये सूत्र यदि न होते तो कौन कौन-सी हानियां होतीं? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(६) अनचि च सूत्र में कौन सा प्रतिषेध है और वैसा मानने की क्या आवश्यकता है?

(७) संहिता की विवक्षा कहां कहां नित्य और कहां कहां ऐच्छिक हुआ करती है? सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करें।

(८) 'सुधी+उपास्य' में इकोऽसवर्णे० सूत्र से प्रकृतिभाव क्यों नहीं होता? अथवा न भू-सुधियोः से यण्निषेध ही क्यों नहीं होता?

— o —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२२) एचोऽयवायावः।६।१।७५॥

एचः क्रमाद् अय्, अव्, आय्, आव् एते स्युरचि ॥

अर्थः—अच् परे हो तो एच् के स्थान पर क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् हों।

व्याख्या—एचः।६।१। (षष्ठी स्थाने-योगा के अनुसार यहां स्थान-षष्ठी है)। अयवायावः।१।३। अचि।७।१। (इको यणचि सूत्र से)। संहितायाम्।७।१। (यह पीछे से अधिकृत है)। समासः—अय् च अव् च आय् च आव् च=अयवायावः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अचि) अच् परे होने पर (संहितायाम्) संहिता के विषय में (एचः) एच् के स्थान पर (अयवायावः) अय्, अव्, आय्, आव् हो जाते हैं।

'एच्' प्रत्याहार के मध्य 'ए, ओ, ऐ, औ' ये चार वर्ण आते हैं। इन के स्थान पर 'अय्, अव्, आय्, आव्' ये चार आदेश होते हैं यदि इन से परे अच् अर्थात् स्वर हो तो। 'संहिता' के विषय में पीछे लिख चुके हैं वही नियम यहां और अन्यत्र सब जगह समझ लेना चाहिये। 'अचि' यहां भाव-सप्तमी है, यह पूर्ववत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (१६) परिभाषा द्वारा पर-सप्तमी में परिणत हो जाती है। यहां वृत्ति में 'क्रमात्' पद यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् (२३) परिभाषा के कारण आया हुआ है। अब इस परिभाषा को स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(२३) **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** ।१।३।१०।।

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात् । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः ।।

अर्थः —(संख्या की दृष्टि से)समान सम्बन्ध वाली विधि संख्या के अनुसार हो ।

व्याख्या—समानाम् ।६।३। अनुदेशः ।१।१। यथा-सङ्ख्यम् ।१।१। समासः—सङ्ख्याम् अनतिक्रम्येति यथासङ्ख्यम्, अव्ययीभाव-समासः । यहां समानता सङ्ख्या की दृष्टि से अभिप्रेत है । अर्थः—(समानाम्) समान सङ्ख्या वालों का (अनुदेशः) कार्य (यथा-सङ्ख्यम्) सङ्ख्या के अनुसार अर्थात् वारी २ से होता है[1] ।

'समानाम्' में **षष्ठी शेषे** (६०१) सूत्र द्वारा सम्बन्ध में षष्ठी हुई है । यदि यहां **कर्तृ-कर्मणोः कृति** (२.३.६५) सूत्र द्वारा कर्म में षष्ठी मानें तो जहां स्थानी के साथ तुल्य सङ्ख्या वालों का विधान किया जायेगा, वहां ही इस सूत्र की प्रवृत्ति हो सकेगी; यथा – **एचोऽयवायावः** सूत्र मे । परन्तु जहां विधीयमान सम-सङ्ख्यक न होंगे किन्तु प्रकारान्तर से समान सङ्ख्या होनी होगी वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो सकेगी; यथा—**समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः** (३.४.३६) यहां विधीयमान 'णमुल्' एक है, इस की किसी के साथ समान सङ्ख्या नहीं है; तीन उपपदों की तीन धातुओं के साथ समान सङ्ख्या है । यहां यदि यथासङ्ख्य नहीं करते तो अनिष्ट हो जाता है । अतः 'समानाम्' पद मे कर्मणि-षष्ठी न मान कर शेष-षष्ठी मानना ही युक्त है ।

एचोऽयवायावः (२२) सूत्र द्वारा विहित 'अय्, अव्, आय्, आव्' यह आदेश रूप विधि सम-विधि है; क्योंकि एच् (ए, ओ, ऐ, औ) भी चार है और अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश भी चार हैं । अतः इस परिभाषा द्वारा यह विधि वारी २ अर्थात् पहले को पहला, दूसरे को दूसरा, तीसरे को तीसरा और चौथे को चौथा इस ढंग से होगी । 'ए' पहले को पहला अय्, 'ओ' दूसरे को दूसरा अव्, 'ऐ' तीसरे को तीसरा आय् तथा 'औ' चौथे को चौथा आव् होगा । इन सब के क्रमशः उदाहरण *यथा*—

हरे+ए=हर् अय्+ए=हरये । विष्णो+ए=विष्ण् अव्+ए=विष्णवे ।

इन दोनों उदाहरणों में 'हरि' और 'विष्णु' शब्दों से चतुर्थी का एकवचन 'ङे' आने पर ङकार अनुबन्ध का लोप हो **घेर्ङिति** (१७२) सूत्र से गुण हो जाता है ।

नै+अक=न् आय्+अक=नायकः । पौ+अक=प् आव्+अक=पावकः ।

इन दोनों उदाहरणों में 'नी' और 'पू' धातुओं से 'ण्वुल्' प्रत्यय लाने पर अनुबन्धों का लोप तथा 'वु' के स्थान पर अकादेश होकर **अचो ञ्णिति** (१८२) सूत्र

---

१. यद्यपि **इको यणचि** (१५) में भी इस परिभाषा से काम चलाया जा सकता था तथापि इक् (अविधीयमान होने से सवर्णो सहित) ६६ हैं और यण् (विधीयमान होने से) केवल चार, कैसे यथासंख्य हो ? इस दृष्टि के आश्रयण से वहां **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) की प्रवृत्ति दर्शाई गई थी । वस्तुतः जाति के आश्रयण से चार इकों को क्रमशः चार यण् हो सकते हैं कोई दोष नहीं आता । परन्तु तब भी 'वाग्घरिः' आदि प्रयोगों के लिये **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा का होना तो आवश्यक है ही ।

मे क्रमशः ईकार ऊकार को ऐकार औकार वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार भावुक, चयनम्, गायन पवन आदि प्रयोगों में भी अयादि-प्रक्रिया समझ लेनी चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२४) **वान्तो यि प्रत्यये।६।१।७६॥**

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोर् अव् आव् एतौ स्तः। गव्यम्। नाव्यम्॥

अर्थः—यकारादि प्रत्यय परे होने पर 'ओ' को अव तथा 'औ' को आव् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—वान्तः।१।१। यि।७।१। प्रत्यये।७।१। मुनिवर पाणिनि के **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) नियम का **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** यह वार्तिक अपवाद है। इस का अभिप्राय यह है कि सप्तम्यन्त एकाल् विशेषण से तदन्तविधि न हो किन्तु तदादिविधि हो। यहां 'यि' यह सप्तम्यन्त एकाल् है और 'प्रत्यये' का विशेषण है, अतः इस से तदादिविधि होकर 'यादौ प्रत्यये' ऐसा बन जायेगा। समासः—व् अन्ते यस्य सः=वान्तः, वकारादकार उच्चारणार्थः, बहुव्रीहि-समास। जिस के अन्त में 'व्' हो उसे वान्त कहते हैं। यहां वान्त से अभिप्राय पूर्व-सूत्र-पठित अव् आव् आदेशों से है। यहां स्थानी **ओदौतोश्चेति वक्तव्यम्** वार्तिक से ओ और औ समझने चाहियें। अर्थः—(यि=यादौ) जिस के आदि में 'य्' हो ऐसे (प्रत्यये) प्रत्यय के परे होने पर (वान्तः) 'ओ' और 'औ' के स्थान पर अव् और आव् आदेश हो जाते हैं। इन के उदाहरण यथा—

'गो+य' [यहां 'गो' से **गोपयसोर्यत्** (४.३.१५८) द्वारा 'यत्' प्रत्यय होता है] यहां 'य' यह यकारादि प्रत्यय परे है अतः गकारोत्तर ओकार के स्थान पर अव् आदेश हो—ग् अव्+य=गव्य। अब विभक्ति लाने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। गोर्विकारः=गव्यम्, दुग्ध-दध्यादिकमित्यर्थः। दूध, दही आदि गौ के विकार 'गव्य' कहाते हैं।

'नौ+य' [यहां 'नौ' से तार्य—'तरने योग्य' अर्थ में **नौ-वयो-धर्म०** (४.४.९१) सूत्र से यत् प्रत्यय होता है] यहां 'य' यह यकारादि प्रत्यय परे है अतः नकारोत्तर औकार के स्थान पर आव् आदेश होकर विभक्ति लाने से 'नाव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। नावा तार्यम् नाव्यं जलम्, नौका से तरने योग्य जल को 'नाव्य' कहते हैं। यथा—गङ्गाया नाव्यं जलं वर्त्तते।

इन उदाहरणों में 'अच्' परे न होने के कारण **एचोऽयवायावः** (२२) सूत्र से काम नहीं चल सकता था अतः यह सूत्र बनाना पड़ा है।

ध्यान रहे कि यकारादि प्रत्यय परे न होने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति न होगी। यथा—गोयानम्, नौयानम्। यहां वान्त आदेश नहीं होते।

[लघु०] वा०—(३) **अध्वपरिमाणे च॥**

गव्यूतिः॥

अर्थः—'गो' शब्द से 'यूति' शब्द परे होने पर ओकार को वान्त (अव्) आदेश हो जाता है, यदि समुदाय से मार्ग का परिमाण (माप) अर्थ ज्ञात हो तो।

व्याख्या—गोः ।६।१। यूतौ ।७।१। (गोर्यूतौ छन्दस्युपसङ्ख्यानम् वार्त्तिक से)। वान्तः ।१।१। (वान्तो यि प्रत्यये से) । अध्व-परिमाणे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(यूतौ) 'यूति' शब्द परे होने पर (गोः) 'गो' शब्द के ओकार के स्थान पर (वान्तः) 'अव्' आदेश हो (अध्व-परिमाणे) मार्ग के परिमाण अर्थात् माप के गम्यमान होने पर । उदाहरण यथा—

गो+यूति = ग् अव्+यूति = गव्यूतिः । इस का अर्थ 'दो कोस' है । **गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्**—इत्यमरः । जहां मार्ग-परिमाण अर्थ न होगा वहां 'गोयूतिः' बनेगा ।

यहां पर यकारादि प्रत्यय न होने से यह वार्त्तिक बनाना पड़ा है ।

अभ्यास (३)

(१) निम्न-लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर के सूत्रों द्वारा उसे सिद्ध करें—
१. वटवृक्षः[1] । २. ग्लायति । ३. भवति । ४. गणयति । ५. माण्डव्यः[2] । ६. स्नावकः । ७. नयति । ८. गायन्ति । ९. नाविकः । १०. शयनम् । ११. जयः । १२. असावुत्तुङ्गः । १३. औपगवः । १४. चयः । १५. चिक्षाय । १६. अलावीत् । १७. पवनः । १८. नयः । १९. रायते । २०. कवये । २१. क्षयः । २२. मनवे । २३. रायौ । २४. पपावसाविह । २५. द्रवति ।

(२) निम्न-लिखित रूपों में सन्धि कर के सूत्रों द्वारा उसे सिद्ध करें—
१. असौ+अयम् । २. अग्ने+ए । ३. चे+अन । ४. लो+अन । ५. चोरे+अति । ६. भौ+उक । ७. गै+अक । ८. साधो+ए । ९. शङ्को+य[3] । १०. अग्नौ+इह । ११. भौ+अयति । १२. पो+इत्र । १३. शे+आन । १४. भो+अन । १५. ग्लौ+औ । १६. बाभ्रो+य[4] । १७. गो+यूति । १८. बालौ+अत्र । १९. इन्दो+उदिते । २०. पूजार्हौ+अरिसूदन ।

(३) **एचोऽयवायावः** में 'अचि' पद न लाते तो कौन सा दोष उत्पन्न हो जाता ?

(४) **यथा-सङ्ख्यमनु०** की व्याख्या करते हुए 'समानाम्' पद पर प्रकाश डालें ।

(५) **वान्तो यि प्रत्यये** और **अध्व-परिमाणे च** के निर्माण का प्रयोजन बताएं ।

——:ः०ः:——

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—**(२५) अदेङ् गुणः ।१।१।२।।**

अद् एङ् च गुण-सञ्ज्ञः स्यात् ।।

अर्थः—अ, ए, ओ—इन तीन वर्णों की 'गुण' संज्ञा होती है ।

---

१. 'वटो+ऋक्षः' इतिच्छेदः ।
२. मण्डुशब्दाद् गोत्रापत्ये **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००५) इति यञि, ञित्त्वादादिवृद्धौ **ओर्गुणः** (१००२) इति गुणः ।
३. शङ्कुशब्दात् **तस्मै हितम्** (५.१.५) इत्यधिकारे **उगवादिभ्यो यत्** (५.१.२) इति यत् ।
४. बभ्रुशब्दाद् अपत्येऽर्थे **मधु-बभ्र्वोर्ब्राह्मण-कौशिकयोः** (४.१.१०६) इति यञ् ।

व्याख्या—अत् ।१।१। एङ् ।१।१। गुण ।१।१। अर्थं —(अत्, एङ्) अ, ए, ओ ये तीन वर्ण (गुण) गुण-सञ्ज्ञक होते हैं। इस सूत्र पर जो वक्तव्य है वह अग्रिम सूत्र पर लिखा जायेगा।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(२६) तपरस्तत्कालस्य ।१।१।६९॥

त परो यस्मात् स च तात् परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात् ॥

अर्थ.—'त्' जिस से परे है और 'त्' से जो परे है वह अपने सदृश काल वाला की सञ्ज्ञा होता है।

व्याख्या—तपर ।१।१। तत्कालस्य ।६।१। स्वस्य ।६।१। (स्व रूपं शब्दस्या-शब्दसञ्ज्ञा से विभक्ति-विपरिणाम करके)। समास —तात् पर तपर, पञ्चमी-तत्पुरुष। त परो यस्मादसौ तपर, बहुव्रीहि समास। तस्य=तपरत्वेनोच्चार्यमाणस्य काल इव कालो यस्य स तत्काल तस्य=तत्कालस्य, बहुव्रीहि-समास। अर्थ —(तपर) 'त' जिस से परे है और 'त्' से जो परे है वह (तत्कालस्य) अपने काल के समान काल वाला की तथा (स्वस्य) अपनी सञ्ज्ञा होता है।

अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्यय (११) सूत्र द्वारा अण् अपने तथा अपने सवर्णों के बोधक होते हैं, यह पीछे कह चुके हैं। यह सूत्र उस का अपवाद (निषेध करने वाला) है। जिस के आगे या पीछे 'त्' लगाया जाये वह केवल अपना तथा अपने काल के सदृश काल वाले सवर्णों का ही ग्राहक हो अन्य सवर्णों का न हो, यही इस सूत्र का तात्पर्य है। यथा **अदेङ् गुण** (२५) यहा 'अ' तपर है, क्योंकि इस से परे 'त्' है, एवम् 'एङ्' भी तपर है, क्योंकि यह 'त्' से परे है। अब यहां 'अ' और 'एङ्' ये दोनो तपर अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत होते हुए भी **अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्यय** (११) सूत्र द्वारा अपने सम्पूर्ण सवर्णों का ग्रहण न करायेंगे, किन्तु उन्हीं सवर्णों का ग्रहण करायेंगे जिन का काल इन के साथ तुल्य होगा। 'अ' यह एक-मात्रिक है, अत यह अपने एक-मात्रिक सवर्णों का ही बोधक होगा दीर्घादियों का नहीं। एङ्' अर्थात् 'ए', 'ओ' द्वि-मात्रिक हैं, अत ये अपने द्विमात्रिक सवर्णों के ही बोधक होंगे प्लुतों के नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि तपर अ'—केवल अपने समकाल वाले छ ह्रस्व-भेदों का ही ग्राहक होगा सम्पूर्ण अठारह भेदों का नहीं। इसी प्रकार तपर 'ए, ओ'—केवल अपने समकाल वाले छ दीर्घ भेदों के ही ग्राहक होंगे सम्पूर्ण बारह भेदों के नहीं। एवम् तपर इ, उ, ऋ, आ, ई आदियों में भी समझ लेना चाहिये [१]

---

१ ध्यान रहे कि इस तपर से अतिरिक्त विभक्ति-तपर भी हुआ करता है। यथा **आद् गुण.** (२७) यहा पर 'आत्' यह 'अ' शब्द की पञ्चमी का 'त' है, अत यहा पर ह्रस्व (उपेन्द्र) दीर्घ (रमेश) दोनों अकारों का ग्रहण हो जाता है। इस में **उपसर्गादृति धातौ** (३७) सूत्र ज्ञापक है। 'उपसर्गात्' यहा पञ्चमी का 'त्' है, यदि यहा पर भी **तपरस्तत्कालस्य** (२६) का उपयोग करते हैं, तो फिर उस से परे स्थित 'ऋ' में तपर-ग्रहण व्यर्थ हो जाता है।

तो अब अदेङ् गुणः (२५) सूत्र का यह अर्थ हुआ—ह्रस्व अकार, दीर्घ एकार तथा दीर्घ ओकार गुण-सञ्ज्ञक होते है। अब अग्रिम-सूत्र में गुण-सञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् –(२७) आद् गुणः ।६।१।८४।।

अवर्णादचि परे पूर्व-परयोरेको गुण आदेशः स्यात् । उपेन्द्रः । गङ्गोदकम् ।।

अर्थः—अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर एक गुण आदेश हो जाता है।

व्याख्या—**अष्टाध्यायी** के छठे अध्याय के प्रथम-पाद में **एकः पूर्व-परयोः** (६.१.८१) यह अधिकार-सूत्र है, इस का अधिकार **ख्यत्यात्परस्य** (६.१.१०८) सूत्र के पूर्व तक जाता है। इस अधिकार[1] में 'पूर्व पर दोनों के स्थान पर एक आदेश होता है'। यह **आद् गुणः** (२७) सूत्र भी इसी अधिकार में पढ़ा गया है। आत् ।५।१। अचि ।७।१। (**इको यणचि** से)। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत है) । गुणः ।१।१। अर्थः –(आत्) अवर्ण से (अचि) अच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व और पर के स्थान पर (एकः) एक (गुणः) गुण आदेश होता है।

अवर्ण से अवर्ण परे होने पर **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) तथा अवर्ण से 'ए, ओ, ऐ, औ' परे होने पर **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र इस गुण का बाध कर लेते हैं, अतः अवर्ण से इकार, उकार, ऋकार तथा लृकार परे होने पर ही गुण प्रवृत्त होता है।

उदाहरण यथा—उपेन्द्रः (विष्णु) । 'उप+इन्द्र' यहां पकारोत्तर अवर्ण से परे 'इन्द्र' का आदि अच् 'इ' विद्यमान है, अतः पूर्व=अवर्ण तथा पर=इवर्ण दोनों के स्थान पर प्रकृत **आद् गुणः** (२७) सूत्र द्वारा एक गुण प्राप्त होता है। **अदेङ् गुणः** (२५) सूत्र के अनुसार 'अ, ए, ओ' ये तीन गुण हैं। अब इन तीनों में से कौन सा गुण 'अ+इ' के स्थान पर किया जाये ? इस शङ्का के उत्पन्न होने पर **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) सूत्र से स्थान-कृत आन्तर्य द्वारा 'अ+इ' के स्थान पर 'ए' गुण हो जाता है

---

१. इस अधिकार के २१ सूत्र लघुसिद्धान्तकौमुदी में प्रयुक्त किये गये हैं। तथाहि—
१. **अन्तादिवच्च** (४१); २. **आद् गुणः** (२७); ३. **वृद्धिरेचि** (३३); ४. **एत्येधत्यूठ्सु** (३४); ५. **आटश्च** (१९७); ६. **उपसर्गादृति धातौ** (३७); ७. **औतोम्शसोः** (२१४); ८. **एङि पर-रूपम्** (३८); ९. **ओमाङोश्च** (४०); १०. **उस्यपदान्तात्** (४९२); ११. **अतो गुणे** (२७४); १२. **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२); १३. **प्रथमयोः पूर्व-सवर्णः** (१२६); १४. **तस्माच्छसो नः पुंसि** (१३७); १५. **नादिचि** (१२७); १६. **दीर्घाज्जसि च** (१६२); १७. **अमि पूर्वः** (१३५); १८. **सम्प्रसारणाच्च** (२५८); १९. **एङः पदान्तादति** (४३); २०. **ङसि-ङसोश्च** (१७३); २१. **ऋत उत्** (२०८); इन सूत्रों को सदा ध्यान में रखना चाहिये।

['अ+इ' का स्थान 'कण्ठ+तालु' है, गुणों में कण्ठ+तालु स्थान वाला 'ए' ही है]। उप् 'ए' न्द्र='उपेन्द्र'[1] प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

गङ्गोदकम् (गङ्गा का जल)। गङ्गा+उदक' यहां गकारोत्तर 'आ' अवर्ण है, इस से परे 'उदक' का आदि 'उ' अच् विद्यमान है। 'आ+उ' का स्थान 'कण्ठ+ओष्ठ' है। तीनों गुणों में 'कण्ठ+ओष्ठ स्थान ओ' का ही है, अतः पूर्व=आ और पर=उ इन दोनों के स्थान पर[2] आद् गुणः (२७) द्वारा 'ओ' यह एक गुण आदेश हो कर—गङ्ग् 'ओ' दक='गङ्गोदकम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अवर्ण से ऋ, लृ परे वाले उदाहरणों में उरण्रपरः (२९) सूत्र का उपयोग किया जाता है, वह सूत्र 'रँ' प्रत्याहार के आश्रित है अतः प्रथम 'रँ' प्रत्याहार की सिद्धि के लिये 'इत्' सञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(२८) उपदेशेऽजनुनासिक इत् ।१।३।२॥

उपदेशेऽनुनासिकोऽज् इत्सञ्ज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञाऽऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः। 'लँण्' (प्रत्याहारसूत्र ६) सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः सञ्ज्ञा॥

अर्थः—जो अच् उपदेश अवस्था में अनुनासिक हो, उस की इत् सञ्ज्ञा होती है। **प्रतिज्ञेति**—पाणिनि के वर्ण प्रतिज्ञा अर्थात् गुरु-परम्परा से उपदेश में अनुनासिक धर्म वाले हैं। **लँण् इति**—'लँण्' सूत्र में स्थित लकारोत्तर अवर्ण (अन्त्य) के साथ युक्त हुआ रेफ (आदि) र् और ल् वर्णों की सञ्ज्ञा होता है।

व्याख्या—उपदेशे ।७।१। अच् ।१।१। अनुनासिकः ।१।१। इत् ।१।१। अर्थः—(उपदेशे) उपदेश अवस्था में (अनुनासिकः) अनुनासिक (अच्) अच् (इत्) इत्सञ्ज्ञक होता है। महामुनि पाणिनि ने अपने व्याकरण में अनुनासिक अचों पर (ँ) इस प्रकार का चिह्न किया था[3], परन्तु अब वह अनुनासिक-पाठ परिभ्रष्ट हो गया है।

---

१ जब समासादि में सन्धि हो चुकती है तब विभक्ति की उत्पत्ति हुआ करती है—यह हम पीछे लिख चुके हैं, सर्वत्र नहीं लिखेंगे।

२ यद्यपि 'गङ्गा+उदक' में 'आ+उ' स्थानी के त्रिमात्र होने से आदेश 'ओ' भी सदृशतम त्रिमात्र होना चाहिये तथापि अदेङ् गुणः (२५) में एङ् के तपर होने से द्विमात्र 'ओ' ही गुण एङ् हो जाता है। यह पूर्व-सूत्र में सङ्केतित कर आये हैं।

३ जैसे 'एधँ वृद्धौ, गम्लृँ गतौ, यजँ देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु' इन में अनुनासिक के चिह्न होने से ये अच् पाणिनि को 'इत्' अभीष्ट हैं। अनुदात्तेत् होने से एध् धातु आत्मनेपदी और स्वरितेत् होने से यज् धातु उभयपदी है। 'गम्लृँ' धातु में लृकार न अनुदात्त है और न स्वरित अतः अवशिष्ट उदात्त है, उदात्तेत् होने से गम् धातु परस्मैपदी है। इत्-सञ्ज्ञा किसी प्रयोजन के लिये होती है। प्रयोजना-

अतः अब अनुनासिक जानने की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—**प्रतिज्ञाऽऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः**। पाणिनीयाः = पाणिनिना प्रोक्ता वर्णाः, प्रतिज्ञया = गुरुपरम्परोपदेशेन आनुनासिक्याः = अनुनासिक-धर्मवन्तः सन्तीति शेषः। अर्थः—पाणिनि से कहे गये वर्ण गुरु-परम्परा के उपदेशानुसार अनुनासिक धर्म वाले जानने चाहियें। तात्पर्य यह है कि अनुनासिक के विषय में अब तक आ रही गुरु-परम्परा का आश्रय करना ही युक्त है; गुरुपरम्परा से जो जो अनुनासिक चला आ रहा है उसे अनुनासिक और जो अनुनासिक नहीं माना जा रहा उसे अनुनासिक न मानना ही ठीक है।

इस सूत्र से **लँण्** इस छठे प्रत्याहारसूत्र में लकारोत्तर अकार की इत् सञ्ज्ञा हो जाती है; क्योंकि गुरु-परम्परा में **लँण्मध्ये त्वित्सञ्ज्ञकः** ऐसा प्रवाद चला आ रहा है अतः यह अनुनासिक 'लँण्' इस रूप में है। इस अन्त्य इत्=अकार के साथ **हयवरट्** (प्रत्याहार० ५)सूत्र का 'र्'[देखो—**हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः**] मिलाने से र्+अँ='रँ' प्रत्याहार बन जाता है, इस 'रँ' प्रत्याहार के अन्तर्गत 'र्' और 'ल्' ये दो वर्ण आते हैं। टकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्-सञ्ज्ञक है अतः मध्यवर्त्ती होने पर भी उस का ग्रहण नहीं होता।

अब इस 'रँ' प्रत्याहार का अग्रिम-सूत्र में उपयोग बतलाते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(२९) उरण्रपरः।१।१।५०॥

'ऋ इति त्रिंशतः सञ्ज्ञा' इत्युक्तम्; तत्स्थाने योऽण् स रँपरः सन्नेव प्रवर्त्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः॥

अर्थः—'ऋ' यह तीस की सञ्ज्ञा है; यह हम पीछे [**अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (११) सूत्र पर] कह चुके हैं। उस तीस प्रकार वाले 'ऋ' के स्थान पर यदि अण् आदेश करना हो तो वह 'रँ' प्रत्याहार परे वाला ही प्रवृत्त होता है।

व्याख्या—उः।६।१। ('ऋ' शब्द के षष्ठी के एकवचन में 'पितुः' के समान 'उः' प्रयोग बनता है)। अण्।१।१। रँपरः।१।१। समासः—**रँः** परो यस्माद् असौ रँपरः, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(उः) 'ऋ' वर्ण के स्थान पर (अण्) अण् अर्थात् अ, इ, उ (रँपरः) 'रँ' प्रत्याहार परे वाले होते हैं। **अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) सूत्र पर 'ऋ' की तीस सञ्ज्ञाओं का प्रतिपादन कर चुके हैं; उस 'ऋ' के स्थान पर यदि अण् (अ इ उ) आदेश होगा तो वह 'रँ' प्रत्याहार परे वाला अर्थात् उस से परे र् और ल् वर्ण भी होंगे। यथा—अर्, अल्, आर्, आल्, इर्, इल्, उर्, उल् इत्यादि। उदाहरण यथा—

भाव में अच् उच्चारणार्थक ही माना जाता है। कुछ लोग सुखोच्चारण को भी एक प्रयोजन मान कर वहां पर भी इत्संज्ञा की प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं। हम ने इस व्याख्या में गुरुपरम्परागत इन अनुनासिक चिह्नों को यथावत् अङ्कित करने का प्रथम प्रयास किया है। आशा है विद्यार्थियों को इस से सुविधा होगी।

कृष्णर्द्धि (कृष्ण की समृद्धि)। 'कृष्ण+ऋद्धि' यहां णकारोत्तर अवर्ण से परे ऋकार=अच् के विद्यमान होने से आद् गुण (२७) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर एक गुण प्राप्त होता है। 'अ+ऋ' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' है। तीनों गुणों में 'कण्ठ' स्थान तो सब का मिलता है पर मूर्धा-स्थान किसी का नहीं मिलता। अब यदि पूर्व+पर के स्थान पर 'अ' गुण करें तो प्रकृतसूत्रद्वारा उस से परे 'र्' प्रत्याहार प्राप्त हो जाता है। 'र्' प्रत्याहार में र् और ल् दो वर्ण आते हैं, स्थानेऽन्तरतम (१७) द्वारा 'ऋ' के स्थान पर अण् करने पर उस से परे 'र्' और लृ' के स्थान पर अण् करने पर उस से परे 'ल्' भी साथ में प्रवृत्त हो जाता है। यहां पूर्व+पर के स्थान पर एकादेश होने से 'ऋ' के स्थान पर अण् (अ) करना है, अतः उस से परे 'र्' भी हो जाता है। इस प्रकार 'अर्' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' होने से स्थानी और आदेश तुल्य हो जाते हैं। तो अब 'अर्' एकादेश करने से—कृष्ण् 'अर्' द्धि='कृष्णर्द्धि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

तवल्कार (तेरा लृकार)। तव+लृकार यहां आद् गुण (२७) से गुण एकादेश प्राप्त होने पर उरण्रपरः (२९) से 'र्' प्रत्याहार भी पर प्राप्त होता है। अब स्थानेऽन्तरतमः (१७) सूत्र से कण्ठ+दन्त स्थान वाले 'अ+लृ' के स्थान पर तादृश लपर अण् होकर तव् 'अल्' कार='तवल्कार' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अभ्यास (४)

(१) निम्नलिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर उन सूत्रों द्वारा सिद्ध करें—
१ गजेन्द्र। २ परीक्षोत्सव। ३ वसन्तर्तु। ४ रमेश। ५ सूर्योदय। ६ गणेश। ७ देवर्षि। ८ ममल्कार। ९ हितोपदेश। १० तथेति। ११. अत्यन्तोर्ध्वम्। १२ परमोत्तम। १३ नेति। १४ यथेच्छम्। १५ उमेश। १६ महर्षि। १७ यज्ञोपवीतम्। १८ महेष्वास। १९ विक्लेन्द्रिय। २० तवोत्साह। २१ वेदर्क्। २२. दयोदयोज्ज्वल। २३ उत्तमर्ण। २४ प्रेक्षते। २५ गुडाकेश।

(२) अधोलिखित प्रयोगों में उपपत्ति-पूर्वक सूत्रों द्वारा सन्धि करें—
१ महा+ईश। २ कण्ठ+उच्चारण। ३ राम+इतिहास।

---

१ जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्योर्ध्वगमनम्—जैसे जल में तुम्बी (शुष्क लौकी) डालने पर वह ऊपर ही ऊपर आ जाती है वैसे देवनागरी लिपि में हल् अर्थात् व्यञ्जन के परे रहते रेफ का भी सदा ऊर्ध्वगमन होता है। जैसे—अर्+थ=अर्थ। आर्+य=आर्य। ध्यान रहे कि यह रेफ अपने से आगे सस्वर व्यञ्जन के सिर पर ही चढ़ता है चाहे वह व्यञ्जन उस शब्द में कितनी भी दूर क्यों न हो। यथा—मूर्+च्छना=मूर्च्छना। कार्+त्स्न्य=कार्त्स्न्य। कहा भी है—

तुम्बिकातृणकाष्ठं च तैलं जलमुपागतम्।
स्वभावादूर्ध्वमायाति रेफस्यैतादृशी गतिः॥

४. न + उपलब्धिः । ५. भाष्यकार + इष्टि । ६. परम + उपकारक । ७. स्वच्छ + उदक । ८. नतन + उद्यन । ९. तव + लृदन्तः । १०. ग्रीष्म + ऋतु । ११. सप्त + ऋषि । १२. मम + लृवर्णः । १३. अधम + ऋण । १४. आ + उदकान्तात् । १५. पाप + ऋद्धि ।

(३) उरण्रपरः में अण् किस णकार से गृहीत होता है और क्यों ?

(४) 'ऋ' की तीन सञ्ज्ञाओं का उल्लेख करें ।

(५) 'रँ' प्रत्याहार की ससूत्र सिद्धि लिख कर तदन्तर्गत वर्णों को लिखते हुए 'रँ' प्रत्याहार को स्वीकार करने का प्रयोजन भी स्पष्ट करें ।

(६) अनुनासिक जानने की आजकल क्या व्यवस्था है ? सविस्तर लिखें ।

(७) तपर करने का प्रयोजन सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(८) आद् गुणः सूत्र किस २ सूत्र का अपवाद है; सोदाहरण लिखें ।

——: :०: :——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३०) **लोपः शाकल्यस्य** ।८।३।१९।।

अवर्ण-पूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे ।।

अर्थः—अश् प्रत्याहार परे होने पर अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार वकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है ।

व्याख्या—अ-पूर्वयोः ।६।२। (**भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि** से 'अ-पूर्वस्य' अंश की अनुवृत्ति आकर वचन-विपरिणाम हो जाता है) । व्योः ।६।२। (**व्योर्लघु-प्रयत्नतरः शाकटायनस्य** से) । पदान्तयोः ।६।२। (पदस्य यह पीछे से अधिकार चला आ रहा है । 'व्योः' का विशेषण होने से इस से तदन्त-विधि हो कर वचन-विपरिणाम से द्विवचन हो जाता है) । लोपः ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। अशि ।७।१। (**भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि** से) । समासः—अः = अवर्णः पूर्वो याभ्यां तौ = अ-पूर्वौ, तयोः = अपूर्वयोः, बहुव्रीहि-समासः । व् च य् च = व्यौ, तयोः = व्योः, इतरेतर-द्वन्द्वः । अर्थः—(अ-पूर्वयोः) अवर्ण पूर्व वाले (पदान्तयोः) पदान्त (व्योः) वकार यकार का (अशि) अश् परे होने पर (लोपः) लोप हो जाता है । (शाकल्यस्य) यह कार्य शाकल्याचार्य का है । यह लोप **शाकल्याचार्य**—जो पाणिनि से पूर्व व्याकरण के एक महान् आचार्य हो चुके हैं—के मत में होता है; पाणिनि के मत में नहीं । हमें दोनों आचार्य प्रमाण हैं अतः विकल्प से लोप होगा । उदाहरण यथा—

'हरे + इह', 'विष्णो + इह' यहां 'हरे' और 'विष्णो' पद सम्बोधन के एकवचनान्त होने से **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) के अनुसार पद-सञ्ज्ञक हैं । इन दोनों में **एचोऽयवायावः** (२२) सूत्र से क्रमशः एकार को अय् और ओकार को अव् आदेश हो कर—'हर् अय् + इह' 'विष्ण् अव् + इह' बन जाते हैं । अब पुनः दोनों रूपों में 'इह' के आदि इकार = अश् के परे होने पर पदान्त यकार वकार का प्रकृतसूत्र (३०) द्वारा विकल्प से लोप हो कर लोपपक्ष में—'हर् अ + इह; विष्ण् अ + इह' तथा लोप के अभाव में—'हरय् + इह; विष्णव् + इह' बना । अब लोप-पक्ष के रूपों में **आद् गुणः**

(२७) सूत्र द्वारा 'अ+इ' के स्थान पर ए तथा 'अ+उ' के स्थान पर 'ओ' गुण एकादेश प्राप्त होता है । इस पर इस के निवारणार्थ अग्रिम-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(३१) पूर्वत्राऽसिद्धम् ।८।२।१।।

सपाद-सप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम् । हर इह, हरयिह । विष्ण इह, विष्णविह ।।

अर्थः—सवा सात अध्यायों के प्रति त्रिपादी-सूत्र असिद्ध होते हैं और त्रिपादी सूत्रों में भी पूर्वशास्त्र के प्रति पर-शास्त्र असिद्ध होता है ।

व्याख्या—अष्टाध्यायी में आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं, यह सब पीछे सञ्ज्ञा-प्रकरण में विस्तार पूर्वक स्पष्ट कर चुके हैं । सात अध्याय सम्पूर्ण और आठवें अध्याय के प्रथम-पाद के व्यतीत होने पर आठवें अध्याय के दूसरे पाद का यह प्रथम-सूत्र है । यह अधिकार-सूत्र है । अधिकारसूत्र स्वयं कुछ नहीं किया करते किन्तु अग्रिम-सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये हुआ करते हैं । उन की अवधि (हद्) निश्चित हुआ करती है । इस सूत्र का अधिकार यहां से लेकर अ अ (८.४.६७) सूत्र अर्थात् अष्टाध्यायी के अन्तिमसूत्र तक जाता है । इस प्रकार आठवें अध्याय का दूसरा, तीसरा तथा चौथा पाद इस के अधिकार में आता है । यह सूत्र इन तीनों पादों के सूत्रों में जा कर अनुवृत्ति करता है कि तू (पूर्वत्र इत्यव्ययपदम्) पूर्व-शास्त्र में (असिद्धम् ।१।१।) असिद्ध है, अर्थात् पूर्व की दृष्टि में तेरा कोई अस्तित्व ही नहीं । इस से यह होता है कि इन तीन पादों के सूत्र पूर्व-पठित सवा सात अध्यायों की दृष्टि में तथा इन तीन पादों में भी पूर्व के प्रति पर-सूत्र असिद्ध हो जाता है । यथा—आद् गुणः (२७) सवा सात अध्यायों के अन्तर्गत-सूत्र है [यह छठे अध्याय के प्रथम पाद का ८४ वां सूत्र है]। इसकी दृष्टि में आठवें अध्याय के तीसरे पाद में वर्त्तमान लोपः शाकल्यस्य (३०) सूत्र असिद्ध है, अतः आद् गुणः (२७) सूत्र लोपः शाकल्यस्य (३०) सूत्र द्वारा किये गये यकार वकार के लोप को नहीं देखता, इसे तो अब भी यकार वकार सामने पड़े हुए दीख रहे हैं । अवर्ण से परे यकार वकार के दिखाई देने से अच् परे न होने के कारण आद् गुणः (२७) द्वारा गुण एकादेश नहीं होता—हर इह, विष्ण इह—ऐसे ही अवस्थित रहते हैं । इस प्रकार —लोप-पक्ष में 'हर इह, विष्ण इह' तथा लोपाभावपक्ष में 'हरयिह, विष्णविह' रूप सिद्ध होते हैं ।[1]

अभ्यास (५)

(१) कौमुदीस्थ लम्बा-चौड़ा अर्थ पूर्वत्रासिद्धम् सूत्र का कैसे हो जाता है ?

(२) सूत्र में विकल्प वाचक पद के न होने पर भी लोपः शाकल्यस्य सूत्र कैसे वैकल्पिक लोप किया करता है ?

---

१ त्रिपादियों में पूर्व के प्रति पर-शास्त्र की असिद्धि में उदाहरण यथा—किम्वुक्तम् । यहां पर मोऽनुस्वारः (८.३.२३) इस पूर्व त्रिपादी सूत्र के प्रति मय उञो वो वा (८.३.३३) इस पर-त्रिपादी-सूत्र के असिद्ध होने से (अर्थात् व् की जगह उ=अच् होने से) म् को अनुस्वार नहीं होता ।

(३) हरये, विष्णवे रूपों मे लोपः शाकल्यस्य की प्रवृत्ति क्यों न हो ?
(४) 'हरय्+इह', 'विष्णव्+इह' यहां लोपः शाकल्यस्य से प्राप्त यकार वकार के लोप का यणः प्रतिषेधो वाच्यः से निषेध क्यों नहीं होता ?
(५) निम्न-लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर सूत्र-समन्वय-पूर्वक सिद्धि करें—
१. गुरा आयाते । २. प्रभ इदानीम् । ३. शौर आगच्छ । ४. भाना अपि । ५. रखा उदिते । ६. न धातु-लोप आर्धधातुके । ७. श्रिया उत्कण्ठितः । ८. तयागच्छन्ति । ९. विधा उदिते । १०. वन ऋषयः ।
(६) अधो-लिखित रूपों में सूत्र-समन्वय-पूर्वक सन्धि करें—
१. पुत्रौ+आगच्छतः । २. तस्मै+अदात् । ३. ते+इच्छन्ति । ४. गृहे+आसीत् । ५. एते+आगताः । ६. विश्वे+उपासते । ७. इतौ+अनार्ये । ८. स्थले+इदानीम् । ९. बालौ+आयातौ । १०. कस्मै+अयच्छत् । ११. आसने+आस्ते । १२. द्वौ+अपि ।

——::०::——

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३२) **वृद्धिरादैच्** ।१।१।१॥

आदैच्च वृद्धि-सञ्ज्ञः स्यात् ॥

अर्थः—'आ, ऐ, औ—ये तीन वर्ण वृद्धि-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या - वृद्धिः ।१।१। आत् ।१।१। ऐच् ।१।१। अर्थः—(आत्, ऐच्) दीर्घ आकार, दीर्घ ऐकार तथा दीर्घ औकार (वृद्धिः) वृद्धि-सञ्ज्ञक होते हैं । 'आदैच्' यहां पर तपर किया गया है । यह तपर 'आ' के लिये नहीं किन्तु 'ऐच्' के लिये किया गया है; क्योंकि 'आ' तो अण्-प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** *(११) सूत्र द्वारा स्वतः ही सवर्णों का ग्रहण नहीं कराता,* पुनः उसके लिए निषेध कैसा ? अतः यहां ऐच् के ग्रहण से प्लुत-सवर्णों का ग्रहण न हो अथवा 'देव+ऐश्वर्य' में त्रिमात्रस्थानी तथा 'गङ्गा+ओघ' में चतुर्मात्र स्थानी होने से ऐ-औ भी कहीं त्रिमात्र चतुर्मात्र न हों, किन्तु द्विमात्र ही हों; इसलिये तपर किया गया है । इस से—दीर्घ आकार, दीर्घ ऐकार, तथा दीर्घ औकार इन तीन वर्णों की 'वृद्धि' सञ्ज्ञा होती हैं । अब अग्रिम-सूत्र में इस सञ्ज्ञा का फल दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३) **वृद्धिरेचि** ।६।१।८५॥

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणाऽपवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ॥

अर्थः—अवर्ण से एच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर एक वृद्धि आदेश हो जाता है । **गुणेति**—यह सूत्र आद् गुणः (२७) सूत्र का अपवाद है ।

व्याख्या—आत् ।५।१। (आद् गुणः से) । एचि ।७।१। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (एकः पूर्व-परयोः यह अधिकृत है) । वृद्धिः ।१।१। अर्थः—(आत्) अवर्ण से (एचि) एच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक

(वृद्धि)वृद्धि आदेश हो जाता है। यह सूत्र आद् गुण (२७)सूत्र का अपवाद है। बहुत विषय वाला उत्सर्ग और थोड़े विषय वाला अपवाद हुआ करता है। आद् गुण (२७) सूत्र बहुत विषय वाला है, क्योंकि इस का अवर्ण से परे अच्-मात्र विषय है। **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र थोड़े विषय वाला है, क्योंकि इस का अवर्ण से परे अच्-प्रत्याहार के अन्तर्गत केवल एच् ही विषय है। उत्सर्ग और अपवाद दोनो प्रकार के सूत्र महामुनि पाणिनि ने बनाये हैं, अत हम कोई ऐसा हल ढूढना है जिस से दोनो प्रकार के सूत्र सार्थक हो जायें, कोई अनर्थक न हो। अब यदि अपवाद के विषय म भी उत्सर्ग प्रवृत्त करते हैं तो अपवाद-सूत्र निरर्थक हो जाते है, क्योंकि तब इन्हे प्रवृत्त होने के लिये कोई स्थान ही नही मिल सकता। और उत्सर्ग के विषय म अपवाद प्रवृत्त करते है तो उतने मात्र म प्रवृत्त होकर अपवाद सार्थक हो जाता है और शेष बचे हुए म उत्सर्ग भी प्रवृत्त हो सकता है, इस प्रकार दोनो सार्थक हो जाते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि उत्सर्ग के विषय म ही अपवाद प्रवृत्त करना युक्त है। तो अब आद् गुण (२७) के विषय म **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र प्रवृत्त होकर एच् के स्थानो को उस से छीन लेगा, शेष बचे हुए स्थानो म ही वह प्रवृत्त होगा। उदाहरण यथा—

कृष्णैकत्वम् (कृष्ण की एकता)। कृष्ण+एकत्व' यहा णकारोत्तर अवर्ण से परे 'एकत्व' शब्द का आदि एकार=एच् वर्तमान है। अत **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र द्वारा पूर्व—अ और पर=ए के स्थान पर एक वृद्धि आदेश प्राप्त होता है। 'अ+ए' का स्थान 'कण्ठ+तालु' है, इधर वृद्धि-सञ्ज्ञकों मे 'ऐ' का स्थान 'कण्ठ+तालु' है अत **स्थानेऽन्तरतम** (१७) के अनुसार 'अ+ए' के स्थान पर 'ऐ' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—कृष्ण् 'ऐ' कत्व='कृष्णैकत्वम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

गङ्गौघ (गङ्गा का प्रवाह)। 'गङ्गा+ओघ' यहा पूर्व=आ और पर=ओ का 'कण्ठ+ओष्ठ' स्थान है, अत **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर 'कण्ठ+ओष्ठ' स्थान वाला 'औ' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—गङ्ग् 'औ' घ= 'गङ्गौघ' प्रयोग सिद्ध होता है।

देवैश्वर्यम् (देवताओ का ऐश्वर्य)। 'देव+ऐश्वर्य' यहा पूर्व=अ और पर=ऐ का 'कण्ठ+तालु' स्थान है, अत **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर 'कण्ठ+तालु' स्थान वाला 'ऐ' यह एक वृद्धि आदेश होकर—देव् 'ऐ' श्वर्य= 'देवैश्वर्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

कृष्णौत्कण्ठ्यम् (कृष्ण की उत्कण्ठा)। 'कृष्ण+औत्कण्ठ्य' यहा पूर्व=अ और पर=औ का 'कण्ठ+ओष्ठ' स्थान है, अत **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर 'कण्ठ+ओष्ठ' स्थान वाला 'औ' यह एक वृद्धि आदेश होकर—कृष्ण् 'औ' त्कण्ठ्य='कृष्णौत्कण्ठ्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभ्यास (६)

(१) निम्नलिखित रूपों म सूत्रार्थ-समन्वय-पूर्वक सन्धि करें—

१. पञ्च+एते। २. जन+एकता। ३. तण्डुल+ओदन। ४. राम+औत्सुक्य। ५. नृप+ऐश्वर्य। ६. महा+औषध। ७. एक+एक। ८. राजा+एषः। ९. महा+औदार्य। १०. वीर+एक। ११. महा+एनः। १२. दर्शन+औत्सुक्य। १३. अस्य+औचिती। १४. सुख+औपयिक। १५. दीर्घ+एरण्ड।

(२) निम्न-लिखित प्रयोगों में सूत्रार्थ-समन्वय-पूर्वक सन्धिच्छेद करें —
१. अत्रैकमत्यम्। २. पूर्वैनः। ३. मृत्यौद्धत्यम्। ४. पण्डितौकः। ५. बालैषा। ६. चित्तैकाग्रचम्। ७. तथैव। ८. महौजसः। ९. नवैवम्। १०. नत्यैतिह्यम्। ११. ममौदासीन्यम्। १२. कर्मौर्ध्वदेहिकम्। १३. दीर्घैकारः। १४. ज्ञानौषधिः। १५. महौष्ण्यम्। १६. प्लुतौकारः। १७. स्थूलैणः। १८. मैवम्। १९. बिम्बौष्ठी। २०. स्थूलौतुः[1]।

(३) उत्सर्ग और अपवाद किसे कहते हैं? अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति क्यों नहीं हुआ करती?

(४) **वृद्धिरेचि** सूत्र गुण का अपवाद है; इस वचन की व्याख्या करो।

(५) **वृद्धिरादैच्** सूत्र में तपर करने का क्या प्रयोजन है?

——:॰:——

[लघु॰] विधि-सूत्रम्—(३४) **एत्येधत्यूठ्सु** ।६।१।८६॥

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। पररूप-गुणाऽपवादः। उपैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्? उपेतः। मा भवान् प्रेदिधत्॥

अर्थः—अवर्ण से परे यदि एच्-प्रत्याहार आदि वाली 'इण्' तथा 'एध्' धातु हो अथवा ऊठ् हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक वृद्धि आदेश हो जाता है। **पर-रूपेति**—यह सूत्र **एङि पररूपम्** (३८) तथा **आद् गुणः** (२७) सूत्रों का अपवाद है।

व्याख्या—आत् ।५।१। (**आद् गुणः** से)। एजाद्योः ।७।२। (**वृद्धिरेचि** सूत्र से 'एचि' पद की अनुवृत्ति आती है। यह पद 'एति' और 'एधति' का ही विशेषण बन सकता है, असम्भव होने से 'ऊठ्' का नहीं; अतः वचन-विपरिणाम से द्विवचन और **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** से तदादि-विधि होकर 'एजाद्योः' ऐसा बन जाता है)। एत्येधत्यूठ्सु ।७।३। (एति+एधति+ऊठ्सु)। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत हैं)। वृद्धिः ।१।१। (**वृद्धिरेचि** से)। अर्थः—(आत्) अवर्ण से (एजाद्योः) एजादि (एत्येधत्यूठ्सु) इण् और एध् धातु परे होने पर अथवा ऊठ् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश होता है। उदाहरण यथा—

उपैति (पास जाता है)। 'उप+एति' ['एति' यह पद **इण् गतौ** (अदा॰)

---

१. 'बिम्बोष्ठी' और 'स्थूलोतुः' भी होता है। **ओत्वोष्ठयोः समासे वा** वार्त्तिक से वैकल्पिक पररूप हो जाता है। पररूप के अभाव में वृद्धि समझनी चाहिये।

धातु के लँट् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है] यहां पकारोत्तर अवर्ण से परे एजादि 'इण्' धातु वर्त्तमान है, अत इस सूत्र से पूर्व=अ और पर=ए के स्थान पर 'ऐ' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—उप् 'ऐ' ति= उपैति' प्रयोग सिद्ध होता है।

उपैधते (पास बढ़ता है)। 'उप+एधते' ['एधते' यह पद **एधँ वृद्धौ** (भ्वा०) धातु के लँट् लकार के प्रथमपुरुष का एकवचन है] यहां अवर्ण से परे एजादि एध् धातु वर्त्तमान है अत पूर्व=अ और पर=ए के स्थान पर एक 'ऐ' वृद्धि आदेश हो कर—उप् 'ऐ' धते='उपैधते' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रष्ठौह (प्रष्ठवाह् को[1])। 'प्रष्ठ+ऊह' (यहां ऊठ्' है। कैसे है? यह हलन्त-पुंल्लिङ्ग मे 'विश्ववाह्' शब्द पर स्पष्ट होगा) यहां अवर्ण से ऊठ् परे है अत पूर्व=अ और पर=ऊ दोनों के स्थान पर 'औ' यह वृद्धि एकादेश हो कर—प्रष्ठ् 'औ' ह—'प्रष्ठौह' प्रयोग सिद्ध होता है।

यह सूत्र ऊठ् के विषय मे गुण का तथा इण् और एध् के विषय में आगे वक्ष्यमाण **एङि पररूपम्** (३८) सूत्र द्वारा विधीयमान पररूप का अपवाद है।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस सूत्र मे इण् और एध् धातु को एजादि क्यों कहा गया है? अर्थात् यदि एजादि न कहते, तो कौन सी हानि हो जाती? इस का उत्तर यह है कि एजादि न कहने से 'उपेत' और 'प्रेदिधत्' प्रयोगो मे भी वृद्धि हो जाती, जो नितान्त अनिष्ट है। तथाहि—उपेत (समीप पहुंचा, युक्त अथवा वे दोनों पास जाते हैं)। 'उप+इत' ('इत' यह पद इण् गतौ धातु का क्तान्त रूप है अथवा लँट् लकार के प्रथम-पुरुष का द्विवचन है) यहां अवर्ण से परे 'इण्' धातु तो है पर वह एजादि नहीं, अत. वृद्धि न हो कर आद् गुण (२७) सूत्र से 'ए' यह गुण एकादेश ही होगा। इस से—उप् 'ए' त='उपेत' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायेगा। 'मा भवान् प्रेदिधत्' (आप अधिक न बढ़ावें) ['इदिधत्' यह णिजन्त एध् धातु के लुँङ् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है। यहां **न माङ्योगे** (४४१) सूत्र से 'आट्' आगम का निषेध हो जाता है, इसी बात को जतलाने के लिये यहां 'मा' पद का प्रयोग किया गया है] यहां अवर्ण से परे 'एध्' धातु तो वर्त्तमान है, पर वह एजादि नहीं, अत इस सूत्र से वृद्धि न हो **आद् गुणः** (२७) सूत्र द्वारा गुण हो जायेगा। इस से—प्र् 'ए' दिधत्='प्रेदिधत्' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायेगा।

ये दोनों उक्त सूत्र के प्रत्युदाहरण हैं। विपरीत उदाहरणों को प्रत्युदाहरण कहते हैं, अर्थात् 'यदि सूत्रों मे यह न कहते तो यह अशुद्ध हो जाता' इस प्रकार जो प्रयोग दर्शाये जाते है उन्हे प्रत्युदाहरण कहते हैं।

सूत्र मे 'एति' और 'एधति' से 'इण्' और 'एध्' धातु का ही ग्रहण समझना

---

१ उद्दण्डता दूर करने के लिये जिस के गले मे युग या भारी काष्ठ बान्ध देते हैं उस बछड़े या बैल को 'प्रष्ठवाह्' कहते हैं। यहां प्रष्ठवाह् शब्द के षष्ठी के एकवचनान्त का प्रयोग है। **प्रष्ठवाड् युगपार्श्वगः, प्रष्ठौही बालगर्भिणी**—इत्यमर।

चाहिये। जैसे वर्णों से स्वार्थ में 'कार' प्रत्यय लगाया जाता है (अकार, इकार, उकार, ककार आदि) वैसे धातुओं के निर्देश करने में भी 'इ' (इक्) या 'ति' (श्तिप्) लगाये जाते हैं। यथा— गमि व गच्छति, एधि व एधति, चलि व चलति आदि। इन सब का तात्पर्य गम्, एध्, चल् आदि मूल धातुओं से ही होता है।

[लघु०] वा०—(४) अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम् ॥

अक्षौहिणी सेना ॥

अर्थः—'अक्ष' शब्द के अन्त्य अवर्ण से 'ऊहिनी' शब्द का आदि ऊकार परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है। ऐसा अधिक-वचन करना चाहिये।

व्याख्या—(अक्षात् ।५।१।) 'अक्ष' शब्द से (ऊहिन्याम् ।७।१।) 'ऊहिनी' शब्द परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है; ऐसा (उपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम्) अधिक-वचन करना चाहिये। ध्यान रहे कि इस प्रकरण में 'आत्' और 'अचि' की अनुवृत्ति होने से सर्वत्र पूर्व से अवर्ण और पर से अच् का ग्रहण होता है। उदाहरण यथा -

'अक्षौहिणी'[1]। 'अक्ष+ऊहिनी' (अक्षाणाम् ऊहिनीति षष्ठीतत्पुरुष-समासः) यहां 'अ+ऊ' का स्थान 'कण्ठ+ओष्ठ' होने से तादृश-स्थान वाला 'औ' वृद्धि एकादेश हो - अक्ष् 'औ' हिनी= 'अक्षौहिनी' बना। अब **पूर्व-पदात् सञ्ज्ञायामगः** (८.४.३) सूत्र से नकार को णकार आदेश करने से 'अक्षौहिणी' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां गुण की प्राप्ति में वृद्धि कही गई है अतः यह वार्त्तिक गुण का अपवाद है।

[लघु०] वा०—(५) प्राद् ऊहोढोढ्येषैष्येषु ॥

प्रौहः। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः ॥

अर्थः—'प्र' शब्द के अन्त्य अवर्ण से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्दों का आदि अच् परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्रात् ।५।१। ऊहोढोढ्येषैष्येषु ।७।३। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (एकः पूर्वपरयोः यह अधिकृत है)। वृद्धिः ।१।१। (वृद्धिरेचि से)। समासः—ऊहश्च ऊढश्च ऊढिश्च एषश्च एष्यश्च तेषु=ऊहोढोढ्येषैष्येषु। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः— (प्रात्) 'प्र' शब्द से (ऊहोढोढ्येषैष्येषु) ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्द परे

---

१. 'अक्षौहिणी' विशेष परिमाण वाली सेना कहाती है। इस का परिमाण यथा—

अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥

२१८७०	हाथी	अक्षौहिणी सेना
२१८७०	रथ	
६५६१०	घोड़े (रथवाहकों से अतिरिक्त)	
१०९३५०	पैदल	

होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो। उदाहरण यथा —

प्र+ऊहः = प्र् 'औ' हः = 'प्रौहः'। [उत्तम तर्क वा उत्तम तर्क करने वाला]

प्र+ऊढः = प्र् 'औ' ढः = 'प्रौढः'। [बढ़ा हुआ वा अधेड़]

प्र+ऊढिः = प्र् 'औ' ढिः = 'प्रौढिः'। [प्रौढ़ता व ढिठाई]

प्र+एषः = प्र् 'ऐ' षः = 'प्रैषः'। [प्रेरणा, घञन्तोऽत्र इष-धातुः]

प्र+एष्यः = प्र् 'ऐ' ष्यः = 'प्रैष्यः'। [प्रेरणीय, सेवक, ण्यदन्तोऽत्र इष-धातुः]

प्रैष, प्रैष्य यहां एङि पररूपम् (३८) से पररूपम् प्राप्त था शेष स्थानों पर आद् गुणः (२७) सूत्र से गुण प्राप्त था। यह वार्त्तिक इन दोनों का अपवाद है।

[लघु०] वा०—(६) **ऋते च तृतीया-समासे ॥**

सुखेन ऋतः—सुखार्तः। तृतीयेति किम्? परमर्तः॥

अर्थ—तृतीया-समास में अवर्ण से ऋत शब्द का आदि ऋवर्ण परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। (आद् गुणः सूत्र से)। ऋते ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (एकः पूर्व-परयोः यह अधिकृत है)। वृद्धिः ।१।१। (वृद्धिरेचि से)। तृतीया-समासे ।७।१। अर्थः—(तृतीया समासे) तृतीया-तत्पुरुष-समास में (आत्) अवर्ण से (ऋते) 'ऋत' शब्द परे होने पर (च) भी (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

'सुखेन ऋतः' यह लौकिक-विग्रह है। अलौकिक-विग्रह अर्थात् 'सुख टा ऋत सुँ' में सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) सूत्र द्वारा टा और सुँ का लुक् हो जाने पर 'सुख+ऋत' ऐसा बनता है। अब इस वार्त्तिक से पूर्व—अवर्ण और पर—ऋवर्ण के स्थान पर वृद्धि करनी है। 'अ+ऋ' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' है। कण्ठ+मूर्धा स्थान वाला वृद्धि-सञ्ज्ञकों में कोई नहीं, सब का 'कण्ठ' स्थान ही तुल्य है। अब यदि 'आ' यह वृद्धि एकादेश करें तो उरण्रपरः (२९) सूत्र से रपर होकर 'आर्' हो जाने से 'कण्ठ+मूर्धा' स्थान तुल्य हो जायेगा। तो ऐसा करने से—सुख् 'आर्' त = 'सुखार्त' प्रयोग हो कर विभक्ति लाने से 'सुखार्तः' सिद्ध हो जाता है। इस का अर्थ—सुख से प्राप्त हुआ अर्थात् सुखी है।

अब यहां यह विचार उपस्थित होता है कि अवर्ण से 'ऋत' परे होने पर वृद्धि का विधान समास में तो करना ही चाहिये, क्योंकि 'सुखेन+ऋतः' यहां लौकिक-विग्रह में वृद्धि न हो कर गुण एकादेश होने से 'सुखेनर्तः' प्रयोग बन सके। परन्तु 'तृतीया का ही समास हो अन्य विभक्तियों का न हो' इस कथन का क्या प्रयोजन है? क्यों समास मात्र में ही वृद्धि का विधान न कर दिया जाये? इस का उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि यदि 'तृतीया' न कहेंगे, समास-मात्र में ही वृद्धि विधान करेंगे तो 'परमश्चासौ ऋतः = परम+ऋतः' यहां गुण न हो कर वृद्धि हो जायेगी, क्योंकि समास

तो यहां भी है। अब यहां कर्मधारय-समास में गुण हो कर 'परमर्तः' यह इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'परमर्तः' का अर्थ 'मुक्त' है।

[लघु०] वा०—(७) **प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानाम् ऋणे ॥**

प्रार्णम्। वत्सतरार्णम् इत्यादि ॥

अर्थः—प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण तथा दश इन छः शब्दों के अन्त्य अवर्ण से परे 'ऋण' शब्द का आदि ऋवर्ण होने पर पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानाम् ।६।३। (यहां पञ्चमी-विभक्ति के स्थान पर षष्ठी-विभक्ति समझनी चाहिये)। ऋणे ।७।१। पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्वपरयोः** अधिकृत है)। वृद्धिः ।१।१। (**वृद्धिरेचि** से)। अर्थः—(प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानाम्) प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण तथा दश इन शब्दों से (ऋणे) ऋण शब्द परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) प्र+ऋण=प्र् 'आर्' ण='प्रार्णम्' [अधिक व उत्तम ऋण]।
(२) वत्सतर+ऋण=वत्सतर् 'आर्' ण='वत्सतरार्णम्' [बछड़े के लिये ऋण]।
(३) कम्बल+ऋण=कम्बल् 'आर्' ण='कम्बलार्णम्' [कम्बल का ऋण]।
(४) वसन+ऋण=वसन् 'आर्' ण='वसनार्णम्' [कपडे का ऋण]।
(५) ऋण+ऋण=ऋण् 'आर्' ण='ऋणार्णम्' [ऋण चुकाने के लिये ऋण]।
(६) दश+ऋण=दश् 'आर्' ण='दशार्णः' [दश प्रकार के जल वाला देश-विशेष]।

ध्यान रहे कि अन्तिम उदाहरण में बहुव्रीहि-समास है। इस में 'दशन्' के नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र से लोप हो जाता है। यह वार्तिक भी गुण एकादेश का अपवाद है।

अभ्यास (७)

(१) निम्नस्थ रूपों में उत्सर्गनिर्देशपूर्वक ससूत्र सन्धि करें—
१. विश्वौहः। २. प्रौहः। ३. भारौहः। ४. अवैति। ५. अभ्युपैति। ६. ऋणार्णम्। ७. उपैता (तृच्)। ८. अवैधते। ९. प्रौढिः। १०. अक्षौहिणी। ११. प्रैति। १२. समैधते। १३. दशार्णः। १४. प्रैष्यः। १५. प्रैषे। १६. दुःखार्तः।
(२) **एत्येधत्यूठ्सु** सूत्र में 'एजादि' ग्रहण क्यों किया जाता है?
(३) **ऋते च तृतीया-समासे** में तृतीया-ग्रहण का क्या प्रयोजन है?
(४) 'अक्षौहिणी' सेना का परिमाण बताओ।
(५) एति और एधति में 'ति' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?
(६) 'उपसङ्ख्यान' शब्द का क्या अर्थ होता है?
(७) **एत्येधत्यूठ्सु, प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु, अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्** ये सूत्र या वार्त्तिक किस २ के अपवाद हैं? सोदाहरण समझाइये।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३५) **उपसर्गाः क्रिया-योगे ।१।४।५८॥**

प्रादयः क्रिया-योगे उपसर्ग-सञ्ज्ञाः स्युः । १ प्र । २ परा । ३ अप । ४ सम् । ५ अनु । ६ अव । ७ निस्[1] । ८ निर् । ९ दुस् । १० दुर् । ११ वि । १२ आङ् । १३ नि । १४ अधि । १५ अपि । १६ अति । १७. सु । १८ उद् । १९ अभि । २० प्रति । २१ परि । २२ उप—एते प्रादयः ॥

अर्थः—क्रिया योग में प्रादि 'उपसर्ग' सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—प्रादयः ।१।३। (इसी सूत्र का अंश, जिसे योग-विभाग करके भाष्यकार ने अलग किया है) । उपसर्गाः ।१।३। क्रिया-योगे ।७।१। समासः—'प्र'शब्द आदिर्येषान्ते प्रादयः । तद् गुण-संविज्ञान-बहुव्रीहि समासः [इस समास का विवेचन (१३३) सूत्र पर देखें] । क्रियया योगः = क्रिया-योगः, तस्मिन् क्रिया-योगे । तृतीया-तत्पुरुष-समासः । अर्थः—(क्रिया योगे) क्रिया के साथ अन्वित होने पर (प्रादयः) 'प्र' आदि २२ शब्द (उपसर्गाः) उपसर्ग-सञ्ज्ञक होते हैं। यह सूत्र **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१ ४ ५६) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः इन की निपात-सञ्ज्ञा भी साथ ही समझ लेनी चाहिये । निपात सञ्ज्ञा का प्रयोजन 'अव्यय' बनाना है [देखें—**स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७)] । प्रादि कौन २ से हैं ? इस का ज्ञान **गण-पाठ** से होता है । मूल में प्रादि-गण दे दिया गया है । **गण-पाठ** महामुनि पाणिनि ने रचा है । प्रादि-गण पर विशेष विचार आगे यत्र तत्र बहुत किया जायेगा ।

नोट—प्रादि गण में 'उद' के स्थान पर 'उत्' पाठ प्रायः सब लघुकौमुदियों तथा सिद्धान्तकौमुदियों में देखा जाता है पर वह अशुद्ध है, क्योंकि **उदश्चरः सकर्मकात्** (७३९), **उदि कूले रुजि-वहोः** (३ २ ३१), **उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** (७०) इत्यादि पाणिनि-सूत्रों में इस के दकारान्त होने का ही निश्चय होता है ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३६) **भूवादयो धातवः ।१।३।१॥**

क्रिया-वाचिनो भ्वादयो धातु-संज्ञाः स्युः ॥

अर्थः—क्रिया के वाचक 'भू' आदि धातु-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—भूवादयः ।१।३। धातवः ।१।३। समासः—भूश्च वाश्च भूवौ, इतरेतरद्वन्द्वः । **वा गति-गन्धनयोः** इत्यादादिको धातुः । आदिश्च आदिश्च=आदी । भूवौ आदी येषां ते भूवादयः, बहुव्रीहि-समासः । प्रथम आदि-शब्द प्रभृति वचन, द्वितीय

1 कई लोग यहां शङ्का किया करते हैं कि निस् और निर् में तथा दुस् और दुर् में किसी एक का ही पाठ उपसर्गों में करना चाहिये दोनों का नहीं, क्योंकि सान्त भी सर्वत्र **ससजुषो रुः** (८ २ ६६) से रेफान्त ही हो जाया करते हैं । इस का समाधान यह है कि निस्, दुस् में जो सकार को रु होता है, उसके असिद्ध होने से प्राप्त कार्य नहीं हो पाते, जैसे—'निरयते दुरयते' में **उपसर्गस्यायतौ** (८ २ १९) से लत्व नहीं होता, क्योंकि उस की दृष्टि में 'र्' असिद्ध है । 'निर्, दुर्' में लत्व हो जाता है—'निलयते, दुलयते' । इस लिये इन्हें भिन्न २ पढ़ा गया है ।

आदि-शब्दः प्रकार-वचनः । भू-प्रभृतयो वा-सदृशा इत्यर्थः । वा—धातुना सादृश्यं क्रिया-वाचकत्वेनैव बोध्यम् । अर्थः—(भू-वादयः) क्रिया-वाची भ्वादि (धातवः) धातु-सञ्ज्ञक हों । क्रिया काम को कहते हैं । खाना, पीना, उठना, बैठना, करना आदि क्रियाएं हैं । क्रिया अर्थ वाले भ्वादि [यहां केवल भ्वादि-गण ही नहीं समझना चाहिये, अपितु समग्र धातु-पाठ का ग्रहण करना चाहिये] धातु-सञ्ज्ञक होते हैं । यहां यदि क्रिया-वाची नहीं कहते तो 'याः पश्यति' (जिन स्त्रियों को देखता है) यहां 'या+शस्' में **आतो धातोः** (१६७) से आकार का अनिष्ट लोप प्राप्त होता है, क्योंकि भ्वादियों में 'या' का पाठ देखा जाता है। अब क्रिया-वाची कहने से यह दोष नहीं आता; क्योंकि यहां 'या' का अर्थ क्रिया नहीं अपितु 'जो' है । यह टावन्त सर्वनाम है ।

अब अग्रिम-सूत्र में उपसर्ग और धातु-सञ्ज्ञा का फल बतलाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३७) उपसर्गाद् ऋति धातौ ।६।१।८८॥

अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्रार्च्छति ॥

अर्थः—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो ।

व्याख्या—आत् ।५।१।(आद् गुणः से । 'उपसर्गात्' का विशेषण होने से तदन्त-विधि हो जाती है) । उपसर्गात् ।५।१। ऋति ।७।१। ('धातौ' का विशेषण होने के कारण **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** द्वारा इस में तदादि-विधि हो जाती है) । धातौ ।७।१। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अधिकृत है)। वृद्धिः ।१।१। (**वृद्धिरेचि** से) । अर्थः (आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से (ऋति=ऋकारादौ) ऋकारादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

प्रार्च्छति (जाता है) । 'प्र+ऋच्छति' यहां 'ऋच्छ्' (भ्वा० वा तुदा०) यह गमनक्रिया-वाची होने से **भूवादयो धातवः** (३६) के अनुसार धातु-सञ्ज्ञक है; इस के साथ योग होने के कारण **उपसर्गाः क्रिया-योगे** (३५) सूत्र द्वारा 'प्र' की उपसर्ग-संज्ञा हो जाती है । तो अब 'प्र' इस अवर्णान्त उपसर्ग से 'ऋच्छ्' यह ऋकारादि धातु परे वर्त्तमान है, अतः **उरण्रपरः** (२९) की सहायता से **उपसर्गादृति धातौ** (३७) द्वारा पूर्व=अ और पर=ऋ के स्थान पर 'आर्' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—प्र् 'आर्' च्छति='प्रार्च्छति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यह सूत्र भी **आद् गुणः** (२७) द्वारा प्राप्त गुण एकादेश का अपवाद समझना चाहिये ।

अभ्यास (८)

(१) प्रादि-गण में कितने अजन्त और कितने हलन्त शब्द हैं ?

(२) प्रादि-गण में 'उत्' अथवा 'उद्' कौन सा पाठ युक्त है; सप्रमाण लिखें ?

(३) 'निस्-निर्' 'दुस्-दुर्' ये दो २ क्यों पढ़े गये हैं ?

(४) भूवादयो धातव सूत्र में वकार का आगमन कैसे और क्यों हो जाता है ?
(५) अधोलिखित रूपों में सोपपत्तिक सूत्र-निर्देश करते हुए सन्धि करें—
१ प्र+ऋञ्जते। २ कन्या+ऋञ्जते। ३ परा+ऋद्ध्नोति। ४ बाला+ऋद्ध्नोति। ५ प्र+ऋणोति। ६ न+ऋणोति। ७ उप+ऋच्छन्। ८ पिता+ऋच्छति।[1]

—— ० ——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८) एङि पररूपम् ।६।१।६१॥

आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेश स्यात्। प्रेजते। उपोषति॥

अर्थ —अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पररूप एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१।(आद् गुण से। 'उपसर्गात्' का विशेषण होने से तदन्त-विधि हो जाती है)। उपसर्गात् ।५।१। धातौ ।७।१।(उपसर्गादृति धातौ से)। एङि ।७।१। ('धातौ' का विशेषण होने से यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे द्वारा तदादि विधि हो जाती है)। पूर्व-परयो ।६।२। एकम् ।१।१। (एक पूर्व-परयो यह अधिकृत है। 'एक' के स्थान पर 'एकम्', 'पररूपम्' का विशेषण होने से किया गया है। अथवा 'आदेश' होने से 'एक' ही रहता है)। पर-रूपम् ।१।१। अर्थ —(आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से (एङि=एङादौ) एङादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्व-परयो) पूर्व+पर के स्थान पर (एकम्) एक (पररूपम्) पररूप आदेश हो जाता है। 'पररूप' से तात्पर्य 'पर' से है, 'रूप' ग्रहण स्पष्ट प्रतिपत्ति (बोध) के लिये है। उदाहरण यथा—

प्रेजते (अत्यन्त चमकता है)। 'प्र+एजते' (एजृ दीप्तौ धातु के लट् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है[2]) यहां 'प्र' यह अवर्णान्त उपसर्ग और 'एजते' यह एङादि धातु है। अत पूर्व (अ) और पर (ए) के स्थान पर एक पररूप 'ए' आदेश करने से—प्र् 'ए' जते= 'प्रेजते' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उपोषति (जलाता है)। 'उप+ओषति' (उष दाहे धातु के लट् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है) यहां 'उप' यह अवर्णान्त उपसर्ग और 'ओषति' यह एङादि धातु है। अत पूर्व (अ) और पर (ओ) के स्थान पर एक पररूप 'ओ' आदेश करने से—उप् 'ओ' षति='उपोषति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र वृद्धिरेचि (३३) सूत्र का अपवाद है। ध्यान रहे कि एति और एधति के विषय में इस का भी अपवाद एत्येधत्यूठ्सु (३४) सूत्र है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३९) अचोऽन्त्यादि टि ।१।१।६४॥

अचां मध्ये योऽन्त्य स आदिर्यस्य तट्टिसञ्ज्ञं स्यात्॥

अर्थ —अचों में जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिस के, उस शब्द-समुदाय की टि-सञ्ज्ञा होती है।

---

१. यहां सावधानी से सन्धि करनी चाहिये, गुण के उदाहरण भी मिश्रित हैं।
२ एजृ कम्पने परस्मैपदी है अत उस का यहां प्रयोग नहीं।

व्याख्या—अचः ।६।१। [यहां **यतश्च निर्धारणम्** (२.३.४१) सूत्र द्वारा निर्धारण में षष्ठी-विभक्ति होती है । यथा—'नृणां ब्राह्मणः श्रेष्ठः' । किञ्च यहां जाति में एकवचन हुआ समझना चाहिये] । अन्त्यादि ।१।१। टि ।१।१। समासः—अन्ते भवोऽन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य शब्द-स्वरूपस्य तत् अन्त्यादि, बहुव्रीहि-समासः । **अर्थः**—(अचः) अचों के मध्य में (अन्त्यादि) जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिस के ऐसा शब्द-स्वरूप (टि) 'टि' सञ्ज्ञक होता है । यथा—'मनस्' यहां अचों में अन्त्य अच् नकारोत्तर अकार है, वह जिस के आदि में है ऐसा शब्द-स्वरूप 'अस्' है; अतः इस की इस सूत्र से 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है । एवम्—'पतत्' यहां 'अत्' की, 'आताम्' यहां 'आम्' की, 'त्वम्' यहां 'अम्' की तथा 'अग्निचित्' यहां 'इत्' की 'टि' सञ्ज्ञा समझनी चाहिये । जहां अन्त्य अच् से परे अन्य कोई वर्ण नहीं होता; वहां केवल उस अन्त्य अच् की ही 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है । यथा—'कुल' यहां अचों में अन्त्य अच् लकारोत्तर अकार है, यह किसी के आदि में नहीं, **यथा देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः** इस न्यायानुसार अपने ही आदि और अपने ही अन्त में वर्त्तमान है अतः यहां केवल 'अ' की ही 'टि' सञ्ज्ञा होती है [इस विषय का स्पष्टीकरण **आद्यन्तवदेकस्मिन्** (२७८) सूत्र की व्याख्या समझने के बाद ही हो सकता है] । अब अग्रिम वार्त्तिक में 'टि' सञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] वा० — (८) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् ॥

तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । कुलटा । मनीषा । आकृतिगणोऽयम् । मार्तण्डः ॥

अर्थः—शकन्धु आदि शब्दों में (उन की सिद्धि के अनुरूप) पररूप कहना चाहिये । (तत्) वह पररूप (टेः) टि (च) और अच् के स्थान पर समझना चाहिये ।

व्याख्या—शकन्ध्वादिषु ।७।३। पररूपम् ।१।१। वाच्यम् ।१।१। **अर्थः**—(शकन्ध्वादिषु) शकन्धु आदि शब्दों में (पररूपम्) पररूप (वाच्यम्) कहना चाहिये। शकन्धु आदि बने बनाए अर्थात् पर-रूप कार्य किये हुए शब्द एक गण में मुनिवर कात्यायन ने पढ़े हैं । इस गण का प्रथम शब्द 'शकन्धु' होने से इस गण का नाम शकन्ध्वादिगण है[1] । अब इस वार्तिक द्वारा कात्यायन जी कहते हैं कि इन में पर-रूप कर लेना चाहिये; इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस के स्थान पर पर-रूप करें ? इस का उत्तर सुतरां यह मिल जाता है कि योग के अनुसार इन को विभक्त कर उन उन के स्थान पर पर-रूप किया जाये, जिन के स्थान पर पर-रूप करने से गणपठित शब्द सिद्ध हो जाते हैं । जिस प्रकरण में यह वार्तिक पढ़ा गया है उस प्रकरण में 'आत्' और 'अचि' पदों की अनुवृत्ति आ रही है; तथा वह **एकः पूर्व-परयोः** (६.१.८१)

---

१. इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये; यथा—प्रादि-गण, सर्वादि-गण आदि । गणों के पाठ से लाघव होता है; अन्यथा सभी शब्दों को सूत्रों में पढ़ना पड़ेगा । कात्यायनीयगणपाठ भी अद्यत्वे पाणिनीयगणपाठ में मिश्रित मिलता है ।

के अधिकार के अन्तर्गत है। अत प्रकरण-वशात् तो यही प्राप्त होता है कि—'पूर्व अवर्ण और पर अच् के स्थान पर एक पर-रूप आदेश हो'। अब यदि प्रकरणानुसार इन के स्थान पर पररूप एकादेश करते हैं तो और तो सब गण-पठित शब्द सिद्ध हो जाते हैं, केवल 'मनीषा' और 'पतञ्जलि' शब्द सिद्ध नही होते, क्योकि यहा 'मनस्+ईषा' और 'पतत्+अञ्जलि' इस प्रकार छेद होने मे अवर्ण नही मिलता। अब यदि प्रकरणागत 'अवर्ण' की बजाय 'टि' कर दें [टि और अच् के स्थान पर पररूप एकादेश हो] तो सब शब्द जैसे गण मे पढे गये हैं वैसे के वैस सिद्ध हो जाते हैं, कोई दोष नही आता। अत इन शकन्ध्वादियो मे पूर्व=टि और पर=अच् के स्थान पर पररूप एकादेश करना ही युक्त है। ग्रन्थकार ने अपने मन म यह सब विचार कर इसी लिये **तच्च टे.** कहा है। शकन्ध्वादि गण-पठित शब्द यथा—

(१) शकन्धु (शकानाम्=देशविशेषाणाम् अन्धु=कूप शकन्धु। गवेषणीयोऽस्य प्रयोग)। 'शक+अन्धु' यहा ककारोत्तर अकार की अचोऽन्त्यादि टि (३९) सूत्र मे 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है। इस टि और 'अन्धु' शब्द के आदि अकार के स्थान पर एक पररूप 'अ' हो कर विभक्ति लाने स—शक् 'अ' न्धु—'शकन्धु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(२) कर्कन्धु (कर्काणाम्=राजविशेषाणाम् अन्धु=कूप, कर्कन्धु[1])। अन्वेषणीयोऽस्य प्रयोग)। 'कर्क+अन्धु' यहा भी पूर्ववत् ककारोत्तर अकार=टि और 'अन्धु' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—कर्क् 'अ' न्धु='कर्कन्धु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(३) कुलटा (व्यभिचारिणी स्त्री)। 'कुल+अटा' यहा लकारोत्तर अकार=टि और 'अटा' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—कुल् 'अ' टा='कुलटा'[2] प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१ बेर के वृक्ष का नाम 'कर्कन्धू' है। यह कर्कोपपद **डुधाञ् धारणपोषणयो** (जुहो०) धातु से औणादिक 'कू' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इस का निपातन **अन्दू-दृम्भू-जम्बू-कफेलू-कर्कन्धू-दिधिषू.** (९३) इस उणादि सूत्र मे किया गया है, कर्कम्=कण्टक दधातीति कर्कन्धू। यह शब्द पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनो प्रकार का होता है। 'कर्कन्धु' ऐसा ह्रस्वोवर्णान्त शब्द भी कही २ बेरवाची मिलता है। वहा **उणादयो बहुलम्** (८४८) सूत्र मे 'बहुल' ग्रहण के सामर्थ्य से 'कू' प्रत्यय की बजाय 'कु' प्रत्यय समझना चाहिये। बेर-वाची इस 'कर्कन्धु' शब्द का शकन्ध्वादियो मे पाठ करना व्यर्थ है, क्योकि वहा 'डुधाञ्' धातु है 'अन्धु' शब्द नही। अत. वहा पररूप करने की कोई आवश्यकता ही नही। इस मे **क्षीरस्वामी** तथा **हेमचन्द्राचार्य** आदि का बेरवाचक कर्कन्धुशब्द मे पररूप दर्शाना चिन्त्य ही है।

२ अट गतौ (भ्वा०) इत्यस्माद् **नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यच** (७८६) इति कर्त्तर्यचि **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) इति टापि अटेति सिध्यति। अटतीत्यटा।

(४) मनीषा (बुद्धि)। 'मनस्+ईषा' यहां अचोऽन्त्यादि टि (३९) से 'अस्' की 'टि' संज्ञा है। इस टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पररूप आदेश करने से—मन् 'ई' षा='मनीषा'[1] प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

ग्रन्थकार ने यहां सम्पूर्ण शकन्ध्वादि-गण नहीं लिखा। निम्न-लिखित शब्द भी इसी गण में आते हैं—

(५) हलीषा (हलस्य ईषा=दण्डः, हलीषा। हल का दण्ड)। 'हल+ईषा' यहां लकारोत्तर अकार=टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पर-रूप आदेश करने से—हल् 'ई' षा='हलीषा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'मनीषा' की देखादेखी 'हलीषा' का 'हलस्+ईषा' छेद करना भूल है।

(६) लाङ्गलीषा (लाङ्गलस्य=हलस्य ईषा=दण्डः=लाङ्गलीषा, हल का दण्ड)। 'लाङ्गल+ईषा' यहां लकारोत्तर अवर्ण=टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पररूप आदेश हो कर—लाङ्गल् 'ई' षा='लाङ्गलीषा' प्रयोग सिद्ध होता है।

(७) पतञ्जलिः (व्याकरणमहाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि)। 'पतत्+अञ्जलि' यहां 'अत्' की 'टि' सञ्ज्ञा है। इस टि और 'अञ्जलि' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश हो कर—पत् 'अ' ञ्जलि='पतञ्जलिः'[2] प्रयोग सिद्ध होता है।

(८) सारङ्गः (चातक वा हरिण)। 'सार+अङ्ग' यहां रेफोत्तर अवर्ण=टि और 'अङ्ग' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से —सार् 'अ' ङ्ग='सारङ्गः' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि चातक और हरिण अर्थ में ही इस का शकन्ध्वादियों में पाठ है, अन्य अर्थ में शकन्ध्वादियों में पाठ न होने से **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ हो कर 'साराङ्गः' बन जाता है। अत एव गणपाठ में **सारङ्गः पशु-पक्षिणोः** ऐसा उल्लेख किया गया है।

(९) सीमन्तः (सीम्नोऽन्तः=सीमन्तः)। 'सीम+अन्त'[3] यहां मकारोत्तर अवर्ण=टि और 'अन्त' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह पररूप एकादेश

कुलानामटा=कुलटा। कुलान्यटतीति विग्रहे तु कर्मण्यणि **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) इति ङीपि कुलाटीति स्यात्।

१. **ईष गतौ** (भ्वा०) इत्यस्माद् भावे **गुरोश्च हलः** (८६८) इति अ-प्रत्ययः। स्त्रियामित्यधिकारात् ततष्टाप्, मनस ईषा=गतिः, मनीषा। बुद्धिर्मनीषेत्युच्यते।

२. पतन् अञ्जलिर्यस्मिन् नमस्कार्यत्वाद् असौ पतञ्जलिः, बहुव्रीहि-समासः। तपस्यन्त्या गोपीनाम्न्याः स्त्रिया अञ्जलेः सर्परूपेण पतितोऽयं पतञ्जलिरिति पौराणिक-संवादे तु 'अञ्जलेः पतन्' इति विग्रहः; तत्र च मयूर-व्यंसकादित्वात् समासः।

३. यहां समास में विभक्ति-लोप होने से पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो जाता है।

करने से—सीम् अ' न्त='सीमन्त' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। केशों की सीमा के अन्त अर्थात् मांग को 'सीमन्त' कहते हैं। स्त्रियां जब कङ्घी द्वारा बाल संवारती हैं तो बालों के मध्य जो रेखा सी हो जाती है उसे सीमन्त या मांग कहते हैं। **सीमन्त: केशवेशे** (गणपाठ)—'मांग' से भिन्न अर्थ में इस का शकन्ध्वादि-गण में पाठ न होने के कारण **अक: सवर्णे दीर्घ:** (४२) से सवर्ण दीर्घ हो कर 'सीमान्त' (भूमि आदि की सीमा का अन्त) प्रयोग बनेगा।

आकृति-गणोऽयम्। आकृत्या=स्वरूपेण=कार्य-दर्शनेन गण्यते=परिचीयते इति आकृति-गण:। अर्थ:—(अयम्) यह शकन्धु आदि शब्दों का समूह (आकृति-गण) आकृति से गिना जाता है। इस का भाव यह है कि शकन्ध्वादि जितने शब्द गण में पढ़े गये हैं, ये इतने ही हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु जिस २ शब्द में पर-रूप-कार्य हुआ दीखे पर कोई विधायक वचन न हो उसे शकन्ध्वादि-गण में गिन लेना चाहिये[1]। यथा—'मार्तण्ड' शब्द लोक में प्रसिद्ध है, इस में पररूप हुआ मिलता है, अत: इसे भी शकन्ध्वादिगण के अन्तर्गत समझना चाहिये। इस की साधन-प्रक्रिया यथा—'मृतञ्चाऽदोऽण्डम्' इस कर्मधारय-समास में विभक्तियों का लुक् हो कर 'मृत+अण्ड' हो जाता है। अब तकारोत्तर अवर्ण तथा 'अण्ड' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह पररूप एकादेश करने से मृत् 'अ' ण्ड='मृतण्ड' बन जाता है। मृतण्डे भव:= मार्तण्ड:[2] यहां **तत्र भवः** (१०८६) से अण्, **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) से आदि-वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से अकार का लोप हो जाता है। केचित्तु—मृतोऽण्डो यस्य स=मृतण्ड:, मृतण्डस्य अपत्यम्=मार्तण्ड:, **तस्यापत्यम्** (१००१) इत्यण् इत्येवं विगृह्णन्ति।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०) **ओमाङोश्च** ।६।१।९२॥

ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेश: स्यात्। शिवायोन्नम:। 'शिव+एहि' इति स्थिते—

अर्थ:—अवर्ण से ओम् अथवा आङ् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक पररूप आदेश हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। (आद् गुण: से)। ओमाङो: ।७।२। च इत्यव्ययपदम्। पूर्व-परयो: ।६।२। एक: ।१।१। (**एक: पूर्व-परयो:** यह अधिकृत है)। पर-रूपम् ।१।१। (**एङि पररूपम्** से)। समास:—ओम् च आङ् च=ओमाङौ, तयो:=ओमाङो:, इतरेतरद्वन्द्व:। अर्थ:—(आत्) अवर्ण से (ओमाङो:) ओम् अथवा आङ् परे होने पर (पूर्व-परयो:) पूर्व+पर के स्थान पर (पररूपम्) पररूप (एक:) एकादेश हो जाता

---

१. इस गण के आकृति-गण होने में **प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्** (१ ३ ४२) [सम+अर्थाभ्याम्], **व्यवहृपणोः समर्थयोः** (२ ३ ५७) [सम+अर्थयो:] इत्यादि पाणिनि के निर्देश प्रमाण हैं।

२. मार्त्तण्ड=मरे हुए अण्डे में होने वाला=सूर्य, इस की कथा मार्कण्डेय-पुराण के १०५वें अध्याय में देखें।

है। 'ओम्' यह अव्यय तथा 'आङ्' यह उपसर्ग है। 'आङ्' के ङकार की प्रयोग-दशा में हलन्त्यम् (१) सूत्र से 'इत्' सञ्ज्ञा हो जाती है; अतः **तस्य लोपः** (३) से लोप होने के कारण 'आ' शेष रह जाता है। उदाहरण यथा—

शिवायोन्नमः [ओं नमः शिवाय=शिव जी के प्रति नमस्कार हो]। 'शिवाय+ओन्नमः' ['ओम्+नमः' यहां **मोऽनुस्वारः** (७७) से मकार को अनुस्वार हो कर **वा पदान्तस्य** (८०) से उसे वैकल्पिक परसवर्ण नकार हो जाता है] यहां यकारोत्तर अवर्ण से 'ओम्' परे है, अतः पूर्व=अवर्ण और पर=ओकार के स्थान पर 'ओ' यह एक पररूप आदेश हो कर शिवाय् 'ओ' न्नमः='शिवायोन्नमः' प्रयोग सिद्ध होता है।

शिवेहि (शिव जी आओ)। 'शिव ! आ+इहि' यहां **आद् गुणः** (२७) सूत्र से 'आ+इ' के स्थान पर 'ए' यह गुण एकादेश हो कर—'शिव एहि' रूप बना। अब यहां 'आङ्' न होने से **ओमाङोश्च** (४०) सूत्र प्राप्त नहीं होता; इस पर 'ए' में आङ्त्व लाने के लिये अग्रिम अतिदेश-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(४१) अन्तादिवच्च ।६।१।८२।।

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत् स्यात् । शिवेहि ।।

अर्थः—(पूर्व और पर के स्थान पर) जो यह एकादेश किया जाता है वह पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान होता है।

व्याख्या—एकः ।१।१। पूर्व-परयोः ।६।२। (**एकः पूर्व-परयोः** से)। अन्तादिवत् इत्यव्ययपदम्। च इत्यव्ययपदम्। समासः—अन्तश्च आदिश्च=अन्तादी, इतरेतर-द्वन्द्वः। अन्तादिभ्यां तुल्यम्=अन्तादिवत्, **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११४८) इति वति-प्रत्ययः। अर्थः—(एकः) यह एकादेश (पूर्व-परयोः) पूर्व और पर के (अन्तादिवत्) अन्त और आदि के समान होता है। तात्पर्य यह है कि **एकः पूर्व-परयोः** (६.१.८२) सूत्र से जिस एकादेश का अधिकार किया गया है वह एकादेश पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान होता है। इस सम्पूर्ण एकादेश के अधिकार में पूर्व और पर वर्ण ही स्थानी है; इन वर्णों के एकादेश के अखण्ड होने से इन में अन्त और आदि नहीं बन सकते। अतः यहां पूर्व से पूर्व-वर्ण-घटित (पूर्व वर्ण वाला) शब्द तथा पर से पर-वर्ण-घटित (पर वर्ण वाला) शब्द ग्रहण किया जाता है। यथा—'क्षीरप+इन' यहां **आद् गुणः** (२७) से पकारोत्तर अकार तथा 'इन' शब्द के आदि इकार के स्थान पर 'ए' यह एक गुणादेश हो **एकाजुत्तरपदे णः** (२८६) से णत्व करने पर 'क्षीरपेण' बनता है। यहां एकादेश 'ए' है। यह 'ए' पूर्व-शब्द अर्थात् 'क्षीरप' शब्द के अन्त=अ के समान तथा पर-शब्द अर्थात् 'इन' के आदि=इ के समान होगा। अर्थात् इस 'ए' को अकार मान कर अकाराश्रित कार्य तथा इकार मान कर इकाराश्रित कार्य हो जाएंगे। इस सूत्र के उदाहरण 'काशिका' आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखने चाहियें।

'शिव+एहि' यहां 'ए' यह एकादेश है। यह एकादेश पूर्व शब्द के अन्त के

समान होगा। पूर्व शब्द 'आ' है। इस का अन्त भी 'आ' है। (क्योंकि एक अक्षर में—वही अपना आदि और वही अपना अन्त हुआ करता है। जैसे किसी का एक पुत्र हो तो उस के लिये वही बड़ा और वही छोटा हुआ करता है) अतः यह 'आ' 'आङ्' के सदृश होगा अर्थात् जो २ कार्य 'आङ्' के रहने पर हो सकते हैं, वे इस के रहने पर भी होंगे। 'आङ्' के होने से **ओमाङोश्च** (४०) सूत्र प्रवृत्त होता है, वह अब 'ए' के होने से भी होगा। तो इस प्रकार **ओमाङोश्च** (४०) सूत्र से पूर्व+पर के स्थान पर एक पररूप 'ए' हो कर—शिव् 'ए' हि='शिवेहि' प्रयोग सिद्ध होता है।

शङ्का—**ओमाङोश्च** (४०) सूत्र में यदि 'आङ्' का ग्रहण न भी करें तो भी 'शिवेहि' आदि रूप यथेष्ट सिद्ध हो सकते हैं। तथाहि—'शिव+आ+इहि' यहां प्रथम **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्ण-दीर्घ हो—'शिवा+इहि' बन जायेगा, पुनः **आद् गुणः** (२७) द्वारा गुण एकादेश करने से 'शिवेहि' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। तो **ओमाङोश्च** (४०) सूत्र में 'आङ्' ग्रहण क्यों किया गया है?

समाधान—पाणिनीय-व्याकरण में **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** यह एक परिभाषा है। इस का अभिप्राय यह है कि जहां अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कार्य युगपत्=इकट्ठे उपस्थित हों वहां बहिरङ्ग को असिद्ध समझ कर प्रथम अन्तरङ्ग कार्य कर लेना चाहिये। बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कार्यों का विस्तार-पूर्वक विचार व्याकरण के उच्च-ग्रन्थों में किया गया है वहीं देखें। यहां इतना समझ लेना चाहिये कि **धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्** अर्थात् धातु और उपसर्ग का पारस्परिक कार्य अन्तरङ्ग होता है। 'शिव+आ+इहि' यहां 'आ' यह उपसर्ग तथा 'इहि' यह धातु है। अतः 'आ+इ' के स्थान पर गुण कार्य अन्तरङ्ग होने से प्रथम होगा, सवर्ण-दीर्घ बहिरङ्ग होने से प्रथम न होगा। इस से जब 'शिव+एहि' बन जायेगा तब यदि **ओमाङोश्च** (४०) में 'आङ्' का ग्रहण न करेंगे तो **वृद्धिरेचि** (३३) से वृद्धि एकादेश होकर—'शिवैहि' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जायेगा। अतः इस की निवृत्ति के लिये सूत्र में 'आङ्' का ग्रहण अत्यावश्यक है।

नोट—ध्यान रहे कि **ओमाङोश्च** (४०) सूत्र **वृद्धिरेचि** (३३) तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) दोनों का अपवाद है।

अभ्यास (६)

(१) आकृति-गण किसे कहते हैं? शकन्ध्वादि-गण के आकृति गण होने में क्या प्रमाण है? सविस्तर प्रकाश डालें।

(२) 'न+एजते' में **एङि पररूपम्**, 'अव+एहि' में **एत्येधत्यूठ्सु**, 'लाङ्गल+ईषा' में **आद् गुणः**, 'कुल+अटा' में **अकः सवर्णे दीर्घः** सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होते?

(३) **तच्च टेः** यह किस की उक्ति है? इस का अभिप्राय स्पष्ट करें।

(४) **अन्तादिवच्च** की आवश्यकता बताते हुए सूत्रार्थ पर प्रकाश डालें।

(५) 'कर्कन्धुः' पर क्षीरस्वामी के मत का खण्डन करें।

(६) सारङ्गः-साराङ्गः; सीमन्तः-सीमान्तः; कुलटा-कुलाटी; इन पदयुगलों का सप्रमाण परस्पर भेद निरूपण करें।

(७) अधोलिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर उसे सूत्रों द्वारा प्रमाणित करें—
१. कोमित्यवोचत्। २. प्रेपयति। ३. पतञ्जलिः। ४. कदोढा (कदा+आङ्+ऊढा)। ५. उपेहि। ६. मार्तण्डः। ७. अवेजते। ८. लाङ्गलीषा। ९. प्रोषति। १०. मनीषा। ११. प्रेषणीयम्। १२. कृष्णेहि। १३. अश्मन्तकः (शकन्ध्वादि०)।

(८) निम्न-लिखित वचनों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. यथा देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः। २. असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। ३. धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्।

(९) 'टि' संज्ञा-विधायक सूत्र का सोदाहरण विवेचन करें।

———::०::———

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२) अकः सवर्णे दीर्घः।६।१।९७॥

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। होतॄकारः॥

अर्थः—अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान में दीर्घ एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—अकः।५।१। सवर्णे।७।१। अचि।७।१। (इको यणचि से)। पूर्वपरयोः।६।२। एकः।१।१। (एकः पूर्वपरयोः यह अधिकृत है)। दीर्घः।१।१। अर्थः—(अकः) अक् से (सवर्णे) सवर्ण (अचि) अच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान में (एकः) एक (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है।

अक् प्रत्याहार में 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' ये पांच वर्ण आते हैं; इन से परे यदि इन का कोई सवर्ण अच् हो तो इन दोनों के स्थान पर एक दीर्घ आदेश हो जाता है। यद्यपि दीर्घ अच् बहुत हैं, तथापि स्थानेऽन्तरतमः (१७) से वही दीर्घ किया जाता है जो इन स्थानियों के तुल्य होता है। उदाहरण यथा—

(१) दैत्यारिः (दैत्यों का शत्रु—भगवान् विष्णु)। 'दैत्य+अरि' यहां यकारोत्तरवर्ती अकार अक् है; इस से परे 'अरि' शब्द का आदि अकार सवर्ण अच् है। अतः इन दोनों के स्थान पर स्थानेऽन्तरतमः (१७) द्वारा 'आ' यह दीर्घ एकादेश हो कर विभक्ति लाने से—दैत्य् 'आ' रि='दैत्यारिः' प्रयोग सिद्ध होता है। दैत्यानाम् अरिः=दैत्यारिः।

(२) श्रीशः (लक्ष्मी का स्वामी=भगवान् विष्णु)। 'श्री+ईश' यहां रेफोत्तर ईकार अक् और उस से परे 'ईश' शब्द का आदि ईकार सवर्ण अच् है। इन दोनों के स्थान पर 'ई' यह सवर्ण-दीर्घ एकादेश हो कर विभक्ति लाने से—श्र् 'ई' श='श्रीशः' प्रयोग सिद्ध होता है। श्रियः ईशः=श्रीशः।

(३) विष्णूदय (विष्णो —तन्नामदेवविशेषस्य, सूर्यस्य वा उदय =आविर्भाव उन्नतिर्वा विष्णूदय , विष्णु या सूय का उदय)। विष्णु+उदय यहा णकारोत्तर उकार 'अक्' है, इस से परे 'उदय' शब्द का आदि उकार सवर्ण अच् है अत पूर्व+पर के स्थान पर 'ऊ' यह सवर्ण दीर्घ एकादेश करने स---विष्ण् ऊ' दय='विष्णूदय ' प्रयोग सिद्ध होता है।

(४) होतॄकार ' (होतुर्ऋकार =होतॄकार । होता का ऋकार) । 'होतृ+ऋकार यहा पूर्व+पर के स्थान पर ॠ' यह एक सवर्ण दीर्घ हो कर—होत् ॠ' कार='होतॄकार प्रयोग सिद्ध होता है।

लृकार का उदाहरण अप्रसिद्ध तथा कठिन होने से यहा नही दिया गया, सिद्धान्तकौमुदी म दिया गया है, वही देखें। यह सूत्र अकार के विषय मे आद् गुण (२७) सूत्र का तथा अन्यत्र इको यणचि (१५) सूत्र का अपवाद है।

अभ्यास (१०)

(१) निम्नस्थ प्रयोगों म सन्धिच्छेद कर सूत्रो द्वारा उसे सिद्ध करें—

१ दण्डाग्रम्। २ मधूदके। ३ दधीन्द्र । ४ होतॄश्य । ५ कुमारीहते। ६ पितॄणम्। ७ विद्यानन्द । ८ भूमीश । ९ परमार्थ । १० यथार्थ । ११ विधूदय । १२ विद्यार्थी। १३ महीन । १४ वेदाभ्यास । १५ कमलाकर । १६ कर्तॄणि। १७ भानूदय । १८ पक्तॄजीपम्। १९ तरूर्ध्वम्। २० गिरीश ।

(२) अधो लिखित रूपा म सूत्रार्थसमन्वय करते हुए सन्धि करें—

१ कदा+अगात्। २ महती+इच्छा। ३ हरि+इन्द्र। ४ मधु+उत्तमम्। ५ कर्तृ+ऋद्धि। ६ सनक+आदि। ७ फलानि+इमानि। ८ कारु+उत्तम। ९ प्रति+ईक्षते। १० वधू+उत्सव। ११ कदा+अत्र। १२ सती+ईश। १३ श्रद्धा+अस्ति। १४ मुनि+इन्द्र। १५ अन्त+आदि। १६ यदा+आसीत्। १७ नदी+इदानीम्। १८ तरु+उपेत। १९ भर्तृ+ऋद्धि। २० तुल्य+आस्य।

(३) अक सवर्णे दीर्घ सूत्र किस २ सूत्र का अपवाद है ?

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३) एङ पदान्तादति।६।१।१०५॥

पदान्तादेडोऽति परे पूर्व-रूपम् एकादेश स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव॥

अर्थ—पदान्त एङ् से अत् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो।

व्याख्या—पदान्तात ।५।१। एङ ।५।१। अति ।७।१। पूर्व-परयो ।६।२। एक ।१।१। (एक पूर्व-परयो यह अधिकृत है) । पूर्व ।१।१। (अमि पूर्व से) । अर्थ—

(पदान्तात्) पदान्त (एङः) एङ् से (अति) अत् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्वरूप आदेश हो जाता है।

'एङ्' प्रत्याहार में 'ए, ओ' ये दो वर्ण आते हैं; यदि ये वर्ण पद के अन्त में स्थित हों और इन से परे अत् अर्थात् ह्रस्व अकार हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। यह सूत्र **एचोऽयवायावः** (२२) सूत्र का अपवाद है। उदाहरण यथा—

(१) हरेऽव (हे हरे ! रक्षा करो)। 'हरे+अव' यहां 'हरे' यह सम्बोधन का एकवचनान्त होने से पद है; इस पद के अन्त वाले एकार=एङ् से 'अव' शब्द का आदि अत् परे है; अतः इन दोनों के स्थान पर प्रकृत सूत्र से एक पूर्वरूप 'ए' हो कर—हर् 'ए' व='हरेऽव' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(२) विष्णोऽव (हे विष्णो ! रक्षा करो)। 'विष्णो+अव' यहां भी पूर्ववत् पूर्व=ओकार और पर=अकार के स्थान पर प्रकृत सूत्र से एक पूर्वरूप 'ओ' आदेश हो कर—विष्ण् 'ओ' व='विष्णोऽव' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—'ऽ' यह चिह्न करें या न करें अपनी इच्छा पर निर्भर है। यह केवल इस बात को प्रकट करता है कि यहां पहले अकार था[1]। कई लोग इस चिह्न को अकार समझ कर वैसा उच्चारण करते हैं, यह उन की भूल है; क्योंकि जब एकादेश हो गया तो पुनः अवर्ण कहां से आया ?

सूत्र में पदान्त कहने का अभिप्राय यह है कि 'जे+अ=जयः, ने+अ=नयः, भो+अ=भवः' इत्यादि में अपदान्त एङ् से अत् परे होने पर पूर्वरूप एकादेश न हो।

अभ्यास (११)

(१) निम्न-लिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर उसे सूत्रों द्वारा प्रमाणित करें—
१. अग्नेऽत्र। २. वायोऽत्र। ३. गुरवेऽदात्। ४. रामोऽस्ति। ५. पचतेऽसौ। ६. नमोऽस्तु। ७. संसारेऽधुना। ८. सर्पोऽहम्। ९. तेऽमी। १०. ब्राह्मणोऽब्रवीत्। ११. वटोऽयम्। १२. ब्रह्मणेऽस्तु। १३. वचनोऽनुनासिकः। १४. स्थानेऽन्तरतमः। १५. पण्डितोऽपि।

(२) सूत्रार्थ-समन्वय पूर्वक सन्धि करें—
१. ते+अकर्मकाः। २. पुरुषो+अत्र। ३. वने+अस्मिन्। ४. ततो+अन्यत्र। ५. आधारो+अधिकरणम्। ६. सहयुक्ते+अप्रधाने। ७.

---

१. यह चिह्न अत्यन्त आधुनिक है, तभी तो **भ्यसो भ्यम्** (३२३) सूत्र के महाभाष्य में लिखा है—**किमयं 'भ्यम्'शब्द आहोस्विद् 'अभ्यम्'शब्दः ? कुतः सन्देहः ? समानो निर्देशः।** यहां **समानो निर्देशः** से सिद्ध होता है कि पहले उक्त चिह्न नहीं था; प्रत्युत भट्टोजिदीक्षित के समय में भी नहीं था। अत एव **समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे** (१.३.७५) सूत्र पर दीक्षित ने वृत्ति में ('अग्रन्थे' इतिच्छेदः) ऐसा लिखा है : यदि तब यह चिह्न होता तो 'यमोऽग्रन्थे' होने से छेद लिखना व्यर्थ था।

उपो+अधिके च । ८ अभ्यासो+अत्र । ९ को+अपि । १० अन्यो+असौ । ११ के+अपि । १२ लोके+अत्र । १३ इको+असवर्णे । १४ एचो+अयवायाव । १५ उपदेशे+अज् ।

(३) एङः पदान्तादति में 'पदान्त' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

— ० —

[लघु०] विधि-सूत्रम् (४४) **सर्वत्र विभाषा गोः ।६।१।११८॥**

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते । गोअग्रम् । एङन्तस्य किम् ? चित्रग्वग्रम् । पदान्ते किम् ? गोः ॥

अर्थः—लोक और वेद में एङन्त 'गो' शब्द को पदान्त में विकल्प कर के प्रकृतिभाव हो जाता है ।

व्याख्या—सर्वत्र इत्यव्ययपदम्[1] । पदान्तस्य ।६।१। (एङः पदान्तादति से 'पदान्तात्' पद आ कर विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है । इसे यदि सप्तमी-विभक्ति में परिणत करें तो भी कुछ दोष नहीं होता, जैसा कि ग्रन्थकार ने वृत्ति में किया है) । एङः ।६।१। (एङः पदान्तादति से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा प्राप्त होता है । यह 'गोः' पद का विशेषण है, अतः इस से येन विधिस्तदन्तस्य द्वारा तदन्तविधि हो कर 'एङन्तस्य' बन जाता है) । गोः ।६।१। अति ।७।१। (एङः पदान्तादति से) । विभाषा ।१।१। प्रकृत्या ।३।१। (प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे से) । अवस्थानं भवतीति शेषः । **अर्थः**—(सर्वत्र) चाहे यजुर्वेद हो या अन्य वेद अथवा लोक ही क्यों न हो सब जगह (पदान्तस्य) पदान्त (एङः=एङन्तस्य) जो एङ्—तदन्त (गोः) गो शब्द का (अति) अत् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (प्रकृत्या) स्वभाव से अवस्थान होजाता है । एङन्त गो शब्द से ओदन्त गो शब्द का ग्रहण समझना चाहिये, क्योंकि एदन्त गो शब्द तो कभी हो ही नहीं सकता । प्रकृति का अर्थ है स्वभाव । वर्णों का स्वभाव उन का स्वरूप ही हो सकता है । 'प्रकृति में रहते हैं या प्रकृति-भाव को प्राप्त होते हैं' इस का तात्पर्य प्रयोग का मूल अवस्था में रह जाना अर्थात् कोई विकार न होना ही है । अत एव प्रकृति-भाव-स्थल में संहिताकार्य—सन्धि नहीं होती । उदाहरण यथा—

'गो+अग्र' ('गवाम् अग्रम्' ऐसा यहां षष्ठी-तत्पुरुष-समास है) यहां यद्यपि

---

१ पीछे से 'यजुषि=यजुर्वेद में' की अनुवृत्ति आ रही थी; उस की निवृत्ति के लिये यहां 'सर्वत्र' पद का ग्रहण किया गया है । लौकिक और वैदिक के भेद से संस्कृत-भाषा दो प्रकार की होती है । लौकिक-भाषा लोक अर्थात् काव्यादि लौकिक-ग्रन्थों में या बोलचाल में प्रयुक्त होती है, यहां लौकिक-भाषा के लिये केवल 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है । यथा—**प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) । वैदिक-भाषा वेद में ही प्रयुक्त होती है, उसके लिये यहां कुछ विशेष नियम हैं । परन्तु यह सूत्र 'सर्वत्र' अर्थात् दोनों भाषाओं में समानरूप से प्रवृत्त होता है ।

समास के कारण गो-शब्द से परे 'आम्' सुँप् का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र से लुक् हुआ २ है, तथापि **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** (१६०) सूत्र की सहायता से यहां **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) द्वारा इस की पद-सञ्ज्ञा अक्षुण्ण है; अतः गो शब्द के अन्त में पदान्त एङ् वर्त्तमान है; इस के आगे 'अग्र' शब्द का आदि अत् भी मौजूद है। तो यहां गो-शब्द प्रकृति से अर्थात् अपने स्वरूप में सन्धि-कार्य से रहित वैसे का वैसा विकल्प से रहेगा। जहां प्रकृतिभाव होगा वहां विभक्ति लाने से—'गोअग्रम्' प्रयोग सिद्ध होगा। ध्यान रहे कि यहां प्रथम **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्व-रूप प्राप्त था। पुनः उस का बाध कर **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) से वैकल्पिक अवङ् प्राप्त होता था। यह सूत्र उस का अपवाद समझना चाहिये। जहां प्रकृति-भाव नहीं होगा वहां **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र प्रवृत्त होगा[1]।

यहां 'एङन्त' कहने का यह प्रयोजन है कि ओदन्त गो शब्द को ही प्रकृति भाव हो, उकारान्त गोशब्द को न हो। यद्यपि गोशब्द स्वयम् ओदन्त है उकारान्त नहीं; तथापि समास में **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (६५२) सूत्र से ह्रस्व करने पर उकारान्त हो जाया करता है। उदाहरण यथा—'चित्रगु+अग्र' [चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः, बहुव्रीहि-समासः। चित्रगोरग्रम् इति षष्ठी-तत्पुरुष-समासे सुँब्लुकि रूपमिदम्] यहां गोशब्द के एङन्त न होने से **सर्वत्र विभाषा गोः** (४४) से प्रकृतिभाव नहीं होता; **इको यणचि** (१५) से उकार को वकार हो कर विभक्ति लाने पर 'चित्रग्वग्रम्' प्रयोग बन जाता है[2]।

यहां गोशब्द को पदान्त में प्रकृतिभाव इसलिये कहा गया है कि अपदान्त में प्रकृतिभाव न हो जाये। यथा—'गो+अस्' (यहां गोशब्द से ङसिँ वा ङस् प्रत्यय किया गया है) यहां पदान्त न होने से यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, **ङसि-ङसोश्च** (१७३) सूत्र से पूर्वरूप हो कर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'गोः' प्रयोग बन जाता है। इस की विशेषतया सिद्धि 'अजन्त-पुंल्लिङ्ग-प्रकरण' में 'गो' शब्द पर देखें[3]।

---

१. यहां कई लोग विकल्प-पक्ष में **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्वरूप कर 'गोऽग्रम्' ऐसा मूल में पाठ लिखते हैं; यह उन की भूल है क्योंकि यह सूत्र **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र का अपवाद है, **एङः पदान्तादति** (४३) सूत्र का नहीं; अतः इस के प्रवृत्त हो चुकने पर पक्ष में उसी की प्रवृत्ति करनी योग्य है। हां जब वह प्रवृत्त हो चुकेगा तब वैकल्पिक होने से पक्ष में **एङः पदान्तादति** (४३) सूत्र भी प्रवृत्त हो जायेगा।

२. ध्यान रहे कि यदि किसी अवयवी का एक अवयव विकृत हो जाये तो भी वह वही रहता है अन्य नहीं हो जाता; यथा—यदि किसी कुत्ते की पूंछ कट जाए तो भी वह कुत्ता ही रहता है अन्य नहीं हो जाता। इसी प्रकार यहां यद्यपि गो शब्द का अवयव ओकार विकृत हो कर उकार बन गया है; तथापि वह गो शब्द ही रहता है—**एकदेशविकृतमनन्यवत्** (परिभाषा)।

३. 'हे चित्रगोऽग्रम्' में भी प्रकृतिभाव न होगा, क्योंकि यहां एङ् लाक्षणिक (कृत्रिम)

अब प्रकृतिभाव के अभाव पक्ष मे अवङ् स्फोटायनस्य (४७) सूत्र प्रवृत्त करने के लिये दो परिभाषाए लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(४५) अनेकाल् शित् सर्वस्य ।१।१।५४॥

[अनेकाल् य आदेश शिच्च, स सर्वस्य षष्ठी-निर्दिष्टस्य स्थाने स्यात् ।] इति प्राप्ते—

(यहा पर वृत्ति हम ने जोडी है, ग्रन्थकार ने स्पष्ट होने से नही लिखी)

अर्थ—जिस आदेश म अनेक अल् (वर्ण) हो तथा जिस का शकार इत्सञ्ज्ञक हो वह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है। इस परिभाषा के प्राप्त होने पर [अग्रिम परिभाषा प्रवृत्त हो जाती है]।

व्याख्या—अनेकाल् ।१।१। शित् ।१।१। सर्वस्य ।६।१। समास—न एक = अनक, नञ्तत्पुरुष । अनेकोऽल् यस्य स =अनेकाल् बहुव्रीहि-समास । श् (शकार) इत् यस्य स शित् बहुव्रीहि-समास । अर्थ—(अनेकाल्) अनेक अलो वाला तथा (शित्) शकार इत् वाला आदेश (सर्वस्य) सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है।

'अल' प्रत्याहार म सम्पूर्ण वर्ण आ जाते हैं, अत अल् या वर्ण पर्याय अर्थात् एकार्थ-वाची शब्द हैं। जिस आदेश मे एक से अधिक अल् या वर्ण हो अथवा जिस आदेश के शकार की इत्सञ्ज्ञा होती हो तो वह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) सूत्र कहता है कि आदेश स्थानी के अन्त्य अल् को हो, परन्तु यह सूत्र अनेकाल् तथा शित् आदेशो को सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होना बतलाता है। अत यह सूत्र **अलोऽन्त्यस्य** (२१) सूत्र का अपवाद है।[1]

अनेकाल् आदेश का उदाहरण यथा—रामै । यहा भिस्' स्थानी के सम्पूर्ण स्थान पर **अतो भिस ऐस्** (१४२) से ऐस् आदेश होता है। ऐस् मे दो अल् हैं अत यह अनेकाल् है। यह सूत्र न होता तो **अलोऽन्त्यस्य** (२१) द्वारा भिस् के अन्त्य सकार को फिर उस के बाधक **आदे परस्य** (७२) से आदि को 'ऐस्' हो जाता।

शित् आदेश का उदाहरण **यथा**—इत । यहा 'इदम्' स्थानी के सम्पूर्ण स्थान पर **इदम इश्** (११९७) से इश् आदेश होता है। इश् शित् है। यह सूत्र न होता तो **अलोऽन्त्यस्य** (२१) द्वारा इदम्' के अन्त्य मकार को इश् हो जाता।

शङ्का—जितने 'इश्' आदि शित् आदेश हैं वे सब अनेक अलो वाले हैं, अनेकाल् होने के कारण ही वे सब सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर हो सकते हैं। पुन सूत्र मे 'शित्' के लिये विशेष यत्न क्या किया गया है?

समाधान—इस प्रकार शित् ग्रहण के बिना भी कार्य के सिद्ध हो जाने से महामुनि पाणिनि यह परिभाषा जतलाना चाहते हैं कि **नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्**

है प्रतिपदोक्त (स्वाभाविक) नही—**लक्षणप्रतिपदोक्तयो प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्** (प०)।

1 इसी प्रकार **आदे परस्य** (७२) सूत्र का भी यह अपवाद समझना चाहिये।

अर्थात् अनुबन्धों के कारण किसी को अनेकाल् नहीं मान लेना चाहिये जब तक कि उस के अन्य अल् अनेक न हों। जिस की इत्सञ्ज्ञा होती है उसे अनुबन्ध कहते हैं। 'इश्' आदि में शकार आदि की इत्सञ्ज्ञा होती है अतः शकार आदि अनुबन्ध हैं। अब यदि 'इश्' में अनुबन्ध शकार को छोड़ दें तो केवल 'इ' रह जाता है। तब यह अनेकाल् नहीं रहता; अतः यह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये 'शित्' ग्रहण आवश्यक है।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(४६) **ङिच्च** ।१।१।५२॥

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् ॥

अर्थः—ङित् आदेश चाहे अनेकाल् भी क्यों न हो अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है।

व्याख्या—ङित् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अन्त्यस्य ।६।१।(**अलोऽन्त्यस्य** से)। समासः—ङ् (ङकारः) इत् यस्य स ङित्, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(ङित्) ङकार इत् वाला आदेश (अन्त्यस्य) अन्त्य (अलः) अल् के स्थान पर होता है। यह सूत्र **अनेकाल् शित् सर्वस्य** (४५) सूत्र का अपवाद है। जिस आदेश के ङकार की इत्सञ्ज्ञा होती हो फिर वह चाहे अनेक अलों वाला भी क्यों न हो सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर न होकर अन्त्य अल् के स्थान पर ही होगा। इस सूत्र का उदाहरण अग्रिम सूत्र पर देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७) **अवङ् स्फोटायनस्य** ।६।१।११९॥

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । पदान्ते किम्? गवि ॥

अर्थः—पदान्त में जो एङ्, तदन्त गो-शब्द को अच् परे होने पर विकल्प कर के अवङ् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। (**एङः पदान्तादति** से विभक्ति-विपरिणाम कर के प्राप्त होता है। इस का सप्तमी विभक्ति में भी विपरिणाम हो सकता है जैसा कि ग्रन्थकार ने किया है)। एङः ।६।१। (**एङः पदान्तादति** से विभक्ति-विपरिणाम कर के प्राप्त होता है; यह 'गोः' पद का विशेषण है, अतः इस से तदन्त-विधि हो कर 'एङन्तस्य' बन जाता है)। गोः ।६।१। (**सर्वत्र विभाषा गोः** से)। अचि ।७।१। (**इको यणचि** से)। अवङ् ।१।१। स्फोटायनस्य ।६।१। (यहां 'स्फोटायन' ग्रहण उस के सत्कार के लिये है, क्योंकि 'विभाषा' पद तो पीछे से आ ही जाता है)। अर्थः—(पदान्तस्य) पद के अन्त वाला (एङन्तस्य) जो एङ्, तदन्त (गोः) गो-शब्द के स्थान पर (अचि) अच् परे रहते (अवङ्) अवङ् आदेश हो जाता है (स्फोटायनस्य) स्फोटायन आचार्य के मत में।

'स्फोटायन' पाणिनि से पूर्ववर्त्ती व्याकरण के आचार्य हो चुके हैं; कहते हैं कि ये वैयाकरणों में प्रसिद्ध स्फोटतत्त्व के उपज्ञाता थे। इस सूत्र में पाणिनि ने उन

के मत का उल्लेख किया है। यह 'अवङ्' आदेश स्फोटायन आचार्य के मत में होता है, अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता। हमें सब आचार्य प्रमाण हैं, अतः अवङ् आदेश विकल्प से होगा'। उदाहरण यथा—

'गो+अग्र' यहां समास में षष्ठी के बहुवचन 'आम्' का लुक् हुआ है; अतः **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** (१९०) द्वारा **सुप्तिङन्तं पदम्** (१४) से 'गो' की पद-सञ्ज्ञा है। इस के अन्त में पदान्त एङ्=ओ वर्त्तमान है। इस से परे 'अग्र' शब्द का आदि अकार अच् भी वर्त्तमान है। अतः इस सूत्र से 'गो' को अवङ् आदेश प्राप्त होता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) से इस आदेश की अन्त्य अल्=ओकार के स्थान पर प्राप्ति होती है, परन्तु अनेक अलों वाला होने के कारण **अनेकाल् शित् सर्वस्य** (४५) द्वारा सम्पूर्ण 'गो' के स्थान पर प्राप्त होता है। पुनः **ङिच्च** (४६) सूत्र की सहायता से अन्त्य अल् 'ओ' को अवङ् आदेश हो कर—'ग् अवङ्+अग्र' हो जाता है। अब ङकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञा और **तस्य लोपः** (३) से लोप हो **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्ण दीर्घ एकादेश करने पर—'गवाग्र' बना। अब विभक्ति लाने से—'गवाग्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। जिस पक्ष में अवङ् आदेश नहीं होता वहां **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्वरूप हो कर 'गोऽग्रम्' प्रयोग बन जाता है। इस प्रकार प्रकृतिभाव वाले रूप सहित कुल तीन रूप हो जाते हैं।

प्रकृतिभाव के पक्ष में— (१) गोअग्रम्। [**सर्वत्र विभाषा गोः**]।
प्रकृतिभाव के अभाव में— (२) गवाग्रम्। [**अवङ् स्फोटायनस्य**]।
(३) गोऽग्रम्। [**एङः पदान्तादति**]।

यहां पदान्त ग्रहण इस लिये किया है कि अपदान्त एङन्त 'गो' को अवङ् न हो। यथा—गो+इ=गवि। यहां गो-शब्द से परे सप्तमी का एकवचन 'ङि' प्रत्यय किया गया है, अतः यहां गो शब्द पदान्त नहीं। इस लिये अवङ् आदेश न हो कर **एचोऽयवायावः** (२२) से अव् आदेश हो जाता है। इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ गवेश, गवीश। २ गवेश्वर, गवीश्वर। ३ गोअधिप, गवाधिप, गोऽधिप। ४ गवेच्छा, गविच्छा। ५ गवोदय, गवुदय। ६ गवर्द्धि, गवृद्धि। ७ गवोढ, गवूढ। ८ गवानृतम्। ९ गवाक्ष। १० गवादनी।

ध्यान रहे कि अवङ् आदेश में केवल ङकार की ही इत्सञ्ज्ञा होती है।

---

१ वैयाकरण इस विभाषा अर्थात् विकल्प को क्वचित् व्यवस्थितविभाषा मानते हैं। जो विकल्प व्यवस्थित अर्थात् निश्चितरूप से कहीं नित्य प्रवृत्त हो और कहीं बिलकुल नहीं उसे व्यवस्थितविभाषा कहते हैं। यह अवङ् आदेश गवाक्ष (झरोखा), गवादनी (चरागाह) आदि प्रयोगों में नित्य प्रवृत्त होता है, वहां इसके 'गोअक्ष, गोऽक्ष' आदि रूप नहीं बनते। परन्तु इसे सर्वत्र व्यवस्थितविभाषा भी नहीं समझना चाहिये जैसा कि मूलोक्त उदाहरण में इसे व्यवस्थितविभाषा नहीं माना गया।

वकारोत्तर अकार अनुनासिक नहीं, अतः **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र से उस की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। यदि इस की भी इत्सञ्ज्ञा हो जाती तो लोप हो जाने से 'गवाग्रम्, गवाधिपः' आदि में सवर्णदीर्घ तथा 'गवेश्वरः, गवर्द्धिः' आदि में गुण न हो सकता। इस में प्रमाण है आचार्य पाणिनि का सूत्र—**गवाश्वप्रभृतीनि च** (२.४.११)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८) **इन्द्रे च** ।६।१।१२०॥

गोरवङ् स्याद् इन्द्रे । गवेन्द्रः ॥

अर्थः—इन्द्र शब्द परे होने पर (एङन्त) गो शब्द को अवङ् आदेश हो।

व्याख्या—एङः ।६।१। (**एङः पदान्तादति** से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा। यह 'गोः' पद का विशेषण है अतः इस मे तदन्तविधि हो कर 'एङन्तस्य' बन जाता है)। गोः ।६।१। (**सर्वत्र विभाषा गोः** से)। इन्द्रे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अवङ् ।१।१। (**अवङ् स्फोटायनस्य** से)। अर्थः—(एङः) एङन्त (गोः) गो शब्द के स्थान पर (अवङ्) अवङ् आदेश हो जाता है (इन्द्रे) इन्द्र शब्द परे होने पर। यह सूत्र **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र का अपवाद है। उस से यहां विकल्प कर के अवङ् प्राप्त था; इस सूत्र से नित्य हो जाता है। उदाहरण यथा—

गवेन्द्रः (श्रेष्ठ वा बड़ा बैल)। गो+इन्द्र (गवां गोषु वा इन्द्रः=श्रेष्ठः)= ग् अवङ्+इन्द्र=गव+इन्द्र=गवेन्द्रः [**आद् गुणः**(२७)]।

'एङन्त' इस लिये कहा है कि चित्रगु+इन्द्र (चित्रगूनामिन्द्रः=स्वामी, षष्ठी-तत्पुरुषः)=चित्रग्विन्द्रः। यहां एङन्त न होने से अवङ् आदेश न हो कर **इको यणचि** (१५) से यण्=वकार हो जाता है। ध्यान रहे कि सूत्र की वृत्ति में 'एङन्त' कहना ग्रन्थकार से छूट गया है। यहां 'पदान्त' की अनुवृत्ति लाने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि अपदान्त में एङन्त गो से परे इन्द्र शब्द कभी आ ही नहीं सकता।

नोट—काशिकाकार जयादित्य ने इस सूत्र से अगले **प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्** (६.१.१२१) सूत्र में 'नित्यम्' पद का ग्रहण नहीं किया, किन्तु इसी **इन्द्रे च** (६.१.१२०) सूत्र में ही 'नित्यम्' पद का ग्रहण किया है। पर ऐसा मानना ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि यहां 'नित्यम्' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। यदि यह कहा जाये कि—यहां 'नित्यम्' पद ग्रहण न करने से **इन्द्रे च** (४८) सूत्र विकल्प से अवङ् करता, क्योंकि **सर्वत्र विभाषा गोः** (४४) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति आ रही है—तो यह ठीक नहीं; क्योंकि **इन्द्रे च** (४८) सूत्र तो आरम्भ-सामर्थ्य से ही नित्य हो जायेगा, उस के लिये 'नित्यम्' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९) **दूराद् धूते च** ।८।२।८४॥

दूरात् सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा स्यात् ॥

अर्थः—दूर से सम्यग्बोध कराने में प्रयुक्त जो वाक्य उस की टि को विकल्प कर के प्लुत हो जाता है।

व्याख्या—दूरात् ।५।१। हूते ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। वाक्यस्य ।६।१। टेः ।६।१।

प्लुत ।१।१।(वाक्यस्य टे प्लुत उदात्त यह अधिकार आ रहा है)। वा इत्यव्ययपदम्। [भाष्यकार ने सम्पूर्ण प्लुत के प्रकरण को विकल्प कर दिया है, अत यहा पर 'वा' प्राप्त हो जाता है]। **ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च** (भ्वा० उ०) धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय करने पर 'हूत' शब्द सिद्ध होता है। इस का अर्थ 'बुलाना' है। परन्तु यहां इस से 'सम्बोधन=अच्छी तरह से जनाना' अर्थ अभिप्रेत है। अर्थ —(दूरात्) दूर से (हूते) सम्यग्बोध कराने म प्रयुक्त (वाक्यस्य) जो वाक्य उस की (टे) टि के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (प्लुत) प्लुत हो जाता है।

जिस देश मे ठहरे हुए का वाक्य सम्बोध्यमान [सम्यक् जनाया जाता हुआ] साधारण प्रयत्न से न सुन सके किन्तु विशेष प्रयत्न स सुन सकता हो उस देश को 'दूर' कहते हैं। उस दूर देश से किसी को कुछ जनाने या बुलाने के लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है उस की टि को विकल्प कर के प्लुत होता है। उदाहरण यथा—हम से देवदत्त ऐसे स्थान पर ठहरा हुआ है जहा हम उस साधारण प्रयत्न से बोल कर कुछ बोध नही करा सकते, तो अब हमारा स्थान 'दूर' हुआ। इस दूर स्थान मे हम ने जो 'एहि देवदत्त !' 'सक्तून् पिब देवदत्त !' इत्यादि वाक्य प्रयुक्त किये उन वाक्यो की टि को विकल्प कर के प्लुत होगा।

(प्लुत-पक्ष मे)	(प्लुताभाव-पक्ष मे)
(१) एहि देवदत्त ३ !	(१) एहि देवदत्त !
(२) सक्तून् पिब देवदत्त ३ !	(२) सक्तून् पिब देवदत्त !

यहा यह ध्यान म रखना चाहिये कि जिस वाक्य मे हूयमान (सम्यग् जनाया जाता हुआ) अन्त म होगा उसी वाक्य की टि को प्लुत होगा, जहा हूयमान अन्त मे न होगा उस वाक्य की टि को प्लुत न होगा। यथा—'देवदत्त ! एहि', 'देवदत्त ! सक्तून् पिब' यहा हूयमान=देवदत्त अन्त मे नही है, अत वाक्य की टि को प्लुत न होगा। किञ्च वाक्य की टि को होने वाला यह प्लुत हलन्त टि मे अच् के स्थान पर ही होता है क्योकि प्लुत अचों का ही धर्म माना गया है। यथा—सक्तून् पिब यज्ञ-वर्म३न् !। यहा 'अन्' टि मे अकार को ही प्लुत हुआ है।

इस प्रकार प्लुत का विधान कर अब उस का यहा उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५०) प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम् ।६।१।१२१॥

एतेऽचि प्रकृत्या स्यु । आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति ॥

अर्थ —प्लुत और प्रगृह्य-सञ्ज्ञक अच् परे होने पर प्रकृति से रहते हैं।

व्याख्या—प्लुत प्रगृह्या ।१।३। अचि ।७।१। नित्यम् ।२।१। (क्रियाविशेषण-मेतत्)। प्रकृत्या ।३।१। (प्रकृत्यान्त पादम् स)। समास —प्लुताश्च प्रगृह्याश्च= प्लुत-प्रगृह्या, इतरेतरद्वन्द्व। अर्थ —(प्लुत प्रगृह्या) प्लुत और प्रगृह्य-सञ्ज्ञक (अचि) अच् परे होने पर (नित्यम्) नित्य (प्रकृत्या) प्रकृति से=स्वभाव से=वैस के वैस अर्थात् सन्धि-कार्य से रहित रहते हैं। उदाहरण यथा—'आगच्छ कृष्ण ३ !

अत्र गौश्चरति' (आओ कृष्ण ! यहां गौ चर रही है)। यहां 'आगच्छ कृष्ण' यह एक वाक्य है। इस की टि = णकारोत्तर अकार को **दूराद् धूते च** (४६) से वैकल्पिक प्लुत होता है। जिस पक्ष में प्लुत होता है वहां प्रकृतिभाव हो जाने से णकारोत्तर प्लुत अकार तथा 'अत्र' शब्द के आदि अकार के स्थान पर **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ नहीं होता; वैसे का वैसा अर्थात् 'आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति' ही रहता है। जिस पक्ष में प्लुत नहीं होता वहां प्रकृतिभाव न होने से सवर्णदीर्घ हो जाता है—आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति। इस के अन्य उदाहरण यथा—

प्रकृतिभावपक्षे	**प्रकृतिभावाऽभावे**
(१) आगच्छ हरे ३ ! अत्र क्रीडेम।	(१) आगच्छ हरेऽत्र क्रीडेम।
(२) कार्यं कुरु राम ३ ! एष आगतः।	(२) कार्यं कुरु रामैष आगतः।
(३) आगच्छ राम ३ ! अत्रास्ति सीता।	(३) आगच्छ रामात्रास्ति सीता।
(४) सक्तून् पिब भीम ३ ! अहं गच्छामि।	(४) सक्तून् पिब भीमाहं गच्छामि।

इस सूत्र में 'नित्यम्' पद के ग्रहण का प्रयोजन **इकोऽसवर्णे०** (५६) पर देखें।

अब प्रगृह्य के उदाहरणों के लिये प्रगृह्य-सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(५१) ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्।१।१।११॥

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू॥

अर्थः—ईदन्त ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—ईदूदेत्।१।१। द्विवचनम्।१।१। प्रगृह्यम्।१।१। समासः—ईच्च ऊच्च एच्च = ईदूदेत्, समाहारद्वन्द्वः। तपरकरणमसन्देहार्थम्। 'ईदूदेत्' यह पद 'द्विवचनम्' पद का विशेषण है; अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** द्वारा इस से तदन्त-विधि हो जाती है। अर्थः—(ईदूदेत्) ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त (द्विवचनम्) द्विवचन (प्रगृह्यम्) प्रगृह्यसञ्ज्ञक हों। उदाहरण यथा—

'हरी एतौ' (ये दो हरि अर्थात् घोडे वा बन्दर हैं) यहां रेफोत्तर ईकार ईदन्त द्विवचन है[1]। इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से **प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्** (५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है; अतः एकार = अच् परे होने पर भी **इको यणचि** (१५) से ईकार को यण् नहीं होता।

'विष्णू इमौ' (ये दो विष्णु हैं) यहां णकारोत्तर ऊकार ऊदन्त द्विवचन है; इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से **प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्** (५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है। अतः अच् परे होने पर भी **इको यणचि** (१५) से ऊकार को यण् नहीं होता।

---

१. हरि शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) से रेफोत्तर इकार तथा औ के स्थान पर पूर्व-सवर्ण-दीर्घ ईकार हो कर 'हरी' सिद्ध होता है। यहां 'ई' यह एकादेश परादिवद्भाव (**अन्तादिवच्च**) से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव से ईदन्त है। इसी प्रकार 'विष्णू' में 'ऊ' को जानें।

'गङ्गे अमू' (ये दो गङ्गाएं हैं) यहां गकारोत्तर एकार एदन्त द्विवचन है[1]। इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से **प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्** (५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है। अत यहां **एङः पदान्तादति** (४३) सूत्र से पूर्वरूप एकादेश नहीं होता।

नोट—यहां कई विद्यार्थी 'हरी', 'विष्णू', 'गङ्गे' आदि पदों को ही ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन माना करते हैं, यह उन की भूल हुआ करती है। इस भूल से सावधान रहना चाहिये। यहां ईकार, ऊकार तथा एकार ही ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन हैं। प्रक्रिया ऊपर लिख दी है, आगे सुंबन्तों मे स्पष्ट हो जायेगी।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(५२) अदसो मात् ।१।१।१२॥

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्त । अमी ईशा । रामकृष्णावमू आसाते। मात् किम् ? अमुकेऽत्र ॥

अर्थ—अदस् शब्द के मकार से परे ईत् और ऊत् प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—अदस ।६।१। [अवयव-षष्ठी]। मात् ।५।१। [दिग्योगे पञ्चमी]। ईदूत् ।१।१। प्रगृह्यम् ।१।१। (**ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** से)। अर्थ—(अदस) अदस् शब्द के अवयव (मात्) मकार से परे (ईदूत्) ईत् और ऊत् (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होते हैं।

'अदस्' शब्द सर्वनाम है। इसका प्रयोग दूरस्थ पदार्थ के निर्देश मे होता है। यथा—असौ बाल (वह बालक है)। इस की तीनों लिङ्गों मे रूपमाला यथा—

(पुलिङ्ग मे) प्र०—असौ, अमू, अमी। द्वि०—अमुम्, अमू, अमून्। तृ०—अमुना, अमूभ्याम्, अमीभि। च०—अमुष्मै, अमूभ्याम्, अमीभ्य। प०—अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्य। ष०—अमुष्य, अमुयो, अमीषाम्। स०—अमुष्मिन्, अमुयो, अमीषु।

(स्त्रीलिङ्ग मे) प्र०—असौ, अमू, अमू। द्वि०—अमूम्, अमू, अमू। तृ०—अमुया, अमूभ्याम्, अमूभि। च०—अमुष्यै, अमूभ्याम्, अमूभ्य। प०—अमुष्या, अमूभ्याम्, अमूभ्य। ष०—अमुष्या, अमुयो, अमूषाम्। स०—अमुष्याम्, अमुयो, अमूषु।

(नपुसक मे) प्र०—अद, अमू, अमूनि। द्वि०—अद, अमू अमूनि। आगे पुवत्।

अदस् शब्द के मकार से परे ईत् और ऊत् पुल्लिङ्ग मे प्रथमा के बहुवचन तथा प्रथमा द्वितीया के द्विवचन मे और स्त्रीलिङ्ग तथा नपुसकलिङ्ग मे प्रथमा द्वितीया के

---

१ गङ्गा शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर **औङ आपः** (२१६) से उसे शी=ई आदेश हो कर **आद् गुण** (२७) से गुण हो जाता है। यहां 'ए' यह एकादेश परादिवद्भाव से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव से एदन्त है।

द्विवचन में ही उपलब्ध होते हैं[1]। इन में से स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग वाले इस सूत्र के उदाहरण नहीं होते, क्योंकि वहां पूर्वले **ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** (५१) सूत्र से ही प्रगृह्य-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है। केवल पुल्लिङ्ग के 'अमू, अमी' इन दो रूपों के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है। उदाहरण यथा—

अमी ईशाः (ये स्वामी हैं)। यहां पुल्लिङ्ग में 'अदस्' शब्द से प्रथमा का बहुवचन 'जस्' करने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, जस् को शी आदेश तथा गुण हो कर 'अदे' बन जाता है। अब **एत ईद् बहुवचने** (८.२.८१) सूत्र से 'ए' को 'ई' तथा दकार को मकार करने से 'अमी' प्रयोग सिद्ध होता है। इस के आगे 'ईशाः' पद लाने से **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) द्वारा सवर्ण-दीर्घ प्राप्त होता है जो अब इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण नहीं होता।

नोट—यहां ईदूदेद्० (१.१.११) की दृष्टि में 'अमी' के स्थान पर 'अदे' है क्योंकि **एत ईद् बहुवचने** (८.२.८१) सूत्र त्रिपादीस्थ होने से उस की दृष्टि में असिद्ध है। 'अदे' एदन्त तो है परन्तु द्विवचन नहीं, बहुवचन है; अतः पूर्व-सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता, इसलिये यह सूत्र बनाना पड़ा। यदि इस सूत्र (१.१.१२) की दृष्टि में भी **एत ईद् बहुवचने** (८.२.८१) सूत्र असिद्ध होने से 'अमी' के स्थान पर 'अदे' माना जाए तो यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि तब इसे अदस् के मकार से परे ईत् ऊत् कहीं नहीं मिल सकेगा [अदस् शब्द में मकार का आना तथा उस से आगे ईत्, ऊत् का होना **एत ईद् बहुवचने** (३५७) तथा **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) सूत्रों की ही कृपा का फल है जो दोनों असिद्ध हैं]। अतः इस की दृष्टि में 'अमी' असिद्ध नहीं होता; मकार से परे ईकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है।

द्वितीय उदाहरण यथा—राम-कृष्णावमू आसाते (वे दोनों बलराम और कृष्ण बैठे हैं)। यहां 'रामकृष्णौ+अमू' में **एचोऽयवायावः** (२२) से अव् आदेश हो जाता है। 'रामकृष्णौ' पद इस बात को जतलाने के लिये लिखा गया है कि 'अमू' पुल्लिङ्ग का है, स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग का नहीं। स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का 'अमू' इस सूत्र का उदाहरण नहीं होता[2]। 'अमू+आसाते' यहां 'अमू' की प्रगृह्यसञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण **इको यणचि** (१५) से यण् नहीं होता।

---

१. यद्यपि अदस् शब्द के मकार से परे 'अमीभ्यः, अमूभ्यः, अमीषाम्' इत्यादियों में भी ईत्, ऊत् पाये जाते हैं; तथापि यहां इन का कुछ उपयोग नहीं। क्योंकि प्रगृह्य-संज्ञा स्वरसन्धि के निषेध के लिये ही करनी होती है। इन में 'भ्यः, भ्याम्' आदियों का व्यवधान पड़ने से स्वरसन्धि प्राप्त ही नहीं होती। अतः इस सूत्र के उपयोगी 'अमू' और 'अमी' ये दो ही शब्द हैं।

२. स्त्रीलिङ्ग में 'अदस्' शब्द से परे प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर अत्व, पररूप, टाप्, **औङ आपः** (२१६) से शी तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण हो कर 'अदे' हुआ। पुनः **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) से मत्व और ऊत्व करने

नोट—'अदस्' शब्द से 'औ' विभक्ति लाने पर मकार को अकारादेश, पररूप तथा वृद्धि एकादेश हो कर—'अदौ' हुआ। अब **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८.२.८०) से दकार को मकार तथा औकार को ऊकार करने से 'अमू' सिद्ध होता है। यद्यपि 'अमू' में ऊदन्त द्विवचन होने के कारण पूर्व-सूत्र से प्रगृह्यसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती थी, तथापि **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८.२.८०) से किये मत्व और ऊत्व के असिद्ध होने से उस की दृष्टि में 'अदौ' रहता था, अतः यह सूत्र बनाया गया है। इस की दृष्टि में तो आरम्भ-सामर्थ्य से ही असिद्ध नहीं होता, यह पहले कह चुके हैं।

मात् किम्? अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सूत्र में 'मात्' अर्थात् 'म् से परे' ऐसा क्यों कहा गया है? क्योंकि मकार के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण से परे ईत् व ऊत् अदस् के तीनों लिङ्गों के रूपों में कहीं नहीं पाए जाते, अतः 'मात्' ग्रहण न करने से भी 'अमू, अमी' शब्दों की ही प्रगृह्यसञ्ज्ञा होगी। इस का उत्तर है—**अमुकेऽत्र**। अर्थात् 'मात्' का ग्रहण न करने से 'अमुकेऽत्र' प्रयोग में दोष आयेगा। तथाहि—'अदस्' शब्द से परे **अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः** (१२२६) सूत्र द्वारा 'अकच्' प्रत्यय हो कर 'अदकस्' बनने पर **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) से मुत्व हो—'अमुकस्' शब्द निष्पन्न होता है। अब इस से प्रथमा का बहुवचन 'जस्' प्रत्यय लाने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, **जसः शी** (१५२) से शी आदेश तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश हो कर 'अमुके' प्रयोग सिद्ध होता है। अब इस के आगे 'अत्र' पद लाने

पर 'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पूर्व-सूत्र (५१) की दृष्टि में 'अदे' होने से एदन्त द्विवचन है, अतः इस की उस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो सकती है। इस के लिये इस सूत्र (५२) के बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार नपुंसक-लिङ्ग में 'औ' आने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, **नपुंसकाच्च** (२३५) से शी आदेश तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण हो कर 'अदे' हुआ। पुनः **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) से मत्व और ऊत्व करने पर 'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पर भी पूर्व-सूत्र की दृष्टि में 'अदे' होने से एदन्त द्विवचन है, अतः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा सिद्ध है। इस के लिये भी इस सूत्र के रचने की कोई आवश्यकता नहीं। इस से सिद्ध होता है कि—केवल पुंल्लिङ्ग के 'अमू, अमी' शब्दों के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है। ['बाले अमू आसाते' इत्यादिस्त्रीलिङ्गप्रयोगे 'कुले अमू उत्कृष्टे' इत्यादिक्लीबप्रयोगे च **ईदूदेद्०** (५१) इत्यनेनैव प्रगृह्यता। न च 'रामकृष्णावमू आसाते' इत्यादिपुंल्लिङ्गप्रयोगवद् अत्राप्यारम्भसामर्थ्याद् **अदसो मात्** (५२) इत्यनेनैव प्रगृह्यता किन्न स्यात्? इति वाच्यम्; यतः पुंसि 'अमू आसाते' इत्यत्र तु पूर्वेण प्रगृह्यता न सम्भवतीति युक्तम् **अदसो मात्** (५२) इतिसूत्रे आरम्भ-सामर्थ्यम्, परन्त्वत्र स्त्रियां क्लीबे तु पूर्वेण सिद्धायां प्रगृह्यसञ्ज्ञायां नास्त्यारम्भ-सामर्थ्यम्, अतः स्त्रियां क्लीबे च **ईदूदेद्०** (५१) इत्यनेनैव प्रगृह्यता, पुंसि **अदसो मात्** (५२) इत्यनेनैवेति दिक्]।

से **एङः पदान्तादति** (४३) द्वारा पूर्वरूप करने पर 'अमुकेऽत्र' (वे यहां हैं) वन जाता है। यदि सूत्र में 'मात्' ग्रहण न करते तो यहां ककार से परे भी[1] प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता; इस से **एङः पदान्तादति** (४३) सूत्र प्रवृत्त न हो सकता, अतः 'मात्' ग्रहण किया गया है।

शङ्का—यह आप का प्रत्युदाहरण ठीक नहीं; क्योंकि यहां 'ईत्' अथवा 'ऊत्' नहीं। आप को तो अपने प्रत्युदाहरण में मकार से भिन्न किसी अन्य वर्ण से परे 'ईत्' या 'ऊत्' ही दिखाने चाहियें थे। आप के प्रत्युदाहरण में तो ककार से परे 'एत्' दिखाया गया है।

समाधान—**ईदूदेद्०** (५१) इस पूर्व-सूत्र से यहां 'ईत्, ऊत्, एत्' इन तीनों की अनुवृत्ति आ रही थी; परन्तु इस सूत्र में 'मात्' ग्रहण के सामर्थ्य से 'एत्' का अनुवर्त्तन नहीं किया जाता, क्योंकि म् से परे अदस् शब्द में कहीं 'एत्' नही पाया जाता। अब यदि यहां 'मात्' का ग्रहण नहीं करेंगे तो 'एत्' की भी अनुवृत्ति आ जाने से 'अमुकेऽत्र' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण सन्धि न हो सकेगी; अतः 'एत्' की अनुवृत्ति रोकने के लिये 'मात्' पद का ग्रहण करना अत्यावश्यक है। **असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्त्तेत** [सि० कौ०]।

अभ्यास (१२)

(१) व्याकरणशास्त्र में प्रकृतिभाव का क्या अभिप्राय है? स्पष्ट करें।
(२) **इन्द्रे च** सूत्र की वृत्ति में किस वात की कमी रह गई है? स्पष्ट करें।
(३) **सर्वत्र विभाषा गोः** में 'सर्वत्र' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है?
(४) **दूराद् धूते च** सूत्र के अर्थ में 'विकल्प' कहां से आ जाता है?
(५) 'देवदत्त एहि' इस वाक्य की टि को प्लुत क्यों नहीं होता?
(६) 'आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति' क्या यह शुद्ध है?
(७) **इन्द्रे च** सूत्र वनाने की क्या आवश्यकता थी? क्या पूर्व-सूत्र से 'गवेन्द्रः' सिद्ध नहीं हो सकता था?
(८) **अनेकाल् शित् सर्वस्य** सूत्र में 'शित्' ग्रहण पर प्रकाश डालें।
(९) स्त्रीलिङ्ग वा नपुंसकलिङ्ग के 'अमू' में **अदसो मात्** क्यों नहीं लगता?
(१०) निम्नस्थ रूपों में सन्धि करें अथवा सन्धि न करने का कारण वताएं।
१. कवी अत्र। २. योगी अत्र। ३. वायू अत्र। ४. रामे अत्र। ५. माले अत्र। ६. कुले इमे उत्कृष्टे एधेते अधुना। ७. धनुषी एते अस्य। ८. वने इमे। ९. वर्धेते अस्मिन्। १०. ऋतू अतीतौ। ११. पाणी उत्क्षिपति। १२. हस्ती उत्क्षिपति। १३. वालिके अधीयाते। १४. नेत्रे आमृशति। १५. वटू उत्कूर्दते अत्र। १६. अमी अश्नन्ति।

---

१. क्योंकि **तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते** (प०) इस परिभाषा से 'अदकस्' भी 'अदस्' शब्द माना जाता है।

१७ बालावमू अश्नीत । १८ कुमार्यावमू अश्नीत । १९ ते अत्र । २० अन्ये आसाते । २१ अमू इन्द्र प्रस्थे स्प्टौ । २२ कवी आगच्छत ।

(११) 'मात् किम् ? अमुकेऽत्र' इस अंश की व्याख्या करते हुए प्रत्युदाहरण मे दोष की उद्भावना कर के उस का समाधान करें ।

(१२) 'हरी एतौ' मे कौन ईदन्त द्विवचन है, सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(१३) 'गवाक्ष' प्रयोग के अन्य विकल्प 'गोअक्ष, गोऽक्ष' क्यों नही बनते ?

(१४) अलोऽन्त्यस्य, अनेकाल् शित् सर्वस्य, ङिच्च—इन तीन परिभाषाओं मे कौन उत्सर्ग और कौन अपवाद है ? प्रत्येक का उदाहरण-प्रदर्शन-पूर्वक स्पष्टीकरण करें ।

अब निपातों की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के लिये निपात-विधायक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(५३) चादयोऽसत्त्वे ।१।४।५७।।

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः ।।

अर्थः—यदि चादियों का द्रव्य अर्थ न हो तो उन की निपात-सञ्ज्ञा होती है ।

व्याख्या—चादयः ।१।३। असत्त्वे ।७।१। निपाताः ।१।३। (**प्राग्रीश्वरान्निपाताः** यह अधिकृत है) । समासः—च =च-शब्द आदिर्येषान्ते चादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहि-समासः । न सत्त्वम्=असत्त्वम्, तस्मिन्=असत्त्वे, नञ्-तत्पुरुष । यहां प्रसज्य-प्रतिषेध है, यदि पर्युदास प्रतिषेध मानें तो अनर्थक चादियों की निपात-सञ्ज्ञा न हो सकेगी । अर्थः—(असत्त्वे) द्रव्य अर्थ न होने पर (चादयः) 'च' आदि शब्द (निपाताः) निपात-सञ्ज्ञक होते हैं ।

जिस मे सङ्ख्या पाई जाए या जिस के लिये सर्वनाम का प्रयोग हो सके, उसे 'द्रव्य' कहते हैं । चादि-गण आगे 'अव्यय-प्रकरण' मे आ जायेगा । उदाहरण यथा—'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः' यहां 'पशु' शब्द का अर्थ 'सम्यक्=ठीक प्रकार से' ऐसा है । अतः यह अद्रव्यवाची होने से निपात सञ्ज्ञक होता है । यदि 'पशु' का अर्थ 'जानवर' होगा, तो वह द्रव्यवाची होने से निपात-सञ्ज्ञक न होगा । यथा—पशु नयन्ति । निपात सञ्ज्ञा होने से (३६७) सूत्र द्वारा 'अव्यय' सञ्ज्ञा हो जाती है, इस से विभक्ति का लुक् हो जाता है, यह सब आगे 'अव्यय-प्रकरण' मे सविस्तर लिखेंगे ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(५४) प्रादयः । १ । ४ । ५८ ।।

एतेऽपि तथा ।।

अर्थः—अद्रव्यार्थक प्रादि भी निपात-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—असत्त्वे ।७।१। (चादयोऽसत्त्वे से) । प्रादयः ।१।३। निपाताः ।१।३। (**प्राग्रीश्वरान्निपाताः** यह अधिकृत है) । अर्थः—(असत्त्वे) द्रव्य अर्थ न होने पर (प्रादयः) 'प्र' आदि शब्द (निपाताः) निपात सञ्ज्ञक होते हैं । प्रादि-गण पीछे (३५) सूत्र पर मूल मे ही आ चुका है ।

प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१.४.५६) सूत्र से अष्टाध्यायी में निपातों का अधिकार आरम्भ किया जाता है; अर्थात् इस सूत्र से ले कर **अधिरीश्वरे** (१.४.९६) सूत्र-पर्यन्त निपात-सञ्ज्ञक कहे गये हैं। इसी अधिकार में पाणिनि ने **प्रादय उपसर्गाः क्रिया-योगे** ऐसा एक सूत्र पढ़ा है। इस का अर्थ यह है—'प्र' आदि बाईस शब्द क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञक होते हुए उपसर्ग-सञ्ज्ञक होते हैं। अब इस अर्थ से यह दोष उत्पन्न होता है कि जहां क्रिया-योग नहीं, वहां निपात-सञ्ज्ञा नहीं हो सकती। परन्तु हमें तो क्रियायोग में उपसर्ग-सञ्ज्ञा के साथ साथ तथा क्रियायोगाभाव में भी निपात-सञ्ज्ञा करनी इष्ट है। भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इस एक सूत्र से ये दोनों कार्य न होते देख कर इस के दो विभाग कर दिये हैं। (१) **प्रादयः**। (२) **उपसर्गाः क्रिया-योगे**। तो अब प्रथम सूत्र से क्रियायोगाभाव में तथा दूसरे सूत्र से क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है। क्रियायोगाभाव में निपात-सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन—'यज्ञदत्तोऽपि मूर्खः' इत्यादि में 'अपि' से परे सुँब्लुक् आदि कार्य करना है। क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन—'प्राच्छंति' आदि में अव्ययसंज्ञा करके विभक्ति का लुक् करना है।

द्रव्य अर्थ में प्रादियों की निपात-सञ्ज्ञा नहीं होती। यथा प्रादियों में 'वि' शब्द पढ़ा गया है; यदि इस का अर्थ पक्षी होगा तो द्रव्यार्थक होने से इस की निपात-सञ्ज्ञा न होगी। निपात न होने से यह अव्यय न होगा और तब इस से परे सुँप् का लुक् भी न होगा—विः = पक्षी, विं पश्य, विना तुल्यं वायुयानम्।

अब अग्रिम सूत्र द्वारा निपातों की प्रगृह्य-संज्ञा विधान करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(५५) निपात एकाजनाङ्।१।१।१४॥

एकोऽच् निपात आङ्वर्जः[1] प्रगृह्यः स्यात्। इ इन्द्रः। उ उमेशः। वाक्य-स्मरणयोरङित्। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्—ईषदुष्णम् = ओष्णम्॥

अर्थः—आङ् को छोड़ कर एक अच् मात्र निपात प्रगृह्यसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—निपातः।१।१। एकाज्।१।१। अनाङ्।१।१। प्रगृह्यः।१।१। (**ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** से)। समासः—एकश्चासावच् = एकाच्, कर्मधारय-समासो न तु बहुव्रीहिः। न आङ् = अनाङ्, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अनाङ्) आङ् से भिन्न (एकाज्) एक अच् रूप (निपातः) निपात (प्रगृह्यः) प्रगृह्य-संज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

इ इन्द्रः [ओह! यह इन्द्र है]। उ उमेशः [जान पड़ता है कि यह महादेव है]। यहां 'इ' और 'उ' एक अच्रूप तथा अद्रव्यार्थक होने से **चादयोऽसत्त्वे** (५३) द्वारा निपात संज्ञक हैं; अतः इस सूत्र से इन की प्रगृह्य-संज्ञा हो कर **प्लुतप्रगृह्या अचि०** (५०) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से प्राप्त सवर्ण-दीर्घ

१. वर्ज्यते = त्यज्यत इति वर्जः, कर्मणि घञ्-प्रत्ययः। आङा वर्जः—आङ्वर्जः, तृतीया-तत्पुरुषः। आङ्भिन्न इत्यर्थः।

नही होता। यहा 'इ' निपात आश्चर्य करने मे तथा 'उ' निपात वितर्क करने मे प्रयुक्त हुआ है।

'एकाच्' यहा 'एकश्चासावच्=एकाच्' [एक भी हो और वह अच् भी हो] इस प्रकार कर्मधारय-समास करना ही उचित है। यदि 'एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्' [एक अच् जिस मे हो वह] इस प्रकार बहुव्रीहि-समास करेंगे तो—'च+अस्ति=चास्ति' मे सवर्ण-दीर्घ न हो सकेगा, क्योंकि तब 'च' की भी प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जायेगी क्योंकि वह भी एक अच् वाला है।

चादिगण मे 'आ' तथा प्रादिगण मे 'आङ्' इस प्रकार दो निपात पढ़े गये हैं। इन मे से प्रथम 'आ' की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है पर दूसरे 'आङ्' की इस सूत्र मे 'अनाङ्' कहने के कारण प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नही होती। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आ और आङ् ये दोनों प्रयोग मे तो 'आ' के रूप मे ही मिलते हैं क्योंकि हलन्त्यम् (१) द्वारा आङ् का ङकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है, ऐसी दशा मे यह कैसे विदित हो कि यह आ है, और यह आङ्? इस के उत्तर के लिये भाष्यकार ने यह व्यवस्था की है—

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्॥

अर्थात्—अल्प (थोडा) अर्थ मे, क्रिया के योग मे, मर्यादा और अभिविधि अर्थ मे जो आकार हो उसे ङित्—आङ् समझना चाहिये। पूर्व कही बात को अन्यथा करने के लिये प्रयुक्त वाक्य मे तथा स्मरण अर्थ मे अङित्—'आ' समझना चाहिये।

(१) **ईषदर्थे** यथा—आ+उष्ण=ओष्णम्। [यहा **प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया** वार्तिक से नित्य-समास होता है। नित्य-समासो का स्वपद-विग्रह नही हुआ करता, मूल मे इसी लिये 'ईषदुष्णम्' ऐसा अस्वपद-विग्रह दिखाया गया है। 'ओष्णम्' का अर्थ है—थोडा गरम]। यहा 'आङ्' होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नही होती; अत प्रकृति-भाव न होने के कारण आद् गुण. (२७) सूत्र से गुण एकादेश हो जाता है।

(२) **क्रिया-योगे** यथा—आ+इहि=एहि (आओ), आ+इत.=एत (वे दो आते हैं)। यहा **इण् गतौ** इस अदादिगणीय क्रिया का योग है; अत 'आङ्' होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नही होती। प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न होने से प्रकृतिभाव भी नही होता; **आद् गुणः** (२७) से गुण हो जाता है।

(३) **मर्यादाया**[1] यथा—आ+अलवरात्=आलवराद् वृष्टो मेघ (अलवर

---

१. **तेन विनेति मर्यादा, तेन सहेत्यभिविधि**। मर्यादा और अभिविधि मे यह भेद होता है कि मर्यादा मे अवधि का ग्रहण नही होता और अभिविधि मे ग्रहण होता है। यथा—'अलवर तक मेघ बरसा' यहा मेघ बरसने की अवधि 'अलवर' है। मर्यादा मे इस अवधि का ग्रहण न होने से यह तात्पर्य होगा कि अलवर देश को

देश तक परन्तु अलवर देश को छोड़ कर मेघ वरसा) । यहां मर्यादा अर्थ होने से 'आ' ङित् अर्थात् 'आङ्' है अतः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता, अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ हो जाता है ।

(४) **अभिविधौ** यथा—आ+अलवराद्=आलवराद् वृष्टो मेघः (अलवर देश तक अर्थात् अलवर देश में भी मेघ वरसा) । यहां अभिविधि अर्थ होने से 'आ' ङित् अर्थात् 'आङ्' है अतः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता; सवर्णदीर्घ हो जाता है ।

अव 'आ' के उदाहरण—

(१) वाक्ये यथा—आ एवं नु मन्यसे (अव तू ऐसा मानता है, अर्थात् पहले तू ऐसा नहीं मानता था अव मानने लगा है)। यहां 'आ' के अङित् होने से प्रगृह्य-संज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है । **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र से वृद्धि एकादेश नहीं होता ।

(२) **स्मरणे** यथा—आ एवं किल तत् (हां वह ऐसा ही है) । यहां 'आ' के अङित् होने से प्रगृह्य-संज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है । **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(५६) ओत् ।१।१।१५॥**

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः ॥

अर्थः—ओकार अन्त वाला निपात प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या- ओत् ।१।१। निपातः ।१।१। (**निपात एकाजनाङ्** से) । प्रगृह्यः ।१।१। (**ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** से) । 'ओत्' यह 'निपातः' पद का विशेषण है, अतः इस से तदन्त-विधि होती है । अर्थः—(ओत्=ओदन्तः) ओदन्त (निपातः) निपात (प्रगृह्यः) प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होता है। यथा—अहो ईशाः (अहो ! ये स्वामी हैं) । यहां अद्रव्यवाची होने से **चादयोऽसत्त्वे** (५३) द्वारा 'अहो' निपात-सञ्ज्ञक है; इस की इस सूत्र से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है । प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण **एचोऽयवायावः** (२२) द्वारा प्राप्त अवादेश नहीं होता । इसीप्रकार अथो, नो, आहो, उताहो आदि अन्य ओदन्त निपातों में भी समझ लेना चाहिये । ध्यान रहे कि यहां एक अच् रूप निपात न होने से पूर्वसूत्र द्वारा प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो सकती थी अतः यह सूत्र वनाया गया है ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(५७) सम्वुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ।१।१।१६॥**

सम्वुद्धि-निमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिक इतौ परे। विष्णो इति । विष्ण इति । विष्णविति ॥

छोड़ कर उस तक मेघ वरसा । अभिविधि में इस अवधि का ग्रहण होने से यह तात्पर्य होगा कि अलवर देश सहित उस तक मेघ वरसा । अन्य उदाहरण यथा—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः, आ कुमारं यशः पाणिनेः, ओदकान्तात् प्रियोऽनुगन्तव्यः । यहां द्वितीय उदाहरण में अभिविधि तथा तृतीय में मर्यादा अर्थ है ।

अर्थ —सम्बुद्धि-निमित्तक ओकार—अवैदिक अर्थात् वेद मे न पाये जाने वाले 'इति' शब्द के परे होने पर विकल्प कर के प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। [निमित्त-सप्तम्येषा]। ओत् ।१।१। (ओत् से)। अनार्षे ।७।१। इतौ ।७।१। प्रगृह्य ।१।१। (ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् से)। शाकल्यस्य ।६।१। समास —ऋषिर्वेद, उक्तञ्च मेदिनीकोषे—ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम्। ऋषौ (वेदे) भव =आर्ष, तत्र भव. (१०८६) इत्यण्, न आर्ष = अनार्षस्तस्मिन् =अनार्षे, नञ्तत्पुरुष। 'अवैदिके' इत्यर्थ। अर्थ —(अनार्षे) वेद में न पाये जाने वाले (इतौ) इति शब्द के परे होने पर (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि को निमित्त मान कर पैदा हुआ (ओत्) ओकार (प्रगृह्य) प्रगृह्य-सञ्ज्ञक होता है (शाकल्यस्य) शाकल्य के मत मे। अन्य आचार्यों के मत में प्रगृह्य-सज्ञा नही होती, परन्तु हमें सब आचार्य प्रमाण हैं, अत विकल्प से प्रगृह्य-सज्ञा होगी। उदाहरण यथा—

विष्णो इति ('विष्णो' यह शब्द)। विष्णु शब्द से परे सम्बुद्धि [सम्बोधन के एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं। देखो—एकवचनं सम्बुद्धिः (१३२)] करने पर ह्रस्वस्य गुण (१६६) सूत्र से सम्बुद्धि को निमित्त मान कर गुण हो कर—विष्णो+स्। अब एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (१३४) सूत्र से सकार का लोप करने पर 'विष्णो' पद सिद्ध हो जाता है। इस के आगे 'इति' पद लाने से एचोऽयवायाव. (२२) द्वारा ओकार को अव् आदेश प्राप्त होना था जो अब इस सूत्र से प्रगृह्य-सज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण नही होता। अन्य आचार्यों के मत में प्रगृह्य-सज्ञा न होने से अव् आदेश हो कर 'विष्णव् इति' बना। अब इस दशा मे पदान्त वकार का लोप शाकल्यस्य (३०) सूत्र से वैकल्पिक लोप हो जाता है। लोपपक्ष मे 'विष्ण इति' (वकारलोप के असिद्ध होने से गुण नहीं होता) और लोपाभावपक्ष मे 'विष्णविति' इस प्रकार कुल मिला कर तीन रूप सिद्ध होते हैं।

यह उदाहरण वेद का नही, वेद मे तो 'इति' शब्द परे होने पर प्रगृह्य-सज्ञा नही होती किन्तु अव् आदेश हो जाता है। यथा—एता गा ब्रह्मबन्ध इत्यब्रवीत् [यह काठकसंहिता (१० ६) का वचन है]।

नोट—वस्तुत अन्य आचार्यों के मत मे 'विष्णविति' ही रूप होता है, 'विष्ण इति' नही। क्योंकि जब शाकल्य आचार्य के मत मे ओ को अव् ही नहीं होता तो पुन उन के मत मे लोप शाकल्यस्य (३०) से वकार का लोप कैसे सम्भव हो सकता है? काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों मे सर्वत्र इस सूत्र पर दो ही उदाहरण लिखे मिलते हैं, लोप वाला रूप कहीं नही देखा जाता।[1]

---

१ इस सूत्र पर कई मनीषियो का विचार है कि यह सूत्र वैदिकपदपाठविषयक ही है। सर्वप्रथम आचार्य शाकल्य ने ऋग्वेद के अपने पदपाठ मे वायो, विष्णो आदि ओदन्त सम्बुद्ध्यन्त पदों के आगे 'इति' शब्द लगा कर उन को निर्दिष्ट किया तथा उन के मध्य स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये सन्धि भी नहीं की। तदनन्तर अन्य

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५८) **मय उञो वो वा ।८।३।३३।।**

मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि । किम्वुक्तम् । किमु उक्तम् ।।

अर्थः—मय् प्रत्याहार से परे उञ् निपात को विकल्प कर के 'व्' आदेश हो जाता है अच् परे हो तो ।

व्याख्या—मयः ।५।१। उञः ।६।१। वः ।१।१। वकारादकार उच्चारणार्थः । वा इत्यव्ययपदम् । अचि ।७।१। (ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् से) । अर्थः—(मयः) मय् प्रत्याहार से परे (उञः) उञ् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (वः) व् आदेश होता है (अचि) अच् परे हो तो । मय् प्रत्याहार में ञकार को छोड़ कर अन्य सब वर्गस्थ वर्ण आ जाते हैं । उदाहरण यथा—

किम् उ उक्तम् (क्या कहा ?) । यहां उञ् के एक अच् रूप निपात होने से **निपात एकाजनाङ्** (५५) सूत्र प्राप्त होता है । इस का बाध कर इस सूत्र से वैकल्पिक वकार हो जाता है । जहां वकार आदेश होता है वहां—'किम्वुक्तम्' प्रयोग सिद्ध होता है । वकारादेश के अभाव में यथाप्राप्त प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव के कारण सवर्णदीर्घ नहीं होता—किम् उ उक्तम् । इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं ।

नोट—यह सूत्र **मोऽनुस्वारः** (८.३.२३) सूत्र की दृष्टि में पर त्रिपादी होने से असिद्ध है; अतः 'किम्वुक्तम्' यहां हल्=वकार परे होने पर भी **मोऽनुस्वारः** (७७) से मकार को अनुस्वार नहीं होता । तथा हि—**त्रिपादीये वकारे तु नानुस्वारः प्रवर्त्तते ।**

ध्यान रहे कि उञ् का ञकार **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञक हो कर **तस्य लोपः** (३) से लुप्त हो जाता है । इस प्रकार 'उ' मात्र शेष रहता है ।

अभ्यास (१३)

(१) अधोलिखित प्रयोगों में ससूत्र सन्धि या सन्ध्यभाव दर्शाएं—

१. भानविति । २. शम्वस्तु वेदिः । ३. वाय इति । ४. अहो आश्चर्यम् । ५. तद्वस्य परेतः । ६ शम्भो इति । ७. अथो इति । ८. उ उत्तिष्ठ । ९. नो इदानीम् । १०. ओदकान्तात् प्रियो जनोऽनुगन्तव्यः । ११. अहो अद्य महोष्णता । १२. इ इन्द्रं पश्य । १३. किमिदं सत्यम् उताहो असत्यम् । १४. किमु आवपनम् ।

(२) कहां २ 'आ' ङित् और कहां २ अङित् होता है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

पदपाठकारों ने भी शाकल्य के इस नियम का अनुसरण किया । शाकल्यग्रहण को काशिकाकार ने विभाषार्थ माना है । इस विभाषा को व्यवस्थितविभाषा ही समझना चाहिये । तैत्तिरीयपदपाठ को छोड़ अन्य पदपाठों में प्रगृह्यसंज्ञा नित्य होती है । तैत्तिरीयपदपाठ में सन्धि उपलब्ध होती है । अत एव हरदत्तमिश्र ने यहां पदमञ्जरी में लिखा है—

तत्र बह्वृचाः प्रगृह्यमेवाधीयते, तैत्तिरीयास्त्वप्रगृह्यम् ।

(३) प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे सूत्र का योगविभाग क्यों किया जाता है ?
(४) 'किम्वुक्तम्' यहां मोऽनुस्वारः (७७) सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?
(५) निपात एकाजनाङ् के 'एकाच्' पद में क्यों बहुव्रीहिसमास नहीं मानते ?
(६) वस्तुतः 'विष्ण इति' रूप नहीं बनता—इस कथन की व्याख्या करें।
(७) उदाहरणप्रदर्शनपूर्वक मर्यादा और अभिविधि का परस्पर भेद बताएं।
(८) पदपाठ की दृष्टि से सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतौ० सूत्र की व्याख्या करें।

— ० —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५९) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ।६।१।१२३॥

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि । ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वर-सन्धिः । चक्रि अत्र । चक्र्यत्र । पदान्ता इति किम् ? गौर्यौ ॥

अर्थः—असवर्ण अच् परे होने पर पदान्त इक् विकल्प कर के ह्रस्व हो जाते हैं। ह्रस्वविधि०—ह्रस्वविधान करने के सामर्थ्य से स्वर सन्धि नहीं होती।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। (एङः पदान्तादति से विभक्तिविपरिणाम करके)। इकः ।६।१। असवर्णे ।७।१। अचि ।७।१। (इको यणचि से)। ह्रस्वः ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(असवर्णे) असवर्ण (अचि) अच् परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (इकः) इक् के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो जाता है (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में। अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता, हमें सब आचार्य प्रमाण हैं अतः ह्रस्व विकल्प से होगा। उदाहरण यथा—

चक्री+अत्र (विष्णु यहां है) यहां पदान्त इक् ईकार है, इस से परे 'अ' यह असवर्ण अच् वर्त्तमान है अतः इक् को विकल्प करके ह्रस्व हो गया। जहां ह्रस्व हुआ वहां—'चक्रि अत्र'। जहां ह्रस्व न हुआ वहां इको यणचि (१५) से यण् होकर 'चक्र्यत्र' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

इस के अन्य उदाहरण यथा—१ मधु[1] अस्ति, मध्वस्ति। २ दधि अस्ति, दध्यस्ति। ३ वस्तु आनय, वस्त्वानय। ४ वारि अत्र, वार्यत्र। ५ योगि आगच्छति, योग्यागच्छति। ६ धनि अवोचत्, धन्यवोचत्। ७ नदि एधते, नद्येधते। ८ जाह्नवि अवतरति, जाह्नव्यवतरति। ९ बलि ऋक्ष, बल्यृक्ष। १० भवति एव, भवत्येव। ११ धातृ अत्र, धात्रत्र।

अब जहां ह्रस्व करते हैं वहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यहां इको यणचि (१५) सूत्र से यण् क्या न किया जाए ? इसका उत्तर यह है कि यदि वहां भी यण् हो जाए तो पुनः इस सूत्र से ह्रस्व करना व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि तब दोनों पक्षों में 'चक्र्यत्र' रूप समान हो जायेगा जो इस सूत्र के बिना भी इको यणचि (१५) सूत्र से सिद्ध हो सकता है। अतः इस सूत्र द्वारा ह्रस्व करने के सामर्थ्य से यहां सन्धि न

१ यहां यह ध्यातव्य है कि ह्रस्वों की भी पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्ति न्याय से ह्रस्व हो जाया करता है। इस का फल सन्ध्यभाव स्पष्ट ही है। यह विषय इस सूत्र के भाष्य में अत्यन्त स्पष्ट है।

होगी । ध्यान रहे कि मूल में 'स्वरसन्धि' कथन इस लिये किया गया है कि यहां स्वर-सन्धि के अतिरिक्त अन्य कोई सन्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती ।

इस सूत्र में 'असवर्ण' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'योगी+इच्छति=योगीच्छति' 'कुमारी+ईहते=कुमारीहते' इत्यादियों में सवर्ण अच् परे होने पर ह्रस्व न हो।

'पदान्त' ग्रहण इस लिये किया गया है कि--'गौरी+औ' यहां अपदान्त इक् को ह्रस्व न हो जाए। इको यणचि (१५) से यण् हो कर 'गौर्यौ' बन जाए।

ध्यान रहे कि प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (५०) में 'नित्यम्' ग्रहण के कारण उस के विषय में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—हरी एतौ, शिशू आक्रन्दतः। इन में प्रकृत ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव न हो कर उस के द्वारा नित्य प्रकृतिभाव होता है।

अब प्रसङ्गवश 'गौर्यौ' में द्वित्व करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६०) अचो रहाभ्यां द्वे ।८।४।४५॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । गौर्य्यौ ॥

अर्थः—अच् से परे जो रेफ या हकार उस से परे यर् को विकल्प से द्वित्व हो।

व्याख्या—अचः ।५।१। रहाभ्याम् ।५।२। द्वे ।१।२। यरः ।६।१। वा इत्यव्यय-पदम् । (**यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से) । अर्थः—(अचः) अच् से परे (रहाभ्याम्) जो रेफ या हकार उस से परे (यरः) यर् के (द्वे) दो शब्दस्वरूप (वा) विकल्प कर के हो जाते हैं । उदाहरण यथा—'गौर् यौ' यहां अच्='औ' से परे रेफ है अतः उस से परे यर् यकार को विकल्प करके द्वित्व होकर द्वित्वपक्ष में 'गौर्य्यौ' तथा द्वित्वाभाव-पक्ष में 'गौर्यौ' इस प्रकार दो रूप बन जाते हैं ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. आर्य्यः, आर्यः । २. अर्क्कः, अर्कः । ३. कार्य्यम्, कार्यम् । ४. हर्य्यनुभवः, हर्यनुभवः । ५. उर्व्वी, उर्वी । ६. आह्ल्लादः, आह्लादः । ७. अर्ज्जुनः, अर्जुनः । ८. आर्त्तः, आर्तः । ९. आह्व्वयः, आह्वयः । १०. आर्द्द्रकम् आर्द्रकम् । ११. ब्रह्म्मा, ब्रह्मा । १२. अर्त्थः, अर्थः । १३. न ह्य्यस्ति, न ह्यस्ति । १४. गर्ब्भः, गर्भः । १५. ऊर्द्ध्वम्, ऊर्ध्वम् । १६. दुर्ग्गः, दुर्गः । १७. अर्ग्घ्यः, अर्घ्यः । १८. मूर्च्छ्ना, मूर्छना । १९. अपह्न्नुते, अपह्नुते । २०. मूर्क्खः, मूर्खः । २१. शर्म्मा, शर्मा । २२. विसर्ग्गः, विसर्गः । २३. प्रार्ण्णम्, प्रार्णम् । २४. कर्म्म, कर्म । २५. निर्ज्झरः, निर्झरः ।[1]

---

१. गर्ब्भः, निर्ज्झरः, अर्ग्घ्यः, ऊर्द्ध्वम् आदि में द्वित्व के बाद झलां जश्झशि (१९) से जश्त्व हो जाता है तथा 'मूर्क्खः, अर्त्थः, मूर्च्छना आदि में खरि च (७४) से चर्त्व । आर्षम्, अर्शः आदि में प्रकृतसूत्र के प्राप्त द्वित्व का शरोऽचि (२६९) से निषेध हो जाता है । 'मूर्च्छना' में तुंक् आगम समझने की भूल से बचें ।

अब प्रसङ्गत प्राप्त हुए द्वित्व को कह कर पुन **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** (५६) सूत्र पर निषेधक वार्त्तिक लिखते हैं—

[लघु०] वा०—(६) न समासे ॥

वाप्यश्व ॥

अर्थ —समास मे असवर्ण अच् परे होने पर पदान्त इक् को ह्रस्व नही होता।

व्याख्या—वापी+अश्व [बावडी मे घोडा। वाप्यामश्व =वाप्यश्व, **सह सुंपा** (६०६) इति समास।] यहा समास मे विभक्तियो का लुक् होने पर **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** (१६०) सूत्र द्वारा ईकार पदान्त हो जाता है, इसे असवर्ण अच् (अ) परे होने पर पूर्वसूत्र (५६) मे ह्रस्व प्राप्त था जो अब इस वार्त्तिक के निषेध के कारण नही होता। **इको यणचि** (१५) स यण् हो कर विभक्ति लाने से—'वाप्यश्व' सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार—सुध्युपास्य मध्वरि गौर्यात्मज नद्युदय चार्वङ्गी, मात्राज्ञा वध्वागमनम्, लाकृति' प्रभृति समासो म भी समझ लेना चाहिये।

[लघु०] ~~विधि-सूत्रम्~~—(६१) ऋत्यकः ।६।१।१२४॥

ऋति परे पदान्ता अक प्राग्वद् वा। ब्रह्म ऋषि । ब्रह्मर्षि । पदान्ता किम् ? आर्च्छत् ॥

अर्थ —ऋत् (ह्रस्व ऋकार) परे होने पर पदान्त अक् विकल्प से ह्रस्व हो।

व्याख्या—ऋति ।७।१। पदान्तस्य ।६।१। (एड पदान्तादति से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा)। अक ।६।१। ह्रस्व ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। (**इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** स)। अर्थ —(ऋति) ह्रस्व ऋवर्ण परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (अक) अक् के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व हो जाता है (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत मे। अन्य आचार्यों के मत मे न होने स विकल्प हो जायेगा। उदाहरण यथा—

'ब्रह्मा+ऋषि' यहा 'ऋषि' शब्द का आदि ऋत् परे है, अत सकारोत्तर पदान्त आकार को विकल्प करके ह्रस्व होकर—'ब्रह्म ऋषि' तथा ह्रस्वाभावपक्ष मे **आद् गुण** (२७) से गुण, रपर होकर—ब्रह्मर्षि' बना। [अथवा 'ब्रह्म+ऋषि' ऐसे छेद म ह्रस्व को ह्रस्व होगा। ब्रह्मण =वेदस्य ऋषि —ब्रह्मर्षिरित्यादिविग्रह]।

पूर्व (५६) सूत्र सवर्ण परे होने पर प्रवृत्त नही होता था तथा अकार को ह्रस्व भी नही करता था, इन दोनो आवश्यकताओ के लिये यह सूत्र बनाया गया है। जैसा कि महाभाष्य मे कहा है—**सवर्णार्थम् अनिगन्तार्थञ्च**। सवर्ण परे होने पर यथा—होतृ ऋश्य, होतृश्य। यहा पूर्व-सूत्र प्रवृत्त नही हो सकता था। अकार का उदाहरण—ब्रह्मऋषि, ब्रह्मर्षि। ध्यान रहे कि जहा २ ह्रस्व करेंगे वहा २ पूर्ववत् ह्रस्वविधान के सामर्थ्य स स्वर-सन्धि नहीं होगी।

इस सूत्र म भी पूर्ववत् 'पदान्त' का ग्रहण होता है, अत अपदान्त अक् को ह्रस्व नही होता। उदाहरण यथा—'आ+ऋच्छत्' [यह तौदादिक 'ऋच्छ' अथवा भौवादिक 'ऋ' धातु के लँङ् लकार के प्रथम-पुरुष का एकवचन है। 'आ' यह यहा

'आट्' आगम समझना चाहिये] । यहां 'आ' (आट्) पदान्त नहीं अतः ऋत् परे होने पर भी इसे ह्रस्व नहीं होता। आटश्च (१९७) से पूर्व+पर के स्थान पर 'आर्' वृद्धि होकर – 'आर्च्छत्' बन जाता है।

इकोऽसवर्णे० (५९) सूत्र समास में प्रवृत्त नहीं होता है; यह सूत्र समास में भी प्रवृत्त हो जाता है। यथा—सप्तऋषीणाम्, सप्तर्षीणाम्। परन्तु उपसर्गादृति धातौ (३७) के विषय में इस की प्रवृत्ति नहीं होती—प्रार्च्छति। इस की स्पष्टता सिद्धान्त-कौमुदी में देखें।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. कन्य ऋज्वी, कन्यर्ज्वी। २. कुमारि ऋतुमती, कुमार्यृतुमती। ३. प्रज्ञ ऋतम्भरा, प्रज्ञर्तम्भरा। ४. पुरुषऋषभः, पुरुषर्षभः। ५. महऋषिः, महर्षिः। ६. शङ्खध्मऋद्धिः, शङ्खध्मर्द्धिः। ७. कर्तृ ऋणि, कर्तृ णि। ८. पञ्च ऋतवः, पञ्चर्तवः। ९. कण्वऋषिः, कण्वर्षिः। १०. ऋषिऋणम्, ऋष्यृणम्।

[लघु०] इत्यच्सन्धि-प्रकरणम् ॥

अर्थः—यहां अचों की सन्धि का प्रकरण समाप्त होता है।

व्याख्या – अच्सन्धि शब्द पर विशेष टिप्पण पृष्ठ (९९) पर देखें।

अभ्यास (१४)

(१) इकोऽसवर्णे० तथा ऋत्यकः में 'पदान्त' की अनुवृत्ति क्यों लाते हैं?
(२) क्या समास में भी ऋत्यकः की प्रवृत्ति हो सकती है?
(३) 'प्रार्च्छति' में ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव क्यों नहीं होता?
(४) 'सुध्युपास्यः' आदि में इकोऽसवर्णे० क्यों नहीं लगता?
(५) 'साधू इमौ' में इकोऽसवर्णे० की प्रवृत्ति होगी या नहीं? स्पष्ट करें।
(६) सवर्णार्थमनिगन्तार्थञ्च —इस वचन की व्याख्या करें।
(७) ह्रस्वविधि में ऐसा कौन सा सामर्थ्य है जो स्वरसन्धि को रोकता है?
(८) निम्नस्थ प्रयोगों में सोपपत्तिक सन्धि दर्शाएं —
१. नदि एति। २. अर्म्भकः। ३. देवऋषयः। ४. पितृऋणम्। ५. अर्ज्जयति। ६. कर्तृ इदम्। ७. नद्यात्मा। ८. नमः परम-ऋषिभ्यः। ९. साक्षि आत्मनः। १०. वर्द्धते।

——::०::——

**इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-
सिद्धान्तकौमुद्यामच्सन्धि-
प्रकरणं समाप्तम् ॥**

अथ हल्-सन्धि-प्रकरणम्

अब हलो अर्थात् व्यञ्जनो का व्यञ्जनो के साथ मेल दिखाया जायेगा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६२) स्तोः श्चुना श्चुः ।८।४।३९।।

सकारतवर्गयो शकारचवर्गाभ्या योगे शकारचवर्गौ स्त । रामश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ।।

अर्थ.—सकार तवर्ग के स्थान पर, शकार चवर्ग के साथ योग होने पर शकार चवर्ग हो जाता है ।

व्याख्या—स्तो ।६।१। श्चुना ।३।१। श्चु ।१।१। समास —स् च तुश्च= स्तु, तस्य=स्तो, समाहार-द्वन्द्व । यद्यपि समाहार-द्वन्द्व मे नपुसकलिङ्ग होता है, तथापि यहा सौत्र पुस्त्व जानना चाहिये । श् च चुश्च=श्चु तेन=श्चुना, समाहार-द्वन्द्व । अत्र सहयोगे तृतीया बोध्या । सकार और तवर्ग को 'स्तु' तथा शकार और चवर्ग को 'श्चु' कहा गया है । अर्थ —(स्तो) सकार तवर्ग के स्थान पर (श्चुना) शकार चवर्ग के साथ (श्चु) शकार चवर्ग हो जाता है । तात्पर्य यह है कि शकार-चवर्ग के साथ यदि सकार-तवर्ग का आगे या पीछे कही योग (मेल) हो तो सकार-तवर्ग के स्थान पर भी शकार-चवर्ग हो जाता है ।

यहा स्थानी—स्, त्, थ्, द्, ध्, न् ये छ वर्ण और इन के स्थान पर होने वाले आदेश—श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ् ये भी छ वर्ण हैं। अत दोनो ओर समान सख्या होने से ये आदेश यथासख्यमनुदेश० (२३) परिभाषा के अनुसार क्रमश होंगे, अर्थात् स् को श्, त् को च्, थ् को छ्, द् को ज्, ध् को झ् तथा न् को ञ् ही आदेश होगा ।

ध्यान रहे कि यहा स्थानी और आदेश के विषय मे तो यथासख्य होता है परन्तु योग के विषय मे यथासख्य नही होता, अर्थात् यहा यह नही समझना चाहिये कि सकार को शकार—शकार के योग मे, तकार को चकार—चकार के योग मे, थकार को छकार—छकार के योग मे, दकार को जकार—जकार के योग मे, धकार को झकार—झकार के योग मे तथा नकार को ञकार—ञकार के योग मे ही होना है । किन्तु योग चाहे किसी 'श्चु' का हो—सकार को शकार, तकार को चकार, थकार को छकार, दकार को जकार, धकार को झकार तथा नकार को ञकार ही होगा । यदि योग के विषय मे भी यथासख्य होता तो शात् (६३) सूत्र से निषेध करने की कुछ आवश्यकता न होती, क्योकि शकार से परे तो तव तवर्ग को चवर्ग प्राप्त ही नही हो सकता था । अत निषेध करने मे ज्ञात होता है कि योग के विषय मे आचार्य यथासख्य नही चाहते । उदाहरण यथा—

(१) रामश्शेते (राम सोता है) । 'रामस्+शेते' [राम शब्द से सुं प्रत्यय करने पर ससजुषो रुः (१०५) से रुं तथा खरवसानयोर्विसर्जनीय. (९३) से विसर्ग

हो पुनः वा शरि (१०४) से विकल्प कर के विसर्ग होने और तदभावपक्ष में सकार करने पर—'रामस् शेते, रामः शेते' ये दो रूप बनते हैं। यहां विसर्गाभावपक्ष में सत्व वाले रूप का ग्रहण किया गया है।] यहां सकार का शकार के साथ योग होने से उस के स्थान पर क्रमानुसार शकार आदेश हो 'रामश्शेते' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब ग्रन्थकार यह जतलाने के लिये कि योग के विषय में यथासंख्य नहीं होता; सकार का एक अन्य उदाहरण देते हैं—

(२) रामश्चिनोति (राम चुनता है)। 'रामस्+चिनोति' [राम शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर **ससजुषो रुँः** (१०५) से उसे रुँ तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से विसर्ग हो पुनः **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से सकार हो जाता है।] यहां सकार का चकार के साथ योग होने से उस के स्थान पर क्रमानुसार शकार हो 'रामश्चिनोति' प्रयोग सिद्ध होता है।

(३) सच्चित् (सत् और ज्ञान)। 'सत्+चित्' यहां तकार का चकार के साथ योग है अतः उस के स्थान पर क्रमानुसार चकार हो 'सच्चित्' प्रयोग सिद्ध होता है। [वस्तुतः यहां **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) के असिद्ध होने से प्रथम **झलां जशोऽन्ते** (८.२.३९) से तकार को दकार हो पुनः **खरि च** (८.४.५४) के असिद्ध होने से **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) से दकार को जकार हो कर अन्त में **खरि च** (७४) से जकार को चकार हो जाता है]।

(४) शार्ङ्गिञ्जय (हे विष्णो! तुम्हारी जय हो)। 'शार्ङ्गिन्+जय' यहां नकार का जकार के साथ योग है अतः प्रकृतसूत्र से नकार के स्थान पर क्रमानुसार ञकार हो कर 'शार्ङ्गिञ्जय' प्रयोग सिद्ध होता है।

योग वर्ण के आगे या पीछे दोनों अवस्थाओं में हो सकता है; किसी को यह न समझ लेना चाहिये कि यदि श्चु आगे आएंगे तो स्तु को श्चु होगा। चाहे श्चु—स्तु से आगे आए या पीछे, स्तु को श्चु हो जायेगा। यथा—'यज्+न' यहां नकार का पूर्व जकार के साथ योग होने पर उस के स्थान पर ञकार हो 'यज्ञः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार राज्ञः, याच्ञा आदि में समझना चाहिये।

शङ्का—यदि योग में आगे पीछे का नियम नहीं; तो 'अच्सन्धि' में स् को श् हो जावे, शात् (६३) सूत्र निषेध नहीं कर सकता। 'अच्त्वम्' में तकार को चकार हो जावे।

समाधान—**अल्पाच्तरम्** (९८६) इस सूत्र के निर्देश से, **सिद्धमनच्त्वात्** इस वार्तिक के प्रयोग से तथा **अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ** इस भाष्य के प्रामाण्य से यह प्रमाणित होता है कि क्वचित् प्रत्याहार आदि के सान्निध्य में असन्देहार्थ श्चुत्व आदि संहिताकार्य नहीं होते। अत एव 'अच्त्वम्' में कुत्व, 'जश्त्वम्' में व्रश्चादिषत्व तथा 'खर्परे, शर्परे' में रेफ को विसर्ग आदि कार्य नहीं देखा जाता।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—**(६३) शात्।८।४।४३॥**

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात्। विश्नः। प्रश्नः॥

अर्थः—शकार से परे तवर्ग के स्थान पर चवर्ग नहीं होता ।

व्याख्या—शात् ।५।१। तो ।६।१।(तो: चि से)। न इत्यव्ययपदम् (न पदान्ता-ट्टोरनाम् से) । क्या नहीं होता ? इस जिज्ञासा के उत्पन्न होने पर सुतरां यही आयेगा कि जो प्राप्त होता है वह नहीं होता । शकार से परे तवर्ग के स्थान पर **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से चवर्ग ही प्राप्त हो सकता है, अन्य कोई प्राप्त नहीं हो सकता[1] अतः यहां उसी का निषेध समझना चाहिये । अर्थ —(शात्) शकार से परे (तोः) तवर्ग के स्थान पर चवर्ग (न) नहीं होता । उदाहरण यथा—

(१) 'विश्+न' [यहां **विच्छँ गतौ** (तुदा०) धातु से **यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्** (८६०) द्वारा नङ् प्रत्यय तथा **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) द्वारा छकार को शकार हो गया है ।] यहां **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) द्वारा नकार को ञकार प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं होता—विश्न (गति वा प्रवेश)।

(२) 'प्रश्+न' [यहां **प्रच्छँ ज्ञीप्सायाम्** (तुदा०) धातु से पूर्ववत् नङ् प्रत्यय तथा छकार को शकार आदेश हुआ है ।] यहां **स्तोः श्चुना श्चुः** द्वारा नकार को ञकार प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं होता– प्रश्न[2] । इसी तरह 'क्लिश्नाति' ।

स्मरण रहे कि यह सूत्र (८.४.४३) **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) से परे होने के कारण **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) द्वारा उस की दृष्टि में असिद्ध होने पर भी वचन-सामर्थ्य से असिद्ध नहीं होता, उस का अपवाद हो जाता है । **अपवादो वचनप्रामाण्याद्** इति भाष्यम् ।

इस सूत्र से विधान किया निषेध नकार के सिवाय तवर्गस्थ अन्य वर्णों से प्रायः सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि 'श्' से परे 'त्, थ्, द्, ध्' होने पर **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) द्वारा षत्व हो जाया करता है ।

अभ्यास (१५)

(१) निम्नस्थ प्रयोगों में सूत्रनिर्देशपूर्वक सन्धिकार्य दर्शाएं—
१. ग्रामात्+चलित । २ हरिस्+छत्रधर । ३ ईश्वरात्+जगत्+जायते । ४ सोमसुत्+झकार । ५ तद्+चैतन्यम् । ६ याच्+ना । ७ दाश्+नाथ । ८ अश्+नित्यम् । ९. जश्+त्वम् । १०. दृ+तिप् । ११. उद्+ज्वल ।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्रसमन्वयपूर्वक सन्धिच्छेद करें—

---

१. यहां अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा इस परिभाषा को भी ध्यान में रखना चाहिये ।

२. यहां ग्रहिज्या० (६३४) सूत्र द्वारा सम्प्रसारण नहीं होता, क्योंकि **प्रश्ने चासन्नकाले** (३.२.११७) सूत्र में महामुनि ने स्वयं सम्प्रसारण नहीं किया ।

१. कृष्णश्चपलः । २. यज्ञः । ३. अग्निचिच्छिनत्ति । ४. नारदश्शशाप । ५. भृज्जौ । ६. सच्छात्रः । ७. अश्नाति । ८. श्रीमञ्झटिति । ९. उच्छेदः । १०. राज्ञः ।

(३) श्चुत्व-विधि में कहां यथासङ्ख्य होता है और कहां नहीं ? स्पष्ट करें।

(४) **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) सूत्र की दृष्टि में **शात्** (८.४.४३) सूत्र असिद्ध है। तो भला असिद्ध कैसे सिद्ध का निषेध कर सकता है ?

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४) **ष्टुना ष्टुः** ।८।४।४०॥

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ॥

अर्थः—सकार तवर्ग के स्थान पर, षकार टवर्ग के साथ योग होने पर षकार टवर्ग हो जाता है।

व्याख्या—स्तोः ।६।१। (**स्तोः श्चुना श्चुः** से) । ष्टुना ।३।१। ष्टुः ।१।१। समासः—ष् च टुश्च = ष्टुः, तेन = ष्टुना, समाहारद्वन्द्वः । सौत्रम् पुंस्त्वम् । अर्थः—(स्तोः) सकार तवर्ग के स्थान पर (ष्टुना) षकार टवर्ग के साथ (ष्टुः) षकार टवर्ग हो जाता है। भाव—'स्, त्, थ्, द्, ध्, न्' इन छः वर्णों के स्थान पर 'ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्' ये छः वर्ण हो जाते हैं, यदि 'ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्' इन छः वर्णों का योग अर्थात् मेल हो तो। यहां भी पूर्ववत् स्थानी और आदेश के विषय में यथासङ्ख्य है योग के विषय में नहीं। यदि योग के विषय में भी यथासङ्ख्य होता तो षकार से परे तवर्ग को टवर्ग प्राप्त ही न हो सकता, पुनः उस के निषेध के लिये **तोः षि** (६६) सूत्र क्यों बनाते ? उदाहरण यथा—

(१) रामष्षष्ठः (राम छठा है)। 'रामस्+षष्ठः' ['राम' प्रातिपदिक से सुँ प्रत्यय लाने पर रुँत्व-विसर्ग हो **वा शरि** (१०४) द्वारा विकल्प कर के विसर्ग होने पर तदभावपक्ष में सकार आदेश हो जाता है। उसी पक्ष का यहां ग्रहण किया गया है।] यहां षकार के साथ योग होने से सकार को षकार हो 'रामष्षष्ठः' प्रयोग सिद्ध होता है।

(२) रामष्टीकते (राम जाता है)। 'रामस्+टीकते' [यहां राम शब्द से 'सुँ' प्रत्यय ला कर रुँत्व-विसर्ग हो, **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से पुनः सकारादेश हो जाता है] यहां टकार के साथ सकार का योग है। अतः सकार को षकार आदेश हो 'रामष्टीकते' प्रयोग सिद्ध होता है। सकार का यह दूसरा उदाहरण यह जतलाने के लिये दिया गया है कि योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता।

(३) पेष्टा (पीसने वाला; पीसेगा)। 'पेष्+ता' [**पिष्लृँ सञ्चूर्णने** (रुधा०) धातु से तृच् प्रत्यय या लुँट् के प्रथमपुरुष का एकवचन करने पर **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) सूत्र से इकार को एकार गुण हो जाता है।] यहां षकार के साथ योग होने से तकार को टकार हो कर—'पेष्टा' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—'ष्टु परे होने पर' ऐसा न कह कर 'ष्टु के साथ योग होने पर' ऐसा इस लिये कहा है कि 'पेष्टा' आदि में 'ष्टु' का पूर्वयोग होने पर भी 'स्तु' को 'ष्टु' हो जाए। सूत्रे 'ष्टुना' इत्यत्र सहयोगे तृतीया बोध्या।

(४) तट्टीका (उस की टीका, अथवा वह टीका)। 'तद्+टीका' [यहां 'तस्य टीका' ऐसा षष्ठी-तत्पुरुष अथवा कर्मधारयसमास हो सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव. वार्त्तिक से पुंवद्भाव समझना चाहिये।] यहां टकार के योग में दकार को डकार हो कर खरि च (७४) सूत्र से डकार को टकार करने से 'तट्टीका' प्रयोग सिद्ध होता है। ग्रन्थकार को यहां पर बल्कि 'सच्चित्' प्रयोग पर ही खरि च (७४) सूत्र दर्शाना उचित था।

नोट—यहां पर कुछ लोग 'तत्+टीका' ऐसा छेद करके सीधा ष्टुत्व कर दिया करते हैं, यह नितान्त अशुद्ध है, क्योंकि ष्टुना ष्टुः (८.४.४०) सूत्र की दृष्टि में खरि च (८.४.५४) सूत्र असिद्ध है अतः ष्टुत्व से पूर्व चर्त्व नहीं हो सकता, और यदि 'तद्' शब्द को दकारान्त न मान कर तकारान्त मानते हैं तो 'अतितद्, अतितदौ, अतितदः' इत्यादि प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकते।

(५) चक्रिण्ढौकसे (हे चक्रधारिन्! तुम जाते हो)। 'चक्रिन्+ढौकसे' यहां ढकार का योग होने से नकार को णकार हो कर 'चक्रिण्ढौकसे' प्रयोग सिद्ध होता है।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६५) न पदान्ताट्टोरनाम् ।८।४।४१॥

पदान्तात् टवर्गात् परस्याऽनाम स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात् किम्? ईट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्॥

अर्थः—पदान्त टवर्ग से परे 'नाम्' के नकार को छोड़ कर अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। पदान्तात् ।५।१। टोः ।५।१। अनाम् ।६।१। (यहां षष्ठी के एकवचन 'ङस्' का लुक् हुआ है)। स्तोः ।६।१। (स्तोः श्चुना श्चुः से)। ष्टुः ।१।१। (ष्टुना ष्टुः से)। अर्थः—(पदान्तात्) पदान्त (टोः) टवर्ग से परे (अनाम्) नाम्शब्द के अवयव से भिन्न (स्तोः) सकार तवर्ग के स्थान पर (ष्टुः) षकार टवर्ग (न) नहीं होता। यह सूत्र ष्टुना ष्टुः (६४) सूत्र का अपवाद है। उदाहरण यथा—

(१) षट् सन्तः (छः सज्जन)। 'षड्+सन्तः' [यहां 'षड्' सुबन्त होने से पदसंज्ञक है। इस रूप में प्रथम ड: सि धुट् (८४) द्वारा वैकल्पिक 'धुट्' होता है। जहां 'धुट्' नहीं होता, उस पक्ष का यहां ग्रहण समझना चाहिये] यहां खरि च (८.४.५४) के असिद्ध होने से ष्टुना ष्टुः (८.४.४०) द्वारा सकार को षकार प्राप्त होता है। पुनः इस सूत्र से उस का निषेध हो जाता है क्योंकि यहां पदान्त टवर्ग (डकार) से परे स्तु (सकार) को ष्टुत्व (षकार) करना है। अब खरि च (७४) से डकार को टकार हो कर—'षट् सन्तः' प्रयोग सिद्ध होता है।

(२) षट् ते (वे छः)। 'षड्+ते' यहां खरि च (८.४.५४) के असिद्ध होने से ष्टुना ष्टुः (८.४.४०) द्वारा ष्टुत्व अर्थात् तकार को टकार प्राप्त होता है, इस

पर इस सूत्र से निषेध हो कर पुनः खरि च (७४) से चर्त्व टकार करने से 'पट् ते' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—लिण्निमित्तः, इण्न, लिट्सु आदि प्रयोगों में भी ष्टुत्व का निषेध समझ लेना चाहिये।

पदान्तात् किम् ? ईट्टे।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पदान्त टवर्ग क्यों कहा ? केवल टवर्ग ही कह देते तो क्या हानि थी ? इस का उत्तर यह है कि यदि 'पदान्त' न कहते तो 'ईट्टे' (वह स्तुति करता है) यह प्रयोग अशुद्ध हो जाता। तथाहि—'ईड्+ते' [**ईडँ स्तुतौ** (अदा०) धातु से लँट्, उसे 'त' आदेश, शप्, उस का लुक् तथा 'त' की टि=अकार को एकार हो यह रूप निष्पन्न होता है] यहां **खरि च** (८.४.५४) के असिद्ध होने से प्रथम **ष्टुना ष्टुः**(८.४.४०) से तकार को टकार तदनन्तर **खरि च** (८.४.५४) से डकार को टकार हो कर 'ईट्टे' प्रयोग सिद्ध होता है। अब यदि **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) सूत्र में 'टोः' पद का विशेषण 'पदान्तात्' नहीं बनाते तो यहां अपदान्त डकार से परे भी तवर्ग को टवर्ग करने का निषेध हो जाता; जो अनिष्ट था। अब 'पदान्तात्' कहने से कुछ भी दोष नहीं आता।

टोः किम् ? सर्पिष्टमम्।

प्रश्न—इस सूत्र में 'टवर्ग' का ग्रहण क्यों किया है ? केवल **न पदान्तादनाम्** इतना ही कह देते; अर्थात् 'पदान्त वर्ण से परे नाम् के नकार को छोड़ अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग नहीं होता' इतने मात्र के कथन से क्या हानि हो सकती थी ?

उत्तर—यदि 'टवर्ग' का ग्रहण न करते तो पदान्त षकार से परे भी 'स्तु' को 'ष्टु' होने का निषेध हो जाता; इस से 'सर्पिष्टमम्' आदि प्रयोगों में ष्टुत्व न हो सकने से अनिष्ट हो जाता। तथाहि—'सर्पिस्' शब्द से 'तमप्' प्रत्यय करने पर **ह्रस्वात्तादौ तद्धिते** (८.३.१०१)सूत्र से सकार को षकार हो 'सर्पिष्+तम'। अब **ष्टुना ष्टुः**(६४) से ष्टुत्व अर्थात् तकार को टकार करने से 'सर्पिष्टमम्' (उत्तम घृत) प्रयोग निष्पन्न होता है। यहां **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्र से 'सर्पिष्' की पद सञ्ज्ञा होने के कारण षकार पदान्त हो जाता है[1]। अब यदि **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) सूत्र में 'टोः' का ग्रहण न करते तो यहां पदान्त षकार से परे तकार को टकार होने का निषेध हो अनिष्ट रूप हो जाता; अतः सूत्र में 'टोः' का ग्रहण परमावश्यक है।

[लघु०] वा०—(१०) **अनाम्नवति-नगरीणामिति वाच्यम्** ॥

षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः॥

अर्थः—पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति तथा नगरी शब्दों के नकार को छोड़ अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग न हो—ऐसा कहना चाहिये।

---

१. यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि **झलाञ्जशोऽन्ते** (६७) से षकार को डकार हो टवर्ग हो जाने से **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) द्वारा ष्टुत्व का निषेध क्यों न हो जाये ? स्मरण रहे कि **ह्रस्वात्तादौ तद्धिते** (८.३.१०१) द्वारा किया गया षत्व **झलाञ्जशोऽन्ते** (८.२.३९) की दृष्टि में असिद्ध है। अतः डकारादेश नहीं होता।

व्याख्या—सूत्रकार [भगवान् पाणिनि] ने **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) में केवल नाम् के नकार को ही ष्टुत्वनिषेध से मुक्त किया था, अत नवति तथा नगरी शब्दो मे ष्टुत्व-निषेध प्राप्त होने से दोष उत्पन्न होता था। यह देख कर वार्त्तिककार कात्यायन ने वार्तिक बनाया कि केवल 'नाम्' के नकार को ही ष्टुत्वनिषेध से मुक्त नही करना चाहिये, अपितु 'नवति' और 'नगरी' शब्दो को भी ष्टुत्वनिषेध से मुक्त कर देना चाहिये। वार्तिक मे पुन. 'नाम्' का ग्रहण अनुवादार्थ है। उस के ग्रहण न करने में उस का बाध हो जाता, क्योकि वार्तिक सूत्र का बाधक होता है।

इन के उदाहरण यथा—

(१) षण्णाम् (छ का)। षड्+नाम् ['षष्' शब्द से षष्ठी का बहुवचन 'आम्' प्रत्यय करने पर 'षष्+आम्'। **ष्णान्ता षट्** (२६७) से 'षष्' की षट् सञ्ज्ञा हो कर **षट्चतुर्भ्यश्च** (२६६) से 'आम्' को नुँडागम कर 'षष्+नाम्'। अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पद सञ्ज्ञा हो **झलाञ्जशोऽन्ते** (६७) से षकार को डकार करने से 'षड्+नाम्' रूप बनता है] यहा **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) सूत्र मे ष्टुत्व निषेध से 'नाम्' को मुक्त कर देने के कारण पदान्त टवर्ग=डकार से परे नकार को **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व=णकार हो, **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) वार्तिक द्वारा डकार को भी नित्य णकार करने से 'षण्णाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

(२) षण्णवति. (छियानवे)। 'षड्+नवति' ('षडधिका नवति' या 'षट् च नवतिश्च' इस विग्रह मे क्रमश तत्पुरुष और द्वन्द्व करने पर विभक्तियो का लुक् हो 'षड्+नवति' होता है। यहा उसी का ग्रहण है।) यहा **अनाम्नवति०** (वा० १०) इस प्रकृत वार्तिक मे ष्टुत्वनिषेध से 'नवति' के मुक्त हो जाने के कारण पदान्त टवर्ग=डकार से परे नकार को **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व=णकार हो कर **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) सूत्र द्वारा डकार को भी विकल्प कर के णकार करने पर विभक्ति लाने से 'षण्णवति' तथा 'षड्णवति' ये दो प्रयोग सिद्ध होते है।

(३) षण्णगर्यः (छ नगरिया है)। 'षड्+नगर्यः' यहा **अनाम्नवति०** (वा० १०) इस प्रकृत वार्तिक मे ष्टुत्व-निषेध से 'नगरी' के भी मुक्त हो जाने के कारण पदान्त टवर्ग=डकार से परे नकार को **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व=णकार हो, **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) सूत्र द्वारा डकार को भी विकल्प करके णकार करने से 'षण्णगर्यः' तथा 'षड् णगर्यः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि यहा समास नही है।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६६) **तोः षि** ।८।४।४२॥

(तवर्गस्य षकारे परे) न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठ ॥

अर्थः—षकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर षकार टवर्ग नही होना।

व्याख्या—तोः ।६।१। षि ।७।१। न इत्यव्ययपदम् (**न पदान्ताट्टोरनाम्** से)। ष्टु ।१।१। (**ष्टुना ष्टुः** से)। अर्थ—(षि) षकार परे होने पर (तोः) तवर्ग के

स्थान पर (ष्टुः) षकार टवर्ग (न) नहीं होता । यह सूत्र **ष्टुना ष्टुः** (६४) का अपवाद है । उदाहरण यथा—

'सन्+षष्ठः' यहां षकार के योग में **ष्टुना ष्टुः** (६४) से नकार को णकार प्राप्त होता है, जो अब इस सूत्र से निषेध कर देने के कारण नहीं होता—सन्षष्ठः (छठा श्रेष्ठ है) ।

स्मरण रहे कि यद्यपि यहां 'ष्टु' की अनुवृत्ति आती है तथापि तवर्ग के स्थान पर प्राप्त टवर्ग का ही इस सूत्र से निषेध होता है, क्योंकि षकार तो टवर्ग के स्थान पर प्राप्त ही नहीं, जो प्राप्त नहीं उस का पुनः निषेध कैसा ?

यद्यपि यह **तोः षि** (८.४.४२) सूत्र **ष्टुना ष्टुः** (८.४.४०) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है, तथापि वचनसामर्थ्य से यह उस का अपवाद है । **अपवादो वचनप्रामाण्याद्** इति भाष्यम् ।

अभ्यास (१६)

(१) अधोलिखित रूपों में सन्धिविच्छेद कर सन्धि-विधायक सूत्र लिखें—
१. न पदान्ताट्टोरनाम् । २. कृपीष्ट । ३. गरुत्माण्डयते । ४. टिड्ढाणञ्० । ५. पेष्टुम् । ६. सोमसुड्ढौकसे । ७. दृष्टः । ८. स्याण्णौ ।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्र-निर्देश-पूर्वक सन्धि करें—
१. भवान्+षण्ढः । २. हरिस्+षडङ्गमधीते । ३. परिव्राट्+साधुः । ४. सोमसुत्+षडङ्गमधीते । ५. अग्निचित्+ठकार । ६. राट्+नगरी । ७. इट्+न । ८. हेतुमत्+णौ ।

(३) **ष्टुना ष्टुः** (८.४.४०) की दृष्टि में **तोः षि** (८.४.४२) सूत्र त्रिपादी पर होने से असिद्ध है; तो पुनः किस प्रकार यह उस का अपवाद हो सकता है ?

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७) **झलां जशोऽन्ते** ।८।२।३९।।

पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।।

अर्थः—पद के अन्त में झलों के स्थान पर जश् हों ।

व्याख्या—पदस्य ।६।१। (यह अविकृत है) । अन्ते ।७।१। झलाम् ।६।३। जशः ।१।३। अर्थः—(पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (झलाम्) झलों के स्थान पर (जशः) जश् हो जाते हैं । भाव—झल् प्रत्याहार में वर्गों के चौथे, तीसरे, दूसरे, पहले तथा ऊष्म वर्ण आते हैं । ये वर्ण यदि पद के अन्त में स्थित होंगे तो इन के स्थान पर 'जश्', अर्थात् वर्गों के तीसरे वर्ण हो जाएंगे । **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से जिस का जिस के साथ स्थान तुल्य होगा; उस के स्थान पर वही आदेश होगा । यहां हम संपूर्ण स्थानी और आदेश वर्णों की तालिका नीचे दे रहे हैं—

झल् वर्ण (जिन के स्थान पर 'जश्' होता है)					साम्य (स्थान)	जश् वर्ण (जो आदेश होते हैं)
झ्	ज्	छ्	च्	श्	तालु	ज्
भ्	ब्	फ्	प्		ओष्ठ	ब्
घ्	ग	ख्	क्	ह्[1]	कण्ठ	ग्
ढ्	ड्	ठ्	ट्	ष्	मूर्धा	ड्
ध्	द्	थ्	त्	स[2]	दन्त	द्

उदाहरण यथा— वागीश (वाणी का पति—बृहस्पति)। 'वाच्+ईश' [वाचामीश =वागीश। षष्ठीतत्पुरुष। यहां समास में विभक्तियों का लुक् होने पर चो कुः (३०६) से पदान्त चकार को ककार हो जाता है।] यहां इस सूत्र से पदान्त झल्=ककार के स्थान पर जश्=गकार हो कर विभक्ति लाने से 'वागीश' प्रयोग सिद्ध होता है। इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१ सुप्+अन्त=सुबन्त (सुप् अन्ते यस्य स सुबन्तः)। २ तिप्+अन्त=तिबन्त (तिप् अन्ते यस्य स तिबन्तः)। ३ समिध्+अत्र=समिदत्र। ४ समिध्+आधानम्=समिदाधानम्। ५ सम्राट्+इच्छति=सम्राडिच्छति। ६ विद्युत्+गच्छति=विद्युद् गच्छति। ७ त्रिष्टुम्+आदि=त्रिष्टुबादि। ८ अनुष्टुम्+एव=अनुष्टुबेव। ९ वाक्+अत्र=वागत्र। १० जगत्+ईश=जगदीश (जगत ईशः =जगदीशः)। ११ अग्निमथ्+भ्याम्=अग्निमद्भ्याम्। १२ षप्+आगच्छन्ति =षडागच्छन्ति। १३ अप्+ज=अब्जम् (अद्भ्यो जायत इत्यब्जम्)। १४ त्विष्+भ्याम्=त्विड्भ्याम्। १५ अच्+अन्त=अजन्त।

इस सूत्र का फल प्रायः तभी दिखाई देता है जब झलों से परे 'खर्' न हो। खर् परे होने पर इस के किये कार्य को खरि च (७४) नष्ट कर देता है। यथा— 'जगत्+तिष्ठति' यहां झलां जशोऽन्ते (६७) से त् को द् हो खरि च (७४) से पुनः दकार को 'त्' हो गया है। इस लिये इस का फल अश् प्रत्याहार परे होने पर ही प्रतीत होता है।

ध्यान रहे कि इस सूत्र की दृष्टि में खरि च (८.४.५५) तथा स्तोः श्चुना श्चुः (८.४.४०) आदि सूत्र असिद्ध हैं, परन्तु उन की दृष्टि में यह असिद्ध नहीं।

१ हो ढः (२५१) आदि सूत्र 'ह्' के जश्त्व का बाध कर लेते हैं।
२ ससजुषो रुः (१०५) सूत्र पदान्त में 'स्' के जश्त्व का बाध कर लेता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८) **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ।८।४।४४॥**

यरः पदान्तस्याऽनुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः ॥

अर्थः—अनुनासिक परे होने पर पदान्त यर् के स्थान पर विकल्प कर के अनुनासिक हो जाता है ।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। (**न पदान्ताट्टोरनाम्** से विभक्तिविपरिणाम द्वारा)। यरः ।६।१। अनुनासिके ।७।१। अनुनासिकः ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(अनुनासिके) अनुनासिक परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (यरः) यर् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (अनुनासिकः) अनुनासिक आदेश हो जाता है । जो वर्ण मुख और नासिका दोनों से बोला जाये उसे 'अनुनासिक' कहते हैं [**मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः** (९)] । अनुनासिक अच् और हल् दोनों प्रकार के होते हैं । पदान्त यर् से परे अनुनासिक अच् कहीं नहीं देखा जाता; अतः यहां हल् अनुनासिकों का ही ग्रहण होगा । हल् अनुनासिक पांच हैं—१. ङ्, २. ञ्, ३. ण्, ४. न्, ५. म् । इन पांच वर्णों में से किसी वर्ण के परे होने पर पदान्त यर् को विकल्प कर के अनुनासिक होगा । **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से वही अनुनासिक होगा; जिस का यर् के साथ स्थान तुल्य होगा । यथा—कवर्ग को ङ्, चवर्ग को ञ्, टवर्ग को ण्, तवर्ग को न्, पवर्ग को म् ।

उदाहरण यथा—

'एतद्+मुरारि' (एतस्य मुरारिः—एतद्मुरारिः, षष्ठीतत्पुरुषः, एष मुरारिः—एतद्मुरारिः; कर्मधारयसमासो वा) यहां समास में विभक्तियों का लुक् हो चुकने पर **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) की सहायता से **सुंप्तिङन्तम्पदम्** (१४) द्वारा एतद् की पद-सञ्ज्ञा हो जाती है; इस प्रकार दकार पद का अन्त ठहरता है । इस से परे मकार **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः** (९) के अनुसार अनुनासिक है । इस के परे होने पर अब दकार=यर् को अनुनासिक करना है । **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से दकार को नकार ही अनुनासिक होगा (**लृतुलसानां दन्ताः**) । तो इस प्रकार दकार को विकल्प कर के अनुनासिक नकार हो कर विभक्ति लाने से 'एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस सूत्र के कुछ उदाहरण यथा—

१. अग्निचित्+नयति=अग्निचिद्+नयति (**झलां जशोऽन्ते**)=अग्निचिन्नयति । २. तद्+न=तन्न । ३. दिग्+नाग=दिङ्नागः । इसी प्रकार—**प्रत्येर्मम् नित्यम्, नद्याम्नीभ्यः, आण् नद्याः** । अन्य उदाहरण अभ्यास में देखें ।

यर् प्रत्याहार में यद्यपि ह् को छोड़ सब व्यञ्जन आ जाते हैं तथापि यहां यर् से केवल स्पर्श (वर्गगत) वर्णों का ही ग्रहण अभीष्ट है—**स्पर्शस्यैवेष्यते** । अत एव चतुर्मुखः, प्रातर्नयति, स्वर्नाम आदि में पदान्त भी रेफ को अनुनासिक=णकार नहीं होता । इस का स्पष्टीकरण **सिद्धान्तकौमुदी** में देखें । यहां पर यर्ग्रहण **अचो रहाभ्यां द्वे** (६०) आदि उत्तरसूत्रों में अनुवृत्ति के लिये है ।

पदान्त ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—'शङ्क्ष्मा' आदि मे अपदान्त यर् को अनुनासिक न हो ।

[लघु०] वा०—(११) प्रत्यये भाषायां नित्यम् ॥

तन्मात्रम् । चिन्मयम् ॥

अर्थ—लोक मे अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर पदान्त यर् को नित्य अनुनासिक हो जाता है ।

व्याख्या—प्रत्यये ।७।१। भाषायाम् ।७।१। नित्यम् ।२।१। (क्रियाविशेषणम्) । यह वार्तिक **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) सूत्र पर भाष्य मे पढ़ा गया है, अत तद्विषयक ही समझना चाहिये । अत इस का अर्थ होगा—(भाषायाम्) लोक मे (अनुनासिके) अनुनासिकादि(प्रत्यये)प्रत्यय परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (यर) यर् के स्थान पर (नित्यम्) नित्य (अनुनासिक) अनुनासिक हो । पूर्वसूत्र से विकल्प प्राप्त होने पर इस से नित्य अनुनासिक होता है । उदाहरण यथा—

(१) तन्मात्रम् (उतना ही) । 'तद्+मात्र' [तत् प्रमाणमस्येति तन्मात्रम्, **प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच** (११६४) इति मात्रच्-प्रत्यय ।] यहा 'मात्रच्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होने से **सुंपो धातु-प्रातिपदिकयो** (७२१) द्वारा तद् शब्द से परे सुँ प्रत्यय का लुक् हो जाता है, अत 'एतद्मुरारि' प्रयोगगत 'एतद्' शब्द की तरह यहा भी दकार पदान्त है । इस पदान्त दकार=यर् से परे 'मात्रच्' यह अनुनासिकादि प्रत्यय किया गया है, अत दकार को तत्सदृश नकार नित्य अनुनासिक हो कर विभक्ति लाने से 'तन्मात्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1] ।

(२) चिन्मयम् (चेतनस्वरूप) । 'चित्+मय' [चिदेव चिन्मयम्, **नित्यं वृद्धशरादिभ्य** (१११०) इत्यत्र 'नित्यम्' इति योग-विभागात् स्वार्थे मयट्] यहा 'मयट्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होने से **सुंपो धातु-प्रातिपदिकयो** (७२१) द्वारा सुँ प्रत्यय का लुक् हो जाता है, अत तकार पदान्त है । इस पदान्त तकार को प्रथम **झलां जशोऽन्ते** (६७) सूत्र से दकार हो कर पुन इस वार्तिक से नित्य अनुनासिक नकार हो जाता है, तब विभक्ति लाने से 'चिन्मयम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ध्यान रहे कि इस वार्तिक से भी पूर्ववत् पदान्त यर् को ही अनुनासिक विधान किया जाता है, अपदान्त यर् को नही । अत एव—'स्वप्न, यत्न, क्षुभ्नाति, मथ्नाति, वघ्नाति, मृद्नाति, वेद्मि' आदि प्रयोगो मे अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर भी अपदान्त यर् को अनुनासिक नही होता ।

नोट—यहा यह विशेष ध्यातव्य है कि **झलां जशोऽन्ते** (८.२.३९) की दृष्टि मे यह सूत्र (८.४.४४) असिद्ध है, अत जहा **झलां जशोऽन्ते** (६७) सूत्र का विषय होगा वहा प्रथम जश्त्व हो कर पश्चात् अनुनासिक होगा ।

---

१ यहा नकार के असिद्ध होने से **न लोप प्रातिपदिकान्तस्य** द्वारा नलोप नही होता ।

अभ्यास (१७)

(१) निम्नलिखित रूपों में सूत्र-समन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करें—
१. षण्मासाः । २. एतन्मनोहरः । ३. इण्निषेधः । ४. तण्णकारः[1] । ५. त्रिष्टुम्नाम । ६. तन्न । ७. सन्मार्गः । ८. मृन्मयम्[2] । ९. क्षुद्भिः । १०. सोमसुन्नयति । ११. त्वङ्मनसी । १२. ककुबीशः । १३. ककुम्नायकः । १४. वाङ्मयम् । १५. अम्मयम् । १६. कियन्मात्रम् ।

(२) निम्न-लिखित प्रयोगों में सूत्रोपन्यासपूर्वक सन्धि करें—
१. विपद्+मय । २. यद्+नैति । ३. तद्+ञकार[3] । ४. मनाक्+हसति । ५. अप्+मात्र । ६. अग्निचित्+ङकार । ७. कतिचित्+दिनानि । ८. मद्+नीतिः । ९. धिक्+मूर्खम् । १०. सत्+आचार । ११. वाक्+मलम् । १२. जगत्+नाथ । १३. ऋक्+मन्त्र ।

(३) निम्न-लिखित रूपों में सन्धि न करने का कारण बताओ ।
१. वेद्+मि । २. गरुत्+मत्[4] । ३. गृभ्+णाति । ४. प्रश्+न । ५. चतुर्+मुख । ६. प्रातर्+नमामि ।

(४) (क) खर् परे होने पर झलां जशोऽन्ते का फल क्यों प्रतीत नहीं होता?
(ख) 'शङ्ख्मा:' में धकार को अनुनासिक क्यों नहीं होता ?
(ग) सुंप् परे न होने पर भी 'एतन्मुरारिः' में दकार कैसे पदान्त है ?

———::०::———

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६९) **तोर्लि** ।८।४।५९॥

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः । तल्लयः । विद्वाल्ँ लिखति । नस्याऽनुनासिको लः ॥

अर्थः—लकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर पर-सवर्ण आदेश होता है ।

व्याख्या—तोः ।६।१। लि ।७।१। पर-सवर्णः ।१।१। (**अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः** से) । समासः—परस्य सवर्णः=परसवर्णः, षष्ठी-तत्पुरुषः । अर्थः—(लि) लकार परे होने पर (तोः) तवर्ग के स्थान पर (पर-सवर्णः) पर-सवर्ण आदेश होता है । भाव यह है कि तवर्ग से जब लकार परे होगा तो तवर्ग के स्थान पर—पर अर्थात् लकार का सवर्ण आदेश किया जायेगा । लकार का लकार के सिवाय अन्य कोई सवर्ण नहीं, अतः तवर्ग के स्थान पर लकार ही आदेश होगा ।

लकार दो प्रकार का होता है; एक अनुनासिक (ल्ँ) और दूसरा अननुना-

---

१. यहां अनुनासिक-विधायक सूत्र के असिद्ध होने से प्रथम ष्टुत्व कर लेना चाहिये ।
२. यहां पर पदान्त होने से न् को ण् नहीं होता— **पदान्तस्य** (१३९) ।
३. यहां पर प्रथम श्चुत्व कर लेना चाहिये ।
४. यहां पर **तसौ मत्वर्थे** (११८२) सूत्र से भ सञ्ज्ञा होती है । पदान्त न होने से अनुनासिक नहीं होता ।

सिक (ल्) । स्थानेऽन्तरतम (१७) के अनुसार तवर्गस्थ अनुनासिक वर्ण के स्थान पर अनुनासिक लकार तथा अननुनासिक वर्ण के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। तवर्गो मे नकार के सिवाय अन्य कोई अनुनासिक नही, अत केवल नकार के स्थान पर ही अनुनासिक लकार तथा शेष तवर्गीय वर्णों के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। उदाहरण यथा—

तल्लय (उस मे नाश वा उस का नाश)। 'तद्+लय' (तस्मिँस्तस्य वा लय —तल्लय, सप्तमीतत्पुरुष, षष्ठी-तत्पुरुषो वा) यहा तवर्ग =दकार से परे लकार विद्यमान है, अत तोर्लि (६९) सूत्र से दकार के स्थान पर पर-सवर्ण =लकार कर के विभक्ति लाने से 'तल्लय' प्रयोग सिद्ध होता है।

विद्वाल्ँ लिखति (विद्वान् लिखता है)। 'विद्वान्+लिखति' इस दशा मे तोर्लि (६९) सूत्र से नकार को पर-सवर्ण लकार आदेश होता है, परन्तु नकार के अनुनासिक होने स लकार भी अनुनासिक आदेश हो कर 'विद्वाल्ँ लिखति' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा —१ विपद्+लीन=विपल्लीन । २ कश्चिद्+लभते=कश्चिल्लभते। ३ कुशान्+लुनाति=कुशाल्ँ लुनाति। ४ महान्+लाभ = महाल्ँ लाभ । ५ उद्+लेख=उल्लेख । ६ धनवान्+लुनीते=धनवाल्ँ लुनीते। ७ हनुमान्+लङ्का दहति - हनुमाल्ँ लङ्का दहति । ८ हसन्+लेढि =हसल्ँ लेढि । ९ जगद्+लीयते=जगल्लीयते। १०. तद्+लीला=तल्लीला। ११ तद्+लीन=तल्लीन । १२ यद्+लक्षणम्=यल्लक्षणम्। १३ चिद्+लय =चिल्लय । १४ विद्युद्+लेखा=विद्युल्लेखा।

'तस्मात्+लृकारात्' इत्यादि मे तोर्लि (६९) प्रवृत्त नही होगा, क्योकि इस मे 'लृ'—सदृश है, 'ल' नही। केवल जश्त्व ही होगा 'तस्माद् लृकारात्'।

ध्यान रहे कि यह सूत्र झलां जशोऽन्ते (६७) की दृष्टि मे असिद्ध है, अत जहा उस का विषय होगा वहा प्रथम जश्त्व हो कर पश्चात् तोर्लि (६९) सूत्र प्रवृत्त होगा। यथा—जगत्+लीयते=जगद्+लीयते=जगल्लीयते।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०) उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य ।८।४।६०॥

उद परयो स्था-स्तम्भो पूर्व-सवर्ण ॥

अर्थ—'उद्' से (परे) स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण हो।

व्याख्या—उद ।५।१। स्था स्तम्भो ।६।२। पूर्वस्य ।६।१। सवर्ण ।१।१। (अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण, से[1])। अर्थ —(उद) 'उद्' उपसर्ग से (स्था-स्तम्भो) स्था और स्तम्भ् के स्थान पर (पूर्वस्य) पूर्व का (सवर्ण) सवर्ण आदेश होता है।

---

१ यद्यपि अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्ण (७९) सूत्र मे 'पर सवर्ण' है, तथापि अनुवृत्ति केवल 'सवर्ण' की ही आती है। इस का कारण यह है कि अनुवृत्ति अधिकृत पदो की ही आया करती है और अधिकृति स्वरितेनाधिकारः (१ ३ ११) इस सूत्र मे स्वरित-स्वर के बल से होती है। पूर्व समय मे उक्त सूत्र मे स्वरित-

'उदः' यहां दिग्योग में पञ्चमी है; अर्थात् 'उद्' से किसी दिशा में स्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण होगा। वर्णों में दो ही दिशा सम्भव हो सकती हैं, एक पर और दूसरी पूर्व। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या 'उद्' से पूर्वस्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण हो या परस्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण हो? किञ्च—यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या व्यवधान से रहित पूर्व या पर-स्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण हो या व्यवहित पूर्व या पर स्थित स्था और स्तम्भ् को भी पूर्वसवर्ण हो? इन शङ्काओं की निवृत्ति के लिये अग्रिम परिभाषा-सूत्र लिखते हैं।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(७१) तस्मादित्युत्तरस्य ।१।१।६६॥

पञ्चमी-निर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् ॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त के निर्देश से क्रियमाण कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पर के स्थान पर जानना चाहिये।

व्याख्या—तस्माद् इति पञ्चम्यन्तानुकरणं लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तम् [**उदः स्था-स्तम्भोः** आदि सूत्रों में स्थित 'उदः' आदि पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण यहां 'तस्मात्' शब्द से किया गया है, इस के आगे पञ्चमी के एकवचन का **सुंपां सुंलुक्**० (७.१.३९) सूत्र से लुक् हुआ समझना चाहिये]। इति इत्यव्ययपदम्। निर्दिष्टात् ।५।१। (**तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** सूत्र से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा)। उत्तरस्य ।६।१। **अर्थः**—(तस्माद् इति निर्दिष्टात्) **उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य** आदि सूत्रों में स्थित 'उदः' आदि पञ्चम्यन्त पदों के निरन्तर उच्चारण किये गये अर्थों से (उत्तरस्य) परले के स्थान पर कार्य होता है।

पञ्चम्यन्त पदों के अर्थों का निरन्तर उच्चारण तभी हो सकता है जब उन से अव्यवहित [व्यवधान-रहित] उत्तर को कार्य्य हो; अतः यह सुतराम् आ जाता है कि सूत्रों में स्थित पञ्चम्यन्त पदों के अर्थों से अव्यवहित पर को कार्य हो। इस सूत्र की विशेष व्याख्या **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१६) सूत्र के समान समझ लेनी चाहिये। हम यहां पिष्ट-पेषण करना नहीं चाहते।

इस सूत्र से अन्ततोगत्वा यह ज्ञात होता है कि उदाहरणों में पञ्चम्यन्त पद के अर्थ से अव्यवहित पर को ही कार्य हो, पूर्व को अथवा व्यवहित पर को कार्य न हो। यथा—'उद्+प्रस्थानम्' यहां यद्यपि 'उद्' से 'स्था' परे है, तथापि 'प्र' शब्द का मध्य में व्यवधान होने से **उदः स्थास्तम्भोः**० (७०) सूत्र द्वारा पूर्व-सवर्ण नहीं होता। इसी प्रकार **तिङ्ङतिङः** (८.१.२८) [अतिङन्त से तिङन्त को निघात अर्थात् सर्वानु-

---

स्वर केवल 'सवर्णः' पर था, 'पर' पर नहीं। यद्यपि अब स्वरितादि-स्वर-चिह्न नहीं रहे; तथापि **प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः** की तरह **प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः** भी जानना चाहिये। अथवा 'पर' में षष्ठी का लोप समझना चाहिये।

दात्तस्वर हो] सूत्र 'ईडे अग्निम्' मे प्रवृत्त नही होता, क्योंकि 'अग्निम्' इस अतिङन्त पद मे 'ईडे' यह तिङन्त पद परे नहीं, पूर्व मे वर्त्तमान है।

यह परिभाषा-सूत्र है। परिभाषाएं प्रयोगसिद्धि मे स्वतन्त्रतया कुछ कार्य नही किया करती, अपितु सूत्रो के अर्थों मे मिश्रित हो कर प्रयोगसिद्धि किया करती हैं, यह हम पीछे लिख चुके हैं। इस के अनुसार यह परिभाषा भी उद: स्था-स्तम्भो: पूर्वस्य (७०)आदि सूत्रों के साथ मिल कर एकार्थ उत्पन्न करेगी। तो अब उद: स्थास्तम्भो: पूर्वस्य (७०) सूत्र का यह अर्थ हो जायेगा—'उद्' से अव्यवहित पर स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण आदेश हो। इसी प्रकार तिङ्ङतिङ: (८.१.२८) सूत्र का यह अर्थ होगा—अतिङन्त पद से अव्यवहित पर तिङन्त के स्थान पर निघात अर्थात् सर्वानुदात्त-स्वर हो।

'उद्+स्थान' 'उद्+स्तम्भन' इन दोनो स्थानो पर 'उद्' से परे अव्यवहित स्था और स्तम्भ् विद्यमान हैं, अत: इन के स्थान पर पूर्व-सवर्ण करना है। अब 'स्था-स्तम्भो:' के षष्ठ्यन्त होने से अलोऽन्त्यस्य (२१) सूत्र से इन के अन्त्य अल् के स्थान पर पूर्व-सवर्ण प्राप्त होता है, इस पर अलोऽन्त्यस्य (२१) की अपवाद परिभाषा लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(७२) आदे: परस्य।१।१।५३॥

परस्य यद् विहितं तत् तस्यादेर्बोध्यम्। इति सस्य थ:॥

अर्थ:—पर के स्थान पर जो कार्य विधान किया जाता है, वह कार्य उस (पर) के आदि वर्ण के स्थान पर समझना चाहिये।

व्याख्या—आदे:।६।१। अल:।६।१। (अलोऽन्त्यस्य से)। परस्य।६।१। अर्थ:—(परस्य) पर के स्थान पर विधान किया कार्य (आदे:) उस के आदि (अल:) अल् के स्थान पर होता है। यहां सूत्रार्थ, अनुकूल पदो का अध्याहार कर के ही किया जाता है।

'उद्+स्थान' 'उद्+स्तम्भन' यहां तस्मादित्युत्तरस्य (७१) परिभाषा की सहायता से उद: स्था-स्तम्भो: पूर्वस्य (७०) सूत्र द्वारा परले स्था और स्तम्भ् को पूर्व-सवर्ण होना था, अब वह इस परिभाषा द्वारा पर के आदि अर्थात् सकार को होगा।

अब यहां यह विचार प्रस्तुत होता है कि स् को पूर्व (दकार) का कौन सा सवर्ण हो? क्योंकि पूर्व (दकार) का एक सवर्ण नही किन्तु पांच सवर्ण हैं—त्, थ्, द्, ध्, न्। इस शङ्का की निवृत्ति के लिये स्थानेऽन्तरतम: (१७) सूत्र उपस्थित हो कर कहता है कि 'प्राप्त हुए आदेशों मे अत्यन्त सदृश आदेश हो'। इस के अनुसार अब हमें 'त्, थ्, द्, ध्, न्' इन पांच वर्णों में से सकार के अत्यन्त सदृश वर्ण ढूंढना है। यदि यहां स्थानकृत आन्तर्य (सादृश्य) देखते हैं तो वह लृतुलसानां दन्ता: के अनुसार सब मे समान है; अत: इस आन्तर्य से काम नहीं चल सकता। अर्थकृत और प्रमाण-कृत सादृश्य तो इन मे हो ही नही सकता। अत: अब शेष बचे गुणकृत आन्तर्य अर्थात् यत्नो

द्वारा सादृश्य से ही परीक्षा करेंगे । यत्न—आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के होते हैं । इन में प्रथम आभ्यन्तर-यत्न तो सकार के साथ उन पांचों में से किसी का भी नहीं मिलता; क्योंकि **ईषद्विवृतमूष्मणाम्** के अनुसार सकार का 'ईषद्विवृत' और उन पांचों का **तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्** के अनुसार 'स्पृष्ट' है । अतः बाह्य-यत्नों की दृष्टि से ही परीक्षा करते हैं । सकार का 'विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण' बाह्य-यत्न है । उन पांचों के बाह्य-यत्न निम्नप्रकारेण हैं—

त् का बाह्ययत्न—विवार, श्वास, अघोष और अल्पप्राण है ।
थ् का बाह्ययत्न—**विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण** है ।
द् का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और अल्पप्राण है ।
ध् का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और महाप्राण है ।
न् का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और अल्पप्राण है ।

इस से सिद्ध होता है कि बाह्ययत्नों की दृष्टि से थकार ही सकार के तुल्य है । अतः सकार के स्थान पर पूर्वसवर्ण थकार ही होता है— उद्+थ्थान, उद्+थ्तम्भन । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (७३) **झरो झरि सवर्णे** ।८।४।६४।।

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि ।।

अर्थः—हल् से परे झर् का विकल्प से लोप हो सवर्ण झर् परे हो तो ।

व्याख्या हलः ।५।१। (**हलो यमां यमि लोपः** से) । झरः ।६।१। लोपः ।१।१। (**हलो यमां यमि लोपः** से) । अन्यतरस्याम् ।७।१। (**झयो होऽन्यतरस्याम्** से) । सवर्णे ।७।१। झरि ।७।१। अर्थः—(हलः) हल् से[1] (झरः) अव्यवहित पर झर् का (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (लोपः) लोप हो जाता है (सवर्णे) सवर्ण (झरि) झर् परे हो तो ।

यहां निमित्त[2] और स्थानियों[3] का यथासङ्ख्य नहीं होता; अर्थात् यहां 'झ् का झ् परे होने पर, भ् का भ् परे होने पर, घ् का घ् परे होने पर, ढ् का ढ् परे होने

१. हल् से परे झर् का लोप विहित होने से 'पत्त्रम्, दत्त्वा, तत्त्वम्, सत्त्वम्, कित्त्वम्, ङित्त्वम्, मित्त्रम्, क्षत्त्रियः, छत्त्रम्, छात्त्रः, पुत्त्रः' इत्यादि में 'त्' का और 'वाग्ग्मी' में 'ग्' का लोप नहीं होगा । पत्र, तत्व, कित्व, वाग्मी आदि लिखना अपाणिनीय है ।

२. जिसके होने पर कोई कार्य हो उसे 'निमित्त' कहते हैं यथा **इको यणचि** (१५) में अच् परे होने पर इक् को यण् होता है तो अच् निमित्त है । **झरो झरि सवर्णे** (७३) सूत्र में झर् परे होने पर झर् का लोप कहा गया है तो परला 'झर्' निमित्त है ।

३. जिस के स्थान पर कुछ किया जाता है उसे 'स्थानी' कहते हैं । यथा—**झरो झरि सवर्णे** (७३) में झर् के स्थान पर लोप विहित होने से 'झर्' स्थानी है; इसी प्रकार **इको यणचि** (१५) आदि में इक् आदि स्थानी हैं ।

पर' इत्यादि क्रम से लोप नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा अभीष्ट होता तो आचार्य 'झरो झरि' इतना ही सूत्र बनाते 'सवर्णे' पद का ग्रहण न करते, अतः विदित होता है कि वे सवर्ण झर् मात्र परे होने पर झर् का लोप चाहते हैं। इस का प्रयोजन 'उद् थ् तम्भन' आदि प्रयोगों में थकार आदि का लोप करना है।

'उद् थ् थान' 'उद् थ् तम्भन' यहां हल् = दकार से परे इस सूत्र द्वारा झर् = प्रथम थकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है, क्योंकि इस से परे थकार और तकार क्रमशः सवर्ण झर् विद्यमान हैं। इस प्रकार लोपपक्ष में—उद्+थान, उद्+तम्भन। लोपाभाव में—उद+थ्थान उद+थ्तम्भन। अब इन सब स्थानों पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४) खरि च ।८।४।५४॥

खरि झलां चरः स्युः । इत्युदो दस्य तः । उत्थानम् । उत्तम्भनम् ॥

अर्थः—खर् प्रत्याहार परे होने पर झलों के स्थान पर चर् हो जाता है। इत्युदो दस्य तः—इस सूत्र से उद् के दकार को तकार हो जाता है।

व्याख्या—खरि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । झलाम् ।६।३। (झलां जश् झशि से)। चरः ।१।३। (अभ्यासे चर्च से वचन-विपरिणाम कर के)। अर्थः—(खरि) खर् प्रत्याहार परे होने पर (झलाम्) झलों के स्थान पर (चरः) चर् हो जाते हैं।

वर्गों के प्रथम, द्वितीय तथा श्, ष्, स् वर्ण—'खर्' कहाते हैं। वर्गों के प्रथम तथा श्, ष्, स् वर्ण—'चर्' कहाते हैं। वर्गों के पञ्चम वर्णों को छोड़ कर शेष सब वर्गस्थ तथा ऊष्म वर्ण—'झल्' प्रत्याहार के अन्तर्गत हो जाते हैं।

श्, ष्, स् इन झलों के स्थान पर श्, ष्, स्' ही चर् होते हैं। यथा—'निश्चयः, रामश्चिनोति' यहां चकार खर् परे होने पर शकार झल् को शकार चर् ही हुआ है। 'वृष्टिः, दृष्टिः' यहां टकार खर् होने पर षकार झल् को षकार चर् ही हुआ है। 'अस्ति, स्तः, रामस्स्य' यहां खर् परे होने पर सकार झल् को सकार चर् ही हुआ है। झल् प्रत्याहारान्तर्गत हकार से परे कभी खर् नहीं आता, क्योंकि खर् से पूर्व हकार को सदैव हो ढः (२५१) द्वारा ढकार हो जाता है।

प्रश्न—यदि 'श्, ष्, स्' के स्थान पर 'श्, ष्, स्' होते हैं और हकार की जरूरत नहीं, तो झल् की बजाय झय् और चर् की बजाय चय् ही क्यों नहीं कह देते?

उत्तर—खरि च (७४) सूत्र में झल् और चर् की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है, उसी से यहां काम चल जाता है, अब यदि झय् और चय् कहेंगे तो उन का ग्रहण करना पड़ेगा, इस से लाघव की बजाय गौरव-दोष उत्पन्न होगा, अतः इन अनुवर्तित झल् और चर् पदों से ही काम चलाने में लाघव है, किञ्च इन के ग्रहण से कोई दोष तो उत्पन्न होता ही नहीं।

स्थानेऽन्तरतमः (१७) सूत्र द्वारा जिस झल् का जिस चर् के साथ स्थान साम्य होगा, वही उसी के स्थान पर आदेश होगा। तालिका यथा—

रूप में परिणत किया जायेगा। अर्थः—(ङः) ङकार से परे (वा) विकल्प कर के (सि—सः) सकार का अवयव (धुँट्) धुँट् हो जाता है। उदाहरण यथा—

षड्+सन्तः (छः सज्जन)। यहां **खरि च** (८.४.५४) के असिद्ध होने से प्रथम इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहां ङकार से परे 'सन्तः' पद का आदि सकार विद्यमान है, अतः उस सकार का अवयव 'धुँट्' यह शब्द-समुदाय विकल्प से होगा। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या 'धुँट्' सकार का आद्यवयव हो या अन्तावयव? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम परिभाषा-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—(८५) आद्यन्तौ टकितौ ।१।१।४५।।

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः । षट्त्सन्तः, षट् सन्तः ।।

अर्थः—टित् और कित् जिस के अवयव कहे गये हों वे उस के क्रमशः आद्य-वयव तथा अन्तावयव होते हैं।

व्याख्या—आद्यन्तौ ।१।२। टकितौ ।१।२। समासः—आदिश्च अन्तश्च = आद्यन्तौ। इतरेतरद्वन्द्वः। टश्च क् च = टकौ। टकारादकार उच्चारणार्थः। इतरेतर-द्वन्द्वः। टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(टकितौ) टकार इत् वाला तथा ककार इत् वाला क्रमशः (आद्यन्तौ) आद्यवयव तथा अन्तावयव होता है। किस का अवयव होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर सुतरां यह आ जाता है कि जिस का अवयव विधान किया गया हो। 'क्रमशः' शब्द **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) परिभाषा द्वारा प्राप्त होता है।

'षड्+सन्तः' यहां **ङः सि धुँट्** (८४) सूत्र से सकार का अवयव धुँट् विधान किया गया है। धुँट् के टकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत् सञ्ज्ञा होती है अतः धुँट् टित् है। इस लिये यह सकार का आद्यवयव होगा। 'षड्+धुँट् सन्तः' ऐसा हो कर **हलन्त्यम्** (१) द्वारा टकार तथा **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) द्वारा उकार की इत्संज्ञा हो जाती है[1] पुनः इन इत्सञ्ज्ञकों का **तस्य लोपः** (३) से लोप करने पर—

हो रहा है। इस शास्त्र में आगम प्रायः टित्, कित् या मित् होते हैं। धुँट् आदि टित् हैं। कुँक्, टुँक् आदि कित् हैं। नुँम् आदि मित् आगम कहाते हैं। टित् का आगम जिसे कहा जाये उस के आदि में, कित् का आगम जिसे कहा जाये उस के अन्त में, तथा मित् का आगम जिसे कहा जाये उस के अन्त्य अच् से परे बैठता है। यह सब (८५, २४०) सूत्रों पर आगे स्पष्ट हो जायेगा।

१. ध्यान रहे कि कुछ वैयाकरण यहां उकार आदि को उच्चारणार्थक मानते हुए प्रयोजनाभाव के कारण इन की इत्संज्ञा नहीं करते। परन्तु अन्य वैयाकरणों का कथन है कि उच्चारण भी तो एक प्रयोजन है अतः इन की इत्संज्ञा और लोप अवश्य करना चाहिये। इसी प्रकार आगे कुँक्-टुँक्-तुँक्-नुँम् अनँङ् आदियों में भी समझ लेना चाहिये।

'षड्+ध् मन्त'। अत्र खरि च (७४) सूत्र से सकार खर् के परे होने पर धकार को तकार पुनः उस तकार को भी खर् मान डकार को भी टकार हो कर 'षट्त्सन्त'[1] प्रयोग निष्पन्न हुआ। जिस पक्ष में 'धुंट्' आगम न हुआ उस पक्ष में खरि च (७४) से डकार को टकार हो कर 'षट् सन्त' प्रयोग सिद्ध हुआ। इस प्रकार इस के दो रूप बन गये।

इस के अन्य उदाहरण यथा—१ लिट्त्सु, लिट्सु। २ षट्त्सुखानि, षट् सुखानि। ३ तुरासाट्त्ससरति, तुरासाट् ससरति। ४ षट्त्सन्ततयः, षट् सन्ततयः। ५ षट्त्समस्याः, षट् समस्याः। ६ षट्त्सन्निकर्षाः, षट् सन्निकर्षाः। इत्यादि।

[लघु०] विधि सूत्रम्—(८६) ङ्णोः कुँक्टुँक् शरि।८।३।२८॥

वा स्तः॥

अर्थः—शर् परे होने पर ङकार णकार को क्रमशः विकल्प करके कुँक् और टुँक् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—ङ्णोः।६।२। कुँक्टुँक्।१।१। शरि।७।१। वा इत्यव्ययपदम् (हे मपरे वा स)। समासः—ङ् च ण् च=ङ्णौ, तयोः=ङ्णोः। इतरेतरद्वन्द्वः। कुँक् च टुँक् च=कुँक्टुँक्, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(शरि) शर् परे होने पर (ङ्णोः) ङकार और णकार के अवयव (कुँक्टुँक्) कुँक् और टुँक् (वा) विकल्प करके होते हैं। कुँक् और टुँक् कित् हैं अतः आद्यन्तौ टकितौ (८५) परिभाषा से ये ङकार और णकार के अन्तावयव होंगे। यथासंख्यपरिभाषा (२३) से ङकार को कुँक् तथा णकार को टुँक् का आगम होगा। उदाहरण यथा—

'प्राङ्+षष्ठः, सुगण्+षष्ठः' यहां ङकार णकार से परे षकार शर् विद्यमान है अतः ङकार को कुँक् तथा णकार को टुँक् का आगम हो कर उकार और ककार अनुबन्धों का लोप हो गया तो—

[कुँक्टुँक्पक्षे]	प्राङ्क्+षष्ठः।	सुगण्ट्+षष्ठः।
[कुँक्टुँकोरभावे]	प्राङ्+षष्ठः।	सुगण्+षष्ठः।

अब कुँक्-टुँक्-पक्ष में अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(१४) चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्॥

प्राङ्ख्षष्ठः, प्राङ्क्षष्ठः, प्राङ्षष्ठः। सुगण्ठ्षष्ठः, सुगण्ट्षष्ठः, सुगण् षष्ठः॥

अर्थः—शर् परे होने पर चय् प्रत्याहार के स्थान पर वर्गों के द्वितीय वर्ण विकल्प कर के हो जाते हैं।

व्याख्या—चयः।६।१। द्वितीयाः।१।३। शरि।७।१। पौष्करसादेः।६।१। इति इत्यव्ययपदम्। वाच्यम्।१।१। अर्थः—(चयः) चय् अर्थात् वर्गों के प्रथम वर्णों के

---

१ यहां चर्त्व असिद्ध है अतः चयो द्वितीयाः शरि० (वा० १४) से तकार को थकार नहीं होता। इसी प्रकार 'षट्सन्त' में भी समझ लेना चाहिये। यहां ष्टुत्व का भी न पदान्ताट्टोरनाम् (६५) सूत्र से निषेध हो जाता है।

झल् (वे वर्ण जिन के स्थान पर आदेश होते है।)				साम्य (स्थान)	चर् (आदेश होने वाले वर्ण)
घ् ,	ग् ,	ख् ,	क्	कण्ठ	क्
झ् ,	ज् ,	छ् ,	च्	तालु	च्
ढ् ,	ड् ,	ठ् ,	ट्	मूर्धा	ट्
ध् ,	द् ,	थ् ,	त्	दन्त	त्
भ् ,	ब् ,	फ् ,	प्	ओष्ठ	प्

श्, ष्, स् के स्थान पर पूर्णतया तुल्य क्रमशः श्, ष्, स् आदेश होते हैं।

भावः—वर्गों के दूसरे, तीसरे तथा चौथे वर्णों को वर्गों के प्रथम वर्ण हो जाते , यदि उन से परे वर्गों के पहले, दूसरे तथा श्, ष्, स्, वर्ण हों तो।

अब इस सूत्र से पूर्वोक्त चारों स्थानों में उद् के दकार को चर्=तकार हो र निम्नलिखित रूप सिद्ध होते है—

(लोपपक्ष में)—उत्थानम्, उत्तम्भनम्। (लोपाभाव में)—उत्थ्थानम्, त्थ्तम्भनम्। इस प्रकार प्रत्येक के दो-दो रूप सिद्ध होते हैं।

ध्यान रहे कि लोपाभाव वाले रूपों में **उदः स्था०** (८.४.६०) द्वारा किया या पूर्वसवर्ण=थकार **खरि च** (८.४.५४) की दृष्टि में असिद्ध है अतः उसे सकार ी दीखता है इसलिये उस थकार को तकार आदेश नहीं होता। इस विषय पर ोधपूर्ण विस्तृत विचार हमारे अभिनव प्रकाशित शोधग्रन्थ **न्यास-पर्यालोचन** के पृष्ठ २९३ से ३००) पर देखें।

अभ्यास (१८)

(१) सूत्र-समन्वय करते हुए सन्धि करें—

१. भेद्+तुम्। २. शिण्ड्+ढि। ३. उद्+स्थापयति। ४. भगवान्+लङ्कते। ५. छेद्+तव्यम्। ६. रुन्द्+धः। ७. प्रत्+त्तम्। ८. लिभ्+सा। ९. उद्+स्तम्भते। १०. उद्+स्थितः। ११. वन्द्+धुम्। १२. उद्+स्तम्भितुम्।

(२) सूत्रोपपत्तिपूर्वक सन्धिच्छेद करें—

१. पिण्ढि। २. भिन्तः। ३. धुक्षु। ४. उत्थाय। ५. उत्तम्भिता।

६ युयुत्सव । ७ अग्निमत्सु । ८ अत्त । ९ रुन्ध । १० ऊर्गीयते[1]। ११ अवत्तम् । १२ उत्थातव्यम् । १३ आरिप्सते । १४ निबन्धा [तृच्] । १५ छिन्धि । १६ भिन्धि ।

(३) झरो झरि सवर्णे मे 'सवर्णे' ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(४) तोर्लि सूत्र द्वारा नकार को अनुनासिक लकार ही क्यो होता है ?

(५) खर् परे होने पर श्, ष, स् के स्थान पर कौन से चर् होगे ?

(६) निमित्त, स्थानी और आदेश किसे कहते है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(७) आदे: परस्य और तस्मादित्युत्तरस्य परिभाषाओ की व्याख्या करें ।

(८) निम्नलिखित प्रश्नो का उत्तर दें—

(क) खर् परे होने पर हकार के स्थान पर क्या होगा ?

(ख) 'उत्थ्यानम्' यहा खरि च द्वारा थकार को तकार क्यो नही होता?

(ग) 'उद्+प्रस्थानम्' मे सन्धि करें ।

— ० —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४) झयो होऽन्यतरस्याम् ।८।४।६१॥

झय: परस्य हस्य वा पूर्वसवर्ण: । नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ: । वाग्घरि, वाग्हरि ॥

अर्थ—झय् से परे हकार के स्थान पर विकल्प कर के पूर्व-सवर्ण हो । नादस्येति—नाद, घोष, संवार और महाप्राण यत्न वाले हकार के स्थान पर वैसा वर्गो का चतुर्थ होगा ।

व्याख्या—झय: ।५।१। ह: ।६।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। (उद: स्थास्तम्भो: पूर्वस्य से) । सवर्ण: ।१।१। (अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण: से) । अर्थ:—(झय:) झय् से अव्यवहित पर (ह:) 'ह्' के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था मे (पूर्वस्य) पूर्व का (सवर्ण:) सवर्ण आदेश होता है । भाव— झय् प्रत्याहार मे पञ्चम वर्णो को छोड कर शेष सब वर्गस्थ वर्ण आ जाते हैं । इन से परे हकार हो तो उस के स्थान पर पूर्व (झय्)का सवर्ण (चतुर्थ) विकल्प से आदेश हो जाता है ।

उदाहरण यथा—

वाग्घरि (वाणी का शेर अर्थात् बोलने मे चतुर) । 'वाक्+हरि' यहा प्रथम झलां जशोऽन्ते (६७) से ककार को गकार आदेश हो—वाग्+हरि । अब यहा झय् गकार है, इस से परे हकार के स्थान पर पूर्व अर्थात् गकार का सवर्ण आदेश करना है । गकार के—क्, ख्, ग्, घ्, ङ् ये पाञ्च सवर्ण हैं । इन मे से यहा कौन हो? ऐसी शङ्का उत्पन्न होने पर स्थानेऽन्तरतम: (१७) सूत्र उपस्थित हो कर कहता है कि जो हकार के साथ अत्यन्त सदृश हो वही हकार के स्थान पर आदेश किया जाये । अब यदि स्थानकृत आन्तर्य देखते हैं तो हकार के सब सदृश ठहरते हैं, क्योकि, अकुह-

[1] ऊर्क्+गीयते=ऊर्ग्+गीयते=ऊर्गीयते (बल की प्रशसा होती है) ।

विसर्जनीयानां कण्ठः के अनुसार हकार और कवर्ग दोनों का कण्ठ स्थान है। अर्थकृत तथा प्रमाणकृत आन्तर्य तो यहा हो ही नही सकते। अतः अव शेष वचे गुणकृत आन्तर्य (अर्थात् यत्नों द्वारा सादृश्य) में ही सदृशता जांचेंगे। आभ्यन्तर यत्न तो इन का हकार के साथ तुल्य हो नही सकता। **ईषद्विवृतमूष्मणाम्** के अनुसार हकार ईषद्विवृत तथा **तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्** के अनुसार कवर्ग स्पृष्ट है। अत. अव वाह्य यत्न देखेंगे। हकार का वाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और महाप्राण है। कवर्ग मे इस प्रकार के वाह्ययत्न वाला केवल घकार ही है, इस मे हकार के स्थान पर विकल्प कर के घकार हो विभक्ति लाने से पूर्वसवर्णपक्ष मे 'वाग्घरिः' और तदभावपक्ष मे 'वाग्हरिः' इस प्रकार दो रूप वन जाते हैं। वाचि वाचो वा हरिः (सिंहः) = वाग्घरिः।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. तद् + हानि = तद्धानिः। २. अच् + हीन - अज् + हीन = अज्झीनम्। ३. मधुलिड् + हसति = मधुलिड्ढसति। ४. अब् + हस्ती = अब्भस्ती। ५. अज् + ह्रस्व-दीर्घप्लुतः = अज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। ६. स्याड् + ह्रस्वश्च = स्याड्ढ्रस्वश्च। ७. दिग् + हस्ती = दिग्घस्ती। ८. सम्पद् + हर्ष = सम्पद्धर्षः। ९. रत्नमुड् + हरति = रत्नमुड्-ढरति। १०. वणिग् + हस्ती = वणिग्घस्ती। ११. दूराद् + हूते = दूराद्धूते। १२. मित्वाद् + ह्रस्वः = मित्वाद्-ध्रस्वः। १३. समुद् + हर्ता = समुद्धर्ता।

इन सब स्थानो पर पूर्वसवर्णाभाव-पक्ष मे भी प्रयोग जान लेना चाहिये। यहां सर्वत्र हकार के स्थान पर पूर्व अक्षर के वर्ग का चतुर्थ वर्ण ही होता है; क्योंकि आन्तर्यपरीक्षा मे वह ही हकार के अत्यन्त सदृश हो सकता है। सार यह है कि झय्-प्रत्याहारान्तर्गत कवर्ग से परे हकार को घकार, चवर्ग से परे हकार को झकार, टवर्ग से परे हकार को ढकार, तवर्ग से परे हकार को धकार तथा पवर्ग से परे हकार को भकार विकल्प से होता है। पक्ष मे हकार भी रहता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७६) **शश्छोऽटि** ।८।४।६२॥

झयः परस्य शस्य छो वाऽटि। 'तद् + शिव' इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते 'खरि च' (७४) इति जकारस्य चकारः। तच्छिवः, तच्शिवः॥

अर्थः—झय् से परे शकार को विकल्प से छकार हो जाता है, अट् परे हो तो।

व्याख्या—झयः ।५।१। (**झयो होऽन्यतरस्याम्** से)। शः ।६।१। छः ।६।१। छकारादकार उच्चारणार्थः। अन्यतरस्याम् ।७।१। (**झयो होऽन्यतरस्याम्** से)। अटि ।७।१। अर्थः—(झयः) झय् से परे (शः) 'श्' के स्थान पर (छः) छ् हो जाता है (अटि) अट् परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था मे अर्थात् विकल्प से।

यह सूत्र **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) और **खरि च** (८.४.५४) दोनो की दृष्टि मे असिद्ध है। इन दोनो मे भी **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.३९) की दृष्टि मे **खरि च** (८.४.५४) असिद्ध है; अतः सब से प्रथम **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) फिर **खरि च** (७४) और तदनन्तर **शश्छोऽटि** (७६) सूत्र प्रवृत्त होगा। उदाहरण यथा—

तद्+शिव=तज्+शिव (स्तो श्चुना श्चुः)=तच् शिव (खरि च)। अब यहां झय् चकार है इस से परे शकार वर्तमान है और उस शकार से भी इकार=अट् परे है, अतः प्रकृत सूत्र से शकार को वैकल्पिक छत्व हो कर विभक्ति लाने से छत्व-पक्ष में 'तच्छिव' और छत्वाभाव-पक्ष में 'तच्शिव' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। तस्य शिव इति, स चासौ शिव इति वा विग्रहः। इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१ मधुलिट्+शेते=मधुलिट् छेते। २ वाक्+शेते=वाक् छेते। ३ मत्+श्वशुर=मच्+श्वशुर=मच्छ्वशुर। ४ यावत्+शक्यम्=यावच्+शक्यम्=यावच्छक्यम्। ५ जगत्+शान्ति=जगच्+शान्ति=जगच्छान्ति। ६ तद्+श्रुत्वा=तज्+श्रुत्वा=तच्+श्रुत्वा=तच्छ्रुत्वा। ७ कश्चित्+शेते=कश्चिच्+शेते=कश्चिच्छेते। ८ प्राक्+शेते=प्राक्छेते।

नोट—यहां पर पदान्तस्य (८.४.५८) सूत्र से 'पदान्तस्य' पद का भी अनुवर्त्तन होता है। विभक्तिविपरिणाम से वह पञ्चम्यन्त हो कर 'झय' का विशेषण बन जाता है। इस से यह अर्थ हो जाता है—पदान्त झय् से परे शकार को छकार हो विकल्प कर के अट् परे हो तो। 'पदान्त' पद लाने का यह प्रयोजन है कि—'विश्नम्, चक्शौ' आदियों में अपदान्त पकार-ककारादियों से परे शकार को छकार न हो जाये।

[लघु०] वा०—(१२) छत्वममीति वाच्यम्॥

तच्छ्लोकेन॥

अर्थः—पदान्त झय् से परे शकार को वैकल्पिक छकारादेश—अट् परे की बजाय अम् परे होने पर कहना चाहिये।

व्याख्या—पूर्वोक्त शश्छोऽटि (७९) सूत्र से 'तच्छ्लोकेन, तच्छ्मश्रुणा' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि इन में शकार से परे लकार है, जो अट् प्रत्याहार में नहीं आता। अतः इन की सिद्धि के लिये कात्यायन ने यह वार्त्तिक रचा है (छत्वम् ।१।१।) छत्व (अमि ।७।१।) अम् प्रत्याहार परे होने पर हो (इति) ऐसा (वाच्यम्) कहना चाहिये। कात्यायन का पाणिनि के शश्छोऽटि (७९) सूत्र के अन्य किसी अंश में मतभेद नहीं, केवल 'अटि' अंश में ही मतभेद है। वे चाहते हैं कि 'अटि' को हटा कर इस के स्थान पर 'अमि' कर देना चाहिये। ऐसा करने से 'तच्छ्लोकेन' आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। तथाहि—

तद्+श्लोक=तज्+श्लोक (स्तो श्चुना श्चुः)=तच्+श्लोक (खरि च)। अब यहां झय्=चकार से शकार परे विद्यमान है। इस से 'ल्' यह अम् परे है। अतः विकल्प कर के शकार को छकार हो कर विभक्ति लाने से छत्वपक्ष में 'तच्छ्लोकेन' और छत्वाभाव में 'तच्श्लोकेन' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। [स चासौ श्लोकः-तच्छ्लोकः, यद्वा तस्य श्लोकः—तच्छ्लोकः, तेन=तच्छ्लोकेन। कर्मधारयः षष्ठीतत्पुरुषो वा। उस श्लोक से या उस के श्लोक से]।

इस वार्त्तिक के कुछ अन्य उदाहरण यथा—(१) एतद्+श्मश्रु=एतच्छ्मश्रु, एतच्श्मश्रु। (२) तद्+श्लक्ष्ण=तच्छ्लक्ष्ण, तच्श्लक्ष्ण। (३) तद्+श्मशानम्=

तच्छ्मशानम्, तच्श्मशानम् । (४) तद्+श्लिष्ट=तच्छ्लिष्टः, तच्श्लिष्टः । (५) भूभृत्+श्लाघा=भूभृच्छ्लाघा, भूभृच्श्लाघा । (६) सकृत्+श्लेष्मा=सकृच्छ्लेष्मा, सकृच्श्लेष्मा ।

नोट—कात्यायनद्वारा **शश्छोऽटि** सूत्र में 'अटि' की जगह 'अमि' रखने का सुझाव कोई अपूर्वकथन नहीं है । आचार्यवर पाणिनि ने **गोत्रचरणाच्छ्लाघात्याकार-तदवेतेषु** (५.१.१३३) सूत्र में 'चरणात्+श्लाघा=चरणाच्छ्लाघा' लिखकर स्वयम् अम्परक शकार को छत्व किया है । ध्यान रहे कि आचार्यचरण सब बातें मुख द्वारा प्रतिपादन नहीं किया करते । उन की कई बातें इङ्गित आदि के द्वारा भी प्रकट होती हैं । अतएव भाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं—**इह इङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रप्रबन्धेनाचार्याणाम् अभिप्रायो गम्यते** (महाभाष्य ६.३.३७) ।

अभ्यास (१९)

(१) हकार को पूर्वसवर्ण वर्गचतुर्थ ही क्यों होता है, अन्य क्यों नहीं ?
(२) कात्यायन **शश्छोऽटि** सूत्र को **शश्छोऽमि** क्यों बनाना चाहते हैं ?
(३) विरप्शम्, चक्शौ, तच्श्चुत्वम्—में छत्व क्यों नहीं होता ?
(४) भवान् हसति, प्राङ् हसति—में हकार को पूर्वसवर्ण क्यों नहीं होता ?
(५) श्चुत्व, चर्त्व और छत्व में कौन प्रथम और कौन पश्चात् होगा ?

———::०::———

[लघु०] विधि-सूत्रम्-(७७) मोऽनुस्वारः ।८।३।२३॥

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि । हरिं वन्दे ॥

अर्थः—हल् परे हो तो मकारान्त पद के स्थान पर अनुस्वार हो ।

व्याख्या—मः ।६।१। पदस्य ।६।१। (यह अधिकार पीछे से आ रहा है) । अनुस्वारः ।१।१। हलि ।७।१। (**हलि सर्वेषाम्** से) । 'मः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः इस से **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) द्वारा तदन्तविधि हो कर 'मान्तस्य पदस्य' ऐसा बन जाता है । अर्थः—(हलि) हल् परे होने पर (मः=मान्तस्य) मकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (अनुस्वारः) अनुस्वार होता है । **अलोऽन्त्यस्य** (२१) द्वारा मकारान्त पद के अन्त्य अल्=मकार को ही अनुस्वार होगा । उदाहरण यथा—

हरिं वन्दे (मैं हरि को नमस्कार करता हूं) । 'हरिम्+वन्दे' यहां मकारान्त पद 'हरिम्' है; सुँबन्त होने से **सुप्तिङन्तं पदम्** (१४) द्वारा इस की पद सञ्ज्ञा है । इस से परे 'व्' यह हल् विद्यमान है अतः मकारान्त पद के अन्त्य अल्=मकार को अनुस्वार आदेश हो कर 'हरिं वन्दे' प्रयोग सिद्ध होता है ।[1]

इसके अन्य उदाहरण यथा—मातरम्+वन्दे=मातरं वन्दे, पुस्तकम्+पठति =पुस्तकं पठति, गुरुम्+नमति=गुरुं नमति, शत्रुम्+जयति=शत्रुं जयति । इत्यादि ।

---

१. कई लोग 'हरिम्वन्दे, सम्भृत्तः' इत्यादि लिखते हैं, सो ठीक नहीं; अनुस्वार आवश्यक है । हां परसवर्ण वैकल्पिक है—हरिव्ँ वन्दे, हरिं वन्दे ।

'हल् परे होने पर' इस लिये कहा है कि गृहम्+आगच्छति=गृहमागच्छति, यम्+ऋषिम्=यमृषिम्, तम्+लृकारम्=तम्लृकारम् इत्यादि स्थानों पर अच् परे रहते अथवा अवसान में अनुस्वार न हो।

पद ग्रहण का यह प्रयोजन है कि— गम्यते, नम्यते' इत्यादि स्थानों पर हल् परे रहते हुए भी अपदान्त मकार को अनुस्वार न हो।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८) नश्चाऽपदान्तस्य झलि।८।३।२४॥

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः। यशांसि। आक्रंस्यते। झलि किम्? मन्यसे॥

अर्थः—झल् परे होने पर अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो जाता है।

व्याख्या—न।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अपदान्तस्य।६।१। झलि।७।१। म।६।१। अनुस्वारः।१।१। (मोऽनुस्वारः से)। अन्वयः—अपदान्तस्य न मः च झलि अनुस्वारः। अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर (अपदान्तस्य) अपदान्त (न) नकार (च) और (मः) मकार के स्थान पर (अनुस्वारः) अनुस्वार हो जाता है।

उदाहरण यथा—

यशांसि (बहुत यश)। 'यशान्+सि' ['यशस्'शब्दाज्जसि जश्शसोः शिः (२३७) इति शादेशे शि सर्वनामस्थानम् (२३८) इति तस्य सर्वनामस्थानतायां नपुंसकस्य झलचः (२३९) इति नुमागमे सान्तमहतः संयोगस्य (३४२) इति सान्त-संयोगस्योपधाया दीर्घे च कृते—'यशान् सि' इति निष्पद्यते।] यहां सकार झल् परे होने से अपदान्त नकार को अनुस्वार करने से 'यशांसि' प्रयोग सिद्ध होता है।

आक्रंस्यते (ऊपर जाएगा)। 'आक्रम्+स्यते' [आङ्पूर्वात् क्रमुँ पादविक्षेपे (भ्वा०) इति धातोः कर्तरि लृँटि आङ उद्गमने (१२४०) इत्यात्मनेपदम्।] यहां अपदान्त मकार को पूर्वसूत्र (७७) से अनुस्वार प्राप्त नहीं हो सकता था, अब इस सूत्र से सकार झल् परे होने से उसे अनुस्वार हो कर 'आक्रंस्यते' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र में 'झलि' का ग्रहण इस लिये किया गया है कि—'गम्+यसे= गम्यसे, मन्+यसे=मन्यसे, हन्+यसे=हन्यसे' इत्यादि स्थानों में झल् परे न होने के कारण अनुस्वार न हो जाये। 'अपदान्तस्य' ग्रहण करने से 'राजन्पाहि, ब्रह्मन्पाहि' इत्यादियों में पदान्त नकार को अनुस्वार नहीं होता।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—१ पयान्+सि=पयांसि। २ आयम्+स्यते=आयंस्यते। ३ अनम्+सीत्=अनंसीत्। ४ नम्+स्यति=नंस्यति। ५. श्रेयान्+सि=श्रेयांसि। ६ हन्+सि=हंसि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७९) अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः।८।४।५७॥

स्पष्टम्। शान्तः॥

अर्थः—यय् परे होने पर अनुस्वार को पर-सवर्ण होता है।

व्याख्या—अनुस्वारस्य ।६।१। ययि ।७।१। पर-सवर्णः ।१।१। समासः—परस्य सवर्णः=परसवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः । अथवा पर इति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदम्, सवर्ण इति तु स्वरितत्वादधिकृतम् । अर्थः—(ययि) यय् परे होने पर (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (पर-सवर्णः) पर-सवर्ण आदेश होता है । भाव—सब वर्गस्थ वर्ण तथा अन्तःस्थ वर्ण यय् प्रत्याहार के अन्दर आ जाते हैं; इन के परे होने पर अनुस्वार को पर अर्थात् यय् का सवर्ण आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

शान्तः (शान्त वा नष्ट) । 'शम्+त' [**शमुँ उपशमे** (दिवा०), **क्तः**, **वा दान्तशान्तेत्यादिनिपातनान्नेट्**, **अनुनासिकस्य क्वीति दीर्घः** ।] यहां **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) सूत्र से अपदान्त मकार को अनुस्वार हो 'शांत' ऐसा बना; अब इस सूत्र से तकार यय् परे होने पर अनुस्वार को पर-सवर्ण करना है । तकार के सवर्ण—'त्, थ्, द्, ध्, न्' ये पाञ्च वर्ण हैं । इन में नासिकास्थान के सादृश्य के कारण अनुस्वार के सदृश वर्गपञ्चम नकार है, अतः अनुस्वार को नकार हो कर विभक्ति लाने से 'शान्तः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग का पञ्चम ही अनुस्वार को परसवर्ण होगा ।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—१. अन्+कित=अंकित=अङ्कितः । २. अन्+चित=अंचित=अञ्चितः । ३. कुन्+ठित=कुंठित=कुण्ठितः । ४. दाम्+त=दांत=दान्तः । ५. गुम्+फित=गुंफित=गुम्फितः । ६. भुन्+क्ते=भुं+क्ते=भुङ्क्ते । ७. गम्+ता=गं+ता=गन्ता । इत्यादि ।

यहां 'यय्' ग्रहण स्पष्टार्थ है । यय् ग्रहण न करने से भी कोई दोष नहीं आ सकता । तथाहि—आक्रंस्यते, दंशनम्, अंह्रिपः इत्यादि प्रयोगों में **रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति** इस वचन के कारण परसवर्ण नहीं होगा तथा अचों के परे होने पर तो अनुस्वार ही नहीं मिल सकेगा ।

इस सूत्र का 'य्, व्, र्, ल्' के परे होने पर यद्यपि कोई उदाहरण नहीं तथापि अग्रिम **वा पदान्तस्य** (८०) सूत्र में इन का उपयोग दिखाया जायेगा ।

नोट—ग्रन्थकार ने इस सूत्र की वृत्ति [जो सूत्र पर संस्कृत में उसका अर्थ लिखा होता है उसे 'वृत्ति' कहते हैं] नहीं लिखी; केवल 'स्पष्टम्' लिखा है । इसका आशय यह है कि इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है अर्थात् इस सूत्र में अन्य किसी सूत्र के पद की अनुवृत्ति नहीं आती । यह सूत्र ही अपनी आप वृत्ति है । एवमन्यत्र भी समझ लेना चाहिये ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०) **वा पदान्तस्य** ।८।४।५८।।

(पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात्) । त्वङ्करोषि, त्वं करोषि ।।

अर्थः—यय् परे हो तो पदान्त अनुस्वार को विकल्प कर के परसवर्ण हो ।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम् । पदान्तस्य ।६।१। अनुस्वारस्य ।६।१। ययि ।७।१। परसवर्णः ।१।१। (**अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से)। अर्थः—(ययि) यय् परे होने पर

(पदान्तस्य) पदान्त (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (पर-सवर्णः) परसवर्ण आदेश होता है। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है, अतः पूर्व-सूत्र अपदान्त अनुस्वार को और यह पदान्त अनुस्वार को यय् परे होने पर परसवर्ण करेगा। उदाहरण यथा—

त्वङ्करोषि त्वं करोषि (तू करता है)। 'त्वम्+करोषि' यहां 'त्वम्' इस पद के अन्त्य मकार को मोऽनुस्वारः (७७) सूत्र से अनुस्वार हो कर 'त्वं+करोषि' बना। अब इस सूत्र से पदान्त अनुस्वार को पर=ककार का सवर्ण ङकार करने से—त्वङ् करोषि। परसवर्णाभावपक्ष मे—त्वं करोषि। [पर=ककार के 'क्, ख्, ग्, घ्, ङ्' ये पाञ्च सवर्ण हैं, स्थानकृत आन्तर्य से ककार का सवर्ण ङकार ही होगा।]। इसी प्रकार—

तङ् कथञ् चित्रपक्षण् डयमानन् नभस्थम् पुरुषोऽवधीत् [परसवर्णपक्षे]।

तं कथं चित्रपक्षं डयमानं नभस्थं पुरुषोऽवधीत् [परसवर्णाभावे]।

'य्, व्, ल्' वर्ण सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते हैं, यह हम पीछे सञ्ज्ञा-प्रकरण मे बता चुके हैं। य्, व्, ल् के परे होने पर अनुस्वार के स्थान पर स्थानी अनुस्वार के अनुनासिक होने से स्थानेऽन्तरतमः (१७) द्वारा सानुनासिक यँ, वँ, लँ ही होंगे। यथा—१ सम्+वत्सरः=सं+वत्सरः=सवँवत्सरः। २ दानम्+यच्छति=दानं+यच्छति=दानयँ यच्छति। ३ अहम्+लिखामि=अहं+लिखामि=अहलँ लिखामि। रेफ के परे रहते पदान्त अनुस्वार को परसवर्ण नहीं होता क्योंकि रेफ का कोई सवर्ण नहीं—कुलं रोदिति।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि मोऽनुस्वारः (७७) से विहित अनुस्वार यद्यपि सामान्यतः प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक परसवर्ण को प्राप्त होता है तथापि र्, श्, ष्, स्, ह् के परे होने पर वह परसवर्ण को प्राप्त नहीं होता अनुस्वार अनुस्वार ही रहता है। यथा—कुलं रोदिति। शिशुं शाययति। तं षट्पदम्पश्य। मित्रं सान्त्वयति। शत्रुं हन्ति। कारण—रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति, किञ्च श्, ष्, स्, ह् यय्प्रत्याहार मे भी नहीं आते।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८१) मो राजि समः क्वौ।८।३।२५॥

क्विँबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्॥

अर्थ—क्विँबन्त राज् धातु परे हो तो सम् के मकार को मकार ही हो।

व्याख्या—समः।६।१। मः।६।१। (मोऽनुस्वारः से)। म।१।१। मकारादकार उच्चारणार्थ। क्वौ।७।१। राजि।७।१। क्विँ(प्)यह प्रत्यय है। प्रत्ययग्रहणे तदन्त-ग्रहणम्—इस परिभाषा के अनुसार व्याकरण मे जहां २ प्रत्यय का ग्रहण होता है वहां २ तदन्त अर्थात् वह प्रत्यय जिस के अन्त मे होता है ऐसे शब्दसमूह (प्रकृति+प्रत्यय)का ग्रहण किया जाता है। इस नियम के अनुसार क्विँप् से तदन्त-विधि हो कर 'क्विँबन्त' बन जायेगा। अर्थ—(क्वौ) क्विँबन्त (राजि) राज् धातु परे हो तो (समः) सम् के (मः) मकार के स्थान पर (म) मकार आदेश होता है।

'सम्' यह अव्यय होने के कारण सुँबन्त होने से पद-सञ्ज्ञक है। इस के मकार को क्विँबन्त 'राज्' धातु परे होने पर **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार प्राप्त था। इस सूत्र से सम् के मकार को मकार किया गया है; इसका अभिप्राय यह है कि मकार, मकार ही बना रहे अनुस्वार न हो जाये। उदाहरण यथा—

सम्+राट् [चक्रवर्ती राजा। **राजृ दीप्तौ** (भ्वा०) इत्यस्मात् **सत्सूद्विष०** इति क्विँपि, क्विँब्लोपे, सावागते **हल्ङ्याब्भ्यः**—इति सोर्लोपे, पदान्ते **व्रश्चभ्रस्ज०** इति षत्वे, डत्वे, अवसाने चर्त्वे च कृते 'राट्' इति सिध्यति।] यहां रेफ-हल् के परे रहते मकार को **मोऽनुस्वारः** (७७) सूत्र के अनुस्वार प्राप्त था जो अब प्रकृतसूत्र से नहीं होता, इस तरह 'सम्राट्' पद सिद्ध होता है। इसी प्रकार—सम्राजौ, सम्राजः, सम्राजम्, सम्राजा। सम्राजो भावः—साम्राज्यम्।

क्विँबन्त कहने से 'सम्+राजते=संराजते' मे अनुस्वार हो जाता है।

नोट—'सम्राज्ञी' शब्द वेद में देखा जाता है (**सम्राज्ञी श्वशुरे भव**—ऋ० १०.४६) परन्तु लोक मे यह शब्द चिन्तनीय है; 'राज्ञी' की सिद्धि कर के 'सम्' मे योग होने पर क्विँबन्त न होने से 'म्' नहीं हो सकता। अथवा 'सम्राज्' शब्द से भी ङीप् नहीं हो सकता। तब स्त्रीलिङ्ग में भी 'सम्राट्' ही रहेगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम् (८२) **हे मपरे वा** ।८।३।२६॥

मपरे हकारे मस्य मो वा। किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति॥

अर्थः—जिस हकार से परे मकार हो, उस हकार के परे होने पर मकार के स्थान पर विकल्प कर के मकार होता है। 82/76

व्याख्या—मपरे।७।१। हे।७।१। मः।६।१। (**मोऽनुस्वारः** से)। मः।१।१। (**मो राजि समः क्वौ** से)। वा इत्यव्ययपदम्। समासः—मः परो यस्मादसौ मपरस्तस्मिन्=मपरे। बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(मपरे) मकार परे वाले (हे) हकार के परे होने पर (मः) मकार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (मः) मकार आदेश हो जाता है। यह सूत्र **मोऽनुस्वारः** (७७) का वैकल्पिक अपवाद है।

उदाहरण यथा—'किम्+ह्मलयति' [क्या चलाता वा हिलाता है? **ह्मल चलने** (भ्वा०) हेतुमण्णौ मित्त्वाद् ह्रस्वः] यहां मकार परे वाला हकार परे है अतः मकार को मकार अर्थात् अनुस्वाराभाव हो—किम्ह्मलयति। पक्ष में **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो—किं ह्मलयति। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह—कथम्ह्मलयति, कथं ह्मलयति इत्यादि रूप होते हैं।

[लघु०] वा०—(१३) **यवलपरे यवला वा**॥

कियँ ह्यः, किं ह्यः। किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति॥

अर्थः—यकार, वकार, अथवा लकार परे वाला हकार परे हो तो मकार के स्थान पर क्रमशः विकल्प कर के यकार, वकार तथा लकार हो जाते हैं।

व्याख्या—यवलपरे ।७।१। हे ।७।१। (हे मपरे वा से) । म ।६।१। (मोऽनु-स्वारः मे)। यवला ।१।३। वा इत्यव्ययपदम् । समास —यश्च वश्च लश्च=य-व-ला, इतरेतरद्वन्द्व । एष्वकार उच्चारणार्थ । यवला परा यस्मादसौ यवलपरस्तस्मिन् = यवलपरे । बहुव्रीहि-समास । अर्थ —(यवलपरे) य्, व्, ल्, परे वाले (हे) हकार के परे होने पर (म) म् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (यवला) यकार, वकार, लकार हो जाते । यह वार्त्तिक **मोऽनुस्वार.** (७७) का वैकल्पिक अपवाद है। जिस पक्ष मे 'य्, व्, ल्' नही होगे उस पक्ष मे **मोऽनुस्वार**' (७७) से अनुस्वार हो जायेगा । यहा **यथासंख्यमनुदेश' समानाम्** (२३) से आदेश और निमित्तो को क्रमश समझ लेना चाहिये । अर्थात् यकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार को यकार, वकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार को वकार तथा लकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार को लकार आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'किम्+ह्य' (कल क्या था ?) यहा यकार परे वाला हकार परे है अत. मकार को विकल्प कर के यकार होगा । अनुनासिक और अननुनासिक भेद से यकार दो प्रकार का होता है । यहा **स्थानेऽन्तरतम** (१७) से अनुनासिक मकार को वैसा ही अनुनासिक यकार हो कर—किय्ँ ह्य । पक्ष मे **मोऽनुस्वार**' (७७) से अनुस्वार हो कर 'किं ह्य' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए ।

'किम्+ह्वलयति' [क्या हिलाता है ? ह्वल चलने (भ्वा०) हेतुमण्णौ मित्त्वाद् ह्रस्व'] यहा वकार परे वाला हकार परे है अत मकार को विकल्प कर के अनुनासिक वकार होकर—किव्ँ ह्वलयति । पक्ष मे **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो कर—'किं ह्वलयति' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए ।

'किम्+ह्लादयति' (कौन वस्तु प्रसन्न करती है ?) यहा लकार परे वाला हकार परे है । अत मकार को विकल्प कर के अनुनासिक लकार हो कर—किल्ँ ह्लादयति । पक्ष मे **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो कर—'किं ह्लादयति' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार १ मित्रल्ँ ह्लादते, मित्रं ह्लादते। २ इदय्ँ ह्यस्तनम्, इदं ह्यस्तनम् । ३. किव्ँ ह्वयतु, किं ह्वयतु । इत्यादि ।

नोट—सर्वत्र कौमुदीग्रन्थो मे यहा मकार के स्थान पर अनुनासिक 'यँ, वँ, लँ' ही मुद्रित प्राप्त होते हैं। टीकाकारो का कथन है कि 'य्, व्, ल्' अनुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते है। यहा अनुनासिक मकार के स्थान पर दोनो के प्राप्त होने पर **स्थानेऽन्तरतम.** (१७) से अनुनासिक यकार वकार लकार ही होते हैं। परन्तु शेखरकार नागेशभट्ट ने इस मत का खण्डन किया है। उन का कथन है कि 'य्, व्, ल्' यहा विधान किये गये हैं। विधीयमान अण् अपने सवर्णियो के ग्राहक नहीं होते [देखो—**अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय** (११)] । अत यहा अनु-नासिक 'य्, व्, ल्' नही हो सकेंगे किन्तु जैसे विधान किये गये हैं वैसे निरनुनासिक

ही होंगे । यथा—'मतुँप्' के अनुनासिक मकार के स्थान पर **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६२) से अनुनासिक वकार नहीं होता किन्तु निरनुनासिक वकार ही होता है वैसे यहां पर भी करना चाहिये । **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (११६), **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** (८१७) इत्यादि सूत्रों के 'अर्थवत्' 'यण्वतः' आदि शब्दों में आचार्य पाणिनि ने स्वयं भी मतुँप् के अनुनासिक मकार के स्थान पर अनुनासिक वकार नहीं किया इस से भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य विधीयमान अण् के सवर्णग्रहण के पक्ष में नहीं हैं । कौमुदीपक्ष के समर्थकों का कथन है कि **ऋत उत्** (२०८) में 'उ' विधीयमान है वह अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं करा सकता, तो पुनः इसे क्यों मुनि ने तपर किया है ? अतः इस से प्रतीत होता है कि विधीयमान भी अण् कहीं-कहीं अपने सवर्णियों का ग्रहण कराते हैं । इस विषय का विस्तृत विचार हमारे नवीन मुद्रित शोधग्रन्थ **न्यास-पर्यालोचन** में पृष्ठ (२६०) पर देखें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८३) नपरे नः ।८।३।२७॥**

नपरे हकारे (परे) मस्य नो वा । किन्ह्नुते किं ह्नुते ॥

अर्थः—नकार परे वाला हकार परे हो तो मकार के स्थान पर विकल्प कर के नकार हो जाता है

व्याख्या—नपरे ।७।१। हे ।७।१ (**हे मपरे वा** से) । मः ।६।१। (**मोऽनुस्वारः** से)। नः ।१।१। (नकारादकार उच्चारणार्थः)। वा इत्यव्ययपदम् (**हे मपरे वा** से) । समासः—नः परो यस्मात् स नपरस्तस्मिन्=नपरे । बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(नपरे)नकार परे वाला (हे) हकार परे हो तो (मः) म् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (नः) न् आदेश हो जाता है । यह सूत्र भी **मोऽनुस्वारः** (७७) का वैकल्पिक अपवाद है । पक्ष में **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'किम्+ह्नुते' (क्या छिपाता है ?) यहां नकार परे वाला हकार परे है अतः प्रकृतसूत्र (८३) से मकार को वैकल्पिक नकार होकर—किन्ह्नुते । पक्ष में **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो कर 'किं ह्नुते' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए ।

इसी प्रकार—१. कथन्ह्नुते, कथं ह्नुते । २. यन्ह्नुते, यं ह्नुते । ३. तन् ह्नोतुम्, तं ह्नोतुम् । **ह्नुङ् अपनयने** (अदा०) के सिवाय अन्य धातु के उदाहरण यहां दुर्लभ हैं ।

अभ्यास (२०)

(१) निम्नलिखित रूपों में सूत्रसमन्वयपूर्वक सन्धिच्छेद करें—

१. तपांसि । २. भूमिङ् खनति । ३. आम्रव् चूषति । ४. फलन् ह्नुते । ५. पुलँलिङ्गम् । ६. ऊर्व्वण्डयते । ७. विद्वांसः । ८. तलँ लिखामि । ९. निष्फलवँ वित्तम् । १०. नदीन्तरति । ११. कथयँ ह्यः । १२. सत्यं शिवं सुन्दरम् । १३. धनयँ यच्छति । १४. कान्तः । १५. साम्राज्यम् । १६. त्वलँ लोमशः । १७. रामं रमेशम् भजे । १८. सर्वम्वल-

वताम्पथ्यम् । १९ त्वव्ँ वक्ता । २० पण्डित । २१ अहङ्कार । २२ अहव्ँ वसामि । २३ कुलल्ँ ह्लादते । २४ इत्थम् ह्मलयति ।

(२) मा गृध कस्यस्विद्धनम् यहा अन्त्य मकार को अनुस्वार क्यों नहीं होता? अपदान्त (?) है तो नश्चापदान्तस्य झलि से हो जाये ।

(३) एव लृकारोऽपि आ, पुस्तक—क्या ये शुद्ध हैं ? सप्रमाण लिखें ।

(४) 'राजन् + पाहि' यहा नकार को अनुस्वार क्यो न हो ?

(५) 'तन्यते' यहा नश्चापदान्तस्य झलि सूत्र क्या प्रवृत्त नहीं होता ?

(६) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः यहा 'पर' पद को पृथक् क्यो मानते हैं ?

(७) 'सम्राज्ञी' शब्द क्या अशुद्ध है ?

(८) 'किय्ँ ह्यः' म अनुनासिक य्ँ करना कहा तक शुद्ध है ? टिप्पण करें ।

(९) 'नपरे, मपरे यवलपरे' पदो मे समास बना कर उस का विग्रह लिखें ।

(१०) कुल रोदिति यहा अनुस्वार को परसवर्ण क्या नहीं होता ?

— — ० —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४) ङः सि धुँट् ।८।३।२९॥

ङात् परस्य सस्य धुँड् वा ॥

अर्थ—ङकार से परे सकार का अवयव धुँट् हो जाता है विकल्प से ।

व्याख्या—ङः ।५।१। सि ।७।१। धुँट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् (हे मपरे वा से) । 'ङः' यह पञ्चम्यन्त है । **तस्मादित्युत्तरस्य** (७१) के अनुसार ङकार से अव्यवहित पर का अवयव 'धुँट्' होना चाहिये । 'सि' यह सप्तम्यन्त पद है । **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१६) के अनुसार सकार से अव्यवहित पूर्व का अवयव 'धुँट्' होना चाहिये । अब 'धुँट्' किस का अवयव हो ? यह शङ्का उत्पन्न होती है । इस का समाधान यह है—**उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्** अर्थात् जहा पञ्चमी और सप्तमी दोनो से निर्देश किया गया हो वहा पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् होता है । इस नियम के अनुसार 'ङः' यहा पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् हुआ । अतः ङकार से अव्यवहित पर=सकार को ही धुँट् का आगम[1] होगा । एव 'सि' को 'सः' इस षष्ठ्यन्त-

---

१ व्याकरण प्रक्रिया मे जब किसी के साथ कुछ अंश जोड़ा जाता है तो उस जुड़ने वाले अंश को आगम कहते हैं । आगम मित्र की तरह होते हैं जैसे मित्र घर मे आकर गृहपति के मेहमान बन उस के समीप बैठते हैं वैसे आगमो की स्थिति होती है । अत एव कहा है—**मित्रवदागमा भवन्ति** । जिस आगम होता है उसे प्राय षष्ठ्यन्ततया प्रस्तुत किया जाता है । जैस —**आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१), **इदितो नुँम् धातोः** (४६३), **ङ्णोः कुँक्टुँक् शरि** (८६) आदि । परन्तु जब पञ्चमी और सप्तमी दोनो विभक्तियों मे निर्देश होता है तब पञ्चम्यन्त निर्देश के बलवान् होने से सप्तम्यन्त पद को षष्ठ्यन्त के रूप मे परिणत होना पड़ता है और तब आगम उसी का ही अवयव माना जाता है जैसा कि इस प्रकृतसूत्र मे

स्थान पर (द्वितीयाः) वर्गों के द्वितीय वर्ण हों (शरि) शर् प्रत्याहार परे होने पर (इति) यह (पौष्करसादेः) पौष्करसादि आचार्य के मत में (वाच्यम्) कहना चाहिये। अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प सिद्ध हो जायेगा। पौष्करसादि पाणिनि से पूर्ववर्त्ती वैयाकरण थे।

आन्तर्य के कारण वर्गप्रथम को उसी वर्ग का द्वितीय वर्ण हो जायेगा। भाव यह है कि श्, ष्, स् के परे होने पर क् को ख्, च् को छ्, ट् को ठ्, त् को थ् तथा प् को फ् आदेश विकल्प से हो जाता है। उदाहरण यथा—

१ संवथ्सरः, संवत्सरः। २ अभीफ्सा, अभीप्सा। ३ अख्षरम्, अक्षरम्। ४ ख्षीरम्, क्षीरम्। ५ ख्षमा, क्षमा। ६ ख्षितिः, क्षितिः। ७ थ्सरुः, त्सरुः। ८ अफ्सरसः, अप्सरसः। ९ विरफ्शिन्, विरप्शिन्। १० अख्षि, अक्षि। इत्यादि।

'प्राङ् क्+षष्ठः, सुगण् ट्+षष्ठः' इन दोनों स्थानों पर षकार=शर् परे रहने के कारण ककार और टकार को क्रमशः खकार और ठकार होकर निम्नलिखित रूप बने—

कुँक् पक्ष में { १ प्राङ्ख्षष्ठः। (पौष्करसादि के मत में)
२ प्राङ्क्षष्ठः[1]।

कुँक्-अभाव में—३ प्राङ् षष्ठः।

टुँक् पक्ष में { १ सुगण्ठ्षष्ठः। (पौष्करसादि के मत में)
२ सुगण्ट्षष्ठः।

टुँक्-अभाव में—३ सुगण् षष्ठः।

इस के अन्य उदाहरण यथा—१ प्राङ्ख्षु, प्राङ्क्षु, प्राङ्षु। २ गवाङ्ख्षु, गवाङ्क्षु, गवाङ्षु। ३ तिर्यङ्ख् स्वपिति, तिर्यङ्क् स्वपिति, तिर्यङ् स्वपिति। ४ क्रुङ्ख् श्वसिति, क्रुङ्क् श्वसिति, क्रुङ् श्वसिति। ५ उदङ्ख् शृणोति, उदङ्क् शृणोति, उदङ् शृणोति। ६ सुगण्ख् सहते, सुगण्क् सहते, सुगण् सहते। इत्यादि।

नोट—**चयो द्वितीयाः शरि०** वार्तिक **अनचि च** (८.४.४६) सूत्र पर पढ़ा गया है। यद्यपि **खरि च** (८.४.५४) सूत्र त्रिपादी में इस वार्तिक से परे होने के कारण इसे असिद्ध नहीं समझ सकता, तथापि वार्तिक के आरम्भसामर्थ्य से उस की यहां प्रवृत्ति नहीं होती। अन्यथा वार्तिक बनाने का कुछ प्रयोजन ही न रहे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७) **नश्च** ।८।३।३०॥

नान्तात् परस्य सस्य धुँड् वा। सन्त्सः, सन्सः॥

अर्थः—नकारान्त से परे सकार को विकल्प कर के धुँट् का आगम होता है।

व्याख्या—नः ।५।१। सि ।७।१। धुँट् ।१।१। (डः सि धुँट् से)। च इत्यव्ययपदम्। वा इत्यव्ययपदम् (हे मपरे वा से)। अर्थः—(नः) न् से परे (सि=सः)

१. ककार और षकार मिल कर 'क्ष्' हो जाता है। क्+ष्+अ=क्ष।

सकार का अवयव (धुँट्) धुँट् (वा) विकल्प करके हो जाता है। आद्यन्तौ टकितौ (८५) द्वारा धुँट् सकार का आद्यवयव होगा। उदाहरण यथा—

'सन्+स' (वह सज्जन है) यहां न् से सकार परे है अत सकार को धुँट् का वैकल्पिक आगम हो कर उँट् अनुबन्ध का लोप हो जाता है। अब खरि च (७४)सूत्र से चर्त्व अर्थात् धकार को तकार करने से—सन्त्स । धुँट्-अभाव पक्ष मे—सन्स । इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं। इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१ अस्मिन्त्समये, अस्मिन्समये। २ भवान्त्सखा, भवान्सखा। ३ सन्त्साधु, सन्साधु । ४ तान्त्सपत्नान्, तान्सपत्नान्। ५ धनवान्त्सहोदर, धनवान्सहोदर । ६ पठन्त्साट्ल्यम् पठन्साड्ल्यम्। ७ विद्वान्त्सहते, विद्वान्सहते। ८ पुमान्त्स्त्रिया, पुमान्स्त्रिया। ९ नेन्त्सिद्धवध्नातिषु च, नेन्सिद्धवध्नातिषु च। १० तान्त्साध्यान्त्साधय, तान्साध्यान्साधय। इत्यादि।

नोट—वृत्ति मे 'नान्तात्' पद 'न' को 'पदात्' का विशेषण कर देने से येन विधिस्तदन्तस्य द्वारा प्राप्त होता है। इस से हानि लाभ कुछ नही।

शङ्का—ड सि धुँट् (८४) नश्च (८७)इन दो ही सूत्रो मे 'सि' का ग्रहण होता है। इन्ही दोना स्थानो पर उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् इस परिभाषा का आश्रय कर 'सस्य' ऐसा मानना पडता है। इस से तो यही अच्छा होता कि यहां 'सि' पद की बजाय 'स' पद ग्रहण कर लेते।

समाधान—'स' ऐसा स्पष्ट षष्ठ्यन्त पद न कह कर 'सि' इस प्रकार सप्तम्यन्त पद के ग्रहण का प्रयोजन लाघव करना ही है। 'सि' मे डेढ मात्रा है परन्तु 'स' मे दो मात्रा होती थीं। [स् की आधी, इ की एक, कुल डेढ। स् की आधी, अ की एक, विसर्गों की आधी, कुल दो। अर्धमात्रा का लाघवगौरव है। अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा—यह उक्ति यहां चरितार्थ होती है।]

[लघु०] विधि सूत्रम्—(८८) शि तुँक् ।८।३।३१॥

पदान्तस्य नस्य शे परे तुँग्वा। सञ्छम्भु, सञ्च्छम्भु, सञ्चशम्भु, सञ्शम्भु ॥

अर्थ—शकार परे होने पर पदान्त नकार को विकल्प कर के तुँक् का आगम होता है।

व्याख्या—शि ।७।१। न ।६।१। (नश्च से)। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। वा इत्यव्ययपदम् (हे मपरे वा से)। तुँक् ।१।१। 'न' यह 'पदस्य' का विशेषण है अत इस से तदन्तविधि होती है। अर्थ—(शि) शकार परे होने पर (न) नान्त (पदस्य) पद का अवयव (वा) विकल्प करके (तुँक्) तुँक् हो जाता है। 'तुँक्' कित् होने से आद्यन्तौ टकितौ (८५) के अनुसार नान्त पद का अन्तावयव होगा।

उदाहरण यथा—

'सन्+शम्भु' (शम्भु भगवान् सत्स्वरूप है) यहां शकार परे है, अत 'सन्'

इस नान्त पद को तुँक् का आगम हो कर उँक् की इत्सञ्ज्ञा लोप करने पर—सन्त् शम्भुः। **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से त् को च् और न् को ञ् हो कर—सञ्च् शम्भुः। अब **शश्छोऽटि** (७६) से विकल्प कर के शकार को छकार हो—सञ्च् छम्भुः। पुनः **झरो झरि सवर्णे** (७३) से चकार का विकल्प करके लोप किया तो—(१) सञ्छम्भुः। जहां चकार का लोप न हुआ वहां (२) सञ्च्छम्भुः। जहां छत्व न हुआ वहां (३) सञ्च्शम्भुः। जहां तुँक् ही न हुआ वहां श्चुत्व हो (४) सञ्शम्भुः। इस प्रकार चार रूप सिद्ध हुए। रूपों के विषय में निम्नलिखित एक श्लोक प्रसिद्ध है—

ञछौ ञचछा ञचशा ञशाविति चतुष्टयम्।
रूपाणामिह तुँक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात्॥

नोट—विद्यार्थी प्रायः इस रूप की सिद्धि में भूल कर जाया करते हैं। भूल से बचने के लिये सब से प्रथम एक ही रूप को पकड़ें; जितने विकल्प हों उन सब को छोड़ दें। अर्थात् प्रथम एक ही रूप में तुँक्, छत्व तथा चकारलोप कर के उसे सम्पूर्ण सिद्ध कर लेना चाहिये। इस के बाद अन्तिम विकल्प से वैकल्पिक रूपों को पकड़ना आरम्भ करना चाहिये। अन्तिम विकल्प चकारलोप है जहां चकारलोप नहीं हुआ उस रूप को सिद्ध करना चाहिये। इस के बाद छत्व के विकल्प को पकड़ उसे सिद्ध करना चाहिये। तदनन्तर तुँक् का विकल्प सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार करने से रूपों में कोई अशुद्धि नहीं आयेगी। याद रखें कि शुद्ध-सिद्धि के रूपों का वही क्रम होता है जो ऊपर श्लोक में दिया गया है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—१. बालाञ्छास्ति। २. विद्वाञ्च्छोभते। ३. पुत्राञ्च्शाययति। ४. नमञ् शाखी। ५. श्वसञ्छेते। ६. भजञ्छिवम्। ७. बुद्धिमाञ्च्शृणोति। ८. धनवाञ् शूद्रः। ९. पठञ्छोचति। १०. आगच्छञ्च्छौनकादयः। ११. पुमाञ्च्श्रूयते। १२. मतिमाञ् श्लाघते। इत्यादि। प्रत्येक के चार चार रूप जानने चाहियें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८९) **ङमो ह्रस्वादचि ङमुँण्नित्यम्**।८।३।३२॥

ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुँट्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युतः॥

अर्थः—ह्रस्व से परे जो ङम्, वह है अन्त में जिस के ऐसा जो पद उस से परे अच् को नित्य ङमुँट् का आगम होता है।

व्याख्या—ङमः।५।१। ह्रस्वात्।५।१। अचि।७।१। ङमुँट्।१।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम्। यहां पीछे से अधिकृत 'पदात्' पद आ रहा है। 'ङमः' यह 'पदात्' का विशेषण है, अतः 'ङमः' से तदन्त-विधि होगी। **उभयनिर्देशे पञ्चमी-निर्देशो बलीयान्** इस परिभाषा के द्वारा ङमुँट् 'अचि' का ही अवयव समझा जायेगा। अर्थः—(ह्रस्वात्) ह्रस्व से परे (ङमः) जो ङम् तदन्त (पदात्) पद से परे (अचि=अचः) अच् का अवयव (नित्यम्) नित्य (ङमुँट्) ङमुँट् हो जाता है।

'ङमुँट्' में ङम् प्रत्याहार है उँकार उच्चारणार्थ तथा ट् **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञक है। ङम् प्रत्याहार को टित् करने का कोई प्रयोजन नहीं अतः सञ्ज्ञियों

अर्थात् ङ, ण्, न के साथ ङित्व का सम्बन्ध हो कर—'ङुँट्, णुँट्, नुँट्' ये तीन आगम प्राप्त होंगे। यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् (२३) के अनुसार ङकारान्त पद से परे अच् को ङुँट्, णकारान्त पद से परे अच् को णुँट् तथा नकारान्त पद से परे अच् को नुँट् का आगम होगा। उदाहरण यथा—

(१) 'प्रत्यङ्+आत्मा' (जीवात्मा) यहां यकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ङ्=ङम् है, अतः 'प्रत्यङ्' ङकारान्त पद हुआ। इस से परे अच् आकार को ङुँट् का आगम हो, उँट् के चले जाने पर 'प्रत्यङ्ङात्मा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(२) 'सुगण्+ईश' (सुगणाम्=सुयोग्य-गणितज्ञानाम् ईशः=स्वामी, षष्ठी-तत्पुरुष-समास) यहां गकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ण्=ङम् है, अतः 'सुगण्' णकारान्त पद हुआ। इस से परे अच्=ईकार को णुँट् का आगम हो, उँट् के चले जाने पर विभक्ति लाने से 'सुगण्णीशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(३) 'सन्+अच्युतः' (अच्युत भगवान् सत्स्वरूप है) यहां सकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे न=ङम् है, अतः 'सन्' यह नकारान्त पद हुआ। इस से परे अच्=अकार को नुँट् का आगम हो, उँट् के चले जाने से 'सन्नच्युतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—इस सूत्र में स्थित 'नित्यम्' पद का अर्थ 'प्रायः' है, अर्थात् यथा देवदत्त नित्य हंसता ही रहता है, विष्णुमित्र नित्य खाता ही रहता है इत्यादि वाक्यों में 'नित्य' शब्द का 'प्रायः' (बहुधा) अर्थ है इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। अतः इको यणचि, सुप्तिङन्तं पदम्, सनाद्यन्ता धातवः इत्यादि सूत्रों में ङमुँट् न होने पर भी कोई दोष नहीं आता। सन्नन्तान्न सनिष्यते—यहां पर दोनों प्रकार के उदाहरण हैं। [केचित्तु अनुबन्धो यो ङम् तदन्तात् पदादचो ङमुँडागमे कामचारिता, अन्यत्र तु नित्यतेत्याहुः।]

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१ कुर्वन्नास्ते। २ तिङ्ङतिङः। ३ तस्मिन्निति। ४ एकस्मिन्नहनि। ५ गच्छन्नवोचत्। ६ जानन्नपि। ७ भगवन्नत्र। ८ तस्मिन्नणि। ९ हसन्नागच्छति। १० पठन्नपतत्। ११ अस्मिन्नुद्याने। १२ सुगण्णालयः।

'ह्रस्वात्' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—भवान्+अत्र='भवानत्र' इत्यादि प्रयोगों में दीर्घ से परे ङम् होने से अच् को ङमुँट् न हो। 'अचि' कहने से—'गच्छन्+मुरवने' आदि में मकार को ङमुँट् का आगम नहीं होता।

अभ्यास (२१)

(१) जहां सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों द्वारा निर्देश हो वहां तस्मिन्निति० तथा तस्मादित्युत्तरस्य इन में किस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है?
(२) आद्यन्तौ टकितौ सूत्र की आवश्यकता पर सोदाहरण प्रकाश डालें।
(३) पटत्सन्त, पट्सन्त—आदि प्रयोगों में चयो द्वितीयाः शरि० वार्तिक द्वारा वर्गद्वितीय आदेश क्यों नहीं होता?
(४) 'प्राङ्ष्षष्ठ' आदि प्रयोगों में खरि च द्वारा चर्त्व क्यों नहीं होता?
(५) ङः सि धुँट् सूत्र की स्पष्टता के लिये ङः सः धुँट् ही क्यों नहीं कहा?

(६) क्या उपाय किया जाये जिस से सिद्धि करते समय 'सञ्छम्भुः' आदि रूपों का क्रम ग्रन्थोक्तप्रकार से शुद्ध सिद्ध हो ?

(७) ङमो ह्रस्वादचि ङमुँण्नित्यम् सूत्र में ङमुँट् को नित्य कहने वाले आचार्य किस कारण इको यण् अचि आदि में स्वयं ङमुँट् आगम नहीं करते ?

——::०::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९०) समः सुँटि ।८।३।५।।

समो रुँः स्यात् सुँटि ।।

अर्थः—सुँट् परे होने पर सम् के मकार के स्थान पर 'रुँ' आदेश हो।

व्याख्या—समः ।६।१। सुँटि ।७।१। रुँः ।१।१। (मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि से)। अर्थः—(सुँटि) सुँट् परे हो तो (समः) सम् के स्थान पर (रुँः) रुँ आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यस्य (२१) परिभाषा के अनुसार सम् के अन्त्य अल्=मकार को ही रुँ आदेश होगा।

'सम्+स्कर्ता' [यहां 'सम्' पूर्वक डुकृञ् करणे (तना०) धातु से तृच् प्रत्यय हो सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे सूत्र से कृ को सुँट् का आगम हो कर उँट् का लोप हो जाता है।] यहां सुँट् परे रहने से मकार को रुँ आदेश हो, अनुनासिक उकार को उपदेशेऽजनुनासिक इत् (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा कर तस्य लोपः (३) से लोप किया तो 'सर्+स्कर्ता' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१) अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ।८।३।२।।

अत्र रुँ-प्रकरणे रोः पूर्वस्याऽनुनासिको वा स्यात् ।।

अर्थः—इस रुँप्रकरण में रुँ से पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक हो।

व्याख्या—अत्र इत्यव्ययपदम्। अनुनासिकः ।१।१। पूर्वस्य ।६।१। तु इत्यव्ययपदम्। वा इत्यव्ययपदम्। मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि (८.३.१) सूत्र के बाद यह पढ़ा गया है। यहां 'अत्र' इसी रुँप्रकरण के लिये है; अतः ससजुषो रुँः (१०५) सूत्र से किये गये रुँ वाले स्थानों पर यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा।[1] अर्थः—(अत्र) मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि सूत्र से आरम्भ किये गये रुँ प्रकरण में (रोः) रुँ से (पूर्वस्य) पूर्व वर्ण के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (अनुनासिकः) अनुनासिक हो जाता है।

---

१. अष्टाध्यायी में रुँ का प्रकरण दो स्थानों पर आता है। एक अष्टमाध्याय के तृतीयपादस्थ मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि (८.३.१) सूत्र से लेकर कानाम्रेडिते (८.३.१२) सूत्र तक, और दूसरा ससजुषो रुँः (८.२.६६) आदि सूत्रों में। यहां 'अत्र' शब्द के कथन से प्रथम प्रकरण का ही ग्रहण होता है दूसरे ससजुषो रुँः (१०५) वाले प्रकरण का नहीं। इस प्रकरण के पांच सूत्र लघुकौमुदी में व्याख्यात हैं—समः सुँटि (९०), पुमः खय्यम्परे (९४), नश्छव्यप्रशान् (९५), नॄन् पे (९७), कानाम्रेडिते(१००)। अतः इन पांच सूत्रों के विषय में ही प्रकृत अनुनासिक (९१)तथा अनुस्वार (९२) की प्रवृत्ति समझनी चाहिये।

'सर्+स्कर्ता' यहां र् से पूर्व सकारोत्तर अकार को अनुनासिक हो—'सँर्+स्कर्ता' हुआ। जिस पक्ष मे अनुनासिक नही होता वहा अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६२) अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः ।८।३।४।।

अनुनासिकं विहाय रो पूर्वस्मात् परोऽनुस्वारागमः स्यात् ।।

अर्थः—जहां अनुनासिक होता है उस रूप को छोड अन्य पक्ष वाले रूप मे र् से पूर्व जो वर्ण उस से परे अनुस्वार का आगम होता है।

व्याख्या—अनुनासिकात् ।५।१। रो ।५।१। (मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा)। पूर्वात् ।५।१। (अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा)। पर ।१।१। अनुस्वार. ।१।१। 'अनुनासिकात्' यहा ल्यब्लोप मे पञ्चमी विभक्ति हुई है। यथा—प्रासादात् प्रेक्षते, प्रासादमारुह्य प्रेक्षत इत्यर्थ.। अत. यहा 'विहाय' इस ल्यबन्त का लोप समझना चाहिये। 'अनुनासिकं विहाय' ऐसा इस का तात्पर्य होगा। 'अनुनासिक' शब्द मे मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ है। अनुनासिकोऽस्त्यस्मिन्नित्यनुनासिकम्। अनुनासिकवद् रूपम् इत्यर्थ। अर्थ.—(अनुनासिकात्) अनुनासिक वाले रूप को छोड कर (रो) र् से (पूर्वात्) पूर्व जो वर्ण, उस से (पर) परे (अनुस्वार) अनुस्वार का आगम होता है। तात्पर्य यह है कि जिस पक्ष मे अनुनासिक नहीं होगा उस पक्ष में इस सूत्र स र् से पूर्व अनुस्वार का आगम होता है। ध्यान रहे कि पूर्वोक्त अनुनासिक आदेश था और यह अनुस्वार आगम है।

'सर्+स्कर्ता' यहा अनुनासिकाभाव-पक्ष मे र् से पूर्व वर्ण=अकार से परे अनुस्वार का आगम हो—'संर्+स्कर्ता' हुआ। तो अब इस प्रकार—(१) सँर्+स्कर्ता [अनुनासिक-पक्षे]। (२) संर्+स्कर्ता [अनुस्वारागम-पक्षे]। अब दोनो पक्षो मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३) खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।८।३।१५।।

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात्।।

अर्थः—खर् और अवसान परे होने पर पदान्त रेफ के स्थान पर विसर्ग हो।

व्याख्या—खरवसानयो ।७।२। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। र ।६।१। (रो रि से)। विसर्जनीय ।१।१। 'र' यह 'पदस्य' का विशेषण है अत येन विधिस्तदन्तस्य द्वारा तदन्तविधि हो कर 'रेफान्तस्य पदस्य' ऐसा बन जायेगा। समास—खर् च अवसानञ्च=खरवसाने, तयो=खरवसानयो। इतरेतरद्वन्द्व.। अर्थ.—(खरवसानयो.) खर् और अवसान परे होने पर (र) रेफान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (विसर्जनीय) विसर्ग आदेश होता है। अलोऽन्त्यस्य (२१) परिभाषा द्वारा रेफान्त पद के अन्त्य अल् रेफ को ही विसर्ग होगा।

'सँर्+स्कर्ता, संर्+स्कर्ता' यहा सुँट् वाला सकार खर् परे है अत दोनो पक्षो मे पदान्त रेफ को विसर्ग आदेश हो कर—'सँः+स्कर्ता, सं:+स्कर्ता' हुआ। अब यहां विसर्जनीयस्य स. (९६) से अपवाद वा शरि (१०४) सूत्र की प्राप्ति होती है, इस पर नित्यसकार के विधानार्थ अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(१५) सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः ॥

सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता ॥

अर्थः—सम्, पुम् तथा कान् शब्दों के विसर्ग को सकार आदेश होता है।

व्याख्या—सम्पुङ्कानाम् ।६।३। विसर्गस्य ।६।१। (प्रकरणलब्ध) । सः ।१।१। वक्तव्यः।१।१। समासः—सम् च पुम् च कान् च=सम्पुङ्कानः, तेषाम्=सम्पुङ्कानाम् । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(सम्पुङ्कानाम्) सम्, पुम् और कान् शब्दों के (विसर्गस्य) विसर्ग के स्थान पर (सः) स् आदेश (वक्तव्यः) कहना चाहिये ।

'सँः+स्कर्ता, संः+स्कर्ता' यहां सम् के विसर्ग हैं अतः विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हो कर—१. सँस्स्कर्ता, २. संस्स्कर्ता ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

भाष्य में **समो वा लोपमेके** द्वारा सम् के मकार का पाक्षिक लोप भी प्रतिपादन किया गया है। यह लोप भी इसी रुँ के प्रकरण में स्थित है अतः अनुनासिक और अनुस्वार भी होते हैं। इस प्रकार 'सँस्कर्ता, संस्कर्ता' ये एक सकार वाले रूप भी बनते हैं। अत एव 'संस्कृतम्' में एक सकार देखा जाता है। सिद्धान्त-कौमुदी में इस के १०८ रूप बनाये गये हैं; विशेष जिज्ञासु वहीं देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९४) पुमः खय्यम्परे ।८।३।६॥

अम्परे खयि पुमो रुँः स्यात् । पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः ॥

अर्थः—अम् प्रत्याहार जिस से परे है ऐसा खय् यदि परे हो तो पुम्[1] शब्द के मकार को रुँ आदेश होता है।

व्याख्या—पुमः ।६।१। रुँः ।१।१।(मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि सूत्र से)। खयि ।७।१। अम्परे ।७।१। समासः—अम् परो यस्माद् असौ=अम्परस्तस्मिन्=अम्परे । बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(अम्परे) अम् है परे जिस से ऐसे (खयि) खय् प्रत्याहार के परे होने पर (पुमः) पुम् शब्द के स्थान पर (रुँः) रुँ आदेश हो जाता है। **अलो-ऽन्त्यस्य** (२१) से पुम् के मकार को ही रुँ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'पुम्+कोकिल' (पुमांश्चासौ कोकिलश्चेति विग्रहः, 'पुंस्+सुँ कोकिल+सुँ' इति कर्मधारयसमासे विभक्त्योर्लुकि **संयोगान्तस्य लोपः** इति पुंसः सकारलोपे अनुस्वारस्यापि पुनर्मकारः) यहां पुम् से परे ककार खय् विद्यमान है, इस से परे ओकार अम् भी मौजूद है अतः पुम् के मकार को प्रकृतसूत्र से रुँ आदेश हो कर पूर्ववत् अनुनासिकादेश (९१) अनुस्वारागम (९२), विसर्ग (९३) तथा **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः** (वा० १५) से विसर्ग के स्थान पर सकार कर विभक्ति लाने से 'पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः' (नर कोयल) ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

---

१. समासावस्था में जब 'पुंस्' शब्द के सकार का **संयोगान्तस्य लोपः** (२०)से लोप हो जाता है तो **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के अनुसार अनुस्वार को भी पुनः मकार होकर 'पुम्' हो जाता है। उसी का यहां ग्रहण है; 'पुम्' कोई नया शब्द नहीं।

नोट—'पुंस्कोकिल, पुस्कोकिल' यहां खरवसानयो० (९३) सूत्र से रेफ को विसर्ग करने पर कुप्वो ≍क≍पौ च (९८) सूत्र द्वारा जिह्वामूलीय प्राप्त होते थे, पुन उस के अपवाद सम्पुङ्कानां सो वक्तव्य (वा० १५) वार्त्तिक से सकार आदेश हो जाता है।

खय् को अम्परक इस लिये कहा है कि 'पुंक्षीरम्' आदि मे रुँ आदेश न हो। यहां सकार का संयोगान्त-लोप हो कर मोऽनुस्वार से मकार को अनुस्वार हो जाता है। 'खय् परे' होने पर इस लिये कहा है कि 'पुंलिङ्गम्, पुंदास, पुंगव, पुंनाग'— इत्यादियो मे रुँत्व न हो जाये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५) नश्छव्यप्रशान् ।८।३।७॥

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुँ स्यात्, न तु प्रशान्शब्दस्य ॥

अर्थ —जिस से परे अम् प्रत्याहार है ऐसे छव् प्रत्याहार के परे होने पर नकारान्त पद को रुँ आदेश हो, परन्तु प्रशान् शब्द को न हो।

व्याख्या—न ।६।१। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। रुँ ।१।१। (मतुँवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि से)। अम्परे ।७।१। (पुम खय्यम्परे से)। छवि ।७।१। अप्रशान् ।१।१। (षष्ठ्यर्थे प्रथमा)। समास —अम् परो यस्माद् असौ=अम्पर, तस्मिन्= अम्परे। बहुव्रीहिसमास। न प्रशान्=अप्रशान्, नञ्तत्पुरुष। 'न' यह 'पदस्य' का विशेषण है अत येन विधिस्तदन्तस्य द्वारा इस से तदन्त-विधि हो कर 'नान्तस्य पदस्य' बन जाता है। अर्थ —(अम्परे) अम् परे वाला (छवि) छव् परे होने पर (न) नकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (रुँ) रुँ आदेश होता है, परन्तु (अप्रशान्) प्रशान् शब्द को नही होता। अलोऽन्त्यस्य (२१) परिभाषा द्वारा नकारान्त पद के अन्त्य नकार को ही रुँ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'चक्रिन्+त्रायस्व' (हे चक्रिन्! त्व त्रायस्व=रक्ष) यहां 'चक्रिन्' यह नान्त पद है। इस से परे तकार छव् है, तथा इस छव् से परे रेफ अम् विद्यमान है, अत नकार को रुँ आदेश हो पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा खरवसानयोर्विसर्जनीय (९३) से पदान्त रेफ को विसर्ग करने पर—'चक्रिँ+त्रायस्व, चक्रिं+त्रायस्व' ये दो रूप हुए। अब विसर्ग को सकारादेश करने वाला अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६) विसर्जनीयस्य स ।८।३।३४॥

खरि विसर्जनीयस्य स स्यात्। चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति। पदान्तस्येति किम्? हन्ति ॥

अर्थ —खर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—खरि ।७।१। (खरवसानयोर्विसर्जनीय से एकदेशस्वरित के कारण 'खरि' अश)। विसर्जनीयस्य ।६।१। स ।१।१। सकारादकार उच्चारणार्थ। अर्थ — (खरि) खर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (स) स् आदेश होता है। उदाहरण यथा—

'चक्रिँः+त्रायस्व, चक्रिः+त्रायस्व' यहां तकार=खर् परे है, अतः विसर्गों को स् आदेश हो—'चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिस्त्रायस्व' ये दो प्रयोग सिद्ध हुए।

अप्रशान् किम् ? प्रशान् तनोति। **नश्छव्यप्रशान्** (९५) सूत्र में 'प्रशान्' शब्द को रुँ करने का निषेध इस लिये किया है कि 'प्रशान्+तनोति' यहां अम्परक(अकार-परक) खय् (तकार) के परे होने पर भी पदान्त नकार को रुँ आदेश न हो।

पदान्तस्येति किम् ? हन्ति। 'पदस्य' का अधिकार होने से 'हन्ति' आदि स्थानों में अपदान्त नकार को अम्परक खय् परे होने पर भी (९५) सूत्र से रुँ आदेश नहीं होता।

'छव् परे होने पर' इसलिये कहा है कि—'पुत्रान् पालयति, तान् कामयते' इत्यादि में रुँत्व न हो जाये। छव् को अम्परक कहने से—'सन् त्सरुः' इत्यादि में रुँत्व नहीं होता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७) **नॄन् पे।८।३।१०॥**

'नॄन्' इत्यस्य रुँर्वा पे॥

अर्थः—पकार परे होने पर 'नॄन्' शब्द के नकार के स्थान पर विकल्प कर के 'रुँ' आदेश हो।

व्याख्या—नॄन्।६।१। ('नॄन्' यह नृशब्द के द्वितीया के बहुवचन का अनुकरण है। इस के आगे षष्ठी-विभक्ति के एकवचन का लुक् हुआ है)। रुँः।१।१। (**मतुँवसो रुँ०** सूत्र से)। पे।७।१। [यहां पकारोत्तर अकार उच्चारण के लिये है अतः 'पुनाति' आदि परे होने पर भी यह सूत्र प्रवृत्त हो जाता है]। उभयथा इत्यव्ययपदम् (**उभयथर्क्षु** सूत्र से)। अर्थः—(पे) पकार परे होने पर (नॄन्) नॄन् शब्द के स्थान पर (उभयथा) विकल्प कर के (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा द्वारा 'नॄन्' के अन्त्य अल् नकार को ही 'रुँ' आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'नॄन्+पाहि' (हे राजन्! त्वं नॄन्=नरान्, पाहि=पालय। लोगों को बचाओ।) यहां पकार परे होने से 'नॄन्' के अन्त्य नकार को प्रकृतसूत्र से रुँ आदेश हो पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा रेफ को विसर्ग करने पर 'नॄँः+पाहि, नॄंः+पाहि' ये दो रूप हुए। अब **विसर्जनीयस्य सः** (९६) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९८) **कुप्वोः ≍क≍पौ च।८।३।३७॥**

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍पौ स्तः। चाद् विसर्गः। नॄँ≍पाहि, नॄँः पाहि; नॄं≍पाहि, नॄंः पाहि; नॄन्पाहि॥

अर्थः—कवर्ग पवर्ग परे होने पर विसर्ग को क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आदेश होते हैं। सूत्र में चकार-ग्रहण से पक्ष में विसर्ग भी रहता है।

व्याख्या—कुप्वोः।७।२। विसर्जनीयस्य।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** से)। ≍क-≍पौ।१।२। च इत्यव्ययपदम्। समासः—≍कश्च≍पश्च=≍क≍पौ, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां ककार पकार ग्रहण इस लिये किया गया है कि जिह्वामूलीय और उप-

ध्मानीय सदा क्रमश कवर्ग पवर्ग के ही आश्रित रहते हैं। कुश्च पुश्च=कुपू तयो = कुप्वो, इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ —(कुप्वो) कवर्ग पवर्ग परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर क्रमश (≍क≍पौ) जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय हो जाते है। (च) किञ्च पक्ष मे विसर्ग भी बना रहता है[1]।

सम्पूर्ण कवर्ग पवग म विसर्ग प्राप्त नही हो सकते। विसर्ग केवल क्, ख्, प्, फ्' इन चार वर्णों के परे होने पर ही मिल सकते हैं। क्योकि विसर्ग विधान करने वाला **खरवसानयो०** (९३) यही एक सूत्र है। यह सूत्र खर् परे होने पर ही विसर्ग आदेश करता है। खर् प्रत्याहार मे कवर्ग पवर्ग का इन चार वर्णों के सिवाय अन्य कोई वर्ण नही आता, अत यह सूत्र 'क्, ख्, प्, फ्' परे होने पर ही विसर्गों को जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय करता है।

'नॄँ+पाहि, नॄ+पाहि यहा पकार परे होने स विसर्गों को उपध्मानीय हो कर—नॄँ≍पाहि, नॄ≍पाहि। विसर्गपक्ष मे—नॄँः पाहि, नॄः पाहि। जहा **नॄन्पे** (९७) सूत्र से रुँ आदेश नही होता उस पक्ष मे—नॄन्पाहि। इस प्रकार कुल मिला कर पाञ्च रूप सिद्ध होते हैं। एवम्—'नॄँ≍पश्य' इत्यादि।

नोट—विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदि का पाठ अट् तथा शल् प्रत्याहार म स्वीकार किया जाता है। अत इन के यर्प्रत्याहारान्तर्गत होने के कारण **अनचि च** (१८) सूत्र से इन को वैकल्पिक द्वित्व भी हो जाता है। इस से—नॄँ≍≍पाहि, नॄँ पाहि' इत्यादि प्रकारेण द्वित्व वाले रूप भी बना करते हैं।

विशेष—**शर्परे विसर्जनीय** (८.३.३५)—शर् परे वाला खर् परे हो तो विसर्जनीय का विसर्जनीय ही रहता है अन्य कोई परिवर्तन नही होता। इस बाधकसूत्र के कारण—'*अत क्षन्तव्य, वास क्षौमम्, नापित क्षुरमाधत्ते*' इत्यादि मे प्रकृतसूत्र से जिह्वामूलीय नहीं होता। इसीप्रकार—'वालै प्सातमोदनम्' आदि मे उपध्मानीय तथा 'विलक्षण त्सरु' आदि मे **विसर्जनीयस्य स** (९६) द्वारा प्राप्त सकार आदेश का भी बाध हो जाता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(९९) तस्य परमाम्रेडितम्।८।१।२॥**

द्विरुक्तस्य परम् आम्रेडित स्यात्॥

अर्थ —दो बार कहे गये का परला रूप 'आम्रेडित' सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—तस्य।६।१। परम्।१।१। आम्रेडितम्।१।१। इस सूत्र से पूर्व **सर्वस्य द्वे** इस प्रकार द्वित्व का अधिकार किया गया है, अत यहा 'तस्य' पद से 'द्विरुक्तस्य' का ग्रहण हो जाता है। अर्थ —(तस्य) उस दो बार पढे गये का (परम्) परला रूप (आम्रेडितम्) आम्रेडित सञ्ज्ञक होता है। यथा 'किम्' शब्द के द्वितीयाविभक्ति के

---

१ चकार-ग्रहण से **शर्परे विसर्जनीय** (८.३.३५) सूत्र से 'विसर्जनीय' पद की अनुवृत्ति आ जाती है। इस से पक्ष मे विसर्जनीय भी रहता है। यदि सूत्र मे 'च' न कह कर 'वा' कहते तो पक्ष मे (९६) सूत्र से स् हो कर अनिष्ट हो जाता।

बहुवचन 'कान्' पद को नित्यवीप्सयोः (८.१.४) सूत्र से द्वित्व किया तो 'कान् कान्' बना। यहां दूसरा 'कान्' शब्द आम्रेडित-सञ्ज्ञक है। अब आम्रेडित-सञ्ज्ञा का इस रुँ-प्रकरण में उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००) कानाम्रेडिते ।८।३।१२।।

कान्नकारस्य रुँः स्यादाम्रेडिते । काँस्कान्, कांस्कान् ।।

अर्थः—आम्रेडित परे होने पर कान् शब्द के नकार को रुँ आदेश हो।

व्याख्या—कान् ।६।१। (यहां 'किम्' शब्द के द्वितीया के बहुवचन 'कान्' शब्द का अनुकरण किया गया है। इस से परे षष्ठी के एकवचन का लुक् हुआ है)। आम्रेडिते ।७।१। रुँः ।१।१। (मतुंवसो रुँ० से)। अर्थः—(आम्रेडिते) आम्रेडित परे होने पर (कान्) कान् शब्द के स्थान पर रुँ आदेश हो। अलोऽन्त्यस्य (२१) परिभाषा से कान् के अन्त्य अल् नकार को ही रुँ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'कान्+कान्' यहां दूसरा कान् शब्द आम्रेडित परे है; अतः प्रथम कान् शब्द के नकार को रुँ आदेश हो कर पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम, रेफ को विसर्ग तथा जिह्वामूलीय का बाध कर सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः (वा० १५) से विसर्ग को सकार आदेश करने पर 'काँस्कान्, कांस्कान्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—ध्यान रहे कि 'तांस्तान्' मे नश्छव्यप्रशान् (९५) प्रवृत्त होता है।

अभ्यास (२२)

(१) रुँप्रकरणोक्त अनुस्वार और अनुनासिक में कौन आदेश और कौन आगम है?

(२) 'पुमाँश्छली' में पुमः खय्यम्परे से (?) रुँत्व कर कैसे सिद्धि करेंगे?

(३) सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः वार्तिक का सोदाहरण विवेचन करें।

(४) सूत्र- समन्वय-पूर्वक निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद करें—
१. विद्वांश्च्यवनः। २. नॄँ꣡ पाठयति। ३. पुंस्खञ्जः। ४. कस्मिँश्चित्। ५. पुंश्छिद्राणि। ६. पुंस्प्रवृत्तिः। ७. सँस्कृतम्। ८. महांस्तुन्दिलः। ९. पुंस्पुत्रः। १०. पुँष्टिट्टिभः। ११. सूर्यँ꣡꣡खेचर-चक्रवर्ती। १२. भवाँश्छिनत्ति। १३. पुंस्क्रोधः। १४. नॄँ꣡꣡ पालयस्व। १५. संस्करोति। १६. काँस्कान्। १७. पुंश्चली। १८. भास्वांश्चरति। १९. पुंस्त्वम्। २०. बुद्धिमाँश्छागः।

(५) सूत्र-समन्वय करते हुए अधोलिखित प्रयोगों में सन्धि करें—
१. पुम्+प्लीहा। २. पुम्+चर्चा। ३. सम्+स्कारः। ४. रूपवान्+ठक्कुरः[1]। ५. पुम्+फेरु। ६. नॄन्+पिपर्त्ति। ७. महान्+तिरस्कारः। ८. कान्+कान्। ९. तान्+तान्। १०. पुम्+चरित्र। ११. रामः+

---

१. पूर्वोक्त रुँत्वविधि (८.३.७) की दृष्टि में श्चुत्व-ष्टुत्वविधि (८.४.३९-४०) त्रिपादी में पर होने से असिद्ध है।

प्रजा + पालयामास । १२ तस्मिन् + च । १३ वाल + थूत्करोति । १४ पुम् + चेष्टा । १५ चञ्चुमान् + टिट्टिभ । १६ प्रशान् + चरति । १७ नॄन् + प्रति । १८ पुम् + टिप्पणी । १९ पुम् + त्सर । २० य + क्षत्रिय ।

(६) हन्ति' मे नश्छव्यप्रशान् सूत्र से तथा 'पुदारा' मे पुमः खय्यम्परे सूत्र से रुँत्व क्यों नहीं होता ?

(७) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
अनुनासिकात्परो०, नश्छव्यप्रशान्, पुमः खय्यम्०, कुप्वो ≍क ≍पौ च ।

— ० —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१) छे च ।६।१।७१॥

ह्रस्वस्य छे तुँक् । शिवच्छाया ॥

अर्थ —छकार परे हो तो ह्रस्व का अवयव तुँक् हो जाता है ।

व्याख्या—ह्रस्वस्य ।६।१। तुँक् ।१।१। (ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक् से) । छे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । संहितायाम् ।७।१। (यह अधिकृत है)। अर्थ —(संहितायाम्) संहिता के विषय में (ह्रस्वस्य) ह्रस्व का अवयव (तुँक्) तुँक् हो जाता है (छे) छकार परे हो तो । तुँक् कित् है अतः आद्यन्तौ टकितौ (८५) के अनुसार वह ह्रस्व का अन्तावयव होता है । उदाहरण यथा—

शिव + छाया' (शिव की छाया । शिवस्य छायेति विग्रह, षष्ठी-तत्पुरुष-समास) यहा वकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से छकार परे है और समास होने से संहिता का विषय भी है, अतः आद्यन्तौ टकितौ (८५) के अनुसार वकारोत्तर अकार का अन्तावयव तुँक् हो कर उँक् के चले जाने पर—शिवत् + छाया । अब स्तोः श्चुना श्चुः (८४३९) के असिद्ध होने से झलां जशोऽन्ते (८२३९) द्वारा तकार को दकार हो—शिवद् + छाया । पुनः स्तोः श्चुना श्चुः (८४३९) के प्रति खरि च (८४५४) के असिद्ध होने से प्रथम श्चुत्व-अर्थात् दकार को जकार पश्चात् चर्त्व अर्थात जकार को चकार किया तो—शिवच्छाया । अब 'सुँ' विभक्ति ला कर हल्ङ्याब्भ्यो०(१७९) से उस का लोप हो—'शिवच्छाया' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ध्यान रहे कि यहा चोः कुः (३०६) द्वारा कवर्ग आदेश नहीं होगा, क्योंकि जश्त्व, श्चुत्व और चर्त्व तीनों उसकी दृष्टि मे असिद्ध हैं । उसे तो 'त्' ही दीखता है ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण अभ्यास मे देखें ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—(१०२) पदान्ताद्वा ।६।१।७४॥

दीर्घात् पदान्ताच्छे तुँग्वा । लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया ॥

अर्थ —पदान्त दीर्घ से छकार परे हो तो विकल्प मे तुँक् का आगम हो ।

व्याख्या—दीर्घात् ।५।१। (दीर्घात् सूत्र से) । पदान्तात् ।५।१। छे ।७।१। (छे च सूत्र से) । तुँक् ।१।१। (ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक् से)। वा इत्यव्ययपदम् । अर्थ —(दीर्घात्) दीर्घ (पदान्तात्) पदान्त से (छे) छकार परे होने पर (वा) विकल्प कर

के (तुँक्) तुँक् का आगम होता है। तुँक् किस का अवयव हो? पदान्त दीर्घ का हो या छकार का? यह यहां प्रश्न है। **उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्** के अनुसार तो छकार का अवयव होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता; यह दीर्घ का ही अवयव होता है। इस का कारण यह है कि यदि यह छकार का अवयव होता तो कित् होने से छकार के अन्त में होना चाहिये था, परन्तु **विभाषा सेना-सुराच्छाया-शाला-निशानाम्** (२.४.२५) सूत्र में तो छकार के आदि अर्थात् दीर्घ से परे देखा जाता है अतः यह दीर्घ का ही अन्तावयव है यह सुतरां सिद्ध होता है। उदाहरण यथा—

'लक्ष्मी + छाया' (लक्ष्मी की छाया। लक्ष्म्याश्छायेति विग्रहः, षष्ठी-तत्पुरुषः) यहां समास में पदान्त दीर्घ ईकार से छकार परे विद्यमान है अतः दीर्घ ईकार को विकल्प कर के तुँक् का आगम हो कर पूर्ववत् उँक् के चले जाने पर जश्त्व=दकार, श्चुत्व=जकार तथा चर्त्व=चकार हो कर विभक्ति लाने से—'लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

स्मरण रहे कि पहला सूत्र पदान्त अपदान्त कुछ नहीं कहता था इस लिये वह दोनों में प्रवृत्त होता था। परन्तु यह सूत्र पदान्त में ही प्रवृत्त होता है; वह भी तब जब पदान्त दीर्घ होगा। पदान्त—समस्त, व्यस्त दोनों अवस्थाओं में हो सकता है। ग्रन्थकार ने समस्तावस्था (समास अवस्था) का उदाहरण दिया है। व्यस्तावस्था (समासरहित अवस्था) के उदाहरण—'कुलटाच्छिन्ननासिका' आदि अभ्यास में देखें।

नोट—यदि आङ् और माङ् अव्ययों से परे छकार होगा तो दीर्घ पदान्त होते हुए भी तुँक् का आगम नित्य होगा; तब **पदान्ताद्वा** (१०२) सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। इस के लिये नित्य तुँक् विधानार्थ **आङ्माङोश्च** (६.१.७२) यह नया सूत्र बनाया गया है। यथा—आच्छादयति, माच्छैत्सीः। इसे **सिद्धान्त-कौमुदी** में देखें।

सूचना—'मूर्च्छना, मूर्च्छा' आदि में तुँक् नहीं समझना चाहिये, किन्तु **अचो रहाभ्यां द्वे** (६०) से वैकल्पिक द्वित्व हो कर **खरि च** (७४) से चर्त्व हुआ है। किञ्च 'वाञ्छति' आदि में चकार जोड़ना अशुद्ध है, क्योंकि तुँक् प्राप्त नहीं।

[लघु०] इति हल्सन्धि-प्रकरणम् ॥

अर्थः—यहां हलों की सन्धि का प्रकरण समाप्त होता है।

व्याख्या—सन्धि एक प्रकार का वर्णविकार ही है। यदि वह विकार अच् के स्थान पर हो तो 'अच्सन्धि', हल् के स्थान पर हो तो 'हल्सन्धि' कहाता है। इसी प्रकार विसर्ग-सन्धि के विषय में भी जान लेना चाहिये। लोक में प्रायः यह प्रचलित है और हम भी लोकवाद का अनुसरण करते हुए पीछे यही लिख आये हैं कि अच् का अच् के साथ मेल=विकृति 'अच्सन्धि' और हल् का हल् के साथ मेल 'हल्सन्धि' कहाता है। पर ध्यान देने से यह ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ऐसा मानने से **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) आदि अच्सन्धि के सूत्रों तथा **ङमो ह्रस्वादचि ङमुँण्नित्यम्** (८६) आदि हल्सन्धि के सूत्रों में व्यवस्था न बन सकेगी। अतः यही उचित प्रतीत

होता है कि जहां अच् के स्थान पर सन्धि अर्थात् संयोगजन्य वर्णविकार करें चाहे उस का निमित्त अच् या हल् जो भी हो वहां 'अच्सन्धि' और जहां हल् के स्थान पर सन्धि अर्थात् संयोगजन्य वर्णविकार करें चाहे उस का निमित्त अच् या हल् जो भी हो वहां 'हल्-सन्धि' होती है। [अचां स्थाने सन्धिः=अच्सन्धिः, हलां स्थाने सन्धिः= हल्सन्धिः]। अच्सन्धि में झलां जश् झशि (१६) आदि सूत्र प्रसङ्ग वश लिखे गये हैं। इसी प्रकार हल्सन्धि में विसर्जनीयस्य सः (९६), कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८) प्रभृति विसर्गसन्धि के सूत्र तथा कुछ अन्य भी प्रसङ्ग वश लिखे गये समझने चाहियें।

अभ्यास (२३)

(१) निम्नलिखित प्रयोगों में सूत्रसमन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करें—
१ इच्छति। २ धूतच्छलेन। ३ कुटीच्छन्ना। ४ दन्तच्छद। ५ असिच्छिन्न। ६ मङ्गलच्छाय। ७ रक्षाच्छिक्का। ८ स्वच्छात्र। ९ वैदिकच्छन्दांसि। १० नवच्छिद्राणि। ११ गच्छति। १२ नूतनच्छात्र। १३ चिच्छेद। १४ गूढाच्छेकोक्ति। १५ माच्छिद। १६ तीक्ष्णाच्छुरिका। १७ स्वच्छन्द। १८ यज्ञच्छाग। १९ गुच्छच्छेद। २० कुलटाच्छिन्ननासिका।

(२) निम्नस्थ रूपों में सूत्रसमन्वयपूर्वक सन्धि करें—
१ आ+छियते। २ कुमारी+छेत्स्यति। ३. पद+छेद। ४ भूपति+छाया। ५ वाले+छियते। ६ मधु+छन्दस्। ७ वनानि+छित्त्वा। ८ मा स्म+छिद। ९ मूषक+छेद। १० शीतला+छाया। ११ य+छति। १२ इ+छा। १३ सन्ति+छिद्राणि। १४ मा+छिन्या। १५ नो+छेद। १६ वि+छेद।

(३) गच्छति, इच्छति—आदि में तुंक् करने पर जश्त्व, चर्त्व होंगे या नहीं?

(४) पदान्ताद्वा द्वारा विहित तुंक् किस का अवयव है? स्पष्ट करें।

(५) क्या 'महाविद्यालयछात्र' प्रयोग शुद्ध है?

(६) 'उच्छेद' में तुंक् (?) किस सूत्र से होगा?

(७) यदि 'मूर्च्छा' शुद्ध है तो 'वाञ्च्छति' क्यों नहीं? सहेतुक लिखें।

(८) अच्सन्धि-हल्सन्धि शब्दों का विवेचन कर 'सन्धि' पर टिप्पण लिखें।

—— ० ——

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-
सिद्धान्तकौमुद्यां हल्सन्धि-
प्रकरण समाप्तम्॥

अथ विसर्ग-सन्धि-प्रकरणम्

अब विसर्ग-सन्धि का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरण के नामकरण पर सन्धि-प्रकरण के अन्त में प्रकाश डाला गया है वहीं देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३) **विसर्जनीयस्य सः ।८।३।३४।।**

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात् । विष्णुस्त्राता ।।

अर्थः—खर् परे होने पर विसर्जनीय के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—खरि ।७।१।(खरवसानयोर्विसर्जनीयः से 'खरि' अंश)। विसर्जनीयस्य ।६।१। सः ।१।१। सकारादकार उच्चारणार्थः । अर्थः—(खरि)खर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्जनीय के स्थान पर(सः) स् आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—विष्णुः+त्राता=विष्णुस्त्राता (भगवान् विष्णु रक्षक है)। यहां तकार खर् परे होने से विसर्ग को स् हुआ है। यह सूत्र हल्सन्धि में प्रसङ्गतः आया था; वस्तुतः यह विसर्ग-सन्धि का ही है।

ध्यान रहे कि पदान्त 'स्' को रुँ हो कर विसर्ग बनते हैं और विसर्ग को खर् परे होने पर पुनः 'स्' हो जाता है; यह सब **ससजुषो रुँः**(१०५)सूत्र पर स्पष्ट करेंगे।

शङ्का—'विष्णुस्त्राता' यहां विसर्ग को सकार आदेश कर देने पर **ससजुषो रुँः** (१०५) से पुनः 'रुँ' आदेश क्यों नहीं हो जाता ?

समाधान—**ससजुषो रुँः**(८.२.६६)के प्रति **विसर्जनीयस्य सः** (८.३.३४)सूत्र असिद्ध है; अतः पुनः 'रुँ' आदेश नहीं होता।

टिप्पणी—विसर्जनीय और विसर्ग पर्याय हैं। पर्यायशब्दों में गौरव-लाघव का विचार नहीं किया जाता। अतः **विसर्गस्य सः** न कह कर आचार्य के **विसर्जनीयस्य सः** कहने में भी किसी प्रकार के गौरव की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। कहा भी है—**पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाऽऽद्रियते** (परिभाषा)। इसी प्रकार आचार्य द्वारा **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः**(९१७) आदि सूत्रों में 'आदि' की जगह 'प्रभृति' शब्द के प्रयोग में तथा 'वा' के स्थान पर 'अन्यतरस्याम्' आदि शब्दों के प्रयोग में भी जानना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४) **वा शरि ।८।३।३६।।**

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् । हरिः शेते, हरिश्शेते ।।

अर्थः—शर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग हो।

व्याख्या—शरि ।७।१। विसर्जनीयस्य ।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** से)। विसर्जनीयः ।१।१।(**शर्परे विसर्जनीयः** से)। वा इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(शरि)शर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (वा)विकल्प से (विसर्जनीयः) विसर्ग आदेश होता है।

शर् प्रत्याहार, खर् प्रत्याहार के अन्दर आ जाता है; अतः **विसर्जनीयस्य सः**

(१०३) के नित्य प्राप्त होने पर यह उस का अपवाद आरम्भ किया जाता है। शर् परे होने पर विसर्ग—विसर्गरूप में विकल्प से अवस्थित रहता है और पक्ष में पूर्व सूत्र से विसर्ग को स् भी हो जाता है। उदाहरण यथा—

हरि + शेते (विष्णु अथवा शेर सोता है)। यहां शर् = शकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से विसर्ग को विसर्ग होकर—हरिः शेते। पक्ष में विसर्जनीयस्य सः (१०३) सूत्र से विसर्ग को सकार होकर स्तोः श्चुना श्चुः (६२) से शकार के योग में उसे शकार हो जाता है—हरिश्शेते। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह—सर्पः सरति, सर्पस्सरति। रामः षष्ठः, रामष्षष्ठः [ष्टुना ष्टुः (६४)]। इत्यादि।

खर् प्रत्याहार में 'क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्, श्, ष्, स्' इतने वर्ण आते हैं। इन में 'श्, ष्, स्' परे होने पर वा शरि (१०४) तथा 'क्, ख्, प्, फ्' परे होने पर कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८) प्रवृत्त हो जाता है। शेष बचे 'च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्' वर्णों के परे होने पर ही विसर्जनीयस्य सः (१०३) सूत्र प्रवृत्त होता है। विसर्जनीयस्य सः (१०३) से स् होने पर भी केवल 'त्, थ्' परे होने पर ही वह अविकृत = विकाररहित = वैसे का वैसा रहता है, क्योंकि 'च्, छ्' में उसे स्तोः श्चुना श्चुः (६२) से 'श्' और 'ट्, ठ्' में उसे ष्टुना ष्टुः (६४) से 'ष्' हो जाता है। ग्रन्थकार ने 'विष्णुस्त्राता' यह उदाहरण 'त्' का दिया है। संस्कृत साहित्य में प्रायः थकारादि शब्द के न मिलने के कारण उन्होंने थकार परे का उदाहरण नहीं दिया। थकार परे के 'बालस्थूत्करोति' आदि उदाहरण हैं। इन सब की विवरण-तालिका निम्नलिखित प्रकार से जाननी चाहिये—

ख्	नर≍खादति, नरः खादति।	कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८)।
फ्	वृक्ष≍फलति, वृक्षः फलति।	कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८)।
छ्	वृक्षश्छादयति।	विसर्जनीयस्य सः, स्तोः श्चुना श्चुः (६२)।
ठ्	देवष्ठक्कुरः।	विसर्जनीयस्य सः, ष्टुना ष्टुः (६४)।
थ्	बालस्थूत्करोति।	विसर्जनीयस्य सः (१०३)।
च्	पुरुषश्चिनोति।	विसर्जनीयस्य सः, स्तोः श्चुना श्चुः।
ट्	बुधष्टीकते।	विसर्जनीयस्य सः, ष्टुना ष्टुः (६४)।
त्	रामस्त्राता।	विसर्जनीयस्य सः (१०३)।
क्	बाल≍करोति, बालः करोति।	कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८)।
प्	नृप≍पाति, नृपः पाति।	कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८)।
श्	पुरुषः शेते, पुरुषश्शेते।	वा शरि, विसर्जनीयस्य सः, स्तोः श्चुना०।
ष्	नृपः षष्ठः, नृपष्षष्ठः।	वा शरि, विसर्जनीयस्य सः, ष्टुना ष्टुः।
स्	सर्पः सरति, सर्पस्सरति।	वा शरि, विसर्जनीयस्य सः (१०३)।

नोट—कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८) सूत्र भी विसर्ग-सन्धि के प्रकरण का है, सन्धि में प्रसङ्गवश लिखा गया था।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५) स-सजुषो रुँः ।८।२।६६।।

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुँः स्यात् ।।

अर्थः—पदान्त सकार तथा सजुष्शब्द के षकार के स्थान पर रुँ आदेश हो।

व्याख्या—ससजुषोः ।६।२। (सूत्र में रो रि द्वारा रेफ का लोप हुआ है)। रुँः ।१।१। पदस्य ।६।१। (यह पीछे से अधिकृत है)। समासः—सश्च सजूश्च=ससजुषौ, (सकारादकार उच्चारणार्थः), तयोः=ससजुषोः। इतरेतरद्वन्द्वः। 'पदस्य' इस विशेष्य का 'ससजुषोः' यह विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(ससजुषोः) सकारान्त और सजुष्शब्दान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (रुँः) 'रुँ' आदेश हो जाता है। यहां सम्पूर्ण पद के स्थान पर विहित 'रुँ' आदेश अलोऽन्त्यस्य (२१) सूत्र से अन्त्य अल् अर्थात् सकारान्त पद के सकार को तथा सजुष्शब्दान्त पद के षकार को होगा।[1]

यह सूत्र विसर्ग की उत्पत्ति में कारण है। पदान्त सकार को जब यह रुँ आदेश कर देता है तो उकार की इत्सञ्ज्ञा हो कर 'र्' शेष रह जाता है। उस रेफ के स्थान पर अवसान में तथा खर् परे होने पर खरवसानयोर्विसर्जनीयः (९३) से विसर्ग आदेश हो जाता है। तदनन्तर विसर्ग के स्थान पर यथायोग्य जिह्वामूलीय आदि आदेश हुआ करते हैं। इन सब का विवरण हम पीछे लिख चुके हैं।

अब 'खर्' से भिन्न अक्षर यदि 'र्' से परे हो तो रेफ के स्थान पर क्या २ आदेश होते हैं? इसे बतलाने के लिये यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

'रुँ' में उकार अनुनासिक होने से उपदेशेऽजनुनासिक इत् (२८) सूत्र द्वारा इत्सञ्ज्ञक है। उकार के इत् करने का फल आगे कहा जायेगा।

'शिवस्=अर्च्यः' (शिव जी पूजनीय हैं) यहां सुँबन्त होने से 'शिवस्' पद है अतः इस सूत्र से पदान्त सकार को रुँ, पुनः रुँ के उकार की इत्सञ्ज्ञा तथा लोप हो कर 'शिवर्+अर्च्यः' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६) अतो रोरप्लुतादप्लुते ।६।१।१०९।।

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति। शिवोऽर्च्यः ।।

अर्थः—अप्लुत अत् से परे रुँ को 'उ' आदेश हो जाता है अप्लुत अत् परे हो तो।

व्याख्या—अतः ।५।१। अप्लुतात् ।५।१। रोः ।६।१। उत् ।१।१। (ऋत उत् सूत्र से)। अप्लुते ।७।१। अति ।७।१। (एङः पदान्तादति से)। न प्लुतः—अप्लुतः, तस्मात्=अप्लुतात्, नञ्तत्पुरुषसमासः। अर्थः—(अप्लुतात्) अप्लुत (अतः) अत् से परे (रोः) रुँ के स्थान पर (उत्) उत् हो (अप्लुते) अप्लुत (अति) अत् परे हो तो। यहां अत् उत् में तपर करने से ह्रस्व अकार उकार लिये जाते हैं।

---

१. सजुष् (मित्र) शब्द का उदाहरण—सजूः। सजुष्शब्द से प्रथमैकवचन सकार का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् से लोप हो षकार को प्रकृतसूत्र से रुँत्व, र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (३५१) से उपधादीर्घ तथा रेफ को विसर्ग करने से 'सजूः' सिद्ध होता है। इस शब्द का पूर्ण विवेचन हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में देखें।

'शिवर्+अर्च्य' यहां अप्लुत अत् से परे रुँ है और उस से परे 'अर्च्य' का अकार अलुप्त अत् विद्यमान है अत रुँ के स्थान पर 'उ' हो—शिव उ+अर्च्य । पुन आद् गुण (२७) से अ+उ मिल कर 'ओ' गुण हुआ तो—शिवो+अर्च्य । अब एङ पदान्तादति(४३)से पूर्वरूप करने पर—'शिवोऽर्च्य' प्रयोग सिद्ध होता है।

यद्यपि ससजुषो रुँ (८ २ ६६)सूत्र के असिद्ध होने से उत्वविधि (६ १.१०९) के प्रति रुँत्वविधि असिद्ध होनी चाहिये थी तथापि वचनसामर्थ्य से असिद्ध नही होती; क्योकि यदि रुँत्वविधि को असिद्ध मानें तो सारे व्याकरण मे रुँ कही नही मिल सकेगा, अत इस व्याकरण म उत्वोपयोगी रुँत्व करने वाला यही एक सूत्र है।

ध्यान रहे कि रुँ के स्थान पर उत नही होता, किन्तु उकार की इत् सञ्ज्ञा हो लोप हो जाने पर शेष बचे र् के स्थान पर ही उत् होता है। सूत्र मे रुँ के कथन का यह तात्पर्य है कि रुँ के र् को ही उत्व हो अन्य र् को न हो। यथा—प्रातर्+अत्र=प्रातरत्र, धातर्+अत्र=धातरत्र, लङि—अजागर्+अत्र=अजागरत्र। इत्यादि मे रुँ के रेफ के न होने से उत्व नही होता।

यहां 'अप्लुत' ग्रहण का प्रयोजन बालको के लिए अनुपयोगी जान नही लिखते। इस का सिद्धान्त-कौमुदी मे सविस्तर विचार किया गया है वही देखें।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१ बालोऽत्र । २ सोऽपि । ३ पुरुषोऽधुना । ४ मानुषोऽयं । ५ शुद्धोऽहम् । ६ छात्रोऽयम् । ७ हस्तोऽस्य । ८ रामोऽस्मि । ९ नूतनोऽभ्यागत । १० ग्रामोऽभ्यर्ण । ११ राज्ञोऽभिषेक । १२ सोऽपवाद । १३ ततोऽन्यथा । १४ समाचारोऽन्तिम । १५ मोऽनुस्वार । १६ ज्येष्ठोऽनुज । १७ शान्तोऽनल । १८ वचनोऽनुनासिक । १९ सुबोधोऽसि । २० न्यूनोऽसि ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७) हशि च ।६।१।११०।।

तथा । शिवो वन्द्य ॥

अर्थ—हश् परे हो तो अप्लुत अत् से परे रुँ के स्थान पर उत् आदेश हो।

व्याख्या—अप्लुतात् ।५।१। अत ।५।१। रो ।६।१। (अतो रोरप्लुतादप्लुते से)। उत् ।१।१।(ऋत उत् से)। हशि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थ—(अप्लुतात्) अप्लुत (अत) अत् से परे(रो) रुँ के स्थान पर(उत्) ह्रस्व उकार आदेश होता है(हशि) हश् परे हो तो। उदाहरण यथा—

'शिवस्+वन्द्य' (शिव जी वन्दनीय हैं)यहां ससजुषो रुँ (१०५)सूत्र से सकार को रुँ हो, उकार की इत्सञ्ज्ञा तथा लोप करने से—'शिवर्+वन्द्य' बना। अब वकार=हश् परे रहते अप्लुत अत् से परे रेफ को उकार आदेश हो—'शिव उ+वन्द्य' हुआ। पुन आद् गुण' (२७) से गुण एकादेश किया तो 'शिवो वन्द्य' प्रयोग सिद्ध हुआ। इस सूत्र के सम्पूर्ण उदाहरण यथा—

ह्—रामो हसति ।	भ्—वृक्षो झञ्झया पतितः ।
य्—वालो याति ।	भ्—सूर्यो भाति ।
व्—शिवो वन्द्यः ।	घ्—घोरा घोणिनो घोणा ।
र्—वालो रौति ।	ढ्—वालो ढक्कानादं शृणोति ।
ल्—बुधो लिखति ।	ध्—पर्वतो धौतः ।
ञ्—वालो ञकारं पश्यति ।	ज्—अगदो ज्वरघ्नः ।
म्—मूर्खो मुह्यति ।	व्—को वालः ।
ङ्—जनो ङादिशब्दं न विन्दति ।	ग्—नरो गच्छति ।
ण्—को णोपदेशो धातुः ?	ड्—काको डिड्ये ।
न्—भक्तो नमतीश्वरम् ।	द्—नृपो दास्यति ।

ससजुषो रुः (१०५) से किया रुँत्व यहां भी वचनसामर्थ्य से असिद्ध नहीं होता ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८) भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि ।८।३।१७।।

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि । देवा इह, देवायिह । भोस्, भगोस्, अघोस् —इति सान्ता निपाताः । तेषां रोर्यत्वे कृते—

अर्थः—अश् प्रत्याहार परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले रुँ के स्थान पर यकार आदेश होता है ।

व्याख्या—भोभगोअघोअपूर्वस्य ।६।१। रोः ।६।१। (रोः सुँपि से)। यः ।१।१। (यकारादकार उच्चारणार्थः)। अशि ।७।१। समासः—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च =भोभगो-अघो-आः, इतरेतरद्वन्द्वः। सन्ध्यभावः सौत्रः। भो-भगो-अघो-आः पूर्वे यस्मात् स भो-भगो-अघो-अपूर्वस्तस्य, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य) भो-पूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक (रोः) रुँ के स्थान पर (यः) य् आदेश हो जाता है (अशि) अश् परे हो तो । उदाहरण यथा—

देवास्+इह=देवारुँ+इह (**ससजुषो रुः**) ='देवार्+इह' यहां 'इह' शब्द का आदि इकार=अश् परे है अतः अवर्णपूर्वक रुँ को य् हो—'देवाय्+इह' बना । अब **लोपः शाकल्यस्य** (३०) सूत्र से यकार का वैकल्पिक लोप करने से—'देवा इह' तथा 'देवायिह' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि लोपपक्ष में लोप (८.३.१९) के असिद्ध होने से **आद् गुणः** (६.१.८४) सूत्र द्वारा गुण नहीं होता ।

भोस्, भगोस् तथा अघोस् ये सकारान्त निपात हैं; अर्थात् चादिगण में पाठ होने से इन की **चादयोऽसत्त्वे** (५३) सूत्र द्वारा निपातसञ्ज्ञा है । निपातसञ्ज्ञा होने से **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) सूत्र से इनकी अव्ययसञ्ज्ञा भी हो जाती है। यहां सूत्र में इन के एकदेश [भो, भगो अघो] का ग्रहण किया गया है । ये सब सम्बोधन [सर्व-साधारण के सम्बोधन में भोस्, भगवान् के सम्बोधन में भगोस् तथा पापी के सम्बोधन में अघोस् का प्रायः प्रयोग देखा जाता है] में प्रयुक्त होते हैं । उदाहरण यथा—

भोस्+देवाः (हे देवताओ !), भगोस्+नमस्ते (हे भगवन् ! आप को नमस्कार

हो), अघोस्+याहि(हे पापिन्! दूर हो)। इन सब स्थानों पर ससजुषो रुः (१०५) सूत्र से सकार को रु आदेश हो, उकार की इत् सञ्ज्ञा और उसका लोप करने पर—'भोर्+देवा भगोर्+नमस्ते, अघोर्+याहि' रूप बने। अब इस प्रकृत सूत्र से रु को य् आदेश करने से—भोय्+देवा, भगोय्+नमस्ते, अघोय्+याहि—इस प्रकार स्थिति हुई। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६) हलि सर्वेषाम् ।८।३।२२॥

भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि। भो देवा। भगो नमस्ते। अघो याहि॥

अर्थः—हल् परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले यकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य ।६।१। (भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि से)। यस्य ।६।१। (व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य से वचनविपरिणाम कर के)। लोपः ।१।१।(लोपः शाकल्यस्य से)। हलि ।७।१। सर्वेषाम् ।६।३। अर्थः—(भोभगोअघोअ-पूर्वस्य)भोपूर्वक भगोपूर्वक, अघोपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक(यस्य) यकार का(हलि) हल् परे होने पर(लोपः) लोप हो जाता है (सर्वेषाम्) सब आचार्यों के मत में।

इस सूत्र से यकार का नित्यलोप हो कर 'भो देवा, भगो नमस्ते, अघो याहि' ये रूप सिद्ध हो जाते हैं।

ग्रन्थकार ने इस सूत्र के अवर्णपूर्वक यकार के लोप का उदाहरण नहीं दिया। 'देवा हसन्ति' आदि स्वयम् उदाहरण ढूढ लेने चाहियें। ध्यान रहे कि हल् परे होने पर ही यकार का नित्यलोप होगा परन्तु यदि अच् परे होगा तो लोपः शाकल्यस्य (३०) से लोप का विकल्प हो जायेगा। यथा—देवा इच्छन्ति, देवायिच्छन्ति। बाल इच्छन्ति, बालयिच्छन्ति।

अभ्यास (२४)

(१) सूत्रसमन्वय करते हुए सन्धिविच्छेद करें—

१ बाला आगच्छन्ति। २ नरो हन्ति। ३. चाण्डालोऽभिजायते। ४. भो देवदत्त! सर्वेऽत्र मूर्खास्सन्ति। ५ अघो याहि। ६. भो (?) परमात्मन्। ७ कदागुरोकमो भवन्त (भवन्त ओकसः=गृहात् कदा अगु? आप घर से कब गये?)। ८. कोऽदात्। ९. दुष्टो जिह्य इहागीत। १० त्रैगुण्यविषया वेदाः। ११. धीरो न शोचति। १२ मृग एति। १३. छात्रयिच्छति। १४ पण्डिता भाग्यवन्तः। १५. नृपा ददति।

(२) सूत्र निर्देश-पूर्वक सन्धि करें—

१. कविस्+करोति। २. हरिस्+तिष्ठति। ३. रविस्+उदेति। ४. लक्ष्मीस्+इच्छति। ५ तत्रस्+आसुव। ६ इनस्+अत्र। ७ गौस्

+गच्छति । ८. अश्वास्+धावन्ति । ९. अपिपर्+अयम्[1] । १०. कृष्णमेघः+तिरस्+दधे । ११. नार्यस्+लृकारोपदेशेन[2] । १२. रामस्+अब्रवीत् । १३. भगोस्+परमात्मन् । १४. पुनर्+हसति । १५. हयास्+धावन्ति ।

(३) उत्वविधि के प्रति रुँत्वविधि सिद्ध है या असिद्ध ? सकारण लिखें ।

(४) **अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः** तथा **पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते** इन परिभाषाओं का सोदाहरण विवेचन करें ।

——::o::——

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०) रोऽसुँपि ।८।२।६९॥

अह्नो रेफादेशो न तु सुँपि । अहरहः । अहर्गणः ॥

अर्थः—अहन् शब्द के अन्त्य नकार के स्थान पर रेफ आदेश होता है। परन्तु सुँप् परे होने पर नहीं होता ।

व्याख्या—अहन् ।६।१। (**अहन्** सूत्र का अनुवर्त्तन होता है, यहां षष्ठी-विभक्ति का लुक् समझना चाहिये) । रः ।१।१। रेफादकार उच्चारणार्थः । असुँपि ।७।१। अर्थः—(अहन्) अहन् शब्द के स्थान पर (रः) र् आदेश होता है (असुँपि) परन्तु सुँप् परे होने पर नहीं होता । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अहन् के अन्त्य नकार को ही रेफ आदेश होगा । उदाहरण यथा—

अहन्+अहन्=अहर्+अहर्=अहरहः (प्रतिदिन)। 'अहन् सुँ' इस पद को '**नित्यवीप्सयोः** (८८६) से द्वित्व हो—'अहन् सुँ अहन् सुँ' बना । पुनः **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) से दोनों सुँप्रत्ययों का लुक् करने से—'अहन् अहन्' । अब यहां **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) से प्रत्ययलक्षण के निषेध हो जाने से सुँ=सुँप् के परे न होने के कारण नकार को रेफ आदेश हो—अहरहन् । दूसरे में भी लुक् होने से असुँप् होने कारण **रोऽसुपि** सूत्र से नकार को रेफ तथा अवसान में उसे विसर्ग आदेश करने पर—'अहरहः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

दूसरा उदाहरण—अहन्+गण=अहर्+गण=अहर्गणः (दिनों का समूह; अह्नां गणः=अहर्गणः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः ।) 'अहन्+आम् गण+सुँ' इस अलौकिक-विग्रह में विभक्तियों का लुक् हो—अहन्+गण । अब यहां **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) से प्रत्ययलक्षण के निषेध होने से आम्=सुँप् के परे न होने के कारण नकार को रेफ आदेश हो—अहर्गण । विभक्ति लाने से—'अहर्गणः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

यह सूत्र **अहन्** (३६३; पदान्त में अहन् के नकार को रुँ आदेश हो) सूत्र का अपवाद है; अर्थात् उस सूत्र से रुँ प्राप्त होने पर इस सूत्र से रेफ आदेश विधान

---

१. **पॄ पालनपूरणयोः** (जुहो०) इति धातोर्लङि प्रथमपुरुषैकवचनमिदम् ।

२. यहां रुँ को य् हो कर उस का वैकल्पिक लोप होगा ।

किया जाता है। यदि रुँ आदेश होता तो 'अहरह' मे अतो रोरप्लुतादप्लुते(१०६)सूत्र द्वारा तथा 'अहर्गण' मे हशि च(१०७) सूत्र द्वारा उत्व हो कर अनिष्ट रूप बन जाता। अब रेफ आदेश करने से उत्व न होगा। इस कारण 'अहरहरत्र, अहरहर्दीप्ति, अहरहर्गच्छति' इत्यादि प्रयोग बनेंगे, 'अहोऽहोऽत्र' आदि नही। यही रुँत्व न कह कर रेफ आदेश करने का प्रयोजन है।

शङ्का—आप ने रोऽसुपि सूत्र को अहन्(३६३)सूत्र का अपवाद माना है, परन्तु यह उचित प्रतीत नही होता, क्योंकि अपवाद के विषय मे उत्सर्ग की प्राप्ति अवश्य हुआ करती है परन्तु यहा रोऽसुपि के उदाहरणो मे अहन् (३६३) सूत्र प्राप्त नही हो सकता। तथाहि रोऽसुपि सूत्र के 'अहन्+अहन्, अहन्+गण' इत्यादि उदाहरण है। इन मे सुँप् का लुक् होने से न लुमताङ्गस्य(१९१) द्वारा प्रत्ययलक्षण न हो सकने के कारण पदसञ्ज्ञा न हो सकेगी। पदसञ्ज्ञा न हो सकने से अहन्(३६३) सूत्र प्राप्त नही हो सकेगा। अत प्रतीत होता है कि यह सूत्र अहन्(३६३)का अपवाद नही किन्तु स्वतन्त्रतया रेफ आदेश विधान करने वाला है।

समाधान—आप को न लुमताङ्गस्य(१९१)सूत्र के अर्थ मे भ्रान्ति हो गई है। उस का अर्थ है—लुक्, श्लु, लुप् शब्दो से प्रत्यय का अदर्शन करने पर उस को मान कर अङ्ग के स्थान पर कार्य नहीं होते' यहा स्पष्ट अङ्ग को कार्य करने का निषेध है। पदसञ्ज्ञा अङ्ग कार्य नही, क्योंकि वह अङ्ग और प्रत्यय दोनो को मिला कर की जाती है। अत लुक् आदि शब्दो द्वारा सुँप् प्रत्यय का लुक् हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है और उसके हो जाने से तदाश्रित कार्य भी बेरोकटोक प्राप्त होते हैं। यथा—'राजपुरुष' यहा ङस् का लुक् होने पर पदसञ्ज्ञा हो जाने के कारण न लोप प्रातिपदिकान्तस्य(१८०)सूत्र से पद के अन्त वाले नकार का लोप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अहरह, अहर्गण' आदियो मे सुँप् का लुक् हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा होती थी और उस के होने से अहन्(३६३) सूत्र द्वारा रुँत्व प्राप्त था। उस के प्राप्त होने पर यह रोऽसुपि सूत्र बनाया गया है, अत यह उस का अपवाद है। इस के प्रवृत्त होने मे न लुमताङ्गस्य(१९१)सूत्र से सुँप् का अभाव हो जाता है क्योंकि यह अङ्ग के स्थान पर रेफ आदेश करता है।

'असुँपि' यहा प्रसज्यप्रतिषेध है। अत सुँप् परे न हो, और चाहे जो हो, यह सूत्र प्रवृत्त होगा। यदि यहा पर्युदास-प्रतिषेध मानें तो सुँप् से भिन्न तत्सदृश अर्थात् प्रत्यय परे होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त हो सकेगा, 'अहर्भाति, अहरह, अहर्गण' इत्यादि स्थानो पर जहा प्रत्यय परे नही प्रवृत्त न हो सकेगा, केवल 'अहर्वान्' इत्यादि स्थानो पर ही प्रवृत्त होगा। अत यहा पर्युदास प्रतिषेध मानना उचित नही, प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही युक्त है। सुँप् का निषेध इस लिये किया गया है कि 'अहोभ्याम्, अहोभि' इत्यादि स्थानो पर रेफ न हो कर अहन्(३६३)मे रुँत्व हो जाये। यदि यहा रेफ आदेश होता तो 'अहा रम्यम्' की तरह हशि च(१०७)से उत्व न हो सकता और उस के न होने मे गुण भी न हो पाता।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—'अहरिदम्, अहरिदानीम्, अहरत्र, अहरदः, अहर्भाति, अहर्गच्छति' प्रभृति जान लेने चाहियें।

विशेष—इस सूत्र पर एक अपवाद वार्त्तिक है—वा०—रूपरात्रिरथन्तरेषु रुँत्वं वाच्यम्। अर्थात् रूप रात्रि और रथन्तर शब्दों के परे होने पर अहन् के नकार को रुँ आदेश हो। अहोरूपम्, गतमहो रात्रिरेषा, अहोरथन्तरम्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११) **रो रि** ।८।३।१४॥

रेफस्य रेफे परे लोपः॥

अर्थः—रेफ का रेफ परे होने पर लोप होता है।

व्याख्या—रः ।६।१। रि ।७।१। लोपः ।१।१। (ढो ढे लोपः से) अर्थः—(रः) रेफ का (रि) रेफ परे होने पर (लोपः) लोप हो जाता है। इसी प्रकार का एक सूत्र—**ढो ढे लोपः** (५५०) है। इस का अर्थ—(ढः।६।१) ढ् का (ढे ।७।१) ढ् परे होने पर (लोपः ।१।१) लोप हो जाता है।

इन दोनों सूत्रों का उपयोग अग्रिम सूत्र के उदाहरणों में किया जायेगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२) **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** ।६।३।११०॥

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। अणः किम्? तृढः। वृढः॥

अर्थः—ढकार और रेफ के लोप में निमित्तभूत जो ढकार और रेफ उन के परे होने पर पूर्व अण् के स्थान पर दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—ढ्रलोपे ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। अणः ।६।१। दीर्घः ।१।१। समासः—ढ् च रश्च=ढ्रौ, इतरेतरद्वन्द्वः। रेफादकार उच्चारणार्थः। ढ्रौ लोपयतीति ढ्रलोपः, ण्यन्तात् कर्मण्युपपदेऽण्प्रत्ययः। ढकार और रेफ का लोप करने वाले इस व्याकरण में **ढो ढे लोपः** (५५०) तथा **रो रि** (१११) में क्रमशः ढकार और रेफ ही है। अर्थः—(ढ्रलोपे) ढकार और रेफ का लोप करने वाले अर्थात् ढ् वा र् के परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (अणः) अ, इ, उ वर्णों के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब ढकार के परे रहते ढकार का लोप हो जाये अथवा रेफ के परे रहते रेफ का लोप हो जाये तो पूर्व अण् (अ, इ, उ) को दीर्घ हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) 'पुनर्+रमते' (फिर खेलता है) यहाँ 'रमते' के आदि रेफ को मान कर 'पुनर्' के रेफ का **रो रि** (१११) सूत्र से लोप हो जाता है। पुनः इस रेफलोप में निमित्त 'रमते' वाले रेफ के परे होने पर नकारोत्तर अकार=अण् को दीर्घ हो कर—'पुना रमते' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—

(२) 'हरिस्+रम्यः' (हरि सुन्दर है) यहां **ससजुषो रुः** (१०५) से पदान्त सकार को रुँ आदेश हो उकार इत् के चले जाने पर—हरिर्+रम्यः। अब **रो रि** (१११) से रेफ का लोप तथा **ढ्रलोपे०** (११२) से पूर्व अण् (इ) को दीर्घ करने से—'हरी रम्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

(३) 'शम्भुस्+राजते' (शिवजी शोभित होते हैं) यहां भी पूर्ववत् पदान्त सकार को रुँत्व, रो रि (१११) से रेफलोप तथा ढ्लोपे० (११२) से पूर्व अण् (उ) को दीर्घ करने से—'शम्भू राजते' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. अहो रम्यम्। २. ना रम्य (नर्+रम्य', नृशब्दस्य सम्बोधने)। ३. अन्ताराष्ट्रिय। ४. गवितू रश्मय। ५. नीरुक्। ६. लीढाम् (लिढ्+ढाम्; वह चाटे)। ७. भूपती रक्षति। ८. फेरू रौति। ९. नीरस। १०. दाशरथी राम। इत्यादि।

इस सूत्र में अण् प्रत्याहार पीछे (११) सूत्र पर कहे अनुसार पूर्व णकार (अ इ उ ण्) से ही लिया जायेगा, इस से 'तृढ' (मारा गया), 'वृढ' (तैयार, उद्यत) यहां पूर्व ऋकार को दीर्घ न होगा। तथाहि—'तृढ्+ढ, वृढ्+ढ' यहां ढो ढे लोप० (५५०) सूत्र से ढकार का लोप हो कर—'तृढ, वृढ' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

ढलोप का उदाहरण मूल में नहीं दिया गया, इस में—लिढ्+ढ=लि+ढ='लीढ' प्रभृति उदाहरण हैं।

यहां 'पूर्वस्य' ग्रहण का प्रयोजन सिद्धान्त-कौमुदी में देखना चाहिये।

नोट— पुना रमते' में 'पुनस्+रमते' यह छेद अशुद्ध है, क्योंकि 'पुनर्'—यह रेफान्त अव्यय है, सकारान्त नहीं। वैसा होने पर 'मनोरथ.' की तरह 'पुनो रमते' बन जाता। हरिम्+रम्य, शम्भुस्+राजते' में छेद तो शुद्ध है, अकारपूर्व न होने से इन में हशि च (१०७) प्राप्त नहीं।

[लघु०] 'मनस्+रथ' इत्यत्र रुँत्वे कृते 'हशि च' (१०७) इत्युत्वे 'रो रि' (१११) इति लोपे च प्राप्ते—

अर्थ—'मनस्+रथ' यहां ससजुषो रु. से सकार को रुँ किया तो हशि च से उत्व तथा रो रि से रेफ का लोप दोनों प्राप्त हुए [इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है]।

व्याख्या—यहां उत्व और रेफ-लोप युगपत् (इकट्ठे) प्राप्त होते हैं। इन दोनों में से कौन-सा हो? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम-सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—(११३) विप्रतिषेधे परं कार्यम्।१।४।२॥

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (३१) इति 'रो रि' (१११) इत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथ॥

अर्थ—तुल्यबल वालों का विरोध होने पर परकार्य होता है।

व्याख्या—विप्रतिषेधे।७।१। परम्।१।१। कार्यम्।१।१। अर्थ—(विप्रतिषेधे) विप्रतिषेध होने पर (परम्) पर (कार्यम्) कार्य होता है। अन्यत्राऽन्यत्रलब्धावकाशयोरेकत्र प्राप्तिस्तुल्यबलविरोध.। तुल्यबल वाले दो कार्यों के विरोध को विप्रतिषेध कहते हैं। पृथक्-पृथक् स्थानों (जहां वे परस्पर प्राप्त नहीं हो सकते) पर चरितार्थ होने वाले सूत्र तुल्यबल वाले कहाते हैं। इन तुल्यबल वालों का यदि विरोध हो

जाये तो इन में जो अष्टाध्यायी में परे पढ़ा गया है वही प्रवृत्त होगा। यथा—हशि च सूत्र 'शिवो वन्द्यः' आदि स्थानों पर चरितार्थ हो चुका है इन स्थानों पर **रो रि** सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता और 'रो रि' सूत्र 'हरी रम्यः' आदि स्थानों पर चरितार्थ हो चुका है इन स्थानों पर **हशि च** सूत्र प्राप्त नहीं हो सकता; तो इस प्रकार **हशि च** और **रो रि** तुल्यबल वाले हैं अब इन तुल्यबल वालों का 'मनर्+रथ' में विरोध उत्पन्न हो गया है। तो यहां वही कार्य होगा जो अष्टाध्यायी मे परे पढ़ा गया होगा। अष्टाध्यायी में **हशि च** (६.१.११०) सूत्र से **रो रि** (८.३.१४) सूत्र परे पढ़ा गया है अतः **रो रि** द्वारा रेफलोप की प्राप्ति हुई। परन्तु **रो रि** सूत्र त्रिपादीस्थ होने के कारण **हशि च** की दृष्टि में असिद्ध है [देखो—**पूर्वत्रासिद्धम्** (३१)] अतः **हशि च** की दृष्टि में **रो रि** का अस्तित्व ही नहीं रहता, इस से **हशि च** से उत्व हो कर—मन+उ+रथ। अब **आद् गुणः** (२७) सूत्र से गुण एकादेश कर विभक्ति लाने से—'मनोरथः' प्रयोग सिद्ध होता है। मनसो रथः=मनोरथः (अभिलाषा)।

इसी प्रकार—१. बालो रोदिति। २. राघवो रामः। ३. काको रौति। ४. भूयो रमते। ५. ईश्वरो रचयति। ६. धर्मो रक्षति। ७. देवो राजते। ८. भूभृतो रोपः। आदि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११४) एतत्तदोः सुँलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** ।६।१।१२८॥

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुँस्तस्य लोपः स्याद्धलि, न तु नञ्समासे। एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्? एषको रुद्रः। अनञ्समासे किम्? असः शिवः। हलि किम्? एषोऽत्र॥

अर्थः—ककार से रहित एतद् और तद् शब्द के सुँ का हल् परे होने पर लोप हो जाता है, परन्तु नञ्समास में नहीं होता।

व्याख्या—एतत्तदोः ।६।२। सुँलोपः ।१।१। अकोः ।६।२। अनञ्समासे ।७।१। हलि ।७।१। समासः—एतच्च तच्च=एतत्तदौ, तयोः=एतत्तदोः, इतरेतरद्वन्द्वः। सोर्लोपः=सुँलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः[1]। न नञ्समासः=अनञ्समासः, तस्मिन्=अनञ्समासे, नञ्तत्पुरुषः। अविद्यमानः क्=ककारो ययोस्तौ=अकौ, तयोः=अकोः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(अकोः) ककाररहित (एतत्तदोः) एतद् और तद् शब्द के (सुँलोपः) सुँ का लोप होता है (हलि) हल् परे हो तो। परन्तु (अनञ्समासे) नञ्समास में नहीं होता। 'सुँ' से यहां प्रथमैकवचन अभिप्रेत है।

उदाहरण यथा—एषस्+विष्णुः=एष विष्णुः (यह विष्णु है)। यहां वकार=हल् परे होने से एतद् शब्द से परे 'सुँ' प्रत्यय के सकार का लोप हो जाता है।

सस्+शम्भुः=स शम्भुः। यहां शकार=हल् परे होने से तद् शब्द से परे 'सुँ' प्रत्यय के सकार का लोप हो जाता है।

---

१. यहां 'सुँ' का सम्बन्ध 'एतत्तदोः' के साथ होने के कारण सौत्रत्वात् असमर्थ समास समझना चाहिये। अथवा 'सुँ' को लुप्तषष्ठ्यन्त पृथक् पद मानना चाहिये।

एतद् और तद् शब्द की टि से पूर्व जब अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः (१२२६) सूत्र से अकच् प्रत्यय हो जाता है तब इन में ककार आ जाता है। तब हल् परे होने पर भी इन से परे 'सुँ' प्रत्यय का लोप नहीं हुआ करता। यथा—'एषकस्+रुद्र' यहां सुँ का लोप न हो कर ससजुषो रुः (१०५) से रुँत्व, हशि च (१०७) से उत्व तथा आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश करने से 'एषको रुद्रः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—सकस्+रुद्र = सको रुद्रः, सकस्+शिव = सकः शिवः इत्यादि में हल् परे होने पर भी सुँ का लोप नहीं होता, क्योंकि तद् शब्द ककार से रहित नहीं है।[1]

'अनञ्समासे' यहां प्रसज्यप्रतिषेध है अर्थात् नञ्समास न हो और चाहे समास हो या न हो सुँ का लोप हो जायेगा। यदि यहां पर्युदासप्रतिषेध मानें तो नञ्समास से भिन्न तत्सदृश अर्थात् समास का ग्रहण होने से 'एष रुद्रः, स शिवः' आदि में सुँ का लोप न हो सकेगा, अतः प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही युक्त है।

नञ्समास में सुँलोप नहीं होता। यथा—'असः शिवः, अनेषः शिवः' (न सः = असः, न एषः = अनेषः) यहां सुँ को रुँ और रुँ को विसर्ग हो वा शरि (१०४) से विकल्प करके विसर्ग आदेश होगा। पक्ष में विसर्जनीयस्य सः (१०३) से सकार आदेश हो जायेगा—असश्शिवः, अनेषश्शिवः।

हल् परे होने पर सुँ का लोप कहा गया है इस से अच् परे होने पर सुँलोप न होगा। यथा—एषस्+अत्र = एषरुँ+अत्र = एषर्+अत्र = एषउ+अत्र = एषो+अत्र = एषोऽत्र। यहां अतो रोरप्लुतादप्लुते (१०६) से उत्व, आद् गुणः (२७) से गुण तथा एङः पदान्तादति (४३) से पूर्वरूप हो जाता है। इसी प्रकार—'सोऽत्र' यहां भी सुँलोप न होगा। इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

ह्—स हसति। एष हसति।	क्—स ककारः। एष ककारः।
य्—स याति। एष याति।	म्—स मुह्यति। एष मुह्यति।
व्—स वसति। एष वसति।	ङ्—स ङकारः। एष ङकारः।
र्—स रमते। एष रमते।	ण्—स णकारः। एष णकारः।
ल्—स लुनाति। एष लुनाति।	न्—स नमति। एष नमति।

1. प्रश्न—एतद् और तद् में जब अकच् प्रत्यय मध्य में आ जाता है तो एतकद् और तकद् ये भिन्न शब्द बन जाते हैं एतद् और तद् नहीं रहते। तब 'अकोः' यह निषेध व्यर्थ है।
उत्तर—इसी निषेध में एक परिभाषा निकलती है—तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते। अकच् टि से पूर्व होता है अतः 'तन्मध्यपतित' है इस से उसे वही शब्द माना जाता है। इसीलिये 'उभकौ' इस अकच् प्रत्यय में उभशब्द होने से ही द्विवचन सिद्ध हो जाता है। यदि यहां 'क' प्रत्यय कर दें तो वह मध्यपतित न होगा तब भिन्न शब्द माना जायेगा फिर उस में द्विवचन भी न होगा और अयच् हो जायेगा।

झ्—स झणत्कारः। एष झणत्कारः।
भ्—स भाति। एष भाति।
घ्—स घोषः। एष घोषः।
ढ्—स ढकारः। एष ढकारः।
ध्—स धावति। एष धावति।
ज्—स जयति। एष जयति।
ब्—स बध्नाति। एष बध्नाति।
ग्—स गच्छति। एष गच्छति।
ड्—स डिड्ये। एष डिड्ये।
द्—स ददाति। एष ददाति।
ख्—स खनति। एष खनति।
फ्—स फलति। एष फलति।
छ्—स छादयति। एष छादयति।
ठ्—स ठक्कुरः। एष ठक्कुरः।
थ्—स थूत्करोति। एष थूत्करोति।
च्—स चलति। एष चलति।
ट्—स टिट्टिभः। एष टिट्टिभः।
त्—स तरति। एष तरति।
क्—स करोति। एष करोति।
प्—स पठति। एष पठति।
श्—स शेते। एष शेते।
ष्—स षण्ढः। एष षण्ढः।
स्—स सर्पति। एष सर्पति।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५) सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्।६।१।१३०॥**

सस् इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। सेमामविड्ढि प्रभृतिम् (ऋ० २.२४ १)। सैष दाशरथी रामः॥

अर्थः—यदि केवल लोप होने से ही पाद पूरा होता हो तो अच् परे होने पर तद् शब्द के 'सुँ' का लोप हो जाता है।

व्याख्या—सः।६।१। (तद् शब्द का प्रथमा के एकवचन में 'सस्' रूप बनता है, उस का यहां अनुकरण किया गया है। इस के आगे षष्ठी के एकवचन का **छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति** इस कथन से छन्दोवत् होने के कारण **सुपां सुँलुक्०** सूत्र से लुक् हो जाता है)। सुँलोपः।१।१। (**एतत्तदोः सुँलोपः०** से)। अचि।७।१। लोपे।७।१। चेत् इत्यव्ययपदम्। एव इत्यप्यव्ययपदम् (**स्यश्छन्दसि बहुलम्** सूत्र से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति आती है। उस से यहां 'एव' पद का ही ग्रहण किया जाता है)। अर्थः—(सः) 'सस्' के (सुँलोपः) सुँ का लोप हो जाता है (अचि) अच् परे होने पर (चेत्) यदि (लोपे) लोप होने पर (एव) ही (पाद-पूरणम्) पादपूर्त्ति होती हो तो। श्लोक आदि के एक विशेष भाग को छन्दःशास्त्र में 'पाद' कहते हैं; उसी का यहां ग्रहण समझना चाहिये। उदाहरण यथा—

सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषेऽया विधेम नवया महा गिरा।
यथा नो मीढ्वान्त्स्तवते सखा तव बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम्॥

यह ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के चौबीसवें सूक्त का प्रथम मन्त्र है। यहां वैदिक जगती छन्द है। जगती छन्द के प्रत्येक पाद में बारह २ अक्षर होते हैं। **सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे** यह जगती छन्द का एक पाद है। इस में 'सस्+इमाम्' इस अवस्था में सकार का लोप हो कर गुण हो जाने से बारह अक्षरों का पाद पूरा हो जाता है। यदि यहां इस सूत्र से सकार का लोप न करते तो सकार को रुँ, रुँ को

य् (१०८) और य् का वैकल्पिक लोप (३०) हो—'स इमामविड्ढि प्रभृति य ईशिषे' इस प्रकार तेरह अक्षरों वाला पाद हो जाता, क्योंकि यकारलोप के असिद्ध होने से गुण प्राप्त नहीं हो सकता था। अब यहां इस सूत्र द्वारा विहित सकारलोप के त्रैपादिक न होने के कारण सिद्ध होने से गुण के निर्बाध हो जाने के कारण बारह अक्षर पूरे हो जाते हैं कोई दोष नहीं आता। द्वितीय उदाहरण यथा—

सैष दाशरथी[1] राम., सैष राजा युधिष्ठिर.।
सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबल ॥

[ये वे भगवान् दशरथनन्दन श्रीराम हैं। ये वे राजा युधिष्ठिर हैं। ये वे महादानी कर्ण हैं। ये वे महाबली भीम हैं।] यह 'अनुष्टुभ्' (पथ्यावक्त्र) छन्द है। अनुष्टुभ् छन्द के चार पाद और प्रत्येक पाद में आठ २ अक्षर होते हैं। इन सब पादों में 'सस्+एष' यहां प्रकृत सूत्र से स् का लोप हो वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि करने पर 'सैष' प्रयोग सिद्ध होता है। इस से आठ २ अक्षरों वाले सब पाद पूरे हो जाते हैं। यदि यहां इस सूत्र से स् का लोप न करते तो सकार का रुँ, रुँ को य् और य् का वैकल्पिक लोप हो कर त्रैपादिकतामूलक असन्धि होने से—'स एष' या 'सयेष' इस प्रकार रूप हो जाते। इस से प्रत्येक पाद में नौ २ अक्षर हो कर छन्दोभङ्ग हो जाता। अत यहां पादपूर्ति का—सिवाय इस के कि स् का सिद्ध लोप किया जाये, अन्य कोई उपाय नहीं, इसलिये स् का लोप किया गया है।

'बहुलम्' की अनुवृत्ति से 'एव' इसलिये ग्रहण किया गया है कि यदि किसी अन्य उपाय से पाद पूरा हो सकता हो तो स् का लोप न हो। किन्तु जब पादपूर्ति का अन्य कोई उपाय न सूझता हो तब लोप करना चाहिये। यथा—

सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्, आफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानाम्, आनाकरथवर्त्मनाम् ॥ (रघु० १.५)

यहां 'सस्+अहम्' में सकार का लोप करने पर 'साहम्' बन जाने से पाद की पूर्ति हो जाती है। परन्तु यह पादपूर्ति अतो रोरप्लुतादप्लुते (१०६) द्वारा उत्व कर गुण और पूर्वरूप करने पर भी हो सकती है। अत यहां स् का लोप न कर उत्व आदि ही करेंगे।

आचार्य वामन इस सूत्र के 'पाद' शब्द से ऋग्वेद के पाद का ही ग्रहण करते हैं। उन का कथन है कि यदि ऋग्वेद के पाद की पूर्ति होती होगी तो सकार का लोप हो जायेगा। परन्तु सूत्र में किसी विशेष स्थान के पाद का उल्लेख न होने से सर्वत्र लोक अथवा वेद में इस की प्रवृत्ति होती है—ऐसा अन्य लोग मानते हैं। ग्रन्थकार ने दोनों मत दिखाने के लिये दोनों उदाहरण दे दिये हैं।

[लघु०] इति विसर्ग-सन्धि-प्रकरणम् ॥

अर्थ.—यहां विसर्ग-सन्धि का प्रकरण समाप्त होता है।

---

१. अत्र रो रि (१११) इति रेफलोपे ढ्लोपे० (११२) इति पूर्वस्याणो दीर्घ.।

व्याख्या—तनिक ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्पूर्ण प्रकरण विसर्गसन्धि का नहीं है। **अतो रोरप्लुतादप्लुते** (१०६), **हशि च** (१०७), **रोऽसुँपि** (११०), **एतत्तदोः०** (११४) आदि सूत्रों का—अवसान अथवा खर् परक न होने से विसर्गों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। किञ्च यदि इस सम्पूर्ण प्रकरण को विसर्ग-सन्धिप्रकरण मानें तो **पञ्चसन्धिप्रकरण** यह कथन असङ्गत हो जाता है क्योंकि तब चार ही प्रकरण होते हैं—१ अच्सन्धि-प्रकरण। २ प्रकृतिभाव-प्रकरण। ३ हल्सन्धि-प्रकरण। ४ विसर्गसन्धि-प्रकरण। अतः हमारे विचार में यहां दो प्रकरण ही होने चाहियें। **वा शरि** (१०४) तक विसर्गसन्धि-प्रकरण और इस से आगे स्वादिसन्धि-प्रकरण। **वा शरि** (१०४) सूत्र से आगे जितने सूत्र कहे गये हैं उन सब का सुँ आदि प्रत्ययों के साथ सम्बन्ध है अतः आगे 'स्वादिसन्धि-प्रकरण' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। 'सिद्धान्त-कौमुदी' में ऐसा किया भी गया है। इस प्रकार पञ्च-सन्धि-प्रकरण भी ठीक हो जाते हैं। प्रतीत होता है कि लिपिकरों की भूल से यहां दो प्रकरणों का एक प्रकरण कर दिया गया है।

[लघु०] समाप्तञ्चेदं पञ्च-सन्धि-प्रकरणम् ॥

अर्थः—यहां पञ्चसन्धिप्रकरण समाप्त होता है।

व्याख्या—(१) अच्सन्धि-प्रकरण, (२) प्रकृतिभाव-प्रकरण, (३) हल्सन्धि-प्रकरण, (४) विसर्गसन्धि-प्रकरण, (५) स्वादिसन्धि-प्रकरण ये पाञ्च सन्धि प्रकरण हैं। यहां कई लोग प्रकृतिभावप्रकरण को सन्धिप्रकरण नहीं मानते। उन का कथन है कि 'हरी एतौ' आदि में प्रकृतिभाव अर्थात् सन्धि का अभाव ही विधान किया गया है किसी सन्धि का विधान नहीं; अतः प्रकृतिभावप्रकरण को सन्धिप्रकरण में गिनना भूल है। 'पञ्च-सन्धि-प्रकरणम्' इस की सङ्गति लगाने के लिये वे **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९), **वा पदान्तस्य** (८०) द्वारा विधान की गई एक अनुस्वार-सन्धि की कल्पना करते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में 'प्रकृतिभावप्रकरण' के अन्दर **मय उञो वो वा** (५८), **इकोऽसवर्णे०** (५९), **ऋत्यकः** (६१) आदि सन्धि करने वाले सूत्र पाए जाते हैं; अतः प्रकृतिभावप्रकरण भी एक प्रकार का सन्धिप्रकरण ही है। नवीन अनुस्वारसन्धि की कल्पना करना ग्रन्थकार के आशय से विपरीत जान पड़ता है। आगे विद्वज्जन स्वयं युक्तायुक्त का विचार कर लें।

अभ्यास (२५)

(१) तुल्यबलविरोध किसे कहते हैं? उदाहरण दे कर समन्वय करें।

(२) **रोऽसुँपि** सूत्र किस का और कैसे अपवाद है?

(३) **सोऽचि लोपे०** सूत्र में 'एव' पद लाने की क्या आवश्यकता है?

(४) पञ्च सन्धिप्रकरण कौन से हैं? क्या प्रकृतिभावप्रकरण भी सन्धि-प्रकरण है?

(५) एततदो सुंलोपोऽकोरनञ्समासे हलि सूत्र मे 'अनञ्समासे' यहा कौन सा प्रतिषेध है ? और ऐसा क्यो माना जाता है ?

(६) (क) 'एषकस्+शिव' यहा सुंलोप क्या न हो ?
(ख) 'तृढ' यहा पूर्व अण् को दीर्घ क्यो न हो ?
(ग) 'मनोरथ' यहा रेफ का लोप क्यो न हो ?
(घ) 'अजर्घा' यहा सन्धिच्छेद करें ।
(ङ) रोऽसुंपि मे 'असुंपि' क्यो कहा है ?

(७) सुं का लुक् हो कर पदसंज्ञा करने मे प्रत्ययलक्षण प्रवृत्त हो जाता है परन्तु लुक् हुए सुं को मानने मे वह प्रवृत्त नही होता—इस की सोदाहरण मीमासा करें ।

(८) रो रि सूत्र का ऐसा उदाहरण बताए जहा पूर्व अण् को दीर्घ न होता हो ? [भानो रश्मय , नरपते रिपु]

(९) 'अहर्गण' मे रुँ आदेश प्राप्त था पुन रेफ आदेश क्यो विधान किया गया है ?

(१०) निम्नस्थ रूपो को सप्रमाण शुद्ध करें—

१ प्रातोऽत्र । २ पुनो रविरुदेति । ३ एषो गच्छामि । ४ अहो रम्यम् । ५ सो रोदिति । ६ अनेष राम । ७ अजागोऽसौ । ८. सश्शान्त । ९ साहमाजन्मशुद्धानाम् । १०. एषो दु खप्रदो काल ।

—— o ——

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-
सिद्धान्त-कौमुद्यां पञ्चसन्धि-
प्रकरण समाप्तम् ॥

अथ षड्लिङ्ग्यामजन्त-पुंल्लिङ्ग-प्रकरणम्

सन्धिप्रकरण सर्वप्रकरणोपयोगी होने के कारण सर्वप्रथम व्याख्यात किया गया। अब व्याकरणशास्त्र का मुख्य कार्य शब्दविवेचन प्रारम्भ होता है। व्याकरण-शास्त्र में शब्द तीन प्रकार के होते हैं। १. सुबन्त, २. तिङन्त और ३. अव्यय[1]। अब सुबन्त शब्दों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। जिन शब्दों के अन्त में सुप् प्रत्यय हों उन्हें सुबन्त शब्द कहते हैं। वे शब्द प्रथम दो प्रकार के होते हैं। १. अजन्त, २. हलन्त। जिन शब्दों के अन्त में अच् अर्थात् स्वर हों वे शब्द अजन्त तथा जिन शब्दों के अन्त में हल् अर्थात् व्यञ्जन हों वे शब्द हलन्त कहाते हैं। यथा—'राम' शब्द के अन्त में अकार=अच् है अतः यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी अकारान्त अजन्त है। 'हरि' इस शब्द के अन्त में इकार=अच् है अतः यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी इकारान्त अजन्त है। 'पितृ' इस शब्द के अन्त में ऋकार=अच् है अतः यह अजन्त शब्द है और अजन्तों में भी ऋकारान्त अजन्त है। 'गो' इस शब्द के अन्त में ओकार=अच् है अतः यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी ओकारान्त अजन्त है। 'लिह्' इस शब्द के अन्त में हकार=हल् है अतः यह हलन्तशब्द है और हलन्तों में भी हकारान्त हलन्त है। 'राजन्' इस शब्द के अन्त में नकार=हल् है अतः यह हलन्तशब्द है और हलन्तों में भी नकारान्त हलन्त है। इस प्रकार अजन्त और हलन्त भेद से शब्द दो प्रकार के होते हैं। दो प्रकार के भी ये शब्द पुनः तीन लिङ्गों के भेद से छः प्रकार के हो जाते हैं। तथाहि—१. अजन्त-पुंल्लिङ्ग, २. अजन्त-स्त्रीलिङ्ग, ३. अजन्त-नपुंसकलिङ्ग; ४. हलन्त-पुंल्लिङ्ग, ५. हलन्त-स्त्रीलिङ्ग, ६. हलन्त-नपुंसकलिङ्ग। इन छः भेदों के कारण ही इस प्रकरण को षड्लिङ्ग-प्रकरण कहते हैं। अब क्रमप्राप्त प्रथम अजन्त-पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन प्रारम्भ किया जाता है। सर्वप्रथम सर्वोपयोगी प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(११६) अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ।१।२।४५॥

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तञ्च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिक-सञ्ज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़ कर अर्थ वाला शब्दस्वरूप प्रातिपदिक-सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—अर्थवत् ।१।१। अधातुः ।१।१। अप्रत्ययः ।१।१। प्रातिपदिकम् ।१।१। समासादिः—अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थवत्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (११८१) इस सूत्र से

---

१. यद्यपि अव्यय भी सुबन्त ही है तथापि इन से परे सम्पूर्ण सुप् का लुक् हो जाने से इन की उन से विशेषता है अतः ब्राह्मणवसिष्ठन्याय से पृथक् उल्लेख किया गया है।

मतुप् प्रत्यय हो कर मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (१०६२) सूत्र से मकार को वकार हो जाता है। न धातु =अधातु, नञ्तत्पुरुष। न प्रत्यय =अप्रत्यय, नञ्तत्पुरुष। यहां प्रत्ययशब्द से प्रत्यय और प्रत्ययान्त दोनों का ग्रहण होता है। 'अर्थवत्' इस नपुंसक विशेषण के कारण 'शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य का अध्याहार किया जाता है, क्योंकि शब्दानुशासन (शब्द शास्त्र) प्रस्तुत है। अर्थ—(अधातु) धातुरहित (अप्रत्यय) प्रत्यय और प्रत्ययान्त रहित (अर्थवत्) अर्थ वाला शब्दस्वरूप (प्रातिपदिकम्) प्रातिपदिक सञ्ज्ञक होता है[1]। अब इस सूत्र की खण्डशः व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

(१) जिस शब्द का कुछ न कुछ अर्थ हो वह 'प्रातिपदिक' होता है। जैसे 'राम' शब्द का अर्थ दशरथ-पुत्र है अतः इस की 'प्रातिपदिक' सञ्ज्ञा हुई। यदि 'अर्थवत्' न कहते तो शब्दगत प्रत्येक अनर्थक वर्ण की भी प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होने लगती।

(२) परन्तु वह धातु न होना चाहिए। यथा 'अहन्' यह हन् (अदा०) धातु के लँङ् लकार के प्रथमपुरुष वा मध्यमपुरुष का एकवचन है। यहां धातुमात्र ही अवशिष्ट रह गया है, प्रत्यय का लोप हो चुका है, अतः इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न होगी। यदि यहां प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कर दी जाती तो नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो कर अनिष्ट रूप बन जाता।

(३) वह अर्थवाला शब्द प्रत्यय न होना चाहिये। यथा—'हरिषु, करोषि' यहां क्रमशः सुप् और सिप् प्रत्यय हुए हैं। यद्यपि ये अर्थवाले हैं तथापि इन की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न होगी। यदि इन की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जावे तो इन के आगे एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते (प्रत्येक प्रातिपदिक से प्रथमा का एकवचन स्वभावतः किया जाता है) इस नियमानुसार 'सुँ' प्रत्यय की उत्पत्ति हो कर अनिष्ट हो जाये।

(४) वह अर्थवाला शब्द प्रत्ययान्त भी न होना चाहिये। यथा—'हरिषु, करोषि' यहां समुदाय अर्थवाला है पर प्रत्ययान्त होने से उस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न

१　इस सूत्र पर एक सुन्दर सुभाषित बहुत प्रसिद्ध है। इस में चार प्रश्न किये गये हैं जिन का उत्तर इस सूत्र का प्रत्येक पद है—

विद्वान् कीदृग्वचो ब्रूते ? को रोगी ? कश्च नास्तिकः ।
कस्याश्चन्द्रं न पश्यन्ति ? सूत्रं तत्पाणिनेर्वद ॥

(१) विद्वान् किस प्रकार का वचन बोलता है ? उत्तर है—अर्थवत्। अर्थात् विद्वान् अर्थयुक्त (सार्थक) वचन बोलता है। (२) कौन (सदा) रोगी रहता है ? उत्तर है—अधातु। क्षीणवीर्य पुरुष सदा रोगी रहता है। (३) नास्तिक कौन है ? उत्तर है—अप्रत्यय। जिसे परलोक आदि पर प्रत्यय अर्थात् विश्वास नहीं वह नास्तिक है। (४) किस तिथि का चन्द्र दिखाई नहीं देता ? उत्तर है—प्रातिपदिकम्। प्रतिपदा का चन्द्र दिखाई नहीं देता।

होगी। यदि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाती तो औत्सर्गिक 'सुँ' हो कर अनिष्ट हो जाता।

यद्यपि यहां 'घु, टि, घि' की भान्ति कोई छोटी सञ्ज्ञा भी की जा सकती थी तथापि पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के अनुरोध से यह बड़ी सञ्ज्ञा की है। पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य चूंकि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करते चले आये हैं अतः पाणिनि ने भी उन का अनुसरण किया है। पदं पदं प्रति प्रतिपदम्, तदर्हतीति प्रातिपदिकम्।

शब्दों के विषय में विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं। १ व्युत्पत्तिपक्ष, २ अव्युत्पत्तिपक्ष। अव्युत्पत्तिपक्षीय विद्वानों का कथन है कि किसी वस्तु की सञ्ज्ञा अपने सञ्ज्ञी को समुदाय-शक्ति से ही जनाती है उस में अवयवार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये। अर्थात् 'राम' यह सञ्ज्ञा समुदायशक्ति से ही दशरथ-पुत्र रूप सञ्ज्ञी को प्रकट करती है इसमें अवयवार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये—यही अव्युत्पत्तिपक्ष है। व्युत्पत्तिपक्षीय विद्वानों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु की सञ्ज्ञा का कोई न कोई अर्थ—जो उस के अवयवों से निष्पन्न होता है—ज़रूर हुआ करता है। यथा—'राम' शब्द में 'रम्' (भ्वा० आ०) धातु से 'घञ्' प्रत्यय हुआ है। 'रम्' का अर्थ 'खेलना' और 'घञ्' प्रत्यय अधिकरण को प्रकट करता है। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः। अर्थात् जिस में (योगी जन) रमण करते हैं वह 'राम' है। यही व्युत्पत्तिपक्ष है।

अवयवों द्वारा शब्दों के अर्थ करने की रीति बहुत प्राचीन है। वेद में इस पक्ष का बहुत आदर किया जाता है। परन्तु लोक में व्युत्पत्ति अव्युत्पत्ति दोनों पक्ष चलते हैं। अव्युत्पत्तिपक्ष में— जिस में न कोई धातु और न कोई प्रत्यय माना जाता है— **अर्थवदधातुः०** (११६) सूत्र प्रातिपदिक सञ्ज्ञा करता है और व्युत्पत्तिपक्ष—जहां धातु आदि से परे कृत् या तद्धित प्रत्यय की कल्पना होती है—के लिये दूसरा प्रातिपदिक सञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(११७) **कृत्तद्धितसमासाश्च** ।१।२।४६॥

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा [प्रातिपदिक-सञ्ज्ञकाः] स्युः॥

अर्थः—कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास भी पूर्ववत् प्रातिपदिकसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—कृत्तद्धितसमासाः ।१।३। च इत्यव्ययपदम्। प्रातिपदिकानि ।१।३। (यहां पूर्व-सूत्र से आ रहे 'प्रातिपदिकम्' पद का बहुवचन में विपरिणाम हो जाता है)। समासः—कृच्च तद्धितश्च समासाश्च = कृत्तद्धितसमासाः। इतरेतरद्वन्द्वः। इस सूत्र में पूर्वसूत्र से 'अर्थवत्' पद की अनुवृत्ति होती है। कृत् और तद्धित अकेले अर्थवाले नहीं होते किन्तु जब प्रकृति (जिससे प्रत्यय किया जाता है उसे 'प्रकृति' कहते हैं। **प्रत्ययात् पूर्वं क्रियत इति प्रकृतिः**) से युक्त होते हैं तभी अर्थवाले होते हैं। तो इसलिये यहां कृत् से कृदन्त तथा तद्धित से तद्धितान्त लिया जायेगा। अर्थः—(कृत्तद्धित-समासाः) कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास (च) भी (प्रातिपदिकानि) प्रातिपदिक-सञ्ज्ञक होते हैं।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय में **कृदतिङ्** (३०२) के अधिकार में कृत्-प्रत्यय तथा चतुर्थाध्याय के **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार में तद्धित-प्रत्यय पढ़े गये हैं। जिज्ञासुओं को वे अष्टाध्यायी में देखने चाहियें। ये प्रत्यय जिस के अन्त में होंगे उस समुदाय अर्थात् इन के सहित प्रकृति की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होगी। पूर्वसूत्र से प्रत्ययान्तों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का निषेध किया गया था, अब इस के द्वारा कृदन्तों तथा तद्धितप्रत्ययान्तों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जाती है। व्युत्पत्तिपक्ष में—राम, कर्तृ, पितृ, कारक आदि कृदन्त तथा औपगव, पाणिनीय, शालीय, मालीय आदि तद्धितान्त शब्द इस के उदाहरण हैं[1]।

समास भी प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते हैं। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि समास की तो पूर्वसूत्र से ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा सिद्ध है[2]। क्योंकि न तो वह धातु है न प्रत्यय है और न प्रत्ययान्त है किन्तु अर्थवाला अवश्य होता है। अतः इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने के लिये पुनः प्रयास किस लिए किया गया है? नहि, **पिष्टस्य पेषणम्** अर्थात् पिसे का पुनः पीसना उचित नहीं होता।

इस का उत्तर वैयाकरण यह देते हैं कि यहां समासग्रहण नियम के लिये है—यदि अनेक पदों का समूह जो कि सार्थक हो, प्रातिपदिकसञ्ज्ञक किया जाये तो समास ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञक हो अन्य समूह प्रातिपदिकसञ्ज्ञक न हो। इस नियम से यह लाभ हुआ कि 'देवदत्तो भुङ्क्ते' इत्यादि सार्थक वाक्य जो पहले **अर्थवदधातु०** (११६) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते थे अब न होंगे। इस विषय का विस्तार सिद्धान्त-कौमुदी की व्याख्याओं में देखना चाहिये।

---

१ **प्रश्न**—यहां तद्धितान्त शब्दों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की गई है परन्तु कुछ तद्धित ऐसे भी हैं जो अन्त में न होकर शब्द के मध्य में या आदि में होते हैं। यथा—**अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः** (१२२६) से अकच् प्रत्यय टि से पूर्व होता है (जैसे उच्चकैः)। इसी प्रकार **विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु** (१२२७) सूत्र से विधान किया जाने वाला बहुच् प्रत्यय, शब्द से पूर्व प्रयुक्त होता है (जैसे—ईषदून पटु—बहुपटु)। तो भला अन्त में तद्धित न होने के कारण इन शब्दों की कैसे प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो सकेगी?

उत्तर—जो तद्धित-प्रत्यय शब्द के मध्य में होते हैं उन के आने से शब्द वही शब्द माना जाता है कोई अन्य नहीं हो जाता, जैसाकि कहा है—**तन्मध्यपतित-स्तद्ग्रहणेन गृह्यते।** अतः ऐसे शब्दों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा उन को तद्धितान्त माने बिना भी पूर्वसूत्र से सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार शब्द के आदि में आने वाले बहुच् प्रत्यय के विषय में भी शब्द के अर्थवत् होने के कारण पूर्वोक्त **अर्थ-वदधातु०** (११६) सूत्र से ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा निर्बाध सिद्ध हो जाती है।

२ जहां २ समास में समासान्त 'टच्' आदि प्रत्यय होते हैं, वहां २ उन समासान्त प्रत्ययों के तद्धित होने से तद्धितान्तत्वेन ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

राजपुरुष, चित्रग्रीव, रामकृष्ण आदि समास हैं, इनकी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होती है। तो अब हम इन दो सूत्रों से प्रत्येक सार्थक शब्द की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा कर सकते हैं।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८) **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिँभ्याम्भ्यस्ङसोसांड्योस्सुप्** ।४।१।२॥

सुँ, औ, जस् इति प्रथमा । अम्, औट्, शस् इति द्वितीया । टा, भ्याम्, भिस् इति तृतीया । ङे, भ्याम्, भ्यस् इति चतुर्थी । ङसिँ, भ्याम्, भ्यस् इति पञ्चमी । ङस्, ओस्, आम् इति षष्ठी । ङि, ओस्, सुप् इति सप्तमी ॥

अर्थः—'सुँ, औ, जस्' यह प्रथमा विभक्ति; 'अम्, औट्, शस्' यह द्वितीया विभक्ति; 'टा, भ्याम्, भिस्' यह तृतीया विभक्ति; 'ङे, भ्याम्, भ्यस्' यह चतुर्थी विभक्ति; 'ङसिँ, भ्याम्, भ्यस्' यह पञ्चमी विभक्ति; 'ङस्, ओस्, आम्' यह षष्ठी विभक्ति; 'ङि, ओस्, सुप्' यह सप्तमी विभक्ति (ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे हो) ।

व्याख्या—स्वौजसमौट्—सुप् ।१।१। समासः—सुँश्च औश्च जश्च अम् च औट् च शश्च टाश्च भ्याञ्च भिश्च ङेश्च भ्याञ्च भ्यश्च ङसिँश्च भ्याञ्च भ्यश्च ङश्च ओश्च आम् च ङिश्च ओश्च सुप् च एषां समाहारः=स्वौजसमौट्—सुप् । इस सूत्र में सुँ, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसिँ, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्, सुप् इन इक्कीस प्रत्ययों का उल्लेख है । इन को सुँप् कहा जाता है । सुँ से लेकर सुप् के प् तक सुँप् प्रत्याहार बनता है । इस सूत्र का सम्पूर्ण अर्थ तभी हो सकता है जब हमें यह ज्ञात हो कि यह सूत्र किस २ के अधिकार में पढ़ा गया है । अब उन अधिकारों को बताते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(११९) **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** ।४।१।१॥
अधिकार-सूत्रम्—(१२०) **प्रत्ययः** ।३।१।१॥
अधिकार-सूत्रम्—(१२१) **परश्च** ।३।१।२॥

इत्यधिकृत्य । ङ्यन्तादाबन्तात् प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः ॥

अर्थः—(१) ङ्याप्प्रातिपदिकात्, (२) प्रत्ययः, (३) **परश्च**—इन तीन सूत्रों का अधिकार करके उपर्युक्त **स्वौजसमौट्०** सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न हुआ—ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से परे 'सुँ' आदि इक्कीस प्रत्यय हों ।

व्याख्या—हम ग्रन्थकार के इस सूत्रविन्यासक्रम से सहमत नहीं । हमारी सम्मति में एक तो **स्वौजसमौट्०** सूत्र से पूर्व इन अधिकारसूत्रों को रखना उचित था, दूसरा इन अधिकार-सूत्रों का क्रम **प्रत्ययः, परश्च,** ङ्याप्प्रातिपदिकात् ऐसा होना चाहिये था । **स्वौजसमौट्०** सूत्र इन तीन अधिकारों के अन्तर्गत है अतः पहले तीनों अधिकार दर्शाने योग्य थे । ङ्याप्प्रातिपदिकात् यह अधिकार **प्रत्ययः, परश्च** इन दोनों अधिकारों के अन्दर आ जाता है । अतः **प्रत्ययः, परश्च** सूत्र लिखने के पश्चात्

ङ्याप्प्रातिपदिकात् सूत्र लिखना उचित था। हम इन सूत्रों की अपने क्रम से ही व्याख्या करेंगे।

प्रत्ययः ।१।१। यह अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद का प्रथम तथा अधिकार-सूत्र है। अष्टाध्यायी में सब से बड़ा यही अधिकार है। इस का अधिकार पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। तीसरे, चौथे तथा पाञ्चवें अध्याय में जो प्रकृति से विधान किये जाएं उन की प्रत्यय सञ्ज्ञा हो यह इस सूत्र का अर्थ है।

जहां २ प्रकृति से प्रत्यय विधान किया जाता है वहां २ सर्वत्र प्रकृति पञ्चम्यन्त होती है। यथा – **अचो यत्** (७७३)। अचः ।५।१। यत् ।१।१। **स्वपो नन्** (८६१)। स्वपः ।५।१। नन् ।१।१। इन स्थानों पर पञ्चमी दिग्योग में होती है। इस दिग्योगपञ्चमी में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि क्या प्रत्यय प्रकृति से परे किया जाये या प्रकृति से पूर्व ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अन्य अधिकार चलाते हैं—

परश्च। परः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। 'प्रत्ययः' पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति आती है। अर्थः—प्रत्यय परे होता है। अर्थात् जिस से प्रत्यय विधान किया जाता है उस से प्रत्यय परे समझना चाहिये। यथा—**अचो यत्** (७७३) यहां अजन्त धातु से यत् प्रत्यय विधान किया गया है सो यत् प्रत्यय अजन्त धातु से परे होगा। **स्वपो नन्** (८६१) यहां स्वप् धातु से नन् प्रत्यय विधान किया गया है सो नन् प्रत्यय स्वप् धातु से परे होगा[1]। इस प्रकार प्रत्यय का अधिकार और उस के स्थान का नियम कर अब अवान्तर अधिकार चलाते हैं—

ङ्याप्प्रातिपदिकात् ।५।१। समासः—ङी च आप् च प्रातिपदिकञ्च एषां समाहारः=ङ्याप्प्रातिपदिकम्, तस्मात्=ङ्याप्प्रातिपदिकात्। 'ङी' यह भेदक अनुबन्धों से रहित ग्रहण किया गया है, अतः 'ङीप्, ङीष्, ङीन्' इन सब स्त्रीप्रत्ययों का सामान्यतः ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'आप्' यह भी भेदक अनुबन्धों से रहित होने के कारण 'टाप्, डाप्, चाप्' इन सब स्त्रीप्रत्ययों का ग्राहक होगा। यह अधिकार सूत्र है। इस का अधिकार पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। इस सूत्र में प्रकृति बतलाई गई है। अर्थः—यहां से ले कर पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जितने प्रत्यय कहे गये हैं वे (ङ्याप्प्रातिपदिकात्) ङ्यन्त आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे हों। इसी सूत्र के अधिकार में **स्वौजसमौट्**० (११८) सूत्र पढ़ा गया है। अतः उस सूत्र का यह अर्थ हुआ—ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे सुँ, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय हों[2]।

---

१ तत्र 'राम+टा' यहां पर टा प्रत्यय टित् होने से **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) से राम के आदि में न हो कर राम से परे होगा। इसी प्रकार **चरेष्ट**. (७९२) आदि में समझना चाहिये।

२. ङीप्, ङीष्, ङीन् तथा टाप्, डाप् और चाप् प्रत्ययों का आगे स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण में उल्लेख आयेगा। ङ्यन्त और आबन्त प्रत्ययान्त होने से प्रातिपदिक-

इन इक्कीस प्रत्ययों के सात त्रिक बनते हैं। यथा—१. सुँ, औ, जस्। २. अम्, औट्, शस्। ३. टा, भ्याम्, भिस्। ४. ङे, भ्याम्, भ्यस्। ५. ङसिँ, भ्याम्, भ्यस्। ६. ङस्, ओस्, आम्। ७. ङि, ओस्, सुप्। इन त्रिकों की क्रमशः प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी ये सञ्ज्ञाएं पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने की हुई हैं। महामुनि पाणिनि ने भी इन सञ्ज्ञाओं का उपयोग अपने ग्रन्थ में किया है (देखें कारकप्रकरण)।

अब इन विधान किये हुए इक्कीस प्रत्ययों की व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१२२) सुँपः ।१।४।१०२॥

सुँपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसञ्ज्ञानि स्युः ॥

अर्थः—सुँप् का प्रत्येक त्रिक 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—सुँपः ।६।१। त्रीणि ।१।३। त्रीणि ।१।३। (तिङस्त्रीणि त्रीणि० से)। एकशः इत्यव्ययपदम्। एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि ।१।३। (**तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः** से)। अर्थः—(सुँपः) सुँप् के जो (त्रीणि त्रीणि) तीन २ वचन, वह (एकशः) प्रत्येक (एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि) 'एकवचन-द्विवचन-बहुवचन' सञ्ज्ञक हो।

सुँप् प्रत्याहार के सात त्रिक अर्थात् तीन २ वचन होते हैं। ये सातों 'एकवचन-द्विवचन-बहुवचन' सञ्ज्ञक होते हैं। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) के अनुसार प्रत्येक त्रिक के अन्तर्गत तीन वचन क्रमशः एकवचन, द्विवचन, बहुवचन सञ्ज्ञक हो जाते हैं। यथा—

त्रिकसंख्या	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
पहला त्रिक	प्रथमा	सुँ (स्)	औ	जस् (अस्)
दूसरा त्रिक	द्वितीया	अम्	औट् (औ)	शस् (अस्)
तीसरा त्रिक	तृतीया	टा (आ)	भ्याम्	भिस्
चौथा त्रिक	चतुर्थी	ङे (ए)	भ्याम्	भ्यस्
पांचवां त्रिक	पञ्चमी	ङसिँ (अस्)	भ्याम्	भ्यस्
छठा त्रिक	षष्ठी	ङस् (अस्)	ओस्	आम्
सातवां त्रिक	सप्तमी	ङि (इ)	ओस्	सुप् (सु)

संज्ञक न होते थे अतः केवल 'प्रातिपदिकात्' कहने से इन से परे सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति सम्भव न थी। इसीलिये प्रकृतसूत्र में इन का पृथक् उल्लेख किया गया है। [वस्तुतः **प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्** परिभाषा से इन का ग्रहण भी हो सकता है अत एव पङ्गू, श्वश्रू आदि ऊङ्प्रत्ययान्त शब्दों से स्वादियों की उत्पत्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इन का सूत्र में उल्लेख इसलिये किया गया है कि तद्धित की उत्पत्ति ङ्यन्त, आबन्त से परे ही हो इन से पूर्व प्रातिपदिक से नहीं। इसका विशेष स्पष्टीकरण **सिद्धान्तकौमुदी** की टीकाओं में इस स्थल पर देखें।]

ध्यान रहे कि प्रत्येक त्रिक को 'एकवचन+द्विवचन+बहुवचन' ये तीन सज्ञाए मिलती हैं। इन को वह अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययो मे बाट देता है। यथा—'सुँ, औ, जस्' यह एक त्रिक है, इसे 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' ये तीन सज्ञाए प्राप्त होती हैं। यह त्रिक इन तीन सज्ञाओ को अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययो को क्रमश दे देता है, इस से 'सुँ' यह एकवचन, 'औ' यह द्विवचन, 'जस्' यह बहुवचन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य छ त्रिको म भी जान लेना चाहिये।

अब यह बतलाते हैं कि कहा एकवचन और कहा द्विवचन प्रयुक्त होता है [बहुवचन के विषय मे भी थोडी दूर आगे चल कर कहेगे]।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ।१।४।२२॥

द्वित्वैकत्वयोरेते स्त ॥

अर्थ'—द्वित्व और एकत्व की विवक्षा (कहने की इच्छा) होने पर क्रमश द्विवचनप्रत्यय और एकवचनप्रत्यय होता है।

व्याख्या—द्व्येकयो ।७।२। द्विवचनैकवचने ।१।२। द्विवचनञ्च एकवचनञ्च द्विवचनैकवचने, इतरेतरद्वन्द्व । 'द्व्येकयो' यहा 'द्वौ च एकश्च, तेषु=द्व्येकेषु' ऐसा बहुवचन होना चाहिये था, परन्तु मुनि ने ऐसा न कर 'द्व्येकयो' म द्विवचन ही किया है। उन के ऐसा करने का अभिप्राय यह है कि 'द्वि' शब्द से दो पदार्थ और 'एक' शब्द से एक पदार्थ ऐसा अर्थ ग्रहण न किया जाये किन्तु द्वि' शब्द से दो की सङ्ख्या अर्थात् द्वित्व और एक' शब्द से एक की सङ्ख्या अर्थात् एकत्व का ग्रहण हो। भाव यह है कि लोक म द्वि और एक शब्द सङ्ख्येयवाची ही प्रसिद्ध हैं सङ्ख्यावाची नही[1]। अर्थात् द्वि' शब्द से लोक म दो पदार्थ और 'एक' शब्द से एक पदार्थ ही लिया जाता है न कि दो और एक की सङ्ख्या। दो पदार्थों मे द्विवचन और एक पदार्थ मे एकवचन हो—यह अर्थ सुसङ्गत नही होता। अत. मुनि ने 'द्व्येकयो' कह कर द्वि और एक शब्द को सङ्ख्यावाची के रूप मे प्रयुक्त किया है। इस से अब यह सुसङ्गत अर्थ हो जाता है—(द्व्येकयो) दो सङ्ख्या अर्थात् द्वित्व और एक सङ्ख्या अर्थात् एकत्व विवक्षित होने पर क्रमश (द्विवचनैकवचन) द्विवचन और एकवचन प्रत्यय हो।

किस २ अर्थ मे कौन २ सा त्रिक हो? यह कारकप्रकरण का विषय है। अत: प्रथम कारकप्रकरणानुसार त्रिक का निर्णय कर चुकने के बाद पुन इस सूत्र से वचन-निर्णय करना चाहिये। यदि हमे एकत्व की विवक्षा होगी तो हम एकवचन और यदि द्वित्व की विवक्षा होगी तो द्विवचन करेंगे। यह इस सूत्र का सार है।

---

१. एक, द्वि से ले कर नवदशन् शब्द तक सब शब्द सङ्ख्येयवाची होते हैं अत: पदार्थों के साथ इन का सामानाधिकरण्य होता है। यथा—एको बाल., द्वौ पुरुषौ इत्यादि। विंशति आदि शब्द सङ्ख्या और सङ्ख्येय दोनो प्रकार के वाचक होते हैं। यथा—'गवा विंशति, ब्राह्मणानामेकोनविंशति' इत्यादियो में सङ्ख्यावाची हैं। 'गावो विंशति, ब्राह्मणा एकोनविंशति' इत्यादियो मे सङ्ख्येयवाची हैं। इस पर विशेष टिप्पण इस व्याख्या के कृदन्तप्रकरण मे (८१८) सूत्र पर देखें।

अब रूपसिद्धि के लिये अवसानसञ्ज्ञा का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१२४) **विरामोऽवसानम्** ।१।४।१०९॥

वर्णानामभावोऽवसानसञ्ज्ञः स्यात् । रुँत्व-विसर्गौ । रामः ॥

अर्थः—वर्णों का अभाव अवसान-सञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—विरामः ।१।१। अवसानम् ।१।१। 'विराम' शब्द का दो प्रकार का अर्थ होता है; पहला अधिकरण में 'घञ्' प्रत्यय मानने से और दूसरा भाव में 'घञ्' प्रत्यय स्वीकार करने से । प्रथम यथा—विरम्यतेऽस्मिन्निति = विरामः [यहां सामीपिक अधिकरण विवक्षित है] । उच्चारण का ठहराव जिस के पास किया जाता है उसे 'विराम' कहते हैं । उच्चारण का ठहराव अन्तिमवर्ण के पास किया जाता है अतः इस पक्ष में अन्तिमवर्ण 'विराम' होता है । द्वितीय यथा—विरमणं विरामः, भावे घञ् । उच्चारण का न होना 'विराम' होता है । अर्थात् किसी वर्ण से परे उच्चारण का न होना 'विराम' कहाता है । इस पक्ष में अन्तिम वर्ण से आगे उच्चारण के अभाव की अवसानसञ्ज्ञा होती है । यही पक्ष ग्रन्थकार ने वृत्ति में स्वीकार किया है । पर हैं दोनों ही शुद्ध । अर्थः—(विरामः) वर्णों के उच्चारण का अभाव (अवसानम्) अवसान-संज्ञक होता है । यथा—'रामर्' यहां रेफ से आगे उच्चारणाभाव है उसी की यहां अवसान-संज्ञा है । ध्यान रहे कि पहले पक्ष में रेफ की ही अवसानसंज्ञा होगी ।

रामः । 'राम' इस शब्द की अव्युत्पत्तिपक्ष में **अर्थवदधातु**० (११६) से तथा व्युत्पत्तिपक्ष में कृदन्त होने से **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा हो **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (१२०, १२१, ११९) इन के अधिकार में **स्वौजसमौट्**० (११८) सूत्र द्वारा इक्कीस प्रत्यय प्राप्त हुए । तदनन्तर **सुँपः** (१२२) से सात त्रिकों के अन्तर्गत तीन २ वचनों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन, बहुवचन सञ्ज्ञा हो गई । अब प्रथमा के एकत्व की विवक्षा में **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** (१२३) द्वारा राम शब्द से परे 'सुँ' प्रत्यय आ कर 'राम+सुँ' बना । उपदेश में अनुनासिक होने के कारण सकारोत्तर उकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) द्वारा इत्संज्ञक है अतः **तस्य लोपः** (३) से उस का लोप हो—रामस् । **सुप्तिङन्तं पदम्** (१४) से 'रामस्' इस समुदाय की पदसंज्ञा हो **ससजुषो रुँः** (१०५) से सकार को रुँ आदेश किया तो—राम+रुँ । पुनः उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से इत्संज्ञा तथा **तस्य लोपः** (३) से लोप हो—रामर् । **विरामोऽवसानम्** (१२४) से रेफोत्तरवर्ती अभाव की अवसानसञ्ज्ञा हो, उस के परे होने से **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) द्वारा रेफ को विसर्गादेश करने पर—'रामः' प्रयोग सिद्ध होता है । [विसर्ग के अयोगवाह होने से और अयोगवाहों का पाठ यरों में मानने से **अनचि च** (१८) से विसर्ग को वैकल्पिक द्वित्व भी हो जायेगा । रामःः ।]

नोट—जिस पक्ष में रेफ की अवसानसञ्ज्ञा होती है उस पक्ष में **खरवसानयोः**० (९३) सूत्र का खर् परे होने पर रेफ को या अवसान में वर्त्तमान रेफ को विसर्गादेश हो—ऐसा अर्थ हो जाने से कोई दोष नहीं आता ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—(१२५) सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ।१।२।६४॥

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते ॥

अर्थः—एकविभक्ति अर्थात् समानविभक्ति के परे होने पर जितने शब्द सरूप =समानरूप वाले ही देखे जाएं, उन में से एक ही रूप शेष रहता है (अन्य रूप लुप्त हो जाते हैं)।

व्याख्या—सरूपाणाम् ।६।३। (निर्धारणे षष्ठी) । एकशेष ।१।१। एकविभक्तौ ।७।१। एव इत्यव्ययपदम् । (वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेष. से) । अन्वय —एक-विभक्तौ सरूपाणाम् एव (दृष्टानाम्) मध्य एकशेष स्यादिति । समास —एका चासौ विभक्तिश्च=एकविभक्ति, तस्याम्=एकविभक्तौ, कर्मधारयसमास, समानविभक्ता-वित्यर्थ । समान रूप यषान्ते सरूपा, तेषाम्=सरूपाणाम् बहुव्रीहिसमास, ज्योतिर्जन-पदेत्यादिना समानस्य सभाव । शिष्यत इति शेष, कर्मणि घञ् । एकश्चासौ शेषश्च= एकशेष, कर्मधारयसमास । अर्थ —(एकविभक्तौ) समानविभक्ति में (सरूपाणामेव) जितने समानरूप वाले ही शब्द देखे जाएं उन में से (एकशेष) एक शेष रहता है [अन्य लुप्त हो जाते हैं]।

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि यह एकशेष कार्य अन्तरङ्ग[1] होने से 'औ' आदि विभक्तियों की उत्पत्ति से पूर्व ही होता है।

एक विभक्ति अर्थात् समानविभक्ति के परे होने पर जो शब्द एक जैसे ही देखे जाते हैं विरूप नहीं दिखाई देते, उन शब्दों में एक ही शेष रहता है अन्य लुप्त हो जाते हैं। यथा—'मातृ' शब्द दो प्रकार से सिद्ध होता है। एक—नप्तृनेष्टृ० (उणा० २५२) इस उणादिसूत्र द्वारा 'मान्' (नलोप हो कर) अथवा 'मा' धातु से तृजन्त

---

१. असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे (प०) अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य करने में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है। बहुत निमित्तों की अपेक्षा करने वाला कार्य बहिरङ्ग और थोड़े निमित्तों की अपेक्षा करने वाला कार्य अन्तरङ्ग होता है। अथवा—घरेलू=निज से सम्बन्ध रखने वाला=समीप का=निकट का या अपने भीतर का कार्य अन्त-रङ्ग और दूर का अथवा अपने से बाहिर का कार्य बहिरङ्ग होता है। यद्वा—बहुत झञ्झटों वाला कार्य बहिरङ्ग और थोड़े झञ्झटों वाला कार्य अन्तरङ्ग होता है। 'राम राम' यहां एकशेष विभक्त्युत्पत्ति से थोड़ी अपेक्षा वाला [विभ-क्त्युत्पत्ति में प्रातिपदिकसंज्ञा, द्वित्वादि की विवक्षा इत्यादि बहुत बातों की अपेक्षा होती है] थोड़े झञ्झटों वाला घरेलू वा भीतरी कार्य सा है अत यह अन्तरङ्ग और विभक्त्युत्पत्ति उस से बहिर्भूत होने से बहिरङ्ग है। अन्तरङ्ग कार्य पहले और बहिरङ्ग कार्य पीछे होगा। यह परिभाषा लोकसिद्ध है। यथा लोक में सवेरे उठ कर मनुष्य अन्तरङ्गकार्य शौच, दन्तधावन, स्नानादि कर बाद में बहिरङ्ग= बाहिर के या पराये कार्यों को करते हैं, वैसे यहां भी समझना चाहिये। इस परिभाषा की विशेष व्याख्या व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

निपातित होता है। इस का अर्थ 'माता=जननी' और इस के रूप 'माता, मातरौ, मातरः। मातरम्, मातरौ, मातॄः' इत्यादि होते हैं। दूसरा—माङ् माने (जुहो०) धातु से **ण्वुल्तृचौ** (७८४) द्वारा तृच् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इस का अर्थ 'मापने वाला' और इस के रूप 'माता, मातारौ, मातारः। मातारम्, मातारौ, मातॄन्' इत्यादि होते हैं। अब इन दो प्रकार के 'मातृ' शब्दों का द्वन्द्व करने पर एकशेष नहीं होगा। क्योंकि ये एकविभक्ति=समान-विभक्ति में केवल सरूप ही नहीं देखे जाते। इस में सन्देह नहीं कि सुँ, टा, ङे आदि विभक्तियों में इन दोनों प्रकार के 'मातृ' शब्दों के 'माता, मात्रा, मात्रे' आदि रूप समान ही होते हैं, परन्तु प्रत्येक विभक्ति में सरूप ही हों ऐसा नहीं देखा जाता। 'अम्' मे औणादिक 'मातृ' शब्द का 'मातरम्' और दूसरे 'मातृ' शब्द का 'मातारम्' विरूप होता है सरूप नहीं। हमारी शर्त तो यह है कि 'एक अर्थात् एक जैसी=समान विभक्ति परे होने पर जो शब्द सरूप ही रहें, विरूप न हों; उन में से एक ही शेष रहता है' इस शर्त को इन दो प्रकार के 'मातृ' शब्दों ने पूरा नही किया। समानविभक्ति 'अम्' आदि में इन की विरूपता पाई जाती है अतः इन का एकशेष नही होगा।

प्रत्यर्थं शब्दः अर्थात् प्रत्येक अर्थ के लिये शब्द के उच्चारण की आवश्यकता होती है। इस लिये जब दो, तीन या अधिक अर्थों का बोध कराना अभीष्ट होता है तो उस के लिये तद्वाचक शब्दों का उच्चारण भी उतनी वार प्राप्त होता है। इस पर यह सूत्र नियम करता है कि उन का उच्चारण एक ही वार हो अनेक वार नहीं। जैसे—जब दो, तीन या अधिक राम कहने हों तो तब रामशब्द का दो, तीन या अधिक वार उच्चारण प्राप्त होता है। इस नियम से एक 'राम' शब्द रह जाता है, शेषों का लोप हो जाता है। उन सब के अर्थ का वही शेष बचा हुआ ही बोध कराता है। जैसा कि कहा गया है—**यः शिष्यते स लुप्यमानाऽर्थाभिधायी** अर्थात् जो शेष रहता है वह लोप हुओं के अर्थ का भी बोध कराता है।

'राम राम' इन दो सरूप शब्दों में इस सूत्र द्वारा एक 'राम' शब्द ही शेष रह जाता है। अब प्रथमाविभक्ति के द्वित्व की विवक्षा में **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** (१२३) सूत्र द्वारा 'औ' प्रत्यय आ कर 'राम+औ' हो जाता है। अब इस स्थिति में **वृद्धिरेचि** (३३) के प्राप्त होने पर उस का बाधक अग्रिमसूत्र उपस्थित होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२६) प्रथमयोः पूर्व-सवर्णः।६।१।६८॥**

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात्। इति प्राप्ते—

अर्थः—अक् प्रत्याहार से प्रथमा या द्वितीया का अच् परे हो तो पूर्व (अक्) और पर (अच्) के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर (अग्रिम सूत्र निषेध करता है)।

व्याख्या—अकः।५।१। (**अकः सवर्णे दीर्घः** से)। प्रथमयोः।६।२। अचि

।७।१। (इको यणचि से) । पूर्व-परयो ।६।२। एक ।१।१। (एक. पूर्वपरयो. यह अधिकृत है) । पूर्व सवर्ण ।१।१। दीघ ।१।१। (अक सवर्णे दीर्घ से) । समास —प्रथमा च प्रथमा च=प्रथमे, तयो =प्रथमयो , एकशेष । विभक्तिया सात है, पहले 'प्रथमा' शब्द से उन म स पहली 'सुँ, औ, जस्' विभक्ति का ग्रहण हो जाता है, दूसरे 'प्रथमा' शब्द से अवशिष्ट छ विभक्तियो म प्रथमा अर्थात् 'अम्, औट्, शस्' का बोध होता है । इस प्रकार 'प्रथमयो ' शब्द स प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति का ग्रहण हो जाता है । पूर्वस्य सवर्ण =पूर्व-सवर्ण , षष्ठीतत्पुरुषसमास । अर्थ —(अक) अक् प्रत्याहार से (प्रथमयो) प्रथमा या द्वितीया विभक्ति का (अचि) अच् परे हो तो (पूर्व-परयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (पूर्व-सवर्ण) पूर्वसवर्ण (दीर्घ) दीर्घ आदेश होता है । तात्पर्य यह है कि अक् और प्रथमा द्वितीया के अच् के स्थान पर एक ऐसा आदेश होता है जो पूर्व वर्ण का सवण होते हुए साथ ही दीर्घ भी होता है । यथा—'इ+औ' के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ 'ई' होगा, यह पूर्व का सवर्ण है और दीर्घ भी है । इसी प्रकार—'उ+अ' के स्थान पर 'ऊ', 'ऋ+अ' के स्थान पर 'ॠ' पूर्वसवर्णदीर्घ होगा । इन सब के उदाहरण आगे यत्र तत्र बहुत आएगे ।

'राम+औ' यहा मकारोत्तर अकार=अक् स परे 'औ' यह प्रथमा का अच् विद्यमान है, अत पूर्व+पर के स्थान पर 'आ' यह पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—(१२७) नाऽऽदिचि ।६।१।१००॥

आद् इचि न पूर्वसवर्णदीर्घ । वृद्धिरेचि (३३)—रामौ ॥

अर्थ.—अवर्ण से इच् प्रत्याहार परे होने पर पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश नही होता । **वृद्धिरेचि** (३३) से वृद्धि हो कर 'रामौ' सिद्ध हो जाता है ।

व्याख्या—आत् ।५।१। इचि ।७।१। पूर्वपरयो ।६।२। एक ।१।१। (एक. पूर्वपरयो यह अधिकृत है) । पूर्व-सवर्ण ।१।१।(प्रथमयो पूर्वसवर्ण से)। दीर्घ ।१।१। (अक सवर्णे दीर्घ से)। न इत्यव्ययपदम् । अर्थ —(आत्) अवर्ण से (इचि) इच् प्रत्याहार परे होने पर (पूर्व-परयो) पूर्व+पर के स्थान पर (पूर्वसवर्ण , दीर्घ) पूर्वसवर्णदीर्घ (एक) एकादेश (न) नही होता । अवर्ण को छोड कर सब स्वर इच् प्रत्याहार के अन्दर आ जाते हैं ।

'राम+औ' यहा मकारोत्तर अवर्ण से 'औ' यह इच् प्रत्याहार परे वर्तमान है अत इस सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर पुन वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि एकादेश करने से—राम् औ='रामौ' प्रयोग सिद्ध होता है ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—(१२८) बहुषु बहुवचनम् ।१।४।२१॥

बहुत्वविवक्षाया बहुवचन स्यात् ॥

अर्थ.—बहुत्व अर्थात् दो सङ्ख्या से अधिक सङ्ख्या की विवक्षा हो जो बहुवचन प्रत्यय होता है ।

व्याख्या—वहुपु ।७।३। वहुवचनम् ।१।१। यहां 'वहु' शब्द व्याख्यान से वहुत्व-वाची है। अर्थः—(वहुपु) वहुत्व की विवक्षा होने पर (वहुवचनम्) वहुवचन प्रत्यय होता है। यदि दो से अधिक सङ्ख्या की विवक्षा होगी तो प्रकृति से वहुवचन प्रत्यय प्रयुक्त किया जायेगा।

'राम राम राम' इन तीन रामशब्दों का या इन से अधिक यथेष्ट रामशब्दों का (दो से अधिक की हमें विवक्षा है चाहे तीन हों या सौ इस से कुछ प्रयोजन नहीं) **सरूपाणाम्०** (१२५) से एकशेष हो 'राम' हुआ। अव प्रथमा विभक्ति के वहुत्व की विवक्षा में **वहुपु वहुवचनम्** (१२८) द्वारा 'जस्' यह वहुवचन प्रत्यय आकर 'राम+जस्' हुआ। अव अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१२९) **चुटू** ।१।३।७॥

प्रत्ययाद्यौ चुटू[1] इतौ स्तः ॥

अर्थः—प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग वा टवर्ग इत्सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१।(**पः प्रत्ययस्य** से)। आदी ।१।२। (**आदिर्ञिटुडवः** से वचनविपरिणाम कर के)। चुटू ।१।२। इतौ ।१।२। (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से वचनविपरिणाम द्वारा)। समासः—चुश्च टुश्च=चुटू, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदी) आदि में स्थित (चुटू) चवर्ग और टवर्ग (इतौ) इत्सञ्ज्ञक होते हैं।

'राम+जस्' यहां 'जस्' यह प्रत्यय है, इस के आदि में 'ज्' यह चवर्ग स्थित है अतः इस सूत्र से इस की इत् सञ्ज्ञा हो **तस्य लोपः** (३) से उस का लोप करने पर 'राम+अस्' हुआ। अव यहां **हलन्त्यम्** (१) से सकार की इत्सञ्ज्ञा प्राप्त होती है, इस पर उस की निवृत्ति के लिये यत्न करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१३०) **विभक्तिश्च** ।१।४।१०३॥

सुँप्तिङौ विभक्ति-सञ्ज्ञौ स्तः ॥

अर्थः—सुँप् और तिङ् विभक्तिसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—सुँप् ।१।१। (**सुँपः** से विभक्तिविपरिणाम द्वारा)। तिङ् ।१।१। (**तिङस्त्रीणि०** से विभक्तिविपरिणाम द्वारा)। विभक्तिः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(सुँप्) सुँप् और (तिङ्) तिङ् (विभक्तिः) विभक्तिसञ्ज्ञक होते हैं। **सञ्ज्ञाविधौ प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति** [जहां प्रत्यय की सञ्ज्ञा की जाये वहां प्रत्यय के ग्रहण होने पर प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं किया जाता] इस नियम से यहां सुवन्त और तिङन्त की विभक्ति सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु केवल सुँप् और तिङ् की ही विभक्ति सञ्ज्ञा होती है। सुँप् प्रत्याहार **स्वौजसमौट्०** (११८) सूत्र के 'सुँ' से लेकर सप्तमी के वहुवचन 'सुप्' के पकार तक वनता है। अर्थात् सुँ, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय 'सुँप्'

---

१. 'चुटू+इतौ' अत्र **ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** (५१) इति प्रगृह्यत्वेन प्रकृतिभावोऽवसेयः।

हैं। तिङ् प्रत्याहार तिप्तस्झि० (३७५) सूत्र के 'ति' से लेकर 'महिङ्' के ङकार तक बनता है। अर्थात् तिप्, तस्, झि आदि अठारह प्रत्यय 'तिङ्' हैं। इन दोनों सुँप् और तिङ् प्रत्ययों की विभक्ति सञ्ज्ञा है। अब विभक्तिसञ्ज्ञा का उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(१३१) न विभक्तौ तुस्माः ।१।३।४।।

विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा नेतः । इति सस्य नेत्वम् । रामाः ।।

अर्थ—विभक्ति में स्थित तवर्ग, सकार, मकार इत्सञ्ज्ञक नहीं होते। इति सस्य—इस सूत्र से सकार की इत् सञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। विभक्तौ ।७।१। तुस्माः ।१।३। इतः ।१।३। (उपदेशेऽजनुनासिक इत् से वचनविपरिणाम द्वारा)। समास—तुश्च स् च मश्च=तुस्माः, इतरेतर-द्वन्द्व। मकारादकार उच्चारणार्थ। अर्थ—(विभक्तौ) विभक्ति में (तुस्माः) तवर्ग, सकार, मकार (इतः) इत्सञ्ज्ञक (न) नहीं होते।

इस सूत्र से जस्, शस्, भिस्, भ्यस्, ङस्, ओस्, अम्, भ्याम्, आम् आदि के अन्त्य हल् की हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। तवर्ग के उदाहरण—रामात्, सर्वस्मात्, सर्वस्मिन्, एधेरन् प्रभृति जानने चाहियें।

'राम+अस्' यहां अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उस का बाध कर अतो गुणे (२७४) से पररूप प्राप्त होता है। पुनः उस का भी बाध कर प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ आकार करने से—रामास्। अब पूर्ववत् सकार को रुँ, उँकारलोप तथा अवसानसञ्ज्ञक रेफ को विसर्ग करने पर 'रामाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

किसी का अपनी ओर ध्यान खींचना सम्बोधन कहाता है। यथा—हे राम! भो देवदत्त ![1] इत्यादि। सम्बोधन में भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है [देखो कारकप्रकरण (८८६)]। सम्बोधन के द्योतनार्थ पद के आदि में (क्वचित् अन्त में भी) प्रायः 'हे, रे, भोस्' आदि अव्ययों का प्रयोग किया जाता है। कहीं २ इन का प्रयोग नहीं भी होता।

अब सम्बोधन के एकत्व की विवक्षा में 'राम+सुँ' हुआ। इस अवस्था में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम् (१३२) एकवचनं सम्बुद्धिः ।२।३।४९।।

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसञ्ज्ञं स्यात् ।।

अर्थः—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का एकवचन सम्बुद्धि सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—सम्बोधने ।७।१। (सम्बोधने च सूत्र से)। प्रथमायाः ।६।१। (प्रातिपदिकार्थलिङ्ग—प्रथमा से विभक्तिविपरिणाम द्वारा)। एकवचनम् ।१।१। सम्बुद्धिः

---

१ सम्बोधनवाची पद के आगे आजकल '!' ऐसा चिह्न किया जाता है; परन्तु प्राचीनकाल में ऐसा कोई चिह्न न था। इस प्रकार के चिह्नों की परिपाटी प्रायः पश्चिम से आई है। इन से वाक्य सुन्दर, असन्दिग्ध और झटिति अर्थप्रत्यायक हो जाते हैं। इन के ग्रहण में कोई लज्जा की बात नहीं—विषादप्यमृतं ग्राह्यम्।

।१।१। अर्थः—(सम्बोधने) सम्बोधन में (प्रथमायाः) प्रथमा का (एकवचनम्) एक-वचन (सम्बुद्धिः) सम्बुद्धि-सञ्ज्ञक होता है ।

इस सूत्र से सम्बोधन के 'सुँ' की सम्बुद्धिसञ्ज्ञा हो जाती है । अब सुँलोप के लिये उपयोगी अङ्गसञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१३३) यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ।१।४।१३।।

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात् ।।

अर्थः—जो प्रत्यय जिस शब्द से विधान किया जाता है वह शब्द है आदि में जिस के ऐसा शब्द-स्वरूप उस प्रत्यय के परे होने पर अङ्गसञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—यस्मात् ।५।१। प्रत्ययविधिः ।१।१। तदादि ।१।१। प्रत्यये ।७।१। अङ्गम् ।१।१। समासः—विधानं विधिः, भावे किप्रत्ययः । प्रत्ययस्य विधिः=प्रत्यय-विधिः, षष्ठी-तत्पुरुषः । तत्=प्रकृति-रूपम् आदिर्यस्य शब्दस्वरूपस्य तत्=तदादि, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(यस्मात्) जिस प्रकृति से (प्रत्ययविधिः) प्रत्यय का विधान हो (तदादि) वह प्रकृति जिस शब्दस्वरूप के आदि में हो ऐसा प्रकृतिसहित वह शब्दस्वरूप (प्रत्यये) उस प्रत्यय के परे होने पर (अङ्गम्) अङ्ग-सञ्ज्ञक होता है । उदाहरण यथा—

भू धातु से परे लँट् के स्थान पर 'मिप्' प्रत्यय किया तो बना—भू+मिप् । पुनः भूधातु से परे 'शप्' विकरण किया तो 'भू+शप्+मिप्' हुआ । शकार तथा दो पकारों का लोप करने पर 'भू+अ+मि' । अब यहां अङ्गसञ्ज्ञा करते हैं । यहां 'भू' इस प्रकृति से 'मिप्' प्रत्यय का विधान किया गया है । वह 'भू' प्रकृति 'अ' इस शब्दस्वरूप के आदि में स्थित है । इस प्रकार प्रकृतिसहित वह शब्दस्वरूप 'भू+अ' है । अतः उस मिप् प्रत्यय के परे होने पर 'भू+अ' इस समुदाय की अङ्ग संज्ञा हुई । गुण और अवादेश हो कर यह अङ्ग 'भव' बन जाता है । अब मिप् प्रत्यय के परे रहते 'भव' इस अदन्त अङ्ग को **अतो दीर्घो यञि** (३९०) से दीर्घ हो कर 'भवामि' सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'भविष्यामि' आदि में 'भविष्य' आदि की अङ्गसंज्ञा समझनी चाहिये ।

यदि सूत्र में 'तदादि' यहां 'आदि' ग्रहण न करते तो केवल उस प्रकृति की ही अङ्गसंज्ञा होती, प्रकृति से आगे तथा प्रत्यय से पूर्वस्थित शब्दस्वरूप की न होती । तब उपर्युक्त उदाहरण में केवल 'भू' की ही अङ्गसंज्ञा होती 'अ' की साथ में न होती । इस से अङ्ग के अदन्त न होने से उसे दीर्घ न हो कर अनिष्ट हो जाता । अब पुनः 'आदि' ग्रहण से तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास के कारण दोनों अर्थात् विकरणविशिष्ट प्रकृति का ग्रहण हो जाता है; कोई दोष नहीं आता[1] ।

---

१. बहुव्रीहिसमास में जिन पदों का समास किया जाता है, समास हो चुकने पर प्रायः उन पदों से भिन्न किसी अन्य पद के अर्थ की ही प्रधानता हो जाया करती है । यथा—'पीत' शब्द का अर्थ है 'पीला' और 'अम्बर' शब्द का अर्थ है 'कपड़ा' ।

जहां पर केवलमात्र प्रकृति ही होगी उस से आगे तथा प्रत्यय से पूर्व अन्य कोई स्थित न होगा, वहां केवल प्रकृति की ही अङ्गसंज्ञा हो जायेगी; अर्थात् व्यपदेशिवद्भाव से 'तदादि' केवल प्रकृति ही समझी जायेगी [देखो—आद्यन्तवदेकस्मिन् (२७८)]।

'राम+सुँ' यहां रामशब्द से 'सुँ' प्रत्यय का विधान है अतः उस प्रत्यय के परे होने पर तदादि=रामशब्द की अङ्गसंज्ञा हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्र में अङ्गसंज्ञा का उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१३४) एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ।६।१।६७॥

एङन्ताद् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल् लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत् ॥

अर्थः—एङन्त अङ्ग तथा ह्रस्वान्त अङ्ग से परे हल् का लोप हो जाता है यदि वह सम्बुद्धि का हो तो।

अब 'पीत' और 'अम्बर' शब्द का बहुव्रीहिसमास किया तो बना—पीताम्बर। इस का अर्थ है—पीले कपड़ों वाला। इस अर्थ में किसी अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता है जिस के पीले कपड़े हैं। इसी प्रकार 'दृष्टा' का अर्थ है 'देखी गई' और 'मथुरा' का अर्थ है 'एक नगरी'। अब 'दृष्टा' और 'मथुरा' का बहुव्रीहिसमास किया तो बना—दृष्टमथुर। इस का अर्थ है—जिस से मथुरा देखी गई है वह पुरुष। इस अर्थ में किसी अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता है। अत एव बहुव्रीहिसमास अन्यपदार्थप्रधान कहाता है। इस बहुव्रीहि समास के पुनः दो भेद हो जाते हैं—१ तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास, २ अतद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास। जिस बहुव्रीहिसमास में अन्यपदार्थ की प्रधानता के साथ साथ समस्यमान पदों के अर्थों का भी प्रवेश हो वह 'तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास' होता है। यथा—'पीताम्बर' यहां अन्यपदार्थ=पुरुष की प्रधानता के साथ साथ समस्यमान पदों के अर्थ का भी त्याग नहीं हुआ। यदि कहा जाये कि 'पीताम्बरमानय' (पीले कपड़े वाले को लाओ) तो उस पुरुष के साथ पीले कपड़े भी आएंगे। अतः यहां तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास है।

जहां अन्यपदार्थ के साथ समस्यमान पदों के अर्थ का प्रवेश नहीं होता वहां 'अतद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास' होता है। यथा—दृष्टमथुर। यहां अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता के साथ समस्यमान पदों के अर्थों का प्रवेश नहीं होता। यदि कहा जाये कि—'दृष्टमथुरमानय' (जिस ने मथुरा देखी है उसे लाओ) तो उस पुरुष के साथ देखी गई मथुरा नहीं आएगी, अतः यहां 'अतद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास' है। इसी प्रकार 'चित्रगुमानय' आदि में समझना चाहिये। उपर्युक्त सूत्र में 'तदादि' (तत्=प्रकृतिरूपम् आदिर्यस्य तत्=तदादि) यहां 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' समास है, अतः यहां अन्यपदार्थ (जिस के आदि में प्रकृति होगी) के साथ उस(प्रकृति)की भी अङ्गसंज्ञा हो जायेगी।

व्याख्या—एङ्ह्रस्वात् ।५।१। सम्बुद्धेः ।६।१। हल् ।१।१। (हल्ङ्याब्भ्यः० से)। लोपः ।१।१। (लोपो व्योर्वलि से) । लुप्यत इति लोपः, कर्मणि घञ् । समासः—एङ् च ह्रस्वश्च=एङ्ह्रस्वम्, तस्मात्=एङ्ह्रस्वात्, समाहारद्वन्द्वः । 'एङ् और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है' ऐसा अर्थ होने से 'हे कतरत् कुल' यहां दोष उत्पन्न होता है । तथाहि—नपुंसकलिङ्ग में 'कतर' शब्द से सम्बुद्धि अर्थात् सम्बोधन का एकवचन 'सुँ' करने पर **अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः** (२४१) से उसे अद्ड् आदेश हो जाता है—कतर+अद्(ड्)। पुनः डित्वसामर्थ्य से रेफोत्तर अकार का लोप हो—कतर्+अद्='कतरद्' बनता है । अब 'एङ् और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है' इस प्रकार का यदि अर्थ होगा तो 'कतर-द्' यहां रेफोत्तर ह्रस्व अकार से सम्बुद्धि के हल् दकार का लोप प्राप्त होगा जो अनिष्ट है । अतः इस की निवृत्ति के लिये इस सूत्र में 'अङ्गात्' का अध्याहार किया जाता है (क्योंकि सम्बुद्धि प्रत्यय का विधान होने से एङ् और ह्रस्व स्वतः अङ्ग होंगे ही) । 'एङ्ह्रस्वात्' को 'अङ्गात्' का विशेषण बना कर तदन्तविधि करने से—'एङन्तह्रस्वान्तादङ्गात्' ऐसा अर्थ निष्पन्न होता है । इस अर्थ के होने से 'कतरद्' आदि में कोई दोष नहीं आता । क्योंकि यहां अङ्ग ह्रस्वान्त नहीं प्रत्युत रेफान्त है, रेफोत्तर अकार तो 'अद्ड्' प्रत्यय का ही अवयव है । अतः दकारलोप न हो कर इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है । अर्थः—(एङ्ह्रस्वात्) एङन्त और ह्रस्वान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सम्बुद्धेः) सम्बुद्धि का (हल्) हल् (लोपः) लुप्त किया जाता है । एङन्त के उदाहरण 'हे हरे!, हे विष्णो!' आदि आगे आयेंगे । यहां ह्रस्वान्त का उदाहरण प्रस्तुत है—

राम+सुँ='राम+स्' यहां 'राम' इस ह्रस्वान्त अङ्ग से परे 'स्' यह सम्बुद्धि का हल् वर्त्तमान है अतः प्रकृत सूत्र से उस का लोप हो 'राम' यह प्रयोग सिद्ध होता है । 'हे' आदि शब्दों को साथ में जोड़ने से—'हे राम !, भो राम !' आदि बनेंगे । सम्बोधन का द्विवचन और बहुवचन प्रथमावत् सिद्ध होता है । हे रामौ !, हे रामाः !।

नोट—सम्बोधन के द्विवचन और बहुचन में प्रथमा से कुछ भी भेद नहीं हुआ करता; भेद सम्बुद्धि में ही होता है । अतः आगे सर्वत्र हम सम्बुद्धि की ही सिद्धि करेंगे । द्विवचन और बहुवचन में स्वयं प्रथमावत् सिद्धि कर लेनी चाहिये ।

अब द्वितीया विभक्ति के रूप सिद्ध किये जाते हैं । द्वितीया के एकवचन में 'राम+अम्' बना । अब यहां क्रमशः **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ, **अतो गुणे** (२७४) से उस का बाध कर पररूप तथा **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) से पररूप का बाध कर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है । इस अवस्था में अग्रिमसूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का भी बाध हो जाता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१३५) अमि पूर्वः ।६।१।१०३।।**

अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् । रामौ ।।

अर्थ – अक् से अम् में विद्यमान अच् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक पूर्वरूप आदेश होता है।

व्याख्या—अक ।५।१। (अक सवर्णे दीर्घ. से)। अमि ।७।१। अचि ।७।१। (इको यणचि स)। पूर्वपरयो ।६।२। एक ।१।१। (एक पूर्वपरयो यह अधिकृत है)। पूर्वं ।१।१। अर्थ—(अक) अक् प्रत्याहार से (अमि) अम् प्रत्यय में स्थित (अचि) अच् के परे होने पर (पूर्वपरयो) पूर्व+पर के स्थान पर (एक) एक (पूर्व) पूर्व वर्ण आदेश हो जाता है।

'राम+अम्' यहा मकारोत्तर अकार=अक् से परे अम् का अच्=अकार विद्यमान है। अत प्रकृतसूत्र से पूर्व+पर के स्थान पर पूर्व=अकार का रूप हो कर —राम् 'अ' म्='रामम्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्वितीया के द्विवचन मे 'राम+औट्' हुआ। टकार की हलन्त्यम् (१) से इत् सञ्ज्ञा हो कर तस्य लोप (३) से लोप हो जाता है—राम+औ। अब प्रथमा के द्विवचन के समान पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर वृद्धि हो जाती है—रामौ।

द्वितीया के बहुवचन मे 'राम+शस्' हुआ। अब शकार की इत्सञ्ज्ञा करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१३६) लशक्वतद्धिते ।१।३।८॥

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या ल-श-कवर्गा इत स्यु ॥

अर्थ—तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि मे ल्, श् और कवर्ग इत् हो।

व्याख्या प्रत्ययस्य ।६।१। (प्रत्ययस्य से)। आदि ।१।१। (आदिर्ञिटुडव. से लिङ्गविपरिणाम द्वारा)। लशकु ।१।१। इत ।१।१। (उपदेशेऽजनुनासिक इत् से)। अतद्धिते ।७।१। समास —लश्च शश्च कुश्च एषा समाहार, लशकु, समाहारद्वन्द्व। न तद्धिते=अतद्धिते, नञ्समास। अर्थ—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदि) आदि में स्थित (लशकु) लकार, शकार और कवर्ग (इत्) इत्सञ्ज्ञक होते हैं (अतद्धिते) परन्तु तद्धित म नही होते। तद्धितप्रत्यय मे निषेध होने से कप्, ग्मिनि, ग्मिन्, घ, शस्, लच् आदि मे इत्सञ्ज्ञा न होगी। यथा—व्यूढोरस्क, वाग्मी, लोमश, चूडाल आदि।

'राम+शस्' यहा शस्' तद्धित नही अत प्रकृत सूत्र से इस के आदि मे स्थित शकार की इत्सञ्ज्ञा हुई और लोप हो गया—राम+अस्। अब प्रथमयो पूर्वसवर्णः (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'रामास्' बन गया। इस अवस्था मे अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१३७) तस्माच्छसो न. पुंसि ।६।१।६६॥

पूर्वसवर्णदीर्घात् परो य शस सस्तस्य न स्यात् पुंसि ॥

अर्थ—पूर्वसवर्ण-दीर्घ से परे जो शस् का सकार उस के स्थान पर नकार हो जाता है पुंल्लिङ्ग म।

व्याख्या—तस्मात् ।५।१। शस ।६।१। न ।१।१। पुंसि ।७।१। नकारादकार उच्चारणार्थ। 'तद्' शब्द पूर्व का बोध कराया करता है। इस सूत्र से पूर्व प्रथमयो:

पूर्वसवर्णः (१२६) में पूर्वसवर्णदीर्घ का विधान है। अतः यहां 'तस्मात्' शब्द से भी 'पूर्वसवर्णदीर्घात्' का ग्रहण होगा। अर्थः—(तस्मात् = पूर्वसवर्णदीर्घात्) उस पूर्वविहित पूर्वसवर्णदीर्घ से परे[1] (शसः) शस् के स्थान पर (नः) न् हो जाता है (पुंसि) पुल्लिङ्ग में। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) से यह नकार आदेश शस् के अन्त्य अल् सकार को ही होगा।

'रामास्' यहां मकारोत्तर आकार पूर्वसवर्णदीर्घ है अतः इस से परे शस् के सकार को नकार हो कर—'रामान्' बना।

अब यहां अनिष्ट णत्व प्राप्त होता है। उस का परिहार करने के लिये ग्रन्थकार प्रथम णत्वविधायक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१३८) अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि।८।४।२॥

अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे। इति प्राप्ते—

अर्थः—अट् प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इन का अलग २ या यथासम्भव दो तीन अथवा चारों का मिल कर व्यवधान होने पर भी समानपद में रेफ और षकार से परे नकार को णकार हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर [अग्रिम-सूत्र निषेध करता है]।

व्याख्या—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये।७।१। अपि इत्यव्ययपदम्। समानपदे।७।१। रषाभ्याम्।५।२। नः।६।१। णः।१।१। (**रषाभ्यां नो णः समानपदे** से)। णकारादकार उच्चारणार्थः। इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में **रषाभ्यां नो णः समानपदे** सूत्र पढ़ा गया है। वह सूत्र समानपद में रेफ और षकार से परे अव्यवहित (व्यवधान-रहित) नकार को णकार करता है। यथा—चतुर्णाम्, पुष्णाति आदि। परन्तु यह सूत्र 'नराणाम्, पुरुषेण' प्रभृति प्रयोगों में व्यवहित नकार को णकार करने के लिये रचा गया है। समासः—अट् च कुश्च पुश्च आङ् च नुम् च = अट्कुप्वाङ्नुमः, इतरेतरद्वन्द्वः। तैर्व्यवायः (व्यवधानम्) = अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायः, तृतीयातत्पुरुषः। तस्मिन् = अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये, भावसप्तमी। अर्थः—(अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये) अट्प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इन से व्यवधान होने पर (अपि) भी (रषाभ्याम्) रेफ और षकार से परे (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् हो जाता है (समानपदे) समानपद अर्थात् अखण्ड पद में।

जिस पद के खण्ड अर्थात् टुकड़े कर उन का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग न किया जा सके उसे समानपद या अखण्डपद कहते हैं। 'रामान्' अखण्डपद है, इस के खण्ड नहीं किये जा सकते। इसलिये यहां णकार प्राप्त है। 'रघुनाथः, रमानाथः, रामनाम'

---

१. जहां पूर्वसवर्णदीर्घ न होगा, वहां पर पुल्लिङ्ग में भी शस् के स् को न् न होगा। जैसे—गाः। 'गो+शस्' यहां पर **औतोऽम्शसोः** (२१४) से पूर्व+पर के स्थान पर 'आ' आदेश हुआ है, अतः पूर्वसवर्णदीर्घ न होने से न् भी न हुआ।

ये अखण्डपद नहीं इनके खण्ड हो सकते हैं। रघु और नाथ इन दोनों खण्डों का स्वतन्त्र प्रयोग किया जा सकता है। इसलिये इन में णत्व नहीं हुआ।

अब यहां यह विचार उपस्थित होता है कि क्या अट्, कवर्ग आदि सब का व्यवधान हो तो णत्व होता है ? या इन में से किसी एक का व्यवधान होने पर णत्व होता है ? पहला पक्ष असम्भव है क्योंकि संस्कृतसाहित्य में ऐसा कोई शब्द नहीं जिस में रेफ या षकार से परे अट्, कवर्ग आदि सब से व्यवहित णकार हो। अतः लक्ष्य (उदाहरण) न मिलने के कारण 'सब का व्यवधान हो तो णत्व होता है' यह पक्ष असङ्गत है। दूसरा पक्ष ठीक है। इस से 'नराणाम्, कराणाम्, पुरुषेण' आदि प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है। **करणे यजः** (८०७), **स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन** (९२९) इत्यादि पाणिनिसूत्रों से भी इस पक्ष की पुष्टि होती है। इन सूत्रों में मुनि ने एक र का व्यवधान होने पर णकार आदेश किया है। किञ्च—इस पक्ष के अतिरिक्त एक अन्य पक्ष भी महामुनि के सूत्रपाठ से पुष्ट होता है। वह यह है कि 'अट्, कवर्ग आदियों में चाहे जितने वर्णों का व्यवधान हो णत्व हो जाय'। मुनि ने—**सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ** (१२५), **कर्मणि द्वितीया** (८९१), **इन्हन्पूषार्यम्णां शौ** (२८४) इत्यादि सूत्रों में यथासम्भव अनेकों का व्यवधान होने पर भी णकार आदेश किया है। ग्रन्थकार ने इन दोनों पक्षों का—**एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च** इन शब्दों से वर्णन किया है। इन के उदाहरण यथा—

अट्—करणम्, हरणम्, करिणा, कुरुणा, गिरीणाम्, अर्हेण इत्यादि।

कवर्ग—अर्केण, मूर्खाणाम्, गर्गेण, अर्घेण इत्यादि।

पवर्ग—दर्पेण, रेफेण, गर्भेण, चर्मणा, वर्मणा इत्यादि।

आङ्—पर्याणद्धम्, निराणद्धम् इत्यादि[1]।

नुम्—बृंहणम्, तृंहणम् इत्यादि। यहां 'नुम्' से अनुस्वार अभिप्रेत है। वह अनुस्वार चाहे 'नुँम्' के स्थान पर हुआ हो या स्वाभाविक हो इस से कुछ प्रयोजन नहीं। यथा—'बृंहणम्' यहां नुँम् के स्थान पर अनुस्वार हुआ है। 'तृंहणम्' यहां स्वाभाविक अनुस्वार है।

सूचना—सम्पूर्ण णत्वप्रकरण में रेफ और षकार की तरह ऋवर्ण को भी णत्व में निमित्त समझना चाहिये। अत एव **अप्तृन्तृच्**—प्रशास्तॄणाम् (२०६) इत्यादि मुनिवर के निर्देश उपलब्ध होते हैं। आगे चल कर ग्रन्थकार **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** (वा० २१) इस वार्तिक को स्वयं ही उद्धृत करेंगे।

रामान्=र्+आ+म्+आ+न्। यहां रेफ से परे आ=अट्, म्=पवर्ग,

---

१ इस सूत्र की अनुवृत्ति **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (४५९) सूत्र में जाती है। अतः पर्याणद्धम् आदि में उस से णत्व हो जाता है। **पदव्यवायेऽपि** (८.४.३७) द्वारा निषेध नहीं होता। यही आङ् के ग्रहण का प्रयोजन है। इस पर विस्तृत विचार व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

आ=अट् इन तीन वर्णों से व्यवहित नकार है अतः अट्कु० सूत्र से णकार प्राप्त होता है। अब इस का अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम् (१३९) **पदान्तस्य ।८।४।३६॥**

नस्य णो न। रामान् ॥

अर्थः—पदान्त नकार को णकार नहीं होता।

व्याख्या—पदान्तस्य ६।१। नः ।६।१। णः ।१।१। (**रषाभ्यां नो णः समानपदे** से)। न इत्यव्ययपदम् (न भाभूपू० से)। अर्थः—(पदान्तस्य) पद के अन्त वाले (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश (न) नहीं होता।

'रामान्' यह सुँबन्त होने से **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) के अनुसार पदसञ्ज्ञक है। यहां 'न्' पदान्त है। अतः प्रकृत **पदान्तस्य** से नकार को णकार होने का निषेध हो गया तो 'रामान्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

तृतीया के एकवचन में—राम+टा। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१४०) **टाङसिँङसामिनात्स्याः ।७।१।१२॥**

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः। णत्वम्—रामेण ॥

अर्थः—अदन्त (अङ्ग) से परे टा को इन, ङसिँ को आत् और ङस् को स्य आदेश होता है।

व्याख्या—अतः ।५।१। (**अतो भिस ऐस्** से)। अङ्गात् ।५।१। (**अङ्गस्य** यह अधिकृत है, इस का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। टाङसिँङसाम् ।६।३। इनात्स्याः ।१।३। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अत.' से तदन्तविधि हो जाती है—अदन्ताद् अङ्गात्। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (टा-ङसिँ-ङसाम्) टा, ङसिँ, ङस् के स्थान पर (इनात्स्याः) इन, आत्, स्य आदेश हो जाते हैं। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) के अनुसार टा को इन, ङसिँ को आत् तथा ङस् को स्य आदेश हो जाता है। ध्यान रहे कि इन और स्य आदेश अदन्त हैं।

'राम+टा' यहां 'राम' अदन्त अङ्ग है। इस से परे 'टा' को 'इन' आदेश हो जाता है। 'राम+इन' इस अवस्था में **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश तथा **अट्कु०** (१३८) से नकार को णकार आदेश हो कर 'रामेण' रूप सिद्ध होता है। स्मरण रहे कि यहां **पदान्तस्य** (१३९) द्वारा णत्व का निषेध नहीं होता, क्योंकि यहां न् पदान्त नहीं, पदान्त 'अ' है।

तृतीया के द्विवचन में राम+भ्याम्। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१४१) **सुँपि च ।७।३।१०२॥**

यञादौ सुँपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः। रामाभ्याम् ॥

अर्थः—यञादि सुँप् परे होने पर अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—सुँपि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अतः ।६।१। दीर्घः ।१।१। यञि ।७।१। (**अतो दीर्घो यञि** से)। 'यञि' पद 'सुँपि' पद का विशेषण है और अल् है इस लिये इस से तदादिविधि हो कर 'यञादौ सुँपि' बन

जायेगा। 'अतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होकर 'अदन्तस्य अङ्गस्य' हो जायेगा। अर्थः—(यञि) यञादि (सुँपि) सुँप् परे होने पर (अतः) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। यञ् एक प्रत्याहार है, यञादि सुँप्—भ्याम्, भ्यस् आदि हैं। अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा यह दीर्घ आदेश अदन्त अङ्ग के अन्त्य अल्=अत् के स्थान पर ही होता है।

'राम+भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यञादि सुँप् है, अतः इस के परे होने पर 'राम' इस अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो—'रामाभ्याम्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

तृतीया के बहुवचन में 'भिस्' प्रत्यय आकर 'राम+भिस्' हुआ। सुँपि च (१४१) से दीर्घ के प्राप्त होने पर उस का बाध कर वक्ष्यमाण **बहुवचने झल्येत्** (१४५) सूत्र से अदन्त अङ्ग को एकार प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१४२) अतो भिस ऐस् ।७।१।९।।

अदन्ताद् अङ्गात् परस्य भिस ऐस् स्यात्। अनेकाल्शित्सर्वस्य (४५)—रामैः ।।

अर्थः—अदन्त अङ्ग से परे भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश हो।

व्याख्या—अतः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य यह अधिकृत है, इस की विभक्ति का यहां विपरिणाम हो जाता है)। भिसः ।६।१। ऐस् ।१।१। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि हो जायेगी। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (भिसः) भिस् के स्थान पर (ऐस्) ऐस् हो जाता है। यह आदेश **तस्मादित्युत्तरस्य** (७१) द्वारा अदन्त अङ्ग से परे भिस् को होता है। 'भिसः' यह षष्ठीनिर्दिष्ट है। अतः **अलोऽन्त्यस्य** (२१) से उस के अन्त्य अल् सकार को यह आदेश होना चाहिये। पर उस के बाधक **आदेः परस्य** (७२) द्वारा भिस् के आदि अल्=भकार को ही प्राप्त होता है। इस पर **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा उस का भी बाध कर सम्पूर्ण भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश हो जाता है।

'राम+भिस्' यहां 'राम' यह अदन्त अङ्ग है अतः इस से परे प्रकृत सूत्र द्वारा भिस् के स्थान पर ऐस् सर्वादेश होकर—राम+ऐस्। अब **वृद्धिरेचि** (३३) से पूर्व+पर के स्थान पर 'ऐ' वृद्धि हो रुँत्व विसर्ग करने से—'रामैः' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब रामशब्द के चतुर्थी विभक्ति के रूप सिद्ध किये जाते हैं। चतुर्थी के एकवचन में 'राम+ङे' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१४३) ङेर्यः ।७।१।१३।।

अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः ।।

अर्थः—अदन्त अङ्ग से परे 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश हो।

व्याख्या—अतः ।५।१। (अतो भिस ऐस् से)। अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य यह

अविकृत है। यहां विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। ङेः ।६।१। (ङे+ङस्=ङे+अस्=ङेस्=ङेः, ङसिंङसोश्चेति पूर्वरूपम्)। यः ।१।१। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ङेः) ङे के स्थान पर (यः) 'य' आदेश होता है। ध्यान रहे कि 'य' आदेश सस्वर है।

'राम+ङे' यहां 'राम' यह अदन्त अङ्ग है अतः इस से परे ङे को 'य' आदेश हो—'राम+य' हुआ। यहां 'य' यञादि तो है पर सुँप् नहीं। सुँप् तो 'ङे' था, वह अब रहा नहीं। अतः **सुँपि च** (१४१) से दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता। इस पर 'य' में सुँप्त्व धर्म लाने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(१४४) **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** ।१।१।५५।।

आदेशः स्थानिवत् स्यात्, न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। इति स्थानिवत्त्वात् 'सुँपि च' (१४१) इति दीर्घः—रामाय। रामाभ्याम्।।

अर्थः—आदेश स्थानी के समान होता है, परन्तु यदि स्थानी अल् के आश्रित कार्य करना हो तो वह स्थानिवत् नहीं होता। **इति स्थानिवत्त्वात्०** इस सूत्र से यकार के स्थानिवत् हो जाने से **सुँपि च** (१४१) से दीर्घ हो कर 'रामाय' हुआ।

व्याख्या—स्थानिवत् इत्यव्ययपदम्। आदेशः ।१।१। अनल्विधौ ।७।१। समासः-स्थानिना तुल्यम् इति स्थानिवत्, **तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः** (११४८) इति वतिप्रत्ययः। (१) अला विधिः=अल्विधिः, तृतीयातत्पुरुषः। (२) अलः (परस्य) विधिः=अल्विधिः। पञ्चमी- तत्पुरुषः। (३) अलः (स्थाने) विधिः=अल्विधिः, षष्ठीतत्पुरुषः। (४) अलि (परे) विधिः=अल्विधिः, सप्तमीतत्पुरुषः। न अल्विधिः=अनल्विधिः, तस्मिन्=अनल्विधौ, नञ्तत्पुरुषः। अल् प्रत्याहार में सब वर्ण आ जाते हैं अतः अल् वर्ण का पर्याय है। यहां अल् स्थानी या स्थानी का अवयव ही ग्रहण किया जाता है। अर्थः—(आदेशः) आदेश (स्थानिवत्) स्थानी के समान होता है। परन्तु (अनल्विधौ) स्थान्यल् द्वारा, स्थान्यल् से परे, स्थान्यल् के स्थान पर या स्थान्यल् के परे होने पर विधि करनी हो तो वह स्थानिवत् नहीं होता। भाव—जिस के स्थान पर कुछ किया जाये उसे 'स्थानी' कहते हैं। यथा—**ङेर्यः** (१४३) द्वारा 'ङे' के स्थान पर 'य' किया जाता है अतः 'ङे' स्थानी है। **इको यणचि** (१५) द्वारा इक् के स्थान पर यण् किया जाता है अतः इक् स्थानी है। जो स्थानी के स्थान पर किया जाता है उसे 'आदेश' कहते हैं। यथा—**ङेर्यः** (१४३) में य और **इको यणचि** (१५) में यण् आदेश है। **आदेश स्थानिवत्=स्थानी के समान=स्थानी के तुल्य धर्मवाला होता है** अर्थात् जो कार्य स्थानी के होने से सिद्ध होते हैं वे आदेश के होने से भी सिद्ध हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

'राम+य' यहां 'य' यञादि तो है पर सुँप् नहीं, अतः **सुँपि च** (१४१) से दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता। अब प्रकृत सूत्र द्वारा आदेश 'य' के स्थानिवत्=ङेवत् होने से 'य' में सुप्त्व धर्म आ जाने के कारण **सुँपि च** से दीर्घ हो—'रामाय' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

निम्नलिखित अवस्थाओं में आदेश स्थानिवत् न होगा—

(१) यदि स्थानी अल् के द्वारा कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा— व्यूढोरस्केन' [व्यूढम् उरो यस्य स व्यूढोरस्कः, तेन=व्यूढोरस्केन। बहुव्रीहिसमास।] यहां विसर्ग के स्थान पर सोऽपदादौ (८.३.३८) से सकार हुआ है। वार्तिककार एवं भाष्यकार ने विसर्ग का अट् प्रत्याहार में पाठ माना है। अब यदि इस सकार को स्थानिवद्भाव से विसर्ग मान लें तो यह अट् प्रत्याहार के अन्तर्गत हो जायगा। तब अट्कुप्वाङ्० (१३८) द्वारा नकार को णकार प्राप्त होगा जो अनिष्ट है। यहां स्थानी=विसर्ग=अल् के द्वारा णत्वविधि करनी है अतः आदेश =स् स्थानिवत्=विसर्गवत् न होगा।

(२) यदि स्थानी अल् से परे कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा=द्यौः। 'दिव्' शब्द से सु प्रत्यय लाने पर दिव औत् (२६४) सूत्र द्वारा व्' को 'औ' हो—'दि औ स्' बना। अब यहां औ' इस आदेश को स्थानिवत् अर्थात् वकारवत् हल् मानने से हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) द्वारा सकार का लोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल्=वकार से परे लोपविधि करनी है अतः आदेश (औ) स्थानिवत् (वकारवत्) न होगा।

(३) यदि स्थानी अल् के स्थान पर कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा— द्युकामः (दिवं कामयते, दिवि कामोऽस्येति वा)। यहां 'दिव्+काम' में दिव उत् (२६५) सूत्र द्वारा 'व्' को 'उ' होता है। यदि इस 'उ' आदेश को स्थानिवत्=वकारवत् मानें तो उस के वल् प्रत्याहार के अन्तर्गत होने के कारण लोपो व्योर्वलि (४२९) द्वारा वकारलोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल्=वकार के स्थान पर लोपविधि करनी है अतः आदेश (उ) स्थानिवत् (वकारवत्) न होगा।

(४) यदि स्थानी अल् के परे होने पर उस से पूर्व कोई विधि करनी हो तो भी आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—क इष्टः। 'इष्ट' यहां यज् धातु के यकार के स्थान पर सम्प्रसारण इकार किया गया है। 'कस्+इष्ट' यहां ससजुषो रुः (१०५) से रु आदेश कर अनुबन्धलोप किया तो—'कर्+इष्ट.' हुआ। अब यहां 'इष्ट' के इकार आदेश को स्थानिवत्=यकारवत् हश्प्रत्याहारान्तर्गत मानें तो हशि च (१०७) से रेफ के स्थान पर उत्व प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल् यकार है; उस के परे होने पर उस से पूर्व रेफ को उत्वविधि करनी है अतः आदेश (इ) स्थानिवत् (यकारवत्) न होगा।[1]

नोट—इस सूत्र पर उपयोगी सब बातें हम ने लिख दी हैं। विद्यार्थियों को इस सूत्र का खूब अभ्यास कर लेना चाहिये, आगे इस का बहुत उपयोग होगा।

---

१. यहां प्रकृत 'रामाय' की सिद्धि में अल्विधि की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। यहां हम स्थानिवद्भाव से 'य' को सुप् समझ कर दीर्घ करने चले हैं। सुप्त्व धर्म केवल अल् से ही नहीं रहता किन्तु भ्याम्, भिस् आदि समुदायों में भी रहता है जो स्पष्टतः अल् नहीं।

चतुर्थी के द्विवचन में 'रामाभ्याम्' पूर्ववत् सिद्ध होता है।

चतुर्थी के बहुवचन में 'भ्यस्' प्रत्यय आ कर 'राम+भ्यस्' हुआ। अब **सुँपि च** (१४१) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१४५) **बहुवचने झल्येत्** ।७।३।१०३॥

झलादौ बहुवचने सुँपि अतोऽङ्गस्यैकारः। रामेभ्यः। सुँपि किम्? पचध्वम्॥

अर्थः—झलादि बहुवचन सुँप् परे हो तो अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो।

व्याख्या—अतः।६।१। (**अतो दीर्घो यञि** से)। अङ्गस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। बहुवचने।७।१। झलि।७।१। सुँपि।७।१। (**सुँपि च** से)। एत्।१।१। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि तथा 'सुँपि' का विशेषण होने से 'झलि' से **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** द्वारा तदादिविधि हो जाती है। अर्थः—(झलि=झलादौ) झलादि (बहुवचने) बहुवचन (सुँपि) सुँप् परे हो तो (अतः=अदन्तस्य) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) 'ए' आदेश हो जाता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा द्वारा यह 'ए' आदेश अन्त्य अल्=अत् के स्थान पर ही होता है।

'राम+भ्यस्' यहां 'भ्यस्' बहुवचन है, इस के आदि में भकार झल् है और यह सुँप् भी है। अतः इस के परे होने से प्रकृत सूत्र द्वारा मकारोत्तर अकार को एकार हो सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'रामेभ्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सुँपि' कथन से इस सूत्र की प्रवृत्ति सुँप् में ही होती है। अन्यथा 'पचध्वम्' (तुम सब पकाओ) यहां भी एकार आदेश हो 'पचेध्वम्' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। 'ध्वम्' झलादि बहुवचन तो है पर सुँप् नहीं, तिङ् है। इस की साधनप्रक्रिया तिङन्त-प्रकरण में स्पष्ट होगी। 'बहुवचने' कहने से 'रामस्य' आदि में एत्व नहीं होता।

अब रामशब्द के पञ्चमी के एकवचन में ङसिँ प्रत्यय आ कर 'राम+ङसिँ' बना। इस अवस्था में **टाङसिँ०** (१४०) द्वारा ङसिँ को आत् आदेश हो सवर्णदीर्घ करने पर—रामात्। अब तकार झल् के पदान्त होने से **झलां जशोऽन्ते** (६७) द्वारा तकार को दकार करने से—रामाद्। अब **विरामोऽवसानम्** (१२४) सूत्र से दकार की अवसानसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१४६) **वाऽवसाने** ।८।४।५५॥

अवसाने झलां चरो वा। रामात्, रामाद्। रामाभ्याम्। रामेभ्यः। रामस्य॥

अर्थः—अवसान में झलों को चर् विकल्प से हों।

व्याख्या—अवसाने।७।१। झलाम्।६।३। (**झलां जश्झशि** से)। चर्।१।१। (**अभ्यासे चर्च** से)। वा इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(अवसाने) अवसान में (झलाम्) झलों के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (चर्) चर् हो जाते हैं। झल्-चर्-विषयक विस्तृत विवेचन पीछे (७४) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

'रामाद्' यहां अवसान में इस सूत्र से दकार=झल् को तकार=चर् विकल्प से आदेश करने पर—'रामात्, रामाद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—अनेक वैयाकरण **वाऽवसाने** (१४६) सूत्र को **झलां जशोऽन्ते** (६७) सूत्र का अपवाद मानते हैं। अतः 'रामात्' में प्रथम **वाऽवसाने** (१४६) से तकार को तकार कर पक्ष में **झलां जशोऽन्ते** (६७) द्वारा दकार किया करते हैं। किञ्च जहां २ कौमुदी में जश्त्व-चर्त्वे [जश्त्व और चर्त्व होते हैं] लिखा रहता है, वे वहां 'जश् तु अचर्त्वे' [चर्त्वाभावपक्ष में जश् हो जाता है] ऐसा पदच्छेद स्वीकार किया करते हैं। परन्तु हमें यह मत युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ऐसा मानने से 'रत्नमुष्' शब्द के 'रत्नमुट्, रत्नमुड्' ये दो रूप न बन सकेंगे। तथाहि—प्रथम चर्त्व करने से षकार को षकार हो कर—'रत्नमुष्' बनेगा। तदनन्तर जश्त्व हो—रत्नमुड्। इस प्रकार 'रत्नमुष्, रत्नमुड्' ये दो रूप बन जायेंगे, 'रत्नमुट्' रूप न बन सकेगा। यद्यपि वे इस का **ष्णान्ता षट्** (२६७) आदि निर्देशों से परिहार करते हैं, तथापि उन कल्पनाओं के करने की अपेक्षा प्रथम जश्त्व कर तदनन्तर चर्त्व करने में ही लाघव है। इस का विशेष विवरण हमारे नवीन मुद्रित शोधग्रन्थ **न्यासपर्यालोचन** में पृष्ठ (२८९) पर देखें।

पञ्चमी के द्विवचन में पूर्ववत् 'रामाभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में चतुर्थी विभक्ति के बहुवचन के समान 'रामेभ्यः' प्रयोग बनता है।

षष्ठी के एकवचन में 'ङस्' प्रत्यय हो कर **टाङसिङसामिनात्स्याः** (१४०) से उसे सर्वादेश 'स्य' हो 'रामस्य' प्रयोग सिद्ध होता है।

षष्ठी के द्विवचन में 'ओस्' प्रत्यय आकर—राम+ओस्। अब वृद्धि का बाध कर **अतो गुणे** (२७४) से पररूप प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१४७) ओसि च।७।३।१०४॥**

(ओसि परे) अतोऽङ्गस्यैकारः। रामयोः॥

अर्थः—ओस् परे होने पर अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो।

व्याख्या—ओसि।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अतः।६।१। (अतो दीर्घो यञि से)। अङ्गस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। एत्।१।१। (बहुवचने झल्येत् से)। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'अतः' में तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(ओसि) ओस् परे होने पर (अतः) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) 'ए' आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल् अकार को ही एकार आदेश होगा।

'राम+ओस्' यहां अदन्त अङ्ग 'राम' है। उस से परे 'ओस्' है। अतः **ओसि च** से अङ्ग के अन्त्य अकार को एकार हो कर 'रामे+ओस्' इस अवस्था में **एचोऽयवायावः** (२२) से एकार के स्थान पर अय् आदेश हो जाता है—रामयोस्। अब सकार को रुत्व विसर्ग करने से 'रामयोः' प्रयोग सिद्ध होता है।

षष्ठी के बहुवचन में 'आम्' प्रत्यय आकर 'राम+आम्' हुआ। अब सवर्ण-दीर्घ के प्राप्त होने पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१४८) ह्रस्वनद्यापो नुँट् ।७।१।५४।।

ह्रस्वान्ताद् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुँडागमः ।।

अर्थः—ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आवन्त अङ्गों से परे आम् का अवयव नुँट् हो जाता है।

व्याख्या—ह्रस्वनद्यापः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य यह अधिकृत है। यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है)। आमः ।६।१। (आमि सर्वनाम्नः सुँट् से विभक्ति-विपरिणाम कर के)। नुँट् ।१।१। समासः—ह्रस्वश्च नदी च आप् च=ह्रस्वनद्याप्, तस्मात्=ह्रस्वनद्यापः। समाहारद्वन्द्वः। यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो जाती है। 'नदी' एक संज्ञा है इस का वर्णन **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१६४) सूत्र में आगे किया जायेगा। टाप्, डाप्, चाप्—इन स्त्रीप्रत्ययों के आद्य अनुबन्धों का लोप कर 'आप्' शेष रहता है उसी का यहां ग्रहण है। अर्थः—(ह्रस्वनद्यापः) ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आवन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (आमः) आम् का अवयव (नुँट्) नुँट् हो जाता है। 'नुँट्' टित् है अतः **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) द्वारा 'आम्' का आद्यवयव होगा।

'राम+आम्' यहां 'राम' ह्रस्वान्त अङ्ग है, इस से परे आम् विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से आम् का आद्यवयव नुँट् हो गया—'राम+नुँट् आम्'। नुँट् में टकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक है, उकार उच्चारणार्थ है; न् अवशिष्ट रहता है। 'राम+नाम्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१४९) नामि ।६।४।३।।

(नामि परे) अजन्ताङ्गस्य दीर्घः। रामाणाम्। रामे। रामयोः। एत्त्वे कृते—

अर्थः—नाम् परे हो तो अजन्त अङ्ग के स्थान पर दीर्घ हो जाता है। **एत्त्वे कृते**—सप्तमी के बहुवचन में एत्त्व करने पर (अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है)।

व्याख्या—नामि ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। दीर्घः ।१।१। (**ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से)। **अचश्च** (१.२.२८) परिभाषा द्वारा 'अचः' पद उपस्थित हो कर 'अङ्गस्य' का विशेषण बन जाता है अतः इस से तदन्त-विधि हो कर 'अजन्तस्य' बन जायेगा। अर्थः—(नामि) नाम् परे होने पर (अचः) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा यह दीर्घ अजन्त अङ्ग के अन्त्य अल्=अच् को ही होगा।

'राम+नाम्' यहां नाम् परे होने से अजन्त अङ्ग 'राम' के अन्त्य अकार को दीर्घ हो कर 'रामा+नाम्'। अब इस अवस्था में **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से आ=अट्, म्=पवर्ग, आ=अट् के व्यवधान होने पर भी नकार के स्थान पर णकार हो कर—'रामाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'ङि' प्रत्यय आ कर 'राम+ङि' हुआ। ङकार की

लशक्वतद्धिते (१३६) से इत् सञ्ज्ञा हो लोप करने पर 'राम+इ' बना। अब आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश हो कर 'रामे' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के द्विवचन में 'रामयोः' रूप षष्ठी के द्विवचन की तरह सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में 'राम+सुप्' यहां पकार की इत्सञ्ज्ञा और लोप हो कर बहुवचने झल्येत् (१४५) सूत्र से मकारोत्तर अकार को एकार आदेश करने पर 'रामे+सु' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(१५०) आदेश-प्रत्यययोः ।८।३।५९॥

इण्कुभ्यां परस्याऽपदान्तस्यादेशः, प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः । ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः ॥

अर्थः—इण् प्रत्याहार या कवर्ग से परे अपदान्त जो आदेश रूप सकार अथवा प्रत्यय का अवयव जो सकार उस के स्थान पर मूर्धन्य (मूर्धास्थान वाला) आदेश हो। **ईषद्विवृतस्य**—ईषद्विवृतप्रयत्न वाले सकार के स्थान पर वैसा ईषद्विवृत षकार ही होगा। इसी प्रकार कृष्ण आदि अदन्त (पुंलिङ्ग) शब्दों के रूप बनेंगे।

व्याख्या—इण्कोः ।५।१। (यह अधिकृत है)। आदेश प्रत्यययोः ।६।२। अपदान्तस्य ।६।१। (अपदान्तस्य मूर्धन्यः यह अधिकृत है)। सः ।६।१। (सहेः साडः सः)। मूर्धन्यः ।१।१। समासः—इण् च कुश्च=इण्कु, तस्मात्=इण्कोः, समाहारद्वन्द्वः। पुंस्त्वमार्षम्। आदेशश्च प्रत्ययश्च=आदेश प्रत्ययौ, तयोः=आदेश प्रत्यययोः, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां व्याख्यान द्वारा 'आदेश' के साथ अभेदात्मिका षष्ठी और 'प्रत्यय' के साथ अवयवषष्ठी है। अर्थात् 'आदेशस्य=आदेश का सकार' इस का तात्पर्य होगा—'आदेशरूप सकार'। 'प्रत्ययस्य=प्रत्यय का सकार' इस का तात्पर्य होगा='प्रत्यय का अवयव सकार'। यदि 'आदेशस्य' यहां अभेदात्मिका षष्ठी न मान कर अवयवषष्ठी मानते हैं तो 'तिसृणाम्' यहां भी 'तिसृ' आदेश के अवयव सकार को इण् से परे मूर्धन्य प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। अभेदात्मिका षष्ठी मानने से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि 'तिसृ' में सकार आदेशरूप नहीं, आदेश का अवयव है। आदेशरूप तो 'तिसृ' सम्पूर्ण है। इसी प्रकार यदि 'प्रत्ययस्य' यहां अवयवषष्ठी न मान कर अभेदात्मिका षष्ठी मानें तो रामेषु, हरिषु करोषि, चिनोषि आदि प्रयोग तथा हलि सर्वेषाम् (१०९), बहुषु बहुवचनम् (१२८), लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (५८९) इत्यादि पाणिनि के निर्देश अनुपपन्न होंगे। तब सात्पदाद्योः (१२४१) सूत्र द्वारा सात् को षत्व करने का निषेध भी अयुक्त हो जायेगा। अतः 'प्रत्ययस्य' में अवयव षष्ठी ही युक्तियुक्त, कार्यसाधिका तथा पाणिन्यनुमोदिता है। अर्थः—(इण्कोः) इण् प्रत्याहार या कवर्ग से परे (आदेश-प्रत्यययोः) आदेशरूप या प्रत्यय के अवयव (अपदान्तस्य) अपदान्त (सः) स् के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धास्थानीय वर्ण आदेश होता है।

यहां इण्प्रत्याहार (११) सूत्र पर लिखी व्यवस्थानुसार पर अर्थात् लँण् (प्रत्याहारसूत्र ६) के णकार तक ग्रहण किया जाता है। मूर्ध्नि भवः=मूर्धन्यः, जो

वर्ण मूर्धा-स्थान से निष्पन्न हो उसे मूर्धन्य कहते हैं । मूर्धन्य वर्ण आठ हैं—ऋ, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, र्, ष् । यहां स्थानी सकार के साथ इन में से किसी का स्थान तुल्य हो यह असम्भव है । अब शेष रहा यत्न । सकार का 'ईषद्विवृत' आभ्यन्तर-यत्न तथा 'विवार, श्वास, अघोष' बाह्ययत्न है । मूर्धन्य वर्णों में इस प्रकार के यत्न वाला 'ष्' के अतिरिक्त अन्य कोई वर्ण नहीं अतः सकार के स्थान पर षकार ही मूर्धन्य आदेश होगा ।[1]

'रामे+सु' यहां मकारोत्तर एकार इण् है । इस से परे 'सु' प्रत्यय के अवयव अपदान्त सकार को इस सूत्र से मूर्धन्य षकार हो कर—'रामेषु' प्रयोग सिद्ध होता है ।

आदेशरूप सकार के उदाहरण—'सुष्वाप' प्रभृति हैं । इण् कवर्ग से परे षत्व-विधान करने से—'रामस्य, पुरुषस्य' इत्यादियों में सकार को षकार नहीं होता । एवम् 'अपदान्त' कहने से—'कविस्तिष्ठति, हरिस्तत्र' इत्यादियों में पदान्त सकार को षकार नहीं होता ।

रामशब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
द्वितीया	रामम्	"	रामान्
तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
चतुर्थी	रामाय	"	रामेभ्यः
पञ्चमी	रामात्, रामाद्	"	"
षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
सप्तमी	रामे	"	रामेषु
सम्बोधन	हे राम !	हे रामौ !	हे रामाः !

यद्यपि ग्रन्थकार ने सम्बोधनविभक्ति को प्रथमाविभक्ति के अनन्तर रखा है;

१. यद्यपि 'मूर्धन्यः' के स्थान पर 'षः' लिखने में लाघव था; तथापि इणः षीध्वम्० (५१४) आदि सूत्रों में 'षः' की अनुवृत्ति जाने से अनिष्टापत्ति हो जाती; क्योंकि 'एधाञ्चकृढ्वे' में मूर्धन्य ढ् अभीष्ट है ष् नहीं—अतः 'मूर्धन्यः' लिखा गया है ।

तथापि आजकल यह सब विभक्तियों के अन्त में प्रचलित है। यहां हम ने लौकिकक्रम का अनुसरण किया है।

इस प्रकार सब अकारान्त पुंल्लिङ्गों के उच्चारण होते हैं। जिन में कुछ विशेषता है उन का कथन आगे मूल में स्वयं ग्रन्थकार करेंगे। हम यहां रामवत् कुछ उपयोगी शब्दों का अर्थ सहित सङ्ग्रह दे रहे हैं। जिन शब्दों के आगे '*' इस प्रकार का चिह्न है उन में णत्वविधि जान लेनी चाहिये।

[अथ पशुपक्षिकीटादयः]

शब्द—अर्थ

अश्व=घोड़ा
उलूक=उल्लू
उष्ट्र*=ऊँट
कपोत=कबूतर
काक=कौआ
कीट=कीड़ा
कीर*=तोता
कीश=वानर
कुक्कुट=मुर्गा
कुक्कुर*=कुत्ता
कुञ्जर*=हाथी
कुरङ्ग*=हरिण
कूर्म*=कछुआ
कृकलास=गिरगिट
कोक=चकवा
कोल=सूअर
कौशिक=उल्लू
खग=पक्षी
खद्योत=जुगनू
खर*=गधा
गज=हाथी
गण्डक=गैण्डा
गर्दभ=गधा
गृध्र*=गीध
घोटक=घोड़ा
चकोर*=चकोर

शब्द—अर्थ

चरणायुध=मुर्गा
चाष*=नीलकण्ठ
चिल्ल=चील
छाग=बकरा
ताम्रचूड=मुर्गा
तुरङ्ग*=घोड़ा
दिवान्ध=उल्लू
द्विरद=हाथी
ध्वाङ्क्ष*=कौआ
नकुल=नेवला
नक्र*=नाका
पारावत=कबूतर
पिक=कोयल
बर्हिण=मोर
भालुक=रीछ
भृङ्ग*=भ्रमर
भेक=मेंडक
भ्रमर*=भौंरा
मकर*=मगरमच्छ
मण्डूक=मेंडक
मत्कुण=खटमल
मत्स्य=मच्छ
मधुप=भौंरा
मयूर*=मोर
मर्कट=बन्दर
मशक=मच्छर
महिष*=भैंसा

शब्द—अर्थ

मार्जार*=बिल्ला
मूषिक*=चूहा
मृग*=हरिण
मृगादन=चीता
मेष*=मेढा
बक=बगुला
वराह*=सूअर
वर्तक=बटेर
वानर*=बन्दर
वायस=कौआ
वृक*=भेड़िया
वृश्चिक=बिच्छू
वृषभ*=बैल
शलभ=पतङ्ग
शशक=खरगोश
शाखामृग*=बन्दर
शुक=तोता
शृगाल=गीदड़
श्येन=बाज
षट्पद=भ्रमर
सर्प*=साँप
सारङ्ग*=पपीहा
सारमेय*=कुत्ता
हरिण=मृग

[अथ सम्बन्धवाचकाः]

अग्रज=बड़ा भाई
आवुत्त=बहनोई

शब्द—अर्थ
जनक=पिता
तनय=पुत्र
देवर*=देवर
दौहित्र*=दोहता
धव=पति
पितामह=दादा
पितृव्य*=चाचा
पौत्र*=पोता
प्रपितामह=परदादा
प्रपौत्र*=परपोता
भागिनेय=भांजा
भ्रातृव्य*=भतीजा, शत्रु
भ्रात्रीय*=भतीजा
मातामह=नाना
मातुल=मामा
मातुलेय=मामे का पुत्र
श्याल=साला
श्वशुर*=ससुर
सोदर*=सगा भाई
स्वस्रीय*=भांजा

[अथ खाद्यान्नादिवाचकाः]

अपूप=पूआ
आम्र*=आम का वृक्ष
कुलत्थ=कुल्थी
कोविदार*=कचनार
गुड=गुड़
गृञ्जन=गाजर
गोधूम=गेहूं
चणक=चना
चम्पक=चम्पावृक्ष
तिल=तिल
दाडिम=अनारवृक्ष
नारिकेल=नारियल पेड़
निम्ब=नीम (पेड़)

शब्द—अर्थ
पटोल=परवल
माष*=उड़द
मुद्ग=मूंग
सर्षप*=सरसों
संयाव=हलुआ

[अथ मनुष्यवर्गस्थ-शब्दाः]

अकिञ्चन=निर्धन
अज्ञ=मूर्ख
अध्यापक=अध्यापक
अध्वनीन=मुसाफिर
अन्ध=अन्धा
अर्चक=पुजारी
अशिक्षित=अनपढ़
अश्वारोह*=घुड़सवार
कर्णेजप=चुगलखोर
काण=काना
कृतघ्न=अकृतज्ञ
कृतज्ञ=शुक्रगुज़ार
कृपण=कंजूस
केशव=श्रीकृष्ण
कोविद=पण्डित
क्षत्रिय*=क्षत्रिय
खल=दुष्ट
गर्धन=लोभी
गुप्तचर*=दूत
घस्मर*=पेटू
चिकित्सक=वैद्य
चिरक्रिय*=सुस्त
जागरूक*=सावधान
जिह्म=कुटिल
तस्कर*=चोर
तूष्णीक=चुप
दर्शक=दर्शक
दानव=दैत्य

शब्द—अर्थ
दुर्विनीत=अनम्र
देव=देवना
धनिक=धनी
नट=नटवा
नर्मद=मसखरा
नापित=नाई
नाविक=मल्लाह
निशाचर*=राक्षस
निःसञ्ज्ञ=वेहोश
निःस्व=निर्धन
नृप*=राजा
न्यायाधीश=जज
पथिक=मुसाफिर
परिचारक*=सेवक
पाचक=रसोइया
पुरन्दर*=इन्द्र
वधिर*=वहरा
भारक*=कुली
मन्मथ=कामदेव
मल्ल=पहलवान
मायिक=मायावी
मितम्पच=कञ्जूस
याचक=भिक्षुक
याष्टीक=लाठीधारी
रथिक=रथी
रुग्ण=रोगी
वक्र*=टेढ़ा
विप्र*=ब्राह्मण
वैश्य—वैश्य
वैहासिक=मसखरा
शाक्तीक=शक्तिधारी
शूद्र*=शूद्र
सतीर्थ्य=सहपाठी
स्तावक=स्तुतिकर्ता

शब्द—अर्थ

स्वच्छन्द=स्वतन्त्र

[अथ व्यावसायिक-शब्दाः]

अधमर्ण=ऋणी

अयस्कार*=लोहार

आपणिक=दुकानदार

उत्तमर्ण=ऋणदाता

कान्दविक=हलवाई

कुम्भकार*=कुम्हार

कुविन्द=जुलाहा

चर्मकार*=चमार

तन्तुवाय=जुलाहा

निर्णेजक=धोबी

पटकार*=जुलाहा

पश्यतोहर*=सुनार

मालाकार*=माली

रजक=रङ्गरेज़

रथकार*=बढ़ई

सुवर्णकार*=सुनार

सूचीकार*=दरजी

[अथ विविध-शब्दाः]

अनुग्रह*=कृपा

अपराध=कसूर

अब्द=वर्ष

अभ्युदय=उन्नति

अरघट्ट=रेंहट

अर्क*=सूर्य

अर्घ*=मूल्य

अर्णव=समुद्र

असुर*=दैत्य

आकर*=खान

आखण्डल=इन्द्र

आतप=धूप

आपण=बाजार

आभीर*=अहीर

शब्द—अर्थ

आय=आमदनी

आलय=घर

आविष्कार*=ईजाद

आश्विन=असोज मास

आषाढ=आषाढ मास

आसार*=जोर की वर्षा

उदन्त=खबर

उद्भव=उत्पत्ति

उपद्रव*=उपद्रव

उपयोग=इस्तेमाल

उपाय=तरीका

एकक=अकेला

कन्दर*=गुफा

कपर्द=शिव-जटा

कलङ्क=दोष

कवल=ग्रास

कारावास=जेलखाना

कार्त्तिक=कातिक

कुप्रबन्ध=दुर्व्यवस्था

कुबेर*=कुबेर

कूप=कूआँ

कोलाहल=शोरगुल

कोष*=खजाना

क्रम*=सिलसिला

क्षय*=नाश

खेद=दुःख

गर्व*=अभिमान

चन्द्र*=चान्द

चैत्र*=चेत मास

जय=जीत

ज्येष्ठ=जेठ मास

तडाग=तालाब

तार्क्ष्य*=गरुड

त्रास=भय

शब्द—अर्थ

त्रिदिव=स्वर्ग

दाव=वनाग्नि

नाक=स्वर्ग

नाद=शब्द

नाश=नाश

निकष*=कसौटी

निर्झर*=झरना

न्याय=इन्साफ

पङ्क=कीचड

पाखण्ड=ढकोसला

पावक=अग्नि

पाषाण=पत्थर

पौष*=पौष मास

प्रणय=प्रेम

प्रत्यूष*=प्रातःकाल

प्रदोष*=सायङ्काल

प्रहर*=पहर

फाल्गुन=फागुन मास

भाद्रपद=भादों मास

भूधर*=पर्वत

मध्याह्न=दोपहर

मयूख=किरण

माघ=माघ मास

मारुत=वायु

मार्गशीर्ष*=अगहन मास

मित्र*=सूर्य

मुकुर*=दर्पण

मृदङ्ग=तबला

याम=पहर

रय*=वेग

रुद्र*=शिव

वध=हत्या

वसन्त=वसन्त ऋतु

विद्यालय=स्कूल

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
विनायक=गणेश	व्यायाम=कसरत	समीर*=वायु
विमर्श=विचार	शक्र*=इन्द्र	संवत्सर[1]=वर्ष
विलम्ब=देर	शिशिर[1]=शिशिर ऋतु	स्कन्द=कार्त्तिकेय
विलाप=रोना	शैल=पर्वत	स्वभाव=आदत
विवाह=शादी	श्रावण=श्रावण मास	हठ=जिद्द
विस्रम्भ[1]=विश्वास	सङ्केत=इशारा	हायन=वर्ष
वैशाख=वैशाख मास	सत्कार*=सम्मान	हृषीकेश=श्रीकृष्ण
वैश्वानर[1]=अग्नि	सदंशक=चिमटा	हेमन्त=हेमन्त ऋतु
व्यय=खर्च	सन्देह=शक	हेरम्ब*=गणेश
व्याज=बहाना	सन्दोह=समूह	ह्रद[1]=तालाब

इत्सञ्ज्ञकों के विषय में विशेष स्मरणीय सूचना—

सुँङस्योरुकारेकारौ जशटङपाश्चेतः (मि० कौ०)।

जकारश्च शकारश्च टकारश्च ङपावपि ।
सुँङस्योरुदितौ चैव सुपि सप्त स्मृता इतः ॥

अर्थः—सुँ और ङसिँ के अन्त्य उकार इकार की तथा अन्यत्र सुँपों में जकार शकार, टकार, ङकार और पकार की इत्सञ्ज्ञा होती है। इत्सञ्ज्ञा का प्रयोजन यथा—

सुँ—में उकार अनुबन्ध का यह प्रयोजन है कि **अर्वणस्त्रसावनञः** (२९२) सूत्र में 'असौ' कथन से 'सुँ' का निषेध हो जाये। यदि उकार अनुबन्ध न करते तो हमें 'असि' कहना पड़ता। तब 'सादि प्रत्यय में निषेध हो' ऐसा अर्थ हो जाने से सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' में भी निषेध हो जाता जो अनिष्ट था।

जस्, शस्—में जकार और शकार परस्पर के भेद के लिये हैं। अत एव **दीर्घाज्जसि च** (१६२), **तस्माच्छसो नः पुंसि** (१३७) आदि उपपन्न हो जाते हैं।

औट्—में टकार 'सुँट्' प्रत्याहार के लिये है। सुँट् प्रत्याहार का उपयोग **सुँडनपुंसकस्य** (१६३) सूत्र में होता है।

टा—में टकार **द्वितीयाटौस्स्वेनः** (२८०) सूत्र में ग्रहण के लिये है। अन्यथा—**द्वितीयौस्स्वेनः** सूत्र होने पर 'आ' का कहीं पता भी न चलता।

ङे, ङसिँ, ङस्, ङि—इन में ङकार **तीयस्य ङित्सु वा** (वा० १६) तथा

१. इस सङ्ग्रह में रुग्ण, कृतज्ञ, कृतघ्न, अन्ध आदि कई शब्द त्रिलिङ्गी भी हैं। उन का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है। विशेष्य के पुंल्लिङ्ग होने पर ही उन का रामशब्दवत् उच्चारण समझना चाहिये। इसी प्रकार पङ्क, हायन आदि कुछ शब्द नपुंसक में भी प्रयुक्त होते हैं। इस के अतिरिक्त कुछ शब्दों के अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं—यह सब कोशग्रन्थों का विषय है, उन में देखें।

घेर्ङिति (१७२) प्रभृति ङित्कार्यों के लिये है। 'ङसिँ' में इकार 'ङस्' से भेद करने के लिये है। भेद का प्रयोजन—टाङसिँङसाम्० (१४०) से भिन्न २ आदेश करना है।

सुप्—स पकार 'सुँप्' प्रत्याहार के लिये किया गया है।

इस के अतिरिक्त जस्, शस्, भिस्, भ्यस्, ङस्, ओस्, अम्, भ्याम्, आम् प्रत्ययों के अन्त्य सकार मकार की हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, न विभक्तौ तुस्माः (१३१) से निषेध हो जाता है—

सकारो जश्शसोरोसि ङसि भ्यसि न चेद् भिसि।
मकारश्च तथा ज्ञेय आमि भ्यामि स्थितस्त्वमि॥

अभ्यास (२६)

(१) व्युत्पत्ति और अव्युत्पत्ति पक्षों का सोदाहरण विवेचन करते हुए यह लिखें कि किस सूत्र से किस पक्ष में प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होती है?

(२) कृत्तद्धित० सूत्र की व्याख्या करते हुए 'समास' ग्रहण पर प्रकाश डालें।

(३) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें—

(क) 'ङेयँ' यहां 'ङे' में कौन सी विभक्ति है?

(ख) 'रामान्' यहां नकार को णकारादेश क्यों नहीं होता?

(ग) 'जस्' के सकार की इत्सञ्ज्ञा क्यों नहीं होती?

(घ) 'शस्' के सकार को कौन नकारादेश करता है?

(ङ) सुँपों में किस किस की किस किस सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होती है?

(४) इन में कहां णत्व शुद्ध और कहां अशुद्ध है? सहेतुक लिखें—

१ मृगेन। २ हरिणाणाम्। ३ गर्वेन। ४ इष्नानाम्। ५ सदश्वेण। ६ अशिक्षितेण। ७ नृणाम्। ८ पाषाणाणाम्। ९ रामणाम। १० कारावासेन। ११ द्राघिमानम्। १२ षट्पदाणाम्। १३ मूर्छणा। १४ वृषभेन। १५ केशवेण। १६ विमर्शणीयम्। १७ चौरानाम्। १८ वैदुष्येन। १९ परकीयेन। २० क्षयेन। २१ मुष्टिना। २२. वर्त्तवेण। २३ दर्शवेण। २४ शस्त्रेण। २५ प्राज्ञाणाम्। २६ शिक्षकेन। २७ सरटेण। २८ रूप्यकेन। २९ ग्रन्थीणाम्। ३० धूर्जटिणा।

(५) इन में णत्वविधि का निमित्त बताएं—

१ उष्ट्रेण। २ तार्क्ष्याणाम्। ३. धृतराष्ट्रेण। ४ प्रहारेण।

(६) णत्वविधि में सब का व्यवधान आवश्यक है या एक एक का?

(७) क्या वाऽवसाने सूत्र झलां जशोऽन्ते सूत्र का अपवाद है?

(८) यज्ञदत्तस्तस्कर, देवस्य—इत्यादि में षत्व क्यों न हो?

(९) निम्नलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१ राम। २ राम। ३ रामयो। ४ रामैः। ५ रामस्य। ६.

रामाय। ७. रामेषु। ८. रामाणाम्। ६. रामम्। १०. रामाः। ११. रामौ। १२. रामेण। १३. रामान्।

(१०) क्या दोष होगा यदि —
बहुवचने झल्येत् में 'बहुवचने' न हो; स्थानिवत्सूत्र में 'अनल्विधौ' न हो; अर्थवत्सूत्र में 'अप्रत्ययः' न हो; एङ्ह्रस्वात्० में 'अङ्ग' का अध्याहार न हो।

(११) निम्नस्थ सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करें—
सरूपाणामेक०, अट्कुप्वाङ्०, यस्मात्प्रत्यय०, आदेशप्रत्यययोः, प्रथमयोः पूर्व०, स्थानिवदादेशो०।

——::०::——

जिन अकारान्त शब्दों में 'राम' शब्द की अपेक्षा कुछ अन्तर होता है अब उन का वर्णन करते हैं। उन में सर्वादिगण के शब्द मुख्य हैं; अतः प्रथम सर्वादि-गण दर्शाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१५१) **सर्वादीनि सर्वनामानि** ।१।१।२६।।

सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसञ्ज्ञानि स्युः। सर्व। विश्व। उभ। उभय। डतर। डतम। अन्य। अन्यतर। इतर। त्वत्। त्व। नेम। सम। सिम। पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः। त्यद्। तद्। यद्। एतद्। इदम्। अदस्। एक। द्वि। युष्मद्। अस्मद्। भवतुँ। किम्। [इति पञ्चत्रिंशत् सर्वादयः] ।।

अर्थः—सर्व आदि शब्दस्वरूप सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—सर्वादीनि ।१।३। (नपुंसकलिङ्ग के कारण 'शब्दस्वरूपाणि' विशेष्य का अध्याहार किया जाता है)। सर्वनामानि ।१।३। समासः—सर्वः (सर्वशब्दः) आदिः (आद्यवयवः) येषां (शब्दस्वरूपाणाम्) तानि सर्वादीनि। तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि-समासः। अदः सर्वेषाम् (५५७), हलि सर्वेषाम् (१०६) प्रभृति सूत्रों में सर्वशब्द से भी सर्वनामकार्य (सुँट्) देखा जाता है अतः सर्वशब्द की भी सर्वनामसञ्ज्ञा करने के लिये यहां 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' समास मानना ही युक्त है। अर्थः—(सर्वादीनि) सर्व आदि शब्द (सर्वनामानि) सर्वनामसंज्ञक होते हैं।

सर्वादिगण में पैंतीस (३५) शब्द आते हैं, जो ऊपर मूल में दिये हुए हैं। इन का श्लोकों में सङ्ग्रह यथा—

सर्वान्यविश्वोभयनेमयत्तदः, किंयुष्मदस्मद्द्विभवत्त्यदेतदः।
उभत्वतौ विज्ञजनैरुदीरितौ, समः सिमत्वान्यतरेतरा अपि ।। १ ।।
एकेदमदसो ज्ञेया डतरो डतमस्तथा।
स्वमज्ञातिधनेऽनाम्नि कालदिग्देशवृत्तयः ।। २ ।।

पूर्वपरावरपरा उत्तरो दक्षिणाधरौ ।
अन्तरं चोपसङ्ख्याने बहिर्योगे तथाऽपुरि ॥ ३ ॥

इन सब का विवेचन आगे यथास्थान मूल तथा व्याख्या मे किया जायेगा ।

सर्वनाम सञ्ज्ञा अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुसारी है—सर्वेषां नामानि सर्वनामानि । इस गण म पढ़े हुए शब्द यदि 'सभी' के वाचक होंगे तो तभी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा होगी, अन्यथा नही । अत एव यदि किसी व्यक्तिविशेष का नाम 'सर्व' होगा तो वहा सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी । इसी प्रकार 'सर्वम् अतिक्रान्त =अतिसर्व , तस्मै =अतिसर्वाय' इत्यादि स्थानो पर गौण होने पर भी सर्वनामता न होगी । 'सर्वनाम' यह महासञ्ज्ञा करना इस मे प्रमाण है, अन्यथा घु टि भ के समान कोई छोटी सञ्ज्ञा भी कर सकते थे । इस विषय का विस्तार सिद्धान्तकौमुदी म देखना चाहिये ।

सर्वादिगण के अजन्त शब्दो का प्राय जस् ङे, ङसि, आम् और ङि' इन पाञ्च विभक्तियो म रामशब्द की अपेक्षा अन्तर होता है । शेष विभक्तियो मे रामशब्दवत् रूप बनते हैं । अत इन पाञ्च विभक्तियो म ही रूप सिद्ध किये जायेंगे ।

सर्वशब्द का अर्थ 'सब' अर्थात् समूचा समुदाय है । समुदाय दो प्रकार का होता है—(१) उद्भूतावयव (२) अनुद्भूतावयव । जहा वक्ता की केवल समुदाय कहने की इच्छा होती है वहा अनुद्भूतावयव समुदाय होता है । जहा वक्ता का अभिप्राय समुदाय कहने के साथ २ तदन्तर्गत व्यक्तियो से भी हुआ करता है वहा उद्भूतावयव समुदाय होता है । अत अनुद्भूतावयवसमुदाय की विवक्षा मे एकवचन और उद्भूतावयव की विवक्षा म द्विवचन और बहुवचन होगा ।

सर्वशब्द के प्रथमा के एकवचन और द्विवचन मे रामशब्दवत् 'सर्व , सर्वौ' प्रयोग बनते हैं ।

प्रथमा के बहुवचन मे 'जस्' प्रत्यय आ कर—सर्व+जस् । अब सर्वादीनि सर्वनामानि (१५१) से 'सर्व' की सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१५२) जस शी ।७।१।१७॥

अदन्तात् सर्वनाम्नो जस शी स्यात् । अनेकाल्त्वात् सर्वादेश —सर्वे ॥

अर्थ —अदन्त सर्वनाम से परे जस के स्थान पर शी आदेश हो ।

व्याख्या—अत ।५।१। (अतो भिस ऐस् से) । सर्वनाम्न ।५।१। (सर्वनाम्नः स्मै से) । जस ।६।१। शी ।१।१। 'सर्वनाम्न' का विशेषण होने से 'अत' से तदन्तविधि होती है । अर्थ —(अत) अदन्त (सर्वनाम्न) सर्वनाम से परे (जस) जस् के स्थान पर (शी) शी आदेश होता है ।

प्रत्यय (१२०) के अधिकार मे न पढे जाने से शी की प्रत्ययसञ्ज्ञा नहीं है । परन्तु हा ! जब वह जस् के स्थान पर हो चुकता है तब स्थानिवद्भाव (१४४) से उस की प्रत्ययसञ्ज्ञा हो जाती है । तात्पर्य यह है कि जब तक जस् के स्थान पर शी आदेश नही होता तब तक वह प्रत्ययसञ्ज्ञक नही होता । प्रत्ययसञ्ज्ञक न होने से

लशक्वतद्धिते (१३६) द्वारा उसके शकार की इत् सञ्ज्ञा भी नहीं होगी; क्योंकि उस सूत्र से प्रत्यय के ही आदि शकार की इत् सञ्ज्ञा की जाती है। अतः आदेश करते समय शिद्भाव के कारण शी सर्वादेश नहीं होता, किन्तु अनेकाल् (श्+ई) होने से अनेकाल्शित् सर्वस्य (४५) द्वारा सर्वादेश हो जाता है।

आदेशकरणात्पूर्वं यतः शीति न प्रत्ययः।
तस्मात्तस्य शकारस्तु लशक्वेति न हीद्भवेत्॥ १॥
सर्वादेशो न शिद्भावात् ततो भवितुमर्हति।
अनेकाल्त्वाद् भवेदेव विज्ञैरेतदुदीरितम्॥ २॥

'सर्व+जस्' यहां प्रकृतसूत्र से जस् के स्थान पर शी आदेश हो स्थानिवद्भाव के कारण शी में प्रत्ययत्व आने से लशक्वतद्धिते (१३६) द्वारा शकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है; तब शकार का लोप करने पर 'सर्व+ई' इस स्थिति में आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश हो कर 'सर्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि यहां यद्यपि ह्रस्व 'शि' आदेश करने से भी आद् गुणः (२७) द्वारा गुण एकादेश हो कर 'सर्वे' प्रयोग सिद्ध हो सकता है; तथापि अग्रिम नपुंसकाच्च (२३५) आदि सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये उसे दीर्घ रखा गया है। अन्यथा —'वारिणी, मधुनी' आदि दीर्घघटित प्रयोग न बन सकते (देखो २४५ सूत्र)।

द्वितीया और तृतीया विभक्ति में रामशब्दवत् रूप बनते हैं। द्वितीया —सर्वम्, सर्वौ, सर्वान्। तृतीया—सर्वेण, सर्वाभ्याम्, सर्वैः। चतुर्थी के एकवचन में 'सर्व+ङे' इस अवस्था में (१५१) सूत्र से सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(१५३) **सर्वनाम्नः स्मै** ।७।१।१४॥

अतः सर्वनाम्नो 'ङे' इत्यस्य स्मैः स्यात्। सर्वस्मै॥

अर्थः— अदन्त सर्वनाम से परे 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश हो।

व्याख्या—अतः ।५।१। (अतो भिस ऐस् से)। सर्वनाम्नः ।५।१। ङेः ।६।१। (ङेर्यः से)। स्मै ।१।१। (विभक्तिलोप आर्षः)। 'अतः' यह 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है; इस लिये इस से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः —(अतः) अदन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (ङेः) ङे के स्थान पर (स्मै) स्मै आदेश होता है। यह सूत्र ङेर्यः (१४३) सूत्र का अपवाद है।

'सर्व+ङे' यहां अदन्त सर्वनाम 'सर्व' है। इस से परे 'ङे' वर्तमान है। अतः प्रकृत-सूत्र से ङे के स्थान पर स्मै आदेश हो कर 'सर्वस्मै' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतुर्थी के द्विवचन और बहुवचन में क्रमशः 'सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः' सिद्ध होते हैं।

पञ्चमी के एकवचन में 'ङसिँ' प्रत्यय आ कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(१५४) **ङसिँङ्योः स्मात्स्मिनौ** ।७।१।१५॥

अतः सर्वनाम्नो ङसिँङ्योरेतौ स्तः। सर्वस्मात्॥

अर्थः—अदन्त सर्वनाम से परे ङसिँ और ङि के स्थान पर क्रमशः स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं।

व्याख्या—अत ।५।१ (अतो भिस ऐस् से) । सर्वनाम्न ।५।१। (सर्वनाम्न स्मै से) । ङसिङ्यो ।६।२। स्मात्स्मिनौ ।१।२। 'सर्वनाम्न' के विशेषण होने से 'अत' से तदन्तविधि होगी । अर्थ —(अत) अदन्त (सर्वनाम्न) सर्वनाम से परे (ङसि-ङ्यो) ङसिँ और ङि के स्थान पर (स्मात्स्मिनौ) स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं। यथासङ्ख्यपरिभाषा से ङसिँ को स्मात् और ङि को स्मिन् होगा। ध्यान रहे कि स्मात् और स्मिन के अन्त्य तकार और नकार की हलन्त्यम् (१) द्वारा इत् सञ्ज्ञा न होगी, न विभक्तौ तुस्माः (१३१) से निषेध हो जायेगा ।

'सर्व+ङसिँ यहा अदन्त-सर्वनाम 'सर्व' से परे ङसिँ मौजूद है । अत प्रकृत-सूत्र से ङसिँ के स्थान पर स्मात् सर्वादेश हो कर सर्वस्मात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

षष्ठी के एकवचन और द्विवचन में रामशब्दवत—सर्वस्य, सर्वयो । षष्ठी के बहुवचन म—सर्व+आम् । अब सर्वनाम-सञ्ज्ञा कर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१५५) आमि सर्वनाम्न सुँट् ।७।१।५२॥

अवर्णान्तात् परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याम सुँडागम । एत्वषत्वे—सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेष रामवत् ॥

अर्थ—अवर्णान्त (अङ्ग) से परे सर्वनाम से विहित आम् प्रत्यय को सुँट् का आगम हो ।

व्याख्या—आत् ।५।१। (आज्जसेरसुँक् से) । अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य इस अधिकृत का पञ्चमी म विपरिणाम हो जाता है) । सर्वनाम्न ।५।१। आमि ।७।१। सुँट् ।१।१। 'आत्' पद अङ्गात्' पद का विशेषण है, अत येन विधिस्तदन्तस्य द्वारा तदन्तविधि हो कर—'अवर्णान्ताद् अङ्गात्' बनेगा। अब यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सुँट् किस का अवयव हो ? यह तो ज्ञात है कि आद्यन्तौ टकितौ (८५) द्वारा यह आद्यवयव होना है, परन्तु किस का आद्यवयव हो ? यह यहा ज्ञातव्य है। 'अङ्गात्' में पञ्चमी का निर्देश किया गया है, अत तस्मादित्युत्तरस्य(७१)के अनुसार सुँट् अङ्ग से परे आम् का अवयव होना चाहिये। परन्तु 'आमि' मे सप्तमी का निर्देश किया गया है अत तस्मिन्निति० (१६) के अनुसार सुँट् आम् से पूर्व अङ्ग का अव-यव होना चाहिये। तो अब सुँट् किस का अवयव हो ? ऐसी शङ्का होने पर उभय-निर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् के अनुसार पञ्चमी निर्देश के बलवान् होने से सुँट्, अङ्ग से परे=आम् का ही अवयव ठहरता है। तो इस प्रकार 'आमि' पद को 'आम' बना कर सम्बन्ध मे षष्ठी स्वीकार करेंगे। यहा स्पष्ट 'आम' न कह कर 'आमि' कहने का प्रयोजन आगे त्रेस्त्रय (१६२) आदि सूत्रों मे उस का अनुवर्त्तन करना ही है। अर्थ —(आत) अवर्णान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सर्वनाम्न) सर्वनाम से विहित (आम) आम् का अवयव (सुँट्) सुँट् हो जाता है।

प्रश्न—आप ने अवर्णान्त सर्वनाम से परे आम् को सुँट् का आगम हो ऐसा सरल अर्थ न कर यह अपूर्व अर्थ क्या किया है ?

उत्तर—यदि आप वाला अर्थ करते तो 'येषाम्, तेषाम्' आदि प्रयोग सिद्ध न हो सकते। तथाहि—यद् और तद् सर्वनाम मे आम् प्रत्यय कर **त्यदादीनामः** (१६३) से दकार को अकार और **अतो गुणे** (२७४) मे पररूप करने पर 'त+आम्, य+आम्' हुआ। अब यहां आप का अर्थ मानने से सुँट् प्राप्त नही हो सकता। क्योंकि यहां अवर्णान्त सर्वनाम से परे आम् वर्तमान नही। जो अवर्णान्त है वह सर्वनाम नही और जो सर्वनाम है वह अवर्णान्त नहीं। सर्वनामसञ्ज्ञा 'यद्, तद्' आदि दकारान्तों की ही की गई है। परन्तु—हमारे उपर्युक्त अर्थ से कोई दोष नहीं आता। यथा—यहां अवर्णान्त अङ्ग 'य, त' हैं, इन से परे यद्, तद् सर्वनाम से विहित आम् विद्यमान है; अतः इसे सुँट् का आगम हो जायेगा। यह अर्थ **जसः शी** (१५२), **सर्वनाम्नः स्मै** (१५३) आदि सूत्रों मे भी समझ लेना चाहिये; अन्यथा 'ये, यस्मै, यस्मात्' आदि में शी आदि सर्वनामकार्य न हो सकेंगे।

'सर्व+आम्' यहां अवर्णान्त अङ्ग है 'सर्व'। इस से परे, सर्वनाम (सर्व) से विहित 'आम्' विद्यमान है। अतः इसे सुँट् का आगम हो—सर्व+सुँट् आम्। सुँट में टकार इत् है और उकार उच्चारणार्थ है; अतः स् अवशिष्ट रहता है—सर्व+साम्। सुँट् का आगम आम् को कहा गया है। जिसे आगम होता है वह उस का अवयव माना जाता है। उस के ग्रहण से उस का भी ग्रहण हो जाता है। जैसा कि कहा भी है—**यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते**। अतः 'साम्' आम् से भिन्न नहीं। इस से 'साम्' झलादि बहुवचन ठहरता है; इस के परे होने से **बहुवचने झल्येत्** (१४५) द्वारा अकार को एकार तथा **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से साम् प्रत्यय के अवयव सकार को मूर्धन्य षकार करने से 'सर्वेषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'सर्व+ङि' हुआ। यहां **ङसिँङ्योः स्मात्स्मिनौ** (१५४) से 'ङि' को स्मिन् आदेश हो कर 'सर्वस्मिन्' प्रयोग सिद्ध होता है। सर्वशब्द की रूप-माला यथा—

प्र०	सर्वः	सर्वौ	सर्वे	पं०	सर्वस्मात्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
द्वि०	सर्वम्	,,	सर्वान्	ष०	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
तृ०	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः	स०	सर्वस्मिन्	,,	सर्वेषु
च०	सर्वस्मै	,,	सर्वेभ्यः	सं०	हे सर्व !	हे सर्वौ !	हे सर्वे !

[लघु०] एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः ॥

व्याख्या—अब अन्य अदन्त पुंल्लिङ्ग सर्वनामों के विषय में कहते हैं कि—विश्व आदि अदन्त (सर्वनाम) भी इसी तरह होते हैं। 'विश्व' शब्द का अर्थ 'सम्पूर्ण' है। सर्वादिगण में पाठ होने से **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१५१) द्वारा सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर शी, स्मै आदि सर्वनामकार्य हो जाएंगे। शेष रामवत् प्रक्रिया होगी। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	विश्व	विश्वौ	विश्वे	प०	विश्वस्मात्	विश्वाभ्याम्	विश्वेभ्य
द्वि०	विश्वम्	,,	विश्वान्	ष०	विश्वस्य	विश्वयो	विश्वेषाम्
तृ०	विश्वेन	विश्वाभ्याम्	विश्वै	स०	विश्वस्मिन्	,,	विश्वेषु
च०	विश्वस्मै	,,	विश्वेभ्य	स०	हे विश्व !	हे विश्वौ !	हे विश्वे !

[लघु०] उभशब्दो नित्य द्विवचनान्त । उभौ २ । उभाभ्याम् ३ । उभयो. । उभयो । तस्येह पाठोऽकजर्थ ॥

व्याख्या--सर्वादिगण म विश्व शब्द क बाद 'उभ' शब्द आता है । इस का अर्थ है 'दोनो' (Both) । अत यह सदा द्विवचनान्त ही प्रयुक्त होता है । एकवचन और बहुवचन प्रत्यया म असम्भव होन स इस का प्रयोग नही होता । इस की प्रक्रिया रामशब्दवत् समझनी चाहिये । सम्पूर्ण रूपमाला यथा---

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन		एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	उभौ	०	प०	०	उभाभ्याम्	०
द्वि०	०	,,	०	ष०	०	उभयो	०
तृ०	०	उभाभ्याम्	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	स०	०	हे उभौ !	०

अब यहा यह शङ्का उत्पन्न होती है कि उभशब्द मे सर्वनामसञ्ज्ञा का कोई कार्य नही किया गया, क्योकि सर्वनामसञ्ज्ञा के सब कार्य या तो बहुवचन मे होते हैं या एकवचन म । यथा जस शी (१५२), आमि सर्वनाम्न. सुट् (१५५) ये बहुवचन मे होते हैं, सर्वनाम्न स्मै (१५३), ङसिङ्यो स्मात्स्मिनौ (१५४) ये एकवचन मे होते है । द्विवचन मे कोई कार्य नही देखा जाता । तो पुन किस लिये 'उभ' शब्द को सर्वादिगण मे डाल कर उस की सर्वनामसञ्ज्ञा करने का प्रयत्न किया गया है ? इस शङ्का को मन म रख कर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि---

तस्येह पाठोऽकजर्थ । अर्थात् इस उभशब्द का सर्वादिगण मे पाठ कर इस की सर्वनामसञ्ज्ञा करने का प्रयोजन 'अकच्' प्रत्यय का विधान करना है । तात्पर्य यह है कि सर्वशब्द पर कहे गये जस शी (१५२) आदि कार्य ही केवल सर्वनामकार्य नही, किन्तु सर्वनामकार्य तो और भी हैं । यदि उभशब्द पर शी आदि कोई कार्य नही होता तो भले ही न हो, इस की सर्वनामसञ्ज्ञा तो अन्य कार्य के लिये ही की गई है । तथाहि---अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे (१२२६) अर्थात् अव्यय तथा सर्वनाम की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय हो । उभशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा होने मे उस की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय हो कर---उभ् अकच् अ+औ='उभकौ' रूप हो जाता है । यदि इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होती तो अकच् न हो सकता । विशेष सिद्धान्त-कौमुदी मे देखें ।

[लघु०] उभयशब्दस्य द्विवचन नास्ति । डतर-डतमौ प्रत्ययौ । 'प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इति तदन्ता ग्राह्या । नेम इत्यर्धे । समः सर्वपर्याय । तुल्य-पर्यायस्तु न । 'यथासङ्ख्यमनुदेश. समानाम्' (२३) इति ज्ञापकात् ॥

अर्थः—'उभय' शब्द का द्विवचन नहीं होता। डतर और डतम प्रत्यय हैं। 'प्रत्यय के ग्रहण में तदन्त का ग्रहण हो' इस परिभाषा से तदन्त अर्थात् डतरान्त और डतमान्त शब्दों का ही ग्रहण करना चाहिये। नेम शब्द अर्ध (आधा) अर्थ में सर्वादि-गण में समझना चाहिये। सर्वपर्याय अर्थात् 'सब' अर्थ के वाचक 'सम' शब्द का सर्वादियों में पाठ है, तुल्यपर्याय—समान अर्थ के वाचक का नहीं। इसमें ज्ञापक पाणिनि का **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) सूत्र है।

व्याख्या—सर्वादिगण में 'उभ' शब्द के बाद 'उभय' शब्द आता है। यह शब्द उभशब्द से 'अयच्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। वार्त्तिककार कात्यायन के अनुसार इस का द्विवचन-प्रत्ययों में प्रयोग नहीं किया जाता। इस का अर्थ है—दो अवयवों वाला। यथा—उभयो मणिः (दो हिस्सों वाली मणि), उभये मणयः (दो हिस्सों वाली मणियां)। इस की रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन		एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	उभयः	०	उभये	प०	उभयस्मात्	०	उभयेभ्यः
द्वि०	उभयम्	०	उभयान्	ष०	उभयस्य	०	उभयेषाम्
तृ०	उभयेन	०	उभयैः	स०	उभयस्मिन्	०	उभयेषु
च०	उभयस्मै	०	उभयेभ्यः	सं०	हे उभय !	०	हे उभये !

सर्वादि-गण में उभयशब्द के बाद, 'डतर, डतम' का नम्बर आता है। ये दोनों प्रत्यय हैं। इन के विधायक तीन तद्धितसूत्र हैं। १. **किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्** (१२३२), २. **वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्** (१२३३), ३. **एकाच्च प्राचाम्** (५.३.९४)। किम्, यद्, तद् और एक इन चार सर्वनामों से परे डतर और डतम प्रत्यय हो कर आठ शब्द बनते हैं—(१) कतर, (२) कतम, (३) यतर, (४) यतम, (५) ततर (६) ततम, (७) एकतर, (८) एकतम। सर्वादिगण में 'डतर, डतम' के पाठ से इन आठ शब्दों का ही ग्रहण होता है। क्योंकि कहा है कि—**न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न केवलः प्रत्ययः** अर्थात् न केवल प्रकृति का प्रयोग करना चाहिये और न केवल प्रत्यय का—इस सिद्धान्त के अनुसार केवल डतर डतम का कहीं प्रयोग नहीं हो सकता। किञ्च—**प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** (प्रत्यय का ग्रहण होने पर तदन्त अर्थात् वह प्रत्यय जिस के अन्त में है उस के सहित उस प्रत्यय का ग्रहण करना चाहिये) इस नियम से डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त उपर्युक्त आठ शब्दों का ही सर्वनामसञ्ज्ञा में ग्रहण है।

प्रश्न—आचार्य पाणिनि को यदि यह प्रत्ययग्रहण-परिभाषा अभीष्ट होती तो वे **सुप्तिङन्तं पदम्** (१४) सूत्र के स्थान पर 'सुप्तिङ् पदम्' ऐसा छोटा सूत्र रचते; क्योंकि सुप् और तिङ् के प्रत्यय होने से सुबन्त और तिङन्त का सुतरां ग्रहण हो जाता?

उत्तर—**सुप्तिङन्तं पदम्** (१४) सूत्र में मुनि के 'अन्त' ग्रहण का प्रयोजन यह जतलाना है कि—**सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति** अर्थात् जहां प्रत्यय की सञ्ज्ञा की जा रही हो वहां प्रत्ययग्रहण-परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो यहां डतर और डतम प्रत्ययों की सर्वनामसञ्ज्ञा करने पर वह परिभाषा क्यों प्रवृत्त हो रही है ? यहां भी उसे प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

उत्तर—यह बात सत्य है। परन्तु यहां केवल उन प्रत्ययों की सञ्ज्ञा करने का कुछ भी प्रयोजन न होने से उपर्युक्त प्रत्ययग्रहण परिभाषा की प्रवृत्ति स्वीकार कर ली जाती है। क्योंकि जब इस लोक में मन्दबुद्धि पुरुष भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता तो क्या महाबुद्धिमान् आचार्य पाणिनि व्यर्थ के लिये इन की सर्वनाम-सञ्ज्ञा करेंगे ? कदापि नहीं।

कतर आदि शब्दों की रूपमाला पुंल्लिङ्ग में 'सर्व' शब्द की तरह होती है। कतर (दो में कौन) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	कतर	कतरौ	कतरे	प०	कतरस्मात्	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
द्वि०	कतरम्	,,	कतरान्	ष०	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्
तृ०	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः	स०	कतरस्मिन्	,,	कतरेषु
च०	कतरस्मै	,,	कतरेभ्यः	सं०	हे कतर !	हे कतरौ !	हे कतरे !

इसी प्रकार—कतम (बहुतों में कौन), यतर (दो में जो), यतम (बहुतों में जो), ततर (दो में वह), ततम (बहुतों में वह), एकतर (दो में एक), एकतम (बहुतों में एक) शब्द भी समझने चाहियें।

डतर, डतम के अनन्तर सर्वादिगण में 'अन्य' (दूसरा) शब्द आता है। इस की रूपमाला सर्वशब्दवत् होती है यथा—

प्र०	अन्य	अन्यौ	अन्ये	प०	अन्यस्मात्	अन्याभ्याम्	अन्येभ्यः
द्वि०	अन्यम्	,,	अन्यान्	ष०	अन्यस्य	अन्ययोः	अन्येषाम्
तृ०	अन्येन	अन्याभ्याम्	अन्यैः	स०	अन्यस्मिन्	,,	अन्येषु
च०	अन्यस्मै	,,	अन्येभ्यः	सं०	हे अन्य !	हे अन्यौ !	हे अन्ये !

अन्यशब्द के बाद 'अन्यतर' शब्द आता है। इस का अर्थ है—दोनों में से एक। इसे डतरप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार का एक 'अन्यतम' शब्द भी लोक में देखा जाता है। इस का अर्थ है—बहुतों में से एक। इसे भी डतमप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिये। ये दोनों शब्द अव्युत्पन्न हैं। इन में से प्रथम 'अन्यतर' शब्द का सर्वादिगण में पाठ है अतः इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। दूसरे 'अन्यतम' शब्द का गण में पाठ नहीं अतः इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी, रामशब्दवत् उच्चारण होगा। 'अन्यतर' शब्द की रूपमाला सर्वशब्दवत् होती है। यथा—

प्र० अन्यतरः, अन्यतरौ, अन्यतरे। द्वि० अन्यतरम्, अन्यतरौ, अन्यतरान्। तृ० अन्यतरेण, अन्यतराभ्याम्, अन्यतरैः। च० अन्यतरस्मै, अन्यतराभ्याम्, अन्यतरेभ्यः। प० अन्यतरस्मात्, अन्यतराभ्याम्, अन्यतरेभ्यः। ष० अन्यतरस्य, अन्यतरयोः, अन्यतरेषाम्। स० अन्यतरस्मिन्, अन्यतरयोः, अन्यतरेषु। सं० हे अन्यतर !, हे अन्यतरौ !, हे अन्यतरे !।

अन्यतरशब्द के वाद 'इतर' शब्द आता है। इस का अर्थ 'भिन्न' है। इस की रूपमाला सर्वशब्दवत् होती है—

प्र०	इतरः	इतरौ	इतरे	प०	इतरस्मात्	इतराभ्याम्	इतरेभ्यः
द्वि०	इतरम्	,,	इतरान्	ष०	इतरस्य	इतरयोः	इतरेषाम्
तृ०	इतरेण	इतराभ्याम्	इतरैः	स०	इतरस्मिन्	,,	इतरेषु
च०	इतरस्मै	,,	इतरेभ्यः	सं०	हे इतर !	हे इतरौ !	हे इतरे!

इतर के अनन्तर सर्वादिगण में अदन्त शब्द 'त्व' आता है। इस का अर्थ भी 'भिन्न' है। यह वेद में प्रयुक्त होता है। इस की रूपमाला सर्वशब्दवत् है—

प्र०	त्वः	त्वौ	त्वे	प०	त्वस्मात्	त्वाभ्याम्	त्वेभ्यः
द्वि०	त्वम्	,,	त्वान्	ष०	त्वस्य	त्वयोः	त्वेषाम्
तृ०	त्वेन	त्वाभ्याम्	त्वैः	स०	त्वस्मिन्	,,	त्वेषु
च०	त्वस्मै	,,	त्वेभ्यः	सं०	हे त्व !	हे त्वौ !	हे त्वे !

त्वशब्द के अनन्तर अदन्त सर्वनाम 'नेम' शब्द आता है। अर्ध (आधा) अर्थ में इस का सर्वादिगण में पाठ अभीष्ट है। अवधि आदि अर्थों में पाठ न होने से सर्वनाम-सञ्ज्ञा नहीं होगी। तव रामवत् उच्चारण होगा। अर्धवाची सर्वनाम नेमशब्द का विशेष विवेचन **प्रथमचरम०** (१६०) सूत्र पर देखें।

सर्वादिगण में नेमशब्द के वाद 'सम' आता है। इस के 'सव' और 'तुल्य' दो अर्थ होते हैं। 'सव' अर्थ में इस की सर्वनामसञ्ज्ञा इष्ट है; 'तुल्य' अर्थ में नहीं। इस का कारण यह है कि आचार्य ने **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) सूत्र में 'समानाम्' कहा है। यहां समशब्द तुल्यवाचक है। यदि इस अर्थ में इस का सर्वादिगण में पाठ होता तो 'समानाम्' की वजाय 'समेषाम्' होता। सर्वनामसञ्ज्ञक समशब्द की रूप-माला यथा—

प्र०	समः	समौ	समे	प०	समस्मात्	समाभ्याम्	समेभ्यः
द्वि०	समम्	,,	समान्	ष०	समस्य	समयोः	समेषाम्
तृ०	समेन	समाभ्याम्	समैः	स०	समस्मिन्	,,	समेषु
च०	समस्मै	,,	समेभ्यः	सं०	हे सम !	हे समौ !	हे समे !

इस के वाद 'सिम' (सव) शब्द आता है। इस की रूपमाला भी सर्ववत् है—

प्र०	सिमः	सिमौ	सिमे	प०	सिमस्मात्	सिमाभ्याम्	सिमेभ्यः
द्वि०	सिमम्	,,	सिमान्	ष०	सिमस्य	सिमयोः	सिमेषाम्
तृ०	सिमेन	सिमाभ्याम्	सिमैः	स०	सिमस्मिन्	,,	सिमेषु
च०	सिमस्मै	,,	सिमेभ्यः	सं०	हे सिम !	हे सिमौ !	हे सिमे!

इसके वाद **पूर्व-परावर-दक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् असञ्ज्ञायाम्** यह गण-सूत्र आता है। इस का अर्थ है—सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ हो तो 'पूर्व, पर, अवर,

दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर' ये सात शब्द सर्वादिगण में समझे जावें। इस गणसूत्र की विशेष व्याख्या तथा पूर्वादि शब्दों की रूपमाला आगे (१५६) सूत्र पर देखें।

पूर्वादियों के अनन्तर **स्वम् अज्ञातिधनाख्यायाम्** यह गणसूत्र आता है। इस का अर्थ है—ज्ञाति और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ वाला स्वशब्द सर्वादिगण में समझा जाय। इसका विशेष व्याख्यान आगे (१५७) सूत्र पर देखें।

स्वशब्द के बाद **अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः** यह गणसूत्र आता है। इस का अर्थ है—बाह्य और परिधानीय अर्थ वाला 'अन्तर' शब्द सर्वादिगण में समझा जाय। इस का विशेष विवरण भी आगे (१५८) सूत्र पर देखें।

अन्तरशब्द के बाद त्यदादिगण आता है। त्यदादिगण सर्वादिगण के अन्तर्गत एक उपगण है, नया गण नहीं। इस में त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम् ये बारह शब्द आते हैं। त्यदादियों में केवल 'एक' शब्द ही अदन्त है। यदि 'एक' शब्द सङ्ख्येयवाचक हो तो वह नित्य एकवचनान्त होता है और यदि अन्य, प्रधान, प्रथम, केवल, साधारण, समान, अल्प अर्थों[1] का वाचक हो तो इस से द्विवचन तथा बहुवचन प्रत्यय भी होते हैं। *यथा*—**यजुष्येकेषाम्** (८.३.१०२)। इस की सर्वनामसञ्ज्ञा प्रत्येक अवस्था में होती है। प्रथम सङ्ख्येयवाची 'एक' शब्द की रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन		एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	एक:	०	०	पं०	एकस्मात्	०	०
द्वि०	एकम्	०	०	ष०	एकस्य	०	०
तृ०	एकेन	०	०	स०	एकस्मिन्	०	०
च०	एकस्मै	०	०	त्यदादियों का प्रायः सम्बोधन नहीं होता।			

अन्य, प्रधान आदि अर्थों में 'एक' शब्द की रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन		एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	एक:	एकौ	एके	पं०	एकस्मात्	एकाभ्याम्	एकेभ्य:
द्वि०	एकम्	,,	एकान्	ष०	एकस्य	एकयोः	एकेषाम्
तृ०	एकेन	एकाभ्याम्	एकै:	स०	एकस्मिन्	,,	एकेषु
च०	एकस्मै	,,	एकेभ्य:	सं०	हे एक!	हे एकौ!	हे एके!

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१५६) **पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्** ।१।१।३३॥

एतेषां व्यवस्थायामसञ्ज्ञायां सर्वनामसञ्ज्ञा गणसूत्रात् सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे, पूर्वाः। असञ्ज्ञायां किम्? उत्तराः कुरवः।

---

१ एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे सङ्ख्यायाञ्च प्रयुज्यते॥ (इति कोषः)

स्वाभिधेयाऽपेक्षाऽवधिनियमो व्यवस्था । व्यवस्थायां किम् ? दक्षिणा गाथकाः, कुशला इत्यर्थः ॥

अर्थः—(१) पूर्व, (२) पर, (३) अवर, (४) दक्षिण, (५) उत्तर, (६) अपर, (७) अधर—इन सात शब्दों की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में गण-सूत्र से जो सर्वनामसञ्ज्ञा सब जगह प्राप्त थी वह जस् परे होने पर विकल्प से हो ।

व्याख्या—पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि ।१।३। व्यवस्थायाम् ।७।१। असञ्ज्ञायाम् ।७।१। विभाषा ।१।१। जसि ।७।१। (विभाषा जसि से) । सर्वनामानि ।१।३। (सर्वादीनि सर्वनामानि से) । समासः—पूर्वञ्च परञ्च अवरञ्च दक्षिणञ्च उत्तरञ्च अपरञ्च अधरञ्च (यहां नपुंसकलिङ्ग 'शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य के कारण लगाया गया है)=पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि, इतरेतरद्वन्द्वः । न सञ्ज्ञा=असञ्ज्ञा, तस्याम्=असञ्ज्ञायाम्, नञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(असञ्ज्ञायाम्) सञ्ज्ञाभिन्न (व्यवस्थायाम्) व्यवस्था अर्थ हो तो (पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि) पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर ये सात शब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक हों ।

सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में पूर्वादि सातों शब्दों की **पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्** इस गण सूत्र से (यह गणसूत्र सर्वादिगण में पीछे आ चुका है) सर्वनामसञ्ज्ञा की जा चुकी है । अब वही सर्वत्र प्राप्ता सर्वनामसञ्ज्ञा जस् में विकल्प कर के की जाती है ।

प्रश्न—यह सूत्र एक बार सर्वादिगण में पढ़ा जा चुका है; पुनः यहां सूत्रपाठ में इसे अविकल पढ़ने की आवश्यकता नहीं । केवल जस् में विकल्प करने के लिए 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि' इतना ही पर्याप्त है । 'व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्' इस अंश के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—वैसा करने से गणसूत्र से तो इन की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था में ही सर्वनामसञ्ज्ञा होगी और यहां सञ्ज्ञा होने तथा व्यवस्था न होने पर भी सर्वनामसञ्ज्ञा हो जायेगी । अतः यहां भी 'व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्' कहना आवश्यक है ।

अब हमें यह जानना है कि 'व्यवस्था' क्या है । व्यवस्था का लक्षण है—

स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था । अपेक्ष्यत इत्यपेक्षः, कर्मणि घञ् । स्वस्य (पूर्वादिशब्दस्य) अभिधेयेन (वाच्येन) अपेक्षस्य (अपेक्ष्यमाणस्य) अवधेर्नियमो व्यवस्था । अर्थः—जहां पूर्व आदि शब्दों के अपने अर्थों से अवधि के नियम की अपेक्षा हो वहां व्यवस्था समझनी चाहिये । उदाहरण यथा—

काशी पूर्वा । कुतः ? प्रयागात् । यहां 'पूर्वा' शब्द का अर्थ पूर्वदिशास्थित काशी देश है । इस अर्थ से अवधि के नियम की आकाङ्क्षा होती है । अर्थात् 'काशी पूर्व है' यह कहने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि किस से पूर्व है ? इस पर उत्तर मिलता है कि 'प्रयाग से' । तो यहां पूर्वाशब्द का अर्थ क्योंकि अवधि के नियम (प्रयागात्) की अपेक्षा=आकाङ्क्षा करता है; अतः यहां व्यवस्था है ।

पूर्वे रावणादयः। केभ्यः? कंसादिभ्यः। यहाँ पूर्वशब्द का अर्थ पूर्वकालस्थित रावण आदि व्यक्ति हैं। इन अर्थों से अवधि के नियम की अपेक्षा=आकाङ्क्षा=जिज्ञासा होती है कि किस से रावण आदि पूर्व हुए हैं? इस पर उत्तर मिलता है कि 'कंस आदि से'। तो यहां पूर्वशब्द का अर्थ क्योंकि अवधि के नियम ('कंसादिभ्यः') की अपेक्षा करता है, अतः यहां व्यवस्था है।

पूर्वस्यां रविरुदेति। यहां पूर्वाशब्द का अर्थ दिशा-विशेष है। दिशाविशेषों का सङ्केत सुमेरुपर्वत की अपेक्षा से अनादिकाल से चला आ रहा है। तो इस प्रकार यहां भी व्यवस्था है।

तात्पर्य यह हुआ कि जहां पूर्व आदि शब्दों के प्रयोग होने पर 'कहां से?', 'किस से?', 'किन से?' इत्यादि प्रकारेण जिज्ञासा हो वहां व्यवस्था समझनी चाहिये।

ध्यान रहे कि व्यवस्था में पूर्वादि शब्द तीन प्रकार के होते हैं। (१) देशवाची, यथा—काशी पूर्वा। (२) कालवाची, यथा—पूर्वे रावणादयः। (३) दिशावाची, यथा—पूर्वस्यां रविरुदेति। इन तीनों से अतिरिक्त पूर्वादि शब्द होंगे तो वहां व्यवस्था न होगी। यथा—अधरे रागः (निचले होंठ पर लाली है)।

व्यवस्थायां किम्? दक्षिणा गायकाः। दक्षिणा गायकाः (चतुर गायक)। यहां दक्षिणशब्द का अर्थ 'चतुर' है। इस से अवधि के नियम की आकाङ्क्षा नहीं होती। अतः यहां व्यवस्था न होने से इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से पक्ष में जसः शी (१५२) द्वारा शी आदेश न होगा। इसी प्रकार—'अयं बालः उत्तरे प्रत्युत्तरे शक्तः' (यह बालक जवाब सवाल में चतुर है) यहां 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'जवाब' तथा 'प्रत्युत्तर' शब्द का अर्थ 'जवाब का जवाब' है। इन अर्थों से किसी प्रकार के अवधि के नियम की जिज्ञासा नहीं होती। अतः व्यवस्था में वर्त्तमान न होने के कारण इन की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। इस से पक्ष में **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा** (१५६) सूत्र प्रवृत्त न होगा।

असञ्ज्ञायां किम्? उत्तराः कुरवः। व्यवस्था होने पर भी पूर्वादि शब्द किसी की सञ्ज्ञा नहीं होने चाहियें। यदि ये किसी की सञ्ज्ञा होंगे तो व्यवस्था में वर्त्तमान होने पर भी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। यथा—उत्तराः कुरवः (उत्तरकुरुदेश)[1]। सुमेरुपर्वत को अवधि मान कर 'उत्तर कुरु' इस प्रकार देशव्यवस्था की गई है। अतः यहां 'उत्तर' शब्द व्यवस्था में वर्त्तमान है। परन्तु 'उत्तर कुरु' इस प्रकार कुरु देश की सञ्ज्ञा होने से उत्तरशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी।

जहां पूर्व आदि शब्द किसी की सञ्ज्ञा न होंगे और व्यवस्था में वर्त्तमान होंगे वहां निम्नप्रकारेण प्रयोगसिद्धि होगी—

---

१ कुरुशब्दो देशविशेषे बहुवचनान्तः प्रयुज्यते। सम्प्रति रूस का यूक्रेनप्रदेश 'उत्तरकुरु' देश है—ऐसा विचारकों का मत है। परन्तु अन्य लोग 'कुरुक्षेत्र' को ही 'उत्तरकुरु' देश मानते हैं।

'पूर्व+जस्' यहां सर्वादीनि सर्वनामानि (१५१) सूत्र से पूर्वशब्द की नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर प्रकृतसूत्र से जस् में वह विकल्प कर के हो जाती है। सर्वनामपक्ष में जसः शी (१५२) से जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश करने पर 'पूर्वे' प्रयोग सिद्ध होता है। सर्वनाम के अभाव में रामशब्दवत् पूर्वसवर्ण-दीर्घ हो कर 'पूर्वाः' प्रयोग बन जाता है। इसी प्रकार 'पर' आदि शब्दों के भी—परे, पराः। अवरे, अवराः। दक्षिणे, दक्षिणाः। उत्तरे, उत्तराः। अपरे, अपराः। अधरे, अधराः। ये दो दो रूप बनते हैं। इन शब्दों की रूपमाला आगे (पृष्ठ २०७ पर) लिखेंगे।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१५७) **स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।१।१।३४॥**

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता सञ्ज्ञा जसि वा। स्वे, स्वाः। आत्मीया आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः=ज्ञातयोऽर्था वा॥

अर्थः—ज्ञाति (बान्धव) और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ वाले स्वशब्द की प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् में विकल्प से हो।

व्याख्या—स्वम्।१।१। ('शब्द-स्वरूपम्' की दृष्टि से नपुंसक लिखा गया है)। अज्ञातिधनाख्यायाम्।७।१। विभाषा।१।१। जसि।७।१। (विभाषा जसि से)। सर्वनाम।१।१। (सर्वादीनि सर्वनामानि से वचनविपरिणाम द्वारा)। समासः—ज्ञातिश्च धनञ्च=ज्ञातिधने, तयोर् आख्या (सञ्ज्ञा)=ज्ञातिधनाख्या, तस्याम्=ज्ञातिधनाख्यायाम्, द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः। न ज्ञातिधनाख्यायाम्=अज्ञातिधनाख्यायाम्, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अज्ञातिधनाख्यायाम्) ज्ञाति और धन अर्थ से भिन्न अर्थों में (जसि) जस् परे होने पर (स्वम्) स्वशब्द (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनाम) सर्वनामसञ्ज्ञक होता है।

सर्वादिगण में भी यह सूत्र पढ़ा गया है। उस से ज्ञाति और धन अर्थ से भिन्न अर्थों में स्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा सर्वत्र प्राप्त थी। पुनः इस सूत्र से उस प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा का जस् में विकल्प किया गया है।

स्वशब्द के चार अर्थ होते हैं—(१) आत्मा (खुद अथवा स्वयम्), (२) आत्मीय (खुद का=अपना), (३) ज्ञाति (बान्धव=रिश्तेदार), (४) धन। इन चार अर्थों में से प्रथम दो अर्थों में स्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है, पिछले दो अर्थों में नहीं। प्रकृतसूत्र से वही सर्वत्र प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् में विकल्प कर के की जाती है। सर्वनामपक्ष में जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश हो कर 'स्वे' प्रयोग बना। सर्वनामाभावपक्ष में रामशब्दवत् 'स्वाः' रूप सिद्ध हुआ।

ज्ञाति और धन अर्थ में सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से 'स्व' शब्द का रामशब्दवत् उच्चारण होगा। अतः जस् में केवल 'स्वाः' ही बनेगा।

ज्ञातिरात्मा तथात्मीयश्चतुर्थं धनमेव च।
अर्थाः प्रोक्ताः स्वशब्दस्य कोषे बुद्धिमतां वरैः॥ १॥
आत्मात्मीयार्थयोरेव सर्वनाम स्मृतं बुधैः।
यो ज्ञातिधनवाची स्यात् सर्वनाम न कीर्त्यते॥ २॥

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१५८) अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ।१।१।३५॥

बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता सञ्ज्ञा जसि वा । अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः, बाह्या इत्यर्थः । अन्तरे, अन्तरा वा शाटकाः, परिधानीया इत्यर्थः ॥

अर्थः—बाह्य और परिधानीय अर्थ में अन्तरशब्द की सर्वत्र प्राप्त सर्वनाम-सञ्ज्ञा जस् में विकल्प से हो।

व्याख्या—अन्तरम् ।१।१। बहिर्योगोपसंव्यानयोः ।७।२। जसि ।७।१। विभाषा ।१।१। (विभाषा जसि से) । सर्वनाम ।१।१। (सर्वादीनि सर्वनामानि से) । समासः—बहिः=अनावृतो देशः तेन योगः=सम्बन्धो यस्य स बहिर्योगः, बहुव्रीहिसमासः । उपसंवीयते=परिधीयते इत्युपसंव्यानम् । अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके इत्यमरः । बहिर्योगश्च उपसंव्यानञ्च=बहिर्योगोपसंव्याने । तयोः=बहिर्योगोपसंव्यानयोः । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(बहिर्योगोपसंव्यानयोः) बाहर से सम्बद्ध वस्तु अर्थ में तथा नीचे पहनने योग्य वस्त्रादि अर्थ में (अन्तरम्) अन्तरशब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनाम) सर्वनामसञ्ज्ञक होता है।

बाह्य अर्थात् बाहरस्थित तथा नीचे पहनने योग्य वस्त्रादिक अर्थ में अन्तरशब्द की इसी प्रकार के गणसूत्र द्वारा जो सर्वनामसञ्ज्ञा सर्वत्र प्राप्त थी उसी का यहां जस् में विकल्प किया गया है। सर्वनामपक्ष में जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश हो—'अन्तरे' बनेगा। तदभावपक्ष में पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश करने पर—'अन्तराः' सिद्ध होगा। अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः (बाहरस्थित घर। प्रायः चाण्डाल आदियों के घर नगर की चारदिवारी से बाहर ही हुआ करते हैं। देखें मनुस्मृति—१०.५१)। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः (नीचे पहनने योग्य वस्त्र=धोती आदि)।

बहिर्योगोपसंव्यानयोः किम् ? अनयोर्ग्रामयोर् अन्तरे तापसः प्रतिवसति (इन दो गांवों के मध्य तपस्वी रहता है)। यहां 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'मध्यदेश' है। अतः सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से सर्वनाम-कार्य न होंगे। [यह प्रत्युदाहरण गणसूत्र का ही है। एवम्—आचयोरन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ( )।] इसी प्रकार—'इमे अत्यन्तराः मम'।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१५९) पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ।७।१।१६॥

एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः । पूर्वस्मात्, पूर्वात् । पूर्वस्मिन्, पूर्वे । एवम्परादीनाम् । शेषं सर्ववत् ॥

अर्थः—पूर्व आदि नौ शब्दों से परे ङसि और ङि को क्रमशः स्मात् और स्मिन् आदेश विकल्प से हों।

व्याख्या—पूर्वादिभ्यः ।५।३। नवभ्यः ।५।३। ङसिङ्योः ।६।२। स्मात्स्मिनौ ।१।२। (ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ से) । वा इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(पूर्वादिभ्यः) पूर्व आदि (नवभ्यः) नौ शब्दों से परे (ङसिङ्योः) ङसि और ङि के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (स्मात्स्मिनौ) स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं।

पूर्वोक्त त्रिसूत्री (१५६, १५७, १५८) में स्थित पूर्व आदि नौ शब्दों का उन्हीं अर्थों में यहां ग्रहण है। गणसूत्रों द्वारा नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा विहित होने से इन से परे स्मात् और स्मिन् आदेश (१५४) नित्य प्राप्त होते थे। अब इस सूत्र से विकल्प किया जाता है। पूर्वस्मात्, पूर्वस्मिन्। पक्ष में रामवत् प्रक्रिया हो कर— पूर्वात्, पूर्वे। इन सब की रूपमाला यथा—

(१) पूर्व (प्रथम आदि)

प्र०	पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे / पूर्वाः
द्वि०	पूर्वम्	,,	पूर्वान्
तृ०	पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः
च०	पूर्वस्मै	,,	पूर्वेभ्यः
प०	पूर्वस्मात् / पूर्वात्	,,	,,
ष०	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
स०	पूर्वस्मिन् / पूर्वे	,,	पूर्वेषु
सं०	हे पूर्व !	हे पूर्वौ !	हे पूर्वे ! / हे पूर्वाः !

(३) अवर (न्यून आदि)

प्र०	अवरः	अवरौ	अवरे / अवराः
द्वि०	अवरम्	,,	अवरान्
तृ०	अवरेण	अवराभ्याम्	अवरैः
च०	अवरस्मै	,,	अवरेभ्यः
प०	अवरस्मात् / अवरात्	,,	,,
ष०	अवरस्य	अवरयोः	अवरेषाम्
स०	अवरस्मिन् / अवरे	,,	अवरेषु
सं०	हे अवर !	हे अवरौ !	हे अवरे! / हे अवराः!

(५) उत्तर (अगला आदि)

प्र०	उत्तरः	उत्तरौ	उत्तरे / उत्तराः
द्वि०	उत्तरम्	,,	उत्तरान्

(२) पर (दूसरा आदि)

प्र०	परः	परौ	परे / पराः
द्वि०	परम्	,,	परान्
तृ०	परेण	पराभ्याम्	परैः
च०	परस्मै	,,	परेभ्यः
प०	परस्मात् / परात्	,,	,,
ष०	परस्य	परयोः	परेषाम्
स०	परस्मिन् / परे	,,	परेषु
सं०	हे पर !	हे परौ !	हे परे ! / हे पराः !

(४) दक्षिण (दाहिना आदि)

प्र०	दक्षिणः	दक्षिणौ	दक्षिणे / दक्षिणाः
द्वि०	दक्षिणम्	,,	दक्षिणान्
तृ०	दक्षिणेन	दक्षिणाभ्याम्	दक्षिणैः
च०	दक्षिणस्मै	,,	दक्षिणेभ्यः
प०	दक्षिणस्मात् / दक्षिणात्	,,	,,
ष०	दक्षिणस्य	दक्षिणयोः	दक्षिणेषाम्
स०	दक्षिणस्मिन् / दक्षिणे	,,	दक्षिणेषु
सं०	हे दक्षिण!	हे दक्षिणौ !	हे दक्षिणे! / हे दक्षिणाः!

(६) अपर (दूसरा आदि)

प्र०	अपरः	अपरौ	अपरे / अपराः
द्वि०	अपरम्	,,	अपरान्

तृ०	उत्तरेण	उत्तराभ्याम्	उत्तरैः
च०	उत्तरस्मै	,,	उत्तरेभ्यः
पं०	उत्तरस्मात् / उत्तरात्	,,	,,
ष०	उत्तरस्य	उत्तरयोः	उत्तरेषाम्
स०	उत्तरस्मिन् / उत्तरे	,,	उत्तरेषु
सं०	हे उत्तर !	हे उत्तरौ !	हे उत्तरे ! / हे उत्तराः !

तृ०	अपरेण	अपराभ्याम्	अपरैः
च०	अपरस्मै	,,	अपरेभ्यः
पं०	अपरस्मात् / अपरात्	,,	,,
ष०	अपरस्य	अपरयोः	अपरेषाम्
स०	अपरस्मिन् / अपरे	,,	अपरेषु
सं०	हे अपर !	हे अपरौ !	हे अपरे ! / हे अपराः !

(७) अधर (नीचा आदि)

प्र०	अधरः	अधरौ	अधरे / अधराः
द्वि०	अधरम्		अधरान्
तृ०	अधरेण	अधराभ्याम्	अधरैः
च०	अधरस्मै	,,	अधरेभ्यः
पं०	अधरस्मात् / अधरात्	,,	,,
ष०	अधरस्य	अधरयोः	अधरेषाम्
स०	अधरस्मिन् / अधरे	,,	अधरेषु
सं०	हे अधर !	हे अधरौ !	हे अधरे ! / हे अधराः !

(८) स्व (आत्मा, आत्मीय)

प्र०	स्वः	स्वौ	स्वे / स्वाः
द्वि०	स्वम्	,,	स्वान्
तृ०	स्वेन	स्वाभ्याम्	स्वैः
च०	स्वस्मै	,,	स्वेभ्यः
पं०	स्वस्मात् / स्वात्	,,	,,
ष०	स्वस्य	स्वयोः	स्वेषाम्
स०	स्वस्मिन् / स्वे	,,	स्वेषु
सं०	हे स्व !	हे स्वौ !	हे स्वे ! / हे स्वाः !

(९) अन्तर (बाह्य या परिधानीय)

प्र०	अन्तरः	अन्तरौ	अन्तरे / अन्तराः
द्वि०	अन्तरम्	,,	अन्तरान्
तृ०	अन्तरेण	अन्तराभ्याम्	अन्तरैः
च०	अन्तरस्मै	,,	अन्तरेभ्यः
पं०	अन्तरस्मात् / अन्तरात्	,,	,,
ष०	अन्तरस्य	अन्तरयोः	अन्तरेषाम्
स०	अन्तरस्मिन् / अन्तरे	,,	अन्तरेषु
सं०	हे अन्तर !	हे अन्तरौ !	हे अन्तरे ! / हे अन्तराः !

यहां पूर्व आदि ९ शब्द समाप्त होते हैं ॥

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१६०) प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ।१।१।३२॥

एते जसि उक्तसञ्ज्ञा वा स्युः । प्रथमे, प्रथमाः । तयः प्रत्ययः—द्वितये, द्वितयाः । शेषं रामवत् । नेमे, नेमाः । शेषं सर्ववत् ॥

अर्थः—प्रथम, चरम, तयप्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम—ये शब्द जस् परे होने पर विकल्प कर के सर्वनाम-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः ।१।३। च इत्यव्ययपदम् । जसि ।७।१। विभाषा ।१।१। (विभाषा जसि से) । सर्वनामानि ।१।३। (सर्वादीनि सर्वनामानि से) । समासः—प्रथमश्च चरमश्च तयश्च अल्पश्च अर्धश्च कतिपयश्च नेमश्च =प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(प्रथम—नेमाः) प्रथम, चरम, तय, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम ये शब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

इन शब्दों में 'नेम' शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द का सर्वादिगण में पाठ नहीं, अतः शेष सब शब्दों की जस् को छोड़ अन्य विभक्तियों में रामशब्दवत् प्रक्रिया होगी। जस् में सर्वनामपक्ष में जसः शी (१५२) आदि कार्य होंगे। तदभावपक्ष में रामवत् प्रक्रिया जाननी चाहिये। इन की रूपमाला यथा—

प्रथम (पहला)

प्र०	प्रथमः	प्रथमौ	प्रथमे / प्रथमाः
द्वि०	प्रथमम्	,,	प्रथमान्
तृ०	प्रथमेन	प्रथमाभ्याम्	प्रथमैः
च०	प्रथमाय	,,	प्रथमेभ्यः
प०	प्रथमात्	,,	,,
ष०	प्रथमस्य	प्रथमयोः	प्रथमानाम्
स०	प्रथमे	,,	प्रथमेषु
सं०	हे प्रथम!	हे प्रथमौ!	हे प्रथमे! / हे प्रथमाः!

चरम (अन्तिम)

प्र०	चरमः	चरमौ	चरमे / चरमाः
द्वि०	चरमम्	,,	चरमान्
तृ०	चरमेण	चरमाभ्याम्	चरमैः
च०	चरमाय	,,	चरमेभ्यः
प०	चरमात्	,,	,,
ष०	चरमस्य	चरमयोः	चरमाणाम्
स०	चरमे	,,	चरमेषु
सं०	हे चरम!	हे चरमौ!	हे चरमे! / हे चरमाः!

चरमशब्द के बाद 'तय' आता है। 'तय' प्रत्यय है। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** इस परिभाषानुसार तयप्रत्ययान्तों का ही ग्रहण किया जायेगा। यद्यपि **सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति** इस ज्ञापक से तदन्तों का ग्रहण नहीं होना चाहिये था; तथापि केवल तय प्रत्यय की सञ्ज्ञा करना निष्प्रयोजन होने से तदन्तों का ग्रहण हो जाता है। तयप्रत्ययान्त शब्द—द्वितय, त्रितय, चतुष्टय, पञ्चतय, षट्तय, सप्ततय, अष्टतय, नवतय, दशतय आदि जानने चाहियें। किञ्च—द्वि और त्रि शब्दों से परे तयप् को **द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा** (११६९) सूत्र से अयच् आदेश हो कर 'द्वय' और 'त्रय' शब्द भी बन जाते हैं। ये भी स्थानिवद्भाव से तयप्प्रत्ययान्त होने के कारण जस् में प्रकृत सूत्र द्वारा विकल्प से सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं। द्वितय (द्वौ अवयवौ यस्य, दो अवयवों वाला—जोड़ा) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	द्वितयः	द्वितयौ	द्वितये / द्वितयाः
द्वि०	द्वितयम्	द्वितयौ	द्वितयान्

तृ०	द्वितयेन	द्वितयाभ्याम्	द्वितयैः	ष०	द्वितयस्य	द्वितययोः	द्वितयानाम्
च०	द्वितयाय	,,	द्वितयेभ्यः	स०	द्वितये	,,	द्वितयेषु
पं०	द्वितयात्	द्वितयाभ्याम्	द्वितयेभ्यः	सं०	हे द्वितय!	हे द्वितयौ!	हे द्वितये! हे द्वितयाः!

इसी प्रकार—द्वय, त्रितय, त्रय, चतुष्टय, पञ्चतय प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

अल्प (थोड़ा)				अर्ध (आधा)			
प्र०	अल्पः	अल्पौ	अल्पे, अल्पाः	प्र०	अर्धः	अर्धौ	अर्धे, अर्धाः
द्वि०	अल्पम्	,,	अल्पान्	द्वि०	अर्धम्	,,	अर्धान्
तृ०	अल्पेन	अल्पाभ्याम्	अल्पैः	तृ०	अर्धेन	अर्धाभ्याम्	अर्धैः
च०	अल्पाय	,,	अल्पेभ्यः	च०	अर्धाय	,,	अर्धेभ्यः
पं०	अल्पात्	,,	,,	पं०	अर्धात्	,,	,,
ष०	अल्पस्य	अल्पयोः	अल्पानाम्	ष०	अर्धस्य	अर्धयोः	अर्धानाम्
स०	अल्पे	,,	अल्पेषु	स०	अर्धे	,,	अर्धेषु
सं०	हे अल्प!	हे अल्पौ!	हे अल्पे! हे अल्पाः!	सं०	हे अर्ध!	हे अर्धौ!	हे अर्धे! हे अर्धाः!

कतिपय (कुछ)

प्रथमा	कतिपयः	कतिपयौ	कतिपये, कतिपयाः
द्वितीया	कतिपयम्	,,	कतिपयान्
तृतीया	कतिपयेन	कतिपयाभ्याम्	कतिपयैः
चतुर्थी	कतिपयाय	,,	कतिपयेभ्यः
पञ्चमी	कतिपयात्	,,	,,
षष्ठी	कतिपयस्य	कतिपययोः	कतिपयानाम्
सप्तमी	कतिपये	,,	कतिपयेषु
सम्बोधन	हे कतिपय!	हे कतिपयौ!	हे कतिपये! कतिपयाः!

'कतिपय' शब्द के अनन्तर 'नेम' शब्द आता है। अर्धवाचक नेमशब्द सर्वनामसञ्ज्ञक होता है—यह पीछे कह आये हैं। उसी का प्रकृतसूत्र में ग्रहण समझना चाहिये, अन्य का नहीं। रूपमाला यथा—

प्र०	नेमः	नेमौ	नेमे, नेमाः	पं०	नेमस्मात्	नेमाभ्याम्	नेमेभ्यः
द्वि०	नेमम्	,,	नेमान्	ष०	नेमस्य	नेमयोः	नेमेषाम्
तृ०	नेमेन	नेमाभ्याम्	नेमैः	स०	नेमस्मिन्	,,	नेमेषु
च०	नेमस्मै	,,	नेमेभ्यः	सं०	हे नेम!	हे नेमौ!	हे नेमे! नेमाः!

[लघु०] वा०—(१६) तीयस्य ङित्सु वा ॥

द्वितीयस्मै, द्वितीयाय इत्यादि। एवं तृतीयः ॥

अर्थः—ङित् विभक्तियों के परे होने पर तीयप्रत्ययान्तों की विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या—तीयस्य ।६।१। ङित्सु ।७।३। वा इत्यव्ययपदम्। सर्वनामता ।१।१। (प्रकरण-प्राप्त)। 'तीय' यह एक प्रत्यय है। केवल इस की सञ्ज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं; अतः **सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति** इस निषेध के होते हुए भी **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** परिभाषा से तीयप्रत्ययान्तों का ही ग्रहण किया जायेगा। **द्वेस्तीयः** (११७५) तथा **त्रेः सम्प्रसारणं च** (११७६) सूत्रों द्वारा 'द्वि' और 'त्रि' शब्दों से तीय-प्रत्यय हो कर द्वितीय और तृतीय ये दो तीयप्रत्ययान्त शब्द निष्पन्न होते हैं। इन दो का ही यहां ग्रहण अभीष्ट है। ङ् इत् यस्य असौ = ङित्, जिस के ङकार की इत्सञ्ज्ञा हो उसे ङित् कहते हैं। ङित् विभक्तियां चार हैं—ङे, ङसिँ, ङस्, ङि। अर्थः —(ङित्सु) ङित् प्रत्ययों के परे होने पर (तीयस्य) तीयप्रत्ययान्त शब्दों की (सर्वनामता) सर्व-नाम संज्ञा (वा) विकल्प से हो जाती है। तीयप्रत्ययान्तों का पाठ सर्वादिगण में नहीं आया अतः वहां सर्वनामसंज्ञा अप्राप्त है। प्रकृत वार्त्तिक से केवल ङित् विभक्तियों में उस का वैकल्पिक विधान किया जा रहा है।

ङे में सर्वनामसंज्ञा होने से **सर्वनाम्नः स्मै** (१५३) तथा ङसिँ और ङि में सर्व-नामसञ्ज्ञा होने से **ङसिँङ्योः स्मात्स्मिनौ** (१५४) सूत्र प्रवृत्त होगा। ङस् में कुछ विशेष नहीं[1]। पक्ष में जहां सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी वहां रामशब्दवत् प्रक्रिया होगी।

द्वितीय (दूसरा) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	द्वितीयः	द्वितीयौ	द्वितीयाः
द्वि०	द्वितीयम्	,,	द्वितीयान्
तृ०	द्वितीयेन	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयैः
च०	द्वितीयस्मै, द्वितीयाय	,,	द्वितीयेभ्यः
पं०	द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्	,,	,,
ष०	द्वितीयस्य	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
स०	द्वितीयस्मिन्, द्वितीये	,,	द्वितीयेषु
सं०	हे द्वितीय !	हे द्वितीयौ !	हे द्वितीयाः !

इसी प्रकार तृतीय (तीसरा) शब्द की रूपमाला जानें।

अभ्यास (२७)

(१) व्यवस्था का लक्षण लिख उस का सोदाहरण विस्तृत विवेचन करें।

(२) (क) किस अर्थ में 'सम' की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है और क्यों?

(ख) द्वितीय और द्वितय की रूपमालाओं का अन्तर सप्रमाण लिखें।

---

१. यहां पुंल्लिङ्ग में यद्यपि सर्वनामसञ्ज्ञा का कोई फल नहीं, तथापि स्त्रीलिङ्ग में 'द्वितीयस्याः, तृतीयस्याः' प्रयोगों में **सर्वनाम्नः स्याड्०** (२२०) द्वारा स्याट् आगम तथा ह्रस्व होना फल है।

(ग) जसः शी यहां 'शी' की बजाय ह्रस्व 'शि' क्यों नहीं किया ?

(घ) 'उभ' शब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ?

(ङ) 'स्व' शब्द की किस अर्थ में सर्वनामसञ्ज्ञा है ? स्पष्ट करें।

(३) आमि सर्वनाम्नः० का क्यों कैसे और कौन-सा अर्थ ग्रन्थकार ने किया है ?

(४) तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान का विवेचन करते हुए यह लिखें कि सर्वादीनि सर्वनामानि सूत्र में किस का आश्रय उचित है ?

(५) सर्वादिगणपठित त्रिसूत्री का पुनः अष्टाध्यायी में क्यों उल्लेख किया है ?

(६) निम्नलिखित परिभाषाओं का सोदाहरण विवेचन करें —

(१) प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्। (२) सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति। (३) यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते। (४) उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्। (५) न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न केवलः प्रत्ययः।

(७) (क) 'सर्व, अर्ध, तृतीय, नेम, सम' शब्दों के षष्ठी-बहुवचन में रूप सिद्ध करें।

(ख) 'उभ, अर्ध, द्वितय, द्वितीय, पूर्व, स्व, अन्तर, एक' शब्दों के पञ्चमी के एकवचन में रूप सिद्ध करें।

(ग) 'कतिपय, चरम, स्व, प्रथम' शब्दों की प्रथमा-बहुवचन में सिद्धि करें।

—— ०ः ——

रामशब्द की अपेक्षा विशिष्ट उच्चारण वाले शब्दों में 'निर्जर' शब्द का प्रमुख-स्थान है। अतः अब यहां उस का वर्णन किया जाता है—

निर्गतो जराया = निर्जरः (निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या इति वार्त्तिकेन समास, उपसर्जनह्रस्व)। देवता को 'निर्जर' कहते हैं, क्योंकि वह जरा = बुढ़ापे से रहित होता है।

प्रथमा के एकवचन में रामशब्द के समान 'निर्जरः' रूप बनता है।

प्रथमा के द्विवचन में— निर्जर + औ। यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(१६१) जराया जरसन्यतरस्याम् ।७।२।१०१॥

अजादौ विभक्तौ ॥

अर्थः—अजादि विभक्ति परे हो तो जरा शब्द को विकल्प से जरस् आदेश हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। (अचि र ऋतः से)। विभक्तौ ।७।१। (अष्टन आ विभक्तौ से)। जरायाः ।६।१। जरस् ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। 'विभक्तौ' का विशेषण होने से यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे द्वारा 'अचि' पद से तदादिविधि हो 'अजादौ' बन जाता है। अर्थ —(अचि) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (जरायाः) जरा शब्द के स्थान पर (जरस्) जरस् आदेश हो।

औ, जस् (अस्), अम्, औट् (औ), शस् (अस्), टा (आ), ङे (ए), ङसि (अस्), ङस् (अस्), ओस्, आम्, ङि (इ), ओस्—ये तेरह अजादि विभक्तियां हैं।

'निर्जर+औ' यहां अजादि विभक्ति परे है 'औ'। परन्तु यहां जरा शब्द नहीं 'निर्जर' शब्द वर्त्तमान है अतः जरस् आदेश कैसे हो ? इस का समाधान अग्रिम-परिभाषा से करते हैं—

[लघु०] पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च (प०)॥

अर्थः—'पद' तथा 'अङ्ग' के अधिकार में जिस के स्थान पर जो आदेश विधान किया जाये वह आदेश उस के तथा तदन्त=वह जिसके अन्त में है उस समुदाय के भी स्थान पर हो जाता है।

व्याख्या—**पदस्य** यह अष्टमाध्याय के प्रथमपाद का सोलहवां सूत्र है। यह अधिकार-सूत्र है। इस का अधिकार **अपदान्तस्य मूर्धन्यः** (८.३.५५) सूत्र तक जाता है। इसे पदाधिकार कहते हैं। [**अलुगुत्तरपदे** (६.३.१) इत्ययमुत्तरपदाधिकारोऽपि पदाधिकारग्रहणेन गृह्यते इति तत्त्वबोधिनीकाराः श्रीज्ञानेन्द्रस्वामिनः]।

अङ्गस्य यह षष्ठाध्याय के चतुर्थ पाद का प्रथम-सूत्र है। यह भी अधिकार-सूत्र है। इस का अधिकार सातवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। इसे अङ्गाधिकार कहते हैं।

इन दोनों अधिकारों में जिस के स्थान पर आदेश का विधान किया गया हो उस के तथा वह जिस समुदाय के अन्त में हो उस समुदाय के भी स्थान पर वह आदेश होता है।

जराया जरसन्यतरस्याम् (१६१) सूत्र अङ्गाधिकार में पढ़ा गया है। इस सूत्र में जरस् आदेश जरा के स्थान पर विधान किया गया है। अतः वह आदेश अकेले जरा शब्द के स्थान पर भी होगा और जरा शब्द जिस के अन्त में होगा ऐसे 'निर्जर' प्रभृति शब्दों के स्थान पर भी होगा।

जरस् आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित् सर्वस्य** (४५) सूत्र से सम्पूर्ण 'निर्जर' शब्द के स्थान पर वह प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-परिभाषा प्रवृत्त होती है—

[लघु०] निर्दिश्यमानस्याऽऽदेशा भवन्ति (प०)॥

अर्थः—जिस का निर्देश किया गया हो उस के स्थान पर ही आदेश होते हैं।

व्याख्या—सूत्र में जो साक्षात् निर्दिष्ट किया गया हो उस के स्थान पर ही आदेश करना चाहिये। अन्य के स्थान पर नहीं। **जराया जरसन्यतरस्याम्** (१६१) सूत्र में जरस् आदेश जरा के स्थान पर ही कहा गया है, अतः वह 'निर्जर' के अन्तर्गत 'जरा' के स्थान पर ही होगा सम्पूर्ण 'निर्जर' के स्थान पर नहीं।

यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जब आदेश निर्दिश्यमान के स्थान पर ही करना अभीष्ट है तो पुनः पूर्वोक्त तदन्तग्रहण-परिभाषा का क्या लाभ ? इस का उत्तर यह है कि तदन्तग्रहणपरिभाषा से केवल इतना लाभ होता है कि प्रथम जो तदन्तों में आदेश की बिलकुल प्राप्ति नहीं होती थी सो अब हो जाती है। यथा—यदि तदन्त-ग्रहणपरिभाषा न होती तो 'निर्जर' शब्द में जरस् आदेश की बिलकुल प्राप्ति ही न

होगी, क्योंकि वहां 'निर्जर' शब्द है 'जरा' नहीं। अब इस परिभाषा से तदन्तघटित 'निर्जर' के जरा में भी आदेश की प्रवृत्ति हो जाती है—यह यहां लाभ है।

अब यहां यह सन्देह होता है कि 'निर्जर' शब्द में 'जरा' नहीं 'जर' है। आदेश जरा के स्थान पर ही होता है अतः यहां जरस् नहीं होना चाहिये। इस अड़चन को दूर करने के लिये अग्रिम-परिभाषा प्रवृत्त होती है—

[लघु०] एकदेशविकृतमनन्यवत् (प०)। इति जरशब्दस्य जरस्—निर्जरसौ। निर्जरसः। इत्यादि। पक्षे हलादौ च रामवत्॥

अर्थः—अवयव के विकृत हो जाने पर अवयवी अन्य के समान नहीं हो जाता।

व्याख्या—यह परिभाषा लोकन्याय पर आश्रित है अर्थात् जैसे लोक में किसी कुत्ते की पूंछ कट जाने पर वह अन्य नहीं हो जाता, कुत्ता ही रहता है, इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी यदि किसी शब्द में व्याकरणजन्य कुछ विकृति आ जाये तो वह वही शब्द रहता है अन्य शब्द नहीं हो जाता। तो इस प्रकार 'निर्जर' के अन्तर्गत 'जरा' के 'जर' हो जाने पर भी वह 'जरा' ही रहता है कुछ अन्य नहीं हो जाता। इस से 'जर' को भी जरस् आदेश हो जाता है।

'निर्जर+औ' यहां 'जर' को जरस् आदेश हो कर—निर्जरस्+औ='निर्जरसौ' रूप सिद्ध हो जाता है। पक्ष में रामशब्दवत् प्रक्रिया हो कर 'निर्जरौ' रूप बनता है। इसी प्रकार आगे भी अजादि विभक्तियों में समझ लेना चाहिये। 'निर्जर' शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	निर्जरः	निर्जरसौ, निर्जरौ	निर्जरसः, निर्जराः
द्वि०	निर्जरसम्, निर्जरम्	" "	निर्जरसः, निर्जरान्
तृ०	निर्जरसा, निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
च०	निर्जरसे, निर्जराय	"	निर्जरेभ्यः
पं०	निर्जरसः, निर्जरात्	"	"
ष०	निर्जरसः, निर्जरस्य	निर्जरसोः, निर्जरयोः	निर्जरसाम्, निर्जराणाम्
स०	निर्जरसि, निर्जरे	" "	निर्जरेषु
सं०	हे निर्जर!	हे निर्जरसौ!, निर्जरौ!	हे निर्जरसः!, निर्जराः!

इसी प्रकार जराशब्दान्त 'दुर्जर' प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

ध्यान रहे कि—इन, आत, स्य, य तथा नुँट् आदियों से जरस् आदेश पर है; अतः प्रथम जरस् आदेश प्रवृत्त हो कर तदनन्तर उन की बारी आयेगी। परन्तु जरस् हो चुकने पर अङ्ग के अदन्त या अजन्त न रहने से उन की प्रवृत्ति न होगी। यदि प्रथम 'इन' आदि आदेश हो जाते तो टा में 'निर्जरसिन', ङसिँ में 'निर्जरसात्' तथा ङस्, ङे और आम् में हलादि हो जाने से जरस् आदेश न हो—'निर्जरस्य', 'निर्जराय' और 'निर्जराणाम्' यह एक एक रूप बन कर अनिष्ट हो जाता।

प्रश्न—निर्जर शब्द से तृतीया का बहुवचन भिस् करने पर जब **अतो भिस ऐस्** (१४२) से भिस् को ऐस् हो जाता है तब जरस् आदेश क्यों नहीं होता ?

उत्तर—**सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य** [सन्निपातः=संयोगः, लक्षणम्=निमित्तं यस्य स सन्निपातलक्षणो विधिः। तम्=सन्निपातं विहन्तीति—तद्विघातः, कर्मण्युपपदे कर्त्तर्यण्। तस्य अनिमित्तम्भवति, कारणन्न भवतीत्यर्थः।] जिस के विद्यमान होने पर जो कार्य हुआ हो वह कार्य उस निमित्त के विघातक कार्य में निमित्त नहीं हुआ करता। तथा ह्यत्र—अदन्त अङ्ग निर्जर के होने से **अतो भिस ऐस्** (१४२) द्वारा भिस् के स्थान में ऐस् हुआ है। तो यह ऐस् आदेश, अदन्त अङ्ग को नष्ट करने वाले=जरस् आदेश का निमित्त नहीं होगा—अर्थात् इसे मान कर जरस् आदेश न हो सकेगा।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'रामाय' में **सुँपि च** (१४१) से दीर्घ आदेश भी न होना चाहिये। क्योंकि अदन्त अङ्ग को निमित्त मान कर उत्पन्न हुआ 'य' आदेश—अदन्तत्व के विघातक दीर्घ का निमित्त न हो सकेगा।

उत्तर—यह सत्य है; परन्तु पाणिनि के **कष्टाय क्रमणे** (७२८) और भाष्यकार के **धर्माय नियमः=धर्मनियमः** (पस्पशाह्निके) प्रभृति निर्देशों तथा सम्पूर्ण संस्कृतसाहित्य के अनुरोध से इस स्थल पर उपर्युक्त परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

[यहां अदन्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।]

अब आकारान्त पुंल्लिङ्ग 'विश्वपा' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विश्वपाः॥

व्याख्या—विश्वं पातीति विश्वपाः। विश्वकर्मोपपद **पा रक्षणे** (अदा०) धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्र से विँच् प्रत्यय हो उस का सर्वापहार लोप हो जाता है। संसार के रक्षक—परमात्मा को 'विश्वपा' कहते हैं। प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय आ कर 'विश्वपा+सुँ' हुआ। अब उकार की इत्सञ्ज्ञा और लोप होने पर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग हो कर 'विश्वपाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'विश्वपा+औ' यहां **वृद्धिरेचि** (३३) से वृद्धि प्राप्त होने पर उस का बाध कर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—**(१६२) दीर्घाज्जसि च।६।१।१०१॥**

दीर्घाज्जसि इचि च परे न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिः—विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः!। विश्वपाम्। विश्वपौ॥

अर्थः—दीर्घ से जस् वा इच् प्रत्याहार परे हो तो पूर्वसवर्णदीर्घ न हो।

व्याख्या—दीर्घात्।५।१। जसि।७।१। च इत्यव्ययपदम्। इचि।७।१। (नादिचि से)। पूर्वपरयोः।६।२। एकः।१।१। (एकः पूर्वपरयोः अधिकृत है)। पूर्वसवर्णः।१।१। (प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से)। दीर्घः।१।१। (अकः सवर्णे दीर्घः से)। न इत्यव्ययपदम्।

(नादिचि से)। अर्थ —(दीर्घात्) दीर्घ से (जसि) जस् (च) अथवा (इचि) इच् प्रत्याहार परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (पूर्वसवर्ण, दीर्घ., एक) पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश (न) नहीं होता।

'विश्वपा+औ' यहां पकारोत्तर आकार दीर्घ है। इस से परे औकार=इच् वर्त्तमान है। अतः पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो गया। तब वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'विश्वपौ' रूप सिद्ध हुआ।

प्रथमा के बहुवचन में—विश्वपा+जस्=विश्वपा+अस्। इस अवस्था में प्रकृतसूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है। तब अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर 'विश्वपाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रश्न—'विश्वपा+औ' में नादिचि (१२७) से भी पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो सकता है, तथा जस् में उस के हो जाने से भी कोई अनिष्ट नहीं होता, तो पुनः दीर्घाज्जसि च (१६२) सूत्र के बनाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यद्यपि इस सूत्र का फल यहां कुछ प्रतीत नहीं होता, तथापि 'पप्यौ, पप्यः' आदि में इस का फल स्पष्ट होगा। यहां न्यायवशात् इसे लिखा गया है।

द्वितीया में—विश्वपा+अम्। पूर्वसवर्णदीर्घ के बाधक अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप हो—'विश्वपाम्' प्रयोग बना। द्विवचन में 'विश्वपौ' प्रथमा के समान बनता है। बहुवचन में—विश्वपा+शस्=विश्वपा+अस्। यहां पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर अग्रिम कार्य होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—(१६३) सुडनपुंसकस्य।१।१।४२॥

स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसञ्ज्ञानि स्युरक्लीबस्य॥

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग के सुँ आदि पाञ्च प्रत्यय सर्वनामस्थान सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—सुँट्।१।१। अनपुंसकस्य।६।१। सर्वनामस्थानम्।१।१। (शि सर्वनामस्थानम् से)। समासः—न नपुंसकस्य=अनपुंसकस्य, नञ्समासः। पर्युदासप्रतिषेध। अर्थ—(अनपुंसकस्य) नपुंसक से भिन्न अन्य लिङ्ग का (सुँट्) सुँट् प्रत्याहार (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है।

स्वौजसमौट्० (११८) सूत्र के सुँ से लेकर औट् के टकार तक सुँट् प्रत्याहार बनता है। इस में 'सुँ, औ, जस्, अम्, औट्' इन पाञ्च प्रत्ययों का ग्रहण होता है। ये पाञ्च प्रत्यय पुंल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग से परे हों तो इन की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होती है। अब अग्रिमसूत्र में इस सञ्ज्ञा का उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१६४) स्वादिष्वसर्वनामस्थाने।१।४।१७॥

कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात्॥

अर्थः—सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों को छोड कर 'सुँ' से लेकर 'कप्' पर्यन्त प्रत्ययों के परे होने पर पूर्वशब्दस्वरूप पदसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—स्वादिषु ।७।३। असर्वनामस्थाने ।७।१। पदम् ।१।१। (**सुप्तिङन्तं पदम्** से)। समासः—सुँप्रत्यय आदिर्येषान्ते स्वादयः, तेषु=स्वादिषु, बहुव्रीहिसमासः। न सर्वनामस्थाने=असर्वनामस्थाने, नञ्समासः। 'असर्वनामस्थाने' यह 'स्वादिषु' का विशेषण है। इस मे एकवचन आर्ष समझना चाहिये। 'स्वादिषु' यह सप्तम्यन्त है। अतः **तस्मिन्निति०** (१६) इस परिभाषा से पूर्वशब्दसमुदाय ही पदसञ्ज्ञक होगा। **अर्थः**—(असर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान-भिन्न (स्वादिषु) सुँ आदि प्रत्ययो के परे होने पर पूर्वशब्दसमुदाय (पदम्) पदसञ्ज्ञक होता है।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम प्रत्यय 'सुँ' से लेकर पाञ्चवें अध्याय के अन्तिम प्रत्यय 'कप्' तक सब प्रत्यय 'स्वादि' कहलाते है। इस प्रकार चतुर्थ और पञ्चम अध्याय के सब प्रत्यय स्वादियो मे सगृहीत हो जाते है। इन स्वादि प्रत्ययो मे 'सुँ, औ, जस्, अम्, औट्' इन प्रत्ययो की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा है। इन सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक पाञ्च प्रत्ययों से भिन्न अन्य स्वादि प्रत्यय यदि परे हो तो उन से पूर्वशब्दसमुदाय पदसञ्ज्ञक होता है।

'विश्वपा+अस्' (शस्) यहां शस् प्रत्यय सर्वनामस्थान से भिन्न स्वादि है; अतः इस के परे होने से पूर्वशब्दसमुदाय 'विश्वपा' की पदसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१६५) यचि भम् ।१।४।१८॥

यकारादिषु अजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसञ्ज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययो को छोड़ कर 'सुँ' से लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त यकारादि और अजादि प्रत्यय परे होने पर पूर्वशब्दसमुदाय भसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—असर्वनामस्थाने ।७।१। स्वादिषु ।७।३। (**स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से)। यचि ।७।१। भम् ।१।१। समासः—य् च अच् च=यच्, तस्मिन्=यचि, समाहार-द्वन्द्वः। **समासान्तविधिरनित्यः** इति **द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे** (९८९) इति टच् न। **यस्मिन् विधिः०** परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'यकारादिषु अजादिषु' ऐसा बन जायेगा। यहा भी पूर्ववत् **तस्मिन्निति०** (१६) परिभाषा से पूर्वशब्दसमुदाय की ही भसञ्ज्ञा होगी। **अर्थः**—(असर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान से भिन्न (यचि) यकारादि या अजादि (स्वादिषु) स्वादि प्रत्यय परे हो तो (भम्) पूर्वशब्दसमुदाय भसञ्ज्ञक होता है।

'विश्वपा+अस्' (शस्) यहां 'अस्' प्रत्यय अजादि है अतः इस के परे होने से पूर्वशब्दसमुदाय 'विश्वपा' की भसञ्ज्ञा प्राप्त होती है।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या जैसे लोक मे एक व्यक्ति की दो सञ्ज्ञाएं देखी जाती है वैसे यहां भी शस् आदियो के परे होने पर पूर्व की पद और भ दोनो सञ्ज्ञाएं की जाये या कोई एक ? यदि एक की जाये तो कौन सी एक ? इस पर अग्रिमसूत्र निर्णय करता है—

[लघु०] अधिकार सूत्रम्—(१६६) आकडारादेका सञ्ज्ञा ।१।४।१॥

इत ऊर्ध्वं 'कडारा कर्मधारये' (२ २ ३८) इत्यत प्राग् एकस्यैकैव सञ्ज्ञा ज्ञेया, या पराऽनवकाशा च ॥

अर्थ —इस सूत्र स लेकर कडारा कर्मधारये(२ २ ३८)सूत्र तक एक की एक ही सञ्ज्ञा हो ।

व्याख्या—यह प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद का पहला सूत्र है । यह अधिकार-सूत्र है । इस का अधिकार दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के अन्तिमसूत्र कडारा कर्मधारये (२ २ ३८) तक जाता है । इस प्रकार इस के अधिकार मे तीन पाद होते हैं । आ इत्यव्ययपदम् । कडारात् ।५।१। एका ।१।१। सञ्ज्ञा ।१।१। अर्थ — (कडारात्) **कडाराः कर्मधारये** सूत्र (आ) तक (एका) एक (सञ्ज्ञा) सञ्ज्ञा हो।

कडारा कर्मधारये सूत्र तक यदि एक ही सञ्ज्ञा करेंगे तो शेष सब सञ्ज्ञाए जो मुनि ने उस सूत्र तक की है व्यथ हो जायेंगी, अत यहा एक की एक ही सञ्ज्ञा हो दो न हो' ऐसा मुनि का अभिप्राय समझना चाहिये ।

अब पुन सशय उठता है कि इस सूत्र से 'एक की एक सञ्ज्ञा हो दो न हो' यह तो निर्णीत हो गया, परन्तु कौन सी सञ्ज्ञा हो ? यह सन्देह वैसे का वैसा बना रहता है । इस का ग्रन्थकार समाधान करते है कि—

या पराऽनवकाशा च । अर्थात् जो सज्ञा पर या निरवकाश हो—वह हो । यदि दोनो सञ्ज्ञाए सावकाश (भिन्न भिन्न स्थाना पर प्रवृत्त हो चुकी) हो तो पर सञ्ज्ञा और यदि एक सावकाश और एक अनवकाश (जिसे प्रवृत्त होने के लिये कोई स्थान नही मिला) हो तो वह अनवकाश सञ्ज्ञा ही हो ।

ग्रन्थकार का ऐसा लिखना युक्त ही है । जहा दोनो सञ्ज्ञाए सावकाश होगी वहा विप्रतिषेध होने से **विप्रतिषेधे पर कार्यम्** (११३) द्वारा पर सञ्ज्ञा ही होनी चाहिये । जहा एक सावकाश और एक निरवकाश होगी वहा निरवकाश सञ्ज्ञा को ही स्थान देना युक्तिसगत है[1] । क्योकि यदि सावकाश सञ्ज्ञा वहा पर भी अनवकाश-सञ्ज्ञा को न होने दे तो उस अनवकाश सञ्ज्ञा का करना ही व्यर्थ हो जाये । अत. अनवकाश और सावकाश दोनों के एक साथ एक ही स्थान पर प्राप्त होने पर अन-वकाश सञ्ज्ञा ही होगी[2] ।

प्रकृत मे पद सञ्ज्ञा को भ्याम् आदि मे अवकाश=स्थान प्राप्त है, क्योकि वहा अजादि और यकारादि के न होने से भ सञ्ज्ञा प्राप्त नही हो सकती । परन्तु

---

१ लोक मे भी ऐसा देखा जाता है । यथा—यदि भूखे और तृप्त के मध्य अन्नदान का प्रश्न उपस्थित हो तो भूखे को ही अन्न देना उचित समझा जाता है, क्योकि वही अन्न का उचित अधिकारी होता है ।

२ दो अनवकाश सञ्ज्ञाओ की किसी एक रूप मे युगपत् प्राप्ति इस प्रकरण मे कही नही देखी जाती, अत उस की चर्चा नही की गई है ।

भ सञ्ज्ञा अनवकाश है अर्थात् इसे कोई स्थान नहीं मिलता; क्योंकि जब यह यकारादियों और अजादियों में प्रवृत्त होने लगती है तब पद सञ्ज्ञा भी उपस्थित हो जाती है। अतः यहां पूर्वकथितनियमानुसार अनवकाशसञ्ज्ञा का होना ही युक्त है। तो इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि—यकारादि और अजादि प्रत्यय परे होने पर भ सञ्ज्ञा तथा शेष हलादि प्रत्ययों के परे होने पर पद सञ्ज्ञा हो। हम बालकों के ज्ञान के लिये इसे और अधिक स्पष्ट करते हैं—

(१) 'सुँ, औ, जस्, अम्, औट्' इन पाञ्चों के परे रहते न तो पदसञ्ज्ञा होती है और न भसञ्ज्ञा। परन्तु ध्यान रहे कि पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग तक ही यह नियम सीमित है नपुंसकलिङ्ग में नहीं; क्योंकि इन की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा इन दो ही लिङ्गों में की गई है। नपुंसक में सुँ परे रहते 'पद' तथा औ, अम् परे रहते 'भ' सञ्ज्ञा होती है। जस् और शस् के स्थान पर नपुंसक में 'शि' आदेश हो जाया करता है; उस की शि सर्वनामस्थानम् (२३८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होती है, अतः उस के परे रहते न तो पदसञ्ज्ञा होती है और न भसञ्ज्ञा।

(२) शस्, टा, ङे, ङसिँ, ङस्, ओस् और ङि—इन के परे रहने पर पूर्व की भसञ्ज्ञा होती है; क्योंकि ये सर्वनामस्थान से भिन्न होते हुए अजादि स्वादि हैं। ध्यान रहे कि अनुबन्धों का लोप कर देने से शस् आदि प्रत्यय अजादि हो जाते हैं।

(३) यदि आम् विशुद्ध अर्थात् नुँट् आगम से रहित हो तो उस से पूर्व भ सञ्ज्ञा होती है। नुँट् आगम होने पर अजादि न होने से पदसञ्ज्ञा ही हो जाती है। यथा 'षण्णाम्' में पदसञ्ज्ञा हुई है।

(४) उपर्युक्त सुँप् प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य सुँप् प्रत्ययों (भ्याम्, भिस्, भ्यस्, नुँट् सहित आम्, सुप्) के परे रहते पूर्व की पदसञ्ज्ञा होती है।

यहां यह सुँबन्तप्रक्रियोपयोगी विवरण ही लिखा है। विद्यार्थियों को चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में स्थित अन्य प्रत्ययों के विषय में भी पूर्वोक्त आधार से व्यवस्था समझ लेनी चाहिये। पद और भसञ्ज्ञा का विषय व्याकरण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है अतः छात्रों को इस का पुनः पुनः अभ्यास करना आवश्यक है।

तो इस प्रकार 'विश्वपा+अस्' यहां भसञ्ज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१६७) आतो धातोः।६।४।१४०॥

आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः। अलोऽन्त्यस्य (२१)—विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्याम् इत्यादि॥

अर्थः—आकारान्त धातु जिस के अन्त में हो ऐसे भसंज्ञक अङ्ग का लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल्—आकार का ही लोप होगा।

व्याख्या—आतः।६।१। धातोः।६।१। भस्य।६।१। अङ्गस्य।६।१। (ये दोनों अधिकृत हैं)। लोपः।१।१। (अल्लोपोऽनः से)। 'आतः' यह 'धातोः' का तथा 'धातोः' यह 'भस्य' का विशेषण है, अतः विशेषणों से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(आतः)

आकारान्त (धातो) धातु जिस के अन्त में हो ऐसे (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (लोप) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यस्य (२१) परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल्—आकार का ही लोप होगा।

'विश्वपा+अस्' यहां आकारान्त धातु 'पा' है, तदन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग 'विश्वपा' है। इस के अन्त्य अल् आकार का लोप कर—विश्वप्+अस्=विश्वपस्। अब सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग करने से 'विश्वपः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'विश्वपा+आ' (टा) यहां भी अन्त्य आकार का लोप हो कर विश्वप्+आ='विश्वपा' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अजादि विभक्तियों में आकार का लोप होगा, हलादि विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होगा। विश्वपाशब्द की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः	प०	विश्वपः *	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
द्वि०	विश्वपाम्	,,	विश्वपः *	ष०	,, *	विश्वपोः *	विश्वपाम् *
तृ०	विश्वपा*	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः	स०	विश्वपि*	,, *	विश्वपासु
च०	विश्वपे*	,,	विश्वपाभ्यः	सं०	हे विश्वपाः !	हे विश्वपौ !	हे विश्वपाः !

* इन स्थानों पर भसञ्ज्ञक आकार का लोप होता है।

[लघु०] एवं शङ्खध्मादयः ॥

व्याख्या—शङ्खं धमतीति—शङ्खध्मा, शङ्ख बजाने वाला। 'शङ्खध्मा' आदि शब्दों के रूप भी 'विश्वपा' के समान होते हैं। आदि से—सोमपा, मधुपा, कीलालपा (जल पीने वाला) आदि शब्दों का ग्रहण जानना चाहिये।

[लघु०] धातोः किम् ? हाहान्। हाहै। हाहाः २। हाहौः २। हाहाम्। हाहे ॥

व्याख्या—आतो धातोः (१६७) में—धातु के आकार का लोप होता है—यह क्यों कहा गया है ? इसलिये कि 'हाहान्' आदि में 'हाहा' शब्द के आकार का लोप न हो जाये। तथाहि—'हाहा' शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। इस का अर्थ है—'गन्धर्व विशेष'। हाहा हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम् इत्यमरः। यह शब्द किसी धातु से निष्पन्न नहीं होता अतः शसादियों में भसञ्ज्ञा होने पर भी इस के आकार का लोप नहीं होता। 'हाहा' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	हाहाः	हाहौ	हाहाः	प०	हाहाः †	हाहाभ्याम्	हाहाभ्यः
द्वि०	हाहाम्	,,	हाहान्*	ष०	,, †	हाहौः ‡	हाहाम् †
तृ०	हाहा †	हाहाभ्याम्	हाहाभिः	स०	हाहे@	,, ‡	हाहासु
च०	हाहै ‡	,,	हाहाभ्यः	सं०	हे हाहाः !	हे हाहौ !	हे हाहाः !

सर्वनामस्थानप्रत्ययों में विश्वपावत् प्रक्रिया होती है।

* पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर शस् के सकार को नकार हो जाता है।

† इन सब स्थानों पर अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ प्रवृत्त होता है।

‡ इन स्थानों पर वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि एकादेश हो जाता है।

@ यहां आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश हो जाता है।

अभ्यास (२८)

(१) निम्नलिखित वचनों का सोदाहरण विवेचन करें—
१. या पराऽनवकाशा च । २. पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च । ३. निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति । ४. एकदेशविकृतमनन्यवत् । ५. सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ।

(२) (क) 'निर्जरैः' में जरस् आदेश क्यों नहीं होता ?
(ख) 'हाहाः' प्रयोग किस किस विभक्ति में बनता है ?
(ग) सर्वनाम और सर्वनामस्थान संज्ञाओं में भेद बताएं।
(घ) 'हाहान्' में आकारलोप क्यों नहीं हुआ ?
(ङ) सुंपों में अजादि प्रत्यय कितने और कौन कौन से हैं ?

(३) निम्नलिखित अधिकारों की अवधि बताएं—
१. पदाधिकार । २. अङ्गाधिकार । ३. एकसञ्ज्ञाधिकार । ४. प्रत्ययाधिकार । ५. एकादेशाधिकार ।

(४) सुंप् प्रत्ययों के परे रहते कहां भसंज्ञा और कहां पदसंज्ञा होती है ?

(५) दीर्घाज्जसि च के विना भी क्या 'विश्वपौ' आदि प्रयोग सिद्ध हो सकते हैं ? यदि हां ! तो सूत्र रचने की क्या आवश्यकता है ?

(६) निर्जर, हाहा और सोमपा शब्दों की रूपमाला लिखें ।

(७) 'विश्वपोः, निर्जरसः, हाहौः' प्रयोगों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखें।

[यहां आकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है]

— —::०::——

[लघु०] हरिः । हरी ॥

व्याख्या—अब ह्रस्व इकारान्त शब्दों की सुंबन्तप्रक्रिया का विवेचन प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम 'हरि' शब्द की प्रक्रिया दर्शाते हैं । कोषों में 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ लिखे हैं । यथा—

हरिर्विष्णावहाविन्द्रे भेके सिंहे हये रवौ ।
चन्द्रे कोले प्लवङ्गे च यमे वाते च कीर्तितः ॥

हरि शब्द के बारह अर्थ प्रसिद्ध हैं—(१) भगवान् विष्णु, (२) सांप, (३) इन्द्र, (४) मेंडक, (५) शेर, (६) घोडा, (७) सूर्य, (८) चन्द्र, (९) सूअर, (१०) वानर, (११) यमराज, (१२) वायु ।

प्रथमा के एकवचन में—हरि+सुं=हरि+स् । सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने से 'हरिः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

प्रथमा के द्विवचन में 'हरि+औ' इस अवस्था में **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ ईकार हो कर 'हरी' रूप बनता है ।

प्रथमा के बहुवचन में—हरि+अस्(जस्) । इस अवस्था में पूर्वसवर्णदीर्घ का बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

हरि+जस
हरि+अस

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१६८) जसि च ।७।३।१०६॥

ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः । हरयः ॥

अर्थः—जस् परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण आदेश हो जाता है।

व्याख्या—जसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । ह्रस्वस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । गुणः ।१।१। (ह्रस्वस्य गुणः से) । विशेषण होने से 'ह्रस्वस्य' से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(जसि) जस् परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्वान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुण अङ्ग के अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा।

'हरि+अस्' यहां ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' है। इस से परे जस् वर्तमान है। अतः प्रकृतसूत्र द्वारा अङ्ग के अन्त्य अल्—इकार के स्थान पर एकार गुण हो गया—'हरे+अस्' । यहां एकार पदान्त नहीं अतः एङः पदान्तादति (४३) का विषय नहीं। अब एचोऽयवायावः (२२) सूत्र से एकार को अय् आदेश हो कर रुँत्व विसर्ग करने से—'हरयः' प्रयोग सिद्ध होता है।

सम्बोधन के एकवचन में—'हे हरि+स्' । एकवचनं सम्बुद्धिः (१३२) से सम्बुद्धिसंज्ञा हो कर एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (१३४) से सकार का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१६९) ह्रस्वस्य गुणः ।७।३।१०८॥

सम्बुद्धौ । हे हरे ! । हरिम् । हरीन् ॥

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण आदेश हो जाता है।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। (सम्बुद्धौ च से) । ह्रस्वस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । गुणः ।१।१। 'ह्रस्वस्य' से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्वान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा यह गुण अङ्ग के अन्त्य अल् के स्थान पर होगा।

'हे हरि+स्' यहां सम्बुद्धि परे है, अतः ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' के अन्त्य इकार को एकार गुण हो जाता है। तब अङ्ग के एङन्त हो जाने से एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (१३४) सूत्र से सम्बुद्धि का लोप हो कर 'हे हरे !' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के एकवचन में 'हरि+अम्' इस अवस्था में अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप एकादेश हो कर 'हरिम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में प्रथमावत् 'हरी' रूप बनता है।

बहुवचन में 'हरि+अस्' (शस्) इस दशा में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ ईकार हो कर तस्माच्छसो नः पुंसि (१३७) से सकार को नकार करने पर 'हरीन्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां पदान्तस्य (१३८) से नकार को णकार का निषेध हो जाता है।

'हरि+आ(टा)' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१७०) **शेषो घ्यसखि** ।१।४।७॥

शेष इति स्पष्टार्थम् । अनदीसञ्ज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसञ्ज्ञम् ॥

अर्थः—जिन की नदीसंज्ञा नही ऐसे जो ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार, तदन्त शब्दों की घिसंज्ञा होती है परन्तु 'सखि' शब्द की नहीं होती ।

व्याख्या—शेषः ।१।१। ह्रस्वः ।१।१। (ङिति ह्रस्वश्च से)। यू ।१।२। (यूस्त्र्याख्यौ नदी से) । घि ।१।१। असखि ।१।१। समासः—इच्च उच्च यू, इतरेतरद्वन्द्वः । न सखि—असखि, नञ्तत्पुरुष । इस सूत्र से पूर्व विशेष विशेष अवस्थाओं में ह्रस्व की नदी संज्ञा की गई है, अतः जिस ह्रस्व की नदी संज्ञा नही की गई वह ह्रस्व यहां 'शेषः' पद से गृहीत किया गया है । 'शेषः ह्रस्वः' ये 'यू' के प्रत्येक के साथ अन्वित होते हैं । अर्थात् 'शेष ह्रस्व इकार, शेष ह्रस्व उकार' यह इन का अर्थ है । शब्दस्वरूपम् इस विशेष्य का ऊपर से अध्याहार कर लिया जाता है । 'शेषः ह्रस्वः यू' ये उस के विशेषण बना दिये जाते हैं । तब विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ—(शेषः) जिन की नदीसञ्ज्ञा नही ऐसे (ह्रस्वः) ह्रस्व (यू) इकार उकार जिन के अन्त में हैं वे शब्दस्वरूप (घि) घिसञ्ज्ञक होते हैं परन्तु (असखि) सखि शब्द नहीं होता ।

कहां कहां नदी सञ्ज्ञा नहीं होती ?

(१) पुल्लिङ्ग तथा नपुंसक में ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्त शब्द नदीसञ्ज्ञक नही होते । पुं० में यथा—हरि, अरि, भानु, गुरु आदि । नपुं० मे यथा—वारि, मधु आदि ।

(२) स्त्रीलिङ्ग मे ङित् विभक्तियों के परे रहते जिस पक्ष में ङिति ह्रस्वश्च (२२२) द्वारा नदीसञ्ज्ञा नहीं होती ।

इन दो स्थानों के अतिरिक्त अन्य सब स्थानों पर ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। अतः उपर्युक्त दो स्थान ही इस सूत्र के विषय हो सकते है ।

सूत्र में 'शेषः' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि नदी सञ्ज्ञा करने मे जो शेष ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द रहें उन की ही घिसञ्ज्ञा हो अन्यों की न हो । परन्तु यह प्रयोजन 'शेषः' ग्रहण के विना भी सिद्ध हो सकता है । क्योंकि घिसञ्ज्ञा सामान्य होने से उत्सर्ग और ङिति ह्रस्वश्च (२२२) द्वारा विहित नदीसञ्ज्ञा विशेष होने से अपवाद है । अपवाद के विषय को छोडकर ही उत्सर्ग प्रवृत्त हुआ करते हैं । इस से प्रथम नदीसञ्ज्ञा हो कर शेष अवशिष्टों की ही घिसञ्ज्ञा सुतरां प्राप्त हो जायेगी; इस के लिये 'शेषः' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । तथापि यहां मुनि ने बात को बिलकुल स्पष्ट करने के लिये 'शेषः' का ग्रहण कर दिया है । अर्थात् मुनि ने यह समझा कि कदाचित् मन्दमति लोग इस बात को न समझ सकें अतः 'शेषः' पद लिख कर स्पष्ट कर देना उचित है—**शेष इति स्पष्टार्थम्** ।

'हरि' शब्द की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती अतः प्रकृतसूत्र से इस की घि-सञ्ज्ञा हुई। अब घिसञ्ज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१७१) आङो नाऽस्त्रियाम् ।७।३।११९॥

घे परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। आङ् इति टासञ्ज्ञा। हरिणा। हरिभ्याम्। हरिभिः॥

अर्थः—घिसञ्ज्ञक से परे आङ् को ना आदेश हो, परन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं। 'आङ्' यह टा की (प्राचीन) सञ्ज्ञा है।

व्याख्या—घे ।५।१।(अच्च घेः से) । आङः ।६।१। ना ।१।१। (विभक्तिलोप आर्ष) । अस्त्रियाम् ।७।१। समासः—न स्त्रियाम्=अस्त्रियाम्, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग में (घेः) घिसञ्ज्ञक से परे (आङः) आङ् के स्थान पर (ना) ना आदेश होता है। पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य टा को 'आङ्' कहते चले आ रहे थे। पाणिनि ने भी यहां उसी प्राचीन सञ्ज्ञा का व्यवहार किया है।

'हरि+आ' यहां घिसञ्ज्ञक है 'हरि'। इस से परे टा को ना हो अट्कुप्वाङ्० (१३८) सूत्र से नकार को णकार करने पर 'हरिणा' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्विवचन में 'हरिभ्याम्' और बहुवचन में 'हरिभिः' सिद्ध होते हैं।

चतुर्थी के एकवचन में—हरि+ए (ङे)। यहां पूर्वोक्त घिसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१७२) घेर्ङिति ।७।३।१११॥

घिसञ्ज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः। हरये॥

अर्थः—ङित् सुप् परे रहते घिसञ्ज्ञक को गुण हो।

व्याख्या—घेः ।६।१। गुणः ।१।१। (ह्रस्वस्य गुणः से) । ङिति ।७।१। सुपि ।७।१। (सुपि च से)। अर्थः—(ङिति) ङित् (सुपि) सुप् परे होने पर (घेः) घिसञ्ज्ञक के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से गुण घिसञ्ज्ञक अङ्ग के अन्त्य वर्ण को ही होगा।

'हरि+ए' यहां घिसञ्ज्ञक 'हरि' है। इस से परे ङित् सुप् 'ए' है। अतः घि के अन्त्य वर्ण इकार के स्थान पर एकार गुण हो कर—'हरे+ए' बना। अब इस स्थिति में एचोऽयवायावः (२२) से रेफोत्तर एकार को अय् हो कर 'हरये' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्विवचन में 'हरिभ्याम्' और बहुवचन में 'हरिभ्यः' रूप बनते हैं।

पञ्चमी के एकवचन में 'हरि+अस्' (ङसि)। यहां घिसञ्ज्ञा हो कर घेर्ङिति (१७२) सूत्र से इकार को एकार गुण हुआ। तब 'हरे+अस्' इस स्थिति में पदान्त न होने से एङः पदान्तादति (४३) से पूर्वरूप नहीं हो सकता। एचोऽयवायावः (२२) से अय् आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१७३) ङसिँ-ङसोश्च ।६।१।१०६।।

एङो ङसिँ-ङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः । हरेः २ । हर्योः । हरीणाम् ।।

अर्थः—एङ् (ए, ओ) से ङसिँ या ङस् का अकार परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो ।

व्याख्या—एङः ।५।१। (एङः पदान्तादति से)। ङसिँ-ङसोः ।६।२। च इत्यव्यय-पदम् । अति ।७।१। (एङः पदान्तादति से) । पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्वपरयोः** यह अधिकृत है)। पूर्वः ।१।१। (**अमि पूर्वः** से)। अर्थः—(एङः) एङ् प्रत्याहार से (ङसिँ-ङसोः) ङसिँ अथवा ङस् का (अति) अत् परे हो तो (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्व वर्ण आदेश होता है ।

'हरे+अस्' यहां एकार एङ् से ङसिँ का अकार परे है, अतः पूर्व+पर के स्थान पर एकार पूर्वरूप हो कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'हरेः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

ओकार का उदाहरण 'भानोः' आगे आयेगा ।

षष्ठी के एकवचन में पूर्ववत् 'हरेः' रूप बनता है ।

द्विवचन में 'हरि+ओस्' इस दशा में **इको यणचि** (१५) से यण् हो कर सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर 'हर्योः' रूप बनता है ।

बहुवचन में 'हरि+आम्' । यहां ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' है अतः **ह्रस्वनद्यापो नुँट्** (१४८) से आम् को नुँट् का आगम हो अनुबन्धलोप और **नामि** (१४९) से दीर्घ करने पर 'हरी+नाम्' । अब **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) सूत्र से नकार को णकार करने से—'हरीणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

सप्तमी के एकवचन में—हरि+इ (ङि) । यहां घिसञ्ज्ञा हो कर **घेर्ङिति** (१७२) से गुण प्राप्त होता है । इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१७४) अच्च घेः ।७।३।११८।।

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्, घेरच्च । हरौ । हर्योः । हरिषु । एवं कव्यादयः ।।

अर्थः—ह्रस्व इकार तथा ह्रस्व उकार से परे ङि को औत् और घि को अत् आदेश हो ।

व्याख्या—इदुद्भ्याम् ।५।२। (**इदुद्भ्याम्** से)। ङेः ।६।१। (**ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से)। औत् ।१।१। (**औत्** से)। घेः ।६।१। अत् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार तथा ह्रस्व उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (औत्) औ आदेश हो (च) तथा (घेः) घिसञ्ज्ञक के स्थान पर (अत्) ह्रस्व अकार आदेश हो । अलोन्त्यपरिभाषा से यह अत् आदेश घि के अन्त्य अल् को ही होगा ।

'हरि+इ' यहां इस सूत्र से ङि (इ) को 'औ' और घिसञ्ज्ञक 'हरि' शब्द के इकार के स्थान पर अकार आदेश हुआ । तब 'हर+औ' इस दशा में **वृद्धिरेचि** (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'हरौ' रूप सिद्ध हुआ ।

द्विवचन में पूर्ववत् 'हर्यो' रूप सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में आदेशप्रत्यययोः (१५०) से प्रत्यय के अवयव सकार को षकार हो 'हरिषु' प्रयोग सिद्ध होता है। हरिशब्द की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	हरि	हरी	हरय	प०	हरे	हरिभ्याम्	हरिभ्य
द्वि०	हरिम्	„	हरीन्	ष०	„	हर्यो	हरीणाम्
तृ०	हरिणा	हरिभ्याम	हरिभि	स०	हरौ	„	हरिषु
च०	हरये		हरिभ्य	स०	हे हरे!	हे हरी!	हे हरय!

इसी प्रकार 'कवि' आदि ह्रस्व इकारान्त पुलिङ्ग शब्दों की प्रक्रिया होती है। बालकोपयोगी कुछ शब्दों का संग्रह यथा—

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
अग्नि = आग	कुक्षि* — पेट	पयोधि = समुद्र
अङ्घ्रि* = चरण	कृपीटयोनि = अग्नि	पयोराशि = समुद्र
अञ्जलि = जुड़े हुए हाथ	कृमि* = कीडा	परिधि = घेरा
अतिथि = मेहमान	गिरि* = पहाड	पवि = वज्र
अद्रि* = पहाड	ग्रन्थि = गाँठ	पशुपति = शिव
अराति = शत्रु	चक्रपाणि = विष्णु	पाणि = हाथ
अरि* = शत्रु	चरणग्रन्थि = गिट्टा	पाणिनि = प्रसिद्ध मुनि
अलि = भ्रमर	चूडामणि = शिरोरत्न	प्रजापति = ब्रह्मा
अवधि = सीमा	जठराग्नि = पेट की अग्नि	प्रणिधि = दूत
असि = तलवार	जलधि = समुद्र	प्रतिनिधि = नुमाइन्दा
अहि = साप	ज्ञाति = रिश्तेदार	बालधि = पूछ
आधि = मानसिक पीडा	तरणि = सूर्य	बृहस्पति = देवगुरु
इषुधि = तरकस	दिनमणि = सूर्य	भर्तृहरि* = प्रसिद्ध राजा
उडुपति = चन्द्र	दिवाकीर्ति = नापित	भागुरि* = एक मुनि
उदधि = समुद्र	दुन्दुभि = नगारा	भारवि* = एक कवि
उपधि = छल	दुर्मति = दुष्ट-बुद्धि	भूपति = राजा
उपाधि = उपाधि	धन्वन्तरि* = प्रसिद्ध वैद्य	मणि = मणि
उषापति — सूर्य	धूर्जटि = शिव	मरीचि = किरण
ऊर्मि* = लहर	ध्वनि = आवाज	मातलि = इन्द्र का सारथी
ऋषि* = मन्त्रद्रष्टा	नमुचि = एक दैत्य	मारुति = हनुमान्
कपि = वानर	निधि = खजाना	मुनि = मुनि
कलानिधि = चन्द्र	निशापति = चन्द्र	मृगपति = शेर
कलि = झगडा	नृपति = राजा	मौलि = सिर
कवि = कविताकार	पत्ति = पैदल सेना	यति = सन्यासी

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
ययाति = प्रसिद्ध राजा	वाल्मीकि = प्रसिद्ध मुनि	सभापति = सभा का प्रधान
रमापति = विष्णु	विधि = दैव	समाधि = समाधि
रवि* = सूर्य	व्याधि = शारीरिक रोग	सारथि = रथ-वाहक
रश्मि = किरण	व्रीहि* - चावल	सुगन्धि = सुगन्धयुक्त
राशि = ढेर	शकुनि = पक्षी	सुमति = श्रेष्ठ बुद्धि वाला
वकवृत्ति = स्वार्थी	शीतरश्मि = चन्द्र	सुरभि* = वसन्त
वह्नि = आग	सनाभि = जात भाई	सूरि* = विद्वान्
वाक्पति = वृहस्पति	सन्धि = मेल	सेनापति = सेना-नायक
वारिधि = सागर	सप्तसप्ति = सूर्य	हिमगिरि* = हिमालय
वारिराशि = समुद्र	सप्ति = घोड़ा	

हरि शब्द की अपेक्षा सखि, पति, कति, त्रि और द्वि शब्दों में कुछ अन्तर पडता है; अतः अव इन का क्रमशः वर्णन किया जाता है । प्रथम सखि (मित्र) शब्द यथा—

शेषो घ्यसखि (१७०) सूत्र में 'असखि' कहने मे 'सखि' शब्द की घिसञ्ज्ञा नहीं होती । प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर इस से स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं । प्रथमा के एकवचन में —सखि + सुँ = सखि + स् । इस अवस्था मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् — **(१७५) अनँङ् सौ ।७।१।९३।।**

सख्युरङ्गस्यानँङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ ।।

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सुँ परे हो तो अङ्गसञ्ज्ञक सखि शब्द के स्थान पर अनँङ् आदेश हो ।

व्याख्या— सख्युः ।६।१। (**सख्युरसम्बुद्धौ** से) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । अनँङ् ।१।१। असम्बुद्धौ ।७।१। (**सख्युरसम्बुद्धौ** मे) । सौ ।७।१। यहां 'सौ' से प्रथमा के एकवचन का ग्रहण होता है सप्तमी के वहुवचन का नहीं; क्योंकि सप्तमी का वहुवचन मानने मे 'असम्बुद्धौ' निषेध व्यर्थ हो जाता है । अर्थः —(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (सख्युः) सखि शब्द के स्थान पर (अनँङ्) अनँङ् आदेश हो ।

अनँङ् मे ङकार इत् है । नकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है । ङित् होने के कारण **ङिच्च** (४६) द्वारा यह अनँङ् आदेश सखि शब्द के अन्त्य अल् = इकार के स्थान पर होगा ।

'सखि + स्' यहां सुँ परे है; अतः इकार को अनँङ् आदेश हो अँङ् के चले जाने पर—सख् अन् + स् = 'सखन् + स्' हुआ । इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१७६) अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ।१।१।६४॥

अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधा-सञ्ज्ञः ॥

अर्थः—अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—अन्त्यात् ।५।१। अलः ।५।१। पूर्वः ।१।१। उपधा ।१।१। अर्थः—(अन्त्यात्) अन्त्य (अलः) अल् से (पूर्वः) पूर्व वर्ण (उपधा) उपधासञ्ज्ञक हो।

अल् प्रत्याहार में सब वर्ण आ जाते हैं, अतः अल् और वर्ण पर्यायवाची हैं। समुदाय के अन्तिम वर्ण से पूर्व वर्ण की उपधा सञ्ज्ञा होती है। यथा—पठ्, पच्, पत्, अत् इत्यादि में अन्त्य वर्ण से पूर्व अकार उपधासञ्ज्ञक है। बुध्, शुष्, रुध् इत्यादि में अन्तिम वर्ण से पूर्व उकार उपधासञ्ज्ञक है। वृत्, वृध् इत्यादि में अन्त्य वर्ण से पूर्व ऋकार उपधासञ्ज्ञक है।

'सखन्+स्' यहां अङ्ग में अन्त्य अल् नकार है इस से पूर्व वर्ण खकारोत्तर अकार है, इस की उपधासञ्ज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१७७) सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ ।६।४।८॥

नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने ॥

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—न ।६।१। (नोपधायाः से। यहां सुपां सुलुक्० सूत्र द्वारा षष्ठी का लुक् हुआ है। अङ्गस्य का विशेषण होने से इस से तदन्तविधि हो 'नान्तस्य' बन जाता है)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। उपधायाः ।६।१। (नोपधायाः से)। दीर्घः ।१।१। (ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः से)। असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। समासः—न सम्बुद्धौ=असम्बुद्धौ नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (न) नान्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है। सर्वनामस्थानसंज्ञा का निरूपण पीछे (१६३) सूत्र पर कर चुके हैं।

'सखन्+स्' यहां नान्त अङ्ग 'सखन्' है, इस से परे सर्वनामस्थान है 'स्'। यह सम्बुद्धिभिन्न भी है। अतः प्रकृतसूत्र से नान्त अङ्ग की उपधा अकार को दीर्घ हो—'सखान्+स्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१७८) अपृक्त एकाल् प्रत्ययः ।१।२।४१॥

एकाल् प्रत्ययो यः, सोऽपृक्तसञ्ज्ञः स्यात् ॥

अर्थः—एक अल् रूप प्रत्यय अपृक्तसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—अपृक्तः ।१।१। एकाल् ।१।१। प्रत्ययः ।१।१। समासः—एकश्चासावल्=एकाल्, कर्मधारयसमासः। एकशब्दोऽत्र असहायवाची। अर्थः—(एकाल्) एक अल् रूप (प्रत्ययः) प्रत्यय (अपृक्तः) अपृक्तसञ्ज्ञक हो। भाव—जो प्रत्यय केवल एक अल् रूप हो या एक अल् रूप हो गया हो, उस की अपृक्तसञ्ज्ञा होती है।

'सखान्+स्' यहां 'स' यह एक अल् रूप प्रत्यय है, अतः प्रकृत सूत्र से इस की अपृक्तसञ्ज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र से इस का लोप करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१७९) हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल् ।६।१।६६॥

हलन्तात् परम्, दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परम्, 'सुँ-ति-सि' इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते ॥

अर्थः—हलन्त अङ्ग से अथवा दीर्घ 'ङी' या 'आप्' जिस के अन्त में हो उस अङ्ग से परे 'सुँ, ति, सि' प्रत्ययों के अपृक्त हल् का लोप होता है।

व्याख्या—हल्ङ्याब्भ्यः ।५।३। दीर्घात् ।५।१। सुँ-ति-सि ।१।१। अपृक्तम् ।१।१। हल् ।१।१। लोपः ।१।१। (**लोपो व्योर्वलि** से)। समासः—हल् च ङी च आप् च = हल्ङ्यापः, तेभ्यः = हल्ङ्याब्भ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां 'शब्दस्वरूपम्' अथवा 'अङ्गम्' का अध्याहार कर उस के ये हलादि विशेषण बना दिये जाते हैं। इस से तदन्तविधि हो कर 'हलन्तात् ङ्यन्ताद् आबन्तात्' ऐसा बन जाता है। सूत्रस्थ 'दीर्घात्' पद 'ङी' और 'आप्' के साथ ही सम्बद्ध हो सकता है, 'हल्' के साथ नहीं; क्योंकि हल् दीर्घ नहीं हुआ करता। तो अब 'हलन्तात् दीर्घङ्यन्तात् दीर्घाबन्तात्' ऐसा हो जायेगा। 'हल्ङ्याब्भ्यः' में पञ्चमी विभक्ति दिग्योग में हुई है, अतः **तस्मादित्युत्तरस्य** (७१) की सहायता से 'परम्' का अध्याहार कर लेंगे। सुँश्च तिश्च सिश्च = सुँ-ति-सि, समाहारद्वन्द्वः। 'सुँतिसि अपृक्तं हल्' इस का अर्थ है —'सुँ, ति, सि जो अपृक्त हल्'। यहां सन्देह होता है कि अपृक्तसञ्ज्ञा तो एक अल् रूप प्रत्यय की ही की जाती है पुनः 'सुँ, ति, सि' ये कैसे हल् और अपृक्त बन सकते हैं। इस का समाधान यह है कि जब 'सुँ, ति, सि' के उकार तथा इकार का लोप हो जाता है तब अवशिष्ट 'स्, त्, स्' को ही 'सुँ, ति, सि' समझ लेना चाहिये; क्योंकि वे उन से ही शेष बचे हैं। इस प्रकार वे अपृक्त भी होंगे और हल् भी होंगे। कई लोग —'सुँतिसेरपृक्तम् = सुँतिस्यपृक्तम्' ऐसा षष्ठीतत्पुरुषसमास मान कर 'सुँ, ति सि के अपृक्त हल् का लोप हो' इस प्रकार अर्थ किया करते हैं। यह अर्थ भी शुद्ध तथा स्पष्ट है। 'लोपः' यहां कर्म में 'घञ्' प्रत्यय हुआ है—लुप्यत इति लोपः। जो लुप्त किया जाये उसे 'लोप' कहते हैं। यह 'हल्' पद का विशेषण है। अर्थः—(हल्ङ्याब्भ्यः दीर्घात्) हलन्त से परे तथा दीर्घ ङी और आप् जिस के अन्त में है उस से परे (सुँतिसि) सुँ, ति, सि ये (अपृक्तम्) अपृक्त-सञ्ज्ञक (हल्) हल् (लोपः) लुप्त हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

हलन्त से परे—'राजान्+स्' (सुँ) यहां नकार हल् से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है। 'अहन्+त्' [**इतश्च** (४२४) इति तिप इकारलोपः] यहां नकार हल् से परे अपृक्त ति का लोप हो जाता है। 'अहन्+स्' [**इतश्च** (४२४) इति सिप इकारलोपः] यहां हल् से परे अपृक्त सि का लोप हो जाता है।

दीर्घ ङी[1] से परे—'कुमारी+स्' (सुँ) यहां दीर्घ ङी (ङीप्) से परे अपृक्त

---

१. भेदक अनुबन्धों से रहित होने के कारण 'ङी' से ङीप्, ङीष्, ङीन् का तथा 'आप्'

सुँ का लोप हो जाता है। दीर्घ ङी से परे ति और सि का आना असम्भव है।

दीर्घ आप् से परे—'बाला+स्'(सुँ) यहां दीर्घ आप्(टाप्) से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है। दीर्घ आप् से परे भी ति और सि नहीं आया करते।

यद्यपि ङी और आप् स्वतः ही दीर्घ हुआ करते हैं, इन के लिये पुनः दीर्घ का कथन व्यर्थ सा प्रतीत होता है, तथापि समास में इन के ह्रस्व हो जाने पर उन से परे लोप न हो जाये—इसलिये सूत्र में दीर्घ का ग्रहण किया है। यथा—निष्कौशाम्बि [निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः' इति विग्रहः, निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या(वा० ५९) इति वार्तिकेन समासः, गोस्त्रियो० (९५२) इत्युपसर्जनह्रस्वः]। यहां ङी के ह्रस्व हो जाने से उस से परे सुँ का लोप नहीं होता। एवम्—अतिखट्वः, अतिमालः आदि में भी ह्रस्व आप् से परे सुँलोपाभाव समझ लेना चाहिये।

शङ्का—हलन्त से परे हल् के लोप की कुछ आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहां संयोगान्तस्य लोपः (२०) से भी लोप सिद्ध हो सकता है।

समाधान—संयोगान्तलोप करने से निम्नलिखित दोष प्राप्त होते हैं। तथाहि—

(१) 'राजान्+स्' यहां संयोगान्तलोप करने पर उस के असिद्ध होने से न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) द्वारा नकार का लोप न हो सकेगा।

(२) 'उखास्रस्+स्, पर्णध्वस्+स्' यहां संयोगान्तलोप के अपवाद स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (३०९) द्वारा संयोग के आदि प्रकृतिसकार के लोप हो जाने पर अवशिष्ट प्रत्ययसकार के वस्वादि का अवयव न होने से वसुँस्रंसुँ० (२६२) सूत्र से दत्व न हो सकेगा।

(३) भिदिँर् विदारणे (रुधा०) धातु के लँङ् लकार के मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप्, श्नम्, और दश्च (५७३) सूत्र से दकार को रुँ आदेश करने पर 'अभिनर्+स्' हुआ। अब यदि यहां संयोगान्तलोप करते हैं तो 'अभिनर्+अत्र' यहां अतो रोरप्लुतादप्लुते (१०६) सूत्र से उत्व नहीं हो सकता, क्योंकि सकारलोप के असिद्ध होने से उस का व्यवधान पड़ता है। इस से 'अभिनोऽत्र' सिद्ध नहीं होता।

(४) 'अबिभर्+त्' (इतश्चेति तिप इकारलोपः)। यहां संयोगान्तलोप से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि रात्सस्य (२०९) सूत्र द्वारा रेफ से परे सकार के लोप का ही नियम है।

अतः हल् से परे भी हल् का लोप अवश्य विधान करना चाहिये—यह यहां सुतरां सिद्ध होता है। इस विषय पर एक प्राचीन श्लोक प्रसिद्ध है—

संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिध्यति।
रात्तु तेनैव लोपः स्याद् हलस्तस्माद्विधीयते॥ (काशिका)

'सखान्+स्' यहां नकार हल् से परे अपृक्त सुँ का लोप हो कर 'सखान्' बना। अब अग्रिमसूत्र से नकार का लोप करते हैं—

से टाप्, डाप्, चाप् का ग्रहण होता है। इन प्रत्ययों का विवेचन स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण में देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१८०) **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** ।८।२।७॥

प्रातिपदिकसञ्ज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः स्यात् । सखा ॥

अर्थः—प्रातिपदिकसञ्ज्ञक जो पद उस के अन्त्य नकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—प्रातिपदिक ।६।१। (यहां **सुँपां सुँलुक्०** सूत्र से षष्ठी का लुक् हुआ है)। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अन्तस्य ।६।१। न ।६।१। (यहां भी षष्ठी का लुक् हुआ है)। लोपः ।१।१। अर्थः—(प्रातिपदिक) प्रातिपदिकसञ्ज्ञक (पदस्य) पद के अवयव (अन्तस्य) अन्त्य (नः) न् का (लोपः) लोप हो जाता है।[1]

यदि सूत्र में 'प्रातिपदिक' का ग्रहण न करते केवल 'पद' का ही ग्रहण करते तो 'अहन्' (हन् धातु के लँङ् में प्रथम वा मध्यमपुरुष का एकवचनान्त प्रयोग) यहां भी नकार का लोप हो जाता; क्योंकि यहां पदसंज्ञा अक्षुण्ण है। इसी प्रकार यदि 'पद' का ग्रहण न करते केवल 'प्रातिपदिक' का ही ग्रहण करते तो 'राजान्+औ=राजानौ' यहां भी नकार का लोप हो जाता; क्योंकि प्रातिपदिकसंज्ञा तो यहां भी है। अतः दोनों का ग्रहण किया गया है।

'सखान्' यह प्रातिपदिकसंज्ञक पद है। यद्यपि प्रातिपदिकसंज्ञा 'सखि' शब्द की ही थी तो भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** से यहां भी प्रातिपदिकसंज्ञा विद्यमान है। इसी प्रकार सुँ—सुँप् का लोप होने पर भी आगे आने वाले **प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम्** (१९०) सूत्र की सहायता से सुँबन्त हो जाने के कारण **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) द्वारा पदसंज्ञा हो जाती है। तो प्रकृत-सूत्र से इस के नकार का लोप हो—'सखा' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सखि+औ' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ का बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(१८१) **सख्युरसम्बुद्धौ** ।७।१।९२॥

सख्युरङ्गात् परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत् स्यात् ॥

अर्थः—अङ्गसंज्ञक सखि शब्द से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान णिद्वत्—णित् के समान हो, अर्थात् णित् के परे होने पर जो कार्य होते हैं उस के परे होने पर भी वे कार्य हों।

व्याख्या—अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य यह अधिकृत है। यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है)। सख्युः ५।१। असम्बुद्धौ ।७।१। (यह प्रथमान्त हो जायेगा)। सर्व-

---

१. इस सूत्र में 'नस्य लोपः—नलोपः' ऐसा षष्ठीतत्पुरुषसमास नहीं समझना चाहिये। क्योंकि 'नस्य' का सम्बन्ध 'अन्तस्य' के साथ है जो समासावस्था में घटित नहीं हो सकता। अतएव 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' के स्थान पर 'ऋद्धस्य राजपुरुषः' प्रयुक्त नहीं होता। इसी प्रकार 'प्रातिपदिकान्तस्य' में भी 'प्रातिपदिक' को पृथक् पद समझना चाहिये। षष्ठीसमास मानने पर उस का 'पदस्य' के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा।

नामस्थानम् ।१।१। (इतोऽत् सर्वनामस्थाने से)। णित् ।१।१। (गोतो णित् से)। समास —न सम्बुद्धि =असम्बुद्धि, नञ्तत्पुरुष । अर्थ —(अङ्गात्) अङ्गसञ्ज्ञक (सख्यु) सखिशब्द से परे (असम्बुद्धि) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान (णित्) णित् हो।

यह अतिदेश-सूत्र है। अतिदेशसूत्रों का यह काम होता है कि जो, जो नहीं उसे वह बना देते हैं। यथा सिंहो माणवकः (बालक शेर है)। बालक शेर नहीं होता, परन्तु उसे शेर कह दिया जाता है। इस का तात्पर्य अन्ततोगत्वा सादृश्य में समाप्त होता है—बालक शेर के समान (शूर) है। यहां सर्वनामस्थान को णित् कहा गया है, परन्तु उस में न तो ण् है और न ही उस की इत्सञ्ज्ञा होती है। तो यहां 'णित्' अतिदेश का तात्पर्य 'णिद्वत्' से होगा। अर्थात् णित् के परे रहने पर जो कार्य होते हैं, उस के परे रहने पर भी होंगे।

'सखि+औ' यहां अङ्गसञ्ज्ञक सखि से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'औ' है। यह णित्=णिद्वत् हुआ। अब अग्रिमसूत्र में इस का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१८२) अचो ञ्णिति ।७।२।११५॥

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः, ञिति णिति च परे। सखायौ, सखायः। हे सखे !। सखायम्, सखायौ, सखीन्। सख्या। सख्ये॥

अर्थः—ञित् अथवा णित् परे रहते अजन्त अङ्ग के स्थान पर वृद्धि हो।

व्याख्या—अचः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। ञ्णिति ।७।१। वृद्धिः ।१।१। (मृजेर्वृद्धिः से)। समास —ञ् च ण् च ञ्णौ, ताविती यस्य तत् ञ्णित्, तस्मिन्=ञ्णिति, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमास। अर्थ—(ञ्णिति) ञित् अथवा णित् परे रहते (अचः) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो। अलोऽन्त्य-परिभाषा से अन्त्य अल् के स्थान पर वृद्धि होगी।

'सखि+औ' यहां 'औ' णित् परे है, अतः सखि के अन्त्य अल्=इकार को ऐकार वृद्धि हो—'सखै+औ' हुआ। अब एचोऽयवायावः (२२) से ऐकार को आय् आदेश हो कर 'सखायौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सखि+अस्' (जस्) यहां भी पूर्ववत् णिद्वद्भाव, वृद्धि और आय् आदेश हो कर सकार को रुत्व विसर्ग करने पर 'सखायः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'हे सखि+स्' यहां सम्बुद्धि में हरिशब्द के समान ह्रस्वस्य गुणः (१६६) से इकार को एकार गुण हो एङन्त हो जाने से एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (१३४) सूत्र द्वारा सम्बुद्धि के हल् का लोप करने पर 'हे सखे' सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि (१८१) सूत्र में 'असम्बुद्धौ' कथन के कारण यहां सम्बुद्धि में णिद्वद्भाव नहीं होता।

'सखि+अम्' यहां भी पूर्ववत् सर्वनामस्थान को णिद्वद्भाव, उस के परे रहते वृद्धि तथा ऐकार को आय् आदेश हो कर—'सखायम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में 'सखायौ' प्रथमावत् बनता है।

बहुवचन में 'सखि+अस्' (शस्) इस दशा में पूर्वसवर्णदीर्घ होकर **तस्माच्छसो नः पुंसि** (१३७) द्वारा सकार को नकार करने पर—'सखीन्' प्रयोग सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि शस् के सर्वनामस्थान न होने से णिद्वद्भाव नहीं होगा।

तृतीया के एकवचन में 'सखि+आ' (टा) इस स्थिति में **इको यणचि** (१५) से यण् आदेश हो—'सख्या' प्रयोग सिद्ध होता है। स्मरण रहे कि सखि की घिसञ्ज्ञा न होने से **आङो नाऽस्त्रियाम्** (१७१) द्वारा 'टा' को 'ना' नहीं होता।

तृतीया के द्विवचन में 'सखिभ्याम्'। बहुवचन में 'सखिभिः'।

'सखि+ए' (ङे) यहां घिसञ्ज्ञा के न होने से **घेर्ङिति** (१७२) द्वारा गुण नहीं होता। **इको यणचि** (१५) से यण् हो कर 'सख्ये' प्रयोग बनता है।

'सखि+अस्' (ङसि) यहां **इको यणचि** (१५) से इकार को यकार हो—'सख्य्+अस्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१८३) ख्यत्यात्परस्य ।६।१।१०८॥

'खि-ति'शब्दाभ्यां 'खी-ती'शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिँ-ङसोरत उः। सख्युः २॥

अर्थः—जिन के स्थान पर यण् किया गया हो ऐसे खिशब्द, तिशब्द, खीशब्द अथवा तीशब्द से परे ङसिँ और ङस् के अकार को उकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—ख्यत्यात् ।५।१। परस्य ।६।१। ङसिँ-ङसोः ।६।२। (**ङसिँ-ङसोश्च** से)। अतः ।६।१। (**एङः पदान्तादति** से, विभक्तिविपरिणाम कर के)। उत् ।१।१। (**ऋत उत्** से)। समासः—ख्यञ्च त्यञ्च=ख्यत्यम्, तस्मात्=ख्यत्यात्, समाहार-द्वन्द्वः। यकारादकार उच्चारणार्थः[1]। 'खि' या 'खी' शब्द के इवर्ण को यण् करने से ख्य् और 'ति' या 'ती' शब्द के इवर्ण को यण् करने ये त्य् रूप बनता है। उसी का यहां ग्रहण करना चाहिये। 'ख्यत्यात्' यह पञ्चम्यन्त है; अतः **तस्मादित्युत्तरस्य** (७१) सूत्र से स्वयं ही ख्य् और त्य् से परे कार्य होना था, पुनः मुनि का 'परस्य' ग्रहण करना **एकः पूर्वपरयोः** (६.१.८१) अधिकार की निवृत्ति के लिये है। अर्थः—(ख्यत्यात्) यणादेश किये हुए खि, खी और ति, ती शब्दों से (परस्य) परे (ङसिँ-ङसोः) ङसिँ और ङस् के (अतः) अकार के स्थान पर (उत्) उकार आदेश होता है।

'सख्य्+अस्' यहां यणादेश किया हुआ 'खि' शब्द है; अतः इस से परे ङसिँ के अकार को उकार हो—'सख्य्+उस्' बना। अब सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'सख्युः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्विवचन में चतुर्थी के समान 'सखिभ्याम्'। बहुवचन में 'सखिभ्यः'।

---

१ ध्यान रहे कि यदि यहां अकार को उच्चारणार्थ न मान 'ख्य' और 'त्य' शब्दों का ग्रहण कर 'सङ्ख्य' 'अपत्य' आदि शब्दों में इस की प्रवृत्ति मानेंगे तो **सख्युर्यः** (११५७) **पत्युर्नो यज्ञसंयोगे** (४.१.३३), **आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति** (६.४.१५१) इत्यादि निर्देश विपरीत पड़ेंगे।

षष्ठी के एकवचन (ङस्) में 'सख्यु' बनता है।

'सखि+ओस्' यहां यण् हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'सख्योः' बना।

'सखि+आम्' इस स्थिति में ह्रस्वान्त अङ्ग को नुँट् का आगम हो अनुबन्ध-लोप कर नामि (१४६) से दीर्घ करने पर 'सखीनाम्' रूप बनता है।

'सखि+इ'(ङि) यहां घिसञ्ज्ञा न होने से अच्च घेः (१७४) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। तब सवर्ण दीर्घ प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१८४) औत् ।७।३।११८॥

इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्। सख्यौ। शेषं हरिवत् ॥

अर्थः—ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से परे 'ङि' को 'औ' हो जाता है।

व्याख्या—इदुद्भ्याम् ।५।२। (इदुद्भ्याम् से)। ङेः ।६।१। (ङेराम्नद्याम्नीभ्यः से)। औत् ।१।१। अर्थः—(इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार तथा ह्रस्व उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (औत्) औकार[1] आदेश होता है।

यह उत्सर्ग-सूत्र (सामान्य-सूत्र) है। अच्च घेः (१७४) इस का अपवाद है। अतः उस के विषय में इस की प्रवृत्ति नहीं होती। उकार का उदाहरण नहीं मिलता, उस का यहां ग्रहण अच्च घेः (१७४) आदि अग्रिम-सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये है।

'सखि+इ' यहां प्रकृत-सूत्र से इकार को औकार आदेश हो इको यणचि (१५) से यण् करने पर 'सख्यौ' रूप बनता है।

द्विवचन में 'सख्योः' षष्ठी के द्विवचन के समान बनता है।

बहुवचन में सखि+सु=सखिषु (आदेशप्रत्यययोः)। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	सखा	सखायौ	सखायः
द्वि०	सखायम्	,,	सखीन्
तृ०	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः
च०	सख्ये	,,	सखिभ्यः
पं०	सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
ष०	,,	सख्योः	सखीनाम्
स०	सख्यौ	,,	सखिषु
सं०	हे सखे !	हे सखायौ !	हे सखायः !

अब 'पति' शब्द का वर्णन करते हैं। 'पति' का अर्थ 'स्वामी' है। प्रथम दो विभक्तियों में 'हरि' शब्द के समान प्रक्रिया होती है। तृतीया के एकवचन में शेषो घ्यसखि (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर अग्रिम-सूत्र से नियम करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(१८५) पतिः समास एव ।१।४।८॥

घि-सञ्ज्ञः। पत्या। पत्ये। पत्युः २। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु—भूपतये ॥

---

१ औत् में तकार तपर है जो तत्काल के लिये है। यहां पर श्री पं० श्रीधरानन्द जी शास्त्री भ्रान्तिवश तकार को इत् लिखते और उस का प्रयोजन सर्वादेश करना बताते हैं।

अर्थः—'पति' शब्द समास में ही घिसञ्ज्ञक होता है (समास से भिन्न स्थल में नहीं)।

व्याख्या—पतिः ।१।१। समासे ।७।१। एव इत्यव्ययपदम् । घिः ।१।१। (**शेषो घ्यसखि** से)। अर्थः—(पतिः) पतिशब्द (समासे) समास में (एव) ही (घिः) घिसञ्ज्ञक होता है।[1] समास और असमास दोनों अवस्थाओं में पतिशब्द की **शेषो घ्यसखि** (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा प्राप्त होती थी। अब इस सूत्र से नियम किया जाता है कि समास में ही पतिशब्द की घिसञ्ज्ञा हो असमास में नहीं।

घिसञ्ज्ञा के यहां तीन कार्य होते हैं। १. **आङो नाऽस्त्रियाम्** (१७१) से टा को ना आदेश। २. ङे, ङसिँ, ङस् में **घेर्ङिति** (१७२) द्वारा गुण। ३. **अच्च घेः** (१७४) द्वारा ङि को औकार और घि को अकार आदेश। असमासावस्था में पति शब्द की घिसञ्ज्ञा न होने से ये तीनों घिकार्य न होंगे। तब इन विभक्तियों में सखि-शब्दवत् प्रक्रिया होगी। यथा—

'पति+आ' यहां यण् आदेश हो—'पत्या' बना।

'पति+ए' (ङे) यहां भी यण् आदेश करने पर 'पत्ये' बना।

'पति+अस्'(ङसिँ वा ङस्) इस दशा में यण् आदेश हो **ख्यत्यात् परस्य** (१८३) से उकार आदेश करने पर 'पत्युः' बना।

'पति+इ' (ङि) इस अवस्था में **औत्** (१८४) से ङि को औकार हो **इको यणचि** (१५) से यण् करने पर 'पत्यौ' रूप सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	पतिः	पती	पतयः	पं०	पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
द्वि०	पतिम्	,,	पतीन्	ष०	,,	पत्योः	पतीनाम्
तृ०	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः	स०	पत्यौ	,,	पतिषु
च०	पत्ये	,,	पतिभ्यः	सं०	हे पते!	हे पती!	हे पतयः!

समास में 'पति' शब्द की घिसञ्ज्ञा हो जायेगी; अतः 'हरि' शब्द के समान रूप चलेंगे। 'भूपति' (पृथ्वी का पति=राजा) में 'भुवः पतिः=भूपतिः' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुषसमास है। इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	भूपतिः	भूपती	भूपतयः	पं०	भूपतेः	भूपतिभ्याम्	भूपतिभ्यः
द्वि०	भूपतिम्	,,	भूपतीन्	ष०	,,	भूपत्योः	भूपतीनाम्
तृ०	भूपतिना	भूपतिभ्याम्	भूपतिभिः	स०	भूपतौ	,,	भूपतिषु
च०	भूपतये	,,	भूपतिभ्यः	सं०	हे भूपते!	हे भूपती!	हे भूपतयः!

इसी प्रकार—नरपति, नृपति, मृगपति, गृहपति, पृथ्वीपति, क्षितिपति, लोकपति, देशपति, पशुपति, गणपति, सेनापति प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहियें।

---

१. इस सूत्र में यद्यपि 'एव' पद के विना भी **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः** द्वारा उपर्युक्त नियम सिद्ध हो सकता था; तथापि—'समास में पतिशब्द ही घिसञ्ज्ञक हो अन्य शब्द न हों' इस विपरीत नियम की आशङ्का से वचने के लिये यहां मुनि ने 'एव' पद का ग्रहण किया है।

विशेष—'बहुपति' (ईषदून पति) शब्द में 'बहुच्' प्रत्यय है, जो कि—विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु (५ ३ ६८) इस सूत्र से प्रकृति से पूर्व होगा। उस का उच्चारण 'पति' की तरह होगा। यदि 'बहु' शब्द अभीष्ट हो, तब 'भूपति' की तरह होगा।

प्रश्न—सीताया पतये नम. इत्यादि स्थानों पर समास न होने से कैसे घिसञ्ज्ञा कर दी गई है ?

उत्तर—यहां पर छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति इस उक्ति के अनुसार षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा (१४६) से घिसञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये। अथवा—तत्पुरुषे कृति बहुलम् (८१२) सूत्र में बहुलग्रहणसामर्थ्यात् यहां षष्ठी का समास में अलुक् जान कर घिसञ्ज्ञा समझनी चाहिये।

[लघु०] कतिशब्दो नित्य बहुवचनान्त ॥

अर्थः—'कति' शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है।

व्याख्या—'किम्' शब्द से 'डति' प्रत्यय करने पर कति शब्द सिद्ध होता है। इस का प्रयोग सदा बहुवचन में ही होता है, एकवचन और द्विवचन में नहीं। क्योंकि 'कति' (कितने) शब्द बहुत्व का ही वाचक है एक दो का नहीं।

'कति+अस्' (जस्) इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम् (१८६) बहु-गण-वतु-डति सङ्ख्या ।१।१।२२॥

अर्थ—बहुशब्द, गणशब्द, वतुप्रत्ययान्त शब्द तथा डतिप्रत्ययान्त शब्द 'सङ्ख्या' सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—बहु-गण-वतु-डति ।१।१। सङ्ख्या ।१।१। समास'—बहुश्च गणश्च वतुश्च डतिश्च=बहु-गण-वतु-डति, समाहारद्वन्द्व.। 'वतु' और 'डति' प्रत्यय हैं, अत. प्रत्ययग्रहणे तदन्त-ग्रहणम् से तदन्त शब्दों का ही ग्रहण होगा। केवल प्रत्ययों की सञ्ज्ञा करना निष्प्रयोजन होने से सञ्ज्ञाविधौ प्रत्यय-ग्रहणे तदन्त-ग्रहण नास्ति यह निषेध प्रवृत्त न होगा। अर्थ—(बहु-गण-वतु-डति) बहुशब्द, गणशब्द, वतुप्रत्ययान्त शब्द तथा डतिप्रत्ययान्त शब्द (सङ्ख्या) सङ्ख्या सञ्ज्ञक होते हैं।

'कति+अस्' यहां प्रकृतसूत्र से डतिप्रत्ययान्त 'कति' शब्द की सङ्ख्या सञ्ज्ञा हो जाती है। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१८७) डति च ।१।१।२४॥

डत्यन्ता सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात् ॥

अर्थ—डति-प्रत्ययान्त सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—डति ।१।१। च इत्यव्ययपदम् ।१।१। (बहु-गण-वतु-डति सङ्ख्या से)। षट् ।१।१। (ष्णान्ता षट् से)। अर्थ—(डति) डतिप्रत्ययान्त (सङ्ख्या) सङ्ख्यासञ्ज्ञक शब्द (षट्) षट् सञ्ज्ञक होते हैं।

'कति+अस्' यहां कतिशब्द डतिप्रत्ययान्त है और साथ ही सङ्ख्यासञ्ज्ञक भी है; अतः इस की षट्सञ्ज्ञा हो जाती है। आकडारादेका सञ्ज्ञा (१६६) इस

अधिकार से वहिर्भूत होने के कारण यहां एक की दो सञ्ज्ञाएं हुईं। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१८८) **षड्भ्यो लुक्** ।७।१।२२॥

जश्शसोः ॥

अर्थः—षट्सञ्ज्ञकों से परे जस् और शस् का लुक् हो जाता है।

व्याख्या—षड्भ्यः ।५।३। जश्शसोः ।६।२। (**जश्शसोः शिः** से)। लुक् ।१।१। अर्थः—(षड्भ्यः) षट्सञ्ज्ञकों से परे (जश्शसोः) जस् और शस् का (लुक्) लुक् हो जाता है।

'कति+अस्' यहां 'कति' शब्द की षट्सञ्ज्ञा है। इस से परे जस् विद्यमान है, अतः जस् का लुक् होगा। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि लुक् किसे कहते हैं? इस का समाधान अग्रिमसूत्र से करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१८९) **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः** ।१।१।६०॥

लुक्-श्लु-लुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात् तत्तत्सञ्ज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—लुक्, श्लु और लुप् शब्दों से जो प्रत्यय का अदर्शन किया जाता है, वह (अदर्शन) क्रमशः लुक्, श्लु और लुप् सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१। अदर्शनम् ।१।१। (**अदर्शनं लोपः** से)। लुक्श्लुलुपः ।१।३। यहां 'प्रत्यय का अदर्शन लुक्, श्लु, लुप् सञ्ज्ञक हो' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। इस से एक ही प्रत्यय के अदर्शन की 'लुक्, श्लु, लुप्' ये तीन सञ्ज्ञाएं हो जाती हैं। इस से 'हन्ति' में शप् का लुक् होने पर **श्लौ** (६०५) से द्वित्व प्राप्त होता है। 'जुहोति' में शप् का श्लु होने से **उतो वृद्धिर्लुकि हलि** (५६६) से वृद्धि प्राप्त होती है। अतः इन के साङ्कर्य की निवृत्ति के लिये 'लुक्-श्लु-लुपः' पद की आवृत्ति (दो बार पाठ) कर एक स्थान पर उस का तृतीयान्ततया विपरिणाम कर लेना चाहिये। अर्थः—(लुक्-श्लु-लुब्भिः) लुक्, श्लु और लुप् शब्दों से जो (प्रत्ययस्य) प्रत्यय का (अदर्शनम्) अदर्शन किया जाता है, वह क्रमशः (लुक्-श्लु-लुपः) लुक्, श्लु और लुप् सञ्ज्ञक होता है। भावः—१. प्रत्यय का अदर्शन 'लुक्' सञ्ज्ञक होता है। २. प्रत्यय का अदर्शन 'श्लु' सञ्ज्ञक होता है। ३. प्रत्यय का अदर्शन 'लुप्' सञ्ज्ञक होता है। अब इस अर्थ से 'हन्ति' आदि में कोई दोष नहीं आता; क्योंकि 'हन्ति' में शप्प्रत्यय का अदर्शन लुक्-सञ्ज्ञक है श्लुसञ्ज्ञक नहीं, अतः **श्लौ** (६०५) से द्वित्व नहीं होता। 'जुहोति' में शप्प्रत्यय का अदर्शन श्लुसञ्ज्ञक है लुक्सञ्ज्ञक नहीं, अतः **उतो वृद्धिर्लुकि हलि** (५६६) से वृद्धि नहीं होती। इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना चाहिये। तो अब हमें विदित हो गया कि प्रत्यय के अदर्शन को ही 'लुक्' कहते हैं।

'कति+अस्' यहां अस् (जस्) प्रत्यय का लुक् अर्थात् अदर्शन हो कर 'कति' प्रयोग सिद्ध होता है। अब यहां **जसि च** (१६८) द्वारा गुण की आशङ्का करने के लिये प्रथम जस् की स्थापना करते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—(१९०) प्रत्यय-लोपे प्रत्यय-लक्षणम् ।१।१।६१॥

प्रत्यये लुप्ते तदाश्रितं कार्यं स्यात् । इति जसि च (१६८) इति गुणे प्राप्ते—

अर्थ—प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी तदाश्रित कार्य हो जाते हैं। इस सूत्र से जसि च (१६८) द्वारा 'कति' में गुण प्राप्त होता है। इस पर [अग्रिमसूत्र निषेध कर देता है]।

व्याख्या—प्रत्यय लोपे ।७।१। प्रत्यय-लक्षणम् ।१।१। समास—प्रत्ययस्य लोपः =प्रत्ययलोप, तस्मिन्=प्रत्ययलोपे। षष्ठीतत्पुरुषसमास। प्रत्ययो लक्षणं (निमित्तम्) यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम् कार्यम् इत्यर्थः। बहुव्रीहिसमास। अर्थः—(प्रत्ययलोपे) प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी (प्रत्ययलक्षणम्) प्रत्यय को मान कर होने वाला कार्य हो जाता है।

कई कार्य प्रत्यय को मान कर हुआ करते हैं। यथा—जसि च (१६८) यह 'जस्' प्रत्यय को मान कर ह्रस्वान्त अङ्ग के स्थान पर गुण करता है। सुपि च (१४१) यह यञादि सुप् प्रत्यय को मान कर अदन्त अङ्ग को दीर्घ करता है। सुप्तिङन्तं पदम् (१४) यह सुप् तथा तिङ् प्रत्यय को मान कर ही पद सञ्ज्ञा करता है। इस प्रकार के कार्य उस प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी हो जाते हैं—यह इस सूत्र का तात्पर्य है। यथा—'रामः' यहां जिस प्रकार सुप् प्रत्यय के रहते पदसञ्ज्ञा हो जाती है वैसे 'लिट्, विद्वान्, भगवान्' आदियों में सुप् प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

'कति' यहां जस् प्रत्यय का लोप हो चुका है, अब इस सूत्र से उस के न रहने पर भी उस को मान कर जसि च (१६८) द्वारा गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र निषेध करता है :

प्रश्न—इस सूत्र द्वारा प्रत्यय के लोप में ही प्रत्ययलक्षण होता है, परन्तु 'कति' में प्रत्यय का लुक् हुआ है लोप नहीं, तो यहां कैसे प्रत्ययलक्षण (गुण) प्राप्त हो सकता है ?

उत्तर—जैसे लोक में एक व्यक्ति की अनेक सञ्ज्ञाएं देखी जाती हैं वैसा इस शास्त्र में भी होता है। तव्यत्, तव्य, अनीयर् आदि प्रत्ययों की कृत् और कृत्य दोनों सञ्ज्ञाएं हैं। जहां शास्त्र में एक सञ्ज्ञा करना अभीष्ट होता है वहां स्पष्ट कह दिया जाता है यथा—आकडारादेका सञ्ज्ञा (१४१)। यहां प्रत्यय के अदर्शन की अदर्शनं लोपः (२) से लोप सञ्ज्ञा की गई है। उसी अदर्शन की पुनः प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१८९) सूत्र से लुक्, श्लु और लुप् सञ्ज्ञाएं की जाती हैं। तो इस प्रकार लुक्, श्लु और लुप् तीनों सञ्ज्ञाओं के साथ 'लोप' सञ्ज्ञा भी वर्त्तमान रहती है। इस से 'कति' में प्रत्यय-लक्षण प्राप्त होता है।

[लघु०] निषेध सूत्रम्—(१९१) न लुमताऽङ्गस्य ।१।१।६२॥

लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात् । कति २ । कतिभिः । कतिभ्यः २ । कतीनाम् । कतिषु ॥

अर्थः—लु वाले (लुक्, श्लु, लुप्) शब्दों से यदि प्रत्यय का लोप हुआ हो तो तन्निमित्तक (उस प्रत्यय को निमित्त मान कर होने वाला) अङ्ग-कार्य नहीं होता।

व्याख्या—लुमता ।३।१। प्रत्ययलोपे ।७।१। (**प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** से)। अङ्गस्य ।६।१।(यह अधिकृत है)। प्रत्ययलक्षणम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम्। समासः—लु इत्येकदेशोऽस्त्यस्य स लुमान्, तेन लुमता। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८१) इति मतुँप्प्रत्ययः। प्रत्ययस्य लोपः=प्रत्ययलोपः, तस्मिन् = प्रत्ययलोपे, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(लुमता) लु वाले शब्द से (प्रत्ययलोपे) प्रत्यय का लोप होने पर (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (प्रत्ययलक्षणम्) उस प्रत्यय को मान कर होने वाला कार्य (न) नहीं होता। 'लु' वाले शब्द तीन हैं—१. लुक्, २. श्लु, ३. लुप्। यह सूत्र पूर्वकथित प्रत्ययलक्षण सूत्र का अपवाद है।

'कति' में जस् प्रत्यय का लु वाले शब्द=लुक् से अदर्शन हुआ है तो यहां प्रत्ययलक्षण कार्य (गुण) न होगा।

ध्यान रहे कि यह निषेध तभी होगा जब अङ्ग के स्थान पर प्रत्ययलक्षण कार्य करना होगा। यदि अङ्ग के स्थान पर कार्य न होगा तो 'लु' वाले शब्दों से अदर्शन होने पर भी प्रत्ययलक्षण हो जायेगा। यथा—'पञ्चन्, सप्तन्' यहां **षड्भ्यो लुक्** (१८८) से जस् और शस् का लुक् होने पर भी **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) सूत्र से पद-सञ्ज्ञा हो जाती है। पदसञ्ज्ञा हो जाने से **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) द्वारा नकार का लोप हो जाता है। पदसञ्ज्ञा केवल अङ्ग की ही नहीं होती किन्तु प्रत्यय-विशिष्ट अङ्ग की हुआ करती है; इस से प्रत्ययलक्षण में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इसी प्रकार यङ्लुगन्त प्रक्रिया में यङ्लुक् होने पर भी यङन्तमूलक द्वित्व हो ही जाता है। यह विषय विस्तारपूर्वक **रोऽसुँपि** (११०) सूत्र पर लिख आए हैं वहीं देखें।

द्वितीया के बहुवचन शस् में भी जस् की तरह 'कति' प्रयोग बनता है। प्रत्यय-लक्षण द्वारा गुणप्राप्ति तथा उस का निषेध यहां नहीं होता।

कति+भिस्=कतिभिः। कति+भ्यस्=कतिभ्यः। यहां सकार को रुँ और रेफ को विसर्ग आदेश हो जाते हैं।

'कति+आम्' यहां **ह्रस्वनद्यापो नुँट्** (१४८) सूत्र से ह्रस्वान्त अङ्ग को नुँट् आगम, अनुबन्धलोप तथा **नामि** (१४९) से दीर्घ होकर—'कतीनाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। [अथवा षट्त्व के कारण **षट्चतुर्भ्यश्च** (२६६) सूत्र से नुँट् का आगम कर दीर्घ कर लेना चाहिये। इस की स्पष्टता 'रामाणाम्' प्रयोग पर **सिद्धान्तकौमुदी** की टीकाओं में देखनी चाहिये।]

सप्तमी के बहुवचन में **आदेश-प्रत्यययोः** (१५०) से मूर्धन्य षकार होकर 'कतिषु' रूप बनता है।

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	कति	तृ०	०	०	कतिभिः
द्वि०	०	०	,,	च०	०	०	कतिभ्यः

प०	०	०	यतिभ्यः	स०	०	०	यतिषु
ष०	०	०	यतीनाम्	स०	०	०	हे यति !

[लघु०] युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः ॥

अर्थः—युष्मद् अस्मद् और षट्संज्ञक शब्द तीनों लिङ्गों में समान रूप वाले होते हैं ।

व्याख्या—समानानि रूपाणि येषां ते सरूपाः, बहुव्रीहिसमासः । ज्योतिर्जनपद० (६.३.८४) इति समानस्य सभावः । 'यति' शब्द षट्सञ्ज्ञक है, अतः तीनों लिङ्गों में एक समान रूप बनेंगे । यथा—कति पुरुषाः ? कति नार्यः ? कति फलानि ? । इसी प्रकार युष्मद् और अस्मद् के भी—'अहम्पुरुषः, अहं नारी, अहं मित्रम्, त्वं पुरुषः त्वं नारी, त्वं मित्रम्' इत्यादि समान रूप बनते हैं ।

[लघु०] त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः २ ॥

अर्थः—'त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त है ।

व्याख्या—'त्रि' शब्द का अर्थ 'तीन' है । तीन—बहुसङ्ख्या का वाचक है अतः एकत्व और द्वित्व का प्रकृति के अर्थ—बहुत्व के साथ अन्वय न हो सकने के कारण एकवचन द्विवचन नहीं आते ।

ध्यान रहे कि प्रधान होने पर ही 'त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है, गौण अवस्था में तो इस में एकवचन और द्विवचन भी हुआ करते हैं जैसा कि आगे 'प्रियत्रि' शब्द में किया गया है ।

'त्रि+अस्' (जस्) इस अवस्था में जसि च (१६८) सूत्र से गुण हो एचोऽयवायावः (२२) से अय् आदेश करने पर—त्रयस्—'त्रयः' रूप बनता है ।

'त्रि+अस्' (शस्) इस स्थिति में पूर्वसवर्णदीर्घ हो सकार को नकार करने पर 'त्रीन्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

त्रि+भिस्=त्रिभिः । त्रि+भ्यस्=त्रिभ्यः । सकार को रुत्व विसर्ग हो जाते हैं ।

'त्रि+आम्' इस दशा में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१९२) त्रेस्त्रयः ।७।१।५३॥

त्रि-शब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि । त्रयाणाम् । त्रिषु । गौणत्वेऽपि— प्रियत्रयाणाम् ॥

अर्थः—आम् परे हो तो 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'त्रय' आदेश हो ।

व्याख्या—त्रेः ।६।१। त्रयः ।१।१। आमि ।७।१। (आमि सर्वनाम्नः सुट् से) । अर्थः—(आमि) आम् परे होने पर (त्रेः) त्रिशब्द के स्थान पर (त्रयः) त्रय आदेश हो । अनेकाल् होने से यह आदेश अनेकाल्शित्सर्वस्य (४५) द्वारा सर्वादेश होगा ।

सूत्र में त्रिशब्द सङ्ख्यावाचक नहीं शब्दवाचक है अतः हरिवत् उच्चारण होने से 'त्रेः' यहां एकवचन हो गया है ।

'त्रि+आम्' यहां आम् परे है अतः त्रिशब्द को प्रकृतसूत्र से त्रय आदेश हो

—'त्रय+आम्'। अब ह्रस्वान्त अङ्ग को नुँट् आगम, अनुबन्धलोप, **नामि** (१४६) से दीर्घ तथा **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से णत्व करने पर 'त्रयाणाम्' रूप सिद्ध होता है।

'त्रि+सु' (सुप्) यहां **आदेशप्रत्ययोः** (१५०) से सकार को षकार हो कर 'त्रिषु' रूप सिद्ध हुआ। 'त्रि' शब्द की समग्र रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	त्रयः	प०	०	०	त्रिभ्यः
द्वि०	०	०	त्रीन्	ष०	०	०	त्रयाणाम्
तृ०	०	०	त्रिभिः	स०	०	०	त्रिषु
च०	०	०	त्रिभ्यः	सं०	०	०	हे त्रयः !

बहुव्रीहिसमास में अन्यपद प्रधान रहता है, समस्यमान पद गौण अर्थात् अप्रधान रहते हैं। यह हम पीछे (१३३) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। जब बहुव्रीहि-समास में 'त्रि' शब्द गौण होता है तब भी इस सूत्र से उस के स्थान पर 'त्रय' आदेश हो जाता है। सूत्र में 'त्रेः' यहां एकवचन करना ही इस में प्रमाण है; अन्यथा **अष्टाभ्य औश्** (३००) की तरह यहां भी **त्रेस्त्रयः** की बजाय 'त्रयाणां त्रयः' इस प्रकार का सूत्र बनाते।

प्रियाः त्रयः यस्य सः=प्रियत्रिः, बहुव्रीहिसमासः। जिसे तीन प्रिय हों उसे 'प्रियत्रि' कहते हैं। 'प्रियत्रि+आम्' इस स्थिति में त्रि के स्थान पर त्रय आदेश हो—प्रियत्रय+आम्। तब ह्रस्वान्त अङ्ग को नुँट् आगम, अनुबन्धलोप, ह्रस्वान्त अङ्ग को दीर्घ तथा नकार को णकार हो कर 'प्रियत्रयाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। अन्य विभक्तियों में रूप 'हरि' की तरह होते हैं। 'प्रियत्रि' की रूपमाला यथा—

प्र० प्रियत्रिः	प्रियत्री	प्रियत्रयः	प० प्रियत्रेः	प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभ्यः
द्वि० प्रियत्रिम्	,,	प्रियत्रीन्	ष० ,,	प्रियत्र्योः	प्रियत्रयाणाम्
तृ० प्रियत्रिणा	प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभिः	स० प्रियत्रौ	,,	प्रियत्रिषु
च० प्रियत्रये	,,	प्रियत्रिभ्यः	सं० हे प्रियत्रे!	हे प्रियत्री!	हे प्रियत्रयः!

अब सङ्ख्यावाचक द्वि (दो) शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१९३) **त्यदादीनामः** ।७।२।१०२॥

एषामकारो विभक्तौ। द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः। द्वौ २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २॥

अर्थः—विभक्ति परे रहने पर त्यद् आदि शब्दों के स्थान पर अकार आदेश हो। **द्विपर्यन्तानाम्**—'द्वि' तक ही त्यदादियों को अकार करना इष्ट है।

व्याख्या—त्यदादीनाम् ।६।३। अः ।१।१। विभक्तौ ।७।१। (**अष्टन आ विभक्तौ** से)। समासः—त्यद्-शब्द आदिर्येषान्ते त्यदादयः, तद्गुण-संविज्ञान-बहुव्रीहि-समासः। सर्वादिगण के अन्तर्गत त्यदादिगण आया है। यह त्यद् शब्द से आरम्भ होता है। इस की अवधि भाष्यकार ने 'द्वि' शब्द पर्यन्त नियत की है। इस प्रकार इस गण में 'त्यद्,

तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि' ये आठ शब्द आते हैं। अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (त्यदादीनाम्) त्यद् आदि शब्दों के स्थान पर (अ) अकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से त्यदादियों के अन्त्य अल् को ही अकार आदेश होगा।

'द्वि' शब्द द्वित्व का वाचक होने से सदा द्विवचनान्त प्रयुक्त होता है। द्विवचन प्रत्यय आने पर सब विभक्तियों में प्रथम प्रकृतसूत्र द्वारा इकार को अकार हो 'द्व' बन जाता है। तब रामशब्द के समान प्रक्रिया हो कर रूप सिद्ध होते हैं। द्विशब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	द्वौ*	०	प०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,,	०	ष०	०	द्वयोः‡	०
तृ०	०	द्वाभ्याम्†	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	त्यदादियों का प्रायः सम्बोधन नहीं होता।			

* 'द्वि+औ' यहां अकार अन्तादेश हो वृद्धि हो जाती है।

† 'द्वि+भ्याम्' यहां अकार अन्तादेश हो सुपि च (१४१) से दीर्घ हो जाता है।

‡ 'द्वि+ओस्' यहां अकार अन्तादेश हो ओसि च (१४७) से एकार तथा एचोऽयवायावः (२२) से एकार को अय् आदेश हो जाता है।

अभ्यास (२६)

(१) अव्ययों से अतिरिक्त ऐसे कौन से शब्द हैं जो तीनों लिङ्गों में सरूप अर्थात् समान रूप वाले होते हैं ?

(२) ऐसे किसी शब्द का उल्लेख करें जिस की सुँबन्तप्रक्रिया आम् को छोड अन्यत्र हरिशब्दवत् होती हो।

(३) सीतायाः पतये नमः यहां समासाभाव में भी कैसे घिसञ्ज्ञा हो कर तज्जन्य कार्य हो जाते हैं ?

(४) निम्नलिखित सञ्ज्ञाओं में कौन सी सञ्ज्ञा प्रकृति की, और कौन सी प्रत्यय की होती है ? ससूत्र यथाधीत टिप्पण करें—

१ अपृक्त। २ अङ्ग। ३. आट्। ४ उपधा। ५ सर्वनाम। ६. सङ्ख्या। ७ पट्। ८ घि। ९ सर्वनामस्थान। १० विभक्ति। ११ भ। १२ पद। १३ प्रातिपदिक। १४ सम्बुद्धि। १५ बहुवचन।

(५) (क) न लुमताऽङ्गस्य सूत्र में 'अङ्गस्य' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(ख) शेषो घ्यसखि सूत्र में 'शेष' पद का ग्रहण क्यों किया गया है ?

(ग) हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० सूत्र में 'दीर्घात्' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(घ) अतिदेश किसे कहते हैं ? इस का क्या लाभ होता है ?

(ङ) प्रत्यय का लुक् होने पर भी क्या प्रत्ययलक्षण हुआ करता है ?

(६) इस व्याकरण में एक की एक सञ्ज्ञा होनी है या अनेक ? सप्रमाण लिखें।

(७) **ख्यत्यात् परस्य** सूत्र में 'परस्य' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(८) 'अपत्य' आदि शब्दों से परे ङसिँ या ङस् के अकार को **ख्यत्यात्परस्य** द्वारा उकार आदेश होगा या नहीं ? स्पष्ट करें।

(९) **संयोगान्तस्य लोपे हि**—इस श्लोक की व्याख्या करें।

(१०) हरी, त्रयाणाम्, सख्युः, पत्ये, हरिणा, कति, सखा, हरेः, भूपतये, द्वौ, सखायौ, हे सखे, प्रियत्रयः—इन रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें।

(११) **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य, शेषो घ्यसखि** इन सूत्रों की व्याख्या करें।

[यहां ह्रस्व इकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है]

——:०:——

अब ईकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों का वर्णन किया जाता है—

[लघु०] पाति लोकमिति पपीः=सूर्यः। दीर्घाज्जसि च (१६२)—पप्यौ २। पप्यः। हे पपीः। पपीम्। पपीन्। पप्या। पपीभ्याम् ३। पपीभिः। पप्ये। पपीभ्यः २। पप्यः २। पप्योः। दीर्घत्वान्न नुँट्—पप्याम्। ङौ तु सवर्ण-दीर्घः—पपी। पप्योः। पपीषु। एवं वातप्रम्यादयः॥

व्याख्या—पा रक्षणे (अदा०) धातु से औणादिक 'ई' प्रत्यय कर द्वित्व और आकार का लोप करने से 'पपी' शब्द सिद्ध होता है [देखें—**पापोः किद् द्वे च** (उणा० ४३९)]। जगत् का रक्षक होने से सूर्य 'पपी' कहाता है। प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर इस से सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

पपी+स् (सुँ) इस स्थिति में सकार को रेफ और रेफ को विसर्ग करने पर 'पपीः' रूप बनता है। ध्यान रहे कि यहां 'ङी' के न होने से **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०** (१७९) सूत्र द्वारा सुँ का लोप नहीं होता।

'पपी+औ' यहां **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) सूत्र से प्राप्त पूर्वसवर्णदीर्घ का **दीर्घाज्जसि च** (१६२) सूत्र से निषेध हो कर **इको यणचि** (१५) से ईकार को यण्=यकार करने से 'पप्यौ' प्रयोग सिद्ध होता है। 'पपी+अस्' (जस्) यहां पूर्व-सवर्णदीर्घ का निषेध हो ईकार को यण्=यकार करने से 'पप्यः' रूप बनता है।

'पपी+अम्' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ का बाध कर **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'पपीम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पपी+अस्' (शस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर **तस्माच्छसो नः पुंसि** (१३७) से सकार को नकार करने से 'पपीन्' रूप बनता है।

'पपी+आ' (टा) यहां **इको यणचि** (१५) से यण् हो कर 'पप्या' रूप बनता है।

तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में 'पपीभ्याम्' बनता है।

तृतीया के बहुवचन में 'पपीभिः'। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

चतुर्थी के एकवचन में—'पप्ये'। इको यणचि (१५) से यण् हो जाता है।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन 'पपी+अस्' में यण् हो—'पप्यः'।

'पपी+ओस्' इस अवस्था में यण् हो कर 'पप्योः' बनता है।

'पपी+आम' इस स्थिति में दीर्घ होने से नुँट् का आगम नहीं होता। पुंल्लिङ्ग होने से नदीसञ्ज्ञा भी नहीं होती। तब यण् (१५) हो कर 'पप्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पपी+इ' (ङि) यहां अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर 'पपी' बनता है।

'पपी=सु' (सुप्) यहां सकार को षकार (१५०) हो कर 'पपीषु' बनता है।

'पपी' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	पपी	पप्यौ	पप्यः	प०	पप्यः	पपीभ्याम्	पपीभ्यः
द्वि०	पपीम्	„	पपीन्	ष०	„	पप्योः	पप्याम्
तृ०	पप्या	पपीभ्याम्	पपीभिः	स०	पपी	„	पपीषु
च०	पप्ये	„	पपीभ्यः	स०	हे पपी!	हे पप्यौ!	हे पप्यः!

इसी प्रकार—ययी (मार्ग), वातप्रमी (मृग-विशेष) आदि के रूप होते हैं।

[लघु०] बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी॥

व्याख्या—'बहु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में बह्वादिभ्यश्च (१२५६) द्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर 'बह्वी' शब्द निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'प्रशस्य' शब्द से द्विवचनविभज्योपपदे० (१२१८) सूत्र द्वारा 'ईयसुँन्' प्रत्यय करने तथा प्रशस्यस्य श्रः (१२१९) से 'श्र' आदेश और उगितश्च (१२४६) से ङीप् प्रत्यय करने पर 'श्रेयसी' शब्द बनता है। अतिशयेन प्रशस्या=श्रेयसी। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य सः=बहुश्रेयसी। अतिप्रशसनीय बहुत स्त्रियों वाला पुरुष 'बहुश्रेयसी' कहाता है। यहां 'बह्वी' और 'श्रेयसी' पदों का बहुव्रीहिसमास हो गया है। स्त्रियाः पुंवत्० (९६८) सूत्र से समास में बह्वी पद को पुंवत् अर्थात् 'बहु' शब्द हो जाता है। ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम् (वा०) इस निषेध के कारण उपसर्जनह्रस्व नहीं होता। समासान्त 'कप्' प्रत्यय प्राप्त था, परन्तु ईयसश्च (५।४।१५६) सूत्र से निषिद्ध हो गया।

समास होने के कारण प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय आते हैं—

'बहुश्रेयसी+स्' (सुँ)। यहां 'श्रेयसी' शब्द ङ्यन्त है, अतः ङी से परे सुँ का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (१७९) सूत्र से लोप हो कर 'बहुश्रेयसी' बनता है।

प्रथमा के द्विवचन में 'बहुश्रेयस्यौ' तथा बहुवचन में 'बहुश्रेयस्यः' बनता है। दोनों स्थानों पर पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध (१६२) हो कर यण् हो जाता है।

सम्बुद्धि में 'हे बहुश्रेयसी+स्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम् (१९४) यू स्त्र्याख्यौ नदी।१।४।३॥

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसञ्ज्ञौ स्तः॥

अर्थः—ईदन्त और ऊदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—यू ।१।२। स्त्र्याख्यौ ।१।२। नदी ।१।१। समासः—ईश्च ऊश्च=यू ['यू+औ' इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घः, दीर्घाज्जसि च इति निषेधाभावश्छान्दसः], इतरेतर-द्वन्द्वः। स्त्रियम् आचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ [स्त्रीकर्मोपपदाद् आङ्पूर्वात् चक्षिङ्धातोः कर्तरि मूलविभुजादित्वात् कप्रत्यये, ख्याञादेशे, आकारलोपे, उपपदसमासे च कृते 'स्त्र्याख्य'शब्दो निष्पद्यते]। यहां शब्दशास्त्र के प्रस्तुत होने से 'यू' का विशेष्य 'शब्दौ' अध्याहृत किया जाता है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो जायेगी। 'स्त्र्याख्यौ' का अर्थ 'स्त्रियाम्' कहने से भी सिद्ध हो सकता है अतः यहां इस के फलस्वरूप 'नित्य' शब्द का अध्याहार किया जाता है। अर्थः—(स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्गी (यू) ईदन्त और ऊदन्त शब्द (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं[1]।

जिन शब्दों का केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग होता है वे शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग कहाते हैं। 'ग्रामणी, खलपू' आदि शब्द पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में देखे जाते हैं अतः ये नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं, इन की नदीसञ्ज्ञा न होगी। नदी, गौरी, वधू आदि शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग हैं वे यहां उदाहरण समझने चाहियें। [वस्तुतः नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्दों के विषय में विस्तारपूर्वक विचार सिद्धान्तकौमुदी के अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में देखें]।

श्रेयसी शब्द ङ्यन्त होने से नित्यस्त्रीलिङ्ग है, अतः इस की तो इस सूत्र से नदीसञ्ज्ञा निर्बाध होगी ही; परन्तु बहुश्रेयसी में श्रेयसीशब्द गौण हो जाता है, इस की इस सूत्र से नदीसञ्ज्ञा नहीं हो सकती—इस पर अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(१७) प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च ॥

पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः ॥

अर्थः—यहां नदीसञ्ज्ञा में प्रथमलिङ्ग का भी ग्रहण होता है अर्थात् जो शब्द पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग हैं और बाद में समासवशात् गौण हो जाने से अन्य लिङ्ग में चले गये हैं उन की भी पहले के लिङ्ग के द्वारा नदीसञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये।

व्याख्या—इस वार्तिक से 'बहुश्रेयसी' में स्थित 'श्रेयसी' शब्द की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। अब इस का फल अग्रिमसूत्र में दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१९५) अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ।७।३।१०७॥

सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि ! ॥

अर्थः—अम्बार्थ तथा नद्यन्त अङ्गों को सम्बुद्धि परे रहते ह्रस्व हो जाता है।

व्याख्या—अम्बार्थनद्योः ।६।२। अङ्गयोः ।६।२। (**अङ्गस्य** यह अधिकृत है)। ह्रस्वः ।१।१। सम्बुद्धौ ।७।१। (**सम्बुद्धौ च** से)। अम्बा अर्थो यस्य सः=अम्बार्थः, बहुव्रीहिसमासः। अम्बार्थश्च नदी च=अम्बार्थनद्यौ, तयोः=अम्बार्थनद्योः, इतरेतर-

---

१. इस सूत्र से वर्णों की भी नदीसञ्ज्ञा हो जाती है; अन्यथा 'तुदन्ती' आदि उदाहरणों में **आच्छीनद्योर्नुम्** (३६५) से नुम् न हो सकेगा [इसी सूत्र पर **तत्त्वबोधिनी** यहां द्रष्टव्य है]।

द्वन्द्व । 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से इस से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थ —(अम्बार्थनद्योः) अम्बा=माता अर्थ वाले तथा नद्यन्त (अङ्गयोः) अङ्गों के स्थान पर (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे रहते (ह्रस्वः) ह्रस्व हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह ह्रस्व अङ्ग के अन्त्य अल् के स्थान पर होगा। अम्बार्थकों के उदाहरण आगे अजन्त-स्त्रीलिङ्ग प्रकरण में आयेंगे।

'हे बहुश्रेयसी+स्' यहां 'श्रेयसी' की नदीसञ्ज्ञा है, नद्यन्त शब्द 'बहुश्रेयसी' है। इस से परे सम्बुद्धि वर्त्तमान है। अतः प्रकृतसूत्र से ईकार को ह्रस्व हो एङ्-ह्रस्वात्० (१३४) से सम्बुद्धि के हल् का लोप करने पर 'हे बहुश्रेयसि!' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि ह्रस्व हो जाने पर ह्रस्वविधानसामर्थ्य से ह्रस्वस्य गुणः (१६९) द्वारा गुण नहीं होगा, अन्यथा 'अम्बार्थनद्योर्गुणः' सूत्र ही पढ देते।

द्वितीया के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+अम्' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ का बाध कर अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'बहुश्रेयसीम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के बहुवचन में 'बहुश्रेयसी+अस्'(शस्) इस स्थिति में पूर्वसवर्ण-दीर्घ हो कर तस्माच्छसो नः पुंसि (१३७) से सकार को नकार करने पर 'बहुश्रेयसीन्' प्रयोग बनता है।

बहुश्रेयसी+आ (टा)=बहुश्रेयस्या [इको यणचि (१५) से यण्]।

तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी के द्विवचन में 'बहुश्रेयसीभ्याम्' सिद्ध होता है।

तृतीया के बहुवचन में 'बहुश्रेयसीभिः'। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

चतुर्थी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+ए' (ङे) इस स्थिति में नदीसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१९६) आण् नद्याः ।७।३।११२॥

नद्यन्तात् परेषां ङितामाडागमः ॥

अर्थः — नद्यन्त शब्दों से परे ङित् प्रत्ययों को आट् आगम हो।

व्याख्या—आट् ।१।१। (सूत्र में यरोऽनुनासिके० द्वारा अनुनासिक हुआ है)। नद्याः ।५।१। अङ्गात् ।५।१।(अङ्गस्य अधिकृत है)। ङितः ।६।१। (घेर्ङिति से विभक्ति-विपरिणाम कर के)। अर्थः —(नद्याः) नद्यन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ङितः) ङित् का अवयव (आट्) आट् हो जाता है। आट् टित् है अतः आद्यन्तौ टकितौ (८५) द्वारा ङितों का आद्यवयव होगा।

'बहुश्रेयसी+ए' यहां 'ए' ङित् है, 'बहुश्रेयसी' नद्यन्त है। अतः ङित् से पूर्व आट् का आगम हो—'बहुश्रेयसी+आ ए'। इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१९७) आटश्च ।६।१।८७॥

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः । बहुश्रेयस्यै । बहुश्रेयस्याः २ । नद्यन्त-त्वान्नुँट्—बहुश्रेयसीनाम् ॥

अर्थः —आट् से अच् परे रहते पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो।

व्याख्या—आटः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । अचि ।७।१। (इको यणचि से) । पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (एकः पूर्व-परयोः यह अधिकृत है) । वृद्धिः ।१।१। (वृद्धिरेचि से) । अर्थः—(आटः) आट् से (अचि) अच् परे रहते (पूर्व-परयोः) पूर्व +पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो ।

'बहुश्रेयसी+आ ए' यहां आट् से परे 'ए' अच् वर्तमान है, अतः पूर्व (आ) और पर (ए) के स्थान पर ऐकार वृद्धि एकादेश हो गया । तब 'बहुश्रेयसी+ऐ' इस दशा में इको यणचि (१५) से यण् हो कर 'बहुश्रेयस्यै' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

नोट—यद्यपि यहां वृद्धिरेचि (३३) से भी वृद्धि हो सकती थी; तथापि 'ऐक्षत' (आ+ईक्षत) आदि प्रयोगों में आटश्च (१९७) के बिना कार्य सिद्ध नहीं हो सकता था, इस लिये इस का बनाना आवश्यक था । यहां न्यायवशात् इसे प्रवृत्त किया गया है ।

चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में 'बहुश्रेयसीभ्यः' । सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग हो जाते हैं ।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+अस्' इस दशा में नदीसञ्ज्ञा हो कर आण्नद्याः (१९६) से आट् का आगम और आटश्च (१९७) से वृद्धि हो जाती है । तब 'बहुश्रेयसी+आस्' इस अवस्था में यण् हो सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'बहुश्रेयस्याः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

षष्ठी के द्विवचन में यण् हो कर 'बहुश्रेयस्योः' बना ।

षष्ठी के बहुवचन में 'बहुश्रेयसी+आम्' इस स्थिति में नद्यन्त होने से ह्रस्व-नद्यापो नुँट् (१४८) सूत्र द्वारा नुँट् का आगम हो 'बहुश्रेयसीनाम्' रूप सिद्ध होता है ।

सप्तमी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+इ' (ङि) इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१९८) ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ।७।३।११६।।

नद्यन्ताद्, आबन्ताद्, 'नी'शब्दाच्च परस्य ङेराम् । बहुश्रेयस्याम् । शेषं पपीवत् ।।

अर्थः—नद्यन्त, आबन्त तथा 'नी' शब्द से परे 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश हो ।

व्याख्या—ङेः ।६।१। आम् ।१।१। नद्याम्नीभ्यः ।५।३। अङ्गेभ्यः ।५।३। (अङ्गस्य अधिकृत है । इस के विभक्ति और वचन का विपरिणाम हो जाता है) । समासः—नदी च आप् च नीश्च=नद्याम्न्यः, (यरोऽनुनासिके० इत्यनुनासिकः), तेभ्यः=नद्याम्नीभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । नदी और आप् 'अङ्ग' के विशेषण हैं अतः येन विधिस्तदन्तस्य (१.१.७१) द्वारा इन से तदन्तविधि हो जाती है[1] । 'आप्' के प्रत्यय होने से प्रत्यय-

१. ग्रन्थकार के अनुरोध से हम ऐसा कर रहे हैं । वस्तुतः 'नी' शब्द से भी तदन्त-विधि हो जाती है; वह भी 'अङ्ग' का विशेषण है । अत एव 'ग्रामण्याम्' में आम् आदेश हो जाता है ।

ग्रहणे तदन्तग्रहणम् परिभाषा द्वारा भी इस से तदन्तविधि हो सकती है। अर्थ — (नद्याम्नीभ्य) नद्यन्त, आबन्त और नी (अङ्गेभ्य) अङ्गो से परे (ङे.) ङि के स्थान पर (आम्) आम् आदेश होता है।

'बहुश्रेयसी+इ' यहा 'बहुश्रेयसी' नद्यन्त अङ्ग है, अत इस से परे ङि को आम् आदेश हो गया। 'बहुश्रेयसी+आम्' इस स्थिति मे स्थानिवद्भाव से आम् ङित् है। अब यहा **आण्नद्या** (१६६) से आट् का आगम तथा **ह्रस्वनद्यापो नुँट्** (१४८) से नुँट् का आगम युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों सावकाश हैं। आट्—'बहुश्रेयस्यै' आदियो मे तथा नुँट्—'बहुश्रेयसीनाम्' आदियो मे चरितार्थ है अतः **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) से पर कार्य आट् आगम हो कर—'बहुश्रेयसी+आ आम्' हुआ। अब यद्यपि आम् परे होने से नुँट् आगम प्राप्त हो सकता है और इस में आम् का अवयव होने से आट् आगम बाधा भी नही डाल सकता, तथापि **विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव** (अर्थात् विप्रतिषेधस्थल में जिस शास्त्र का एक बार बाध हो जाता है उस की पुन प्रवृत्ति नही होती) इस नियमानुसार नुँट् नहीं होता। तब **आटश्च** (१९७) से वृद्धि तथा **इको यणचि** (१५) से यण् आदेश हो 'बहुश्रेयस्याम्' प्रयोग बनता है।

बहुश्रेयसी+सु(सुप्)=बहुश्रेयसीषु। यहा **आदेश-प्रत्यययो** (१५०)से सकार को षकार हो जाता है। 'बहुश्रेयसी' शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र० बहुश्रेयसी, बहुश्रेयस्यौ, बहुश्रेयस्य । द्वि० बहुश्रेयसीम्, बहुश्रेयस्यौ, बहुश्रेयसीन् । तृ० बहुश्रेयस्या, बहुश्रेयसीभ्याम्, बहुश्रेयसीभि । च० बहुश्रेयस्यै, बहुश्रेयसीभ्याम्, बहुश्रेयसीभ्य । प० बहुश्रेयस्या, बहुश्रेयसीभ्याम्, बहुश्रेयसीभ्य । ष० बहुश्रेयस्या, बहुश्रेयस्यो, बहुश्रेयसीनाम्। स० बहुश्रेयस्याम्, बहुश्रेयस्यो', बहुश्रेयसीषु । स० हे बहुश्रेयसि!, हे बहुश्रेयस्यौ!, हे बहुश्रेयस्य !।

[लघु०] अङ्यन्तत्वान्न सुँलोप । अतिलक्ष्मीः। शेष बहुश्रेयसीवत् ॥

व्याख्या—**लक्ष दर्शने अङ्कने च** (चुरा०) इस धातु से **लक्षेर्मुँट् च** (उणा० ४४०) सूत्र द्वारा ई प्रत्यय तथा मुँट् का आगम हो कर 'लक्ष्मी' शब्द निष्पन्न होता है। लक्ष्मीमतिक्रान्त =अतिलक्ष्मी, **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) इति समास। लक्ष्मी का अतिक्रमण करने वाला पुरुष 'अतिलक्ष्मी' कहाता है।

'अतिलक्ष्मी+स्' (सुँ)। ङ्यन्त न होने से सुँ का लोप नही होता; रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने पर 'अतिलक्ष्मी' रूप बनता है।

इस के शेष रूप 'बहुश्रेयसी' के समान बनते हैं। 'अतिलक्ष्मी' मे 'लक्ष्मी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है, अब इस के गौण हो जाने पर भी **प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च** (वा० १७) वार्तिक द्वारा नदीसञ्ज्ञा हो जाती हैं। अत नदी मे सब पूर्वोक्त कार्य हो जाते हैं। इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र० अतिलक्ष्मी, अतिलक्ष्म्यौ, अतिलक्ष्म्य.। द्वि० अतिलक्ष्मीम्, अतिलक्ष्म्यौ,

अतिलक्ष्मीन् । तृ० अतिलक्ष्म्या, अतिलक्ष्मीभ्याम्, अतिलक्ष्मीभिः । च० अतिलक्ष्म्यै, अतिलक्ष्मीभ्याम्, अतिलक्ष्मीभ्यः । प० अतिलक्ष्म्याः, अतिलक्ष्मीभ्याम्, अतिलक्ष्मीभ्यः । ष० अतिलक्ष्म्याः, अतिलक्ष्म्योः, अतिलक्ष्मीणाम् । स० अतिलक्ष्म्याम्, अतिलक्ष्म्योः, अतिलक्ष्मीषु । सं० हे अतिलक्ष्मि !, हे अतिलक्ष्म्यौ !, हे अतिलक्ष्म्यः !।

[लघु०] प्रधीः ।।

व्याख्या—प्रध्यायतीति प्रधीः (विशेष रूप से मनन करने वाला)। 'प्रधी' शब्द प्रपूर्वक **ध्यै चिन्तायाम्** (भ्वा० प०) धातु से **ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च** इस वार्तिक द्वारा क्विँप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण करने पर सिद्ध होता है। व्युत्पत्तिपक्ष में कृदन्त होने के कारण इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाती है।

'प्रधी+स्' (सुँ) यहां ङ्यन्त न होने से **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०** (१७९) द्वारा सकार का लोप न हुआ। रुँत्व विसर्ग हो कर—'प्रधीः'।

'प्रधी+औ' इस अवस्था में पूर्वसवर्णदीर्घ के प्राप्त होने पर **दीर्घाज्जसि च** (१६२) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है। पुनः **इको यणचि** (१५) से यण् प्राप्त होने पर अग्रिम अपवादसूत्र प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१९९) अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियँङुवँङौ ।६।४।७७।।**

श्नुप्रत्ययान्तस्य, इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः, भ्रू इत्यस्य च, अङ्गस्य इयँङुवँङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते—

अर्थः—अजादि प्रत्यय परे होने पर श्नु-प्रत्ययान्त रूप, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु रूप तथा भ्रू रूप अङ्गों के स्थान पर इयँङ् और उवँङ् आदेश होते हैं।

व्याख्या—अचि ।७।१। श्नु-धातु-भ्रुवाम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। (अङ्गस्य इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है)। य्वोः ।६।२। इयँङुवँङौ ।१।२। 'श्नु, धातु, भ्रू' ये सब अङ्ग होने चाहियें। अङ्गसञ्ज्ञा प्रत्यय परे होने पर ही हुआ करती है, अतः 'प्रत्यये' पद का अध्याहार हो 'अचि' का विशेषण बना कर **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** द्वारा तदादिविधि करने पर 'अजादौ प्रत्यये' बन जायेगा। श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्च—श्नु-धातु-भ्रुवः, तेषाम्=श्नु-धातु-भ्रुवाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। 'श्नु' यह प्रत्यय है, **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** के नियमानुसार तदन्त अर्थात् श्नुप्रत्ययान्त का ही ग्रहण होगा। 'भ्रू' यह शब्द है, **भ्रमुँ अनवस्थाने** (दिवा० प०) धातु से **भ्रमेश्च डूः** (उणा० २२७) द्वारा डू प्रत्यय करने पर इस की निष्पत्ति होती है। इस का विशेष वर्णन आगे अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरण में किया जायेगा। इश्च उश्च=यू, इतरेतरद्वन्द्वः, तयोः=य्वोः। यह 'श्नु-धातु-भ्रुवाम्' पद के 'धातु' अंश का ही विशेषण है, क्योंकि श्नु और भ्रू के सदा उवर्णान्त होने से उन के साथ इस का सम्बन्ध नहीं हो सकता। 'धातु' अंश का विशेषण होने से 'य्वोः' से तदन्तविधि हो कर 'इवर्णान्तस्य उवर्णान्तस्य च धातोः' ऐसा बन जाता है। इस प्रकार समुचित अर्थ यह होता है—(अचि) अजादि प्रत्यय परे होने पर (श्नु-धातु-भ्रुवाम्) श्नु-प्रत्ययान्त रूप, इवर्णान्त और उवर्णान्त

धातु रूप तथा भ्रू शब्द (अङ्गानाम्) इन अङ्गों के स्थान पर (इयँङुवँङौ) इयँङ् और उवँङ् आदेश होते हैं।

ङिच्च (४६) सूत्र द्वारा ये आदेश अङ्ग के अन्त्य इकार उकार के स्थान पर होते हैं। स्थानेऽन्तरतम (१७) से इवर्ण को इयँङ् तथा उवर्ण को उवँङ् आदेश होगा। इन आदेशों मे अँङ् की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है इय्, उव् शेष रहते हैं।

'प्रधी+औ यहा औ' यह अजादि प्रत्यय परे है, प्रधी मे 'धी' इवर्णान्त धातु है। [यद्यपि धातु 'ध्यै' था तो भी एकदेशविकृतमनन्यवत् के अनुसार इसे भी धातु मान लिया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि कृत्प्रत्ययान्त हो जाने से यह प्रातिपदिक हो गया है, तथापि क्विबन्ता धातुत्वं न जहति इस से इस का धातुत्व भी अक्षत रह जाता है।] तो प्रकृतसूत्र से इस के ईकार के स्थान पर इयँङ् आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध कर यण् विधान करता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२००) एरनेकाचोऽसयोगपूर्वस्य ।६।४।८२।।

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे। प्रध्यौ। प्रध्यम्। प्रध्य। प्रध्यि। शेष पपीवत्॥

अर्थ—धातु का अवयव जो सयोग वह पूर्व मे नही है जिस इवर्ण के, वह इवर्ण है अन्त मे जिस धातु के, वह धातु है अन्त मे जिस के, ऐसा जो अनेक अचो वाला अङ्ग, उस के स्थान पर यण् हो अजादि प्रत्यय परे होने पर।

व्याख्या—ए. ।६।१। अनेकाच ।६।१। असयोगपूर्वस्य ।६।१। यण् ।१।१। (इणो यण् से)। धातो ।६।१। (अचि श्नुधातुभ्रुवाम्० मे। श्नु और भ्रू का—उवर्णान्त होने से 'ए' के साथ सम्बन्ध नही हो सकता अत उन का अनुवर्त्तन नही किया जाता)। अचि ।७।१। (अचि श्नुधातु० से)। 'ए' यह षष्ठी का एकवचन है। इस का अर्थ है—'इवर्णस्य'। 'धातो' पद आवर्तित [दो बार पढा हुआ] किया जाता है। एक 'धातो' पद 'ए' का विशेष्य बन जाता है जिस से 'ए' से तदन्तविधि होकर 'इवर्णान्तस्य धातो' ऐसा हो जाता है। दूसरा 'धातो' पद 'असयोगपूर्वस्य' पद के 'सयोग' अश के साथ अन्वित होता है। अङ्गस्य यह अधिकृत है। इस का 'एर्धातो' (इवर्णान्तस्य धातो) यह विशेषण है। अत विशेषण से तदन्तविधि हो कर—'इवर्णान्तधात्वन्तस्य अङ्गस्य' ऐसा अर्थ होता है। 'अनेकाच' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है। अनेके अचो यस्य यस्मिन् वा सोऽनेकाच्, तस्य=अनेकाच, बहुव्रीहिसमास। 'असयोगपूर्वस्य' का 'ए' के साथ सामानाधिकरण्य है। नास्ति सयोग पूर्वो यस्य सोऽसयोगपूर्व, नञ्बहुव्रीहिसमास। इस प्रकार यह अर्थ हुआ—(धातो, असयोगपूर्वस्य) धातु का अवयव सयोग जिस के पूर्व मे नही ऐसा (ए) जो इवर्ण, वह है अन्त मे जिस के ऐसी (धातो) जो धातु, वह है अन्त मे जिस के ऐसा (अनेकाच) जो अनेक अचो वाला (अङ्गस्य) अङ्ग, उस के स्थान पर (यण्) यण् आदेश होता है (अचि) अजादि

प्रत्यय परे हो तो। तात्पर्य—अजादि प्रत्यय परे होने पर उस अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश होता है, जिस के अन्त में इवर्णान्त धातु है। परन्तु धातु के इवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग नहीं होना चाहिये।

'प्रधी+औ' यहां 'धी' इवर्णान्त धातु है। इस के इवर्ण से पूर्व धातु का कोई अवयव संयोगयुक्त नहीं। [यद्यपि 'प्र्' संयोग है, तथापि वह धातु का अवयव नहीं, उपसर्ग का है। किञ्च वह इवर्ण से पूर्व भी नहीं है, अकार और धकार का व्यवधान पड़ता है।] यह धातु जिस के अन्त में है ऐसा अनेकाच् अङ्ग 'प्रधी' है। इस से परे 'औ' यह अजादि प्रत्यय वर्त्तमान है। अतः अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा प्रकृतसूत्र से ईकार को यण्=यकार आदेश हो कर—प्रध्य्+औ='प्रध्यौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रधी+अस् (जस्)। यहां सर्वप्रथम **इको यणचि** (१५) से प्राप्त यण् का **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) से बाध हो जाता है। अब **दीर्घाज्जसि च** (१६२) से इस का भी निषेध हो कर पुनः पूर्ववत् यण् की प्राप्ति होने लगती है। इस पर **अचि श्नु०** (१९९) से इस का बाध हो कर इयङ् की प्रसक्ति होती है। पर अन्त में **एरने-काचः०** (२००) से इसे भी बाधित कर यण् हो जाता है—प्रध्य्+अस्। अब सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'प्रध्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'प्रधी+अम्' यहां भी सर्वप्रथम **इको यणचि** (१५) से यण्, उस का बाध कर **अमि पूर्वः**(१३५)से पूर्वरूप प्राप्त था। उस का परत्व के कारण **अचि श्नुधातु०** (१९९) सूत्र बाध कर लेता है। तब उस के भी अपवाद **एरनेकाचः०** (२००) से यण् हो कर 'प्रध्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'प्रधी+अस्'(शस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। इस का परत्व के कारण **अचि श्नुधातु०** (१९९) सूत्र बाध कर लेता है। पुनः **एरनेकाचः०**(२००) से यण् करने पर सकार को रुँत्व विसर्ग हो 'प्रध्यः' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां पूर्वसवर्णदीर्घ न होने से **तस्माच्छसो नः पुंसि** (१३७) द्वारा सकार को नकार भी नहीं होता।

'प्रधी+आ'(टा) यहां इयँङ् प्राप्त होने पर **एरनेकाचः०** (२००) से यण् हो कर 'प्रध्या' प्रयोग सिद्ध होता है।

तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में—'प्रधीभ्याम्'।

तृतीया के बहुवचन में—'प्रधीभिः'।

'प्रधी+ए'(ङे) यहां भी पूर्ववत् इयँङ् का बाध कर यण् करने से—'प्रध्ये'।

चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में—'प्रधीभ्यः'।

'प्रधी+अस्'(ङसिँ वा ङस्)यहां भी इयँङ् का बाध कर **एरनेकाचः०**(२००) से यण् हो जाता है—'प्रध्यः'। इसी प्रकार ओस् में—'प्रध्योः'।

'प्रधी+आम्' यहां नदीसञ्ज्ञा न होने से नुँट् प्राप्त नहीं होता। तब **एरने-काचः०** (२००) से यण् हो कर 'प्रध्याम्' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि एरने-

काच० (२००) और ह्रस्वनद्यापो नुँट् (१४८) के विप्रतिषेध की अवस्था मे परत्व के कारण नुँट (७ १ ५४) ही होता है यण् (६ ४ ८२) नही।

'प्रधी+इ'(ङि) यहा सवर्णदीर्घ का बाध कर इयँङ् प्राप्त होता है। पुन उस का भी बाध कर एरनेकाच०(२००)से यण् करने पर 'प्रध्यि' रूप सिद्ध होता है।

प्रधी+सु'(सुप्) यहा आदेशप्रत्यययो (१५०) से मूर्धन्य हो—'प्रधीषु'।

सम्बुद्धि अर्थात् सम्बोधन के एकवचन म नद्यन्त न होने से अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व (१९५) द्वारा ह्रस्व नही होता—हे प्रधी!। 'प्रधी' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	प्रधी	प्रध्यौ	प्रध्य	प०	प्रध्य	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्य
द्वि०	प्रध्यम्	,	,,	ष०	,	प्रध्यो	प्रध्याम्
तृ०	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभि	स०	प्रध्यि	,,	प्रधीषु
च०	प्रध्ये	,,	प्रधीभ्य	स०	हे प्रधी!	हे प्रध्यौ!	हे प्रध्य!

वक्तव्य—ऊपर कहा गया 'प्रधी' शब्द प्रपूर्वक ध्यै चिन्तायाम् धातु से क्विँप् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इस प्रकार स निष्पन्न हुआ 'प्रधी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नही होता। यह पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुसकलिङ्ग सब प्रकार का हो सकता है। अत यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) से इस की नदीसञ्ज्ञा नही होती। यदि प्रथम ध्यै चिन्तायाम् धातु स क्विँप् प्रत्यय कर के 'धी' शब्द बना दिया जावे तो वह नित्यस्त्रीलिङ्ग होने स नदीसञ्ज्ञक होगा। तब 'प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधी' इस प्रकार समस्त किया हुआ पुंल्लिङ्ग 'प्रधी' शब्द भी प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च (वा० १७) स नदीसञ्ज्ञक हो जायेगा। तब आट्, नुँट् आदि नदीकार्य भी होंगे।

प्रधी (प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधी। उत्तम बुद्धि वाला)

प्र०	प्रधी	प्रध्यौ	प्रध्य	प०	प्रध्या†	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्य
द्वि०	प्रध्यम्	,	,,	ष०	,,†	प्रध्यो	प्रधीनाम्‡
तृ०	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभि	स०	प्रध्याम्*	,,	प्रधीषु
च०	प्रध्यै†	,,	प्रधीभ्य	स०	हे प्रधि!@	हे प्रध्यौ!	हे प्रध्य!

†आण्नद्या (१९६) आटश्च (१९७), एरनेकाचोऽसयोगपूर्वस्य (२००)।

‡यहा एरनेकाच० (२००) म यण् तथा ह्रस्वनद्यापो नुँट् (१४८) से नुँट् का विप्रतिषेध होने पर परकार्य नुँट् हो जाता है।

*यहा ङेराम्० (१९८) म ङि को आम्, आण्नद्या (१९६) से आट् आगम, आटश्च (१९७) स वृद्धि तथा एरनेकाच० (२००) म यण् हो जाता है।

@अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व (१९५), एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धे (१३४)।

शङ्का—नित्यस्त्रीलिङ्ग 'धी' शब्द म अचि श्नु० (१९९) सूत्र द्वारा इयँङ् हो—'धियौ, धिय' आदि रूप बना करते हैं। परन्तु जिस नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान पर इयँङ उवँङ् हों वहा प्रथम नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री (२२९) सूत्र मे नदी सञ्ज्ञा का सर्वत्र निषेध हो जाता है, तत्पश्चात् ङिति ह्रस्वश्च (२२२) स ङित्

विभक्तियों में तथा **वाऽऽमि** (२३०) से आम् में नदीसञ्ज्ञा का विकल्प किया जाता है; जैसा कि अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में 'श्री' शब्द पर होता है। तो इस प्रकार 'प्रकृष्टा धीर्यस्य' इस विग्रह वाले प्रधी शब्द में भी आप को वैसा करना चाहिये था। आप के वैसा न करने का क्या कारण है ?

समाधान - **नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री** (२२६) सूत्र वहां पर निषेध करता है जहां इयँङ्, उवँङ् प्राप्त नही किन्तु साक्षात् हुआ करते हैं। अत एव 'इयँङुवँङोरस्त्री' न कह कर सूत्र में 'स्थान' शब्द का ग्रहण किया है। 'प्रधी' शब्द मे प्रत्यक्ष यण् होता है इयँङ् नही अतः नदीत्व का निषेध न होगा। **ङिति ह्रस्वश्च** (२२२) तथा **वाऽऽमि** (२३०) सूत्रों मे 'इयँङुवँङ्स्थानौ' की अनुवृत्ति आती है अतः वे भी प्रवृत्त न होगे।

[लघु०] एवं ग्रामणीः। ङौ तु ग्रामण्याम् ॥

व्याख्या—ग्रामं नयतीति=ग्रामणीः। 'ग्राम'कर्मोपपद **णीञ् प्रापणे** (भ्वा० उ०) धातु से कर्त्ता मे **क्विँप् च** (८०२) सूत्र से क्विँप् प्रत्यय करने पर 'ग्रामणी' (ग्राम का नेता, नम्बरदार) शब्द निष्पन्न होता है। **अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः** वार्तिक से यहां नकार को णकार हुआ है।

'ग्रामणी' शब्द मे 'नी' इवर्णान्त धातु है। इस के इवर्ण से पूर्व धातु का कोई अवयव संयोगयुक्त नही। तदन्त 'ग्रामणी' शब्द अनेकाच् अङ्ग भी है। अतः अजादि प्रत्ययों में सर्वत्र **एरनेकाचः०** (२००) से यण् हो जायेगा। **अचि श्नु०** (१६६) से इयँङ् न होगा। 'ग्रामणी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नही, किन्तु सब लिङ्गों में साधारण है; अतः **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१६४) से नदीसञ्ज्ञा न होगी। तब आट्, नुँट् आदि नदीकार्य न होगे, सम्बुद्धि में ह्रस्व भी न हो सकेगा। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	ग्रामणीः*	ग्रामण्यौ	ग्रामण्यः
द्वि०	ग्रामण्यम्	,,	,,
तृ०	ग्रामण्या	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभिः
च०	ग्रामण्ये	,,	ग्रामणीभ्यः
पं०	ग्रामण्यः	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभ्यः
ष०	,,	ग्रामण्योः	ग्रामण्याम्
स०	ग्रामण्याम्†	,,	ग्रामणीषु
सं०	हे ग्रामणीः!	हे ग्रामण्यौ!	हे ग्रामण्यः!

*ङ्यन्त न होने से सुँलोप नही होता।

†**ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** (१६८) सूत्र में 'नी' के साक्षात् निर्देश के कारण 'ङि' को 'आम्' आदेश हो जाता है। नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् का आगम नही होता।

इसी प्रकार 'अग्रणी' (आगे जाने वाला) तथा 'सेनानी' (सेनापति) शब्दों के रूप बनते है।

अब **एरनेकाचः०** को अधिक स्पष्ट करने के लिये प्रत्युदाहरण दर्शाते है—

[लघु०] अनेकाचः किम्—नीः, नियौ, नियः। अमि शसि च परत्वाद् इयँङ्—नियम्, नियः। ङेराम्—नियाम् ॥

व्याख्या—**एरनेकाचः०** (२००) सूत्र में कहा गया है कि 'अङ्ग अनेकाच् हो' यह क्यों कहा है ? इस का फल है 'नी' शब्द में यण् का न होना। 'नी' (**णीञ् प्रापणे** धातु से क्विँप् प्रत्यय करने पर 'नी' शब्द निष्पन्न होता है। इस का अर्थ है—ले जाने

वाला=नेता ।) नीशब्द एकाच् है अनेकाच् नही, अत इस मे यण् आदेश न हो सकेगा, अचि श्नु० (१९९) सूत्र से इयँङ् हो जायेगा । इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	नी †	नियौ	निय	प०	निय *	नीभ्याम्	नीभ्य
द्वि०	नियम्‡	„	„ ‡	ष०	„ *	नियो	नियाम्*
तृ०	निया	नीभ्याम्	नीभि	स०	नियाम्@	„	नीषु
च०	निये*	„	नीभ्य	सं०	हे नी ! √	हे नियौ !	हे निय !

†ङ्यन्त न होने से सुँलोप नही होता ।

‡अम् और शस् मे क्रमश अमि पूर्वः (१३५) तथा प्रथमयो पूर्वसवर्ण (१२६) सूत्र को परत्व के कारण अचि श्नु० (१९९) सूत्र बाध कर लेता है । इसी प्रकार एरनेकाच ० (२००) द्वारा विहित यण् भी इन का बाधक समझ लेना चाहिये ।

*सब लिङ्गो मे साधारण होने से नी' शब्द की नदीसञ्ज्ञा नही होती । अत आट् आदि नदीकार्य नही होते ।

@ङेराम्नद्याम्नीभ्य (१९८) मे 'नी' के विशेष उल्लेख के कारण ङि को आम् हो जाता है ।

√नदीत्व न होने के कारण अम्बार्थ० (१९५) द्वारा ह्रस्व न होगा ।

[लघु०] असयोगपूर्वस्य किम् ? सुश्रियौ, यवक्रियौ ।।

व्याख्या—एरनेकाच ० (२००) सूत्र मे कहा गया था कि धातु के इवर्ण से पूर्व सयोग नही होना चाहिये—यह क्यो कहा है ? इस का फल है 'सुश्रियौ और 'यवक्रियौ' मे यण् का न होना । इन स्थानो पर धातु के इवर्ण से पूर्व सयोग है अत यण् न हुआ, तब इयँङ् हो कर रूप बना ।

[ध्यान रहे कि सयोग भी जब धातु का अवयव होगा, तभी यण् का निषेध होगा । 'सुश्री' आदि शब्दो मे सयोग धातु का अवयव है । 'उन्नी' शब्द मे सयोग धातु का अवयव नही, उपसर्ग के तकार को मिला कर बना है अत निषेध न होगा यण् हो जायेगा । 'उन्न्यौ, उन्न्य' आदि रूप बनेंगे ।]

सुष्ठु श्रयतीति सुश्री (अच्छी तरह आश्रय करने वाला) । सुपूर्वक श्रिञ् सेवायाम् (भ्वा० उ०) धातु से क्विब्वचिप्रच्छि० (वा० ४८) इस वार्तिक से क्विँप् प्रत्यय और दीर्घ करने पर 'सुश्री' शब्द निष्पन्न होता है । तीनो लिङ्गो मे साधारण होने के कारण इस की नदीसञ्ज्ञा न होगी । 'सुश्री' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सुश्री *	सुश्रियौ	सुश्रिय	प०	सुश्रिय †	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्य
द्वि०	सुश्रियम्	„	„	ष०	„ †	सुश्रियो	सुश्रियाम्‡
तृ०	सुश्रिया	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभि	स०	सुश्रियि‡	„	सुश्रीषु
च०	सुश्रिये†	„	सुश्रीभ्य	सं०	हे सुश्री !	हे सुश्रियौ !	हे सुश्रिय !

*अङ्यन्त होने से सुँलोप नही होता ।

†नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् आदि नदीकार्य नही होते ।

‡यहा न तो नदीसञ्ज्ञा है और न ही नीशब्द, अत ङी को आम् न होगा ।

वक्तव्य—सु=शोभना श्रीर्यस्य स सुश्रीः। इस प्रकार विग्रह मानने पर भी 'सुश्री' शब्दों के रूपों में कोई अन्तर नहीं आता। **प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च** (वा० १७) वार्त्तिक की सहायता से **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४) द्वारा नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर इयँङ्स्थानी होने के कारण **नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री** (२२९) सूत्र से निषेध हो जाता है। इसी प्रकार आगे 'शुद्धधी, सुधी' आदि शब्दों में भी समझ लेना चाहिये। यहां **ङिति ह्रस्वश्च** (२२२) से ङित् विभक्तियों में तथा **वाऽऽमि** (२३०) से आम् में वैकल्पिक नदीत्व की भी आशङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जिस स्त्रीलिङ्ग अङ्ग से ङित् वा आम् का विधान हो उस की उन सूत्रों से वैकल्पिक नदीसञ्ज्ञा की जाती है (देखो—शेखर में **ङिति ह्रस्वश्च**)। यहां ङित् और आम् का विधान तो सुश्री, सुधी आदि पुंल्लिङ्ग शब्दों से किया गया है और नदीसञ्ज्ञा उन के अवयव श्री, धी आदि शब्दों की करनी है। अतः नदीसञ्ज्ञा सर्वथा न होगी। लघुकौमुदी और मध्यकौमुदी के विवृतिकार **श्री पण्डित विश्वनाथ जी शास्त्री** तथा लघुकौमुदी के हिन्दी व्याख्याकार **श्री पण्डित श्रीधरानन्द जी शास्त्री** को 'सुश्री' शब्द पर महती भ्रान्ति हो गयी है। वे यहां नदीसञ्ज्ञा करना बतलाते हैं। यदि वैसा हो तो सुधी आदि शब्दों में भी नदीत्व प्रसक्त होगा, जो उन के मत में भी अनिष्ट है। **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४) के महाभाष्य पर **श्रियै अतिश्रियै ब्राह्मण्यै, क्व मा भूत्—श्रिये अतिश्रिये ब्राह्मणाय** ये वचन यहां विशेष मननीय हैं।

इसी प्रकार 'यवक्री' (जौ खरीदने वाला) शब्द के रूप होते हैं। यह भी 'असंयोगपूर्वस्य' का प्रत्युदाहरण है। यवान् क्रीणातीति—यवक्रीः, यवकर्मोपपदात् **डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये** (क्र्या० उ०) इति धातोः **क्विँप् च** (८०२) इति क्विँप्प्रत्ययः। इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	यवक्रीः	यवक्रियौ	यवक्रियः	प०	यवक्रियः	यवक्रीभ्याम्	यवक्रीभ्यः
द्वि०	यवक्रियम्	,,	,,	ष०	,,	यवक्रियोः	यवक्रियाम्
तृ०	यवक्रिया	यवक्रीभ्याम्	यवक्रीभिः	स०	यवक्रियि	,,	यवक्रीषु
च०	यवक्रिये	,,	यवक्रीभ्यः	सं०	हे यवक्रीः!	हे यवक्रियौ!	हे यवक्रियः!

इस शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सुश्री' शब्द के समान होती है। सर्वत्र अजादि प्रत्ययों में इयँङ् हो जाता है। नदीसञ्ज्ञा कहीं नहीं होती।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(२०१) **गतिश्च** ।१।४।५९॥

प्रादयः क्रियायोगे गतिसञ्ज्ञाः स्युः ॥

अर्थः—क्रियायोग में प्रादि शब्द गतिसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रादयः ।१।३। (**प्रादयः** से)। क्रियायोगे ।७।१। (**उपसर्गाः क्रियायोगे** से)। गतिः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(प्रादयः) प्र आदि बाईस शब्द (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गतिसञ्ज्ञक (च) भी होते हैं।

यह सूत्र एकसञ्ज्ञाधिकार (१६६) के अन्तर्गत पढ़ा गया है। इस अधिकार में **उपसर्गाः क्रियायोगे** (३५) सूत्र द्वारा क्रियायोग में प्रादियों की उपसर्गसञ्ज्ञा कह आये हैं।

एक की दो सञ्ज्ञा न हो सकने से पुन इन की गतिसञ्ज्ञा सिद्ध नहीं हो सकती अत. दोनों सञ्ज्ञाओं के समावेश के लिये मुनि ने सूत्र मे 'च' शब्द का ग्रहण किया है।

ध्यान रहे कि **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१४५६) के अधिकार मे पठित होने से इन दो सञ्ज्ञाओ के साथ निपातसञ्ज्ञा का भी समावेश होता है। निपातसञ्ज्ञा का फल **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) द्वारा अव्ययसञ्ज्ञा करना है।

प्रश्न—क्रियायोग मे प्रादियो की गतिसञ्ज्ञा करना अनावश्यक है। क्योंकि क्रियायोग मे इन की उपसर्ग सञ्ज्ञा है ही। जहा २ गति को कार्य कहा है वहा २ उपसर्ग का नाम कर देना चाहिये। इस से सर्वत्र कार्य चल सकता है।

उत्तर—गतिसञ्ज्ञा केवल इन बाईस प्रादियो की ही नही, जिस से आप सर्वत्र काम चलाने की ठान रहे हैं। गतिसञ्ज्ञा तो बहुत से अन्य शब्दों की भी इस शास्त्र मे की गई है। यथा—**ऊर्यादिच्विडाचश्च** (१४६०) [ऊर्यादि, च्व्यन्त तथा डाजन्त शब्द क्रियायोग मे गतिसञ्ज्ञक हो।], **अनुकरणञ्चानितिपरम्** (१४६१) [इति परे न हो तो क्रियायोग मे अनुकरण की गतिसञ्ज्ञा हो] इत्यादि। तो अब यदि सर्वत्र 'गति' के स्थान पर 'उपसर्ग' रख कर काम चलाते हैं तो अन्य गतिसञ्ज्ञको की क्या गति होगी ? उन के लिये पुन गतिग्रहण करना पडेगा। अत प्रादियो की भी क्रियायोग मे गतिसञ्ज्ञा कर सब को एक कोटि मे रख समान भाव से कार्य करना उचित है।

अब गतिसञ्ज्ञा करने का यहा फल दर्शाते हैं—

[लघु०] वा०—(१८) गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते ॥

शुद्धधियौ ॥

अर्थः—जिस शब्द का पूर्वपद गतिसञ्ज्ञक या कारक से भिन्न हो उस के स्थान पर **एरनेकाच०** (२००) द्वारा यण् नही होता।

व्याख्या—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छ कारक हैं। इन का विशेष विवेचन आगे 'कारकप्रकरण' मे किया जायेगा। जिस शब्द मे **एरनेकाच०** (२००) सूत्र प्रवृत्त हो उस का पूर्वपद या तो गतिसञ्ज्ञक होना चाहिये अथवा कारक। यदि इन दोनों से भिन्न कोई अन्य होगा तो **एरनेकाचः०** द्वारा यण् न होगा।

शुद्धा धीर्यस्य स शुद्धधी. (शुद्ध बुद्धि वाला), बहुव्रीहिसमास। यहा 'शुद्धा' शब्द पूर्वपद और 'धी' शब्द उत्तरपद है। पूर्वपद न तो गतिसञ्ज्ञक है और न ही कारक। यह तो 'धी' का विशेषण है। अत' सब शर्तें पूर्ण होने पर भी अजादि प्रत्यय मे **एरनेकाच०** (२००) द्वारा यण् न होगा, **अचि श्नु०** (१९९) से इयँङ् हो जायेगा।

'शुद्धधी' शब्द मे समास से पूर्व 'धी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग था, अत अब **प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च** (वा० १७) की सहायता से **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४) द्वारा इस की नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर **नेयँङुवँङ्०** (२२९) से निषेध हो जाता है। 'शुद्धधी' शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	शुद्धधीः	शुद्धधियौ	शुद्धधियः	पं०	शुद्धधियः	शुद्धधीभ्याम्	शुद्धधीभ्यः
द्वि०	शुद्धधियम्	,,	,,	ष०	,,	शुद्धधियोः	शुद्धधियाम्
तृ०	शुद्धधिया	शुद्धधीभ्याम्	शुद्धधीभिः	स०	शुद्धधियि	,,	शुद्धधीषु
च०	शुद्धधिये	,,	शुद्धधीभ्यः	सं०	हे शुद्धधीः!	हे शुद्धधियौ!	हे शुद्धधियः!

इसी प्रकार 'मन्दधी, तीक्ष्णधी, सूक्ष्मधी' आदि शब्दों के रूप होंगे ।

नोट—'शुद्धधी' शब्द का 'शुद्धं ध्यायति' इस प्रकार यदि विग्रह इष्ट हो तो कर्म कारक के पूर्वपद होने के कारण यण् हो जायेगा । तब 'शुद्धध्यौ, शुद्धध्यः' इस प्रकार रूप बनेंगे । किन्तु नदीसञ्ज्ञा वहां भी न होगी; क्योंकि वहां स्त्रीलिङ्ग 'धी' शब्द ही नहीं रहेगा ।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(२०२) **न भू-सुधियोः** ।६।४।८५॥

एतयोरचि सुँपि यणन । सुधियौ, सुधियः । इत्यादि ॥

अर्थः—अजादि सुँप् प्रत्यय परे रहते भू और सुधी शब्द को यण् न हो ।

व्याख्या—अचि ।७।१। (अचि श्नु० से[1]) । सुँपि ।७।१। (ओः सुँपि से) । यण् ।१।१। (इणो यण् से) । न इत्यव्ययपदम् । भूसुधियोः ।६।२। 'अचि' पद 'सुँपि' पद का विशेषण है, अतः **यस्मिन्विधिः०** द्वारा तदादिविधि हो कर 'अजादौ सुँपि' बन जायेगा । समासः—भूश्च सुधीश्च=भूसुधियौ, तयोः=भूसुधियोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अचि) अजादि (सुँपि) सुँप् परे होने पर (भूसुधियोः) भू और सुधी शब्द के स्थान पर (यण्) यण् (न) नहीं होता ।

सुध्यायतीति सुधीः (भली प्रकार चिन्तन करने वाला=बुद्धिमान् । सुपूर्वक **ध्यै चिन्तायाम्** (भ्वा० प०) धातु से **ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च** वार्त्तिक द्वारा क्विँप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण करने पर 'सुधी' शब्द निष्पन्न होता है । इस में पूर्वपद (सु) **गतिश्च** (२०१) सूत्र द्वारा गतिसञ्ज्ञक है, अतः अजादि प्रत्ययों में यण् निषेध नहीं होता, **एरनेकाचः०** (२००) द्वारा यण् प्राप्त होता है । इस पर इस सूत्र से उस का निषेध हो कर इयँङ् हो जाता है । इस की रूपमाला यथा—

प्र०	सुधीः	सुधियौ	सुधियः	पं०	सुधियः	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
द्वि०	सुधियम्	,,	,,	ष०	,,	सुधियोः	सुधियाम्
तृ०	सुधिया	सुधीभ्याम्	सुधीभिः	स०	सुधियि	,,	सुधीषु
च०	सुधिये	,,	सुधीभ्यः	सं०	हे सुधीः!	हे सुधियौ!	हे सुधियः!

नोट—'सु=शोभना धीर्यस्य स सुधीः' इस विग्रह में भी उच्चारण इसी तरह होगा । नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर **नेयँङुवँङ्०** (२२६) सूत्र से निषेध हो जायेगा ।

विशेष—इस सूत्र से 'सुद्ध्युपास्यः' में यण् का निषेध नहीं होता । क्योंकि

---

१. **इको यणचि** सूत्राद् 'अचि' इत्यनुवर्त्तत इति मन्वानो बालमनोरमाकारोऽत्र भ्रान्तः ।

वहां यण्, अजादि सुँप् को मान कर नहीं अपितु 'उपास्य' के उकार को मान कर प्रवृत्त होता है।

[लघु०] सुखमिच्छतीति—सुखी। सुतमिच्छतीति—सुती। सुख्यौ। सुत्यौ। सुख्युः। सुत्युः। शेषं प्रधीवत्॥

व्याख्या—सुखम् आत्मन इच्छतीति—सुखी। जो अपने लिये सुख चाहे उसे 'सुखी' कहते हैं। सुतम् आत्मन इच्छतीति—सुती। जो अपने लिये सुत—पुत्र चाहे उसे 'सुती' कहते हैं। इन शब्दों की साधनप्रक्रिया पर विशेष ध्यान देना चाहिये। तथाहि—'सुख+अम्' तथा 'सुत+अम्' इन सुँबन्तों से सुँप आत्मनः क्यच् (७२०) सूत्र द्वारा क्यच् प्रत्यय हो कर सनाद्यन्ता धातवः (४६८) से 'सुख अम् क्यच्' तथा 'सुत अम् क्यच्' इन समुदायों की धातुसञ्ज्ञा हो जाती है। अब सुँपो धातुप्राति-पदिकयोः (७२१) सूत्र से अम् का लुक् हो कर क्यचि च (७२२) से अकार को ईकार करने पर 'सुखीय, सुतीय' रूप बन जाते हैं। इन का अर्थ क्रमशः 'अपने लिये सुख चाहना' और 'अपने लिये पुत्र चाहना' है। अब इन धातुओं से कर्त्ता अर्थ में क्विँप् च (८०२) सूत्र से क्विँप् प्रत्यय कर अतो लोपः (४७०) से अकारलोप तथा लोपो व्योर्वलि (४२९) से यकार का लोप हो कर—'सुखी' और 'सुती' शब्द निष्पन्न होते हैं। क्विँबन्ता धातुत्वं न जहति इस नियमानुसार इन की धातुसञ्ज्ञा भी अक्षत है।

सुखी+स्(सुँ), सुती+स्(सुँ)' यहां ङ्यन्त न होने से सुँ का लोप नहीं होता। सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग हो कर—सुखीः, सुतीः।

सुखी+औ, सुती+औ' यहां अजादि प्रत्ययों में सर्वत्र धातु के ईकार को एरनेकाच० (२००) से यण् होता चला जायेगा—सुख्यौ सुत्यौ।

सुखी+अस् (ङसिँ वा ङस्), सुती+अस्(ङसिँ वा ङस्)' यहां प्रथम एरने-काच०(२००) से यण् हो—'सुख्य्+अस्, सुत्य्+अस्' बन जाता है। तब ख्यत्यात् परस्य (१८३) सूत्र से अकार को उकार हो सुख्युः, सुत्युः' प्रयोग निष्पन्न होते हैं। इन शब्दों की रूपमाला यथा—

सुखी (अपने लिये सुख चाहने वाला)				सुती (अपने लिये पुत्र चाहने वाला)		
प्र०	सुखीः	सुख्यौ	सुख्यः	प्र०	सुतीः	सुत्यौ	सुत्यः
द्वि०	सुख्यम्	,,	,,	द्वि०	सुत्यम्	,,	,,
तृ०	सुख्या	सुखीभ्याम्	सुखीभिः	तृ०	सुत्या	सुतीभ्याम्	सुतीभिः
च०	सुख्ये	,,	सुखीभ्यः	च०	सुत्ये	,,	सुतीभ्यः
प०	सुख्युः	,,	,,	प०	सुत्युः	,,	,,
ष०	,,	सुख्योः	सुख्याम्	ष०	,,	सुत्योः	सुत्याम्
स०	सुख्यि	,,	सुखीषु	स०	सुत्यि	,,	सुतीषु
सं०	हे सुखीः!	हे सुख्यौ!	हे सुख्यः!	सं०	हे सुतीः!	हे सुत्यौ!	हे सुत्यः!

इसी प्रकार—लूनी, क्षामी, प्रस्तीमी आदि शब्दों के रूप होते हैं। इन शब्दों

में क्त प्रत्यय के तकार के स्थान पर नकार, मकार आदि आदेश होते हैं। ये आदेश त्रिपादीस्थ होने से ख्यत्यात् परस्य (१८३) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध हैं अतः उस से उकार आदेश करने में कोई वाधा उपस्थित नहीं होती।

अभ्यास (३०)

(१) यदि प्रादियों की गतिसञ्ज्ञा न कर उपसर्गसञ्ज्ञा से ही काम चलाया जाये तो क्या दोष उत्पन्न होगा ?

(२) इन चार शब्दों में विग्रहभेद से सुवन्त-रूपों में कौन २ सा भेद हो सकता है ? सविस्तर लिखें।

प्रधी	प्रध्यायतीति प्रधीः। प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधीः।	सुश्री	सुश्रयतीति सुश्रीः। सु(शोभना)श्रीर्यस्य स सुश्रीः।
सुधी	सुध्यायतीति सुधीः। सु(शोभना) धीर्यस्य स सधीः।	शुद्धधी	शुद्धा धीर्यस्य स शुद्धधीः। शुद्धं ध्यायतीति शुद्धधीः।

(३) अजादि प्रत्ययों के परे रहते निम्नलिखित शब्दों में कहां यण् और कहां इयँङ् होता है ? कारणनिर्देशपूर्वक तत्तद्विधायक सूत्र लिखें—
१. प्रस्तीमी। २. ग्रामणी। ३. सुधी। ४ यवक्री। ५. मन्दधी। ६. सुश्री। ७. प्रधी। ८. सुखी। ६. नी। १०. सुती।

(४) निम्नलिखित शब्दों में अजादि सुँप् के परे रहते यण् हो या इयँङ् ?
१. पपी। २. वहुश्रेयसी। ३. अतिलक्ष्मी। ४. ययी।

(५) (क) किस २ विभक्ति में नदीसञ्ज्ञा के कारण अन्तर होता है ?
(ख) अग्रणी तथा सेनानी शब्द के अम् तथा आम् में क्या रूप वनेंगे ?
(ग) 'सुध्युपास्यः' में न भूसुधियोः द्वारा यण्निषेध क्यों नहीं होता ?
(घ) 'हे वहुश्रेयसि' में ह्रस्वस्य गुणः द्वारा गुण क्यों नहीं होना ?

(६) सन्धि-प्रकरण में सवर्णदीर्घ के द्वारा यण् का, और इस प्रकरण में यण् के द्वारा सवर्णदीर्घ का वाध होता है—इस कथन की पुष्टि सोदाहरण प्रमाणनिर्देशपूर्वक करते हुए प्रधी और पपी शब्द के सप्तमी के एक-वचन का रूप सिद्ध करें।

(७) सूत्रों की व्याख्या करें—
१. अचि श्नु०, २. एरनेकाचः०, ३. यू स्त्र्याख्यौ नदी, ४. न भू-सुधियोः।

(८) यदागमास्तद्गुणीभूताः०, क्विँवन्ता धातुत्वम्०, प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च, गतिकारकेतर०, विप्रतिषेधे यद्० इन वचनों का तात्पर्य स्पष्ट करें।

(६) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—
१. सुत्युः। २. नियाम्। ३. शुद्धधियौ। ४, वहुश्रेयसि। ५. पपी।

६ अतिलक्ष्म्यै। ७ सुधियि। ८. यवक्रियौ। ९ प्रध्यै। १० बहुश्रेयसीनाम्।

[यहां ईकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है]

——: ०:——

अब ह्रस्व उकारान्त शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] शम्भुर्हरिवत्। एवम्—भान्वादयः॥

अर्थ—शम्भु (भगवान् शिव) शब्द के रूप हरिशब्द के समान होते हैं। इसी प्रकार भानु (सूर्य), आदि अन्य उकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के भी रूप होते हैं।

व्याख्या—शम्भु शब्द को ह्रस्व उकारान्त होने से 'हरि' के समान शेषो घ्यसखि (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा होती है, अतः घिसञ्ज्ञा के कार्य 'हरि' शब्द के समान ही होंगे। यहां गुण उकार के स्थान पर ओकार ही होगा। रूपमाला यथा—

प्र०	शम्भुः	शम्भू	शम्भवः‡	प०	शम्भोः*	शम्भुभ्याम्	शम्भुभ्यः
द्वि०	शम्भुम्	,,	शम्भून्	ष०	,,	शम्भ्वोः	शम्भूनाम्
तृ०	शम्भुना†	शम्भुभ्याम्	शम्भुभिः	स०	शम्भौ≠	,,	शम्भुषु
च०	शम्भवे✓	,,	शम्भुभ्यः	स०	हे शम्भो!@	हे शम्भू!	हे शम्भवः!

‡जसि च (१६८) से गुण हो अव् आदेश हो जाता है।

†घिसञ्ज्ञा होने से आङो नाऽस्त्रियाम् (१७१) द्वारा टा को ना हो जाता है।

✓घेर्ङिति (१७२) से गुण हो अव् आदेश हो जाता है।

*घेर्ङिति (१७२) से गुण तथा ङसिँङसोश्च (१७३) से पूर्वरूप हो जाता है।

≠अच्च घेः (१७४) से ङि को औ तथा घि को अत् हो जाता है।

@ह्रस्वस्य गुणः (१६६) से गुण हो कर एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (१३४) से सुँलोप हो जाता है।

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप बनेंगे—[*णत्वविधि का चिह्न है]

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
अजातशत्रु*=युधिष्ठिर	अंशु=किरण	इषु*=बाण
अणु=परमाणु	आखु=चूहा	उन्दुरु*=चूहा
अध्वर्यु*=यजुर्वेद ज्ञाता	आगन्तु=आगन्तुक	ऊरु*=पट्ट
अनूरु*=सूर्य का सारथि	इक्षु*=गन्ना	ऊर्णायु=मेष-मेढा
अन्धु=कुंआ	इक्ष्वाकु*=एक राजा	ऋजु=सरल
अभीषु*=किरण, लगाम	इच्छु=चाहने वाला	ऋतु=मौसम
असु=प्राण	इन्दु=चन्द्र	ओतु=बिल्ला
		कटु[1]=तीखा

१ भाषा में आजकल मरिच, पिप्पली आदि को तिक्त अर्थात् तीखा तथा निम्ब आदि को कटु समझा जाता है। परन्तु वैद्यकशास्त्रों में ठीक इस से विपरीत

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
कारु*=कारीगर	दयालु=दया वाला	भिक्षु*=याचक
कृशानु=अग्नि	दस्यु=डाकू	भीरु*=डरपोक
केतु=झण्डा वा एक ग्रह	दिदृक्षु*=दर्शनाभिलाषी	भृगु*=एक ऋषि
क्रतु=यज्ञ	देवगुरु*=बृहस्पति	मञ्जु=सुन्दर
क्षवथु=खांसी	देवदारु*=दियार वृक्ष	मधु=वसन्त
गुग्गुलु=गूगल	धातु=सुवर्णादि धातु	मनु=पहला राजा
गुरु*=गुरु	निद्रालु=निद्राशील	मन्यु=क्रोध
गृध्नु=लालची	पङ्गु=लङ्गड़ा	मरु*=रेगिस्तान
गोमायु=गीदड़	पटु=चतुर	मित्रयु*=मित्रवत्सल
चण्डांशु=सूर्य	परमाणु=ज़र्रा	मुमूर्षु*=मरणेच्छुक
चरिष्णु=चालाक	परशु=कुल्हाड़ा	मृगयु*=शिकारी
चरु*=हव्यान्न	पर्शु=कुल्हाड़ा	मृत्यु=मौत
चिकीर्षु*=करणेच्छुक	पलाण्डु=प्याज़	मेरु*=एक पर्वत
जन्तु=प्राणी	पशु=जानवर	यदु=प्रसिद्ध नृप
जायु=औषध	पाण्डु=प्रसिद्ध नृप	रघु*=प्रसिद्ध नृप
जिगीषु*=जयेच्छुक	पायु=गुदा	रङ्कु*=मृग-विशेष
जिघत्सु=भूखा	पांशु=धूलि	राहु*=ग्रह-विशेष
जिज्ञासु=ज्ञानेच्छुक	पांसु= ,,	रिपु*=शत्रु
जिष्णु=इन्द्र वा अर्जुन	पिचु=कपास	रेणु=धूलि
जीवातु=जीवन-औषध	पिपासु=प्यासा	लघु=छोटा
तनु=पतला	पीलु=पीलु का वृक्ष	वटु=ब्रह्मचारी
तन्तु=तागा	पुरु*=प्रसिद्ध नृप	वनायु=अरब देश
तन्द्रालु=ऊंघनेवाला	पृथु=प्रसिद्ध नृप	वन्दारु*=वन्दनशील
तरक्षु*=विशेष भेड़िया	प्रज्ञु=टेढ़े घुटनों वाला	वमथु=वमन
तरु*=वृक्ष	प्रभु*=स्वामी	वायु=हवा
तिग्मांशु=सूर्य	प्रांशु=उन्नत	विधु=चन्द्र
तितउ=चलनी	बन्धु=बान्धव	बिन्दु=बूंद
तुहिनांशु=चन्द्र	बाहु=भुजा	विभावसु=अग्नि, सूर्य
त्सरु*=तलवार की मूठ	बुभुक्षु*=भूखा	विभु=व्यापक
दद्रु*=रोग-विशेष	भानु=सूर्य	विष्णु=भगवान् विष्णु

होता है। वहां मरिच आदि को 'कटु' तथा निम्ब आदि को 'तिक्त' कहा जाता है। अत एव 'त्रिकटु' शब्द से आयुर्वेद में—'काली मिर्च, पिप्पली, शुण्ठी' इन तीनों का ग्रहण होता है।

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
वेणु=बास	शीतगु=चन्द्र	सूनु=पुत्र
वेपथु=कापना	श्रद्धालु=श्रद्धालु	सेतु=पुल
शयतु=मृत	श्वयथु=सूजन-शोथ	स्तनयित्नु=बादल
शङ्कु=कील	सक्तु=सत्तु	स्थाणु=शाखाहीन वृक्ष
शत्रु*=दुश्मन	साधु=सज्जन	स्वर्भानु=राहु
शयालु=निद्राशील	सानु=पर्वत की चोटी	स्वादु=स्वादिष्ट
शयु=अजगर	सिन्धु=सागर	हिमांशु=चन्द्र
शरारु*=हिंस्र	सीधु=मद्यविशेष	हेतु=कारण
शिशु=बालक	सुधांशु=चन्द्र	

शम्भु शब्द की अपेक्षा क्रोष्टु (गीदड। शृगाल-वञ्चक-क्रोष्टु-फेरु-फेरव-जम्बुकाः इत्यमर.) शब्द के रूपों में अन्तर पडता है। अत अब उस का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(२०३) तृज्वत् क्रोष्टुः ।७।१।६५॥

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' शब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ॥

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर 'क्रोष्टु' के स्थान पर 'क्रोष्टृ' शब्द प्रयुक्त करना चाहिये—यह सूत्र का तात्पर्य है (अर्थ नहीं। अर्थ व्याख्या में देखें)।

व्याख्या—तृज्वत् इत्यव्ययपदम्। क्रोष्टु ।१।१। असम्बुद्धौ ।७।१। (सख्युर-सम्बुद्धौ से)। सर्वनामस्थाने ।७।१। (इतोऽत्सर्वनामस्थाने से)। तृचा तुल्यम्—तृज्वत्, तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (११४८) इति वतिप्रत्ययः। प्रत्ययग्रहणपरिभाषा से तृजन्त का ग्रहण होता है। 'तृज्वत्' का अर्थ है—तृजन्त के समान। अर्थ—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे रहते (क्रोष्टु) क्रोष्टु शब्द (तृज्वत्) तृच्प्रत्ययान्त के समान होता है। यह अतिदेश-सूत्र है; अतिदेश कई प्रकार के होते हैं, यहां रूपातिदेश है।

तृजन्त शब्द—कर्तृ, हर्तृ, दातृ आदि अनेक हैं, इन में से यहां क्रोष्टु शब्द के स्थान पर कौन सा तृजन्त हो? इस का उत्तर यह है कि स्थानेऽन्तरतमः (१७) से अर्थकृत आन्तर्य [अर्थ के तुल्य होने से जो सादृश्य देखा जाता है उसे अर्थकृत आन्तर्य कहते हैं] द्वारा 'क्रोष्टु' के स्थान पर 'क्रोष्टृ' ही तृजन्त आदेश होगा। क्रोष्टु और क्रोष्टृ दोनों का एक ही अर्थ है।

'क्रोष्टु+स्' (सुँ) यहां सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'सुँ' परे है, अतः क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो—'क्रोष्टृ+स्' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२०४) ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयोः ।७।३।११०।

ऋतोऽङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च। इति प्राप्ते—

अर्थः—ङि अथवा सर्वनामस्थान परे होने पर ऋदन्त अङ्ग के स्थान पर गुण

हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर (अग्रिम सूत्र इस का बाध कर लेता है)।

व्याख्या—ऋतः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। गुणः ।१।१। (ह्रस्वस्य गुणः से)। ङि-सर्वनामस्थानयोः ।७।२। समासः—ङिश्च सर्वनामस्थानञ्च = ङिसर्वनामस्थाने, तयोः = ङिसर्वनामस्थानयोः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'ऋतः' से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(ऋतः) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण होता है (ङिसर्वनामस्थानयोः) ङि अथवा सर्वनामस्थान परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा तथा इको गुणवृद्धी (१.१.३) परिभाषा से अन्त्य ऋवर्ण के स्थान पर ही गुण (अ) होगा। उरण्रपरः (२९) द्वारा रपर हो 'अर्' हो जायेगा।

'क्रोष्टृ+स्' यहां 'सुँ' सर्वनामस्थान परे है अतः प्रकृत-सूत्र से ऋवर्ण के स्थान पर 'अर्' गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र निषेध कर अनँङ् आदेश कर देता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२०५) ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ।७।१।९४॥

ऋदन्तानाम् उशनसादीनां चानँङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ ॥

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सुँ परे होने पर ऋदन्तों तथा उशनस् (शुक्र आचार्य), पुरुदंसस् (बिल्ली) और अनेहस् (समय) शब्दों को अनँङ् आदेश हो।

व्याख्या—असम्बुद्धौ ।७।१। (सख्युरसम्बुद्धौ से)। सौ ।७।१। अनँङ् ।१।१। (अनँङ् सौ से)। ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। (अङ्गस्य अधिकार का वचनविपरिणाम हो जाता है)। च इत्यव्ययपदम्। समासः—ऋच्च उशना च पुरुदंसा च अनेहा च = ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसः, तेषाम् = ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। 'अङ्गानाम्' का विशेषण होने से 'ऋदुशनस्०' पद से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे हो तो (ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम्) ऋदन्त, उशनस्शब्दान्त, पुरुदंसस्शब्दान्त तथा अनेहस्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों के स्थान पर (अनँङ्) अनँङ् आदेश होता है।

अनँङ् आदेश में ङकार इत्सञ्ज्ञक है, अकार उच्चारणार्थ है। 'अन्' ही अवशिष्ट रहता है। ङित् होने से यह आदेश ङिच्च (४६) सूत्र द्वारा अन्त्य अल् —ऋवर्ण या सकार के स्थान पर होगा। किञ्च ध्यान रहे कि केवल उशनस् आदि शब्दों के स्थान पर भी व्यपदेशिवद्भाव (२७८) से अनँङ् आदेश हो जायेगा।

'क्रोष्टृ+स्' यहां सम्बुद्धिभिन्न सुँ परे है अतः प्रकृत सूत्र से ऋकार को अनँङ् आदेश हो अनुबन्ध-लोप करने पर—'क्रोष्टन्+स्'। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२०६) अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तॄणाम् ।६।४।११॥

अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्, क्रोष्टॄन् ॥

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर अप्, तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्यया-

न्त, स्वसृ, नप्तृ,नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ शब्दो की उपधा को दीर्घ हो।

व्याख्या—अप्-तृन्—प्रशास्तृणाम् ।६।३। उपधाया ।६।१। (नोपधायाः से)। दीर्घः ।१।१। (ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः से) । असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। (सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से) । समास — आपश्च तृन् च तृच् च स्वसा च नप्ता च नेष्टा च त्वष्टा च क्षत्ता च होता च पोता च प्रशास्ता च=अप्तृन्तृच्—प्रशास्तार, तेषाम्=अप्तृन्—प्रशास्तृणाम्, इतरेतरद्वन्द्व. । तृन् और तृच् प्रत्यय हैं अत. प्रत्यय-ग्रहणपरिभाषा द्वारा तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ —(अप्तृन्—प्रशास्तृणाम्) अप्, तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ तथा प्रशास्तृ शब्दो की (उपधाया) उपधा के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ होता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर। अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक होता है—यह पीछे (१७६) सूत्र पर कहा जा चुका है।

इस सूत्र पर विशेष विचार स्वय ग्रन्थकार आगे ऋदन्त प्रकरण मे करेंगे; अतः हम भी उस की वही व्याख्या करेंगे।

'क्रोष्टन्+स्' यहा एकदेशविकृतमनन्यवत् के अनुसार 'क्रोष्टन्' शब्द तृजन्त है। इस की उपधा नकार से पूर्व टकारोत्तर अकार है। सम्बुद्धिभिन्न सुँ=सर्वनाम-स्थान परे है ही, अत प्रकृतसूत्र से उपधा को दीर्घ हो गया तो—'क्रोष्टान्+स्'। इस स्थिति मे हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सकार का लोप हो कर न लोपः प्राति-पदिकान्तस्य (१८०) से नकार का भी लोप हो जाने से—'क्रोष्टा' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—यद्यपि सुँ मे सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ(१७७) सूत्र द्वारा भी उपधा-दीर्घ सिद्ध हो सकता था तथापि औ, जस् आदियो मे नान्त न होने से उपधादीर्घ अप्राप्त था अत प्रकृतसूत्र का बनाना आवश्यक था। तब यह सुँ मे न्यायवशात् प्रवृत्त हो जाता है।

'क्रोष्टु+औ=क्रोष्टृ+औ' यहा सुँ परे न होने से अनँङ् आदेश नही होता। ऋतो ङि० (२०४) से गुण तथा अप्तृन्तृच्० (२०६) से उपधादीर्घ हो कर—क्रोष्टारौ।

क्रोष्टु+अस् (जस्)=क्रोष्टृ+अस्। यहा भी पूर्ववत् गुण और उपधादीर्घ करने पर 'क्रोष्टार.' प्रयोग सिद्ध होता है।

क्रोष्टु+अम्=क्रोष्टृ+अम्। गुण और उपधादीर्घ हो—'क्रोष्टारम्'। ध्यान रहे कि यह गुण, पूर्वसवर्णदीर्घ तथा अमि पूर्वः (१३५) आदि का अपवाद है।

'क्रोष्टु+अस्(शस्)' यहा सर्वनामस्थान परे न होने से तृज्वद्भाव नही होता। पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार को नकार करने से 'क्रोष्टून्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'क्रोष्टु+आ(टा)' यहा वैकल्पिक तृज्वद्भाव का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२०७) विभाषा तृतीयादिष्वचि ।७।१।९७॥

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत् । क्रोष्ट्रा । क्रोष्ट्रे ॥

अर्थः—अजादि तृतीयादि विभक्ति परे हो तो 'क्रोष्टु' विकल्प से तृज्वत् हो ।

व्याख्या—क्रोष्टुः ।१।१। तृज्वत् इत्यव्ययपदम् । (तृज्वत्क्रोष्टुः से)। विभाषा इत्यव्ययपदम् । तृतीयादिषु ।७।३। अचि ।७।१। 'अचि' पद 'तृतीयादिषु' का विशेषण है, अतः तदादिविधि हो कर 'अजादिषु' बन जायेगा । अर्थः—(अचि) अच् जिस के आदि में है ऐसी (तृतीयादिषु) तृतीया आदि विभक्ति परे हो तो (क्रोष्टुः) क्रोष्टुशब्द (विभाषा) विकल्प कर के (तृज्वत्) तृजन्त के समान होता है ।

तृतीयादि विभक्तियों में अजादि विभक्तियां आठ हैं । १ टा(आ), २ ङे (ए), ३ ङसिँ(अस्), ४ ङस्(अस्), ५ ओस्, ६ आम्, ७ ङि(इ), ८ ओस् ।

जिस पक्ष में क्रोष्टृ आदेश न होगा वहां सर्वत्र घिसञ्ज्ञा हो कर 'शम्भु' शब्द के समान प्रक्रिया होगी ।

तृतीया के एकवचन में 'क्रोष्टु+आ' इस स्थिति में अजादि तृतीयादि विभक्ति परे होने से विकल्प से तृज्वद्भाव हुआ । तृज्वद्भावपक्ष में 'क्रोष्टृ+आ' इस स्थिति में **इको यणचि** (१५) से ऋकार को रेफ आदेश हो कर 'क्रोष्ट्रा' प्रयोग सिद्ध हुआ । तृज्वत् के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो कर टा को ना आदेश करने पर 'क्रोष्टुना' रूप सिद्ध होता है ।

भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् तृतीयादि होने पर भी हलादि हैं, अतः इन में तृज्वद्भाव न होगा—क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभिः, क्रोष्टुभ्यः, क्रोष्टुषु ।

चतुर्थी के एकवचन में 'क्रोष्टु+ए' इस दशा में विकल्प कर के तृज्वद्भाव हुआ । तृज्वद्भावपक्ष में यण् हो—'क्रोष्ट्रे' रूप सिद्ध हुआ । तदभावपक्ष में **घेर्ङिति** (१७२) द्वारा गुण हो कर अव् आदेश करने से—'क्रोष्टवे' रूप सिद्ध होता है ।

तृज्वद्भावपक्ष में पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'क्रोष्टृ+अस्' इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(२०८) ऋत उत् ।६।१।१०७॥**

ऋतो ङसिँ-ङसोरति उद् एकादेशः । रपरः ॥

अर्थः—ऋत् से ङसिँ अथवा ङस् का अत् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर उत् एकादेश हो । **उरण्रपरः** (२९) से रपर भी हो जायेगा ।

व्याख्या—ऋतः ।५।१। ङसिँ-ङसोः ।६।२। (**ङसिँ-ङसोश्च** से) । अति ।७।१। (**एङः पदान्तादति** से)। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। (**एकः पूर्वपरयोः** यह अधिकृत है)। उत् ।१।१। अर्थः—(ऋतः) ह्रस्व ऋकार से (ङसिँ-ङसोः) ङसिँ अथवा ङस् का (अति) अत् परे हो तो (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (उत्) ह्रस्व उकार आदेश होता है । **उरण्रपरः** (२९) से रपर हो कर 'उर्' आदेश बन जायेगा ।

प्रश्न—प्रत्यय अर्थात् विधीयमान अण् अपने सवर्णों का ग्राहक नहीं होता—यह पीछे **अणुदित्०** (११) सूत्र में कहा गया है । इस नियमानुसार **ऋत उत्** यहां विधीयमान उकार से सवर्णों का ग्रहण न होगा । इस से दीर्घ ऊकार आदि के एका-

देश होने की आशङ्का नही की जा सकती । तो पुन. ऋत उत् मे उकार को तपर करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—यहा उकार को तपर करने से आचार्य यह जनाना चाहते हैं कि—**भाव्यमानोऽप्यण् क्वचित् सवर्णान् गृह्णाति** अर्थात् कहीं २ विधीयमान भी अण् अपने सवर्णों का ग्राहक हुआ करता है । अत एव—**यवलपरे यवला वा** (वा० १३) वार्तिक द्वारा अनुनासिक यकार आदियों का विधान हो जाता है । इसी प्रकार—**अदसोऽसेर्दादु दो म.** (३५६) सूत्र मे प्राचीन वैयाकरणो ने उकार से ह्रस्व और दीर्घ दोनो प्रकार के उकारो का ग्रहण किया है । यहा का विशेष विवेचन सिद्धान्त-कौमुदी की टीकाओं में देखें ।

'क्रोष्टृ+अस्' यहा ऋत् से परे ङसिँ वा ङस् का अत् विद्यमान है, अत प्रकृत-सूत्र से पूर्व (ऋ) और पर (अ) के स्थान पर उर् एकादश हो—'क्रोष्ट् उर् स्' हुआ । अब अग्रिम नियम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(२०९) **रात् सस्य** ।८।२।२४॥

रेफात् सयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य । रेफस्य विसर्ग । क्रोष्टु । क्रोष्ट्रो ॥

अर्थ.—रेफ से परे यदि सयोगान्तलोप हो तो सकार का ही हो, अन्य का नही।

व्याख्या—रात् ।५।१। सयोगान्तस्य ।६।१। सस्य ।६।१। लोप ।१।१। (सयोगान्तस्य लोप. से)। रेफ से परे सयोगान्त सकार का लोप **सयोगान्तस्य लोप.** (२०) से ही सिद्ध हो जाता है, पुन इस का कथन **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ.** के अनुसार नियमार्थ है । अत 'एव' पद प्राप्त हो जाता है । अर्थ —(रात्) रेफ से परे (सयोगान्तस्य) सयोग के अन्त मे वर्तमान (सस्य) सकार का (एव) ही (लोप) लोप होता है, अन्य किसी वर्ण का नहीं । उदाहरण यथा—'ऊर्क्' । नपुसक ऊर्ज् शब्द से सुँ का लुक्(२४४) होने पर **सयोगान्तस्य लोप.**(२०) द्वारा जकार का लोप प्राप्त होता है, वह अब इस नियम के कारण नहीं होता ।

नोट—ध्यान रहे कि नियमसूत्रों के उदाहरण वही होते हैं जो लोक मे प्रयुदाहरण समझे जाते हैं । नियमसूत्रों की चरितार्थता भी इसी मे है । **पति' समास एव** (१८५)का उदाहरण वस्तुत 'पत्ये' ही है, 'भूपतये' नही, इसी प्रकार **रात्सस्य**(२०९) का उदाहरण 'ऊर्क्' ही है, 'क्रोष्टु' नही । बालको के बोध के लिये ही 'भूपतये' आदि रूपो मे नियमसूत्रों की प्रवृत्ति दर्शाई गई है ।

'क्रोष्ट् उर् स्' यहा पर **रात्सस्य** (२०९)की सहायता से **सयोगान्तस्य लोप**' (२०)द्वारा सकार का लोप हो कर अवसान मे **खरवसानयो०** (९३) से रेफ को विसर्ग करने से 'क्रोष्टु' रूप सिद्ध होता है । तृज्वद्भाव के अभाव मे घिसञ्ज्ञा होकर **घेर्ङिति** (१७२) से गुण तथा **ङसिँ-ङसोश्च** (१७३) से पूर्वरूप होकर 'क्रोष्टो' प्रयोग बनता है ।

षष्ठी के द्विवचन में 'क्रोष्टु+ओस्' इस दशा में तृज्वद्भाव हो कर यण् करने से—'क्रोष्ट्रोः'। तदभावपक्ष में भी उकार को वकार होकर—'क्रोष्ट्वोः'।

षष्ठी के बहुवचन में 'क्रोष्टु+आम्' इस दशा में तृज्वद्भाव तथा **ह्रस्वनद्यापः०** (१४८) से नुँट् युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों सावकाश है। नुँट् को 'हरीणाम्' आदि में तथा तृज्वद्भाव को 'क्रोष्ट्रा' आदि में अवकाश प्राप्त हो चुका है। इस पर **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) से पर कार्य होने के कारण तृज्वद्भाव ही प्राप्त होता है। अब अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(१९) नुँम्-अचिर-तृज्वद्भावेभ्यो नुँट् पूर्वविप्रतिषेधेन ॥

क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च शम्भुवत् ॥

अर्थः—नुँम्, अच् परे होने पर रेफादेश [**अचि र ऋतः** (२२५) से] और तृज्वद्भाव—इन से पूर्वविप्रतिषेध के कारण नुँट् हो जाता है।

व्याख्या—तुल्य बल वाले दो कार्यों का प्रतिषेध होने पर **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) द्वारा अष्टाध्यायीक्रमानुसार परकार्य विधान किया जाता है। इस से—मनोरथः, रामेभ्यः आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु ऐसा करने से व्याकरण में कहीं कहीं दोष भी आ जाते हैं। क्योंकि वहां परकार्य करना इष्ट नहीं हुआ करता, पूर्वकार्य करना ही अभीष्ट होता है। तो उन दोषों की निवृत्ति के लिये **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** सूत्र को **विप्रतिषेधेऽपरं कार्यम्** इस प्रकार पढ़ अपर अर्थात् पूर्वकार्य का विप्रतिषेध में विधान कर इष्ट सिद्ध किया जाता है। परन्तु कहां कहां 'अपरम् कार्यम्' छेद करें—इस के लिये भगवान् कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों में उन उन स्थानों का परिगणन कर दिया है। यह वार्त्तिक उन में से एक है। इन परिगणित स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र परकार्य और इन में पूर्वकार्य होगा।

भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि 'पर' शब्द को इष्टवाची मान कर दोष निवृत्त कर लेते हैं। यथा—**अस्तीष्टवाची परशब्दः, तद्यथा—'परं धाम गतः'। इष्टं धाम गत इति गम्यते। तद् य इष्टवाची परशब्दस्तस्येदं ग्रहणम्। विप्रतिषेधे परं यद् इष्टं तद् भवतीति।**

नुँम् [**इकोऽचि विभक्तौ** (२४५) से], अच् परे होने पर रेफादेश [**अचि र ऋतः** (२२५) से] और तृज्वद्भाव [**तृज्वत्क्रोष्टुः** (२०३), **विभाषा तृतीयादिष्वचि** (२०७) से]—इन तीन कार्यों के साथ यदि नुँट् [**ह्रस्वनद्यापो नुँट्** (१४८)] का विप्रतिषेध हो तो नुँट् ही होता है। वे तीनों यद्यपि अष्टाध्यायी में सूत्रक्रमानुसार पर हैं और इन की अपेक्षा नुँट् पूर्व है तथापि नुँट् हो जाता है। नुँम् तथा अच् परे होने पर रेफादेश के साथ नुँट् के विप्रतिषेध के उदाहरण आगे 'वारि' और 'तिसृ' शब्दों पर स्पष्ट किये गये हैं। यहां तृज्वद्भाव के साथ नुँट् के विप्रतिषेध का उदाहरण प्रस्तुत है—

'क्रोष्टु+आम्' यहां नुंट् का तृज्वद्भाव के साथ विप्रतिषेध है अतः प्रकृत-वार्तिक द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से नुंट् हो नामि (१४९) से दीर्घ करने पर—'क्रोष्टूनाम्'।

'क्रोष्टु+इ' (ङि) यहां 'इ' यह अजादि तृतीयादि विभक्ति परे है अतः विकल्प से तृज्वद्भाव हो गया। तृज्वद्भावपक्ष में ऋतो ङि० (२०४) से अर् गुण हो कर 'क्रोष्टरि' रूप बना। तदभावपक्ष में अच्च घेः (१७४) से ङि को औ तथा उकार को अकार कर वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि करने से क्रोष्टौ' रूप सिद्ध हुआ।

'हे क्रोष्टु+स्'। सम्बुद्धि में तृज्वद्भाव के निषेध के कारण तृज्वत्क्रोष्टुः (२०३) प्रवृत्त न हुआ। ह्रस्वस्य गुणः (१६९) से गुण तथा एङ्ह्रस्वात्० (१३४) द्वारा सम्बुद्धि के सकार का लोप हो कर 'हे क्रोष्टो!' रूप बना। 'हे क्रोष्टः' लिखना अशुद्ध है। 'क्रोष्टु' शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः
द्वितीया	क्रोष्टारम्	,,	क्रोष्टून्
तृतीया	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः
चतुर्थी	क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे	,,	क्रोष्टुभ्यः
पञ्चमी	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टूनाम्
सप्तमी	क्रोष्टरि, क्रोष्टौ	,, ,,	क्रोष्टुषु
सम्बोधन	हे क्रोष्टो!	हे क्रोष्टारौ!	हे क्रोष्टारः!

अभ्यास (३१)

(१) ऋत उत् में तपर करने का क्या प्रयोजन है? सविस्तर टिप्पणी करें।

(२) पूर्वविप्रतिषेध और परविप्रतिषेध किसे कहते हैं? इन दोनों का विप्रतिषेधे परं कार्यम् इस एक ही सूत्र से कैसे प्रतिपादन किया जाता है?

(३) रात्सस्य सूत्र की व्याख्या करते हुए इस बात को स्पष्ट करें कि नियम-सूत्रों में प्रत्युदाहरण ही वस्तुतः उदाहरण होते हैं।

(४) किस आन्तर्य के कारण क्रोष्टु शब्द के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो जाता है?

(५) 'हे क्रोष्टः!' प्रयोग के शुद्धाशुद्ध होने का विवेचन करें।

(६) सूत्रनिर्देशपूर्वक निम्नस्थ प्रयोगों की सिद्धि करें—
१ क्रोष्टुः। २ क्रोष्टः। ३ क्रोष्टूनाम्। ४ क्रोष्टारौ। ५ भानो। ६ क्रोष्ट्रा। ७ शम्भवः। ८ शम्भो। ९ क्रोष्टा। १० क्रोष्टरि।

(यहां ह्रस्व उकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

— ० —

अब ऊकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का वर्णन किया जाता है—

[लघु०] हूहूः, हूह्वौ, हूह्वः। हूहून्। इत्यादि ॥

व्याख्या—'हूहू' अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। हाहा हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम् इत्यमरः। इस का अर्थ 'गन्धर्व-विशेष' है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	हूहूः	हूह्वौ†	हूह्वः†	पं०	हूह्वः*	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः
द्वि०	हूहूम्@	,,†	हूहून्‡	ष०	,,*	हूह्वोः*	हूह्वाम्*
तृ०	हूह्वा*	हूहूभ्याम्	हूहूभिः	स०	हूह्वि*	,,*	हूहूषु
च०	हूह्वे*	,,	हूहूभ्यः	सं०	हे हूहूः!	हे हूह्वौ!	हे हूह्वः!

† दीर्घाज्जसि च से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर इको यणचि से यण्।
@ यहां अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप हो जाता है।
‡ पूर्वसवर्ण-दीर्घ हो कर तस्माच्छसो नः० (१३७) से नत्व हो जाता है।
* सर्वत्र इको यणचि (१५) से यण् हो जाता है।

[लघु०] 'अतिचमू'शब्दे तु नदीकार्यं विशेषः। हे अतिचमु!। अतिचम्वै। अतिचम्वाः। अतिचमूनाम्। अतिचम्वाम् ॥

व्याख्या—'चमू' शब्द ऊदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग है। इस का अर्थ है—सेना। चमूम् अतिक्रान्तः=अतिचमूः, अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया (वा० ५९) इति वार्त्तिकेन समासः। जो सेना को अतिक्रमण (विजय) कर गया हो उस विजेता को 'अतिचमू' कहते हैं। 'अतिचमू' शब्द की प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च वार्त्तिक की सहायता से यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) सूत्र द्वारा नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। अतः नदीकार्य अर्थात् सम्बुद्धि में ह्रस्व, ङितों में आट् का आगम; आम् को नुँट् आगम और ङि को आम् आदेश ये सब कार्य हो जाते हैं। 'अतिचमू' शब्द की समग्र प्रक्रिया बहुश्रेयसी शब्द की तरह होती है। केवल ङ्यन्त न होने से सुँ का लोप नहीं होता।

'अतिचमू' शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	अतिचमूः†	अतिचम्वौ	अतिचम्वः
द्वितीया	अतिचमूम्	,,	अतिचमून्
तृतीया	अतिचम्वा	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभिः
चतुर्थी	अतिचम्वै‡	,,	अतिचमूभ्यः
पञ्चमी	अतिचम्वाः‡	,,	,,
षष्ठी	,, ‡	अतिचम्वोः	अतिचमूनाम्✓
सप्तमी	अतिचम्वाम्@	,,	अतिचमूषु
सम्बोधन	हे अतिचमु!*	हे अतिचम्वौ!	हे अतिचम्वः!

† ङ्यन्त न होने से हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) द्वारा सुँलोप नहीं होता।
‡ आण्नद्याः (१९६), आटश्च (१९७), इको यणचि (१५)।
✓ ह्रस्वनद्यापो नुँट् (१४८) से नुँट्।
@ ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (१९८), आण्नद्याः (१९६), आटश्च (१९७), इको यणचि (१५)।
* अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (१९५), एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (१३४)।

[लघु०] खलपू ॥

व्याख्या—खलं पुनातीति खलपू । 'खल' कर्मोपपद पूञ् पवने (क्र्या० उ०) धातु से क्विंप् प्रत्यय करने पर 'खलपू' शब्द निष्पन्न होता है । झाड़ू द्वारा खलियान या स्थान को शुद्ध करने वाले नौकर को 'खलपू' कहते हैं । अथवा दुष्टों को पवित्र करने वाले को भी 'खलपू' कह सकते हैं । 'खलपू' शब्द में ऊकार 'पू' धातु का अवयव है ।

'खलपू+स्' यहां ङ्यन्तादि न होने से सुँलोप नहीं होता—'खलपूः' ।

'खलपू+औ' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर **दीर्घाज्जसि च** (१६२) से उस का निषेध हो जाता है । अब **इको यणचि** (१५) से यण् प्राप्त होने पर **क्विबन्ता धातुत्वं न जहति** के अनुसार धातु होने से उस का भी बाध कर **अचि श्नु-धातु०** (१९९) से उवँङ् प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२१०) **ओः सुँपि** ।६।४।८३॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुः, तदन्त-स्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्याद् अचि सुँपि । खलप्वौ, खलप्वः ॥

अर्थः—धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं जिस उवर्ण के, वह उवर्ण है अन्त में जिस धातु के वह धातु है अन्त में जिस के, ऐसा जो अनेकाच् अङ्ग, उस को यण् हो अजादि सुँप् परे होने पर ।

व्याख्या—ओः ।६।१। अनेकाचः ।६।१। असंयोगपूर्वस्य ।६।१। (एरनेकाचोऽ-संयोगपूर्वस्य से) । धातोः ।६।१। अचि ।७।१। (अचि श्नु-धातु० से) । सुँपि ।७।१। यण् ।१।१। (इको यण् से) । 'ओः' पद 'उ' शब्द के षष्ठी का एकवचन है । इस का अर्थ है—उवर्णस्य । 'धातोः' पद की आवृत्ति की जाती है । एक 'धातोः' पद 'ओः' का विशेष्य बन जाता है जिस से 'ओः' से तदन्तविधि हो कर 'उवर्णान्तस्य धातोः' ऐसा हो जाता है । दूसरा 'धातोः' पद 'असंयोगपूर्वस्य' पद के 'संयोग' अंश के साथ सम्बद्ध होता है । अङ्गस्य यह अधिकृत है । इस का 'ओर्धातोः' (उवर्णान्तस्य धातोः) यह विशेषण है । अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर—'उवर्णान्तधात्वन्तस्य अङ्गस्य' ऐसा अर्थ हो जाता है । 'अनेकाचः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है । 'असंयोगपूर्वस्य' का 'ओः' के साथ सामानाधिकरण्य है । अर्थः—(धातोः, असंयोगपूर्वस्य) धातु का अवयव संयोग जिस के पूर्व में नहीं ऐसा (ओः) जो उवर्ण, तदन्त (धातोः) जो धातु, तदन्त (अनेकाचः) अनेक अचों वाले (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (यण्) यण् आदेश हो (अचि) अजादि (सुँपि) सुँप् परे होने पर । तात्पर्य—अजादि सुँप् प्रत्यय परे रहते उस अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश होता है जिस के अन्त में उवर्णान्त धातु हो परन्तु धातु के उवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग न हो ।

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (२००) सूत्र का विषय इवर्णान्त धातु है और इस का विषय उवर्णान्त धातु है । वह प्रत्येक प्रकार के अजादि प्रत्ययों में यण् करता है और यह केवल अजादि सुँप् में । शेष सब बातें दोनों में समान हैं । दोनों **अचि श्नु०** (१९९) के अपवाद हैं ।

'खलपू+औ' यहां 'पू' उवर्णान्त धातु है, इस के उवर्ण से पूर्व धातु का कोई अवयव संयोगयुक्त नहीं। अनेकाच् अङ्ग 'खलपू' है इस से परे 'औ' यह अजादि सुँप् वर्त्तमान है ही। अतः अलोऽन्त्यपरिभाषा की सहायता से प्रकृतसूत्र द्वारा ऊकार को यण्=वकार हो कर—'खलप्वौ' रूप बना।

नित्यस्त्रीलिङ्गी न होने के कारण 'खलपू' शब्द की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती; अतः आट् आदि नदीकार्य नहीं होते। सर्वत्र अजादि सुँपों में यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	खलपूः	खलप्वौ	खलप्वः	प०	खलप्वः	खलपूभ्याम्	खलपूभ्यः
द्वि०	खलप्वम्‡	,,	,,‡	ष०	,,	खलप्वोः	खलप्वाम्
तृ०	खलप्वा	खलपूभ्याम्	खलपूभिः	स०	खलप्वि	,,	खलपूषु
च०	खलप्वे	,,	खलपूभ्यः	सं०	हे खलपूः!	हे खलप्वौ!	हे खलप्वः!

‡ अम् और शस् में परत्व के कारण **ओः सुँपि** (२१०) से यण् हो जाता है।

[लघु०] एवं सुल्वादयः ॥

व्याख्या—'खलपू' शब्द के समान ही 'सुलू, उल्लू' आदि शब्दों के रूप होते हैं। सुष्ठु लुनातीति सुलूः (अच्छी प्रकार से काटने वाला)। उत्कृष्टं लुनातीति उल्लूः (उत्कृष्ट रीति से काटने वाला)। **लूञ् छेदने** (क्र्या० उ०) धातु से कर्त्ता में क्विँप् प्रत्यय करने से इन की निष्पत्ति होती है। सर्वत्र अजादि सुँपों में यण् (२१०) हो जाता है। ध्यान रहे कि 'उल्लू' में संयोग धातु का अवयव नहीं, उपसर्ग के तकार को मिला कर बना है अतः यण् करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इन दोनों की रूपमाला यथा—

	सुलू				उल्लू		
प्र०	सुलूः	सुल्वौ	सुल्वः	प्र०	उल्लूः	उल्ल्वौ	उल्ल्वः
द्वि०	सुल्वम्	,,	,,	द्वि०	उल्ल्वम्	,,	,,
तृ०	सुल्वा	सुलूभ्याम्	सुलूभिः	तृ०	उल्ल्वा	उल्लूभ्याम्	उल्लूभिः
च०	सुल्वे	,,	सुलूभ्यः	च०	उल्ल्वे	,,	उल्लूभ्यः
प०	सुल्वः	,,	,,	प०	उल्ल्वः	,,	,,
ष०	,,	सुल्वोः	सुल्वाम्	ष०	,,	उल्ल्वोः	उल्ल्वाम्
स०	सुल्वि	,,	सुलूषु	स०	उल्ल्वि	,,	उल्लूषु
सं०	हे सुलूः!	हे सुल्वौ!	हे सुल्वः!	सं०	हे उल्लूः!	हे उल्ल्वौ!	हे उल्ल्वः!

[लघु०] स्वभूः। स्वभुवौ। स्वभुवः॥

व्याख्या—स्वस्माद्भवतीति स्वभूः। 'स्व'पूर्वक **भू सत्तायाम्** (भ्वा० प०) धातु से क्विँप् प्रत्यय करने पर 'स्वभू' शब्द निष्पन्न होता है। ब्रह्मा को 'स्वभू' कहते हैं।

स्वभू+सुँ=स्वभूः। ङ्यन्तादि न होने से सुँ का लोप नहीं होता।

'स्वभू+औ' इस दशा मे प्रथम इको यणचि (१५) से यण् प्राप्त है। उस का बाध कर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ। उस का दीर्घाज्जसि च (१६२) से निषेध हो गया। पुन इको यणचि से यण् प्राप्ति, उस का बाध कर अचि श्नु० (१९९)से उवँङ् आदेश की प्राप्ति, उस का बाध कर ओः सुँपि (२१०) से यण् प्राप्त होता है। इस यण् का न भूसुधियो (२०२) से निषेध हो जाता है। तब पुन उवँङ् आदेश हो कर 'स्वभुवौ' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार आगे अजादि विभक्तियो मे सर्वत्र उवँङ् कर लेना चाहिये। 'स्वभू' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	स्वभू	स्वभुवौ	स्वभुव	प०	स्वभुव	स्वभूभ्याम्	स्वभूभ्य
द्वि०	स्वभुवम्	,,	,,	ष०	,	स्वभुवो	स्वभुवाम्
तृ०	स्वभुवा	स्वभूभ्याम्	स्वभूभि	स०	स्वभुवि	,,	स्वभूषु
च०	स्वभुवे	,,	स्वभूभ्य	सं०	हे स्वभू !	हे स्वभुवौ !	हे स्वभुव !

इसी प्रकार स्वयम्भू (ब्रह्मा), आत्मभू (कामदेव) प्रतिभू (जामिन) आदि शब्दो के रूप होते हैं।

[लघु०] वर्षाभू ॥

व्याख्या—वर्षासु भवतीति वर्षाभू (दर्दुर मेढक)। 'वर्षा'पूर्वक भू सत्तायाम् (भ्वा० प०) धातु से क्विँप् प्रत्यय करने पर 'वर्षाभू' शब्द निष्पन्न होता है। यहा अजादियो म ओः सुँपि (२१०) द्वारा प्राप्त यण् का न भूसुधियो (२०२) स निषेध हो जाता है। इस पर अग्रिमसूत्र से पुन यण् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२११) वर्षाभ्वश्च ।६।४।८४॥

अस्य यण् स्याद् अचि सुँपि। वर्षाभ्वौ। इत्यादि ॥

अर्थ.—अजादि सुँप् प्रत्यय परे होने पर वर्षाभू शब्द को यण् हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। (अचि श्नु० से)। सुँपि ।७।१। (ओः सुँपि से)। वर्षाभ्व ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। यण् ।१।१। (इणो यण् से)। अर्थ —(अचि) अजादि (सुपि) सुँप् परे रहते (वर्षाभ्व) वर्षाभू शब्द के स्थान पर (यण्) यण् हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् ऊकार को यण् होगा। रूपमाला यथा—

प्र०	वर्षाभू	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्व	प०	वर्षाभ्व	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्य
द्वि०	वर्षाभ्वम्	,,	,,	ष०	,,	वर्षाभ्वो	वर्षाभ्वाम्
तृ०	वर्षाभ्वा	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभि	स०	वर्षाभ्वि	,,	वर्षाभूषु
च०	वर्षाभ्वे	,,	वर्षाभूभ्य	सं०	हे वर्षाभू !	हे वर्षाभ्वौ !	हे वर्षाभ्व !

ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् आदि कार्य न होंगे।

[लघु०] दृन्भू ॥

व्याख्या—'दृन्' अव्यय के उपपद होने पर 'भू' धातु से क्विँप् प्रत्यय करने पर 'दृन्भू' शब्द निष्पन्न होता है। दृन्=हिसा भवते=प्राप्नोतीति दृन्भू। वर्त्तमान

उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में इस के प्रयोगों के उपलब्ध न होने से इस के अर्थ में बड़ा विवाद है। कई इस का अर्थ सर्पविशेष वा वज्र करते हैं, कोई इसे वानर वा सूर्यवाची मानते हैं।

अजादि विभक्तियों में **ओः सुँपि** (२१०) से प्राप्त यण् का **न भूसुधियोः** (२०२) से निषेध हो जाता है। तब अग्रिमवार्त्तिक से पुनः यण् का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(२०) दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः ॥

दृन्भ्वौ। एवं करभूः ॥

अर्थः—अजादि सुँप् परे होने पर दृन्, कर और पुनर् पूर्व वाले 'भू' शब्द के स्थान पर यण् आदेश करना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **वर्षाभ्वश्च** (२११) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। दृन्भू, करभू और पुनर्भू शब्दों के ऊकार को यण् हो अजादि सुँप् परे हो तो—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है।

'दृन्भू' शब्द को इस वार्त्तिक से अजादि सुँप् में यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	दृन्भूः	दृन्भ्वौ	दृन्भ्वः	प०	दृन्भ्वः	दृन्भूभ्याम्	दृन्भूभ्यः
द्वि०	दृन्भ्वम्	,,	,,	ष०	,,	दृन्भ्वोः	दृन्भ्वाम्
तृ०	दृन्भ्वा	दृन्भूभ्याम्	दृन्भूभिः	स०	दृन्भ्वि	,,	दृन्भूषु
च०	दृन्भ्वे	,,	दृन्भूभ्यः	सं०	हे दृन्भूः !	हे दृन्भ्वौ !	हे दृन्भ्वः !

इसी प्रकार करभू और पुनर्भू शब्दों के रूप बनते हैं। करे भवतीति करभूः (नख=नाखून), पुनर्भवतीति पुनर्भूः (पुनः पैदा होने वाला)। कर और पुनर् के उपपद रहते **भू सत्तायाम्** (भ्वा० प०) धातु से क्विँप् प्रत्यय करने पर करभू और पुनर्भू शब्द निष्पन्न होते हैं। अजादि विभक्तियों में पूर्वोक्त वार्त्तिक से यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

	करभू				पुनर्भू		
प्र०	करभूः	करभ्वौ	करभ्वः	प्र०	पुनर्भूः	पुनर्भ्वौ	पुनर्भ्वः
द्वि०	करभ्वम्	,,	,,	द्वि०	पुनर्भ्वम्	,,	,,
तृ०	करभ्वा	करभूभ्याम्	करभूभिः	तृ०	पुनर्भ्वा	पुनर्भूभ्याम्	पुनर्भूभिः
च०	करभ्वे	,,	करभूभ्यः	च०	पुनर्भ्वे	,,	पुनर्भूभ्यः
प०	करभ्वः	,,	,,	प०	पुनर्भ्वः	,,	,,
ष०	,,	करभ्वोः	करभ्वाम्	ष०	,,	पुनर्भ्वोः	पुनर्भ्वाम्
स०	करभ्वि	,,	करभूषु	स०	पुनर्भ्वि	,,	पुनर्भूषु
सं०	हे करभूः!	हे करभ्वौ!	हे करभ्वः!	सं०	हे पुनर्भूः!	हे पुनर्भ्वौ!	हे पुनर्भ्वः!

सूचना—'पुनः ब्याही हुई स्त्री' इस अर्थ में 'पुनर्भू' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग होता है, पुंल्लिङ्ग नहीं। स्त्रीलिङ्ग में इस का उच्चारण सिद्धान्त-कौमुदी में देखना चाहिये।

अभ्यास (३२)

(१) 'लुलू+अतुस्=लुलुवतु' आदि मे ओ. सुँपि से यण् क्यो न हो ?

(२) 'खलप्वौ, खलप्व' आदि मे एरनेकाच० से यण् क्यो नही होता ?

(३) स्वभू, वर्षाभू, आत्मभू, करभू, खलपू, अतिचमू और हूहू शब्दो के द्वितीया तथा सप्तमी के एकवचन मे रूप सिद्ध करें।

(४) उवँङ् आदेश ओ सुँपि के यण् का बाधक है या इको यणचि मे यण् का ? सप्रमाण स्पष्ट करें।

(५) एरनेकाच.० सूत्र की अपेक्षा ओ. सुँपि सूत्र में क्या विशेषता है ?

(६) ओ. सुँपि सूत्र का सोदाहरण विवेचन करें।

(यहां दीर्घ ऊकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—— o ——

अब ऋकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दा का वर्णन करते हैं —

[लघु०] धाता। हे धात !। धातारौ। धातार.॥

व्याख्या—डुधाञ् धारण-पोषणयो (जुहो० उ०) धातु से कर्त्ता मे तृन् वा तृच् प्रत्यय करने पर 'धातृ' शब्द निष्पन्न होता है। दधातीति धाता, धारण पोषण करने के कारण परमात्मा का नाम 'धातृ' है।

'धातृ' शब्द के रूप प्राय क्रोष्टृ शब्द के समान बनते हैं। तथाहि—

सुँ मे ऋदन्त होने से ऋदुशनस्० (२०५) सूत्र से अनँङ् आदेश, अप्तृन्तृच्० (२०६) से उपधादीर्घ, हल्ङ्याब्भ्य० (१७९) से अपृक्त सकार का लोप और न लोप० (१८०) से नकार का लोप हो कर 'धाता' रूप बनता है।

सम्बुद्धि मे 'हे धातृ+स्' इस दशा मे अनँङ् आदेश नही होता। ऋतो ङिसर्वनामस्थानयो (२०४) मे ऋकार के स्थान पर गुण=अर् हो, सुँलोप और रेफ को विसर्ग करने से—'हे धात !' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि सम्बुद्धि मे निषेध के कारण उपधादीर्घ नही होता।

विशेष—धातर्देहि, धातर्यच्छ, धातरव इत्यादि स्थानो पर र् का रेफ न होने से हशि च (१०७) आदि से उत्व न होगा। अत 'धातो देहि, धातो यच्छ, धातोऽव' आदि लिखना अशुद्ध है। 'धाता रक्ष' इत्यादि स्थानो पर रो रि (१११) से रेफ-लोप तथा ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण (११२) से पूर्व अण् को दीर्घ तो हो ही जायेगा।

प्रथमा के द्विवचन मे 'धातृ+औ' यहा ऋतो ङिसर्वनामस्थानयो. (२०४) से ऋकार को अर् गुण तथा अप्तृन्तृच्० (२०६) से उपधादीर्घ हो कर—धातार्+औ=धातारौ। इसी प्रकार जस्, अम् और औट् मे—'धातार, धातारम्, धातारौ' रूप सिद्ध होते हैं।

द्वितीया के बहुवचन 'धातृ+अस्'(शस्) मे सर्वनामस्थान न होने से ऋतो ङिसर्वनामस्थानयो (२०४) द्वारा गुण नही होता। पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार को

नकार आदेश हो जाता है—धातॄन् । यहां **पदान्तस्य** (१३९) से णत्व का निषेध समझना चाहिये ।

तृतीया के एकवचन 'धातृ+आ' (टा) में **इको यणचि** (१५) से यण् हो जाता है—धात्र्+आ='धात्रा' । भ्याम्, भिस् और भ्यस् में कुछ परिवर्त्तन नहीं होता—धातृभ्याम् धातृभिः, धातृभ्यः ।

चतुर्थी के एकवचन 'धातृ+ए' (ङे) में भी **इको यणचि** (१५) से यण् हो कर—धात्र्+ए='धात्रे' ।

पञ्चमी वा षष्ठी के एकवचन 'धातृ+अस्' (ङसिँ वा ङस्) में **ऋत उत्** (२०८) द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर उर् एकादेश हो कर सकार का संयोगान्तलोप तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'धातुः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

धातृ+ओस्='धात्रोः' [**इको यणचि** (१५)] ।

षष्ठी के बहुवचन में **ह्रस्वनद्यापो नुँट्** (१४८) से नुँट् आगम तथा **नामि** (१४९) से दीर्घ करने पर—धातॄ+नाम् । अब यहां रेफ या षकार न होने के कारण **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (२६७) से णत्व प्राप्त नहीं हो सकता । अतः इस के लिये अग्रिम वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(२१) ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् ।।

धातॄणाम् ।।

अर्थः—णत्वप्रकरण में ऋवर्ण से परे भी नकार को णकार कहना चाहिये ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक सम्पूर्ण णत्वविधायक सूत्रों का शेष समझना चाहिये । अतः प्रत्येक णत्वविधायक सूत्र में इस की प्रवृत्ति होती है । इस से जिस २ व्यवधान या नियम के अधीन रेफ या षकार से परे णत्व करना कहा गया है वहां २ सर्वत्र ऋवर्ण से परे का भी सङ्ग्रह कर लेना चाहिये—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है ।

'धातॄ+नाम्' यहां ऋवर्ण से परे इस वार्त्तिक की सहायता से **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (२६७) सूत्र द्वारा नकार को णकार हो कर 'धातॄणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

सप्तमी के एकवचन में **ऋतो ङि०** (२०४) से गुण हो कर—'धातरि' ।

सुप् में **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व हो 'धातृषु' सिद्ध होता है ।

'धातृ' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	धाता	धातारौ	धातारः	**पं०**	धातुः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
द्वि०	धातारम्	,,	धातॄन्	**ष०**	,,	धात्रोः	धातॄणाम्[1]
तृ०	धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः	**स०**	धातरि	,,	धातृषु
च०	धात्रे	,,	धातृभ्यः	**सं०**	हे धातः!	हे धातारौ!	हे धातारः!

निम्नलिखित शब्दों के रूप भी इसी तरह होते हैं—

१. ध्यान रहे कि आम् में सब ऋदन्तों को णत्व हो जाता है अतः चिह्न नहीं लगाया ।

शब्द — अर्थ		शब्द — अर्थ	
अध्येतृ	=पढ़ने वाला	बोद्धृ	=जानने वाला
कथयितृ	=कहने वाला	भर्तृ	=स्वामी वा पति
कर्तृ	=करने वाला	भेत्तृ	=तोड़ने वाला
क्रेतृ	=खरीदने वाला	भोक्तृ	=खाने वाला
क्षत्तृ	=सारथि वा द्वारपाल	योद्धृ	=युद्ध करने वाला
खनितृ	=खोदने वाला	रक्षितृ	=रक्षा करने वाला
गणयितृ	=गिनने वाला	रचयितृ	=रचने वाला
गन्तृ	=जाने वाला	वक्तृ	=बोलने वाला
ग्रहीतृ	=ग्रहण करने वाला	वसितृ	=पहनने वाला
छेत्तृ	=काटने वाला	वस्तृ	=रहने वाला
जेतृ	=जीतने वाला	विक्रेतृ	=बेचने वाला
ज्ञातृ	=जानने वाला	वेत्तृ	=जानने वाला
तरितृ	=तैरने वाला	वोढृ	=उठाने वाला
त्रातृ	=बचाने वाला	शङ्कितृ	=शङ्का करने वाला
त्वष्टृ	=विश्वकर्मा	शमयितृ	=शान्त करने वाला
दातृ	=देने वाला	शयितृ	=सोने वाला
दोग्धृ	=दोहने वाला	शासितृ	=शासन करने वाला
द्रष्टृ	=देखने वाला	श्रोतृ	=सुनने वाला
धर्तृ	= धारण करने वाला	सवितृ	=सूर्य वा प्रेरक
ध्यातृ	=ध्यान करने वाला	सान्त्वयितृ	=सान्त्वना देने वाला
नप्तृ	=पोता वा दोहता	सोढृ	=सहन करने वाला
नेतृ	=नेता वा सञ्चालक	स्खलितृ	=स्खलित होने वाला
नेष्टृ	=ऋत्विग्विशेष	स्तोतृ	=स्तुति करने वाला
पक्तृ	=पकाने वाला	स्थातृ	=ठहरने वाला
पठितृ	=पढ़ने वाला	स्नातृ	=स्नान करने वाला
पातृ	=रक्षक वा पीने वाला	स्मर्तृ	=स्मरण करने वाला
पूजयितृ	= पूजने वाला	स्रष्टृ	=पैदा करने वाला
पोतृ	=ऋत्विग्विशेष	हन्तृ	=मारने वाला
प्रशास्तृ	=ऋत्विग् वा राजा	हर्तृ	=हरने वाला
प्रष्टृ	=पूछने वाला	होतृ	=यज्ञ करने वाला

[लघु०] एवं नप्त्रादयः ॥

व्याख्या—नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ शब्दों के रूप भी धातृ शब्द के समान होंगे। सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर अप्तृन्तृच्० (२०६)

सूत्र में विशेष उल्लेख के कारण इन की उपधा को दीर्घ हो जायेगा—नप्ता, नप्तारौ, नप्तारः। नप्तारम्, नप्तारौ इत्यादि।

नप्तृ, नेष्टृ आदि शब्द औणादिक तृन्नन्त वा तृजन्त हैं। उणादियों में तीन सूत्रों द्वारा प्रायः बीस शब्द तृन्नन्त या तृजन्त सिद्ध किये गये हैं। तथाहि—

(क) **तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ** (उणा० २५०)।

(१) शंस् + तृन् = शंस्तृ [यह ऋत्विग् या भाट की सञ्ज्ञा है]।
(२) शास् + तृन्[1] = शास्तृ [यह ऋत्विग् या भगवान् बुद्ध की सञ्ज्ञा है]।
(३) क्षद् + तृच्[2] = क्षत्तृ [सारथि, द्वारपाल, वैश्या में शूद्र से उत्पन्न]।
(४) क्षुद् + तृच् = क्षोत्तृ [मुसल]।
(५) प्रशास् + तृच् = प्रशास्तृ [ऋत्विग् वा राजा]।
(६) उद् नी + तृच् = उन्नेतृ [ऋत्विग्]।
(७) प्रति हृ + तृच् = प्रतिहर्तृ [ऋत्विग्]।
(८) उद् गा + तृच् = उद्गातृ [यज्ञ में साम का गान करने वाला]।

(ख) **बहुलमन्यत्रापि** (उणा० २५१)।

(९) हन् + तृच् = हन्तृ [चोर वा डाकू]।
(१०) मन् + तृच् = मन्तृ [विद्वान्]।

(ग) **नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-होतृ-पोतृ-भ्रातृ-जामातृ-मातृ-पितृ-दुहितृ** (उणा० २५२)।

(११) नप्तृ [पौत्र, दौहित्र। तृन्नन्त वा तृजन्त निपातित है]।
(१२) नेष्टृ [ऋत्विग्विशेष । ,, ,, ,, ,, ,,]।
(१३) त्वष्टृ [विश्वकर्मा । ,, ,, ,, ,, ,,]।
(१४) होतृ [ऋत्विग् । ,, ,, ,, ,, ,,]।
(१५) पोतृ [ऋत्विग्विशेष । ,, ,, ,, ,, ,,]।
(१६) भ्रातृ [भाई । ,, ,, ,, ,, ,,]।
(१७) जामातृ [दामाद । ,, ,, ,, ,, ,,]।
(१८) मातृ [माता । ,, ,, ,, ,, ,,]।
(१९) पितृ [पिता । ,, ,, ,, ,, ,,]।
(२०) दुहितृ [लड़की, पुत्री । ,, ,, ,, ,, ,,]।

इस प्रकरण में प्रतिप्रस्थातृ, प्रस्तोतृ, दस्तृ[3], शस्तृ और अप्तृ[4] इतने शब्द

---

१. तत्त्वबोधिनीकारा ज्ञानेन्द्रस्वामिनोऽन्ये च उज्ज्वलदत्तप्रभृतयो वृत्तिकृतोऽत्र तृन्प्रत्ययमेवाहुः, परं भाष्यमर्मविन्नागेशस्त्वत्र तृचमेवाभिदधाति। दृश्यतामत्रत्यः शेखरः।

२. क्षदिः सौत्रो धातुः। शकलीकरणे भक्षणे चेति दीक्षितः।

३. दस्ता क्षयकृत् इति प्रक्रियासर्वस्वे नारायणभट्टः। न क्वाप्यन्यत्रायं शब्दोऽवलोक्यते।

४. महाराज भोजदेव ने **आपो ह्रस्वश्च** इस प्रकार सूत्र बना कर 'अप्तृ' शब्द सिद्ध

अधिक अन्यत्र देखे जाते हैं। उपदेष्टृ और धातृ शब्दो को भी यहा उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिवृत्ति मे गिन रखा है। सरस्वतीकण्ठाभरणकार धारेश्वर भोज, दण्ड-नारायण, प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट, प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका के रचयिता विट्ठलाचार्य और दुर्गसिह्म प्रभृति इन का उल्लेख नही करते।

विशेष—स्वसृ, यातृ, देवृ, ननान्दृ, नृ और सव्येष्टृ ये छ शब्द भी यद्यपि औणादिक हैं तथापि ये ऋप्रत्ययान्त हैं, तृन्नन्त वा तृजन्त नही। अत इन के दीर्घ या दीर्घाभाव का यहा प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। इन मे से स्वसृ शब्द का ही सूत्र मे ग्रहण है अत उसे ही उपधादीर्घ होगा अन्य किसी ऋप्रत्ययान्त शब्द को नहीं।

शङ्का—यदि नप्तृ, नेष्टृ आदि सातो शब्द पूर्वोक्तरीत्या तृन्नन्त वा तृजन्त है तो इन की उपधा को दीर्घ अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ इतने से ही सिद्ध हो सकता है, क्योकि सूत्र मे तृन् और तृच् को दीर्घ कहा ही है। पुन सूत्र मे इन के पृथक् उल्लेख का क्या कारण है?

समाधान—इस प्रकार सिद्ध होने पर सूत्र मे इन के पुन ग्रहण का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है। ग्रन्थकार के शब्दो मे ही देखिये—

[लघु०] नप्त्रादीना ग्रहण व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेनेह न—पिता, पितरौ, पितर। पितरम्। शेष धातृवत्। एव जामात्रादय। ना। नरौ॥

अर्थ—नप्तृ आदि तृन्नन्त वा तृजन्त शब्दो का ग्रहण व्युत्पत्तिपक्ष मे नियम के लिये है। अर्थात् यदि व्युत्पत्तिपक्ष मे औणादिक शब्दो को तृन्नन्त वा तृजन्त समझा जाये तो नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ इन सात शब्दो की उपधा को ही अप्तृन् तृच्० सूत्र से दीर्घ हो अन्य किसी औणादिक तृन्नन्त वा तृजन्त की उपधा को दीर्घ न हो। उणादिनिष्पन्नाना तृन्तृजन्ताना दीर्घश्चेद्? नप्त्रादीनामेव, न तु पित्रा-दीनामिति नियमोऽत्र बोध्य।

व्याख्या—कुछ लोग औणादिक शब्दो को व्युत्पन्न और कुछ अव्युत्पन्न मानते हैं। अव्युत्पन्न मानने वालो के पक्ष में नप्तृ आदि शब्दो मे न कोई धातु और न कोई प्रत्यय माना जाता है। अत. उन के मत मे अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ इतने सूत्रमात्र से काम नही चल सकता। उन के मत मे नप्तृ, नेष्टृ आदि शब्दो का उपधादीर्घविधानार्थ ग्रहण करना आवश्यक है ही।

अब रहे व्युत्पत्तिपक्ष वाले, ये लोग औणादिक शब्दो मे प्रकृति, प्रत्यय, आगम, विकार और आदेश आदि सब यथावत् मानते हैं। नप्तृ आदि शब्दो को ये लोग

किया है। दण्डनारायण ने अपनी वृत्ति मे 'अप्तृ' का अर्थ 'यज्ञ' किया है। वर्त्त-मान उपलब्ध सस्कृत-साहित्य मे इस का पता नहीं चलता। परन्तु 'अप्तोर्याम, अप्तर्यामन्' आदि शब्दो के देखने से प्रतीत होता है कि यज्ञ अर्थ मे इस का कही प्रयोग अवश्य हुआ होगा। इसी प्रकार 'चोर' आदि अर्थों मे 'हन्तृ' शब्द के प्रयोग भी अन्वेषणीय हैं।

तृन्नन्त वा तृजन्त मानते हैं। अतः इन के मत में 'अप्तृन्तृच्स्वसृ' इतने मात्र से ही दीर्घ सिद्ध हो सकता है। इस लिये इन के मत में इन शब्दों का सूत्र में ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। इस पर ग्रन्थकार यह उत्तर देते हैं कि इन का ग्रहण नियम के लिये है। अभिप्राय यह है कि आचार्य पाणिनि को यहां तृन्-तृच् प्रत्ययों से अष्टाध्यायीस्थ तृन्-तृच् प्रत्ययों का ही ग्रहण अभीष्ट है औणादिक तृन्-तृच् प्रत्ययों का नहीं अत एव उन्होंने नप्तृ-नेष्टृ आदि सात औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों का पृथक् उल्लेख किया है। यदि आचार्य की दृष्टि में वे भी तृन्नन्त तृजन्त होते तो आचार्य इन का पृथक् उल्लेख न करते। इस से इस नियम की उपलब्धि हुई कि औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों को यदि उपधादीर्घ करना हो तो केवल नप्तृ आदि सात शब्दों को ही हो, अन्य किसी शब्द को नहीं।

तात्पर्य यह है कि नप्तृ, नेष्टृ आदि सात औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों के अतिरिक्त अन्य किसी औणादिक तृन्नन्त ,तृजन्त शब्द की उपधा को दीर्घ न होगा। सूत्रगत 'तृन्, तृच्' से अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त तृजन्त शब्दों का ग्रहण हो कर केवल उन की उपधा को ही दीर्घ होगा।

ऋकारान्त औणादिक शब्द

(उपधादीर्घ हो जाता है)

१. नप्तृ। २. नेष्टृ। ३. त्वष्टृ। ४. क्षत्तृ। ५. होतृ। ६. पोतृ। ७. प्रशास्तृ। ८. उद्गातृ। ९. स्वसृ।
[यद्यपि सूत्र में 'उद्गातृ' का उल्लेख नहीं तथापि भाष्यकार के **उद्गातारः** (२.१.१ पर) प्रयोग से इसे भी उपधादीर्घ हो जाता है]

(उपधादीर्घ नहीं होता)

१. शंस्तृ। २. शास्तृ। ३. क्षोत्तृ। ४. उन्नेतृ। ५. प्रतिहर्त्तृ। ६. हन्तृ। ७. मन्तृ। ८. प्रतिप्रस्थातृ। ९. प्रस्तोतृ। १०. दस्तृ। ११. शस्तृ। १२. अप्तृ। १३. भ्रातृ। १४. जामातृ। १५. मातृ[1]। १६. पितृ। १७. दुहितृ। १८. नृ। १९. यातृ। २०. देवृ। २१. ननान्दृ। २२. सव्येष्टृ।

औणादिक ऋदन्त पितृ (पिता) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	पिता	पितरौ	पितरः	**पं०**	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
द्वि०	पितरम्	,,	पितॄन्	**ष०**	,,	पित्रोः	पितॄणाम्
तृ०	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः	**स०**	पितरि	,,	पितृषु
च०	पित्रे	,,	पितृभ्यः	**सं०**	हे पितः!	हे पितरौ!	हे पितरः!

१. यदि इन शब्दों में कहीं अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त वा तृजन्त मानेंगे तो तब दीर्घ हो जायेगा। निषेध केवल औणादिकों के लिये ही है। यथा—माता (मापने वाला), मातारौ, मातारः। हन्ता (मारने वाला), हन्तारौ, हन्तारः। मन्ता (मनन करने वाला), मन्तारौ, मन्तारः।

इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'धातृ' शब्द के समान होती है। केवल सर्वनामस्थान में उपधादीर्घ का अभाव होता है। सुँ में सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ (१७७) से उपधा-दीर्घ हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त शस्तृ जामातृ आदि शब्दों के उच्चारण होते हैं। निदर्शनार्थ 'भ्रातृ' शब्द का उच्चारण यथा—

प्र०	भ्राता	भ्रातरौ	भ्रातरः	पं०	भ्रातुः	भ्रातृभ्याम्	भ्रातृभ्यः
द्वि०	भ्रातरम्	,,	भ्रातॄन्	ष०	,,	भ्रात्रोः	भ्रातॄणाम्
तृ०	भ्रात्रा	भ्रातृभ्याम्	भ्रातृभिः	स०	भ्रातरि	,,	भ्रातृषु
च०	भ्रात्रे	,,	भ्रातृभ्यः	सं०	हे भ्रातः!	हे भ्रातरौ!	हे भ्रातरः!

पूर्वोक्त उपधादीर्घाभाव वाले औणादिक शब्दों में 'मातृ, दुहितृ, ननान्दृ और यातृ' ये चार शब्द स्त्रीलिङ्गी हैं अतः इन का विवेचन आगे अजन्तस्त्रीलिङ्ग प्रकरण में किया जायगा।

अब नृ (मनुष्य) शब्द का वर्णन करते हैं। णीञ् प्रापणे (भ्वा० उ०) इत्य-स्माद् नयतेर्डिच्च (उणा० २५७) इति ऋप्रत्यये डित्वाट् टेर्लोपे च कृते नृशब्दः सिध्यति। नयति कार्याणीति ना=पुरुषो नेता वा। नृशब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया पितृ शब्द के समान होती है। सर्वनामस्थान में इस उपधादीर्घ नहीं हुआ करता। षष्ठी के बहुवचन में यहां केवल अन्तर हुआ करता है—

'नृ+आम्' इस दशा में ह्रस्व को नुँट् का आगम हो कर 'नृ+नाम्'। अब नामि (१४९) से नित्य दीर्घ प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र विकल्प करता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२१२) नृ च।६।४।६॥

अस्य नामि वा दीर्घः। नृणाम्। नॄणाम्॥

अर्थः—नाम् परे हो तो 'नृ' शब्द के ऋकार को विकल्प कर के दीर्घ हो।

व्याख्या—नृ।६।१। (यहां षष्ठी का लुक् समझना चाहिये)। च इत्यव्यय-पदम्। उभयथा इत्यव्ययपदम् (छन्दस्युभयथा से)। दीर्घः।१।१। (ढ्लोपे० से)। नामि।७।१। (नामि से)। अर्थः—(नामि) नाम् परे होने पर (नृ) नृशब्द के स्थान पर (उभयथा) विकल्प कर के (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है। अचश्च (१२२८) परिभाषा द्वारा ऋवर्ण को ही दीर्घ होगा।

'नृ+नाम्' यहां प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक दीर्घ हो कर दोनों पक्षों में ऋवर्णा-न्नस्य णत्वं वाच्यम् (वा० २१) वार्त्तिक की सहायता से रषाभ्यां नो णः समानपदे (२६७) सूत्र से णत्व हो कर 'नृणाम्' और 'नॄणाम्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

नृशब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ना	नरौ	नरः	पं०	नुः	नृभ्याम्	नृभ्यः
द्वि०	नरम्	,,	नॄन्	ष०	,,	न्रोः	नृणाम्, नॄणाम्
तृ०	न्रा	नृभ्याम्	नृभिः	स०	नरि	,,	नृषु
च०	न्रे	,,	नृभ्यः	सं०	हे नः!	हे नरौ!	हे नरः!

नोट—'नरो गच्छन्ति' इत्यादि वाक्यों में अकारान्त 'नर' शब्द का प्रयोग नहीं, इसी नृशब्द के प्रथमा के बहुवचन का प्रयोग है अतः वाक्य शुद्ध है।

विशेष—इस शब्द पर दो श्लोक बहुत प्रसिद्ध हैं—

लक्ष्म्या वै जायते भानुः, सरस्वत्यापि जायते।
अत्र षष्ठीपदं गुप्तं, यो जानाति स पण्डितः ॥१॥
[भा=कान्तिः, नुः=पुरुषस्य।]
एकोना विंशतिः स्त्रीणां स्नानार्थं सरयूं गता।
विंशतिः पुनरायाता, एको व्याघ्रेण भक्षितः ॥२॥
[एकोना इति विंशतेर्विशेषणेन विरोधः, एको ना=नर इति परिहारः।]

अभ्यास (३३)

(१) (क) 'नॄन्' मे नकार को णकार क्यों नही होता?
(ख) 'ॠ' और 'ॡ' शब्दों का उच्चारण लिखें।
(ग) 'धातर्देहि, पितरत्र, नर्गच्छ' इत्यादि में उत्व क्यों नही होता?
(घ) नॄ च यहां 'नॄ' में कौन सी विभक्ति है?
(ङ) औणादिक तृजन्त होने पर भी 'उद्गातृ' शब्द को क्यों उपधादीर्घ हो जाता है?

(२) इन शब्दों में उपधादीर्घ कहां करना चाहिये और कहां नहीं?
१. श्रोतृ। २. पोतृ। ३. दातृ। ४. नेतृ। ५. प्रशास्तृ। ६. हन्तृ। ७. उद्गातृ। ८. भ्रातृ। ९. सवितृ। १०. जामातृ। ११. स्तोतृ। १२. नेष्टृ। १३. नृ। १४. त्वष्टृ। १५. पितृ।

(३) **नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्** इस पङ्क्ति का भाव स्पष्ट करते हुए यह लिखें कि इस का रूपसिद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(४) मातृ और हन्तृ शब्द यदि औणादिक न मान कर अष्टाध्यायी के तृच् प्रत्यय से निष्पन्न मानें तो रूपमाला में क्या अन्तर होगा?

(५) क्या व्यवधान में **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** से णत्व हो जायेगा?

(६) शातृशब्द का सुँ, ङस्, ङि में क्या रूप बनेगा?

(यहां ऋदन्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

———::०::———

संस्कृतसाहित्य में ॠदन्त, लृदन्त और एदन्त ऐसा कोई प्रसिद्ध शब्द नहीं जिस का बालकों के लिये वर्णन करना उपयोगी हो; अतः ग्रन्थकार ओकारान्त पुंल्लिङ्ग 'गो' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—**(२१३) गोतो णित् ।७।१।९०॥**

ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत्। गौः, गावौ, गावः॥

अर्थः—ओकारान्त शब्द से विधान किया हुआ सर्वनामस्थान णिद्वत् हो।

व्याख्या—गोत ।५।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। (इतोऽत् सर्वनामस्थाने से विभक्तिविपरिणाम द्वारा) । णित् ।१।१। यह अतिदेशसूत्र है, अत 'णित्' का तात्पर्य होगा—णिद्वत् । अर्थात् जो २ कार्य णित् के परे होने से होते हैं वे सब सर्वनामस्थान के परे होने पर भी हो जाएंगे । यहा पर कात्यायनजी ने दो वार्त्तिक लिखे हैं । (१) ओतो णिद् इति वाच्यम् । (२) विहितविशेषणञ्च । इन का अभिप्राय यह है कि—यदि केवल गोशब्द से परे ही सर्वनामस्थान णित् हो तो 'सुद्यो' शब्द में—'सुद्यौ, सुद्यावौ, सुद्याव' ये रूप सिद्ध न हो सकेंगे । अत सूत्र में 'गोत' पद को हटा कर उस के स्थान पर 'ओत' यह सामान्यनिर्देश करना ही उचित है । परन्तु केवल उस 'ओत' से भी पूरा काम नहीं चल सकता, क्योंकि तब 'हे भानो+स्, हे वायो+स्' इत्यादि स्थानो पर भी णिद्वत् हो कर वृद्धि आदि अनिष्ट प्रसक्त होगा । अत यहा 'विहितम्' यह भी 'सर्वनामस्थानम्' का विशेषण कर देना चाहिये । 'हे वायो+स्, हे भानो+स्' आदि प्रयोगो में सर्वनामस्थान, ओकारान्त से विधान नहीं किया गया अपितु भानु, वायु आदि उकारान्त शब्दो से विधान किया गया है । अतः णिद्वद्भाव न होने से कोई दोष नही आता । अर्थ—(गोत =ओत)ओकारान्त से (विहितम्, सर्वनामस्थानम्) विधान किया हुआ सर्वनामस्थान (णित्) णिद्वत् होता है ।

'गो+स्'(सुँ) यहा ओकारान्त शब्द 'गो' है, इस से विहित सर्वनामस्थान 'सुँ' है । अत प्रकृतसूत्र से सर्वनामस्थान णिद्वत् हुआ । णिद्वत् होने पर अचो ञ्णिति (१८२) सूत्र से गो के अन्त्य ओकार को औकार वृद्धि हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'गौः' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'गो+औ' इस दशा में प्रकृतसूत्र से णिद्वत्, अचो ञ्णिति (१८२) से औकार वृद्धि और औकार को एचोऽयवायावः (२२) से आव् आदेश हो कर 'गावौ' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

जस् में भी इसी तरह णिद्वत्, वृद्धि और आव् आदेश हो कर 'गावः' बना ।

'गो+अम्' यहां गोतो णित् (२१३) से णिद्वद्भाव प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(२१४) औतोऽम्शसोः ।६।१।९१।।

ओतोऽम्शसोरचि आकार एकादेशः । गाम्, गावौ, गाः । गवा । गवे । गोः २ । इत्यादि ॥

अर्थः—ओकार से अम् या शस् का अच् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर आकार एकादेश हो ।

व्याख्या—आ ।१।१। (यहा विभक्ति का लुक् हुआ है) । ओत ।५।१। अम्शसोः ।६।२। अचि ।७।१। (इको यणचि से) । पूर्वपरयो ।६।२। एक ।१।१। (एक. पूर्व-परयोः यह अधिकृत है)। अर्थ—(ओत) ओकार से (अम्शसो) अम् या शस् का (अचि) अच् परे हो तो (पूर्व-परयो) पूर्व+पर के स्थान पर (आ) आकार (एकः) एकादेश हो ।

'गो+अम्' यहां ओकार से परे अम् का अच् वर्त्तमान है; अतः प्रकृतसूत्र से ओकार और अकार के स्थान पर आकार एकादेश हो कर 'गाम्' रूप सिद्ध हुआ।

'गो+अस्' (शस्) यहां भी प्रकृतसूत्र से आकार एकादेश हो रुँत्व विसर्ग करने से 'गाः' रूप वनता है। ध्यान रहे कि आकार पूर्वसवर्णदीर्घघटित नहीं अतः **तस्माच्छसो नः पुंसि** (१३७) से सकार को नकार न होगा।

तृतीया और चतुर्थी के एकवचन में **एचोऽयवायावः** (२२) से अव् आदेश हो कर क्रमशः 'गवा' और 'गवे' वना।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में **ङसिँङसोश्च** (१७३) से पूर्वरूप हो—'गोः'। पदान्त न होने से (४३) द्वारा पूर्वरूप नहीं होता। गोशब्द की रूपमाला यथा—

गो=वैल [गमेर्डोः (उणा० २२५)]

प्र०	गौः	गावौ	गावः	पं०	गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः
द्वि०	गाम्	"	गाः	ष०	"	गवोः	गवाम्
तृ०	गवा	गोभ्याम्	गोभिः	स०	गवि	"	गोषु
च०	गवे	"	गोभ्यः	सं०	हे गौः !	हे गावौ !	हे गावः!

(यहां ओकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

———: :o: :———

अव ऐकारान्त पुल्लिङ्ग 'रै' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२१५) **रायो हलि** ।७।२।८५॥

अस्याकारादेशो हलि विभक्तौ। राः, रायौ, रायः। राभ्यामित्यादि॥

अर्थः—हलादि विभक्ति परे होने पर र शब्द के ऐकार को आकार आदेश हो।

व्याख्या—रायः ।६।१। आ ।१।१। (**अष्टन आ विभक्तौ** से)। हलि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। 'हलि' पद 'विभक्तौ' पद का विशेषण है, अतः तदादिविधि हो कर 'हलादौ विभक्तौ' वन जायेगा। अर्थः—(हलि=हलादौ) हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (रायः) रै शब्द के स्थान पर (आ) आकार आदेश होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से 'रै' के अन्त्य ऐकार को आकार होगा।

रा दाने (अदा० ५०) धातु से **रातेर्डैः** (उणा० २२४) सूत्र द्वारा डै प्रत्यय कर टिलोप करने से 'रै' शब्द निष्पन्न होता है। राति=ददाति श्रेयोऽर्थं वा पात्रेभ्य इति राः। रायते=दीयत इति रा इति वा। धन, सूर्य या सुवर्ण को 'रै' कहते हैं।

सुँ, भ्याम् ३, भिस्, भ्यस् २, सुप्—ये आठ हलादि विभक्तियां हैं। इन में प्रकृतसूत्र से रै को आकार आदेश हो जायेगा। अन्यत्र अजादियों में **एचोऽयवायावः** (२२) से ऐकार को आय् आदेश होगा। रूपमाला यथा—

प्र०	राः	रायौ	रायः	तृ०	राया	राभ्याम्	राभिः
द्वि०	रायम्	"	"	च०	राये	"	राभ्यः

प०	राय	राभ्याम्	राभ्य	स०	रायि	रायो	रासु
ष०	,,	रायो	रायाम्	स०	हे रा !	हे रायौ !	हे राय !

(यहां ऐकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—— ० ——

[लघु०] ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । ग्लौभ्यामित्यादि ॥

व्याख्या—ग्लै हर्षक्षये (भ्वा० प०) धातु में ग्ला-नुदिभ्यां डौः (उणा० २२२) सूत्र द्वारा डौ प्रत्यय कर टिलोप करने से ग्लौ शब्द निष्पन्न होता है। ग्लायति= कमलस्य चौरादीनां वा हर्षक्षयं करोति (अन्तर्भावितण्यर्थ) इति ग्लौः=चन्द्रः। ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधिरित्यमरः ।

'ग्लौ' शब्द के औकार को सर्वत्र अजादि प्रत्ययों में एचोऽयवायावः (२२) से आव् आदेश हो जाता है। हलादि विभक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। सुप् में केवल षत्व (१५०) विशेष है। रूपमाला यथा—

प्र०	ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः	प०	ग्लावः	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
द्वि०	ग्लावम्	,,	,,	ष०	,,	ग्लावोः	ग्लावाम्
तृ०	ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभिः	स०	ग्लावि	,,	ग्लौषु
च०	ग्लावे	,,	ग्लौभ्यः	स०	हे ग्लौः !	हे ग्लावौ !	हे ग्लावः !

इसी प्रकार 'जनौ' (जनान् अवतीति जनौः) प्रभृति शब्दों के रूप होंगे।

(यहां औकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

[लघु०] इत्यजन्ताः पुंल्लिङ्गाः [शब्दाः] ॥

अर्थः—यहां 'अजन्तपुंल्लिङ्ग' शब्द समाप्त होते हैं।

व्याख्या—'अजन्त' शब्द में स्पष्टप्रतिपत्ति के लिए णत्व नहीं किया गया। यहां 'अजन्त पुंल्लिङ्ग प्रकरण' समाप्त होता है। इस के अनन्तर 'अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण' आरम्भ किया जायेगा।

अभ्यास (३४)

(१) गोतो णित् सूत्र में कात्यायन के वचनों के अनुसार दोषों की उद्भावना कर उन का समाधान करें।

(२) क्या कारण है कि ग्रन्थकार ने ऋदन्तों के आगे ओदन्त शब्द लिखे हैं ?

(३) रायो हलि सूत्र में 'हलि' पद ग्रहण न करें तो क्या दोष उत्पन्न होगा ?

(४) औतोऽम्शसोः सूत्र का पदच्छेद कर यह बतायें कि यह सूत्र 'ग्लौ' शब्द में क्यों प्रवृत्त (?) होता है ?

(५) 'गो+अस्' (ङसिँ वा ङस्) यहां एचोऽयवायावः और एङः पदान्तादति सूत्रों में कौन सा प्रवृत्त (?) होगा ? कारण साथ लिखें।

(६) गो, रै और ग्लौ शब्दों का उच्चारण लिखते हुए गाः, गौः, राभ्याम् और ग्लावि प्रयोगों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखें।
(७) 'गौः' और 'गोः' इन दो में कौन सा पद व्याकरणसम्मत है?
(८) 'अजन्ताः' यहां कुत्व क्यों नहीं होता?

——: :०: :——

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्त-
कौमुद्याम् अजन्त-पुंल्लिङ्ग-
प्रकरणं समाप्तम् ॥

अथाऽजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणम्

अजन्त-पुंल्लिङ्ग शब्दों के अनन्तर अब अजन्त-स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन प्रारम्भ किया जाता है। शब्दों का विवेचन प्रत्याहारक्रम से हुआ करता है। यथा—अ=अकारान्त, आकारान्त। इ=इकारान्त, ईकारान्त। उ=उकारान्त, ऊकारान्त। ऋ=ऋकारान्त, ॠकारान्त। ऌ=ऌकारान्त। ए=एदन्त। ओ=ओदन्त। ऐ=ऐदन्त। औ=औदन्त।

तो इस प्रकार सर्वप्रथम अकारान्तों का नम्बर आता है, परन्तु स्त्रीलिङ्ग में कोई शब्द अकारान्त नहीं रह सकता; क्योंकि सर्वत्र **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) द्वारा अदन्तों से 'टाप्' प्रत्यय हो जाता है। 'टाप्' के अनुबन्धों का लोप हो कर सवर्णदीर्घ करने से आकारान्त शब्द बन जाता है। अतः सर्वप्रथम आकारान्त शब्दों का ही विवेचन किया जायेगा।

[लघु०] रमा ॥

व्याख्या—**रमुँ क्रीडायाम्** (भ्वा० आ०) धातु से **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (७८६) सूत्र द्वारा 'अच्' प्रत्यय करने पर 'रम' शब्द बन जाता है। तब स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप और सवर्णदीर्घ करने से 'रमा' शब्द निष्पन्न होता है। 'रमा' का अर्थ है 'लक्ष्मी'।

'रमा' शब्द से स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति प्रातिपदिकसञ्ज्ञा किये बिना ही हो जाती है; क्योंकि स्वादिप्रत्यय जैसे प्रातिपदिक से परे होते हैं वैसे ङ्यन्त और आबन्त से परे भी होते हैं (देखें सूत्र ११६)।

'रमा+स्'(सुँ) यहां 'रमा' शब्द आबन्त(टाबन्त) है, अतः इस से परे **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो कर 'रमा' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां विभक्ति का लोप होने पर भी **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) द्वारा पदसञ्ज्ञा तो रहेगी ही। विभक्ति लाने का फल भी यही है।

'रमा+औ' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ का दीर्घाज्जसि च (१६२) से निषेध हो वृद्धि-रेचि (३३) से वृद्धि प्राप्त होती है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२१६) औङ आपः ।७।१।१८॥

आबन्तादङ्गात् परस्य औङः शी स्यात्। 'औङ्' इत्यौकारविभक्तेः सञ्ज्ञा। रमे। रमाः॥

अर्थः—आबन्त अङ्ग से परे औङ् को शी आदेश हो। 'औङ्' यह औकार-विभक्ति—'औ' और 'औट्' की प्राचीन सञ्ज्ञा है।

व्याख्या—आपः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य इस अधिकृत का विभक्ति-विपरिणाम हो जाता है)। औङः ।६।१। शी ।१।१। (जसः शी से)। 'आपः' यह 'अङ्गात्' पद का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'आबन्ताद् अङ्गात्' बन जाता है। अर्थ—(आपः) आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (औङः) औङ् के स्थान पर (शी) शी आदेश होता है।

पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन को 'औङ्' कहते थे। महामुनि पाणिनि ने भी उसी सञ्ज्ञा का यहां अपने शास्त्र में व्यवहार किया है।

'रमा+औ' यहां आबन्त अङ्ग रमा से परे औङ् को शी आदेश हुआ। अब स्थानिवद्भाव से 'शी' में प्रत्ययत्व ला कर प्रत्यय के आदि शकार की लशक्वतद्धिते (१३६) से इत्सञ्ज्ञा और तस्य लोपः (३) से लोप हो—रमा+ई। पुनः आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश करने से 'रमे' प्रयोग सिद्ध होता है।

'रमा+अस्' (जस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, उस का दीर्घाज्जसि च (१६२) से निषेध हो जाता है। अब अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर रुत्व विसर्ग करने से 'रमाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'हे रमा+स्' यहां सम्बुद्धि में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२१७) सम्बुद्धौ च ।७।३।१०६॥

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ। एङ्ह्रस्वात्० (१३४) इति सम्बुद्धि-लोपः। हे रमे!, हे रमे!, हे रमाः! । रमाम्। रमे। रमाः॥

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर 'आप्' को 'ए' आदेश हो।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। आपः ।६।१। (औङ आपः से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। एत् ।१।१। (बहुवचने झल्येत् से)। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'आपः' में तदन्तविधि हो कर 'आबन्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा। अर्थः—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (आपः=आबन्तस्य) आबन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) एकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य आकार को एकार आदेश होगा।

'हे रमा+स्' यहां 'स्' यह सम्बुद्धि परे है ही अतः प्रकृतसूत्र से आकार को

एकार हो गया। तब 'हे रमे+स्' इस स्थिति में **एङ्ह्रस्वात्०** (१३४) सूत्र से सम्बुद्धि के सकार का लोप करने से 'हे रमे !' रूप सिद्ध होता है।

सम्बोधन के द्विवचन और बहुवचन में प्रथमा के समान प्रक्रिया होती है—हे रमे !, हे रमाः। ध्यान रहे कि सम्बोधन के एकवचन और द्विवचन में एक समान रूप बनने पर भी प्रक्रिया में बड़ा अन्तर है।

'रमा+अम्' यहां **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप हो कर—रमाम्।

द्वितीया के द्विवचन में प्रथमावत् 'रमे' रूप बनता है।

द्वितीया के बहुवचन में 'रमा+अस्' (शस्) इस स्थिति में दीर्घ से परे जस् वा इच् वर्त्तमान न होने से **दीर्घाज्जसि च** (१६२) से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध न हुआ। अतः पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर रुँत्व विसर्ग करने से—'रमाः' प्रयोग सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि **तस्माच्छसो नः पुंसि** (१३७) सूत्र पुलंलिङ्ग में ही शस् के सकार को नकार आदेश करता है अतः यहां स्त्रीलिङ्ग में उस की प्रवृत्ति न होगी।

'रमा+आ' (टा) यहां सवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२१८) **आङि चाऽऽपः** ।७।३।१०५॥

आङि ओसि चाप एकारः। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः॥

अर्थः—आङ् अथवा ओस् परे हो तो 'आप्' को 'ए' आदेश हो।

व्याख्या—आङि ।७।१। ओसि ।७।१। (**ओसि च** से)। च इत्यव्ययपदम्। आपः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। एत् ।१।१। (**बहुवचने झल्येत्** से) 'आपः' यह 'अङ्गस्य' पद का विशेषण है, अत. तदन्तविधि हो कर 'आबन्तस्य अङ्गस्य'। बन जायेगा। अर्थः—(आङि) आङ् (च) अथवा (ओसि) ओस् परे होने पर (आपः =आबन्तस्य) आबन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो।

अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य आकार के स्थान पर ही एकार आदेश होगा।

'टा' विभक्ति को ही पूर्वाचार्य 'आङ्' कहते हैं—यह पीछे (१७१) सूत्र पर स्पष्ट हो चुका है।

'रमा+आ' इस दशा में आङ् परे रहने पर आबन्त अङ्ग 'रमा' के अन्त्य आकार को एकार हुआ। तब **एचोऽयवायावः** (२२) सूत्र से एकार को 'अय्' हो कर 'रमया' रूप सिद्ध हुआ।

रमा+भ्याम्=रमाभ्याम्। रमा+भिस्=रमाभिः। यहां अत्=ह्रस्व अकार से परे न होने के कारण 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं हुआ।

'रमा+ए' (ङे) यहां वृद्धि के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२१९) **याडापः** ।७।३।११३॥

आपो ङितो याट्। वृद्धिः—रमायै। रमाभ्याम् २। रमाभ्यः २। रमायाः २। रमयोः २। रमाणाम्। रमायाम्। रमासु॥

अर्थः—आबन्त अङ्ग से परे ङित् वचनों को 'याट्' आगम हो।

व्याख्या—याट् ।१।१। आपः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य इस अधिकृत का

विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। ङित् ।६।१। (घेर्ङिति से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। अर्थः—(आपः=आबन्तात्) आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ङितः) ङित् का अवयव (याट्) याट् हो। याट् में टकार इत्सञ्ज्ञक है, अतः उस का लोप हो जाता है। टित् होने से याट् ङित् का आद्यवयव होता है। ङे, ङसिँ, ङस्, ङि—ये चार ङित् होते हैं।

'रमा+ए' इस अवस्था में आबन्त अङ्ग 'रमा' से परे ङित् प्रत्यय 'ङे' को 'याट्' का आगम हुआ। तब 'रमा+या ए' इस स्थिति में **वृद्धिरेचि** (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'रमायै' रूप सिद्ध हुआ।[1]

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'रमा+अस्' इस अवस्था में प्रकृतसूत्र से याट् आगम हो **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'रमायाः' रूप बनता है।

षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में 'रमा+ओस्' इस दशा में **आङि चापः** (२१८) से सकारोत्तर आकार को एकार हो अय् आदेश करने से 'रमयोः' सिद्ध होता है।

षष्ठी के बहुवचन में 'रमा+आम्' इस अवस्था में आबन्त होने से **ह्रस्व-नद्यापो नुँट्** (१४८) से नुँट् आगम तथा **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार हो कर 'रमाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।[2]

सप्तमी के एकवचन में 'रमा+ङि' इस अवस्था में **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** (१६८) सूत्र से 'ङि' को 'आम्' आदेश हो आम् में स्थानिवद्भाव से ङित्त्व ला कर **याडापः** (२१६) से याट् का आगम हो जाता है। तब 'रमा+या आम्' इस स्थिति में सवर्ण-दीर्घ करने से 'रमायाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में 'रमा+सु' इस दशा में इण् या कवर्ग न होने से **आदेश-प्रत्यययोः** (१५०) से षत्व नहीं होता—'रमासु'। रमाशब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	रमा	रमे	रमाः	प०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
द्वि०	रमाम्	,,	,,	ष०	,,	रमयोः	रमाणाम्
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः	स०	रमायाम्	,,	रमासु
च०	रमायै	,,	रमाभ्यः	सं०	हे रमे!	हे रमे!	हे रमाः!

[लघु०] एवं दुर्गाऽम्बिकादयः ॥

अर्थः—इसी प्रकार दुर्गा, *अम्बिका आदि आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप* बनेंगे।

---

1. ध्यान रहे कि यहां आगम 'याट्' है, आट् नहीं, अतः **आटश्च** (१९७) सूत्र प्रवृत्त न होगा। **समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः** (समुदाय ही सार्थक होता है उस का एकदेश अनर्थक होता है)।
2. 'रमा+नाम्' इत्यत्र **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** इतिपरिभाषया दीर्घस्यापि दीर्घ इति केचिदाहुः। वस्तुतस्तु नैतादृशेषु मुधा सूत्रप्रवृत्तिः।

व्याख्या—हम बालकों के लिये अत्यन्त उपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं। इन का उच्चारण रमावत् होता है। इन में भी पूर्ववत् '*' इस चिह्न वाले स्थानों में णत्वविधि जान लेनी चाहिये—

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
अङ्गना=स्त्री	उपमा=सादृश्य	गवेषणा=खोज
अचला=पृथ्वी	उपेक्षा*=लापरवाही	गुञ्जा=रत्ती
अजा=बकरी	उमा=पार्वती	गुटिका=गोली
अट्टालिका=अटारी	उर्वरा*=उपजाऊ भूमि	गुडाका=निद्रा
अनित्यता=नश्वरता	उषा*=प्रभात	गुहा=गुफ़ा
अनुज्ञा=आज्ञा	एला=इलायची	गोशाला=गो-स्थान
अमावस्या=अमावस	कथा=कहानी	ग्रीवा*=गर्दन
अयोध्या=प्रसिद्ध नगर	कनीनिका=नेत्र-पुतली	घटा=मेघमाला
अर्चा=पूजा, मूर्त्ति	कन्था=गोदड़ी	घृणा=दया, अरुचि
अवस्था=हालत	कन्या=कुंवारी लड़की	घोषणा=ढिंढोरा
अविद्या=अज्ञान	कपर्दिका=कौड़ी	चन्द्रिका*=चान्दनी
अशनाया=भूख	कला=अंश	चपला=विद्युत्
असिधेनुका=छुरी	कल्पना=रचना	चर्चा=लेप, विचार
अहिंसा=हिंसा न करना	कविका=लगाम	चर्या*=चालचलन
आकाङ्क्षा*=इच्छा	कशा=चाबुक	चिकित्सा=इलाज
आख्या=नाम	कस्तूरिका*=कस्तूरी	चिकीर्षा*=करणेच्छा
आज्ञा=हुक्म	कान्ता=मनोहरा	चिता=चिता
आत्मजा=पुत्री	काष्ठा=दिशा	चिन्ता=फ़िकर
आपगा=नदी	कुत्सा=निन्दा	चूडा=चोटी
आशङ्का=शक	कुलटा=व्यभिचारिणी	चेतना=समझ, ज्ञान
आशा=दिशा, आशा	कुल्या=नहर	चेष्टा=हरकत
आस्था=पूज्यबुद्धि	कृपा*=दया	छटा=चमक
इच्छा=चाह	केका=मयूर-वाणी	छाया=छाया
इज्या=यज्ञ	कौशल्या=राममाता	छिक्का=छींक
इन्दिरा*=लक्ष्मी	क्षपा*=रात्रि	छुरिका*=छुरी
ईप्सा=पाने की इच्छा	क्षमा*=माफ़ी	जटा=जटा
ईर्ष्या*=डाह	क्षुधा=भूख	जडता=मूर्खता
ईहा=इच्छा, चेष्टा	क्ष्मा*=पृथिवी	जनता जनसमूह
उग्रता=भयानकता	खेला=खेल	जलौका=जोंक
उत्कण्ठा=प्रबल इच्छा	गङ्गा=प्रसिद्ध नदी	जाया=स्त्री
उपकार्या*=तम्बू	गदा=गदा	जिज्ञासा=ज्ञानेच्छा

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
जिह्वा=जीभ	दीर्घिका*=बावड़ी	पिपासा=प्यास
जीविका=गुजारा	दुर्गा*=पार्वती	पिपीलिका=च्योंटी
जुगुप्सा=निन्दा	दूषिका*=नेत्रों का मल	पीडा=दुःख
ज्या=धनुष की डोरी	देवता=इन्द्र आदि	पूर्णिमा=पूर्णमासी
ज्योत्स्ना=चांदनी	दोला=पालकी, पींग	प्रतिज्ञा=प्रण
झञ्झा=तूफान	द्राक्षा*=अंगूर	प्रतिपदा=परवा तिथि
तनया=पुत्री	धरा*=पृथ्वी	प्रतिभा=प्रत्युत्पन्न बुद्धि
तन्द्रा*=ऊंघना	धारणा=विचार	प्रतिमा=मूर्ति
तपस्या=तपस्या	धारा*=धार	प्रतिष्ठा=इज्जत
तमिस्रा*=अन्धेरी रात	नवोढा=नवविवाहिता	प्रभा*=दीप्ति
तारा*=तारा	नासा=नासिका	प्रसन्नता=खुशी
तितिक्षा*=सहनशीलता	नित्यता=सदा होना	प्रसूता=प्रसूत हुई
तुला=तराजू	निद्रा*=नींद	प्रहेलिका=पहेली
तृषा*=प्यास	निन्दा=शिकायत	बाधा=रुकावट
तृष्णा=लालच	निशा=रात्रि	बुभुक्षा*=भूख
त्रपा*=लज्जा	निष्ठा=स्थिति	भाषा*=बोली
त्रिपथगा=गङ्गा	नौका=किश्ती	भ्रातृजाया=भ्रातृपत्नी
त्रियामा*=रात्रि	पताका=झण्डी	मज्जा=अस्थिसार
त्रेता=त्रेतायुग	पतिव्रता=पतिव्रता	मञ्जूषा*=पेटी
त्वरा*=शीघ्रता	पद्मा=लक्ष्मी	मथुरा*=प्रसिद्ध नगरी
दया=रहम	परम्परा*=सिलसिला	मदिरा*=शराब
दशा=हालत	परिचर्या*=सेवा	मन्दुरा*=अश्वशाला
दंष्ट्रा*=दाढ़	परीक्षा*=जाञ्च	मरुमरीचिका=मृगतृष्णा
दारा*=स्त्री[1]	पाठशाला=विद्यालय	माया=प्रकृति, छल

१ संस्कृतसाहित्य में स्त्रीवाची 'दार' शब्द ही बहुधा प्रयुक्त होता है। तब यह अदन्त पुंल्लिङ्ग तथा नित्यबहुवचनान्त हुआ करता है। यथा—

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥ (महाभारत १.१५६.२७)
दशरथदारानधिष्ठाय भगवान् वसिष्ठः प्राप्तः। (उत्तररामचरित, अङ्क ४)
एते वयममी दाराः। (कुमार० ६.६३)

परन्तु यह क्वचित् आबन्त भी मिलता है। तब यह बहुवचनान्त नहीं होता। यथा—

क्रोडा हारा तथा दारा त्रय एते यथाक्रमम्।
क्रोडे हारे च दारेषु शब्दाः प्रोक्ता मनीषिभिः॥

शब्द—अर्थ

माला=माला
मुद्रा*=मोहर
मूषा*=कुठाली
मृत्सा=अच्छी मट्टी
मृत्स्ना=अच्छी मट्टी
मृद्वीका=द्राक्षा
मेखला=कमरबन्द
यवनिका=पर्दा
यातना=तीव्र वेदना
यात्रा*=प्रस्थान
रक्षा*=पालना
रचना=बनाना, कृति
रजस्वला=रजस्वला स्त्री
रथ्या=गली
रसना=जीभ
राका*=पूर्णमासी
राधा=प्रसिद्ध गोपी
रुजा=रोग, पीड़ा
रेखा*=लकीर
लक्षणा=शक्ति-विशेष
लता=बेल
लाक्षा*=लाख
लालसा=अभिलाषा
लाला=लार
लिप्सा=लाभेच्छा
लीला=क्रीडा
लेखा=रेखा
वडवा=घोड़ी
वनिता=स्त्री

शब्द—अर्थ

वन्ध्या=बान्झ
वरटा=हंस-मादा
वर्तिका=वटेर
वसा=चरबी
वसुधा=पृथ्वी
वाटिका=फुलवगिया
वात्या=आंधी
वामा=सुन्दरी
वाराङ्गना=वेश्या
वार्त्ता=संवाद
वालुका=रेत
विचिकित्सा=संशय
विजया=भांग
विद्या=विद्या
विधवा=पतिरहिता
विसूचिका=हैज़ा रोग
विष्ठा=टट्टी, मल
वीणा=वाद्यविशेष
वेदना=दुःख
वेला=समुद्रतट
वेश्या=पण्य-स्त्री
व्यथा=दुःख
व्यवस्था=नियम
शकुन्तला=दुष्यन्त-पत्नी
शङ्का=शक
शय्या=शयनस्थान
शर्करा*=शक्कर
शलाका=सलाई
शाखा=टहनी

शब्द—अर्थ

शारदा=सरस्वती
शाला=घर
शिक्षा*=उपदेश
शिञ्जा=भूषणध्वनि
शिला=पत्थर
शिवा=दुर्गा, गीदड़ी
शिविका=पालकी
शोभा=चमक
श्रद्धा=विश्वास
श्लाघा=प्रशंसा
सङ्ख्या=सङ्ख्या
सञ्ज्ञा=नाम
सत्क्रिया*=सत्कार
सधवा=जीवितभर्तृका
सन्ध्या=सान्झ
सपर्या*=सेवा
सभा=सभा
समज्ञा=यश
सरघा*=मधुमक्खी
सरटा=छिपकली
सहायता=मदद
सहिष्णुता=सहनशीलता
सास्ना=गलकम्बल
सीमा[1]=हद
सुता=लड़की
सुधा=अमृत
सुरा*=शराब
सुषमा*=बहुत शोभा
सेना=फ़ौज

श्रीमद्भागवत में एकवचनान्त दारा शब्द प्रयुक्त भी हुआ है। यथा—

अप्येकाम् आत्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यथा। (भागवत ७.१४.११)

श्रीहेमचन्द्राचार्य 'दार' शब्द को एकवचनान्त भी मानते हैं। उन्होंने किसी ग्रन्थ का प्रयोग भी उद्धृत किया है—**धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यं कुर्वीत** इति।

१. यह शब्द नकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी होता है।

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
सेवा=सेवा	स्पृहा*=इच्छा	हिक्का=हिचकी
सोदर्या*=सगी बहन	स्वतन्त्रता=आज़ादी	हिमाद्रिजा=पार्वती
स्पर्धा=बराबरी करना	हरिद्रा*=हल्दी	हेषा*=हिनहिनाहट

२६२—होरा*=एक घण्टा।

आकारान्तस्त्रीलिङ्गों मे 'रमा' शब्द की अपेक्षा सर्वनाम तथा कुछ अन्य शब्दों मे थोडा अन्तर पडता है, अब उस प्रसग मे प्रथम सर्वनामशब्दो का वर्णन करते हैं—

'सर्व' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा मे 'टाप्' प्रत्यय करने से 'सर्वा' शब्द निष्पन्न होता है। लिङ्गविशिष्टपरिभाषा[1] से इस की भी सर्वत्र सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है।

ङित् विभक्तियों और आम् को छोड कर शेष सब विभक्तियो मे इस की 'रमा'शब्दवत् प्रक्रिया तथा उच्चारण होता है।

'सर्वा+ए' (ङे)। यहा याडापः (२१९) द्वारा याट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(२२०) सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ।७।३।११४॥

आबन्तात् सर्वनाम्नो ङित स्याट् स्याद्, आपश्च ह्रस्व.। सर्वस्यै। सर्वस्या २। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। शेष रमावत्॥

अर्थः—आबन्त सर्वनाम से परे ङित् प्रत्ययों को 'स्याट्' का आगम हो और साथ ही आबन्त अङ्ग के आप् को ह्रस्व भी हो।

व्याख्या—आपः ।५।१।(याडापः से)। सर्वनाम्न ।५।१। ङित ।६।१।(घेर्ङिति से विभक्तिविपरिणाम द्वारा)। स्याट् ।१।१। ह्रस्व ।१।१। [सूत्रपाठे तु—झलां जशोऽन्ते इति जश्त्वे झयो होऽन्यतरस्याम् इति पूर्वसवर्णत्वे च कृते 'स्याड्ढ्रस्व' इति प्रयोग प्रयुज्यते]। च इत्यव्ययपदम्। 'सर्वनाम्न' का विशेषण होने से 'आप' से

---

1 युवा खलति-पलित-वलिन-जरतीभि (२ १ ६७) इस सूत्र द्वारा 'युवन्' शब्द का 'खलति,पलित, वलिन, जरती' इन समानाधिकरण शब्दो के साथ कर्मधारयसमास बताया गया है। इन शब्दो मे 'जरती' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। 'जरती' शब्द का 'युवन्' इस पुलिङ्ग के साथ तब तक सामानाधिकरण्य नही हो सकता जब तक 'युवन्' को 'युवति' न बना दिया जाये। इस प्रकार 'जरती' शब्द के ग्रहण से यह प्रतीत होता है कि आचार्य पाणिनि—'युवन्' के ग्रहण से 'युवति' इस स्त्रीलिङ्ग का भी ग्रहण चाहते हैं। अत एव यह परिभाषा निष्पन्न होती है—प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्। अर्थात् प्रातिपदिक के ग्रहण होने पर उस प्रातिपदिक के विशेष लिङ्गो का भी ग्रहण हो जाता है। यथा—'युवन्' के ग्रहण से 'युवति' का ग्रहण होता है। इसी प्रकार सर्वनामसञ्ज्ञा करते समय सर्वादिगण मे सर्वा आदि स्त्रीलिङ्गो का भी समावेश समझ लेना चाहिये। इस परिभाषा का सङ्क्षिप्त नाम लिङ्गविशिष्टपरिभाषा है।

तदन्तविधि हो कर 'आबन्तात्' बन जाता है। अर्थ करते समय इस की आवृत्ति की जाती है। अर्थः—(आपः=आबन्तात्) आबन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (ङितः) ङित् वचनों का अवयव (स्याट्) 'स्याट्' हो जाता है (च) और साथ ही (आपः= आबन्तस्य) आबन्त के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है।

ङे, ङसिँ, ङस्, ङि—ये चार ङित् विभक्तियां हैं; इन में याट् का आगम प्राप्त था, इस सूत्र से स्याट् का आगम विधान किया जाता है। अतः यह सूत्र **याडापः** (२१९) सूत्र का अपवाद है। 'स्याट्' में टकार इत्सञ्ज्ञक है, अतः टित् होने से ङित् प्रत्यय का आद्यवयव होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से आबन्त के अन्त्य आकार को ह्रस्व होता है।

'सर्वा+ए' (ङे) यहां प्रकृतसूत्र से 'स्याट्' का आगम तथा आप् को ह्रस्व हो कर 'सर्व+स्या ए' हुआ। अब **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्र से वृद्धि एकादेश करने पर 'सर्वस्यै' प्रयोग सिद्ध होता है।

पञ्चमी वा षष्ठी के एकवचन में 'सर्वा+अस्'(ङसिँ वा ङस्)। अब स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व हो कर सवर्णदीर्घ करने से—'सर्वस्याः'।

षष्ठी के बहुवचन में 'सर्वा+आम्' इस स्थिति में **आमि सर्वनाम्नः सुँट्** (१५५) से सुँट् आगम हो कर अनुबन्धलोप करने से 'सर्वासाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'ङि' में 'सर्वा+ङि' इस दशा में **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** (१९८) से ङि को आम् आदेश और प्रकृतसूत्र से 'स्याट्' का आगम और आप् को ह्रस्व हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'सर्वस्याम्' रूप बनता है। 'सर्वा' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वाः	पं०	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
द्वि०	सर्वाम्	,,	,,	ष०	,,	सर्वयोः	सर्वासाम्
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः	स०	सर्वस्याम्	,,	सर्वासु
च०	सर्वस्यै	,,	सर्वाभ्यः	सं०	हे सर्वे!	हे सर्वे!	हे सर्वाः!

[लघु०] एवं विश्वादय आबन्ताः ॥

अर्थः—इसीप्रकार 'विश्वा' आदि आबन्त सर्वनामों की प्रक्रिया होती है।

व्याख्या—निम्नलिखित आबन्त सर्वनामों के रूप 'सर्वा' शब्दवत् होते हैं—

१. विश्वा। २. उभा[1]। ३. कतरा[2]। ४. कतमा। ५. यतरा। ६. यतमा।

---

१. 'उभा' शब्द सदा द्विवचनान्त ही प्रयुक्त होता है। अतः यहां इस में कोई सर्वनामकार्य नहीं होता। **अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्** (पञ्चतन्त्र १.४३८)।

'उभय' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय नहीं होता किन्तु गौरादिगण में पाठ होने के कारण अथवा तयप्प्रत्ययान्त होने से **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय हो कर 'उभयी' शब्द निष्पन्न होता है। इस का द्विवचन में प्रयोग नहीं होता, उच्चारण 'नदी'शब्दवत् होता है। **उभयीं सिद्धिमुभाववापतुः** (रघुवंश ८.२३)।

२. 'कतरा' आदि आठ शब्द डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त हैं। इन का पीछे

७. ततरा । ८. ततमा । ९ एकतरा । १० एकतमा । ११. अन्या । १२. अन्यतरा[1] । १३. इतरा । १४. त्वा । १५ नेमा[2] । १६ समा[3] । १७ सिमा । १८. पूर्वा[4] । १९. परा । २०. अवरा । २१. दक्षिणा । २२. उत्तरा । २३ अपरा । २४. अधरा । २५. स्वा । २६ अन्तरा । २७ एका[5] ।

उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर् अन्तराला दिक्=उत्तरपूर्वा[6] । दिङ्नामान्यन्तराले (२ २ २६) इति बहुव्रीहि, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भाव. इति पुवद्भाव ।

१. पूर्व, २ पश्चिम, ३ उत्तर और ४ दक्षिण ये चार दिशाए होती हैं । दो दिशाओ के बीच मे आने वाला कोना 'उपदिशा' कहलाता है । इस प्रकार उपदिशाए भी चार हो जाती हैं । यथा—

---

(१९९) पृष्ठ पर स्पष्टीकरण कर चुके हैं ।

१. इसे डतरप्रत्ययान्त नही समझना चाहिये । 'अन्य' शब्द से डतर और डतम प्रत्ययो का विधान नही । अन्यतर और अन्यतम शब्द स्वतन्त्र अव्युत्पन्न है । इन मे से प्रथम 'अन्यतर' शब्द सर्वादिगण मे पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है, दूसरा नही । अत 'अन्यतमा' शब्द का 'रमा'शब्दवत् उच्चारण होता है ।

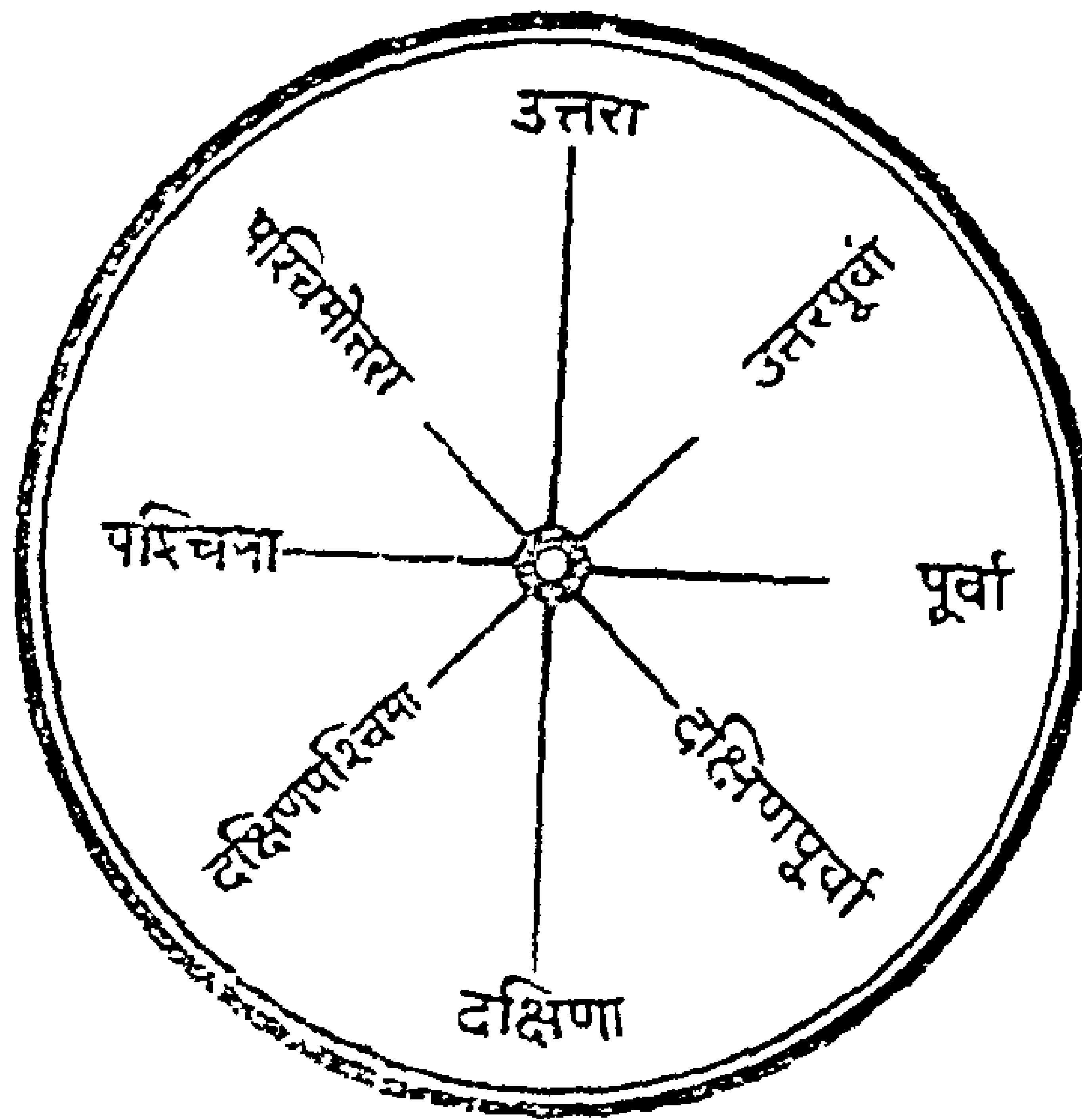
२. 'अर्ध' अर्थ मे ही इस की सर्वनामता इष्ट है, अन्यथा 'रमा'शब्दवत् उच्चारण होगा । प्रथमचरम० (१६०) सूत्र का स्त्रीलिङ्ग मे कुछ प्रभाव नही पडता ।

३. 'सर्व' अर्थ मे ही सर्वनामता इष्ट है । 'तुल्य' अर्थ मे 'रमा'शब्दवत् उच्चारण होगा ।

४. पूर्वा' आदि नौ शब्दो का उच्चारण सर्वावत् ही होता है, कुछ भी अन्तर नहीं पडता । यद्यपि जस् मे इन की सर्वनामसञ्ज्ञा (१५६, १५७, १५८) सूत्रो से विकल्प कर के होती है, तथापि इस से यहा स्त्रीलिङ्ग मे कोई भेद नही पडता; क्योकि यहा अदन्त न होने से जस· शी (१५२) सूत्र प्रवृत्त नही हो सकता । ध्यान रहे कि पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा (१५९) सूत्र ङसि और ङि मे सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्प नही करता किन्तु स्मात् और स्मिन् आदेशो का ही विकल्प करता है । सर्वनामसञ्ज्ञा तो—इन मे भी नित्य बनी रहती है । अत एव 'पूर्वस्या, पूर्वस्याम्' आदि प्रयोगो मे सर्वनामतामूलक स्याट् आदि कार्य करने मे कोई बाधा उपस्थित नही होती । पाणिनि की बुद्धिमत्ता का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है ।

५ सङ्ख्येयवाची 'एका' शब्द एकवचनान्त ही प्रयुक्त होगा । अन्य, मुख्य आदि अर्थो मे इस का सब वचनो मे उच्चारण होगा ।

६. प्राय. सब वैयाकरण यहा 'उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालम्' इस प्रकार विग्रह करते हैं । परन्तु बालको के लिये यह विग्रह कुछ कठिन है, क्योकि वे 'यद् अन्तरालम्' इस नपुसक का 'उत्तरपूर्वा' इस स्त्रीलिङ्ग के साथ सम्बन्ध नही समझ सकते । अत उन के सौकर्यार्थ उपर्युक्त विग्रह रखा गया है ।



उत्तर और पूर्व दिशा की मध्यवर्ती उपदिशा 'उत्तरपूर्वा' कहलाती है। 'उत्तरपूर्वा' शब्द की प्रथम तीन विभक्तियों में रमाशब्दवत् प्रक्रिया होती है।

चतुर्थी के एकवचन में 'उत्तरपूर्वा+ए' (ङे) इस स्थिति में **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१५१) सूत्र से नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा होने के कारण **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च** (२२०) से स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व नित्य प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्प किया जाता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(२२१) विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ।१।१।२७।।**

सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै ।।

अर्थः—दिशाओं के बहुव्रीहिसमास में सर्वादि विकल्प से सर्वनामसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—दिक्समासे ।७।१। बहुव्रीहौ ।७।१। सर्वादीनि ।१।३। विभाषा ।१।१। सर्वनामानि ।१।३। (**सर्वादीनि सर्वनामानि** से)। समासः—दिशां समासः=दिक्समासः, तस्मिन्=दिक्समासे, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(दिक्समासे बहुव्रीहौ) दिशाओं के बहुव्रीहिसमास में (सर्वादीनि) सर्वादिगणपठित शब्द (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

दिशाओं का बहुव्रीहिसमास **दिङ्नामान्यन्तराले** (२.२.२६) सूत्र से विधान किया जाता है। यहां उसी का ग्रहण अभीष्ट है।

'उत्तरपूर्वा' शब्द में दिशाओं का बहुव्रीहिसमास हुआ है, अतः प्रकृतसूत्र से इस की विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञा होगी। सर्वनामसञ्ज्ञापक्ष में सर्वाशब्दवत् स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व आदि कार्य होंगे। सर्वनामसञ्ज्ञा के अभाव में रमाशब्दवत् याट् का आगम आदि कार्य होंगे। आम् में सर्वनामपक्ष में सुँट् आगम और तदभावपक्ष में नुँट् आगम विशेष होगा। 'उत्तरपूर्वा' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	उत्तरपूर्वा	उत्तरपूर्वे	उत्तरपूर्वाः
द्वि०	उत्तरपूर्वाम्	"	"
तृ०	उत्तरपूर्वया	उत्तरपूर्वाभ्याम्	उत्तरपूर्वाभिः
च०	उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै	"	उत्तरपूर्वाभ्यः
पं०	उत्तरपूर्वस्याः, उत्तरपूर्वायाः	"	"
ष०	" "	उत्तरपूर्वयोः	उत्तरपूर्वासाम्, उत्तरपूर्वाणाम्
स०	उत्तरपूर्वस्याम्, उत्तरपूर्वायाम्	"	उत्तरपूर्वासु
सं०	हे उत्तरपूर्वे !	हे उत्तरपूर्वे !	हे उत्तरपूर्वाः !

इसी प्रकार—दक्षिणपूर्वा, पूर्वोत्तरा, पश्चिमोत्तरा, पश्चिमदक्षिणा, पूर्वदक्षिणा आदि शब्दों के उच्चारण होते हैं[1]।

[लघु०] तीयस्येति वा सञ्ज्ञा। द्वितीयस्यै, द्वितीयायै। एवं तृतीया॥

व्याख्या—तीयस्य ङित्सु वा (वा० १६) द्वारा तीयप्रत्ययान्त द्वितीया (दूसरी) और तृतीया (तीसरी) शब्द केवल ङित् वचनों में ही विकल्प से सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं। अतः 'ङे, ङसि, ङस्, ङि' इन चार विभक्तियों में दो दो रूप बनते हैं; अर्थात् जहां सर्वनामसञ्ज्ञा होती है वहां सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (२२०) से स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व हो जाता है। सर्वनामसञ्ज्ञा के अभाव में याडापः (२१९) से याट् का आगम हो जाता है। इस प्रकार ङिद्वचनों में दो दो रूप बनते हैं।

'द्वितीया' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	द्वितीया	द्वितीये	द्वितीयाः
द्वि०	द्वितीयाम्	"	"
तृ०	द्वितीयया	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयाभिः
च०	द्वितीयस्यै, द्वितीयायै	"	द्वितीयाभ्यः
पं०	द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः	"	"
ष०	" "	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
स०	द्वितीयस्याम्, द्वितीयायाम्	"	द्वितीयासु
सं०	हे द्वितीये !	हे द्वितीये !	हे द्वितीयाः !

इसी प्रकार 'तृतीया' शब्द का उच्चारण होता है।

ध्यान रहे कि तीयस्य ङित्सु वा (वा० १६) द्वारा आम् में सर्वनामता नहीं होती; अतः पक्ष में सुँट् का आगम नहीं होता। 'उत्तरपूर्वा' और 'द्वितीया' के उच्चारण में यही अन्तर है।

---

१. दिङ्नामान्यन्तराले (२.२.२६) सूत्र द्वारा होने वाले बहुव्रीहिसमास में पूर्वनिपात का कोई नियम नहीं होता। अत एव—दक्षिणपूर्वा, पूर्वदक्षिणा। पश्चिमदक्षिणा, दक्षिणपश्चिमा। पश्चिमोत्तरा, उत्तरपश्चिमा। उत्तरपूर्वा, पूर्वोत्तरा। इत्यादि रूप काशिका (२.२.२६) में दिये गये हैं। नक्षत्रत्रितयं पादमाश्रितं पूर्वदक्षिणम् (मार्कण्डेयपुराण ५८.२०) इत्यादि वचन भी इस में प्रमाण हैं।

[लघु०] अम्वार्थ० (१९५) इति ह्रस्वः—हे अम्व!, हे अक्क!, हे अल्ल !॥

व्याख्या—अम्वा, अक्का, अल्ला आदि शब्दों का अर्थ 'माता=पार्वती' है। इन की प्रक्रिया रमाशब्दवत् होती है; केवल सम्बुद्धि में ही कुछ विशेष है। सम्बुद्धि में **अम्वार्थनद्योर्ह्रस्वः** (१९५) से ह्रस्व हो कर **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** (१३४)से सुँलोप हो जाता है। इस प्रकार 'हे अम्व !, हे अक्क !, हे अल्ल !' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

वक्तव्य—ध्यान रहे कि महाभाष्य में दो अच् वाले अम्वार्थकों को ही ह्रस्व करना वताया है। अम्वाडा, अम्वाला, अम्विका आदि शव्द दो अच् वाले नहीं अपितु दो से अधिक अचों वाले हैं; अतः अम्वार्थक होने पर भी इन को ह्रस्व न होगा। हे अम्वाडे !, हे अम्वाले !, हे अम्विके ! इत्यादिप्रकारेण रूप वनेंगे [दृश्यतां(७.३.१०७) सूत्रस्थं महाभाष्यम्—**अम्वार्थं द्व्यक्षरं यदि** इति। सिद्धान्तकौमुद्यान्तु **असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न** इति वार्त्तिकम्पठितम्, तदपि भाष्यानुसारि। परं सरलः पन्थास्तु भाष्योक्त एव]।

'अम्वा' शव्द की रूपमाला यथा—

प्र०	अम्वा	अम्वे	अम्वाः	**पं०**	अम्वायाः	अम्वाभ्याम्	अम्वाभ्यः
द्वि०	अम्वाम्	,,	,,	**ष०**	,,	अम्वयोः	अम्वानाम्
तृ०	अम्वया	अम्वाभ्याम्	अम्वाभिः	**स०**	अम्वायाम्	,,	अम्वासु
च०	अम्वायै	,,	अम्वाभ्यः	**सं०**	हे अम्व !	हे अम्वे !	हे अम्वाः!

इसी प्रकार—अक्का, अल्ला आदि शव्दों के रूप वनते हैं।

नोट—'अल्ला' शव्द मुसलमानों ने वेतरह पकड़ रखा है; अम्वा, अल्ला आदि शव्द दुर्गा (शक्ति) के नाम माने जाते हैं। इसलिये सम्भव है कि मुसलमान शाक्त हिन्दुओं से निकले हों और कालक्रम से आचारादिभिन्नता के कारण इन से पृथक् हो गये हों—इस में आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार ईसाइयों का 'गिर्जाघर' भी शायद 'गिरिजा-गृह' ही हो; वे भी शाक्तों से निकले हों।

[लघु०] जरा, जरसौ इत्यादि। पक्षे हलादौ च रमावत्॥

व्याख्या—जॄष् वयोहानौ (दिवा० परस्मै०) धातु से **स्त्रियाम्०** (३.३.९४) के अधिकार में **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (३.३.१०४) सूत्र से अङ् प्रत्यय तथा **ऋदृशोऽङि गुणः** (७.४.१६) से अर् गुण हो कर टाप् प्रत्यय करने से 'जरा' शव्द निष्पन्न होता है। 'जरा' शव्द का अर्थ है—'वुढ़ापा'।

अजादि विभक्तियों में सर्वत्र सर्वप्रथम **जराया जरसन्यतरस्याम्** (१६१) सूत्र से 'जरा' के स्थान पर 'जरस्' आदेश हो जाता है। जरस् के अभाव में रमाशव्दवत् प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	जरा	जरसौ, जरे	जरसः, जराः
द्वि०	जरसम्, जराम्	,, ,,	,, ,,
तृ०	जरसा, जरया	जराभ्याम्	जराभिः

च०	जरसे, जरायै	जराभ्याम्	जराभ्यः
पं०	जरसः, जरायाः	जराभ्याम्	जराभ्यः
ष०	,, ,,	जरसोः, जरयोः	जरसाम्, जराणाम्
स०	जरसि, जरायाम्	,, ,,	जरासु
सं०	हे जरे !	हे जरसौ!, हे जरे !	हे जरसः!, हे जराः !

नोट—'जरा+औ' यहां परत्व के कारण शी आदेश से पूर्व जरस् आदेश हो जाता है; यदि प्रथम शी आदेश होता तो 'जरसी' यह अनिष्ट रूप बन जाता। एवम् आगे भी जान लेना चाहिये।

[लघु०] गोपा विश्वपावत् ॥

व्याख्या—गाः पाति=रक्षतीति गोपा। 'गो'कर्मोपपदात् पा रक्षणे (अदा० प०) इत्यस्माद्धातोः क्विँपि लौकिके वा विँचि 'गोपा'शब्दो निष्पद्यते। गौओं की रक्षा करने वाली स्त्री 'गोपा' कहाती है। 'गोपा' के अन्त मे 'पा' धातु है आप् (टाप्) नही।

'गोपा+सुँ'। आबन्त न होने से हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सुँलोप नहीं होता। सकार को रुँत्व विसर्ग हो कर—'गोपाः' सिद्ध होता है।

'गोपा+औ' यहां भी आबन्त न होने से औङ आपः (२१६) से शी आदेश नहीं होता। पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उस का भी दीर्घाज्जसि च (१६२) से निषेध हो जाता है। अब वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर—'गोपौ' सिद्ध होता है।

'गोपा+अस्' (जस्) यहां भी पूर्ववत् पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है। तब अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर—'गोपाः' रूप बनता है।

गोपा+अम्=गोपाम्। अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप होता है।

'गोपा+अस्' (शस्) यहां भसञ्ज्ञक आकार का आतो धातोः (१६७) से लोप हो कर 'गोपः' प्रयोग बनता है। इसी प्रकार आगे सर्वत्र भसञ्ज्ञकों मे आकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	गोपाः	गोपौ	गोपाः
द्वि०	गोपाम्	,,	गोपः*
तृ०	गोपा*	गोपाभ्याम्	गोपाभिः
च०	गोपे*	,,	गोपाभ्यः
पं०	गोपः*	गोपाभ्याम्	गोपाभ्यः
ष०	,,	गोपोः*	गोपाम्*
स०	गोपि*	,, *	गोपासु
सं०	हे गोपाः!	हे गोपौ!	हे गोपाः!

* इन स्थानों पर भसञ्ज्ञा हो कर आकार का लोप हो जाता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया अजन्तपुलिङ्गान्तर्गत 'विश्वपा' शब्द के समान होती है।

नोट—'क' प्रत्यय से सिद्ध 'गोप' शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा मे जातेरस्त्री० (१२६५) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर 'गोपी' शब्द बनता है। इस का अर्थ है—गोप जाति की स्त्री। इस का उच्चारण 'नदी' शब्द के समान होता है।

(यहां आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:०:—

अब ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] मतीः । मत्या ॥

व्याख्या—मनँ ज्ञाने (दिवा० आ०) धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'मति' शब्द सिद्ध होता है । मन्यतेऽनयेति मतिः । मननं वा मतिः । बुद्धि या ज्ञान को 'मति' कहते हैं । इस की प्रक्रिया ङिद्वचनों से अन्यत्र प्रायः 'हरि' शब्द के समान होती है । तथाहि—

मति+सुँ=मतिः । सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग हो जाता है ।

मति+औ=मती । **प्रथमयोः०** (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ हो जाता है ।

'मति+अस्' (जस्) इस स्थिति में **जसि च** (१६८) से इकार को एकार गुण हो कर अय् आदेश करने से 'मतयः' रूप सिद्ध होता है ।

द्वितीया के बहुवचन में 'मति+अस्' (शस्) इस दशा में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं—मतीः । ध्यान रहे कि **तस्माच्छसो नः पुंसि** (१३७) सूत्र में 'पुंसि' कहने से यहां स्त्रीलिङ्ग में नकार आदेश नहीं होता ।

'मति+आ' (टा) यहां घिसञ्ज्ञा रहने पर भी **आङो नाऽस्त्रियाम्** (१७१) द्वारा टा को ना नहीं होता; 'अस्त्रियाम्' कथन के कारण उस की स्त्रीलिङ्ग में प्रवृत्ति नहीं होती । **इको यणचि** (१५) से यण् हो कर 'मत्या' सिद्ध होता है ।

'मति+ए' (ङे) यहां घिसञ्ज्ञा होने से **घेर्ङिति** (१७२) द्वारा गुण प्राप्त होता है । अब अग्रिमसूत्र द्वारा पक्ष में नदीसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(२२२) **ङिति ह्रस्वश्च** ।१।४।६॥

इयँङुवँङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसञ्ज्ञौ स्तो ङिति । मत्यै, मतये । मत्याः २, मतेः २ ॥

अर्थः—'स्त्री' शब्द को छोड़ कर इयँङुवँङ्स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार ऊकार ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक होते हैं । किञ्च—स्त्रीलिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द भी ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—ङिति ।७।१। ह्रस्वः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । इस सूत्र के दो खण्ड हैं । प्रथम यथा—अस्त्री ।१।१। इयँङुवँङ्स्थानौ ।१।२। (**नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री** से) । स्त्र्याख्यौ ।१।२। यू ।१।२। नदी ।१।१। (**यू स्त्र्याख्यौ नदी** से) । वा इत्यव्ययपदम् । (**वाऽऽमि** से) । ङिति ।७।१। समासः—न स्त्री=अस्त्री, नञ्तत्पुरुषः । स्त्रीशब्दं वर्जयित्वेत्यर्थः । इयँङ् च उवँङ् च=इयँङुवँङौ, इतरेतरद्वन्द्वः । इयँङुवँङोः स्थानं स्थितिर्ययोस्तौ इयँङुवँङ्स्थानौ, बहुव्रीहिसमासः । स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ, नित्यस्त्रीलिङ्गावित्यर्थः । ईश्च ऊश्च=यू, इतरेतरद्वन्द्वः । **अर्थः**—(अस्त्री) 'स्त्री' शब्द को छोड़ कर (इयँङुवँङ्स्थानौ) जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं ऐसे (स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्गी (यू) ईकार और ऊकार (ङिति) ङिद्वचनों में (वा) विकल्प कर के (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं ।

भाव—जिस नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द के ईकार ऊकार के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश हो उन की ङिद्वचनो मे विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। परन्तु यह नियम 'स्त्री' शब्द पर लागू नही होता। उदाहरण यथा—श्री, भ्रू यहा क्रमश ईकार ऊकार नित्यस्त्रीलिङ्गी है, इन के स्थान पर क्रमश इयँङ् उवँङ् आदेश भी होते है, अत ङित् विभक्तियो मे इन की विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा होगी।

सूत्र के इस प्रथम खण्ड का उपयोग आगे इसी प्रकरण मे 'श्री' आदि शब्दो मे किया जायेगा। अब 'मति'शब्दोपयोगी द्वितीय खण्ड की व्याख्या करते हैं—

स्त्र्याख्यौ ।१।२। ह्रस्व ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। यू ।१।२। वा इत्यव्ययपदम्। नदी ।१।१। ङिति ।७।१। समास—स्त्रियम् आचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ, स्त्रीलिङ्गाविरयर्थ। अत्र नित्यस्त्रीत्वमविवक्षितम्। 'ह्रस्व' इति यू' इत्यनेन सम्बध्यते। इश्च उश्च=यू। ह्रस्वौ इवुतावित्यर्थ। अर्थ—(स्त्र्याख्यौ) स्त्रीलिङ्ग मे वर्तमान (ह्रस्व. =ह्रस्वौ) ह्रस्व (यू) इकार उकार (च) भी (ङिति) ङित् परे होने पर (वा) विकल्प कर के (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

भाव—यदि स्त्रीलिङ्ग मे इकारान्त या उकारान्त शब्द आयेगा तो ङिद्वचनो मे उस की विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जायेगी। यहा यह स्मरण रखना चाहिये कि ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द चाहे नित्यस्त्रीलिङ्ग हो या न हो, केवल स्त्रीलिङ्ग मे वर्तमान होने मात्र से ही उन की नदीसञ्ज्ञा हो जायेगी।

इस नियम के प्रभाव से स्त्रीलिङ्ग मे प्रत्येक ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द ङिद्वचनो मे विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक हो जाता है। नदीत्वपक्ष मे आट् आदि नदीकार्य्य और तदभावपक्ष मे **शेषो घ्यसखि** (१७०) से घिसञ्ज्ञा हो कर गुण आदि घिकार्य होते हैं।

'मति+ए' इस दशा मे ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग मति शब्द से परे ङित् प्रत्यय ङे के विद्यमान होने से वैकल्पिक नदीसञ्ज्ञा हुई। नदीत्वपक्ष मे **आण्नद्याः** (१९६) द्वारा ङित् को आट् आगम, **आटश्च** (१९७) से वृद्धि तथा इकार को यण् करने से 'मत्यै' रूप बनता है। नदीसञ्ज्ञा के अभाव मे घिसञ्ज्ञा हो जाती है। और तब **घेर्ङिति** (१७२) से इकार को एकार गुण हो कर अय् आदेश करने पर 'मतये' रूप बनता है।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन मे 'मति+अस्' इस अवस्था मे नदीसञ्ज्ञा, आट् का आगम, वृद्धि, यण् और सकार को रुँत्व विसर्ग हो कर 'मत्या.' रूप सिद्ध होता है। नदीसञ्ज्ञा के अभाव मे घिसञ्ज्ञा, गुण और **ङसिँङसोश्च** (१७३) से पूर्वरूप हो कर 'मते.' रूप निष्पन्न होता है।

षष्ठीबहुवचन 'मति+आम्' मे **ह्रस्वनद्याप**० (१४८) से ह्रस्वमूलक नुँट् आगम हो **नामि** (१४९) से दीर्घ करने पर—'मतीनाम्'।

'मति+इ'(ङि) यहा नदीसञ्ज्ञा के पक्ष मे **ङेराम्नद्याम्नीभ्य** (१९८) से ङि को आम् तथा **औत्** (१८४) सूत्र द्वारा ङि को औकार युगपत् प्राप्त होते हैं।

दोनों सावकाश है। ङेराम्० (१९८) को 'गौर्याम्' आदि में तथा औत् (१८४) को 'सख्यौ, पत्यौ' आदि में अवकाश प्राप्त हो चुका है। विप्रतिषेधे परं कार्यम् (११३) के अनुसार परकार्य औकार ही होना चाहिये। परन्तु यह अनिष्ट है, इस पर अग्रिम-सूत्र द्वारा पुनः आम् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२२३) इदुद्भ्याम् ।७।३।११७।।

इदुद्भ्यां नदीसञ्ज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्।।

अर्थः—नदीसञ्ज्ञक ह्रस्व इकार उकार से परे ङि को आम् आदेश हो।

व्याख्या—नदीभ्याम् ।५।२। (ङेराम्नद्याम्नीभ्यः से वचनविपरिणाम द्वारा)। इदुद्भ्याम् ।५।२। ङेः ।६।१। आम् ।१।१। (ङेराम्० से)। समासः—इच्च उच्च = इदुतौ, ताभ्याम् = इदुद्भ्याम्। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(नदीभ्याम्) नदीसञ्ज्ञक (इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (आम्) आम् आदेश हो जाता है। यह सूत्र औत् (१८४) सूत्र का अपवाद है।[1]

'मति+इ' यहां प्रकृतसूत्र से ङि को आम् हो कर 'मति+आम्' हुआ। अब आण्नद्याः (१९६) से आट् आगम और ह्रस्वनद्यापः० (१४८) से नुँट् आगम दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु परत्व के कारण आट् का आगम हो जाता है—मति+आट् आम्। आटश्च (१९७) से वृद्धि और इकार को यण् करने पर 'मत्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है। नदीसञ्ज्ञा के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो कर अच्च घेः (१७४) से ङि को औकार और घि को अकार अन्तादेश हो कर वृद्धि एकादेश करने से 'मतौ' रूप सिद्ध होता है।

हे मति+सुँ। यहां ह्रस्वस्य गुणः (१६९) से एकार गुण और एङ्ह्रस्वात्० (१३४) से सम्बुद्धि का लोप हो 'हे मते!' सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	मतिः	मती	मतयः	पं०	मत्याः,मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
द्वि०	मतिम्	,,	मतीः	ष०	,, ,,	मत्योः	मतीनाम्
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः	स०	मत्याम्,मतौ	,,	मतिषु
च०	मत्यै,मतये	,,	मतिभ्यः	सं०	हे मते!	हे मती!	हे मतयः!

[लघु०] एवं बुद्ध्यादयः ।।

अर्थः—इसी प्रकार बुद्धि आदि शब्दों की प्रक्रिया होती है।

व्याख्या—बालकों के लिए मतिवत् कुछ उपयोगी शब्दों का संग्रह यहां दे रहे हैं। '*' यह चिह्न णत्वप्रक्रिया का ज्ञापक है।

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
अङ्गुलि = अङ्गुल	अवनि = पृथ्वी	आकृष्टि = आकर्षण
अपकृति = अपकार	आकृति = आकार	आर्ति = दुःख

१. यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि औत् (१८४) सूत्र उत्सर्ग अर्थात् सामान्य-सूत्र है। इस के दो अपवाद हैं—अच्च घेः (१७४) और इदुद्भ्याम् (२२३)।

शब्द—अर्थ

आलि=पङ्क्ति
आवलि=पङ्क्ति
आवृत्ति=दुहराना
आहति=आघात
आहुति=आहुति
इष्टि=यज्ञ
उक्ति=वचन
उन्नति=उन्नति
उपकृति=उपकार
उपलब्धि=प्राप्ति, ज्ञान
ओषधि=जड़ी-बूटी
कटि=कमर
कण्डूति=खुजली
कान्ति=सौन्दर्य
कीर्त्ति=यश
कृति=कार्य
कृत्ति=चमड़ा
कृषि*=खेती
कोटि[1]=कोना, करोड़
खनि=खान
ख्याति=प्रसिद्धि
गति=चाल, गमन
गीति=गान
गुप्ति=छिपाना
ग्लानि=अवसाद
च्युति=गिरना
छर्दि=वमन
छवि=कान्ति, चमक
जग्धि=सहभोज
जनि=उत्पत्ति
जाति=जाति
तति=विस्तार
तमि=अन्धेरी रात

शब्द—अर्थ

तिथि=तारीख
दीधिति=किरण
दृष्टि=नजर
द्युति=चमक
धूलि=धूल
धृति=धैर्य
निकृति=छल
नियति=भाग्य
निराकृति=खण्डन
नीति=नीति
नुति=स्तुति
पङ्क्ति=कतार
पद्धति=मार्ग
पीति=पीना
प्रकृति=स्वभाव
प्रतिकृति=छाया, सादृश्य
प्रतिपत्ति=ज्ञान, प्राप्ति
प्रतीति=अनुभव
प्रत्यासत्ति=समीपता
प्रत्युक्ति=उत्तर
प्रशस्ति=प्रशंसा
प्रसुप्ति=निद्रा
प्रसूति=प्रसव, सन्तान
प्रसृति=प्रसार, वृद्धि
प्राप्ति=पाना
प्रीति=प्रेम
प्लुति=छलांग
बुद्धि=बुद्धि
भक्ति=श्रद्धा
भणिति=कथन
भित्ति=दीवार
भीति=डर
भुक्ति=भोजन, खाना

शब्द—अर्थ

भुशुण्डि=बन्दूक
भूति=कल्याण
भूमि=पृथ्वी
भृति=मजदूरी
भेरि*=नगारा
भ्रान्ति=भ्रम
मुक्ति=मोक्ष
मूर्त्ति=प्रतिमा
यष्टि=छड़ी
युक्ति=उपाय
युवति=जवान स्त्री
योनि=उत्पत्तिस्थान
रजनि=रात्रि
राजनीति=राजनीति
रीति=तरीका रिवाज
रुचि=अनुराग
रूढि=प्रसिद्धि
लिपि=वर्णमाला
वमि=वमन
वल्लि=लता
वसति=वास, घर
वस्ति=मूत्राशय
वान्ति=वमन
विकृति=विकार
विगीति=निन्दा
विज्ञप्ति=प्रार्थना
विधुति=कम्पन
विनति=नम्रता
विपत्ति=आपत्ति
विरति=हटना
विवृति=व्याख्या
विशुद्धि=विशेष शुद्धि
विस्मृति=भूलना

१. करोड़ अर्थ में 'कोटि' शब्द एकवचनान्त होता है।

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
विहृति=मारना	शान्ति=शान्ति	संहृति=समूह
वीचि=तरङ्ग	शिरोधि=गरदन	सिद्धि=सिद्ध होना
वृत्ति=जीविका	शुक्ति=सीपी	सूक्ति=सुन्दर वचन
वृष्टि=वर्षा	शुद्धि=सफ़ाई	स्तुति=प्रशंसा
वेणि=गुत्त	श्रुति=वेद, कान	स्थिति=ठहरना
व्याकृति=व्याकरण	सन्तति=सन्तान	स्फूर्त्ति=फुर्ती
व्रतति=लता	सम्पत्ति=धन-दौलत	स्मृति=स्मरण
शक्ति=ताकत	संस्तुति=परिचय	हानि=हानि

अब स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' (तीन) शब्द के रूप दर्शाते हैं। **त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः**—यह पीछे (२४०) पृष्ठ पर स्पष्ट कर चुके हैं।

'त्रि+अस्' (जस्) इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२२४) **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ** ।७।२।९९॥

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ ॥

अर्थः—विभक्ति परे होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'तिसृ' और 'चतुर्' शब्द के स्थान पर 'चतसृ' आदेश हो।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। (**अष्टन आ विभक्तौ** से)। त्रिचतुरोः ।६।२। स्त्रियाम् ।७।१। तिसृचतसृ ।१।१। समासः—तिसृ च चतसृ च=तिसृचतसृ, समाहारद्वन्द्वः। **अर्थः**—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में (त्रिचतुरोः) त्रि और चतुर् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ आदेश होते हैं।

'त्रि+अस्' (जस्) यहां जस् विभक्ति परे है अतः प्रकृतसूत्र से 'त्रि' के स्थान पर 'तिसृ' आदेश हो 'तिसृ+अस्' इस स्थिति में पूर्वसवर्णदीर्घ (१२६) का बाध कर **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** (२०४) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२२५) **अचि र ऋतः**[1] ।७।२।१००॥

तिसृचतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि। गुणदीर्घोत्त्वानामपवादः। तिस्रः २। तिसृभिः। तिसृभ्यः २। आमि नुँट् ॥

अर्थः—अच् परे हो तो तिसृ और चतसृ के ऋकार को रेफ आदेश हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। रः ।१।१। (रेफादकार उच्चारणार्थः)। ऋतः ।६।१।

---

१. अलोऽन्त्यपरिभाषयैव सिद्धे 'ऋत' इति अनुवर्तमान-'तिसृचतसृ' इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वकल्पनाय। अन्यथा त्रिचतुरोरित्यस्यैवानुवृत्त्यापत्तौ रादेशेन तिसृचतस्रोर्बाधापत्तिरिति शेखरे नागेशः। वस्तुतस्तु तत्रैव स्वरितत्वं न तत्र। अन्यथा 'अचि रश्च' इत्येव वदेत्। योग्यतयैव तत्कल्पनासिद्धया तदष्टार्थमेवेत्यन्ये।

तिसृचतस्रो ।६।२। (त्रिचतुरो स्त्रियां तिसृचतसृ मे विभक्ति विपरिणाम द्वारा)। अर्थ —(अचि) अच् परे होने पर (तिसृचतस्रो) तिसृ और चतसृ शब्दो के (ऋत) ऋकार के स्थान पर (र) 'र्' यह आदेश होता है।

प्रश्न—अच् परे होने पर ऋकार को रेफ आदेश तो इको यणचि (१५) से ही सिद्ध है, पुन इस सूत्र की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—गुणदीर्घोत्त्वानाम् अपवाद अर्थात् 'तिसृ+अस्' यहा जस् मे ऋतो ङि० (२०४) से प्राप्त होने वाले गुण के, तिसृ+अस्' यहा शस् मे प्रथमयो पूर्वसवर्णः (१२६) द्वारा प्राप्त होने वाले पूर्वसवर्णदीर्घ के तथा प्रियचतसृ+अस्' यहा ङसि और ङस् मे ऋत उत् (२०८) से प्राप्त होने वाले उत्त्व के बाध के लिये इस सूत्र से ऋकार के स्थान पर रेफ आदेश किया जाता है। इस प्रकार यह सूत्र गुण, दीर्घ और उत्त्व का अपवाद है।

तिसृ+अस्' यहा गुण का बाध कर रेफ आदेश कर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग आदेश करने से—'तिस्र ' रूप बना।

'त्रि+अस्'(शस्) यहा तिसृ आदेश हो कर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है; पुन उस का बाध कर प्रकृत-सूत्र से रेफ आदेश हो जाता है—'तिस्र '।

त्रि+भिस्=तिसृ+भिस्=तिसृभि । त्रि+भ्यस्=तिसृ+भ्यस्=तिसृभ्य ।

'त्रि+आम्' यहा त्रेस्त्रय (१६२) से प्राप्त त्रय आदेश का बाध कर त्रिचतुरो० (२२४) से तिसृ आदेश हो जाता है। 'तिसृ+आम' इस स्थिति में ह्रस्वनद्यापो नुँट् (१४८) से नुँट् आगम और अचि र ऋत (२२५) से रेफ आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं। विप्रतिषेधे परं कार्यम् (११३) के अनुसार परकार्य रेफ आदेश होना चाहिये। परन्तु नुम्-अचिर-तृज्वद्भावेभ्यो नुँट् पूर्वविप्रतिषेधेन (वा० १६) इस कात्यायनवचन से यहा पूर्वविप्रतिषेध मान कर पूर्व कार्य नुँट् आगम हो जाता है। अब 'तिसृ+नाम्' इस दशा मे नामि (१४६) से दीर्घ प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र से उस का निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(२२६) न तिसृचतसृ ।६।४।४॥

एतयोर्नामि दीर्घो न। तिसृणाम्। तिसृषु ॥

अर्थ—नाम् परे होने पर तिसृ और चतसृ शब्दो को दीर्घ नही होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। तिसृ-चतसृ ।६।१। (यहा सुँपां सुँलुक्० सूत्र द्वारा षष्ठी का लुक् समझना चाहिये)। नामि ।७।१। (नामि से)। दीर्घ ।१।१। (ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण से)। अर्थ —(नामि) नाम् परे होने पर (तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ शब्दो के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ (न) नही होता। -

'तिसृ+नाम्' यहाँ दीर्घ का निषेध हो कर ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् (वा० २०) से नकार को णकार करने से—'तिसृणाम्'। रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	तिस्रः	प०	०	०	तिसृभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	तिसृणाम्
तृ०	०	०	तिसृभिः	स०	०	०	तिसृषु
च०	०	०	तिसृभ्यः	सम्बोधन नहीं होता।			

इसी प्रकार चतुर् (चार) शब्द के स्त्रीलिङ्ग में रूप बनते हैं—चतस्रः २, चतसृभिः, चतसृभ्यः २, चतसृणाम्, चतसृषु। इसे हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में देखें।

[लघु०] द्वे २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २॥

व्याख्या—'द्वि' (दो) शब्द द्वित्व का वाचक होने से सदा द्विवचनान्त प्रयुक्त होता है। अब स्त्रीलिङ्ग में इस की प्रक्रिया दर्शाई जाती है।

द्वि शब्द से प्रथमा या द्वितीया के द्विवचन में 'द्वि+औ' इस स्थिति में **त्यदादीनामः** (१९३) सूत्र से विभक्ति परे होने के कारण इकार को अकार हुआ। तब 'द्व+औ' इस दशा में स्त्रीत्वविवक्षा में अदन्त होने के कारण **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) सूत्र से टाप् प्रत्यय हुआ। टाप् के टकार और पकार इत्सञ्ज्ञक होने से लुप्त हो जाते हैं। 'द्व आ+औ' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ हो **औङ आपः** (२१६) से औ को शी आदेश तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण करने पर 'द्वे' रूप सिद्ध होता है।

भ्याम् में त्यदाद्यत्व, टाप् और सवर्णदीर्घ हो कर—'द्वाभ्याम्'।

ओस् में, त्यदाद्यत्व, टाप्, सवर्णदीर्घ, आकार को **आङि चापः** (२१८) से एकार, अय् आदेश और सकार को रुँत्व-विसर्ग हो कर—'द्वयोः'[1]। रूपमाला यथा—

प्र०	०	द्वे	०	प०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,,	०	ष०	०	द्वयोः	०
तृ०	०	द्वाभ्याम्	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	सम्बोधन नहीं होता।			

(यहां पर ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——::०::——

अब ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] गौरी। गौर्यौ। गौर्यः। हे गौरि!। गौर्यै। इत्यादि॥

व्याख्या—गौर शब्द से **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५१) सूत्र द्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो कर 'गौरी' शब्द निष्पन्न होता है। गौरी का अर्थ 'पार्वती' है। नित्यस्त्रीलिङ्ग होने से **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४) द्वारा इस की नदी-सञ्ज्ञा हो जाती है।

प्रथमा के एकवचन में 'गौरी+स्' इस अवस्था में ङ्यन्त होने से **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) सूत्र से अपृक्त सकार का लोप हो कर 'गौरी' रूप बनता है।

---

१. ध्यान रहे कि पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के 'द्वाभ्याम्' और 'द्वयोः' की प्रक्रिया भिन्न २ है।

'गौरी+औ' में पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, उस का दीर्घाज्जसि च (१६२) सूत्र से निषेध हो जाता है। तब इको यणचि (१५) से यण् आदेश हो कर 'गौर्यौ' रूप बनता है। ध्यान रहे कि 'गौर्यौ' आदि में अचो रहाभ्यां द्वे (६०) सूत्र द्वारा यकार यर् को द्वित्व हो कर पक्ष में 'गौर्य्यौ' प्रभृति रूप भी बनते हैं।

जस् में भी पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो यण् करने पर—'गौर्यः'।

'गौरी+अम्=गौरीम्'। अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप हो जाता है।

'गौरी+अस्' यहां शस् में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार को रुत्व-विसर्ग करने से 'गौरीः' रूप बनता है। स्त्रीलिङ्ग होने से सकार को नकार नहीं होता।

टा में इको यणचि (१५) से यण् हो कर 'गौर्या' रूप सिद्ध होता है।

'गौरी+ए' (ङे)। यहां यू स्त्र्याख्यौ नदी (१६४) से नदीसञ्ज्ञा हो कर आण्नद्याः (१९६) से आट् आगम, आटश्च (१९७) से वृद्धि और इको यणचि (१५) से यण् यकार करने से 'गौर्यै' रूप बनता है।

'गौरी+अस्' (ङसिँ वा ङस्) इस दशा में नदीसञ्ज्ञा, आट् आगम, वृद्धि और यण् यकार हो कर 'गौर्याः' रूप सिद्ध होता है।

ओस् में इको यणचि (१५) से यण् हो कर 'गौर्योः' बनता है।

षष्ठी के बहुवचन आम् में नदीसञ्ज्ञा हो कर नदीमूलक नुँट्, अनुबन्धलोप और नकार को णकार करने से 'गौरीणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन ङि में 'गौरी+ङि' इस दशा में ङेराम्० (१९८) से ङि को आम्, आण्नद्याः (१९६) से आट् आगम, आटश्च (१९७) से वृद्धि तथा इको यणचि (१५) से यण् करने पर 'गौर्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सम्बुद्धि में नदीसञ्ज्ञा होने से अम्बार्थ० (१९५) से ह्रस्व हो कर एङ्ह्रस्वात्० (१३४) से सकार का लोप हो जाता है—'हे गौरि!'। रूपमाला यथा—

प्र०	गौरी	गौर्यौ	गौर्यः	पं०	गौर्याः	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
द्वि०	गौरीम्	,,	गौरीः	ष०	,,	गौर्योः	गौरीणाम्
तृ०	गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः	स०	गौर्याम्	,,	गौरीषु
च०	गौर्यै	,,	गौरीभ्यः	सं०	हे गौरि!	हे गौर्यौ!	हे गौर्यः!

[लघु०] एवं नद्यादयः ॥

अर्थः—इसी प्रकार नदी आदि ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनेंगे।

व्याख्या—बालकों के लिये गौरीवत् कुछ उपयोगी शब्दों का सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं। '*' इस चिह्न वाले स्थानों में णत्वविधि जाननी चाहिये।

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
अक्षौहिणी=सेनाविशेष	अनीकिनी=सेना	अमरावती=इन्द्रपुरी
अङ्गुली=अङ्गुल	अनुक्रमणी=सूची	अरण्यानी=बड़ा जङ्गल
अटवी—जङ्गल	अनुचरी*—दासी	अवाची=दक्षिण दिशा

शब्द—अर्थ

अश्मरी* = पत्थरी रोग
आनुपूर्वी* = क्रम
आमलकी = आँवला
इङ्गुदी = गोंदी
इन्द्राणी = इन्द्रपत्नी
उज्जयिनी = उज्जैन नगर
उदीची = उत्तर दिशा
उर्वशी = एक अप्सरा
उर्वी* = पृथ्वी
ऋतुमती = रजस्वला
एकादशी = एकादशी
कटी = कमर
कठिनी = खड़िया मिट्टी
कदली = केले का पेड़
कवरी* = वेणी
कमठी = कछुई
करिणी = हथिनी
कर्त्तनी = कैंची
कस्तूरी* = कस्तूरी
काकली = सूक्ष्ममधुरध्वनि
काकिणी = कौड़ी
काकी = कव्वी
कादम्बरी* = मदिरा
कादम्बिनी = मेघ-माला
कामिनी = स्त्री
कामुकी = कामुक स्त्री
कालिन्दी = यमुना नदी
काली = देवी-विशेष
कावेरी* = एक नदी
काशी = बनारस
किङ्किणी = घुंघरू
किंवदन्ती = अफ़वाह
कुटी = झोंपड़ी
कुट्टनी = दलाल स्त्री

शब्द—अर्थ

कुटुम्बिनी = भार्या
कुमारी* = कुंवारी लड़की
केतकी = केवड़ा (क्षुप)
कोकी = चकवी
कौमुदी = चान्दनी
कौमोदकी = विष्णुकीगदा
कौशाम्बी = एक नगर
क्षत्रियाणी = क्षत्रियस्त्री
गर्दभी = गधी
गर्भिणी = गर्भवती
गायत्री* = एक छन्द
गाली = अपशब्द
गुटी = गोली
गुडूची = गिलोय
गुर्वी* = भारी
गृध्रसी = एक रोग
गृहिणी = भार्या
गोष्ठी = सभा
गोस्तनी = द्राक्षा विशेष
घृतचौरी* = कचौरी
छागी = बकरी
जगती = पृथ्वी
जननी = माता
ज्योत्स्नी = चान्दनी रात
टिप्पणी = नोट
तटिनी = नदी
तपस्विनी = तपस्या वाली
तमी = अन्धेरी रात
तरङ्गिणी = नदी
तरुणी = जवान स्त्री
तामसी = तमोगुणवाली
तिरस्करिणी = परदा
त्रयी* = ऋग्यजुःसाम
दासी = नौकरानी

शब्द—अर्थ

दूती = संदेशहरी
देवकी = श्रीकृष्ण-माता
देवी = दुर्गा, देवपत्नी
दैनन्दिनी = डायरी
द्रौपदी = द्रुपद-कन्या
धमनी = नाडी, शिरा
धरित्री* = पृथ्वी
नगरी* = नगर
नटी = नट की स्त्री
नदी = नदी
नलिनी = कमलिनी
नागवल्ली = पान की बेल
नाडी = शिरा
नारी* = स्त्री
निशीथिनी = रात्रि
पञ्चवटी = एक स्थान
पतिवत्नी = सधवा
पत्नी = भार्या
पदवी = मार्ग, पद
पद्मिनी = कमल-समूह
परिपाटी = सिलसिला
पाञ्चाली = द्रौपदी
पार्वती = दुर्गा
पितामही = दादी
पिप्पली = पीपर
पुत्री* = बेटी
पुरन्ध्री* = पति-पुत्रवती
पुरी* = नगरी
पुंश्चली = व्यभिचारिणी
पुष्करिणी = हथिनी
पुष्पवती = रजस्वला
पृथिवी = भूमि
पृथ्वी = भूमि
पेषणी = पेषण-शिला

शब्द—अर्थ
पौर्णमासी=पूर्णिमा
प्रणाली=तरीका
प्रतीची=पश्चिमदिशा
प्रतोली=गली
प्रसाधनी=कङ्घी
प्राची=पूर्वदिशा
बदरी*=बेर का वृक्ष
बिसिनी=कमल का पौधा
भट्टिनी=महारानी
भवती=आप (स्त्री)
भवानी=दुर्गा
भागीरथी=गङ्गा
भामिनी=कोपशीला
भारती=संस्कृतभाषा
भेरी*=बड़ा नगारा
मञ्जरी*=कोंपल
मन्त्रिणी=मन्त्री (स्त्री)
मन्दाकिनी=स्वर्गङ्गा
मर्कटी=वानरी
मसी=स्याही
महती=बड़ी
महामारी*=प्लेग आदि
महिषी*=भैंस, पटरानी
मही=पृथ्वी
मातामही=नानी
मातुलानी=मामी
मातुली=मामी
मालती=चमेली (लता)
मुम्बापुरी*=बम्बई नगर
मुरली=बांसुरी
मृडानी=पार्वती
मेदिनी=पृथिवी

शब्द—अर्थ
मैत्री*=मित्रता
मौर्वी*=धनुष-डोरी
यक्षी*=कुबेर-स्त्री
यवनानी=यवनलिपि
याज्ञसेनी=द्रौपदी
यामिनी=रात्रि
युवती=जवान स्त्री
रजनी=रात
राक्षसी=राक्षस स्त्री
राजधानी=राजधानी
राज्ञी=रानी
रुक्मिणी=कृष्ण पत्नी
रुद्राणी=पार्वती
रेवती=बलराम पत्नी
रोहिणी=एक नक्षत्र
लेखनी=कलम
लेखिनी=कलम
वरूथिनी=सेना
वसुमती=पृथ्वी
वंशी=बांसुरी
वाणी=वाणी
वापी=बावड़ी
वामी=घोड़ी
वायसी=कव्वी
वाराणसी=बनारस
वारुणी=मद्य, पश्चिम
वाहिनी=सेना, नदी
विदुषी*=पठित स्त्री
विभावरी*=रात्रि
विष्णुपदी=गङ्गा
वीथी=रास्ता, गली
वैजयन्ती=पताका

शब्द—अर्थ
वैतरणी=नरक की नदी
वैदेही=सीता
वैयासिकी=व्यास-रचना
व्याघ्री*=बाघिन
शतघ्नी=तोप
शमी=शमी वृक्ष
शर्वरी*=रात्रि
शाटी=वस्त्र, साड़ी
शुण्ठी=सोंठ
शुनी=कुतिया
शैली=रीति
श्रेणी=पङ्क्ति
सखी=सहेली
सङ्ग्रहणी=एक रोग
सपत्नी=सौतन
सरस्वती=वाग्देवी
सरोजिनी=कमल-समूह
साध्वी=पतिव्रता
सिंहवाहिनी=दुर्गा
सिंही=शेरनी
सीमन्तिनी=स्त्री
सुन्दरी*=रूपवती
सूची=सूई
सूरी*=कुन्ती
सैरन्ध्री*=दासी
सौदामनी=विद्युत्
स्थली[1]=सुन्दर स्थल
स्रोतस्वती=नदी
हरिणी=हरनी
हरीतकी=हरड़
हसन्ती=अंगीठी
हिमानी=बरफ-समूह
ह्लादिनी=वज्र, विद्युत्

१ स्थलशब्द से जानपद-कुण्ड-गोण स्थल० (४.१.४२) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय कर नित्य-स्त्रीलिङ्गी 'स्थली' शब्द निष्पन्न होता है। इस का अर्थ है—अकृत्रिम या स्वा-

[लघु०] लक्ष्मीः। शेषं गौरीवत् ॥

व्याख्या—लक्ष दर्शनाङ्कनयोः (चुरा० उ०) धातु से लक्षेर्मुट् च (उणा० ४४०) द्वारा ई प्रत्यय और मुँट् का आगम करने से 'लक्ष्मी' शब्द निष्पन्न होता है। ङ्यन्त न होने से इस से परे हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) द्वारा सुँलोप नहीं होता। अन्य विभक्तियों में गौरीशब्दवत् प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	लक्ष्मीः	लक्ष्म्यौ	लक्ष्म्यः	पं०	लक्ष्म्याः*	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभ्यः
द्वि०	लक्ष्मीम्	,,	लक्ष्मीः	ष०	,,*	लक्ष्म्योः	लक्ष्मीणाम्*
तृ०	लक्ष्म्या	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभिः	स०	लक्ष्म्याम्*	,,	लक्ष्मीषु
च०	लक्ष्म्यै*	,,	लक्ष्मीभ्यः	सं०	हे लक्ष्मि!*	हे लक्ष्म्यौ!	हे लक्ष्म्यः!

* इन स्थानों पर नदीसञ्ज्ञा हो कर आट् आदि नदी-कार्य होते हैं।

[लघु०] एवं तरी-तन्त्र्यादयः ॥

अर्थः—तरी, तन्त्री आदि अन्य ईप्रत्ययान्त शब्दों के रूप भी लक्ष्मीशब्द के समान होते हैं।

व्याख्या—अवि-तॄ-स्तॄ-तन्त्रिभ्य ईः (उणा० ४३८) इस औणादिक सूत्र से १. अवी (रजस्वला स्त्री), २. तरी (नौका), ३. स्तरी (धूम), ४. तन्त्री (वीणा)—इन चार ईप्रत्ययान्त शब्दों की निष्पत्ति होती है। इन का उच्चारण भी लक्ष्मीशब्दवत् होता है। ङ्यन्त न होने से इन में भी सुँलोप नहीं होता। इस विषय पर एक श्लोक प्रसिद्ध है—

अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु ।
सप्तस्त्रीलिङ्गशब्दानां न सुलोपः कदाचन ॥

परन्तु इन में 'स्तरी' और 'भी' (डर) शब्दों का उल्लेख नहीं, किञ्च ये सब शब्द औणादिक भी नहीं हैं, अतः यह श्लोक संशोधित रूप से इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिये—

अवी-तन्त्री-स्तरी-लक्ष्मी-तरी-धी-ह्री-श्रियां भियः ।
अङ्यन्तत्वात् स्त्रियामेषां न सुलोपः कदाचन ॥[1]

भाविक सुन्दर भूमि। इस शब्द की यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) से नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। इस पर एक सुन्दर सुभाषित बहुत प्रसिद्ध है—

पाणिनेर्न नदी गङ्गा यमुना च स्थली नदी ।
प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत् ॥

अर्थात् पाणिनि ने गङ्गा और यमुना को तो 'नदी' नहीं माना किन्तु स्थली (स्थलप्रदेश) को 'नदी' माना है। सत्य है समर्थ लोग स्वतन्त्र होते हैं, जो जी में आता है कह देते है कोई रोकने वाला नहीं होता। [व्याकरणप्रेमी थोड़ा विचार कर इस पद्य का आनन्द उठा सकते हैं।]

१. यहां यह ध्यातव्य है कि इन शब्दों से यदि कृदिकारादक्तिनः (वा० १०६) से वैकल्पिक ङीप् करेंगे तो ङीप्पक्ष में इन शब्दों से परे भी सुँलोप होने लगेगा। अत एव द्विरूपकोश में लक्ष्मीशब्द के प्रथमैकवचन में दोनों रूप उपलब्ध होते हैं—लक्ष्मीर्लक्ष्मी हरिप्रिया। परन्तु इन के ङीप्पक्षीय रूप प्रसिद्ध नहीं हैं।

अब ईकारान्त स्त्रीलिङ्गों में सब से विलक्षण स्त्रीशब्द का वर्णन करते हैं।

[लघु०] स्त्री। हे स्त्रि!॥

व्याख्या—स्त्यै शब्द-सङ्घातयोः (भ्वा० प०) धातु से स्त्यायतेर्ड्रट् (उणा० ६०५) सूत्र द्वारा ड्रट् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, टिलोप, लोपो व्योर्वलि (४२६) से यकारलोप, टिड्ढाणञ्० (१२४७) से ङीप् प्रत्यय और यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'स्त्री' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीशब्द ङ्यन्त है अत: 'स्त्री+सुँ' यहां हल्ङ्याब्भ्यः० (१७६) द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो जाता है—स्त्री।

सम्बुद्धि में यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) सूत्र द्वारा स्त्रीशब्द की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। तब अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (१९५) सूत्र से ह्रस्व और एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (१३४) सूत्र से सकार का लोप हो कर 'हे स्त्रि!' प्रयोग सिद्ध होता है।

'स्त्री+औ' यहां धातु का ईकार न होने से इयँङ् प्राप्त नहीं होता। पूर्वसवर्णदीर्घ का भी दीर्घाज्जसि च (१६२) से निषेध हो जाता है। तब इको यणचि (१५) से यण् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२२७) स्त्रियाः।६।४।७९॥

अस्येयँङ् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ। स्त्रियः॥

अर्थः—अजादि प्रत्यय परे होने पर स्त्रीशब्द के ईकार को इयँङ् आदेश हो।

व्याख्या—स्त्रियाः।६।१। इयँङ्।१।१। अचि।७।१। (अचि श्नुधातु० से)। 'प्रत्यये' का अध्याहार कर यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे द्वारा तदादिविधि हो कर 'अजादौ प्रत्यये' बन जाता है। अर्थ—(अचि=अजादौ) अजादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (स्त्रियाः) स्त्रीशब्द के स्थान पर (इयँङ्) इयँङ् आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से स्त्रीशब्द के अन्त्य ईकार के स्थान पर इयँङ् आदेश होगा।

'स्त्री+औ' यहां 'औ' यह अजादि प्रत्यय परे होने से प्रकृतसूत्र द्वारा इयँङ् आदेश होकर—'स्त्रियौ' रूप बना।

'स्त्री+अस्' (जस्) यहां भी इयँङ् हो कर—'स्त्रियः' रूप बनता है।

'स्त्री+अम्' यहां अमि पूर्वः (१३५) का बाध कर प्रकृत-सूत्र से नित्य इयँङ् प्राप्त होता है; इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२२८) वाऽम्शसोः।६।४।८०॥

अमि शसि च स्त्रिया इयँङ् वा स्यात्। स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रियः, स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः २। परत्वान्नुँट्—स्त्रीणाम्। स्त्रीषु॥

अर्थः—अम् या शस् परे होने पर स्त्रीशब्द को विकल्प कर के इयँङ् हो।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। अम्शसोः।७।२। स्त्रियाः।६।१। (स्त्रियाः से)। इयँङ्।१।१। (अचि श्नु० से)। अर्थः—(अम्शसोः) अम् अथवा शस् परे होने पर (स्त्रियाः) स्त्रीशब्द के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (इयँङ्) इयँङ् आदेश होता है। यह पूर्वसूत्र का बाधक है।

'स्त्री+अम्' यहां प्रकृतसूत्र से ईकार को विकल्प कर के इयँङ् हो गया। इयँङ्पक्ष में अनुबन्ध-लोप हो कर—स्त्रियम्। इयँङ् के अभाव में **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप हो कर—स्त्रीम्। इस प्रकार 'स्त्रियम्, स्त्रीम्' दो रूप सिद्ध होते हैं।

'स्त्री+अस्' (शस्) यहां भी **वाऽम्शसोः** सूत्र से वैकल्पिक इयँङ् हो कर—स्त्रियः। पक्ष में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर—स्त्रीः। इस प्रकार 'स्त्रियः, स्त्रीः' दो रूप बनते हैं।

तृतीया के एकवचन में 'स्त्री+आ' इस अवस्था में **स्त्रियाः** (२२७) सूत्र से ईकार को इयँङ् हो कर—'स्त्रिया' रूप बनता है।

चतुर्थी के एकवचन 'स्त्री+ए' में **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४) से नित्य नदी-सञ्ज्ञा हो जाती है। यद्यपि स्त्रीशब्द के स्थान पर इयँङ् होता है, तथापि स्त्रीशब्द का वर्जन होने से **ङिति ह्रस्वश्च** (२२२) से ङित्प्रत्ययों में नदीसञ्ज्ञा का विकल्प नहीं होता। नदीसञ्ज्ञा होने से **आण्नद्याः** (१९६) से आट् आगम और **आटश्च** (१९७) से वृद्धि होने के अनन्तर 'स्त्री+ऐ' इस स्थिति में **स्त्रियाः** (२२७) से इयँङ् हो कर 'स्त्रियै' प्रयोग निष्पन्न होता है।

'स्त्री+अस्' (ङसिँ वा ङस्) यहां भी पूर्ववत् नदीसञ्ज्ञा होने से आट, वृद्धि और इयँङ् हो कर—'स्त्रियाः' रूप बनता है।

ओस् में **स्त्रियाः** (२२७) से इयँङ् हो कर—'स्त्रियोः' रूप बनता है।

षष्ठी के बहुवचन में 'स्त्री+आम्' इस दशा में इयँङ् और नुँट् दोनों की युगपत् प्राप्ति होने पर परत्व के कारण नुँट् का आगम हो जाता है। अब **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार हो कर 'स्त्रीणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'स्त्री+ङि' यहां पर नदीसञ्ज्ञा होने से **ङेराम्०** (१९८) सूत्र से ङि को आम्, आट् का आगम, वृद्धि और **स्त्रियाः** (२२७) से इयँङ् हो कर 'स्त्रियाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः	पं०	स्त्रियाः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
द्वि०	स्त्रियम्, स्त्रीम्	,,	स्त्रियः, स्त्रीः	ष०	,,	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः	स०	स्त्रियाम्	,,	स्त्रीषु
च०	स्त्रियै	,,	स्त्रीभ्यः	सं०	हे स्त्रि!	हे स्त्रियौ!	हे स्त्रियः!

नोट— स्त्रीशब्द के समान उच्चारण वाला स्त्रीलिङ्ग में अन्य कोई शब्द नहीं।

[लघु०] श्रीः। श्रियौ। श्रियः॥

व्याख्या—श्रयति हरिम् इति श्रीः। लक्ष्मी वा शोभा को 'श्री' कहते हैं। **श्रिञ् सेवायाम्** (भ्वा० उभ०) धातु से **क्विब्वचि-प्रच्छि-श्रि-स्रु-द्रु-प्रु-ज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च** (उणा० २१५) सूत्र द्वारा क्विँप् प्रत्यय तथा प्रकृति को दीर्घ करने से 'श्री' शब्द निष्पन्न होता है। श्रीशब्द ङ्यन्त नहीं, इस में ईकार धातु का अवयव है। अतः **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) से सुँलोप नहीं होता—श्रीः।

'श्री+औ' यहां धातु के अवयव ईकार से पूर्व धातु का अवयव 'श्र्' संयोग वर्त्तमान है, अङ्ग अनेकाच् भी नहीं, अतः **एरनेकाच.०** (२००) से यण् नहीं होता। **अचि श्नु०** (१९९) से इयँङ् हो कर—'श्रियौ' प्रयोग बनता है।

श्री+अस् (जस्) = श्रियः। **अचि श्नु०** (१९९) से इयँङ् होता है।

'हे श्री+स्' यहां सम्बुद्धि में **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४) से नित्यनदीसञ्ज्ञा होने के कारण **अम्बार्थनद्योः०** (१९५) द्वारा ह्रस्व प्राप्त होता है। परन्तु यह अनिष्ट है, अतः इस के वारण के लिए नदीसञ्ज्ञा का निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(२२९) **नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री** ।१।४।४।।

इयँङुवँङो स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसञ्ज्ञौ न स्तः, न तु स्त्री। हे श्रीः!। श्रियै, श्रिये। श्रियाः २, श्रियः २ ।।

अर्थः—जिन ईकार ऊकार के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं उन की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। परन्तु स्त्रीशब्द की तो होती ही है।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। इयँङुवँङ्स्थानौ ।१।२। यू ।१।२। नदी ।१।१। (**यू स्त्र्याख्यौ नदी** से)। अस्त्री ।१।१। समासः—इयँङ् च उवँङ् च = इयँङुवँङौ, इतरेतरद्वन्द्वः। इयँङुवँङौ स्थानं (स्थितिः) ययोस्तौ = इयँङुवँङ्स्थानौ, बहुव्रीहि-समासः। ईश्च ऊश्च = यू, इतरेतरद्वन्द्वः। न स्त्री = अस्त्री, नञ्समासः। अर्थः— (इयँङुवँङ्स्थानौ) जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं ऐसे (यू) ईकार ऊकार (नदी) नदीसञ्ज्ञक (न) नहीं होते। (अस्त्री) परन्तु स्त्रीशब्द पर यह नियम लागू नहीं होता।

श्रीशब्द के ईकार के स्थान पर अजादि प्रत्ययों में **अचि श्नु०** (१९९) सूत्र द्वारा इयँङ् आदेश होता है, अतः प्रकृतसूत्र द्वारा अजादिप्रत्ययों में तथा अन्यत्र[1] भी इस में नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जायेगा।

'हे श्री+स्' यहां नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जाने से नदीमूलक ह्रस्व नहीं होता। सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने से—'हे श्रीः' प्रयोग सिद्ध होता है।

श्री+अम् = श्रियम्। श्री+अस् (शस्) = श्रियः। श्री+आ (टा) = श्रिया। सर्वत्र **अचि श्नु०** (१९९) से इयँङ् हो जाता है।

चतुर्थी के एकवचन 'श्री+ए' में **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४) सूत्र से प्राप्त नदीसञ्ज्ञा का **नेयँङुवँङ्०** (२२९) से निषेध हो जाता है। पुनः **ङिति ह्रस्वश्च** (२२२) से विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। नदीसञ्ज्ञा के पक्ष में आट् का आगम,

---

१. ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा का निषेध केवल वहां ही नहीं होता जहां इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं। किन्तु इयँङुवँङ्स्थानी शब्द में अन्यत्र भी—जहां इयँङ् उवँङ् नहीं होते—निषेध हो जाता है। यथा—'श्री' शब्द में इयँङ् तो अजादि विभक्तियों में होता है परन्तु नदीसञ्ज्ञा का निषेध अजादियों में तथा अन्यत्र सम्बुद्धि में भी हो जाता है।

वृद्धि और इयँङ् हो कर 'श्रियै' बनता है। नदीत्व के अभाव में केवल इयँङ् हो कर —'श्रिये'। इस प्रकार ङे में 'श्रियै, श्रिये' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

पञ्चमी वा षष्ठी के एकवचन 'श्री+अस्' में पूर्ववत् नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो पुनः विकल्प हो जाता है। नदीत्वपक्ष में आट्, वृद्धि और इयँङ् हो कर—'श्रियाः'। नदीत्व के अभाव में केवल इयँङ् हो कर—'श्रियः' सिद्ध होता है। इस प्रकार ङसिँ और ङस् में 'श्रियाः, श्रियः' ये दो रूप निष्पन्न होते हैं।

षष्ठी के बहुवचन 'श्री+आम्' में **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४) से प्राप्त नित्य-नदीत्व का **नेयँङुवँङ्०** (२२९) से निषेध हो जाता है। आम् के ङित् न होने से **ङिति ह्रस्वश्च** (२२२) द्वारा नदीत्व का विकल्प नहीं हो सकता। इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा नदीसञ्ज्ञा का विकल्प करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(२३०) वाऽऽमि ।१।४।५।।

इयँङुवँङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसञ्ज्ञौ स्तः, न तु स्त्री। श्रीणाम्, श्रियाम्। श्रियाम्, श्रियि ।।

अर्थः—जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं, ऐसे नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार ऊकार आम् परे होने पर विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक हों। परन्तु यह नियम स्त्रीशब्द में प्रवृत्त नहीं होता।

व्याख्या—इयँङुवँङ्स्थानौ ।१।२। (**नेयँङुवँङ्०** से)। स्त्र्याख्यौ ।१।२। यू। १।२। नदी ।१।१। (**यू स्त्र्याख्यौ नदी** से)। वा इत्यव्ययपदम्। आमि ।७।१। अर्थः—(इयँङुवँङ्स्थानौ) जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं, ऐसे (स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्ग (यू) ईकार ऊकार (आमि) आम् परे होने पर (वा) विकल्प कर के (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

'श्री+आम्' यहां इयँङ्स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार को आम् परे रहते प्रकृत सूत्र से विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। नदीसञ्ज्ञापक्ष में नद्यन्त होने से **ह्रस्वनद्यापः०** (१४८) से नुँट् और **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार करने से 'श्रीणाम्' और अभावपक्ष में **अचि श्नु०** (१९९) से इयँङ् हो कर 'श्रियाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन 'श्री+ङि' में **ङिति ह्रस्वश्च** (२२२) से नदीसञ्ज्ञा के विकल्प होने से नदीत्वपक्ष में **ङेराम्०** (१९८) सूत्र से ङि को आम् आदेश हो कर आट् आगम, वृद्धि और इयँङ् करने से—'श्रियाम्'। नदीत्वाभाव में केवल इयँङ् आदेश हो कर 'श्रियि' प्रयोग बनता है। श्रीशब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	श्रीः	श्रियौ	श्रियः
द्वितीया	श्रियम्	,,	,,
तृतीया	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः
चतुर्थी	श्रियै,श्रिये	,,	श्रीभ्यः
पञ्चमी	श्रियाः,श्रियः	,,	,,

षष्ठी	श्रिया ,श्रिय	श्रियो	श्रीणाम्,श्रियाम्
सप्तमी	श्रियाम्,श्रियि	,,	श्रीषु
सम्बोधन	हे श्री.!	हे श्रियौ!	हे श्रिय !

इसी प्रकार धी(बुद्धि), ह्री(लज्जा), भी(डर) शब्दो के रूप बनेंगे ।

विशेष ध्यातव्य —

(१) ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा का उपयोग केवल 'ङे, ङसिँ, ङस्, ङि, आम् और सम्बुद्धि' इन छ' स्थानो पर ही होना है ।

(२) जिस शब्द मे इयँङ् उवँङ् आदेश होते हो उस मे प्रथम नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री(२२६)सूत्र से सर्वत्र छ स्थानो पर नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है ।

(३) नदीत्व के निषेध के बाद ङिद्वचनो तथा आम् मे क्रमश ङिति ह्रस्वश्च(२२२)और वाऽऽमि(२३०)सूत्रो से नदीत्व का विकल्प हो जाता है।

(४) शेष सम्बुद्धि ही बच रहती है जिस मे वैसे का वैसा नदीत्वनिषेध बना रहता है । इस प्रकार नेयँङुवँङ्० (२२६) केवल सम्बुद्धि मे ही चरितार्थ होता है ।

(५) इन नियमो मे स्त्रीशब्द प्रभावित नही होता; क्योंकि सर्वत्र 'अस्त्री' कहा गया है । अत' स्त्रीशब्द यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) से नित्य नदीसञ्ज्ञक है ।

(यहां ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—— :०: ——

अब उकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'धेनु' (गाय) शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] धेनुर्मतिवत् ।।

व्याख्या —'धेनु'शब्द की प्रक्रिया 'मति'शब्दवत् होती है । रूपमाला यथा—

प्र०	धेनु	धेनू	धेनव	प०	धेन्वा',धेनो	धेनुभ्याम्	धेनुभ्य
द्वि०	धेनुम्	,,	धेनू	ष०	,, ,,	धेन्वो.	धेनूनाम्
तृ०	धेन्वा	धेनुभ्याम्	धेनुभि	स०	धेन्वाम्,धेनौ	,,	धेनुषु
च०	धेन्वै, धेनवे	,,	धेनुभ्य.	सं०	हे धेनो!	हे धेनू!	हे धेनव!

स्त्रीलिङ्ग होने के कारण घिसञ्ज्ञा होने पर भी आङो नाऽस्त्रियाम् (१७१) द्वारा टा को ना नही होता ।

ङिद्वचनो मे ङिति ह्रस्वश्च (२२२) द्वारा नदीसञ्ज्ञा का विकल्प हो जाता है । नदीत्वपक्ष मे नदीकार्य होते हैं । यथा—ङे मे आट् का आगम और वृद्धि हो कर यण् (१५) हो जाता है । ङसिँ और ङस् मे भी ऐसा ही होता है । ङि मे इदुद्भ्याम् (२२३) से ङि को आम् आदेश, आट् और वृद्धि हो कर यण् (१५) हो जाता है । नदीत्वाभाव मे ङिद्वचनो की प्रक्रिया 'शम्भु' शब्द के समान होती है ।

संस्कृतसाहित्य में उदन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द बहुत कम हैं। फिर भी हम कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं [* यह चिह्न णत्वप्रक्रिया का ज्ञापक है]।

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
अचिरांशु=विजली	काकु=स्वर-विकृति	रेणु[3]=धूल
अभ्रमु*=ऐरावतपत्नी	कुहु=कोयलध्वनि	वार्त्ताकु—बैंगन
अलाबु=लताविशेष	खर्जु=खुजली	वितद्रु*=एक नदी
इर्वारु*=ककड़ी	गण्डु=तकिया, गांठ	शतद्रु*=सतलुज
उडु[1]=नक्षत्र, तारा	चञ्चु=चोंच	सरयु*=एक नदी
कच्छु=रोग-विशेष	जम्बु=जामुन	सिन्धु=सिन्ध नदी
कण्डु=खुजली	तनु=शरीर	स्नायु=नस
कन्दु[2]=कड़ाही	दनु=दैत्य-माता	हनु=ठोड्डी
करेणु=हथिनी	रज्जु=रस्सी	

अब उकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'क्रोष्टु' (गीदड़ी) शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(२३१) **स्त्रियाञ्च** ।७।१।९६॥

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद् रूपं लभते ॥

अर्थः—स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्द तृजन्त के सदृश रूप को प्राप्त होता है, अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में 'क्रोष्टु' के स्थान पर 'क्रोष्टृ' आदेश हो जाता है।

व्याख्या—स्त्रियाम् ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । क्रोष्टुः ।१।१। तृज्वत् इत्यव्ययपदम् । (तृज्वत्क्रोष्टुः से) । तृचा तुल्यम्=तृज्वत्, तृजन्तवदित्यर्थः । अर्थः—(स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में (च) भी (क्रोष्टुः) क्रोष्टु शब्द (तृजवत्) तृजन्त के समान होता है।

अर्थकृत आन्तर्य (सादृश्य) द्वारा क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ ही आदेश होता है। अन्य कोई तृजन्त नहीं होता।

क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो जाने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२३२) **ऋन्नेभ्यो ङीप्** ।४।१।५॥

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् । क्रोष्ट्री गौरीवत् ॥

अर्थः—स्त्रीलिङ्ग में ऋदन्त और नकारान्त शब्दों से परे ङीप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—स्त्रियाम् ।७।१। (यह अधिकृत है) । प्रातिपदिकेभ्यः ।५।३। (ङ्याप्प्रातिपदिकात् से वचनविपरिणाम द्वारा) । ऋन्नेभ्यः ।५।३। ङीप् ।१।१। समासः—ऋतश्च नाश्च=ऋन्नाः, तेभ्यः=ऋन्नेभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वः । नकारादकार उच्चा-

---

१. क्लीबत्वमपीष्टम् । नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाऽप्युडु वा स्त्रियाम् इत्यमरः ।

२. पुंस्त्वमपीष्टम् । ना कन्दुर्वा स्वेदनी स्त्रियाम् इत्यमरः ।

३. अस्य पुंस्त्वमपि । रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः इत्यमरः ।

रणार्थ । 'ऋन्नेभ्य' स तदन्तविधि हो जाने से 'ऋदन्तनान्तेभ्य' बन जाता है। अर्थ — (ऋन्नेभ्य) ऋदन्त और नकारान्त (प्रातिपदिकेभ्य) प्रातिपदिकों से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा मे (ङीप्) ङीप् प्रत्यय हो जाता है।

ऋदन्त प्रातिपदिकों से यथा—कर्तृ+ङीप्=कर्तृ+ई=कर्त्री । हर्तृ+ङीप् =हर्तृ+ई=हर्त्री । नकारान्त प्रातिपदिकों से यथा—दण्डिन्+ङीप्=दण्डिन्+ई =दण्डिनी । योगिन्+ङीप्=योगिन्+ई=योगिनी।

'क्रोष्टृ' शब्द ऋदन्त है, अत ङीप् प्रत्यय हो गया। 'ङीप्' का 'ई' शेष रहता है। ङकार की लशक्वतद्धिते (१३६) से और पकार की हलन्त्यम् (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। तब 'क्रोष्टृ+ई' इस स्थिति मे यण् आदेश हो कर 'क्रोष्ट्री' यह ईकारान्त शब्द बन जाता है। ङयन्त होने से क्रोष्ट्री शब्द के रूप गौरीशब्दवत् होते हैं।

रूपमाला यथा—

प्र०	क्रोष्ट्री	क्रोष्ट्र्यौ	क्रोष्ट्र्य	प०	क्रोष्ट्र्या	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभ्य
द्वि०	क्रोष्ट्रीम्	,,	क्रोष्ट्री	ष०	,,	क्रोष्ट्र्यो	क्रोष्ट्रीणाम्
तृ०	क्रोष्ट्र्या	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभि	स०	क्रोष्ट्र्याम्	,,	क्रोष्ट्रीषु
च०	क्रोष्ट्र्यै	,,	क्रोष्ट्रीभ्य	स०	हे क्रोष्ट्रि!	हे क्रोष्ट्र्यौ!	हे क्रोष्ट्र्य!

इसी प्रकार—कर्त्री (करने वाली), धात्री (धारण करने वाली), पात्री (पालन करने वाली) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

(यहां उकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

— ० —

[लघु०] भ्रू श्रीवत् ॥

व्याख्या—भ्रमुं अनवस्थाने (दिवा० प०) धातु से भ्रमेश्च डूः (उणा० २२६) सूत्र द्वारा डू प्रत्यय कर टिलोप करने से 'भ्रू' (भौं) शब्द निष्पन्न होता है। भ्रूशब्द के रूप श्रीशब्द के समान बनेंगे। अचि श्नुधातुभ्रुवाम्० (१९९) सूत्र मे विशेष उल्लेख के कारण इस म उवँङ् आदेश होगा। इस मे उवँङ् की स्थिति होने से प्रथम नेयँङ्-वँङ्० (२२९) द्वारा नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो कर तदनन्तर ङित् वचनों मे ङिति ह्रस्वश्च (२२) तथा आम् मे वाऽऽमि (२३०) से नदीत्व का विकल्प हो जाने से 'श्री' शब्द के समान प्रक्रिया होगी। रूपमाला यथा—

प्रथमा	भ्रू	भ्रुवौ	भ्रुव
द्वितीया	भ्रुवम्	,,	,,
तृतीया	भ्रुवा	भ्रूभ्याम्	भ्रूभि
चतुर्थी	भ्रुवै, भ्रुवे	,,	भ्रूभ्य
पञ्चमी	भ्रुवा, भ्रुव	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	भ्रुवो	भ्रूणाम्, भ्रुवाम्

सप्तमी	भ्रुवाम्,भ्रुवि	भ्रुवोः	भ्रूषु
सम्बोधन	हे भ्रूः!	हे भ्रुवौ!	हे भ्रुवः!

इसी प्रकार भू (पृथ्वी) शब्द के रूप होते हैं।

[लघु०] स्वयम्भूः पुंवत् ॥

अर्थः—स्वयम्भूशब्द पुंलिङ्ग 'स्वयम्भू' के समान होता है।

व्याख्या—स्वयम्भू शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं, किन्तु विशेष्यलिङ्ग के आश्रित है। अतः इस की **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४) से नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। **ओः सुपि** (२१०) से प्राप्त यण् का **न भूसुधियोः**(२०२) से निषेध हो कर **अचि श्नु०**(१९९) से उवँङ् हो जाता है। रूपमाला यथा—

स्वयम्भू (दैवी, आदि शक्ति)

प्रथमा	स्वयम्भूः	स्वयम्भुवौ	स्वयम्भुवः
द्वितीया	स्वयम्भुवम्	,,	,,
तृतीया	स्वयम्भुवा	स्वयम्भूभ्याम्	स्वयम्भूभिः
चतुर्थी	स्वयम्भुवे	,,	स्वयम्भूभ्यः
पञ्चमी	स्वयम्भुवः	,,	,,
षष्ठी	,,	स्वयम्भुवोः	स्वयम्भुवाम्
सप्तमी	स्वयम्भुवि	,,	स्वयम्भूषु
सम्बोधन	हे स्वयम्भूः!	हे स्वयम्भुवौ!	हे स्वयम्भुवः!

नोट—वधू (बहू), जम्बू (जामुनवृक्ष), चमू (सेना), चञ्चू (चोंच), तनू (शरीर), चम्पू (गद्यपद्यमिश्रित काव्य), श्वश्रू (सास), गुग्गुलू (गूगल), कमण्डलू (कमण्डल), वामोरू (सुन्दर पट्टों वाली स्त्री), संहितोरू (सट्टी हुई जांघों वाली), कद्रू (सर्पों की माता), कर्कन्धू (बेर) आदि शब्दों की प्रक्रिया गौरीशब्दवत् होती है। केवल ङ्यन्त न होने से सुँलोप नहीं होता। निदर्शनार्थ 'वधू' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	वधूः	वध्वौ	वध्वः	पं०	वध्वाः	वधूभ्याम्	वधूभ्यः
द्वि०	वधूम्	,,	वधूः	ष०	,,	वध्वोः	वधूनाम्
तृ०	वध्वा	वधूभ्याम्	वधूभिः	स०	वध्वाम्	,,	वधूषु
च०	वध्वै	,,	वधूभ्यः	सं०	हे वधु!	हे वध्वौ!	हे वध्वः!

(यहां ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——: :o: :——

अब ऋदन्त स्त्रीलिङ्गों का वर्णन करते हैं। स्वसृ (बहन) आदि ऋदन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् प्राप्त होता है। इस का अग्रिम-सूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(२३३) **न षट्-स्वस्रादिभ्यः** ।४।१।१०॥

ङीप्टापौ न स्तः ॥

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥

स्वसा । स्वसारौ ॥

अर्थः—षट्सञ्ज्ञकों तथा स्वसृ आदियों से परे ङीप् और टाप् नहीं होते ।

स्वसृ आदियों का कारिका में परिगणन करते हैं—१ स्वसृ (बहन), २ तिसृ (त्रि को स्त्रीलिङ्ग में हुआ आदेश), ३ चतसृ (चतुर् को स्त्रीलिङ्ग में हुआ आदेश), ४ ननान्दृ (पति की बहन, ननन्द), ५ दुहितृ (लड़की), ६ यातृ (पति के भाई की पत्नी), ७ मातृ (माता)—ये सात शब्द स्वस्रादि कहे गये हैं ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । षट्स्वस्रादिभ्यः ।५।३। ङीप् ।१।१। (ऋन्नेभ्यो ङीप् से) । टाप् ।१।१। (अजाद्यतष्टाप् से) । समासः—षट् च स्वस्रादयश्च=षट्-स्वस्रादयः, तेभ्यः=षट्स्वस्रादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(षट्स्वस्रादिभ्यः) षट्सञ्ज्ञकों तथा स्वसृ आदि शब्दों से परे (ङीप्) ङीप् और (टाप्) टाप् (न) नहीं होते । स्वस्रादिगण मूल में श्लोकबद्ध दे दिया गया है । षट्सञ्ज्ञा आगे (२९७) सूत्र द्वारा षष्, पञ्चन्, सप्तन् आदि शब्दों की कही गई है ।

'स्वसृ'शब्द की प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गोक्त 'धातृ'शब्द के समान होती है । केवल शस् में सकार को णकार नहीं होता—स्वसॄः' । रूपमाला यथा—

प्र०	स्वसा*	स्वसारौ†	स्वसारः†	पं०	स्वसुः‡	स्वसृभ्याम्	स्वसृभ्यः
द्वि०	स्वसारम्†	„ †	स्वसॄः	ष०	„ ‡	स्वस्रोः	स्वसॄणाम्
तृ०	स्वस्रा	स्वसृभ्याम्	स्वसृभिः	स०	स्वसरि✓	„	स्वसृषु
च०	स्वस्रे	„	स्वसृभ्यः	सं०	हे स्वसः !×	हे स्वसारौ !	हे स्वसारः !

* ऋदुशनस्० (२०५) से अनङ्, अप्तृन्तृच्स्वसृ० (२०६) से उपधादीर्घ, हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सकारलोप तथा न लोपः० (१८०) से नकारलोप ।

† ऋतो ङि० (२०४) से गुण तथा अप्तृन्० (२०६) से उपधादीर्घ ।

‡ ऋत उत् (२०८) से उत्, रात्सस्य (२०९) से सकारलोप ।

✓ऋतो ङि० (२०४) से गुण, रपर ।

×ऋतो ङि० (२०४) से गुण, हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सुंलोप ।

[लघु०] माता पितृवत् । शसि—मातॄः ॥

व्याख्या—मातृ (माता) शब्द की प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गोक्त 'पितृ'शब्दवत् होती है । केवल शस् में नत्व न होने से 'मातॄः' यह विशेष है । रूपमाला यथा—

प्र०	माता	मातरौ	मातरः	पं०	मातुः	मातृभ्याम्	मातृभ्यः
द्वि०	मातरम्	„	मातॄः	ष०	„	मात्रोः	मातॄणाम्
तृ०	मात्रा	मातृभ्याम्	मातृभिः	स०	मातरि	„	मातृषु
च०	मात्रे	„	मातृभ्यः	सं०	हे मातः !	हे मातरौ !	हे मातरः !

इसी प्रकार—ननान्द, दुहितृ और यातृ शब्दों के उच्चारण होते है।

(यहां ऋदन्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—-—: :०: : — —

[लघु०] द्योर्गोवत् ॥

व्याख्या—'द्यो' शब्द का अर्थ आकाश वा स्वर्ग है। **द्यौः स्त्री स्वर्गान्तरिक्षयोः** इत्यौणादिकपदार्णवे पेरुसूरिः। **द्युतँ दीप्तौ** (भ्वा० आ०) धातु से बहुल के कारण औणादिक 'डो' प्रत्यय करने से 'द्यो' शब्द निष्पन्न होता है। इस की प्रक्रिया अजन्त-पुलँलिङ्गस्थ 'गो' शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	द्यौः†	द्यावौ†	द्यावः†	पं०	द्योः*	द्योभ्याम्	द्योभ्यः
द्वि०	द्याम्‡	,,	द्याः‡	ष०	,, *	द्यवोः	द्यवाम्
तृ०	द्यवा	द्योभ्याम्	द्योभिः	स०	द्यवि	,,	द्योषु
च०	द्यवे	,,	द्योभ्यः	सं०	हे द्यौः!	हे द्यावौ!	हे द्यावः!

† **गोतो णित्** (२१३) से णित्त्व हो कर **अचो ञ्णिति** (१८२) से वृद्धि।

‡ **औतोऽम्शसोः** (२१४) से आकार एकादेश।

* **ङसिँ-ङसोश्च** (१७३) से पूर्वरूप एकादेश।

इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग गो (गाय) शब्द का उच्चारण होता है।

(यहां ओकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——: :०: :——

[लघु०] राः पुंवत् ॥

व्याख्या—'रै' शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता है। स्त्रीलिङ्ग में भी प्रक्रिया पुंलिङ्ग के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	राः	रायौ	रायः	पं०	रायः	राभ्याम्	राभ्यः
द्वि०	रायम्	,,	,,	ष०	,,	रायोः	रायाम्
तृ०	राया	राभ्याम्	राभिः	स०	रायि	,,	रासु
च०	राये	,,	राभ्यः	सं०	हे राः!	हे रायौ!	हे रायः!

हलादि विभक्तियों में **रायो हलि** (२१५) से ऐकार को आकार आदेश तथा अजादि विभक्तियों में **एचोऽयवायावः** (२२) से आय् आदेश हो जाता है।

(यहां ऐकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

— —: :० : :— —

[लघु०] नौर्ग्लौवत् ॥

व्याख्या—**णुद प्रेरणे** (तुदा० प०) धातु से **ग्ला-नुदिभ्यां डौः** (उणा० २२२) सूत्र द्वारा डौ प्रत्यय हो कर टि का लोप करने से 'नौ' (नौका) शब्द निष्पन्न होता है। इस की समग्र प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'ग्लौ' शब्द के समान होती है।

रूपमाला यथा—

प्र०	नौ	नावौ	नाव	प०	नाव	नौभ्याम्	नौभ्य
द्वि०	नावम्	,,	,,	ष०	,,	नावो	नावाम्
तृ०	नावा	नौभ्याम्	नौभि	स०	नावि	,,	नौषु
च०	नावे	,,	नौभ्य	स०	हे नौ !	हे नावौ !	हे नाव !

अजादिविभक्तियो मे एचोऽयवायाव (२२) से आव् आदेश हो जाता है।

(यहा औकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

[लघु०] इत्यजन्ता स्त्रीलिङ्गा [शब्दा] ॥

अर्थ —यहा 'अजन्तस्त्रीलिङ्ग' शब्द समाप्त होते हैं।

अभ्यास (३५)

(१) क्या कारण है कि इयँङ्स्थानी होने पर भी 'स्त्री' शब्द मे नदीसञ्ज्ञा का निषेध नही होता ?

(२) 'रमायै' मे आटश्च सूत्र क्यो प्रवृत्त नही होता ?

(३) क्या कारण है कि अजन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण मे ह्रस्व अकारान्त शब्दो का वर्णन नही किया गया ?

(४) 'औङ्' किसे कहते हैं, उस का किस सूत्र मे उल्लेख आया है ?

(५) मत्याम्, धेन्वाम् आदि म ङि को आम् करने के लिये ङेराम्० के विद्यमान रहते इदुद्भ्याम् क्यो बनाना पडा ? स्पष्ट करें।

(६) लिङ्गविशिष्टपरिभाषा का सोदाहरण विवेचन करें।

(७) गुणदीर्घोत्त्वानामपवाद का तात्पर्य उदाहरणप्रदर्शनपूर्वक व्यक्त करें।

(८) निम्नस्थ रूपो की ससूत्र सिद्धि करते हुए वैकल्पिक रूप भी लिखें—
१ तिस्र। २ मातृ। ३ द्यौ। ४ अक्क !। ५ रमयो। ६ स्त्रियम्। ७ श्रीणाम्। ८ मतौ। ९ द्वे। १० स्त्रि !। ११ मत्यै। १२ उत्तरपूर्वायाम्। १३ श्री !। १४ रमायाम्। १५ स्त्रियौ। १६ द्यो। १७ रमे। १८ स्वसारौ। १९ भ्रुवाम्। २० क्रोष्ट्री।

(९) 'हे श्री' मे इयँङ् आदेश न होने पर भी कैसे नेयँङुवँङ्० प्रवृत्त होता है ?

(१०) स्त्रीलिङ्गी उन ईदन्तशब्दो का निर्देश करें जिन म सुँलोप नही होता।

(११) स्त्री, भ्रू, धेनु लक्ष्मी, स्वसृ, श्री—शब्दो की रूपमाला लिखें।

(१२) सूत्रो की व्याख्या करें—
अचि र ऋत, नेयँङुवँङ्०, ङिति ह्रस्वश्च, वामि, इदुद्भ्याम्।

— ० —

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्त-
कौमुद्यामजन्त-स्त्रीलिङ्ग-
प्रकरणं समाप्तम् ॥

अथाऽजन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणम्

अब क्रमप्राप्त अजन्तनपुंसक शब्दों का विवेचन करते हैं। सर्वप्रथम अदन्त शब्दों का वर्णन प्रारम्भ होता है—

ज्ञा अवबोधने (क्र्या० प०) धातु से ल्युट् प्रत्यय कर यु को अन आदेश करने से 'ज्ञान' (जानना) शब्द निष्पन्न होता है। कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर इस से स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन 'ज्ञान+स्' (सुँ) में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२३४) अतोऽम् ।७।१।२४॥

अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम्। अमि पूर्वः (१३५)—ज्ञानम्। एङ्-ह्रस्वाद्० (१३४) इति हल्लोपः—हे ज्ञान!॥

अर्थः—अदन्त नपुंसक अङ्ग से परे सुँ और अम् को अम् आदेश हो[1]।

व्याख्या—अतः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य इस अधिकृत का वचनविपरिणाम द्वारा)। नपुंसकात् ।५।१। स्वमोः ।६।२। (**स्वमोर्नपुंसकात्** से)। अम् ।१।१। समासः—सुश्च अम् च=स्वमौ, तयोः=स्वमोः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि हो कर 'अदन्ताद् अङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(अतः =अदन्तात्) अदन्त (नपुंसकात्) नपुंसक (अङ्गात्) अङ्ग से परे (स्वमोः) सुँ और अम् के स्थान पर (अम्) अम् आदेश हो। अनेकाल् होने से अम् आदेश **अनेकाल्शित् सर्वस्य** (४५) द्वारा सर्वादेश होगा।

स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) सूत्र से नपुंसक में सुँ और अम् का लुक् प्राप्त था; ह्रस्व अकारान्त शब्दों में यह सूत्र उस का बाध करता है। अम् को अम् इसीलिये विधान किया गया है। **द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति।**

---

१. कई लोग **अतोम्** सूत्र का 'अतः ।६।१। म् ।१।१।' इस प्रकार पदच्छेद करते हुए —अदन्त नपुंसक अङ्ग से परे सुँ और अम् को 'म्' आदेश हो—ऐसा अर्थ करते हैं। इस प्रकार सुँ में सकार को 'म्' आदेश हो कर—'ज्ञानम्' प्रयोग ठीक सिद्ध हो जाता है। अम् के विषय में **आदेः परस्य** (७२) परिभाषा द्वारा अम् के आदि अकार को मकार हो कर 'संयोगान्तलोप करने से 'ज्ञानम्' भी सिद्ध हो जाता है। किञ्च सम्बुद्धि में प्रक्रिया अतीव सरल हो जाती है अर्थात् ज्योंही सम्बुद्धि के सकार को मकार करते हैं त्योंही **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** (१३४) से उस का लोप हो जाता है, **अन्तादिवच्च** (४१) से पूर्वान्तवद्भाव की कल्पना का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। परन्तु शेखरकार आदियों ने इस मत की खूब आलोचना की है। उन का कथन है कि 'म्' आदेश मानने पर 'ज्ञानम्' आदियों में **सुँपि च** (१४१) से दीर्घ प्राप्त होगा जो अनिष्ट है। किञ्च **एङ्ह्रस्वात्०** (१३४) के भाष्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार 'अम्' आदेश ही मानते हैं 'म्' आदेश नहीं।

'ज्ञान+स्' यहां प्रकृतसूत्र से सुँ को अम् आदेश हो कर अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने पर—ज्ञान् अ म्='ज्ञानम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि 'सुँ' विभक्तिसञ्ज्ञक है अतः इस के स्थान पर आदेश होने वाला अम् भी विभक्तिसञ्ज्ञक होगा। अत एव हलन्त्यम् (१) द्वारा प्राप्त अम् के मकार की इत्सञ्ज्ञा का न विभक्तौ तुस्माः (१३१) से निषेध हो जायेगा।

सम्बुद्धि में 'हे ज्ञान+स्' इस स्थिति में परत्व के कारण सम्बुद्धिलोप का बाध कर प्रकृतसूत्र से सुँ को अम् आदेश हो कर अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'ज्ञानम्' हुआ। पुनः एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (१३४) से सम्बुद्धि के हल्—मकार का लोप करने पर 'हे ज्ञान' प्रयोग सिद्ध होता है[1]।

प्रथमा के द्विवचन में 'ज्ञान+औ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२३५) **नपुंसकाच्च** ।७।१।१९॥

क्लीबाद् औङः शी स्यात्। भसञ्ज्ञायाम्—

अर्थः—नपुंसक अङ्ग से परे 'औ' को 'शी' आदेश हो जाता है। भसञ्ज्ञा करने पर (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।)

व्याख्या—नपुंसकात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है)। औङः ।६।१। (औङ आपः से)। शी ।१।१। (जसः शी से)। अर्थः—(नपुंसकात्) नपुंसक (अङ्गात्) अङ्ग से परे (औङः) औङ् के स्थान पर (शी) शी आदेश हो। प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन की औङ् सञ्ज्ञा है—यह पीछे औङ आपः (२१६) सूत्र पर लिख चुके हैं।

'ज्ञान+औ' यहां शी आदेश हो अनुबन्धलोप करने से 'ज्ञान+ई' हुआ। अत्र 'ई' यह 'औ' के स्थान पर आदेश होने के कारण स्थानिवत्त्वेन स्वादि है। सुँडनपुंसकस्य (१६३) में नपुंसक का वर्जन होने से सर्वनामस्थान भी नहीं। किञ्च यह अजादि भी है अतः इस के परे होने पर यचि भम् (१६५) से ज्ञानशब्द की भसञ्ज्ञा हो अग्रिमसूत्र द्वारा नकारोत्तर अकार का लोप प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२३६) **यस्येति च** ।६।४।१४८॥

ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः। इत्यल्लोपे प्राप्ते—

अर्थः—ईकार या तद्धित परे होने पर भसञ्ज्ञक इवर्ण अवर्ण का लोप हो।

व्याख्या—यस्य ।६।१। भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। ईति ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। तद्धिते ।७।१। (नस्तद्धिते से)। लोपः ।१।१। (अल्लोपोऽनः से)। समासः—इश्च अश्च=यम्, तस्य=यस्य, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(ईति) ईकार (च) अथवा (तद्धिते) तद्धित परे होने पर (भस्य) भसञ्ज्ञक (यस्य) इवर्ण अवर्ण का

---

१ हे ज्ञान+स्=हे ज्ञान+अम्=हे ज्ञान+म्। यहां पूर्वरूप अकार को अन्तादिवच्च (४१) से पूर्व का अन्त मान लेने से 'ज्ञान' यह ह्रस्वान्त अङ्ग हो जाता है। तब इस से परे सम्बुद्धि के हल् मकार का लोप हो जाता है।

(लोपः) लोप हो जाता है।

इस सूत्र के उदाहरण आगे यथास्थान बहुत आएंगे।

'ज्ञान+ई' यहां ईकार परे है अतः भसञ्ज्ञक अकार का लोप प्राप्त होता है, पर यह अनिष्ट है। अतः इस के निषेध के लिये अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(२२) औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः ॥

ज्ञाने ॥

अर्थः—औङ् के स्थान पर आदेश हुए 'शी' के परे होने पर **यस्येति च** (२३६) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **यस्येति च** सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। अतः इस से उसी का निषेध होता है। औङः ।६।१। श्याम् ।७।१। प्रतिषेधः ।१।१। अर्थः—(औङः) औङ् के स्थान पर हुए (श्याम्) शी के परे होने पर (प्रतिषेधः) **यस्येति च** सूत्र की प्रवृत्ति का निषेध हो जाता है।

'ज्ञान+ई' यहां इस वार्त्तिक से **यस्येति च** (२३६) से प्राप्त अकारलोप का निषेध हो **आद् गुणः** (२७) से एकार गुण कर 'ज्ञाने' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमा के बहुवचन में 'ज्ञान+जस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२३७) जश्शसोः शिः ।७।१।२०॥

क्लीबाद् अनयोः शिः स्यात् ॥

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग से परे जस् और शस् को 'शि' आदेश हो।

व्याख्या—नपुंसकात् ।५।१। (**स्वमोर्नपुंसकात्** से)। जश्शसोः ।६।२। शिः ।१।१। समासः—जश्च शश्च=जश्शसौ, तयोः=जश्शसोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(नपुंसकात्) नपुंसक से परे (जश्शसोः) जस् और शस् के स्थान पर (शिः) शि आदेश हो।

जस् और शस् प्रत्यय हैं अतः स्थानिवद्भाव से 'शि' भी प्रत्यय है। प्रत्यय होने से इस के शकार की **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्सञ्ज्ञा हो कर 'इ' ही शेष रहता है—ज्ञान+शि=ज्ञान+इ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(२३८) शि सर्वनामस्थानम् ।१।१।४१॥

'शि' इत्येतद् उक्तसञ्ज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—'शि' यह सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—शि ।१।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। अर्थः—(शि) शि (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक हो।

नपुंसकलिङ्ग में जस् की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा नहीं होती—यह पीछे **सुडनपुंसकस्य** (१६३) सूत्र में बताया जा चुका है। और शस् की तो सुट् न होने से किसी भी लिङ्ग में सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा नहीं होती। तो यहां नपुंसक में जस् और शस् के स्थान पर होने वाला 'शि' आदेश स्थानिवद्भाव से किसी भी प्रकार सर्वनामस्थान-

सञ्ज्ञक नहीं हो सकता था, परन्तु इस की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा करनी इष्ट है। अत. इस सूत्र से उस का विधान किया गया है।

'ज्ञान+इ' यहां शि की सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा हो अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२३९) नपुंसकस्य झलचः ।७।१।७२॥

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुंम् स्यात् सर्वनामस्थाने ॥

अर्थः—सर्वनामस्थान परे हो तो झलन्त और अजन्त नपुसक को नुंम् आगम हो।

व्याख्या—नपुसकस्य ।६।१। झलच ।६।१। नुंम् ।१।१। (इदितो नुंम् धातो से)। सर्वनामस्थाने ।७।१। (उगिदचां सर्वनामस्थाने० से)। समास —झल् च अच् च= झलच्, समासान्तविधेरनित्यत्वाद् द्वन्द्वाच्चुद० (९८९) इति न टच्। तस्य=झलचः, समाहारद्वन्द्व। 'नपुसकस्य' का विशेषण होने से 'झलच' से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थ —(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (झलच) झलन्त और अजन्त (नपुसकस्य) नपुसकलिङ्ग का अवयव (नुंम्) नुंम् हो जाता है[1]।

'ज्ञान+इ' यहां 'ज्ञान' यह अजन्तनपुसक है, इस से परे 'इ' (शि) यह सर्वनामस्थान विद्यमान है। अत प्रकृत नपुंसकस्य झलचः से 'ज्ञान' को नुंम् का आगम प्राप्त होता है। परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि नुंम् का आगम नपुसक का कौन सा अवयव हो? क्या आद्य अवयव हो या अन्त अवयव? अथवा और ही कुछ? इस का अग्रिम परिभाषा से निर्णय करते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—(२४०) मिदचोऽन्त्यात् परः ।१।१।४६॥

अचां मध्ये योऽन्त्य, तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्। उपधादीर्घ —ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुवत् ॥

अर्थ —समुदाय के अचों मे जो अन्त्य अच्, उस मे परे मित् का आगम होता है। किञ्च वह उस समुदाय का अन्तावयव माना जाता है।

व्याख्या—मित् ।१।१। अच ।६।१। अन्त्यात् ।५।१। पर ।१।१। अन्त ।१।१। (आद्यन्तौ टकितौ से)। समास —म् इत् यस्य स मित्, बहुव्रीहिसमास। अच इति निर्धारणे षष्ठी, सौत्रमेकवचन जात्यभिप्रायेण। यस्य समुदायस्य मिद् विहित तस्य समुदायस्य अचाम्मध्य इत्यर्थ.। अर्थ —(मित्) मित् आगम (अच) जिस समुदाय को विधान किया गया हो उस समुदाय के अचों के मध्य मे (अन्त्यात्) जो अन्त्य अच्,

---

१ यहां झलन्तलक्षण नुंम् मे यह बात विशेष ध्यातव्य है कि यदि झल् किसी अच् से परे होगा तो तभी नुंम् का आगम होगा, अन्यथा नहीं। अच परस्यैव झलो नुम्विधानम्—इति भाष्ये। अत एव 'मांस्+जस्=मास्+इ=मासि, (पूजायाम्) गवाञ्च+जस्=गवाञ्च्+इ=गवाञ्चि' इत्यादियों मे झलन्तलक्षण नुंम् की प्रवृत्ति नहीं होती।

उस से (परः) परे वह स्थित होता है। किञ्च वह उसी समुदाय का (अन्तः) अन्त अवयव समझा जाता है[1]।

भाव—जिस समुदाय को मित् (म् इत् वाला—नुँम् आदि) कहा जाये उस समुदाय में जितने अच् हों, उन में से अन्तिम अच् से परे मित् रखा जाना चाहिये, तथा उस मित् को उस समुदाय का अन्तिम अवयव समझना चाहिये।

'ज्ञान+इ' यहां 'ज्ञान' इस समुदाय को मित्-नुँम् विधान किया गया है। 'ज्ञान' में दो अच् हैं; एक ञकारोत्तर आकार और दूसरा नकारोत्तर अकार। तो अन्त्य अच् नकारोत्तर अकार से परे 'नुँम्' रखा जायेगा और यह ज्ञानशब्द का अन्तावयव समझा जायेगा।

'ज्ञाननुँम्+इ' यहां नुँम् के उँम् का लोप हो कर 'ज्ञानन्+इ' हुआ। नुँम् करने से पूर्व 'ज्ञान' अङ्ग था; परन्तु अब नुँम् के अन्तावयव हो जाने से 'ज्ञानन्' यह नान्त अङ्ग हो गया है। नान्त हो जाने पर **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** (१७७) से उस *की उपधा को दीर्घ हो कर—ज्ञानान्+इ='ज्ञानानि' प्रयोग सिद्ध होता है।*

द्वितीया के एकवचन 'ज्ञान+अम्' में **अतोऽम्** (२३४) से अम् को अम् आदेश हो जाता है। इस का लाभ **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) से अम् का लुक् न होना है। पुनः **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप हो कर 'ज्ञानम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में 'ज्ञान+औ' (औट्) इस स्थिति में पूर्ववत् **नपुंसकाच्च** (२३५) से औ को शी आदेश हो कर अनुबन्धलोप और गुण करने से 'ज्ञाने' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववत् भसञ्ज्ञा, भसञ्ज्ञक अकार के लोप की प्राप्ति तथा उस का वारण कर लेना चाहिये।

द्वितीया के बहुवचन 'ज्ञान+शस्' में पूर्ववत् **जश्शसोः शिः** (२३७) से शि

---

१. यदि मित् समुदायभक्त=समुदाय का अवयव न माना जाये तो 'वहंलिहः' (कन्धे को चाटने वाला बैल) आदि प्रयोगों में पदमूलक अनुस्वार न हो सकेगा। तथाहि—वहं (स्कन्धं) लेढीति वहंलिहः। 'वह' कर्म उपपद रहते 'लिह्' धातु से **वहाभ्रे लिहः** (३.२.३२) से खश् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'वहलिह' होता है। अब **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) से 'वह' को मुँम् का आगम हो कर 'वहम्+लिह' बनता है। 'वह' पदसञ्ज्ञक था; अब यदि मुँम् को उस का अवयव नहीं मानते तो 'वहम्' यह मान्त पद नहीं हो सकता—जो अनिष्ट है। अब मित् के अन्तावयव स्वीकृत होने से मान्त पद हो जाता है और इस प्रकार **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार सिद्ध हो जाता है। इसी तरह 'वारीणि' आदि में नुँम् को अङ्ग का अवयव मानने से नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो जाता है। ध्यान रहे कि सूत्र का यह अंश जहां उपयोगी होगा वहीं प्रवृत्त होगा; 'मुञ्चति' आदि में प्रयोजनाभाव के कारण इस का उपयोग न होगा। [देखें शेखर और चिदस्थि-माला]

आदेश, अनुबन्धलोप, उस की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, नपुसकस्य झलच (२३६) से नुँम् का आगम तथा नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ कर 'ज्ञानानि' सिद्ध होता है।

नोट—नपुसकलिङ्ग मे प्राय प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूप तथा उन की प्रक्रिया एक समान हुआ करती है। अत आगे प्रथमा विभक्ति की ही सिद्धि करेंगे, उस से द्वितीया की भी सिद्धि समझ लेनी चाहिये।

नपुसक मे प्राय तृतीयादि विभक्तियो के रूप पुलिङ्ग के समान होते हैं, अत वहा उन की भी सिद्धि नही करेंगे। हा जहा कुछ विशेष होगा वहा पूरी २ प्रक्रिया लिखेंगे। ज्ञान शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि	प०	ज्ञानात्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्य.
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	ज्ञानस्य	ज्ञानयो	ज्ञानानाम्
तृ०	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानै	स०	ज्ञाने	,,	ज्ञानेषु
च०	ज्ञानाय	,,	ज्ञानेभ्य	स०	हे ज्ञान !	हे ज्ञाने !	हे ज्ञानानि !

[लघु०] एव धन-वन-फलादय ॥

अर्थः—इसी तरह धन, वन, फल आदि अदन्त नपुसको के रूप होते हैं।

व्याख्या—बालको की ज्ञानवृद्धि के लिये ज्ञानवत् अदन्तनपुसक शब्दो का कुछ उपयोगी सङ्ग्रह यहा दे रहे हैं। '*' यह चिह्न णत्वप्रक्रिया का परिचायक है।

शब्द—अर्थ

अक्षर* = अकारादि वर्ण
अगार* = गृह
अग्निहोत्र* = होम
अघ = पाप
अङ्ग = अवयव
अञ्जन = सुरमा
अनृत = झूठ
अन्तरिक्ष* = आकाश
अन्त पुर* = रनवास
अभ्र* = बादल
अभ्रक* = अभ्रक
अमृत = जल, अमृत
अम्भोज = पद्म
अम्ल = छाछ, खट्टा
अरण्य = जगल
अरविन्द = पद्म
अवसान = विराम
अस्त्र* = बाण आदि

शब्द—अर्थ

अहिफेन = अफीम
अशुक = महीन वस्त्र
आधिक्य = ज्यादती
आनन = मुख
आर्जव = सरलता
आर्द्रक* = अदरक
आसन = आसन
आस्य = मुख
इङ्गित = इशारा
इन्दीवर* = नीला कमल
इन्द्रजाल = माया वा छल
इन्द्रिय* = नेत्र आदि
इन्धन = लकडी
उदक = जल
उदर* = पेट
उद्यान = बगीचा
उपवन = ,,
ऋत = दैवी सत्य

शब्द—अर्थ

ऐक्य = एकता
ओदन = भात
औत्सुक्य = उत्कण्ठा
कङ्कण = कगन
कज्जल = काजल
कनक = सुवर्ण, धतूरा
कमल = कमल
काञ्चन = सुवर्ण
कार्य* = काम
कुण्ड = हौदी
कुमुद = श्वेत कमल
कौटिल्य = कुटिलता
क्षीर* = दूध
क्षेत्र* = खेत
ख = आकाश
गवेषण = खोज
गौरव* = गुरुत्व, प्रतिष्ठा
चन्दन = चन्दन

शब्द—अर्थ

चरण=पैर (पुं० भी)
चरित=चालचलन
चाञ्चल्य=चञ्चलता
चातुर्य*=निपुणता
चामीकर*=सुवर्ण
चिबुक=ठोड्डी
चिह्न=निशान
चौर्य*=चोरी
जठर*=पेट
जल=पानी
जाड्य=मूर्खता
जातिफल=जयफल
जाम्बूनद=सोना
टङ्कण=सुहागा
तत्त्व=यथार्थ रूप
तथ्य=सत्य
तन्त्र*=शास्त्र
ताम्बूल=पान
तारुण्य=जवानी
तिमिर*=अन्धकार
तुत्थ=नीला थोथा
तृण=तिनका
तैल=तेल
तोक=सन्तान
तोय=पानी
दाक्षिण्य=चतुरता
दास्य=दासता
दुर्भिक्ष*=अकाल
दुःख=दुःख
देवमन्दिर*=देवालय
दैव=भाग्य
द्वार*=दरवाज़ा
धन=धन
नयन=आंख
नवनीत=माखन

शब्द—अर्थ

नेत्र*=आंख
नैपुण्य=निपुणता
पङ्कज=कमल
पत्त्र*=पत्ता
पाण्डित्य=विद्वत्ता
पानीय=पानी
पार्थक्य=जुदाई
पुष्प*=फूल
पैशुन्य=चुगलखोरी
फल=फल
बाल्य=लड़कपन
बीज=कारण
भक्त=भात, सेवक
भय=डर
भाल=मस्तक
भुवन=लोक
भोजन=खुराक
मन्दिर*=घर
मार्दव=कोमलता
मित्त्र*=मित्र
मुख=मुँह
मूल्य=दाम, कीमत
मौन=चुप्पी
यन्त्र*=कल वा औज़ार
यवस=घास, तृण
युद्ध=लड़ाई
योजन=चार कोस
यौतक=दहेज
यौतुक=दहेज
यौवत=युवति-समूह
यौवन=जवानी
रजत=चान्दी
रत्न=मणि
रहस्य=गोप्य
राज्य=राज

शब्द—अर्थ

रामठ=हीङ्ग
रूप्य*=चान्दी
लक्षण=भेददर्शक
ललाट=माथा
ललाम=प्रधान, सुन्दर
लवङ्ग=लौंग
लवण=नमक
लवित्र*=दरांती
लशुन=लहसुन
लाङ्गल=हल
लाङ्गूल=पूंछ
लाघव=हलकापन
लालन=लाड करना
लालित्य=सौन्दर्य
लेख्य=दस्तावेज़
वक्त्र*=मुख
वङ्ग=रांगा, कली
वचन=कथन
वज्र*=इन्द्र का अस्त्र
वन=जंगल
वसन=वस्त्र
वाक्य=वाक्य
वाङ्मय=शास्त्र
वाद्य=वाजा
वार्त्त=तन्दुरुस्ती
वार्धक्य=बुढ़ापा
वासर*=दिन (पुं० भी)
वाहन=सवारी
वितुन्नक=धनियां
विवर*=छिद्र, बिल
विश्वभेषज=सोंठ
विष*=ज़हर
वीर्य*=बल, पराक्रम
वृत्त=चरित्र

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
वृन्द=समूह	सरसिज=कमल	स्तेय=चोरी
वेतन=तनख्वाह	सरसीरुह*=कमल	स्तोत्र*=स्तुतिगीत
वैचित्र्य*=विचित्रता	साक्ष्य*=गवाही	स्थान=जगह
वैद्यक=हिक्मत	सादृश्य=सदृशता	स्थाविर*=बुढापा
वैधव्य=विधवापन	साधन=उपकरण	स्थैर्य*=स्थिरता
वैर*=दुश्मनी	साध्वस=डर	स्यन्दन=रथ
व्यलीक=अपकार	सान्त्वन=दिलासा	हरिताल—हडताल
व्यसन=विपत्ति	सामर्थ्य=ताकत	हर्म्य*=महल
व्रण—घाव	साहस=जबरदस्ती	हल=हल
शस्त्र*=हथियार	साहाय्य=सहायता	हवन=होम
शास्त्र*=धर्मग्रन्थ	सिक्थ=मोम	हाटक=सुवर्ण
शूल=दर्द, एक अस्त्र	सिन्दूर*=सिन्दूर	हालाहल=विषविशेष
शैथिल्य=शिथिलता	सिंहासन=राजगद्दी	हास्तिक=हस्तिसमूह
शैशव=लडकपन	सुकृत=पुण्य	हास्य=हँसी
श्रवण=कान, सुनना	सुख=सुख	हित—भलाई
सख्य=मित्रता	सुदर्शन=विष्णु का चक्र	हिम=बरफ
सङ्गीत=गायन आदि	सुवर्ण=सोना	हिरण्य=सुवर्ण
सत्य=सच	सोपान=सीढी	हृदय=दिल
सत्र*=यज्ञ	सौकर्य*=आसानी	हैयङ्गवीन=ताजामाखन[1]
सदन=घर	सौभाग्य=अच्छा भाग्य	—०—

कतर (दो मे कौन) शब्द डतरप्रत्ययान्त बताया जा चुका है। विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से यह त्रिलिङ्गी है। यहा नपुसक मे इस की प्रक्रिया यथा—

कतर+सु (सुँ)। यहा अतोऽम् (२३४) से अम् आदेश प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(२४१) अद्ड्[2] डतरादिभ्य. पञ्चभ्यः।७।१।२५॥

एभ्य क्लीबेभ्य स्वमोरद्ड् आदेश स्यात्॥

---

१ इन के अतिरिक्त गमन, नमन, पठन, स्मरण, हरण आदि भाववाचक ल्युडन्त क्रियाशब्द भी अदन्त नपुसक होते हैं। इस प्रकार के पौने तीन सौ शब्दो की एक विस्तृत सार्थ सूची इस व्याख्या के तृतीयभाग मे ल्युट् च (८७१) सूत्र पर दी गई है। विशेष जिज्ञासु उसे वहीं देखें।

२ अद्ड् डतरादिभ्य० यहा ष्टुना ष्टु. (६४) से दकार को डकार हो कर संयोगान्तस्य लोप (२०) से सयोगान्तलोप करने पर 'अड डतरादिभ्य०' हो जाना चाहिये था, परन्तु ऐसा नही किया गया। इस का कारण यह है कि वैसा करने म 'अड्' आदेश है या 'अद्ड्' इस का पता नही चल सकता था। अत स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये मुनि ने सन्धि नही की।

अर्थः—डतर आदि पाञ्च नपुंसक शब्दों से परे सुँ और अम् के स्थान पर अद्ड् आदेश हो।

व्याख्या—डतरादिभ्यः ।५।३। पञ्चभ्यः ।५।३। नपुंसकेभ्यः ।५।३। (स्वमोर्नपुंसकात् से वचनविपरिणाम द्वारा)। स्वमोः ।६।२। अद्ड् ।१।१। समासः—डतर आदिर्येषां ते डतरादयः, तेभ्यः=डतरादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। डतर आदि पाञ्च शब्द सर्वादिगण के अन्तर्गत आते हैं। १. डतर, २. डतम, ३. अन्य ४. अन्यतर, ५. इतर– ये पाञ्च डतरादि कहाते हैं। इन में डतर और डतम प्रत्यय हैं; अतः प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् परिभाषा द्वारा डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होगा। अर्थः—(डतरादिभ्यः) डतरप्रत्ययान्त, डतमप्रत्ययान्त, अन्य, अन्यतर और इतर (पञ्चभ्यः) इन पाञ्च (नपुंसकेभ्यः) नपुंसक शब्दों से परे (स्वमोः) सुँ और अम् को (अद्ड्) अद्ड् आदेश हो। यह सूत्र अतोऽम् (२३४) सूत्र का अपवाद है।

'कतर+स्' यहां सकार को अद्ड् आदेश हो कर—'कतर+अद्ड्'। हलन्त्यम् (१) से अन्त्य हल्=डकार की इत्सञ्ज्ञा होने से लोप हो कर—'कतर+अद्'। अब यहां प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, परन्तु वह अनिष्ट है; टिलोप ही इष्ट है। अतः इस का अग्रिमसूत्र से विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२४२) टेः ।६।४।१४३॥

डिति भस्य टेर्लोपः। कतरत्, कतरद्। कतरे। कतराणि। हे कतरत्। शेषं पुंवत्। एवं कतमत्, इतरत्, अन्यत्, अन्यतरत्। अन्यतमस्य त्वन्यतममित्येव॥

अर्थः—डित् परे होने पर भसञ्ज्ञक टि का लोप हो।

व्याख्या—डिति ।७।१। (ति विंशतेर्डिति से)। भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। टेः ।६।१। लोपः ।१।१। (अल्लोपोऽनः से)। अर्थः—(डिति) डित् परे होने पर (भस्य) भसञ्ज्ञक (टेः) टि का (लोपः) लोप होता है।

'कतर+अद्' यहां स्थानिवद्भाव से 'अद्' स्वादि है। अजादि और असर्वनामस्थान भी; अतः इस के परे होने से यचि भम् (१६५) द्वारा पूर्व की भसञ्ज्ञा हो जाती है। पुनः 'अद्ड्' इस डित् के परे होने पर भसञ्ज्ञक टि=अकार का प्रकृतसूत्र से लोप हो—कतर्+अद्=कतरद्। अब वाऽवसाने (१४६) से दकार को विकल्प कर के चर्=तकार हो कर 'कतरत्, कतरद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

'कतर+औ' यहां नपुंसकाच्च (२३) से 'औ' को 'शी' आदेश, अनुबन्धलोप और गुण करने से 'कतरे' प्रयोग सिद्ध होता है।

'कतर+अस्(जस्)' यहां जश्शसोः शिः (२३७) से जस् को शि आदेश हो कर शि सर्वनामस्थानम् (२३८) से उस की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा हो जाती है। पुनः नपुंसकस्य झलचः (२३९) से नुँम् का आगम हो सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ (१७७) से उपधादीर्घ कर नकार को णकार करने से—'कतराणि' प्रयोग बनता है।

'हे कतर+स्' (सुँ) यहां भी पूर्ववत् सकार को अद्ड् आदेश हो कर भसञ्ज्ञक टि का लोप कर चर्त्व करने से—'हे कतरत्, हे कतरद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि यहां एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (१३४) से तकार का लोप नहीं होता, क्योंकि 'कतर' यह ह्रस्वान्त होते हुए भी अङ्ग नहीं है, अङ्ग तो 'कतर्' है। अन्त का अकार प्रत्यय का अवयव है प्रकृति का नहीं।

प्रश्न—'अद्ड्' की बजाय 'अद्' आदेश ही क्यों नहीं कर देते ?

उत्तर—यदि 'अद्' आदेश का विधान करते तो 'अम्' में तो कुछ अन्तर न होता क्योंकि अम् के स्थान पर हुए अद्' को स्थानिवत् मानने से अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप हो कर 'कतरत्' सिद्ध हो जाता। परन्तु 'सुँ' में 'अद्' आदेश होने पर अतो गुणे (२७४) का बाध कर पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'हे कतरात्', हे कतराद्' ये अनिष्ट रूप बन जाते। अतः इसे डित् करना ही युक्त है।

प्रश्न—यदि पूर्वसवर्णदीर्घ का निवारण ही अभीष्ट है तो केवल 'द्' या 'त्' आदेश ही विधान क्यों नहीं कर देते ?

उत्तर—यदि दकार वा तकार आदेश ही विधान करते तो प्रथमा और द्वितीया में तो कोई दोष न आता किन्तु सम्बुद्धि में एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (१३४) से लोप हो कर 'हे कतर' यह अनिष्ट रूप बन जाता। अतः 'अद्ड्' आदेश करना ही युक्त है।

डित्त्वाभावेऽमि सिद्धेऽपि सावनिष्टं प्रसज्यते।
दकारे वा तकारे वा सम्बुद्धौ तत्स्थितिः कुतः॥

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमाविभक्तिवत् प्रक्रिया होती है। तृतीयादि विभक्तियों में पुंलिङ्गवत् प्रक्रिया जाननी चाहिये। रूपमाला यथा—

प्र०	कतरत्-द्	कतरे	कतराणि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः
च०	कतरस्मै ✓	,,	कतरेभ्यः
पं०	कतरस्मात्*	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
ष०	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्‡
स०	कतरस्मिन्*	,,	कतरेषु
सं०	हे कतरत्-द्!	हे कतरे!	हे कतराणि!

✓ सर्वनाम्नः स्मै (१५३)। * ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४)। ‡ आमि सर्वनाम्नः सुँट् (१५५), बहुवचने झल्येत् (१४५)।

इसी प्रकार—१. यतर (दो में जो) २. यतम (बहुतों में जो) ३. ततर (दो में वह), ४. कतम (बहुतों में कौन), ५. ततम (बहुतों में वह), ६. एकतम (बहुतों में एक), ७. अन्य (दूसरा), ८. अन्यतर (दो में एक), ९. इतर (भिन्न) शब्दों के उच्चारण होते हैं। ध्यान रहे कि ये सब शब्द त्रिलिङ्गी हैं, विशेष्यलिङ्ग के आश्रित रहते हैं। विशेष्य नपुंसक होगा तो ये नपुंसक में प्रयुक्त होंगे।

नोट—अन्यतर और अन्यतम ये दोनों शब्द अव्युत्पन्न हैं, डतरान्त या डतमान्त नहीं। इन में प्रथम तो सर्वादिगण में पढ़ा गया है और डतरादि पाञ्चों में भी आता है अतः इस का उच्चारण कतरवत् होता है। परन्तु अन्यतम शब्द सर्वादिगण में नहीं आता अतः इस का उच्चारण ज्ञानवत् होता है। अद्ड् आदेश नहीं होता। इसी तरह स्मै, स्मात्, सुँट् और स्मिन् भी नहीं होते।

एकतर (दो में एक) शब्द डतरप्रत्ययान्त है; अतः इस की प्रक्रिया 'कतर' शब्दवत् प्राप्त होती है; परन्तु यह अनिष्ट है। इस के प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में ज्ञानवत् रूप ही इष्ट हैं, अतः अग्रिमवार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(२३) एकतरात् प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

एकतरम् ॥

अर्थः—नपुंसक एकतरशब्द से परे सुँ और अम् को अद्ड् आदेश न हो।

व्याख्या—एकतरात् ।५।१। प्रतिषेधः ।१।१। यह वार्त्तिक भाष्य में अद्ड् आदेश के प्रकरण में पढ़ा है अतः यह उसी का निषेध करता है। अर्थः—(एकतरात्) एकतर शब्द से परे (प्रतिषेधः) सुँ और अम् को अद्ड् आदेश न हो।

अद्ड् आदेश न होने से प्रथमा और द्वितीया में 'ज्ञान'शब्दवत् प्रक्रिया होगी। परन्तु ङे, ङसिँ, ङि और आम् में सर्वनामकार्य निर्बाध होंगे। रूपमाला यथा—

प्र०	एकतरम्	एकतरे	एकतराणि	प०	एकतरस्मात्	एकतराभ्याम्	एकतरेभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	एकतरस्य	एकतरयोः	एकतरेषाम्
तृ०	एकतरेण	एकतराभ्याम्	एकतरैः	स०	एकतरस्मिन्	,,	एकतरेषु
च०	एकतरस्मै	,,	एकतरेभ्यः	सं०	हे एकतर!	हे एकतरे!	हे एकतराणि!

अभ्यास (३६)

(१) नपुंसकलिङ्ग में अम् को पुनः अम् विधान करने का क्या प्रयोजन है?

(२) मिदचोऽन्त्यात्परः सूत्र न होता तो क्या दोष उत्पन्न होता?

(३) 'अद्ड्' आदेश को डित् करने का क्या प्रयोजन है?

(४) क्या 'एकतर' शब्द डतरप्रत्ययान्त है? यदि है तो किस सूत्र से अद्ड् आदेश विधान (?) किया जाता है?

(५) क्या 'अन्यतम' शब्द का उच्चारण 'कतम' शब्द की तरह होता है? यदि नहीं तो क्यों? क्या वह डतमप्रत्ययान्त नहीं?

(६) 'ज्ञाने' आदि में औङ्स्थानिक 'शी' को दीर्घ क्यों किया गया है?

(७) 'शि' की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा क्यों विधान की गई है? क्या जस्स्थानिक होने से उस की वह सञ्ज्ञा स्वतः प्राप्त नहीं हो सकती थी?

(८) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—

१. इतरत्। २. अन्यतमम्। ३. ज्ञानानि। ४. ज्ञाने। ५. एकतरम्। ६. अन्यतमात्। ७. ज्ञान। ८. एकतरस्मै।

(९) अतोऽम् सूत्र में अम् का छेद करें या म् का? सहेतुक स्पष्ट करें।

(यहां ह्रस्व अकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——:ःoः:——

श्रियम्पातीति=श्रीपम् (कुलम्)। जो कुल आदि, लक्ष्मी की रक्षा करे उसे 'श्रीपा' कहते हैं। यह शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। पुंल्लिङ्ग-

और स्त्रीलिङ्ग म इस का उच्चारण 'विश्वपा'शब्दवत् होता है। नपुसक के उच्चारण मे कुछ विशेष है—यह अग्रिमसूत्र द्वारा दर्शाया जाता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—**(२४३) ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** ।१।२।४७॥

अजन्तस्येत्येव । श्रीपम् । ज्ञानवत् ॥

अर्थ—नपुसकलिङ्ग म अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है।

व्याख्या—ह्रस्व ।१।१। नपुसके ।७।१। प्रातिपदिकस्य ।६।१। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सदा अच् के स्थान पर ही हुआ करते हैं। जहा इन का विधान होता है वहा 'अच' (अच् के स्थान पर) यह षष्ठयन्त पद उपस्थित हो जाता है [यह अचश्च (१ २ २८) परिभाषा का तात्पर्य है]। यहा भी 'अच' पद उपस्थित हो कर 'प्रातिपदिकस्य' का विशेषण बन **येन विधिस्तदन्तस्य** द्वारा तदन्तविधि के कारण—'अजन्तस्य प्रातिपदिकस्य' बन जाता है। अर्थ—(नपुसके) नपुसकलिङ्ग मे (अच) अजन्त (प्रातिपदिकस्य) प्रातिपदिक के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अच् के स्थान पर ही ह्रस्व होता है।

'श्रीपा' यहा अन्त्य आकार को ह्रस्व हो कर 'श्रीप'। अब इस मे स्वादिप्रत्यय उत्पन्न हो कर सम्पूर्ण प्रक्रिया 'ज्ञान'शब्दवत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	श्रीपम्	श्रीपे	श्रीपाणि	प०	श्रीपात्	श्रीपाभ्याम्	श्रीपेभ्य
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	श्रीपस्य	श्रीपयो	श्रीपाणाम्
तृ०	श्रीपेण	श्रीपाभ्याम्	श्रीपैः	स०	श्रीपे	,,	श्रीपेषु
च०	श्रीपाय	,,	श्रीपेभ्य	स०	हे श्रीप !	हे श्रीपे !	हे श्रीपाणि !

नोट—'श्रीपाणि' आदि प्रयोगो मे **एकाजुत्तरपदे ण** (२८६) स ही णत्व होता है। भिन्न पद होने के कारण अट्कुप्वाङ्० (१३८) से णत्व नही हो सकता।

इसी प्रकार विशेष्य के नपुसक होने पर—विश्वपा, गोपा, कीलालपा, सोमपा आदि धात्वन्त आकारान्त शब्दो के उच्चारण होते हैं।

(यहा आकारान्त नपुसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

— o —

[लघु०] द्वे २॥

व्याख्या—'द्वि' (दो) शब्द त्रिलिङ्गी है। विशेष्य के नपुसक होने पर यह भी नपुसक हो जाता है।

'द्वि+औ' यहा त्यदादीनाम (१९३) से इकार को अकार, नपुसकाच्च (२३५) से 'औ' को 'शी' आदेश, अनुबन्धलोप तथा आद् गुण (२७) से गुण एकादेश करने स 'द्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

'द्वि+भ्याम्'। त्यदाद्यत्व और सुपि च (१४१) से दीर्घ हो 'द्वाभ्याम्'।

'द्वि+ओस्'। त्यदाद्यत्व, **ओसि च** (१४७) से अकार को एकार तथा एचोऽयवायाव (२२) मे अय् आदेश करने पर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग हो कर 'द्वयो' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	०	द्वे	०	प०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,,	०	ष०	०	द्वयोः	०
तृ०	०	द्वाभ्याम्	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	सम्बोधन नहीं होता।			

नोट—ध्यान रहे कि स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में 'द्वि' शब्द के एक समान रूप होते हैं परन्तु इन दोनों की प्रक्रिया में बड़ा अन्तर है।

[लघु०] त्रीणि २ ॥

व्याख्या—त्रि (तीन) शब्द भी विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी होता है। यह सदा बहुवचनान्त होता है। नपुंसकलिङ्ग में इस की प्रक्रिया यथा—

'त्रि+अस्' (जस् व शस्) इस स्थिति में शि आदेश, सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, नुँम् आगम और **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** (१७७)से उपधादीर्घ हो कर **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार आदेश करने से 'त्रीणि' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्रि+भिस्=त्रिभिः। त्रि+भ्यस्=त्रिभ्यः। त्रि+सु(सुप्)=त्रिषु।

षष्ठी के बहुवचन में 'त्रि+आम्' इस दशा में **त्रेस्त्रयः** (१६२) से त्रय आदेश, ह्रस्वमूलक नुँट् आगम तथा **नामि** (१४६)से दीर्घ हो कर नकार को णकार करने से 'त्रयाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	त्रीणि	प०	०	०	त्रिभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	त्रयाणाम्
तृ०	०	०	त्रिभिः	स०	०	०	त्रिषु
च०	०	०	त्रिभ्यः	सम्बोधन नहीं होता।			

अब सुप्रसिद्ध इदन्त नपुंसक 'वारि' (जल) शब्द का विवेचन करते हैं। णिजन्त **वृञ् वरणे** धातु से **वसि-वपि-यजि०** (उणा० ५६४) इस औणादिक सूत्रद्वारा इञ् प्रत्यय करने पर 'वारि' शब्द निष्पन्न होता है। वारयति उष्णतादिकमिति वारि। **आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्**—इत्यमरः। गजबन्धनी (हाथी बान्धने की भूमि), सरस्वती आदि अर्थों में वारिशब्द स्त्रीलिङ्ग होता है, परन्तु यहां जल अर्थ में नित्यनपुंसक ही है।

वारि+स्(सुँ)। यहां अदन्त न होने से **अतोऽम्** (१३४) द्वारा सकार को अम् आदेश नहीं होता। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२४४) **स्वमोर्नपुंसकात्** ।७।१।२३॥

लुक् स्यात्। वारि॥

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग से परे सुँ और अम् का लुक् हो।

व्याख्या—स्वमोः ।६।२। नपुंसकात् ।५।१। लुक् ।१।१। (**षड्भ्यो लुक्** से)। समासः—सुँश्च अम् च=स्वमौ, तयोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(नपुंसकात्) नपुंसक से परे (स्वमोः) सुँ और अम् का (लुक्) लुक् हो जाता है। यह उत्सर्गसूत्र है इस

का अपवाद अतोऽम् (२३४) सूत्र और उस का भी अपवाद अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः (२४१) सूत्र पीछे लिख चुके हैं। यह लुक् सुँ और अम् के सम्पूर्ण स्थान पर प्रवृत्त होता है।

प्रश्न—आदेः परस्य (७२) परिभाषा द्वारा यह लुक् अम् के आदि अकार के स्थान पर क्यों प्रवृत्त न हो जाये ?

उत्तर—प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१८६) सूत्र में बताया जा चुका है कि लुक्, प्रत्यय के अदर्शन को कहते हैं। यहां अम् का लुक् करना है। अम् का अकार या मकार प्रत्यय नहीं, किन्तु सम्पूर्ण समुदाय 'अम्' ही प्रत्यय है। अतः यदि सम्पूर्ण अम् का अदर्शन करेंगे तो तभी लुक् सार्थक होगा, अन्यथा नहीं। इस से सम्पूर्ण अम् का लुक् होता है, केवल आदि अकार का नहीं।

वारि+स्। प्रकृतसूत्र से सकार का लुक् हो 'वारि' प्रयोग बना।

प्रथमा के द्विवचन 'वारि+औ' में नपुंसकाच्च (२३५) से 'औ' को 'शी' हो अनुबन्धलोप करने से 'वारि+ई'। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२४५) इकोऽचि विभक्तौ[1] ।७।१।७३॥

इगन्तस्य क्लीबस्य नुँम् अचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि॥

अर्थः—अजादि विभक्ति परे हो तो इगन्त नपुंसक को नुँम् का आगम हो।

व्याख्या—इकः ।६।१। नपुंसकस्य ।६।१। (नपुंसकस्य झलचः से)। नुँम् ।१।१। (इदितो नुँम् धातोः से)। अचि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। 'नपुंसकस्य' का विशेषण होने से 'इकः' से तदन्तविधि हो कर 'इगन्तस्य नपुंसकस्य' बन जाता है। 'अचि' में तदादिविधि हो कर 'अजादौ विभक्तौ' बन जाता है। अर्थ—(अचि=अजादौ) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (इकः=इगन्तस्य) इगन्त (नपुंसकस्य) नपुंसक का अवयव (नुँम्) नुँम् हो जाता है। मित् होने से नुँम् अन्त्य अच् से परे होता है।

'वारि+ई' यहां 'वारि' यह इगन्त नपुंसक है। इस से परे 'ई' यह अजादि विभक्ति वर्त्तमान है। अतः प्रकृतसूत्र से इगन्त को नुँम् का आगम हो कर अनुबन्धलोप और नकार को णकार करने से 'वारिणी' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमा के बहुवचन में 'वारि+अस्'(जस्) इस स्थिति में पूर्ववत् शि आदेश, उस की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, नुँम् आगम, अनुबन्धलोप, उपधादीर्घ तथा नकार को णकार आदेश हो कर 'वारीणि' प्रयोग सिद्ध होता है[2]।

---

१. 'इकोऽचि सुँपि' इत्येव सुवचम् इति नागेशो मन्यते।

२. वारि+इ(शि) में नपुंसकस्य झलचः (२३६) और इकोऽचि विभक्तौ (२४५) दोनों से नुँम् हो सकता है, किस से नुँम् किया जाये ? इस विषय में वैयाकरण एकमत नहीं। कुछ वैयाकरणों का कहना है कि यहां परत्व के कारण इकोऽचि विभक्तौ से ही नुँम् करना चाहिये। परन्तु अन्य वैयाकरणों का कथन है कि इकोऽचि विभक्तौ तो अन्य सब अजादि विभक्तियों में चरितार्थ है यहां शि (इ) में नपुंसकस्य झलचः की ही प्रवृत्ति होनी चाहिये। किञ्च 'झलन्त' न कह कर

हे वारि+सु । यहां स्वमोर्नपुंसकात् (२२४) से सुँ का लुक् हो कर 'हे वारि!' हुआ । अब यहां प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१९०) से सम्बुद्धि को निमित्त मान कर ह्रस्वस्य गुणः (१६९) से गुण प्राप्त होता है। परन्तु न लुमताङ्गस्य (१९१) के निषेध के कारण प्रत्ययलक्षण नहीं हो सकता । हमें यहां पाक्षिक गुण करना अभीष्ट है। अतः न लुमताङ्गस्य (१९१) निषेध की अनित्यता सिद्ध करते हैं—

[लघु०] न लुमता० (१९१) इत्यस्याऽनित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः —हे वारे !, हे वारि ! । आङो ना० (१७१)—वारिणा । घेर्ङिति (१७२) इति गुणे प्राप्ते—

अर्थः—न लुमताङ्गस्य (१९१) यह निषेध अनित्य है। अतः पक्ष में ह्रस्वस्य गुणः (१६९) से सम्बुद्धिनिमित्तक गुण भी हो जाता है। गुणपक्ष में—हे वारे ! और गुणाभाव में—हे वारि ! ।

व्याख्या—न लुमताङ्गस्य (१९१) सूत्र अनित्य है। इस में ज्ञापक इकोऽचि विभक्तौ (२४५) सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण है। हम इसे समझाने के लिये पक्षात्मक ढंग से विचार करते हैं। तथाहि—

पूर्वपक्षी—इकोऽचि विभक्तौ सूत्र में 'अचि' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

उत्तरपक्षी—'वारि+भ्याम्' इत्यादि रूपों में भ्याम् आदि हलादि विभक्तियों में नुँम् न हो जाये, इसलिये सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण किया गया है।

पूर्वपक्षी—'वारिभ्याम्' आदि में यदि नुँम् हो भी जाये तो न लोपः० (१८०) द्वारा लोप हो जाने से कोई दोष नहीं आता । अतः 'अचि' पद का ग्रहण व्यर्थ है।

उत्तरपक्षी—तो 'हे वारि!' यहां लुक् हुए सम्बुद्धि को निमित्त मान कर नुँम् न हो जाये, इसलिये 'अचि' पद का ग्रहण किया है।

पूर्वपक्षी—सम्बुद्धि में भी न लोपः० (१८०) से नकार का लोप हो जायेगा।

उत्तरपक्षी—ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि सम्बुद्धि में न ङिसम्बुद्ध्योः (२८१) सूत्र नकार का लोप नहीं करने देगा। अतः 'हे वारिन्!' आदि अनिष्ट प्रयोगों की निवृत्ति के लिये 'अचि' पद का ग्रहण करना आवश्यक है।

पूर्वपक्षी—ओहो ! सम्बुद्धि में तो नुँम् प्राप्त ही नहीं हो सकता; क्योंकि विभक्ति का लुक् होने से न लुमताङ्गस्य (१९१) से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है। अतः 'अचि' पद का ग्रहण व्यर्थ है।

उत्तरपक्षी—आप का कथन सत्य है। इस प्रकार 'अचि' पद के विना भी

'झलचः' कथन में अच्प्रत्याहार का ग्रहण भी यही प्रमाणित करता है कि यहां नपुंसकस्य झलचः द्वारा ही नुँम् होना चाहिये। हमारे विचार में दोनों सूत्रों से एक ही कार्य प्राप्त है अतः विरोध या विप्रतिषेध कुछ भी नहीं, इस तरह इन के बलाबल का विचार निष्प्रयोजन ही है।

'वारिभ्याम्, हे वारि' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने पर आचार्य के पुनः 'अचि' पद के ग्रहण से **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) सूत्र की अनित्यता स्पष्ट प्रतीत होती है।

पूर्वपक्षी—'अचि' पद के ग्रहण से भला आप कैसे **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) सूत्र की अनित्यता का अनुमान करते हैं ?

उत्तरपक्षी—यदि **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) निषेध नित्य होता, तो सम्बुद्धि में उस का आश्रय कर के नुँम् प्राप्त ही न हो सकता। पुनः उस के निषेध के लिये 'अचि' पद की कोई आवश्यकता ही न होती। परन्तु आचार्य का उस के निषेध के लिये यत्न करना सिद्ध करता है कि आचार्य **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) निषेध को नित्य नहीं मानते।

'हे वारि' यहां सम्बुद्धि में **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) निषेध के अनित्य होने से अनित्यपक्ष में **ह्रस्वस्य गुणः** (१६९) से गुण हो कर—'हे वारे!' और नित्यपक्ष में गुण न होने से—हे वारि!' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं[1]।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है।

तृतीया के एकवचन 'वारि+आ' (टा) में **शेषो घ्यसखि** (१७०) से घिसञ्ज्ञा हो **इकोऽचि०** (७.१.७३) की अपेक्षा पर होने के कारण **आङो नाऽस्त्रियाम्** (७.३.१२०) से टा को ना आदेश हो कर नकार को णकार करने से 'वारिणा' प्रयोग सिद्ध होता है।

वारि+भ्याम्=वारिभ्याम्। वारिभिः। हलादि विभक्ति में नुँम् न होगा।

चतुर्थी के एकवचन में 'वारि+ए' इस अवस्था में घिसञ्ज्ञा हो कर नुँम् की अपेक्षा पर होने के कारण **घेर्ङिति** (१७२) द्वारा गुण प्राप्त होता है। परन्तु यहां नुँम् करना ही अभीष्ट है। अतः अग्रिम वार्त्तिक से पूर्वविप्रतिषेध का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(२४) वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुँम् पूर्वविप्रतिषेधेन ॥

वारिणे। वारिणः २। वारिणोः २। नुँमचिर० (वा० १९) इति नुँट्—वारीणाम्। वारिणि। हलादौ हरिवत् ॥

अर्थः—वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण—इन के साथ विप्रतिषेध होने पर, पूर्व भी नुँम् प्रवृत्त हो जाता है।

व्याख्या—**अचो ञ्णिति** (७.२.११५) से प्राप्त वृद्धि, **अच्च घेः** (७.३.११९)

---

१ यद्यपि **इकोऽचि विभक्तौ** (७.१.७३) के भाष्य में 'हे त्रपो!' और **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** (६.१.६७) के भाष्य में 'हे त्रपु!' ऐसे दो प्रयोग पाये जाते हैं, तथापि हमारा मन प्रत्येक इगन्त नपुंसक के सम्बुद्धि में दो दो—रूप बनाना स्वीकार नहीं करता। **न लुमताऽङ्गस्य** (१.१.६२) निषेध के अनित्य होने से केवल कहीं कहीं 'त्रपो!' आदि पूर्वमहानुभावों के लिखे रूपों में ही गुण का समाधान करना चाहिये, न कि सर्वत्र विकल्प, नहीं तो फिर अव्यवस्था हो जायगी। कैयट ने **इकोऽचि विभक्तौ** (७.१.७३) सूत्र के प्रदीप में इस का उल्लेख भी किया है।

से प्राप्त औत्व, तृज्वत्क्रोष्टुः (७.१.९५) और विभाषा तृतीयादिष्वचि (७.१.९७) से प्राप्त तृज्वद्भाव तथा घेर्ङिति (७.३.१११) से प्राप्त गुण यद्यपि नुँम् (७.१.७३) से परे हैं और **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) के अनुसार इन की ही प्रवृत्ति उचित है; तथापि नुँम् की प्रवृत्ति पूर्वविप्रतिषेध से हो जाती है। अर्थात् इन के साथ नुँम् का विप्रतिषेध होने पर **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) का दूसरा अर्थ—'अपरं कार्यम्' मान कर नुँम् की प्रवृत्ति हो जाती है।[1]

'वारि+ए' यहां पूर्वविप्रतिषेध के कारण गुण का बाध कर **इकोऽचि विभक्तौ** (२४५) से नुँम् हो कर नकार को णकार करने से 'वारिणे' प्रयोग सिद्ध होता है।

'वारि+अस्' (ङसिँ वा ङस्) यहां भी **घेर्ङिति** (१७२) से प्राप्त गुण का पूर्व-विप्रतिषेध के कारण नुँम् बाध कर लेता है—'वारिणः'।

'वारि+ओस्' यहां परत्व के कारण **इको यणचि** (१५) का बाध कर नुँम् प्रवृत्त हो जाता है—'वारिणोः'।

षष्ठी के बहुवचन 'वारि+आम्' में **ह्रस्वनद्यापो नुँट्** (१४८) से आम् को नुँट् का और **इकोऽचि विभक्तौ** (२४५) से अङ्ग को नुँम् का आगम युगपत् प्राप्त हुआ। **नुँमचिर०** (वा० १९) के द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से नुँट् हो गया। तब **नामि** (१४९) से दीर्घ और नकार को णकार करने पर 'वारीणाम्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—यदि नुँम् हो जाता तो वह 'वारि' का ही अवयव होता, आम् का नहीं। तब 'नाम्' परे न रहने से **नामि** (१४९) द्वारा दीर्घ न हो सकता। किञ्च तब अङ्ग के अजन्त न होकर नान्त हो जाने से 'वारिणाम्' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जाता।

सप्तमी के एकवचन 'वारि+इ' (ङि) में **अच्च घेः** (१७४) से ङि को औत्व और **इकोऽचि विभक्तौ** (२४५) से अङ्ग को नुँम् प्राप्त होने पर **वृद्ध्यौत्व०** (वा० २४) से पूर्वविप्रतिषेध के कारण नुँम् हो जाता है। तब नकार को णकार होकर—'वारिणि' प्रयोग सिद्ध होता है। वारिशब्द की रूपमाला यथा—

---

१. इन के उदाहरण भाष्य (७.१.९६) में अतीव सरल उपाय से समझाये गये हैं। तद्यथा—

गुणवृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषिद्धम्। तत्र गुणस्यावकाशः—अग्नये, वायवे। नुमोऽवकाशः—त्रपुणी, जतुनी। इहोभयं प्राप्नोति—त्रपुणे, जतुने। वृद्धेरवकाशः—सखायौ, सखायः। नुमः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—अतिसखीनि, ब्राह्मणकुलानि। औत्वस्यावकाशः—अग्नौ, वायौ। नुमः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—त्रपुणि, जतुनि। तृज्वद्भावस्यावकाशः—क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना। नुमः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—कृशक्रोष्टुनेऽरण्याय, हितक्रोष्टुने वृषलकुलाय। नुम् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन।

प्र०	वारि	वारिणी	वारीणि	प०	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	वारिणोः	वारीणाम्
तृ०	वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः	स०	वारिणि	,,	वारिषु
च०	वारिणे	,,	वारिभ्यः	सं०	हे वारि!, वारे!	वारिणी!	वारीणि!

नोट—'वारि' शब्द की तरह उच्चारण वाले शब्द संस्कृत-साहित्य मे शायद ही कुछ हों। नपुंसक मे इदन्त शब्द प्रायः भाषितपुंस्क ही मिलते हैं। उन का उच्चारण आगे आने वाले 'सुधि' शब्द की तरह होता है।

'दधि' (दही) शब्द के उच्चारण मे वारि की अपेक्षा कुछ अन्तर पड़ता है। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति की प्रक्रिया तो वारिशब्द के समान ही होती है। परन्तु तृतीया आदि अजादि विभक्तियों मे निम्नप्रकारेण प्रक्रिया का अन्तर है—

'दधि+आ' (टा) यहा घिसञ्ज्ञा होने से **आङो नाऽस्त्रियाम्** (१७१) द्वारा टा को ना आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२४६) **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनँङुदात्तः** ।७।१।७५॥

एषामनँङ् स्याट् टादावचि (स चोदात्तः) ॥

अर्थः—तृतीयादि अजादि विभक्ति परे होने पर अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि—इन चार शब्दों के स्थान पर उदात्त अनँङ् आदेश हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। विभक्तिषु ।७।३। (इकोऽचि विभक्तौ से वचनविपरिणाम कर के)। तृतीयादिषु ।७।३। (तृतीयादिषु भाषित० से)। अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् ।६।३। अनँङ् ।१।१। उदात्तः ।१।१। समासः—अस्थि च दधि च सक्थि च अक्षि च= अस्थिदधिसक्थ्यक्षीणि, तेषाम्=अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्। **प्रकृतिवदनुकरणं भवति**—इति परिभाषयाऽत्राप्यक्षिशब्दस्यानँङ्। 'अचि' से तदादिविधि हो कर 'अजादिषु तृतीयादिषु विभक्तिषु' बन जाता है। अर्थः—(अचि) अजादि (तृतीयादिषु) तृतीया आदि (विभक्तिषु) विभक्तियों के परे होने पर (अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्) अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि शब्दों के स्थान पर (अनँङ्) अनँङ् आदेश हो जाता है और वह (उदात्तः) उदात्त होता है[1]।

अनँङ् में ङकार इत्सञ्ज्ञक है। अतः **ङिच्च** (४६) सूत्र द्वारा यह अन्त्य इकार के स्थान पर आदेश होगा। अनँङ् मे नकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है।

टा, ङे, ङसिँ, ङस्, ओस्, आम्, ङि और ओस् ये आठ तृतीयादि अजादि विभक्तियां हैं।

'दधि+आ' यहां प्रकृतसूत्र से अन्त्य इकार को अनँङ् आदेश होकर—दध् अन्+आ=दधन्+आ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (२४७) **अल्लोपोऽनः** ।६।४।१३४॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याकारस्य लोपः। दध्ना। दध्ने। दध्नः २। दध्नोः २॥

---

१ लघुकौमुदी मे स्वरप्रकरण न होने से हम यहा स्वरविचार प्रस्तुत नहीं कर रहे।

अर्थः—अङ्ग के अवयव अन् शब्द के अकार का लोप हो जाता है यदि सर्व-नामस्थान-भिन्न यकारादि वा अजादि स्वादि प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—अत् ।६।१। (यहां सुंपां सुंलुक्० से षष्ठी का लुक् हुआ है)। लोपः ।१।१। अनः ।६।१। भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। जिस से परे सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि वा अजादि स्वादि प्रत्यय हो उसे 'भ' कहते हैं—यह पीछे (१६५) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। अर्थः - (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव, (भस्य) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों से भिन्न यकारादि वा अजादि स्वादि प्रत्यय परे वाले (अनः) अन् के (अतः) अत् का (लोपः) लोप हो जाता है।[1]

'दधन्+आ' यहां सर्वनामस्थानभिन्न अजादि प्रत्यय आ (टा) के परे होने से अङ्ग के अवयव अन् के अकार का लोप हो कर 'दध्ना' प्रयोग सिद्ध होता है।

'दधि+ए'(ङे) यहां अनँङ् आदेश होने पर 'दधन्+ए' इस दशा में प्रकृत-सूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर 'दध्ने' प्रयोग सिद्ध होता है।

'दधि+अस्' (ङसिँ वा ङस्) यहां भी पूर्ववत् अनँङ् आदेश हो कर भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप करने से 'दध्नः' प्रयोग सिद्ध होता है।

ओस् में 'दध्नोः' और आम् में 'दध्नाम्' भी पूर्वोक्त-प्रकारेण बनते हैं।

ङि में 'दधि+इ' इस अवस्था में अनँङ् आदेश होकर 'दधन्+इ' हुआ। अब **अल्लोपोऽनः** (२४७) से अन् के अकार का नित्यलोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२४८) विभाषा ङिश्योः ।६।४।१३६॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याकारस्य लोपो वा स्याद् ङिश्योः परयोः। दध्नि, दधनि। शेषं वारिवत्। एवम् अस्थि-सक्थ्यक्षि॥

अर्थः—अङ्ग के अवयव अन् शब्द के अकार का विकल्प करके लोप हो जाता

---

१. यहां **भस्य** और **अङ्गस्य** ये दो अधिकार आ रहे हैं। 'भसञ्ज्ञक अङ्ग के अवयव अन् के अकार का लोप हो' इस प्रकार यदि अर्थ करें तो—अनसा, मनसा आदियों में आदि अकार का भी लोप हो जायेगा। यदि—'अन्नन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अकार का लोप हो' इस प्रकार अर्थ करें तो—तक्ष्णा आदियों में तकारोत्तर अकार के लोप की भी प्राप्ति आएगी। यदि—'अन्नन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अन् के अकार का लोप हो' इस प्रकार अर्थ करें तो—'अनस्तक्ष्णा' इत्यादियों में भी आदि अकार का लोप प्राप्त होगा। अतः इन सब दोषों से बचने का उपाय केवल यही है कि उपर्युक्त अर्थ किया जाये। यहां यह ध्यातव्य है कि मूलगत अर्थ और इन अर्थों में केवल यही भेद है कि मूलगत अर्थ में 'भस्य' का सम्बन्ध 'अनः' से किया गया है और इन सब अर्थों में उस का सम्बन्ध 'अङ्गस्य' के साथ किया गया है। इस विषय पर विस्तृत विचार व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

है यदि सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि वा अजादि स्वादि प्रत्ययों में से केवल 'ङि' वा 'शी' परे हों तो।

व्याख्या—विभाषा।१।१। ङिश्योः।७।२। अत्।६।१। लोपः।१।१। अनः।६।१। (अल्लोपोऽनः से)। भस्य।६।१। अङ्गस्य।६।१। (ये दोनों अधिकृत हैं)। समास—ङिश्च शी च=ङिश्यौ, तयोः=ङिश्योः। इतरेतरद्वन्द्व। अर्थ—(अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (भस्य) सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि वा अजादि स्वादि प्रत्यय परे वाले (अनः) अन् के (अत्) ह्रस्व अकार का (विभाषा) विकल्प करके (लोपः) लोप हो जाता है (ङिश्योः) ङि अथवा शी परे होने पर।

यहां 'शी' यह नपुंसकलिङ्ग वाला दीर्घ ही लिया जाता है। ह्रस्व 'शि' तो शि सर्वनामस्थानम् (२३८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है, उस के परे होने पर तो भसञ्ज्ञा का होना ही असम्भव है।

'दधन्+इ' यहां ङि परे है, अतः प्रकृतसूत्र से अन् के अकार का विकल्प कर के लोप हो गया। लोपपक्ष में—'दध्नि' और लोपाभावपक्ष में—'दधनि' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए। दधिशब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
च०	दध्ने	,,	दधिभ्यः
पं०	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
ष०	,,	दध्नोः	दध्नाम्
स०	दध्नि,दधनि	,,	दधिषु
सं०	हे दधे!, दधि!	दधिनी!	दधीनि!

इसी प्रकार—अस्थि (हड्डी), सक्थि (ऊरु, जङ्घा) और अक्षि (आंख) शब्दों के रूप बनते हैं।

(यहां इदन्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

[लघु०] सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे!, हे सुधि!॥

व्याख्या—'सुधी' शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। 'कुलम्' आदि के विशेष्य होने पर यह नपुंसक हो जाता है। नपुंसक में ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (२४३) से ह्रस्व हो कर 'सुधि' शब्द बन जाता है। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में इस की प्रक्रिया वारिशब्दवत् होती है। तृतीयादि अजादि विभक्तियों में कुछ विशेष होता है। वह अग्रिमसूत्र द्वारा बतलाया जाता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम् (२४६) तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य ।७।१।७४॥

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कम् इगन्तं क्लीबं पुंवद्वा टादावचि। सुधिया, सुधिना—इत्यादि॥

अर्थ—यदि प्रवृत्तिनिमित्त एक हो तो इगन्त नपुंसक भाषितपुंस्क शब्द अजादि तृतीयादि विभक्तियों के परे होने पर विकल्प कर के पुंवत् होता है।

व्याख्या—तृतीयादिषु ।७।३। अक्षु ।७।३। विभक्तिषु ।७।३। इक् ।१।१। (इकोऽचि विभक्तौ से वचन और विभक्ति का विपरिणाम कर के) । नपुंसकम् ।१।१। (नपुंसकस्य झलचः से) । भाषितपुंस्कम् ।१।१। पुंवत् इत्यव्ययपदम् । गालवस्य ।६।१। 'अक्षु' से तदादिविधि तथा 'इक्' से तदन्तविधि हो जाती है । समासः—भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तत् भाषितपुंस्कम्, बहुव्रीहिसमासः । तद् अस्यास्तीति—भाषितपुंस्कम् । अर्शआदिभ्योऽच् (११९१) इति मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः । 'शब्दस्वरूपम्' इति विशेष्यमध्याहार्यम् । अर्थः—(तृतीयादिषु) तृतीयादि (अक्षु=अजादौ) अजादि (विभक्तिषु) विभक्तियों के परे होने पर (इक्=इगन्तम्) इगन्त (नपुंसकम्) नपुंसक शब्द (भाषितपुंस्कम्) जो पुल्लिङ्ग में भी उसी प्रवृत्तिनिमित्त को भाषित कर चुका हो, (गालवस्य) गालव आचार्य के मत में (पुंवत्) पुंलिङ्गवत् होता है ।

गालव के मत में पुंवत् और अन्य आचार्यों के मत में पुंवत् न होने से पुंवद्भाव का विकल्प हो जायेगा । पुंवद्भाव का अभिप्राय यह है कि जो २ कार्य पुंलिङ्ग में होते हैं, वे यहां नपुंसक में भी हो जाएं ।

'प्रवृत्तिनिमित्त' किसे कहते हैं ?

प्रत्येक शब्द का अपने वाच्य को बोधन कराने का कोई न कोई निमित्त अवश्य हुआ करता है । इस निमित्त को ही प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं । यथा—'घट' शब्द का घड़े को बोध कराने का निमित्त 'घटत्व' है, अर्थात् घट को घट इसीलिये कहते हैं क्योंकि इस में घटत्व पाया जाता है । यदि घटत्व न पाया जाये तो उसे कोई भी घट न कहे । तो यहां 'घटत्व' प्रवृत्तिनिमित्त हुआ । शुक्ल को शुक्ल कहने का प्रवृत्तिनिमित्त 'शुक्लत्व' है । यदि शुक्ल में शुक्लत्व न पाया जाये तो उसे कोई भी शुक्ल न कहे । 'पाचक' को पाचक कहने का प्रवृत्तिनिमित्त 'पाककर्तृत्व' अर्थात् पकाने की क्रिया को करना है । यदि रसोइये में पकाना न पाया जाये तो उसे कोई भी पाचक न कहे । इसी प्रकार 'देवदत्त' आदि शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त तत्तद्विशेष आकृति ही है । सार यह है कि जिस विशेषता के कारण कोई शब्द अपने अर्थ को जनाता है; उस शब्द की वह विशेषता ही उस का प्रवृत्तिनिमित्त होती है । तथाहि—

(१)	'घट'	शब्द की विशेषता	घटत्व	ही	प्रवृत्तिनिमित्त	है ।
(२)	'पट'	″ ″ ″	पटत्व	″	″	″ ।
(३)	'यज्ञदत्त'	″ ″ ″	आकृतिविशेष	″	″	″ ।
(४)	'सुधि'	″ ″ ″	शोभनध्यानवत्त्व	″	″	″ ।
(५)	'सुलु'	″ ″ ″	शोभनलवनकर्तृत्व	″	″	″ ।
(६)	'धातृ'	″ ″ ″	धारणकर्तृत्व	″	″	″ ।
(७)	'अनादि'	″ ″ ″	आदिहीनता	″	″	″ ।
(८)	'ज्ञातृ'	″ ″ ″	ज्ञानकर्तृत्व	″	″	″ ।
(९)	'प्रद्यु'	″ ″ ″	निर्मलाकाशवत्त्व	″	″	″ ।

(१०) प्रधि' शब्द की विशेषता प्रकृष्टध्यानवत्त्व ही प्रवृत्तिनिमित्त है।
(११) सुनु „ „ शोभननौकावत्त्व „ „ „।'

सूत्र का भावार्थ—जिस इगन्त नपुंसकलिङ्गी शब्द का जो प्रवृत्तिनिमित्त नपुंसक में हो यदि वही प्रवृत्तिनिमित्त उस का पुंलिङ्ग में भी हो तो तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे होने पर उस नपुंसक शब्द में विकल्प कर के पुंलिङ्गवत् कार्य होते हैं।

सुधि शब्द इगन्त नपुंसक है। इस का प्रवृत्तिनिमित्त 'शोभनध्यानवत्त्व' है। पुंल्लिङ्ग में भी इस का यही प्रवृत्तिनिमित्त होता है। अतः तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इसे विकल्प कर के पुंवत्कार्य होंगे। पुंवत्पक्ष में पुनः वही दीर्घान्त 'सुधी' शब्द आ जायेगा। तब न भूसुधियोः (२०२) से यण् का निषेध हो कर अचि श्नु० (१९९) से इयँङ् करने पर 'सुधिया' आदि रूप बनेंगे। जिस पक्ष में पुंवत् न होगा उस पक्ष में वारिशब्दवत् प्रक्रिया हो कर 'सुधिना' आदि रूप सिद्ध होंगे। इस की रूपमाला यथा—

प्रथमा	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
द्वितीया	„	„	„
तृतीया	सुधिया, सुधिना	सुधिभ्याम्	सुधिभिः
चतुर्थी	सुधिये, सुधिने	„	सुधिभ्यः
पञ्चमी	सुधियः, सुधिनः	„	„
षष्ठी	„ „	सुधियोः, सुधिनोः	सुधियाम्, सुधीनाम्
सप्तमी	सुधियि, सुधिनि	„ „	सुधिषु
सम्बोधन	हे सुधे!, हे सुधि!	हे सुधिनी!	हे सुधीनि!

इसी प्रकार निम्नस्थ भाषितपुंस्क शब्दों में वैकल्पिक पुंवद्भाव जानना चाहिये। पुंवत्पक्ष में हरिशब्दवत् तथा तदभावपक्ष में वारिशब्दवत् रूप बनेंगे।

१ अनादि=जिस का आदि न हो (ब्रह्म)। २ शुचि=पवित्र (कुल)। ३ सादि=जिस का आदि हो (कार्य)। ४ सुकवि=श्रेष्ठ कवियों वाला (कुल)। ५. सुयति=श्रेष्ठ यतियों वाला (वन)। ६ सुशकुनि=अच्छे पक्षियों वाला (वन)। ७ सुमणि=श्रेष्ठ मणियों वाला (भूषण)। ८ सुध्वनि=अच्छी ध्वनि वाला (वाद्य)। ९ सुकपि=अच्छे वानरों वाला (अरण्य)। १० सुसूरि=अच्छे विद्वानों वाला (कुल)। ११ अतिध्वनि=ध्वनि को लांघा हुआ (वायुयान)। १२ निरादि=आदिहीन (ब्रह्म)।

(यहां इकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है)

—:०:—

१ प्रवृत्तिनिमित्तं पदशक्यतावच्छेदकम्। यथा घटत्वं घटपदस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। एवं शुक्लादिपदस्य शुक्लत्वम्, पाचकादेः पाकः, देवदत्तादेस्तत्तत्पिण्डादि प्रवृत्तिनिमित्तं भवति। प्रवृत्तिनिमित्तशब्दस्य व्युत्पत्तिः—प्रवृत्तेः=शब्दानामर्थबोधनशक्तेः निमित्तम्=प्रयोजकम् इति। तच्च शक्यतावच्छेदकम्भवतीति ज्ञेयम्। तल्लक्षणञ्च प्रकारतया शक्तिग्रहविषयत्वम्—इति तत्त्वचिन्तामणौ श्रीगङ्गेशोपाध्यायाः।

अब उकारान्त नपुंसक शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] मधु । मधुनी । मधूनि । हे मधो !, हे मधु ! ॥

व्याख्या—'मधु' शब्द पुन्नपुंसक होता है। पुंलिङ्ग में इस का अर्थ—१. वसन्त ऋतु, २. चैत्रमास, ३. दैत्यविशेष आदि होता है। नपुंसक में इस का अर्थ—१. शहद, २. मद्य आदि होता है। अत एव प्रवृत्तिनिमित्त के एक न होने से यह भाषितपुंस्क नहीं होता। नपुंसक में इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया वारिशब्दवत् होती है; किञ्चित् भी अन्तर नहीं होता। रूपमाला यथा—(मधु=शहद)

प्र०	मधु	मधुनी	मधूनि	प०	मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	मधुनोः	मधूनाम्
तृ०	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः	स०	मधुनि	,,	मधुषु
च०	मधुने	,,	मधुभ्यः	सं०	हे मधो!, मधु!	हे मधुनी!	हे मधूनि!

इसीप्रकार निम्नस्थ शब्दों के रूप होते हैं। [* यह णत्वविधि का चिह्न है।]

१. अम्बु=जल। २. अश्रु *=आंसु। ३. उडु[1]=नक्षत्र, तारा। ४. जतु=लाख। ५. जत्रु *= गले के नीचे की दो हड्डियां, स्कन्धसन्धि। ६. तालु=दांतों के पीछे मुख की कठिन छत। ७. त्रपु*=जो अग्नि को पा कर मानो लज्जा से पिघल जाता है—सीसा वा रांगा। ८. दारु *[2]=लकड़ी। ९. पीलु[3]=पीलु का फल। १०. वसु=धन। ११. वस्तु=पदार्थ, चीज़। १२. शिलाजतु=शिलाजीत। १३. श्मश्रु* =दाढ़ी-मूंछ। १४. हिङ्गु=हींग।

नोट—ध्यान रहे कि विशुद्ध उदन्त नपुंसक शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत थोड़े हैं। हां ! भाषितपुंस्क पर्याप्त मिल सकते हैं। इनका वर्णन आगे देखें।

[लघु०] सुलु । सुलुनी । सुलूनि । सुल्वा, सुलुने—इत्यादि ॥

व्याख्या—सुष्ठु लुनातीति सुलु (शस्त्रम्)। जो भली प्रकार काटता है उसे

---

१. 'उडु' शब्द स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता है; अतः यह भाषित-पुंस्क नहीं होता। **उडु वा स्त्रियाम्**—इत्यमरः।

२. कुछ लोगों के मत में 'दारु' शब्द पुंलिङ्ग भी माना जाता है। **पुंन्नपुंसकयोर्दारु** इति त्रिकाण्डशेषः। तब वह भाषितपुंस्क भी हो जायेगा। इसी प्रकार 'देवदारु' शब्द के विषय में भी समझना चाहिये। **अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्** (रघुवंशे २.३६); **सप्त स्युर्देवदारुणि** (इत्यमरे)।

३. 'पीलु' शब्द पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। परन्तु इस का पुंलिङ्ग में 'पीलु-वृक्ष' और नपुंसक में 'पीलु-फल' अर्थ होता है। अतः प्रवृत्ति-निमित्त के एक न होने के कारण यह भाषितपुंस्क नहीं होता। इस विषय पर एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

पीलुर्वृक्षः फलं पीलु पीलुने न तु पीलवे।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः॥

'सुलू' कहते हैं। विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से यह शब्द त्रिलिङ्गी है। नपुंसक में पूर्ववत् (२४३) सूत्र से ह्रस्व होकर मधुशब्दवत् प्रक्रिया होती है। प्रवृत्तिनिमित्त के एक होने से तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इसे भी वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में ओः सुपि (२१०) से यण् होता है। रूपमाला यथा—

प्रथमा	सुलु	सुलुनी	सुलूनि
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	सुल्वा, सुलुना	सुलुभ्याम्	सुलुभिः
चतुर्थी	सुल्वे, सुलुने	,,	सुलुभ्यः
पञ्चमी	सुल्वः, सुलुनः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	सुल्वोः, सुलुनोः	सुल्वाम्, सुलूनाम्
सप्तमी	सुल्वि, सुलुनि	,, ,,	सुलुषु
सम्बोधन	हे सुलो!, हे सुलु!	हे सुलुनी!	हे सुलूनि!

इसी प्रकार निम्नस्थ शब्द भी भाषितपुंस्क हैं। पुंवत्पक्ष में इनका उच्चारण भानुवत् तथा पुंवद्भाव के अभाव में मधुवत् होता है—[*यह णत्वविधि का चिह्न है]

(१) ऋजु=सरल, सीधा
(२) कटु=तीखा (मरिचवत्)
(३) कमण्डलु[1]=साधुओं का पात्र
(४) कम्बु[2]=शंख
(५) गुरु*=बड़ा,
(६) चिकीर्षु*=करने का इच्छुक
(७) जानु=घुटना, जानुशब्दोऽर्धर्चादि
(८) जिज्ञासु=जानने की इच्छा वाला
(९) जीवातु[3]=जीवन औषध
(१०) तनु—सूक्ष्म, पतला
(११) दयालु=दया करने वाला
(१२) दिदृक्षु*=देखने का इच्छुक
(१३) पटु=चतुर
(१४) पिपासु=पीने का इच्छुक
(१५) प्रज्ञु—टेढ़े घुटनों वाला
(१६) मृदु=कोमल
(१७) लघु=छोटा, हल्का
(१८) वन्दारु*=वन्दनशील
(१९) वर्तिष्णु=वर्तनशील, होने वाला
(२०) वर्धिष्णु=वृद्धिशील
(२१) विजिगीषु*=जीतने का इच्छुक
(२२) विभु=व्यापक
(२३) व्यसु=मरा हुआ, मृत
(२४) शीधु=गन्ने से निर्मित मद्य
(२५) श्रद्धालु=श्रद्धा रखने वाला
(२६) सञ्ज्ञु=मिले हुए घुटनों वाला
(२७) सहिष्णु=सहन करने वाला
(२८) समयालु=सदयशील
(२९) साधु=सरल, सीधा
(३०) सानु[4]=पहाड़ की चोटी
(३१) स्पृहयालु=इच्छा करने वाला
(३२) स्वादु=स्वादिष्ट

१ अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी—इत्यमरप्रामाण्याद्भाषितपुंस्कोऽयम्।
२ शङ्खः स्यात्कम्बुरस्त्रियौ इत्यमरप्रामाण्याद्भाषितपुंस्कोऽयम्।
३ पुन्नपुंसकयोर्दारु-जीवातु-स्थाणु-शीधवः—इति त्रिकाण्डशेषः।
४ स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्—इत्यमरः।

इसी प्रकार—सुशिशु, सुतरु, सुवायु, सुगुरु, सुक्रतु, सुपरशु, सुवाहु, सुवातु, सुबन्धु, सुकेतु, सुजन्तु, सुतन्तु, सुपांशु, सुपटु—प्रभृति शब्द होते हैं।

नोट—भाषितपुंस्क शब्द प्रायः विशेषणवाची ही होते हैं; विशुद्ध भाषितपुंस्क शब्द बहुत ही थोड़े हैं। यथा—कमण्डलु, कम्बु, शीधु, जीवातु आदि। विशेष्य के नपुंसक होने पर ही ये विशेषणवाची नपुंसक होते हैं।

(यहां उकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——::o::——

अब ऋकारान्त नपुंसक शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०]धातृ। धातृणी। धातृणि। हे धातः!, हे धातृ!। धात्रा। धातृणा। धातृणाम्। एवं ज्ञात्रादयः॥

व्याख्या—दधातीति धातृ (कुलम्)। जो धारण करे उसे 'धातृ' कहते हैं। यह शब्द भी विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। विशेष्य के नपुंसक होने पर इस के नपुंसक में रूप बनते हैं। इसकी रूपमाला यथा—

प्रथमा	धातृ	धातृणी	धातृणि
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	धात्रा, धातृणा*	धातृभ्याम्	धातृभिः
चतुर्थी	धात्रे, धातृणे*	,,	धातृभ्यः
पञ्चमी	धातुः, धातृणः*	,,	,,
षष्ठी	,, ,, *	धात्रोः, धातृणोः*	धातृणाम्*
सप्तमी	धातरि, धातृणि*	,, ,,	धातृषु
सम्बोधन	हे धातृ!, हे धातः!	हे धातृणी!	हे धातृणि!

* इन तृतीयादि अजादि विभक्तियों में **तृतीयादिषु भाषित०** (२४६) सूत्र से वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'धातृ' शब्द के समान प्रक्रिया होती है। पुंवद्भाव के अभाव में 'वारि' शब्दवत् कार्य होते हैं। किन्तु टा में ना आदेश न हो कर नुँम् ही होता है। ध्यान रहे कि 'धातृ' शब्द की घिसञ्ज्ञा नहीं है अतः ङे, ङसिँ, ङस्, ङि विभक्तियों में **घेर्ङिति** (१७२)और **अच्च घेः** (१७४) के साथ नुँम् को झगड़ना नहीं पड़ता।

आम् में यद्यपि दोनों पक्षों में एक जैसे रूप बनते हैं तथापि पुंवद्भाव के अभाव में प्रक्रिया में कुछ अन्तर होता है। अर्थात् नुँट् का आगम पूर्वविप्रतिषेध से नुँम् का बाध कर लेता है।

'हे धातृ, हे धातः' में **न लुमताङ्गस्य**(१९१) की अनित्यता के कारण दो रूप बनते हैं। अनित्यतापक्ष में नपुंसक में सर्वनामस्थानता न होने से **ऋतो ङि०**(२०४)से गुण न हो कर **ह्रस्वस्य गुणः** (१६९) से गुण हो जाता है।

इसी प्रकार ज्ञातृ आदि शब्दों के नपुंसकलिङ्ग में रूप होते हैं—

१ ज्ञातृ =जानने वाला (कुल आदि)	६ छेत्तृ =काटने वाला (कुल आदि)
२ कर्तृ =करने वाला (,, ,,)	७ दातृ =देने वाला (,, ,,)
३ कथयितृ=कहने वाला (,, ,,)	८ वक्तृ =बोलने वाला (,, ,,)
४ गणयितृ=गिनने वाला (,, ,,)	९ श्रोतृ =सुनने वाला (,, ,,)
५ जेतृ =जीतने वाला (,, ,,)	१० हर्तृ =हरने वाला (,, ,,)

ध्यातृ, गन्तृ, रचयितृ, प्रभृति शब्दों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये।

नोट—ऋदन्त विशुद्ध नपुंसक शब्दों का संस्कृत-साहित्य में प्रायः अभाव ही है। सब के सब ऋदन्त शब्द नपुंसक में प्रायः भाषितपुंस्क ही मिलते हैं।

(यहां ऋदन्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

— ० —

अब ओकारान्त 'प्रद्यो' शब्द का वर्णन करते हैं—

प्रकृष्टा द्यौर्यस्य यस्मिन् वा तत्=प्रद्यु (दिनम्)। प्रकृष्ट अर्थात् सुन्दर वा निर्मल आकाश वाले दिन को 'प्रद्यो' कहते हैं। प्रद्यो शब्द में ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (२४३) से ह्रस्व करना है, परन्तु ओकार के स्थान पर स्थानकृत आन्तर्य से अकार और उकार दोनों प्राप्त होते हैं। इन में से कौन सा ह्रस्व किया जाये? इस का निर्णय अग्रिमसूत्र करता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(२५०) एच इग्घ्रस्वादेशे ।१।१।४७॥

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु (मध्ये[1]) एच इगेव स्यात्। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि। प्रद्युना—इत्यादि॥

अर्थः—जब ह्रस्व आदेश का विधान हो तब एचों के स्थान पर इक् ही ह्रस्व हो।

व्याख्या—एचः ।६।१। इक् ।१।१। ह्रस्वादेशे ।७।१। समासः—ह्रस्वस्य आदेशः =ह्रस्वादेशः, तस्मिन्=ह्रस्वादेशे, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(एचः) एच् के स्थान पर (ह्रस्वादेशे) ह्रस्व आदेश विधान करने पर (इक्) इक् ह्रस्व होता है। यद्यपि एच् और इक् दोनों चार-चार हैं, तथापि यहां यथासङ्ख्यविधि नहीं होती। यथासङ्ख्यविधि अपूर्वविधि में ही प्रवृत्त हुआ करती है, नियमविधि में नहीं। अतः स्थानेऽन्तरतमः (१७) से यहां एकार और ऐकार के स्थान पर इकार ह्रस्व तथा ओकार और औकार के स्थान पर उकार ह्रस्व हो जायेगा।

ध्यान रहे कि एचों के अपने ह्रस्व नहीं होते, एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात् यह पीछे सञ्ज्ञाप्रकरण में कहा जा चुका है। एच् संयुक्तस्वर हैं अर्थात् दो दो स्वर मिलकर बने हैं। अकार और इकार के संयोग से एकार ऐकार तथा अकार और उकार के संयोग से ओकार औकार की उत्पत्ति हुई है। इस अवस्था में एचों को

---

१. मध्य इत्यपपाठः, तद्योगे पञ्चम्या एवौचित्यात्—इति शेखरे नागेशः।

अकार और इकार तथा उकार प्राप्त होते हैं। अव इस सूत्र के नियम से इकार और उकार ही ह्रस्व होंगे अवर्ण नहीं।

'प्रद्यो' यहां ओकार को उकार ह्रस्व होकर 'प्रद्यु' हुआ। अव इस की समग्र प्रक्रिया तथा रूपमाला मधुशव्दवत् होती है—

प्र०	प्रद्यु	प्रद्युनी	प्रद्यूनि	प०	प्रद्युनः	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	प्रद्युनोः	प्रद्यूनाम्
तृ०	प्रद्युना	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभिः	स०	प्रद्युनि	,,	प्रद्युषु
च०	प्रद्युने	,,	प्रद्युभ्यः	सं०	हे प्रद्यो! ,प्रद्यु!	हे प्रद्युनी!	हे प्रद्यूनि!

यहां पर धातुवृत्तिकार श्रीमाधव लिखते हैं कि तृतीयादि विभक्तियों में पुंवद्भाव नहीं होता। क्योंकि नपुंसक में—प्रद्यु और पुंलिङ्ग में—प्रद्यो शव्द होने से दोनों इगन्त नहीं रहते। इगन्त शव्दों की ही **तृतीयादिषु भाषित०** (२४६) सूत्र में भाषित पुंस्कता कही गई है। परन्तु अन्य कई लोग इसे स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं कि पुंलिङ्गगत 'प्रद्यो' शव्द ही नपुंसक में 'प्रद्यु' शव्द वना है अतः एकदेशविकृतन्याय से दोनों एक ही हैं। नपुंसकगत इगन्त प्रद्यु शव्द पुंलिङ्ग में भी वर्त्तमान होने से पुंवद्भाव को प्राप्त हो जायेगा। ऐसा मानने वालों के मत में—प्रद्यवा, प्रद्युना (टा); प्रद्यवे, प्रद्युने (ङे); प्रद्योः, प्रद्युनः (ङसिँ वा ङस्); प्रद्यवोः, प्रद्युनोः (ओस्); प्रद्यवाम्, प्रद्यूनाम् (आम्); प्रद्यवि, प्रद्युनि (ङि)—इस प्रकार दो २ रूप वनेंगे।

(यहां ओकारान्त नपुंसक शव्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——: :o: :——

अव ऐकारान्त 'प्ररै' शव्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] प्ररि। प्ररिणी। प्ररीणि। एकदेशविकृतमनन्यवत्—प्रराभ्याम्। प्ररीणाम्॥

व्याख्या—प्रकृष्टो राः=धनं यस्य तत्=प्ररि (कुलम्)। जिसका विपुल धन हो उसे 'प्ररै' कहते हैं। नपुंसक में **एच इग्घ्रस्वादेशे** (२५०) की सहायता से **ह्रस्वो नपुंसके०** (२४३) द्वारा ह्रस्व—इकार हो कर 'प्ररि' शव्द वन जाता है। अव इस का उच्चारण प्रायः 'वारि'शव्दवत् होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	प्ररि	प्ररिणी	प्ररीणि	प०	प्ररिणः	प्रराभ्याम्	प्रराभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	प्ररिणोः	प्ररीणाम्
तृ०	प्ररिणा	प्रराभ्याम्	प्रराभिः	स०	प्ररिणि	,,	प्ररासु
च०	प्ररिणे	,,	प्रराभ्यः	सं०	हे प्ररि! ,प्ररे!	हे प्ररिणी!	हे प्ररीणि!

(१) **नोट**—भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् में **एकदेशविकृतमनन्यवत्** की सहायता से पुनः वही रै शव्द माना जाने से **रायो हलि** (२१५) द्वारा ऐकार को आकार होकर 'प्रराभ्याम्' आदि रूप सिद्ध होते हैं।

(२) **नोट**—यहां भी पूर्वोक्त 'प्रद्यो' शव्द की तरह श्रीमाधव के मत में

पुंवद्भाव नहीं होता अन्यों के मत में हो जाता है। पुंवद्भाव में—प्ररायी, प्ररिणा इत्यादिप्रकारेण दो २ रूप बनते हैं।

(३) नोट—'प्ररि+आम्' यहां नुंमचिर० (वा० १६) से नुंम् का बाध कर नुंट् हो जाता है। पुन नामि (१४६) से दीर्घ तथा अट्कुप्वाङ्नुम्० (१३८) से णत्व हो कर 'प्ररीणाम्' बनता है। ध्यान रहे कि 'प्ररि+नाम्' यहां नुंट् हो चुकने पर रायो हलि (२१५) से आत्व नहीं होगा, क्योंकि तब सन्निपात-परिभाषा विरोध करेगी। नामि (१४६) यह दीर्घ तो आरम्भसामर्थ्य से ही सन्निपात-परिभाषा की सर्वत्र अवहेलना किया करता है।

(यहां ऐकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—— .० ——

अब औकारान्त 'सुनौ' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुना—इत्यादि॥

व्याख्या—सु=शोभना नौर्यस्य तत्=सुनु(कुलम्)। जिस की सुन्दर नौका हो उसे 'सुनौ' कहते हैं। नपुंसक में एच इग्घ्रस्वादेशे (२५०) के अनुसार ह्रस्वो नपुंसके० (२४३) से औकार को उकार ह्रस्व हो कर 'सुनु' शब्द बन जाता है। इसका उच्चारण 'मधु' शब्दवत् होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	सुनु	सुनुनी	सुनूनि	प०	सुनुन	सुनुभ्याम्	सुनुभ्य.
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	सुनुनो	सुनूनाम्
तृ०	सुनुना	सुनुभ्याम्	सुनुभि	स०	सुनुनि	,,	सुनुषु
च०	सुनुने	,,	सुनुभ्य'	सं०	हे सुनो!, सुनु!	हे सुनुनी!	हे सुनूनि!

यहां भी पूर्ववत् श्रीमाधव के मतानुरोध से पुंवद्भाव नहीं किया गया। वस्तुत. यहां भी पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में ह्रस्व का पुन औकार बन जाता है। तब एचोऽयवायाव.(२२) द्वारा आव् आदेश करने से—सुनावा, सुनावे, सुनाव २, सुनावो. २, सुनावाम्, सुनावि—ये रूप भी पक्ष में बन जाते हैं।

(यहां औकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——: ० .——

[लघु०] इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गा. [शब्दा]॥

अर्थ.—यहां अजन्तनपुंसकलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

अभ्यास (३७)

(१) न लुमताङ्गस्य सूत्र की अनित्यता कैसे और क्यों सिद्ध की जाती है?

(२) 'वारीणाम्' में नुंट् हो वा नुंम्? दोनों मे अन्तर स्पष्ट करें।

(३) 'प्रवृत्तिनिमित्त' किसे कहते हैं? पीलु शब्द पर उसे घटाए।

(४) 'प्रद्यो' शब्द नपुंसक में भाषितपुंस्क मानना चाहिये या नहीं? सहेतुक दोनों पक्षों का प्रतिपादन कर अपनी सम्मति लिखें।

(५) एच इग्घ्रस्वादेशे सूत्र की व्याख्या करते हुए इस की आवश्यकता पर एक विस्तृत नोट लिखें।

(६) निम्नलिखित सूत्र-वार्त्तिकों की विस्तृत व्याख्या करें—
१. तृतीयादिषु०। २. अल्लोपोऽनः। ३. अस्थिदधि०। ४. विभाषा ङिश्योः। ५. स्वमोर्नपुंसकात्। ६. वृद्धयौत्व-तृज्वद्भाव-गुणेभ्यो०।

(७) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—
१. अक्ष्णा। २. प्रराभ्याम्। ३. वारिणे। ४. हे धातः!। ५. सुल्वा। ६. त्रीणि। ७. दधनि। ८. द्वे। ९. धातृणि। १०. मधूनाम्।

(८) सक्थि, सुनौ, पीलु, प्रद्यो, वारि, सुधी—शब्दों का उच्चारण लिखें।

——:‌:०:‌:——

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्त-
कौमुद्यामजन्त-नपुंसक-लिङ्ग-
प्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ हलन्त-पुंल्लिङ्ग-प्रकरणम्

अब क्रमप्राप्त हलन्तपुंलिङ्ग शब्दों का विवेचन करते हैं। हयवरट् (प्रत्याहार-सूत्र ५) के क्रमानुसार सर्वप्रथम हकारान्त शब्दों का नम्बर आता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२५१) हो ढः।८।२।३१॥

हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु॥

अर्थः—झल् परे होने पर या पदान्त में हकार के स्थान पर ढकार हो।

व्याख्या—झलि।७।१।(झलो झलि से)। पदस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। अन्ते।७।१। (स्कोः संयोगाद्योर् अन्ते च से)। हः।६।१। ढः।१।१। अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (हः) ह् के स्थान पर (ढः) ढ् हो जाता है। सूत्र में ढकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है।

लेढीति लिट्। चाटने वाले को 'लिह्' कहते हैं। लिहँ आस्वादने (अदा० उभ०) धातु से कर्त्ता में क्विँप् च (८०२) सूत्र द्वारा क्विँप् प्रत्यय हो उस का सर्वापहार लोप[1] करने से 'लिह्' शब्द सिद्ध होता है। लिह् के कृदन्त होने से कृत्तद्धित० (११७) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

१. जो लोप सम्पूर्ण प्रत्यय का अदर्शन करता है उसे 'सर्वापहार' या 'सर्वापहारी' लोप कहते हैं। क्विँन्, क्विँप्, विँट्, विँच् आदि प्रत्ययों का सर्वापहार लोप होता है।

लिह्+स्(सुँ)। यहां हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९)से अपृक्त सकार का लोप हो जाता है। तब प्रत्ययलोपे०(१९०)सूत्र की सहायता से सुप्तिङन्तं पदम् (१४) द्वारा 'लिह्' की पदसञ्ज्ञा हो पद के अन्त में हकार को हो ढः (२५१)से ढकार हो जाता है। पुनः झलां जशोऽन्ते (६७)से ढकार को डकार तथा वाऽवसाने (१४६) से वैकल्पिक टकार करने से—'लिट्, लिड्' ये दो रूप बनते हैं।

लिह्+औ=लिहौ। लिह्+अस्(जस्)=लिहः। लिह्+अम्=लिहम्। लिह्+औ(औट्)=लिहौ। लिह्+अस्(शस्)=लिहः। लिह्+आ(टा)=लिहा।

'लिह्+भ्याम्' यहां स्वादिष्वसर्वनामस्थाने(१६४)सूत्र से 'लिह्' की पदसञ्ज्ञा है, हकार पदान्त में स्थित है। अतः हो ढः (२५१)से हकार को ढकार तथा झलां जशोऽन्ते(६७) से ढकार को डकार हो कर 'लिड्भ्याम्' सिद्ध होता है। भिस् और भ्यस् में भी इसी प्रकार 'लिड्भिः' और 'लिड्भ्यः' रूप बनते हैं।

लिह्+ए(ङे)=लिहे। लिह्+अस्(ङसिँ वा ङस्)=लिहः।

लिह्+ओस्=लिहोः। लिह्+आम्=लिहाम्। लिह्+इ(ङि)=लिहि।

सप्तमी के बहुवचन में 'लिह्+सु'(सुप्) इस स्थिति में हो ढः (२५१) सूत्र से पदान्त हकार को ढकार तथा झलां जशोऽन्ते (६७) से उसे जश्त्व-डकार हो कर 'लिड्+सु' बना। अब खरि च (८.४.५४) के असिद्ध होने से ड. सि धुँट्(८.३.२९) द्वारा वैकल्पिक धुँट् करने से अनुबन्धों के चले जाने पर—'१ लिड् ध्सु २ लिड् सु' हुआ। अब यहां ष्टुना ष्टुः(६४)सूत्र द्वारा प्रथम रूप में धकार को ढकार और दूसरे रूप में सकार को षकार प्राप्त होता है। इस का न पदान्ताट्टोरनाम्(६५) से निषेध हो जाता है। पुनः खरि च(७४)सूत्र द्वारा प्रथम रूप में धकार को तकार और उस तकार को परे मान कर डकार को टकार करने से—'लिट्त्सु'। दूसरे रूप से डकार को टकार करने पर—'लिट्सु'। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

ध्यातव्य—'लिट्त्सु, लिट्सु' इन दोनों रूपों में खरि च(७४)द्वारा किया गया चर्त्व असिद्ध है, अतः चयो द्वितीयाः०(वा० १४)से प्रथम रूप में तकार को थकार तथा दूसरे रूप में टकार को ठकार नहीं होता।

झल् परे होने पर हो ढः (२५१) सूत्र के उदाहरण 'वोढा' आदि हैं, जो आगे मूल में ही स्पष्ट हो जाएंगे।

'लिह्' (चाटने वाला) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	लिट्-ड्	लिहौ	लिहः	प० लिहः	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
द्वि०	लिहम्	"	"	ष० "	लिहोः	लिहाम्
तृ०	लिहा	लिड्भ्याम्	लिड्भिः	स० लिहि	"	लिट्त्सु,ट्सु
च०	लिहे	"	लिड्भ्यः	सं० हे लिट्,ड्!	हे लिहौ!	हे लिहः!

इसी प्रकार—मधुलिह् (भ्रमर), पुष्पलिह् (भ्रमर), कुसुमलिह् (भ्रमर), गुडलिह् (गुड चाटने वाला), शिरोरुह् (केश), भूरुह् (वृक्ष), सरोरुह् (कमल), सर-

नीरुह् (कमल), पर्णरुह् (वसन्त ऋतु)—प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

नोट—हलन्त शब्दों की अजादि विभक्तियों में प्रायः कोई कार्य विशेष नहीं करना पड़ता। व्यञ्जनों को स्वरों के साथ मिलाना मात्र ही कार्य होता है। हलादि विभक्तियों में कुछ कार्य होता है। अर्थात् सुँ, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् इन पाञ्च स्थलों में ही रूप बनाने पड़ते हैं। हम आगे प्रायः इन में ही सिद्धि करेंगे।

दुह्=दोहने वाला (दोग्धीति धुक्)। दुहँ प्रपूरणे (अदा० उ०) धातु से कर्त्ता में क्विँप् च (८०२) से क्विँप् प्रत्यय करने पर उस का सर्वापहार लोप हो 'दुह्' शब्द निष्पन्न होता है। अब इस से स्वादियों की उत्पत्ति होनी है—

'दुह्+स्' (सुँ) यहां हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सकार का लोप हो 'दुह्' इस अवस्था में हो ढः (२५१) सूत्र प्राप्त होना है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२५२) दादेर्धातोर्घः।८।२।३२॥

झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्यात्॥

अर्थः—उपदेश में जो दकारादि धातु, उस के हकार को घकार हो जाता है झल् परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—दादेः।६।१। धातोः।६।१। हः।६।१। (हो ढः से)। घः।१।१। झलि।७।१। (झलो झलि से)। पदस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। अन्ते।७।१। (स्कोः० से)। यहां भाष्यकार के व्याख्यान से उपदेश में ही 'दादि' ग्रहण किया जाता है। समासः—दः=दकारः, आदौ आदिर्वा यस्य स दादिस्तस्य दादेः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (दादेः) उपदेश में दकार आदि वाली (धातोः) धातु के (हः) हकार के स्थान पर (घः) घ् आदेश हो जाता हैं। घकार में अकार उच्चारणार्थ है। यह सूत्र यद्यपि हो ढः (८.२.३१) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है; तथापि वचनसामर्थ्य से यह उस का अपवाद है—अपवादो वचनप्रामाण्यात्।

'उपदेश' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'अधोक्' यहां दुह् के अजादि होने पर भी घत्व हो जाये और 'दामलिट्' यहां दादि धातु होने पर भी घत्व न हो।[1]

---

१. 'अधोक्' यह 'दुह्' धातु के लँङ् लकार के प्रथम वा मध्यमपुरुष का एकवचन है। दादेर्धातोर्घः में 'उपदेश' ग्रहण न करने से 'अदोह्' इस स्थिति में हकार को घकार नहीं हो सकता; क्योंकि 'दुह्' धातु को अट् का आगम होने से यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते परिभाषा के अनुसार वह अजादि हो गई है, दादि नहीं रही; पुनः यदि यहां 'उपदेश' ग्रहण करते हैं तो हकार को घकार हो जाता है; क्योंकि उपदेश=आद्योच्चारण में तो यह दादि ही थी, अजादि तो बाद=दूसरे उच्चारण में बनी है। घकार करने पर एकाचः० (२५३) सूत्र से दकार को धकार हो जश्त्व चर्त्व करने से—'अधोक्-ग्' ये दो रूप सिद्ध हो जाते—हैं। इसी

'दुह्' यह उपदेश में दादि धातु[1] है। अतः इस सूत्र से पदान्त में हकार को घकार हो कर—'दुघ्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२५३) **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः** ।८।२।३७॥

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् स्यात्, से ध्वे पदान्ते च। धुक्, धुग्। दुहौ। दुहः। धुग्भ्याम्। धुक्षु॥

अर्थः—धातु का अवयव जो झषन्त एकाच्, उस के बश् को भष् हो, सकार अथवा ध्व परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—धातोः।६।१। (दादेर्धातोर्घः से)। एकाचः।६।१। बशः।६।१। भष्।१।१। झषन्तस्य।६।१। स्ध्वोः।७।२। पदस्य।६।१। (अधिकृत है)। अन्ते।७।१। (स्कोः संयोगाद्योरन्ते च से)। अन्वय—धातोः (अवयवस्य) एकाचो झषन्तस्य बशो भष् (स्यात्) स्ध्वोः पदस्य अन्ते (च)। अर्थ—(धातोः) धातु के अवयव (एकाचः) एक अच् वाले (झषन्तस्य) झषन्त भाग के (बशः) बश् अर्थात् ब, ग्, ड्, द् वर्णों के स्थान पर (भष्) भष् अर्थात् भ्, घ्, ढ्, ध् वर्ण हो जाते हैं (स्ध्वोः) सकार अथवा ध्व शब्द परे हो या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में।

इस सूत्र के अर्थ में हम ने अनुवृत्तिलब्ध 'धातोः' पद का 'एकाचः झषन्तस्य' के साथ सामानाधिकरण्य नहीं किया। अर्थात् 'एक अच् वाली झषन्त धातु के बश् को भष् हो' इस प्रकार का अर्थ नहीं किया। ऐसा अर्थ करने से यह दोष प्राप्त होता था कि जहां एक अच् वाली धातु न होती वहां भष् प्राप्त न होता[2]। यथा—'गर्दभ' शब्द से तत्करोति तदाचष्टे (चुरा० ग० सू०) द्वारा णिच् प्रत्यय करने पर सनाद्यन्ता धातवः (४६८) से धातुसञ्ज्ञा हो कर कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने से 'गर्दभ्' शब्द निष्पन्न होता है। यहां एक अच् वाली धातु न होने से भष्भाव प्राप्त नहीं होता। परन्तु हम भष्भाव कर 'गर्धप्' रूप बनाना अभीष्ट है। अतः यहां 'धातोः' पद का 'एकाचः झषन्तस्य' इस के साथ अवयव-अवयवी सम्बन्ध करना ही युक्त है। अर्थात् 'धातु का अवयव जो एकाच् झषन्त, उस के बश् को भष् हो' ऐसा अर्थ करना

प्रकार—'दामलिह्' शब्द में उपदेश में धातु के दादि न होकर लकारादि होने से घत्व नहीं होता। हो ढः (२५१) से ढत्व हो जश्त्व चर्त्व करने पर—'दामलिट्-ड्' सिद्ध होते हैं। दाम लेढीति दामलिट्, दामलिहमात्मन इच्छतीति-दामलिट्। इस की विशेष प्रक्रिया सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

१ क्विबन्ता विडन्ता विजन्ता शब्दा धातुत्वं न जहति (क्विबन्त, विडन्त और विजन्त शब्दों की धातुसञ्ज्ञा बनी रहती है) इस परिभाषानुसार यहां 'दुह्' की धातुसञ्ज्ञा पूर्ववद् अक्षुण्ण है।

२ यदि एकाच् अनेकाच् सब धातुओं में भष्भाव करना है तो—'एकाचः' की क्या आवश्यकता है? यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'एकाचः' ग्रहण न करने से ढत्व कर चुकने पर 'दामलिड्' में भी अनिष्ट भष्भाव प्राप्त होगा।

चाहिये। ऐसा करने से—'गर्दभ्' इस धातु का अवयव एकाच् झषन्त 'दभ्' हो जाता है। इस से उस के दकार को धकार सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र का स्थूल तात्पर्य यह है कि स् या ध्व परे होने पर या पदान्त में यदि किसी धातु के एकाच् अंश के अन्त में झष् अर्थात् वर्गचतुर्थ वर्ण होगा तो धातु के उसी अंश के अन्तर्गत ब्, ग्, ड्, द् को क्रमशः भ्, घ्, ढ्, ध् वर्ण हो जायेंगे। यथा—बुध् का भुध्, गुढ् का घुढ्, दुघ् का धुघ्, गर्दभ् का गर्धभ् हो जायेगा। सकार या ध्व परे होने पर उदाहरण आगे तिङन्तप्रकरण में—भोत्स्यते, घोक्ष्यते, अधुद्ध्वम्, अधुग्ध्वम् आदि आयेंगे। यहां प्रकृत में पदान्त के उदाहरण प्रस्तुत हैं।

'दुघ्' यह व्यपदेशिवद्भाव[1] से धातु का अवयव है और एकाच् झषन्त भी है, अतः यहां पदान्त में इस के बश्—दकार को स्थानकृत आन्तर्य से धकार हो कर 'धुघ्' हुआ। अब जश्त्व (६७) और वैकल्पिक चर्त्व (१४६) करने से—'धुक्, धुग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

भ्याम् में—'दुह् + भ्याम्' इस स्थिति में पदान्त में हकार को घकार एकाचः० (२५३) से दकार को धकार तथा जश्त्व—गकार हो कर 'धुग्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार भिस् में 'धुग्भिः' और भ्यस् में 'धुग्भ्यः' सिद्ध होते हैं।

दुह् + सु (सुप्)। यहां भी पदान्त में घकारादेश, भष्त्व से दकार को धकार तथा झलां जशोऽन्ते (६७) से जश्त्व—गकार और खरि च (७४) से चर्त्व-ककार कर षत्व करने से 'धुक्षु' सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	धुक्,ग्	दुहौ	दुहः	प० दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
द्वि०	दुहम्	,,	,,	ष० ,,	दुहोः	दुहाम्
तृ०	दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः	स० दुहि	,,	धुक्षु
च०	दुहे	,,	धुग्भ्यः	सं० हे धुक्,ग्!	हे दुहौ!	हे दुहः!

इसी प्रकार—गोदुह् (गौ दोहने वाला = ग्वाला), अजादुह् (बकरी दोहने वाला), दह् (जलाने वाली = अग्नि), आश्रयदह् (अग्नि), काष्ठदह् (अग्नि) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] विधि-सूत्रम् (२५४) वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम् ।८।२।३३॥

एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। एवम्—मुक्, मुग्, मुट्, मुड् इत्यादि॥

अर्थः—द्रुह्, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह्—इन धातुओं के हकार को झल् परे होने पर या पदान्त में विकल्प कर के घकार हो जाता है।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम् ।६।३। हः ।६।१। (हो ढः से)। घः ।१।१। (दादेर्धातोर्घः से)। झलि ।७।१। (झलो झलि से)। पदस्य

१. इस का विवेचन आद्यन्तवदेकस्मिन् (२७८) सूत्र पर देखें।

।६।१। (यह अधिकृत है)। अन्ते ।७।१। (स्को० से)। समास —द्रुहश्च मुहश्च ष्णुहश्च ष्णिट् च =द्रुह मुह ष्णुह-ष्णिह, तेषाम् =द्रुह मुह ष्णुह ष्णिहाम्। इतरेतरद्वन्द्व। द्रुहादिषु त्रिषु अकार उच्चारणार्थं। अर्थ —(द्रुह मुह ष्णुह ष्णिहाम्) द्रुह्, मुह्, ष्णुह और ष्णिह् धातुओं के (ह) हकार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (घ) घकार आदेश होता है (झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त मे।

'द्रुह्' मे दादेर्धातोर्घः (२५२) द्वारा घत्व के नित्य प्राप्त होने पर तथा अन्यो मे दादि न होने से घत्व के अप्राप्त होने पर इस सूत्र से वैकल्पिक घत्व किया जाता है, अतः यह प्राप्ताऽप्राप्तविभाषा है।

द्रुह्=द्रोह करने वाला (द्रुह्यतीति ध्रुक्)। द्रुह जिघांसायाम् (दिवा० प०) धातु से कर्ता मे क्विप् प्रत्यय कर उस का सर्वापहार लोप करने से 'द्रुह्' शब्द निष्पन्न होता है।

द्रुह+स् (सुँ)। यहां हल्ङ्याब्भ्यो० (१७९) सूत्र से सकारलोप हो कर पदान्त मे हकार को वा द्रुह०(२५४) सूत्र द्वारा वैकल्पिक घकार तथा घकाराभावपक्ष में हो ढः (२५१) सूत्र से ढकार कर दोनों पक्षों मे एकाच०(२५३) सूत्र से दकार को धकार हो गया तो—ध्रुघ्, ध्रुढ्। अब झलां जशोऽन्ते (६७) से जश्त्व तथा वाऽवसाने (१४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व करने से—'१ ध्रुक्, २ ध्रुग्, ३ ध्रुट्, ४ ध्रुड्—ये चार रूप सिद्ध होते हैं।

'द्रुह्+भ्याम्' यहां पदान्त हकार को घकार तथा पक्ष मे ढकार हो कर दोनों पक्षों मे एकाच० (२५३) से दकार को धकार हो जाता है। पुनः झलां जशोऽन्ते (६७) से दोनों पक्षों मे जश्त्व हो कर—'१ ध्रुग्भ्याम्, २ ध्रुड्भ्याम्' ये दो रूप बनते हैं। इसी प्रकार भिस् और भ्यस् मे भी दो २ रूप होते हैं।

द्रुह्+सु (सुप्)। यहां वा द्रुह०(२५४) से पदान्त हकार को वैकल्पिक घकार हो कर एकाचो बशो० (२५३) सूत्र से दकार को धकार, जश्त्व से घकार को गकार, षत्व से सु के सकार को षकार तथा चर्त्व से गकार को ककार करने से—ध्रुक्षु='ध्रुक्षु' रूप सिद्ध होता है। घत्वाभाव मे—पदान्त हकार को हो ढः (२५१) से ढकार, भष्त्व से दकार को धकार, जश्त्व से ढकार को डकार, डः सि धुँट् (८४) से वैकल्पिक धुँट् आगम, अनुबन्धलोप तथा खरि च (७४) से चर्त्व करने पर—'१ ध्रुट्त्सु, २. ध्रुट्सु' ये दो रूप बनते हैं। तो इस प्रकार कुल मिला कर—'१ ध्रुक्षु, २ ध्रुट्त्सु ३ ध्रुट्सु' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्रथमा	ध्रुक्,-ग्, ध्रुट्,-ड्	द्रुहौ	द्रुहः
द्वितीया	द्रुहम्	,,	,,
तृतीया	द्रुहा	ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भिः, ध्रुड्भिः
चतुर्थी	द्रुहे	,, ,,	ध्रुग्भ्यः, ध्रुड्भ्यः
पञ्चमी	द्रुहः	,, ,,	,, ,,
षष्ठी	,,	द्रुहोः	द्रुहाम्

सप्तमी	द्रुहि	द्रुहोः	ध्रुक्षु, ध्रट्त्सु, ध्रुट्सु
सम्बोधन	हे ध्रुक्,-ग्,ध्रुट्,-ड्!	हे द्रुहौ!	हे द्रुहः!

इसीप्रकार—मित्त्रद्रुह् (मित्त्राय द्रुह्यति=मित्रद्रोही) आदि शब्दों के रूप होते हैं।

मुह वैचित्ये (दिवा० प०) धातु से क्विँप् तथा उस का सर्वापहार लोप करने से 'मुह्' (मोह करने वाला) शब्द निष्पन्न होता है। इस की प्रक्रिया 'द्रुह्' शब्दवत् होती है, केवल भष्भाव नहीं होता। रूपमाला यथा—

प्रथमा	मुक्,-ग्, मुट्,-ड्	मुहौ	मुहः
द्वितीया	मुहम्	,,	,,
तृतीया	मुहा	मुग्भ्याम्, मुड्भ्याम्	मुग्भिः, मुड्भिः
चतुर्थी	मुहे	,, ,,	मुग्भ्यः, मुड्भ्यः
पञ्चमी	मुहः	,, ,,	,, ,,
षष्ठी	,,	मुहोः	मुहाम्
सप्तमी	मुहि	,,	मुक्षु, मुट्त्सु, मुट्सु
सम्बोधन	हे मुक्,-ग्, मुट्,-ड्!	हे मुहौ!	हे मुहः!

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२५५) **धात्वादेः षः सः** ।६।१।६२॥

(धातोरादेः षस्य सः स्यात्)। स्नुक्, स्नुग्, स्नुट्, स्नुड्। एवं स्निक्, स्निग्, स्निट्, स्निड्। विश्ववाट्, विश्ववाड्। विश्ववाहौ। विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहौ॥

अर्थः—धातु के आदि षकार के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—धात्वादेः।६।१। षः।६।१। सः।१।१। समासः—धातोर् आदिः= धात्वादिः। तस्य=धात्वादेः, षष्ठीतत्पुरुषः। स इत्यत्र अकार उच्चारणार्थः। अर्थः— (धात्वादेः) धातु के आदि (षः) ष् के स्थान पर (सः) स् आदेश होता है।

'धातु' कहने से 'षोडशः, षट्' आदि में षकार को सकार नहीं होता तथा 'आदि' कथन से 'कर्षति' आदियों में धातु के अन्त्य षकार को सकार नहीं होता।

ष्णुह उद्गिरणे (दिवा० प०), ष्णिह प्रीतौ (दिवा० प०) इन धातुओं के आदि षकार को प्रकृत-सूत्र से सकार हो कर णकार को भी नकार हो जाता है। क्योंकि यह नियम है कि—**निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** अर्थात् (निमित्त-अपाये) निमित्त=कारण के नाश होने पर (नैमित्तिकस्य) नैमित्तिक—उस निमित्त से उत्पन्न हुए कार्य का भी (अपायः) नाश हो जाता है[1]। यहां षकार से परे होने के कारण ही नकार को **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (२६७) से णकार हुआ था। जब निमित्त षकार ही न रहा तब नैमित्तिक कार्य णकार भी न रहा पुनः नकार हो गया।

स्नुह, स्निह—दोनों से कर्त्ता में क्विँप् हो कर उस का सर्वापहार लोप करने

१. यहां नाश से तात्पर्य पुनः पूर्वावस्था में आ जाना है, लोप नहीं।

द्रुह्, स्निह्' शब्द सिद्ध होते हैं। इन दोनो की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'द्रुह्' शब्द के समान होती है। केवल **एकाचो बशो भष्०** (२५३) से भष्भाव नही होता। स्नुह् (स्नुह्यतीति स्नुक् वमन करने वाला) शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	स्नुक्-ग्, स्नुट्-ड्	स्नुहौ	स्नुहः
द्वितीया	स्नुहम्	"	"
तृतीया	स्नुहा	स्नुग्भ्याम्, स्नुड्भ्याम्	स्नुग्भिः, स्नुड्भिः
चतुर्थी	स्नुहे	" "	स्नुग्भ्यः, स्नुड्भ्यः
पञ्चमी	स्नुहः	" "	" "
षष्ठी	"	स्नुहोः	स्नुहाम्
सप्तमी	स्नुहि	"	स्नुक्षु, स्नुट्त्सु स्नुट्सु
सम्बोधन	हे स्नुक्-ग् ट्-ड्!	हे स्नुहौ!	हे स्नुहः!

इसीप्रकार स्निह् (स्निह्यतीति स्निक्, स्नेह करने वाला) के रूप चलते हैं।

विश्ववाह् (जगत् को धारण करने वाला, भगवान्)। विश्वं वहतीति विश्ववाट्। विश्वकर्मोपपद **वहँ प्रापणे** (भ्वा० उ०) धातु से कर्त्ता मे **वहश्च** (३.२.६४) सूत्र द्वारा ण्विँ प्रत्यय, णित्त्व के कारण उपधावृद्धि तथा ण्विँ के चले जाने पर उपपदसमास करने से 'विश्ववाह्' शब्द निष्पन्न होता है।

'विश्ववाह्' शब्द के सर्वनामस्थान प्रत्ययों मे लिह्शब्दवत् रूप बनते हैं। भसञ्ज्ञकों मे कुछ विशेष होता है। वह अग्रिम सूत्रो मे बताया जाता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—**(२५६) इग्यणः सम्प्रसारणम् ।१।१।४४॥**

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक्, स सम्प्रसारणसञ्ज्ञः स्यात् ॥

अर्थः—यण् के स्थान पर विधान किया इक् सम्प्रसारणसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—इक् ।१।१। यणः ।६।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। अर्थः—(यणः) यण् के स्थान पर विधान किया (इक्) इक् (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारणसञ्ज्ञक होता है। यहां यथासङ्ख्य अथवा स्थानकृत आन्तर्य से यकारस्थानिक इवर्ण, वकारस्थानिक उवर्ण, रेफस्थानिक ऋवर्ण तथा लकारस्थानिक लृवर्ण सम्प्रसारणसञ्ज्ञक होगा।

इस शास्त्र मे सम्प्रसारण का दो प्रकार के स्थानों पर उपयोग किया जाता है। एक विधिसूत्रों मे और दूसरा अनुवादसूत्रों मे। जिन सूत्रों मे सम्प्रसारण का साक्षात् विधान किया जाता है वे विधिसूत्र कहाते हैं। यथा—**वाह ऊठ्** (२५७) भसञ्ज्ञक वाह् के स्थान पर सम्प्रसारण ऊठ् हो। **वचिस्वपि०** (५४७) वच्, स्वप् और यजादि धातुओं को कित् परे होने पर सम्प्रसारण हो। इत्यादि। जहां सम्प्रसारण का नाम ले कर कोई अन्य कार्य किया जाता है वहां सम्प्रसारण का अनुवाद होता है। यथा—**सम्प्रसारणाच्च** (२५८) सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो। **हलः** (८१६) हल् से परे सम्प्रसारण को दीर्घ हो। इत्यादि।

यण्स्थानिक इक् की सम्प्रसारणसञ्ज्ञा होने से अनुवादस्थलों मे कोई बाधा

उपस्थित नहीं होती; क्योंकि सर्वत्र सम्प्रसारण विद्यमान रहने से अन्य कार्य अबाध हो जाते हैं। परन्तु विधिस्थलों में महान् झगड़ा उपस्थित हो जाता है; क्योंकि सदैव यह नियम होना है कि प्रथम सञ्ज्ञी वर्त्तमान रहता है और बाद में उस की सञ्ज्ञा की जाती है। इस नियमानुसार पहले यण्स्थानिक इक् वर्त्तमान होना चाहिये और पीछे सम्प्रसारणसञ्ज्ञा का विधान करना चाहिये। इस प्रकार **वाह ऊठ्** (२५७) द्वारा वाह् में तब सम्प्रसारण होगा जब यण्स्थानिक इक् होगा। परन्तु यण्स्थानिक इक् तब हो सकता है जब कि वाह ऊठ् (२५७) सूत्र प्रवृत्त हो कर सम्प्रसारण कर दे। इस प्रकार यहां अन्योऽन्याश्रय दोष आ कर महान् झगड़ा उपस्थित हो जाता है। क्योंकि अन्योऽन्याश्रय कार्य हो नहीं सकते। जब पहला हो तब उस का आश्रित दूसरा हो और जब दूसरा हो तब उस का आश्रित पहला हो। इस दशा में कोई भी नहीं हो सकता। भाष्यकार ने भी कहा है — **इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते।**

इस झगड़े को उपस्थित देख भाष्यकार **सूत्रशाटकन्याय** के आश्रय से इस का समाधान करते हैं। उन का कथन है कि जैसे कोई पुरुष सूत ले कर जुलाहे के पास जा कर कहता है कि **अस्य सूत्रस्य शाटकं वय** इस सूत का वस्त्र बुन। अब यहां 'वस्त्र बुन' पर यह सन्देह होता है कि यदि यह वस्त्र है तो बुनना कैसे ? क्योंकि वस्त्र बुना नहीं जा सकता। और यदि यह बुनने योग्य है तो वस्त्र कैसा ? क्योंकि बुनना वस्त्र में सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार विरोध आने पर लोक में भावी सञ्ज्ञा का आश्रय किया जाता है। अर्थात् उस पुरुष का यह आशय समझा जाता है कि 'इस को ऐसा बुन जिस से यह वस्त्र हो जाये।' इसी प्रकार यहां विधिप्रदेशों में भी भावी सञ्ज्ञा का आश्रयण करना चाहिये। यथा—**वाह ऊठ्** (२५७) भसञ्ज्ञक वाह् के स्थान पर ऐसा करो कि जिस से किया हुआ कार्य सम्प्रसारणसञ्ज्ञक हो जाये। तो इस प्रकार विधिप्रदेशों में दोष का परिहार हो जाता है।

अब इस प्रकरण में सम्प्रसारणसञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२५७) वाह ऊठ्।६।४।१३२॥

भस्य वाहः सम्प्रसारणम् ऊठ्॥

अर्थः—भसञ्ज्ञक 'वाह्' के स्थान पर सम्प्रसारण ऊठ् हो।

व्याख्या—भस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। वाहः।६।१। सम्प्रसारणम्।१।१। (**वसोः सम्प्रसारणम्** से)। ऊठ्।१।१। अर्थः—(भस्य) भसञ्ज्ञक (वाहः) वाह् के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (ऊठ्) ऊठ् हो। पूर्वसूत्रानुसार वाह् के वकार को ही ऊठ् होगा।

विश्ववाह्+अस् (शस्)। यहां **यचि भम्** (१६५) से वाह् की भसञ्ज्ञा है; अतः प्रकृतसूत्र से इस के वकार को ऊठ् हो जाता है। ऊठ् के ठकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञा और **तस्य लोपः** (३) से लोप हो कर 'विश्व ऊ आह्+अस्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२५८) सम्प्रसारणाच्च ।६।१।१०४॥

सम्प्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः । वृद्धिः—विश्वौहः । इत्यादि ॥

अर्थः—सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप हो ।

व्याख्या—सम्प्रसारणात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । अचि ।७।१। (इको यणचि से) । पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। (एकः पूर्वपरयोः यह अधिकृत है) । पूर्वः ।१।१। (अमि पूर्वः से) । अर्थः—(सम्प्रसारणात्) सम्प्रसारण से (अचि) अच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्वरूप आदेश हो ।

'विश्व ऊ आह्+अस्' यहां 'ऊ' यह सम्प्रसारण है, इस से परे 'आ' यह अच् वर्त्तमान है, अतः पूर्व (ऊ) और पर (आ) के स्थान पर एक पूर्वरूप 'ऊ' हो कर 'विश्व ऊ ह्+अस्' हुआ । अब एत्येधत्यूठ्सु (३४) सूत्र से वकारोत्तर अकार और ऊठ् के ऊकार के स्थान पर 'औ' वृद्धि हो कर—सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग करने से 'विश्वौहः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे सर्वत्र भसञ्ज्ञकों में प्रक्रिया होती है । 'विश्ववाह्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	विश्ववाट्-ड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः
द्वितीया	विश्ववाहम्	,,	विश्वौहः
तृतीया	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः
चतुर्थी	विश्वौहे	,,	विश्ववाड्भ्यः
पञ्चमी	विश्वौहः	,,	,,
षष्ठी	,,	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
सप्तमी	विश्वौहि	,,	विश्ववाट्त्सु ट्सु
सम्बोधन	हे विश्ववाट्-ड्!	हे विश्ववाहौ!	हे विश्ववाहः!

इसी प्रकार—१. रथवाह् (रथ हांकने वाला), २. शकटवाह् (छकड़ा हांकने वाला), ३. भारवाह् (भार उठाने वाला), ४. उष्ट्रवाह् (ऊंट हांकने वाला), ५. प्रष्ठवाह् (सिखाने के लिये जोते हुए बैल आदि) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं[1] ।

अनडुह्=बैल [अनः=शकटं वहतीत्यनड्वान्] । अनडुह् शब्द पाणिनीयगण-पाठ में पाञ्च बार प्रयुक्त हुआ है । [१. उरःप्रभृति, २. ऋश्यादि, ३. कुमुदादि(?), ४. गर्गादि, ५. शरत्प्रभृति] । शाकटायन के उणादिसूत्रों में इस की सिद्धि नहीं की गई । महाराज-भोजप्रणीत सरस्वतीकण्ठाभरण के अनसि वहेः क्विप् डश्चानसः (अ० २ पा० १ सू० ३४६) इस औणादिक-सूत्र द्वारा अनस्कर्मोपपद 'वह्' धातु से क्विप् प्रत्यय, अनस् के सकार को डकारादेश, क्विब्लोप, वचिस्वपि०(५४७) द्वारा सम्प्र-

---

१. कई लोग—वारिवाह्, भूवाह्, प्रभृति अनकारान्तोपपद शब्दों की कल्पना करते हैं, परन्तु ऐसे शब्द प्रामाणिक नहीं हैं [देखें—(६.४.१३२) पर भाष्य, प्रदीप, तत्त्वबोधिनी] ।

सारण तथा सम्प्रसारणाच्च (२५८) से पूर्वरूप करने पर 'अनडुह्' शब्द निष्पन्न होता है।

अनडुह् + स् (सुँ)। यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२५९) **चतुरनडुहोरामुदात्तः ।७।१।९८॥**

अनयोराम् स्यात्सर्वनामस्थाने परे ॥

अर्थः—सर्वनामस्थान परे हो तो चतुर् और अनडुह् शब्दों का अवयव आम् हो।

व्याख्या—चतुरनडुहोः ।६।२। आम् ।१।१। उदात्तः ।१।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। (इतोऽत्सर्वनामस्थाने से)। अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (चतुरनडुहोः) चतुर् और अनडुह् शब्दों का अवयव (उदात्तः) उदात्त (आम्) आम् हो जाता है। 'आम्' मित् है, क्योंकि हलन्त्यम् (१) से इस के मकार की इत्संज्ञा होती है। अतः यह मिदचोऽन्त्यात्परः (२४०) के अनुसार चतुर् और अनडुह् शब्दों के अन्त्य अच् से परे होगा। ग्रन्थकार ने 'उदात्त' शब्द स्वरप्रकरणोपयोगी जान कर वृत्ति में छोड़ दिया है। लघुसिद्धान्तकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है।

'अनडुह् + स्' यहां 'सुँ' यह सर्वनामस्थान परे है अतः अनडुह् शब्द के अन्त्य अच्=उकार से परे आम् का आगम हो कर—'अनडु आम् ह् + स्' हुआ। अब अनुबन्ध मकार का लोप हो कर **इको यणचि** (१५) से यण् हो जाता है। तब 'अनड्वाह् + स्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२६०) **सावनडुहः ।७।१।८२॥**

अस्य नुँम् स्यात्सौ परे। अनड्वान् ॥

अर्थः—सुँ परे हो तो अनडुह् शब्द का अवयव नुँम् हो जाता है।

व्याख्या—सौ ।७।१। अनडुहः ।६।१। नुँम् ।१।१। (आच्छीनद्योर्नुम् से)। अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (अनडुहः) अनडुह् शब्द का अवयव (नुँम्) नुम् हो जाता है।

यहां यह सन्देह होता है कि **चतुरनडुहोः०** (२५९) सूत्र का **सावनडुहः** (२६०) सूत्र अपवाद है। क्योंकि दोनों का विषय एक है अर्थात् दोनों अनडुह् शब्द को आगम करते हैं। इन में से प्रथम (**चतुरनडुहोः०**) सम्पूर्ण सर्वनामस्थान में विहित होने से उत्सर्ग और दूसरा (**सावनडुहः**) केवल सर्वनामस्थानान्तर्गत 'सुँ' में विहित होने से उस का अपवाद होने योग्य है। अतः सुँ में **सावनडुहः** (२६०) सूत्र ही प्रवृत्त होना चाहिये, **चतुरनडुहोः०** (२५९) नहीं। क्योंकि उत्सर्ग की प्रवृत्ति अपवादविषय को छोड़ कर ही हुआ करती है—प्रकल्प्य **चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते**।

इस का उत्तर यह है कि **आच्छीनद्योर्नुम्** (३६५) सूत्र से यहां 'आत्' की अनुवृत्ति आती है। जिस से—'सुँ परे होने पर अनडुह् को नुँम् का आगम होता है परन्तु वह अवर्ण से परे होता है'—ऐसा अर्थ हो जाता है। तो अब यदि आम् का

आगम नहीं करते तो अनडुह् शब्द में अवर्ण नहीं आ सकता, और यदि अवर्ण नहीं आता तो नुँम् प्रवृत्त नहीं हो सकता। अत नुँम् को अपनी प्रवृत्ति के लिये विवश हो कर आम् को छूट देनी पडती है। अत प्रथम आम् होकर पश्चात् नुँम् होता है। इन मे उत्सर्ग-अपवादभाव नहीं होता।

अनड्वाह्+स्' यहा आकार से परे नुँम् हो कर अनुबन्धो (उकार,मकार) के चले जाने पर—'अनड्वान् ह्+स्' हुआ। अब हल्ङ्याब्भ्य.० (१७९) सूत्र से सकार का तथा संयोगान्तस्य लोप. (२०) सूत्र से हकार का लोप हो कर 'अनड्वान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि संयोगान्तलोप (८ २ २३) असिद्ध है अत न लोप प्रातिपदिकान्तस्य (८ २ ७) सूत्र से नकार का लोप नहीं होगा।

हे अनडुह्+स् (सुँ)। यहा सम्बुद्धि में आम् (२५९) प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२६१) अम् सम्बुद्धौ ।७।१।९९॥

(चतुरनडुहोरम् स्यात्सम्बुद्धौ)। हे अनड्वन्!। अनड्वाहौ। अनड्वाह। अनडुहः। अनडुहा॥

अर्थ.—सम्बुद्धि परे हो तो चतुर् और अनडुह् शब्दो का अवयव अम् हो।

व्याख्या—चतुरनडुहो.।६।२। (चतुरनडुहोरामुदात्त. से)। अम् ।१।१। सम्बुद्धौ ।७।१। अर्थ—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (चतुरनडुहो) चतुर् और अनडुह् का अवयव (अम्) अम् हो जाता है।

यह सूत्र चतुरनडुहो० (२५९) सूत्र का अपवाद है। इस के प्रवृत्त होने पर भी सावनडुहः (२६०) द्वारा नुँम् हो जाता है। क्योंकि वहा 'आत्' की अनुवृत्ति आने से वह अवर्ण से परे होता है।

'हे अनडुह्+स्' यहा सम्बुद्धि परे है अत मिदचोऽन्त्यात्परः (२४०) के नियमानुसार अम्सम्बुद्धौ (२६१) द्वारा अनडुह् के अन्त्य अच्-उकार से परे अम् का आगम हो कर यण् करने से 'अनड्वह्+स्' हुआ। पुन सावनडुह (२६०) सूत्र से नुँम् का आगम कर सकारलोप और संयोगान्तलोप करने से—'हे अनड्वन्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अनडुह्+औ=अनडु आम् ह्+औ=अनड्वाहौ। अनड्वाह.। अनड्वाहम्। अनड्वाहौ। शस् मे सर्वनामस्थान परे न होने के कारण आम् का आगम नहीं होता—अनडुह। 'अनडुह्+भ्याम्' यहां स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) सूत्र से अनडुह् की पदसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(२६२) वसुँस्रंसुँध्वंस्वनडुहां द. ।८।२।७२॥

सान्तवस्वन्तस्य स्रसादेश्च द. स्यात्पदान्ते। अनडुद्भ्याम् इत्यादि। सान्तेति किम्? विद्वान्। पदान्तेति किम्? स्रस्तम्, ध्वस्तम्॥

अर्थः—पद के अन्त में सान्त वसुँप्रत्ययान्त को तथा स्रंसुँ, ध्वंसु और अनडुह् शब्दों को दकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—सः ।६।१। (ससजुषो रुः का एक अंश)। वसुँस्रंसुँध्वंस्वनडुहाम् ।६।३। पदानाम् ।६।३। (पदस्य इस अधिकृत का यहां वचनविपरिणाम हो जाता है)। दः ।१।१। समासः—वसुँश्च स्रंसुँश्च ध्वंसुँश्च अनड्वान् च = वसुँस्रंसुँध्वंस्वनडुहः, तेषाम् = वसुँस्रंसुँध्वंस्वनडुहाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। 'सः' यह 'वसुँ' अंश का ही विशेषण है। स्रंसुँ और ध्वंसुँ में किसी प्रकार का दोष न आने से तथा अनडुह् का असम्भव होने से विशेषण नहीं बन सकता। विशेषण होने से 'सः' से तदन्तविधि हो जाती है। शतृ के स्थान पर आदेश होने से स्थानिवद्भाव से 'वसुँ' भी प्रत्ययसञ्ज्ञक है अतः प्रत्यय होने से उस से भी तदन्तविधि हो जाती है। स्रंसुँ आदि भी 'पद' के विशेषण होने से तदन्तविधि को प्राप्त होते है। अर्थः—(सः) सान्त (वसुँस्रंसुँध्वंस्वनडुहाम्) वसुँप्रत्ययान्त और स्रंसुँ ध्वंसुँ तथा अनडुह् अन्त वाले (पदानाम्) पदों को (दः) दकार आदेश होता है। दकार में अकार उच्चारणार्थ है, आदेश 'द्' ही होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह दकारादेश पद के अन्त को ही होता है।

'अनडुह् + भ्याम्' यहां व्यपदेशिवद्भाव से अथवा **पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च** (पृष्ठ २१३) के अनुसार अनडुह् के अन्त्य हकार को प्रकृत सूत्र से दकार आदेश होकर 'अनडुद्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार भिस् में 'अनडुद्भिः' तथा भ्यस् में 'अनडुद्भ्यः' रूप बनता है। सुप् में दकारादेश हो कर **खरि च** (७४) से चर्त्व हो जाता है—अनडुत्सु। अनडुह् शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
द्वितीया	अनड्वाहम्	,,	अनडुहः
तृतीया	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
चतुर्थी	अनडुहे	,,	अनडुद्भ्यः
पञ्चमी	अनडुहः	,,	,,
षष्ठी	,,	अनडुहोः	अनडुहाम्
सप्तमी	अनडुहि	,,	अनडुत्सु
सम्बोधन	हे अनड्वन्!	हे अनड्वाहौ!	हे अनड्वाहः!

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि **ससजुषो रुः** (१०५) सूत्र से 'सः' पद की अनुवृत्ति ला कर 'वसुँ' का विशेषण बना कर तदन्तविधि कर 'सान्त वस्वन्त' क्यों कहा गया है? जब कि वह है ही सकारान्त? इसका उत्तर यह है कि यदि 'सान्त' न कहते, केवल वस्वन्त को ही दकारादेश करते तो 'विद्वान्' यहां पर भी नकार को दकार आदेश हो जाता; क्योंकि यह भी वस्वन्त है। अब सूत्र में 'सान्त' कथन से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि 'विद्वान्' यह सान्त नहीं किन्तु नान्त वस्वन्त है। 'विद्वान्' कैसे वस्वन्त है? यह आगे 'विद्वस्' शब्द पर इसी प्रकरण में स्पष्ट हो जायेगा।

पदान्त अर्थात् पद के अन्त को आदेश कहने से 'स्रस्+तम्=स्रस्तम्, ध्वस्+तम्=ध्वस्तम्' यहां अपदान्त सकार को दकार आदेश नहीं होता। ध्यान रहे कि यहां क्रमशः स्रसुँ ध्वसुँ धातुओं से 'क्त' प्रत्यय हो कर अनिदितां हल उपधायाः० (३३४) सूत्र से अनुनासिक का लोप हुआ है।

वस्वन्तों मे दकारादेश के उदाहरण 'विद्वद्भ्याम्' आदि आगे आएंगे। स्रसुँ, ध्वसुँ दोनों भ्वादिगणीय सेट् आत्मनेपदी धातु हैं। एक का अर्थ 'गिरना' और दूसरे का अर्थ ध्वस होना='नाश होना' है। इन के उदाहरण उखास्रस् और पर्णध्वस् शब्द हैं। यथा—

उखास्रस्=बटलोई से गिरने वाला धान्यकण आदि। उखायाः स्रसत इत्युखास्रत्। कर्तरि क्विप्, उपपदसमास। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	उखास्रत्-द्	उखास्रसौ	उखास्रसः	पं०	उखास्रसः	उखास्रद्भ्याम् उखास्रद्भ्यः
द्वि०	उखास्रसम्	"	"	ष०	"	उखास्रसोः उखास्रसाम्
तृ०	उखास्रसा	उखास्रद्भ्याम्	उखास्रद्भिः	स०	उखास्रसि	" उखास्रत्सु
च०	उखास्रसे	"	उखास्रद्भ्यः	सं०	हे उखास्रत्-द्!	उखास्रसौ! उखास्रसः!

यहां सर्वत्र पदान्त में **वसुँ-स्रंसुँ०** (२६२) से दत्व हो जाता है।

पर्णध्वस्=पत्तों का नाश करने वाला। पर्णानि ध्वसत इति पर्णध्वत्। क्विप्, उपपदसमास। [सिद्धि और अर्थ विशेषरूप से (८०२) सूत्र पर देखें]।

रूपमाला यथा—

प्रथमा	पर्णध्वत्-द्	पर्णध्वसौ	पर्णध्वसः
द्वितीया	पर्णध्वसम्	"	"
तृतीया	पर्णध्वसा	पर्णध्वद्भ्याम्	पर्णध्वद्भिः
चतुर्थी	पर्णध्वसे	"	पर्णध्वद्भ्यः
पञ्चमी	पर्णध्वसः	"	"
षष्ठी	"	पर्णध्वसोः	पर्णध्वसाम्
सप्तमी	पर्णध्वसि	"	पर्णध्वत्सु
सम्बोधन	हे पर्णध्वत्-द्!	हे पर्णध्वसौ!	हे पर्णध्वसः!

यहां भी सर्वत्र पदान्त में पूर्ववत् दत्व हो जाता है।

तुरासाह्=इन्द्र। तुरम्=वेगवन्तं साहयति=अभिभवति इति तुराषाट्। तुरकर्मोपपदात् षहँ मर्षणे (भ्वा० आ०) इत्यस्माद्धातोः क्विप् च (८०२) इति क्विप्। उपपदसमासः। अन्येषामपि दृश्यते (६.३.१३६) इति दीर्घः। जो वेग वाले को दबा लेता है उसे 'तुरासाह्' कहते हैं। यह इन्द्र का नाम है।

तुरासाह्+स् (सुँ)। यहां हल्ङ्याब्भ्यो० (१७६) से सकारलोप हो कर हो ढः (२५१) सूत्र द्वारा हकार को ढकार तथा झलां जशोऽन्ते (६७) से ढकार को डकार करने पर—'तुरासाड्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२६३) सहेः साडः सः ।८।३।५६।।

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । तुराषाट्, तुराषाड् । तुरासाहौ । तुरासाहः । तुराषाड्भ्याम् इत्यादि ।।

अर्थः—सह् धातु से बने 'साड्' शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश हो।

व्याख्या—सहेः ।६।१। साडः ।६।१। सः ।६।१। मूर्धन्यः ।१।१। (अपदान्तस्य मूर्धन्यः से) । मूर्ध्नि भवः=मूर्धन्यः । शरीरावयवाच्च (१०९१) इति यत् । अर्थः—(सहेः) सह् धातु का जो (साडः) साड् उस के (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धा स्थान वाला वर्ण हो जाता है। सकार के स्थान पर आन्तर्य से ईषद्विवृत प्रयत्न वाला षकार ही मूर्धन्य होता है।

सह् का साड् रूप पदान्त में ही बनता है अतः पदान्त में सह् के सकार को मूर्धन्य आदेश हो—यह फलितार्थ हुआ।

'तुरासाड्' यहां 'साड्' यह सह् धातु से बना है। अतः इस के सकार को मूर्धन्य षकार हो कर वाऽवसाने (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'तुराषाट्, तुराषाड्' दो रूप बनते हैं। **तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः। कालनेमिवधात्प्रीत-स्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम्** (रघु० १५.४०) । रूपमाला यथा—

प्र०	तुराषाट्-ड्	तुरासाहौ	तुरासाहः
द्वि०	तुरासाहम्	,,	,,
तृ०	तुरासाहा	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भिः
च०	तुरासाहे	,,	तुराषाड्भ्यः
पं०	तुरासाहः	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भ्यः
ष०	,,	तुरासाहोः	तुरासाहाम्
स०	तुरासाहि	,,	तुराषाट्त्सु, ट्सु
सं०	हे तुराषाट्-ड्!	तुरासाहौ!	तुरासाहः!

इसी प्रकार—पृतनासाह् प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहियें।

(यहां हकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——::०::——

यद्यपि हकारान्त शब्दों के अनन्तर प्रत्याहारक्रम से यकारान्त शब्द आने चाहियें थे तथापि उन का विरलप्रयोग[1] तथा उन में किसी प्रकार का विशेषकार्य्य होता न देख कर ग्रन्थकार उन्हें छोड़ कर वकारान्त शब्दों का निरूपण करते हैं।

सुदिव्=अच्छे अर्थात् निर्मल आकाश वाला दिवस (दिन) आदि या अच्छे स्वर्ग वाला पुरुष आदि । 'दिव्' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है। इस का अर्थ आकाश वा स्वर्ग है। **द्यो-दिवौ द्वे स्त्रियाम्** इत्यमरः । सु=शोभना द्यौः=आकाशो नाको वा यस्य स सुद्यौः । इस प्रकार बहुव्रीहि-समास में 'सुदिव्' शब्द पुंल्लिङ्ग हो जाता है। प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर इस से स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

सुदिव्+स्(सुँ) में हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सकारलोप प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२६४) दिव औत् ।७।१।८४।।

दिव् इति प्रातिपदिकस्य औत् स्यात् सौ । सुद्यौः । सुदिवौ ।।

१. यथा व्याकरण में अय्, आय्, मय्, चय्, यय् आदि।

अर्थ —सुँ परे होने पर 'दिव्' इस प्रातिपदिक को औकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—दिव ।६।१। औत् ।१।१। सौ ।७।१। (सावनडुह से)। संस्कृत में दो 'दिव्' शब्द हैं। एक अव्युत्पन्न प्रातिपदिक और दूसरा 'दिवुँ क्रीडा-विजिगीषा०' (दिवा० प०) यह धातु। इस सूत्र में 'दिव्' इस अव्युत्पन्न प्रातिपदिक का ही ग्रहण होता है 'दिवुँ' धातु का नहीं। इस में कारण यह है कि—निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य (परिभाषा) अर्थात् यदि निरनुबन्ध (अनुबन्धहीन) का ग्रहण सूत्र में हो तो सानुबन्ध (अनुबन्धसहित) का ग्रहण नहीं करना चाहिये। यहां सूत्र में 'दिव' में उकारानुबन्धरहित 'दिव्' का ग्रहण किया है, अतः 'दिव्' इस प्रातिपदिक निरनुबन्ध का ही ग्रहण होगा, सानुबन्ध 'दिवुँ' का नहीं। 'औत्' में तकार उच्चारणार्थ है, आदेश 'औ' ही होता है। यदि तकार भी साथ आदेश होता तो अनेकाल् होने से सर्वादेश हो जाता। अर्थ —(दिव) दिव् इस प्रातिपदिक के स्थान पर (औत्) 'औ' आदेश हो (सौ) सुँ परे होने पर। यह सूत्र अङ्गाधिकार में पढ़ा गया है अतः दिव् और दिव्शब्दान्त दोनों को औकार आदेश होगा। ध्यान रहे कि अलोऽन्त्यपरिभाषा से दिव् के वकार को ही औकार आदेश होगा।

'सुदिव्+स्' यहां 'सुँ' परे है अतः प्रकृत-सूत्र से वकार को औकार करने पर इको यणचि (१५) से इकार को यकार हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'सुद्यौः' प्रयोग सिद्ध होता है[1]।

सुदिव्+औ=सुदिवौ। सुदिव्+अस्(जस्)=सुदिवः। सुदिवम्। सुदिवौ। सुदिव्+अस्(शस्)=सुदिवः। 'सुदिव्+भ्याम्' में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(२६५) दिव उत् ।६।१।१२७॥

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात्पदान्ते। सुद्युभ्याम्। इत्यादि॥

अर्थ —पद के अन्त में दिव् को उकार अन्तादेश हो।

व्याख्या—दिवः ।६।१। उत् ।१।१। पदान्ते ।७।१। (एङः पदान्तादति से विभक्तिविपरिणाम द्वारा)। अर्थ —(पदान्ते) पदान्त में (दिवः) दिव् शब्द के स्थान पर (उत्) ह्रस्व उकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से दिव् के अन्त्य अल् वकार को

---

१ 'सुदिव्+स्' में औकारादेश तथा सुँलोप युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु औकारादेश नित्य और सुँलोप अनित्य होने से प्रथम औकारादेश हो जाता है। जो विधि दूसरे के प्रवृत्त होने या न होने पर भी समानरूप से प्रसक्त हो वह दूसरे की अपेक्षा नित्य होती है। जैसा कि कहा है—कृताकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः (परि०)। यहां सुँलोप कर देने पर भी प्रत्ययलक्षण द्वारा सुँ को मान कर औकारादेश हो सकता है अतः औकारादेश नित्य है। परन्तु औकारादेश कर देने पर हल् न होने से सुँलोप नहीं हो सकता अतः सुँलोप अनित्य है। नित्य और अनित्य में नित्य ही बलवान् होता है।

ही उकार आदेश होगा। ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववत् दिव् प्रातिपदिक का ही ग्रहण किया जाना है।

'सुदिव्+भ्याम्' में **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पदत्व के कारण वकार को उकारादेश तथा **इको यणचि** (१५) से यण् हो—'सुद्युभ्याम्'। इसी प्रकार भिस्, भ्यस् और सुप् में भी होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	सुद्यौः	सुदिवौ	सुदिवः	प० सुदिवः	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
द्वि०	सुदिवम्	,,	,,	ष० ,,	सुदिवोः	सुदिवाम्
तृ०	सुदिवा	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः	स० सुदिवि	,,	सुद्युषु
च०	सुदिवे	,,	सुद्युभ्यः	सं० हे सुद्यौः !	हे सुदिवौ !	हे सुदिवः !

इसी प्रकार प्रियदिव्, अतिदिव् आदि शब्दों के रूप होते हैं।

(यहां वकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——: :o: :——

अभ्यास (३८)

(१) अनडुह् और विश्ववाह् शब्दों के जस् और शस् में रूप सिद्ध करें।

(२) अनड्वान् और अनड्वन् में, सुदिवोः और सुद्योः में, लिट् और स्निट् में, मुड्भ्याम् और धुग्भ्याम् में प्रक्रियासम्बन्धी अन्तर ससूत्र दर्शाएं।

(३) 'सूत्रशाटकन्याय' किसे कहते हैं? व्याकरण में इस का कहां और कैसे उपयोग होता है?

(४) निम्नलिखित वचनों का जहां तक हो सके सोदाहरण विवेचन करें—
१. निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः। २. प्रकल्प्य चापवादविषयं ततः० ३. निरनुबन्धकग्रहणे न०। ४. अपवादो वचनप्रामाण्यात्। ५. इतरेतराश्रयाणि कार्याणि न०। ६. कृताकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः। ७. क्विबन्ता विडन्ता विजन्ता शब्दा धातुत्वं न जहति।

(५) तुरापाट्, सुद्युभ्याम्, ध्रुक्षु, विश्वौहि, उखास्रद्भ्याम्, स्निक्—इन रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें।

(६) (क) **चतुरनडुहोः०** और **सावनडुहः** सूत्रों में क्या उत्सर्ग-अपवादभाव है?
(ख) 'लिट्त्सु' में तकार को थकार क्यों नहीं होता?
(ग) 'सुद्यौः' में औकारादेश करने से पूर्व सुंलोप [illegible]ी हो जाता?
(घ) दिव औत् में 'दिवुँ' धातु का ग्रहण क्यों नहीं [illegible] रेफ को ही विसर्ग
(ङ) 'मूर्धन्यः' शब्द का क्या विग्रह और क्या अ

(७) १. एकाचो बशो भष्०। २. दादेर्धातोर्घः। ३. [illegible] इति प्रत्याहारस्येष्ट-
वसुंस्रंसुंध्वंस्वनडुहां दः। [illegible]भियेति बोध्यम्।

[लघु०] चत्वार । चतुर । चतुर्भि । चतुर्भ्य २ ॥

व्याख्या—अब रेफान्त पुंल्लिङ्ग 'चतुर्' (चार, सङ्ख्येयवाची) शब्द का वर्णन करते हैं। चतेरुरन् (उणा० ७३६) सूत्र से चतुर् शब्द की निष्पत्ति होती है। 'चतुर्' शब्द नित्यबहुवचनान्त होता है।

'चतुर+अस'(जस्) यहा 'जस्' यह सर्वनामस्थान परे है, अत चतुरनडुहो-रामुदात्त (२५६) सूत्र से आम् का आगम हो कर इको यणचि (१५) से यण् तथा सकार को रुत्व-विसर्ग करने पर 'चत्वार' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतुर+अस्(शस्)=चतुर । सर्वनामस्थान न होने से आम् न होगा।

चतुर्+भिस्—चतुर्भि । चतुर्+भ्यस्=चतुर्भ्य ।

चतुर+आम् । यहा ह्रस्वादि के न होने से ह्रस्वनद्यापो नुँट्(१४८) द्वारा नुँट् प्राप्त नहीं हो सकता, अत इस की सिद्धि के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२६६) षट्चतुर्भ्यश्च ।७।१।५५॥

एभ्य आमो नुँडागम ॥

अर्थ—षट्सञ्ज्ञकों तथा चतुर् शब्द से परे आम् को नुँट् का आगम हो।

व्याख्या—षट्चतुर्भ्य ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । आम ।६।१। (आमि सर्व-नाम्न सुँट स । यहा उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् द्वारा षष्ठ्यन्ततया विपरि-णाम हो जाता है) । नुँट ।१।१। (ह्रस्वनद्यापो नुँट् से) । अर्थ—(षट्चतुर्भ्य) षट्-सञ्ज्ञकों से तथा चतुर् शब्द से परे (च) भी (आम) आम् का अवयव (नुँट्) नुँट् हो जाता है। नुँट टित् है अत आम् का आद्यवयव होगा।

इसी प्रकरण मे आगे (२९७) सूत्र से षट्सञ्ज्ञा की जायेगी, यहा उसी का ग्रहण है। चतुर शब्द की षट्सञ्ज्ञा नहीं होती अत इस का पृथक् ग्रहण किया है।

चतुर्+आम् । यहा प्रकृत-सूत्र से नुँट् का आगम हो कर 'चतुर्+नाम्' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२६७) रषाभ्यां नो ण समानपदे ।८।४।१॥

(एकपदस्थाभ्या रेफषकाराभ्या परस्य नस्य ण स्यात्) । अचो रहा-भ्या द्वे (६०)—चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम् ॥

अर्थ—एक पद मे स्थित रेफ वा षकार से परे नकार को णकार आदेश हो।

व्याख्या—रषाभ्याम् ।५।२। न ।६।१। ण ।१।१। समानपदे ।७।१। समान-त्वाद् पदम्=समा[न]पदम् । कर्मधारयसमास । रश्च षश्च=रषौ, ताभ्याम्=रषा-भ्याम् । [र]फादकार षकाराच्चाकारश्चोच्चारणार्थ । 'ण' इत्यत्राप्य-अपेक्षा नित्य होत[ा]
(परि०) । यहा [...]भ्य । अर्थ—(समानपदे) एक पद मे (रषाभ्याम्) रेफ वा औकारादेश हो सक[े] [...]स्थान पर(ण) ण् आदेश हो। [र्+न=र्ण, ष्+न=ष्ण]
पर हल् न होने से [प]ूर्वोक्त नहीं हो सकता [...] का ही ग्रहण होता है। अत 'अनि-अनित्य से नित्य ही बलवान् होता है। [...] णकारादेश न होगा।

इस सूत्र के उदाहरण—आस्तीर्णम्, अवगीर्णम्, कृष्णाति, पुष्णाति आदि हैं।

ऋत्वन्—प्रशास्तृणाम् (२०६) आदि प्रयोगों[1] तथा क्षुम्नादिगण (८.४.३९) में 'नृनमन, तृप्नु' को णत्व-निषेध करने से यहां रेफ और षकार की तरह ऋवर्ण को भी णत्व का निमित्त मानना चाहिये। इस के उदाहरण—'मातृणाम्, पितृणाम्' आदि हैं। ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् (वा० २१) इसी का अनुवाद है।

'चतुर्+नाम्' यहां प्रकृतसूत्र से नकार को णकारादेश हो कर 'चतुर्णाम्' हुआ। अत्र अचो रहाभ्यां द्वे (६०) सूत्र से णकार को वैकल्पिक द्वित्व करने से—'चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—यहां णत्व करते समय प्रायः सुबोध विद्यार्थियों को सन्देह हुआ करता है कि 'चतुर्णाम्' में तो अट्कुप्वाङ्० (१३८) से ही णत्व हो सकता है, क्योंकि वहां 'व्यवधानेऽपि णत्वं स्यात्' कहा है। अर्थात् व्यवधान होने पर भी णत्व हो जाता है। इस से यह विदित होता है कि यदि व्यवधान न होगा तब तो अवश्य हो ही जायेगा। 'पुष्णाति, मुष्णाति' आदियों में ष्टुत्व से भी णत्व सिद्ध हो सकता है। अतः यह सूत्र निरर्थक है।

परन्तु तनिक ध्यान देने पर इस की उपयोगिता स्पष्ट समझ में आ जाती है। अष्टाध्यायी में प्रथम यह सूत्र और तदनन्तर अट्कुप्वाङ्० (१३८) सूत्र पढ़ा गया है। अट्कुप्वाङ्० (१३८) सूत्र में पूर्णरूपेण यह सूत्र अनुवर्त्तित होता है। यदि यह सूत्र न बनाते तो उस में अनुवृत्ति कहां से आती? 'पुष्णाति, मुष्णाति' आदियों में यद्यपि ष्टुत्व से सिद्धि हो सकती है; तथापि अट् आदि के व्यवधान में णत्वसिद्धि के लिये उस का ग्रहण अवश्य प्रयोजनीय है। अन्यथा 'पुरुषेण, पुरुषाणाम्' आदि सिद्ध न हो सकेंगे।

सप्तमी के बहुवचन 'चतुर्+सु' में खर् परे होने से खरवसानयोः० (९३) द्वारा रेफ को विसर्ग आदेश प्राप्त है। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—**(२६८) रोः सुपि ।८।३।१६॥**

रोरेव विसर्गः सुपि । षत्वम् । षस्य द्वित्वे प्राप्ते—

अर्थः—सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' के परे होने पर रुँ के स्थान पर ही विसर्ग आदेश हो (अन्य रेफ के स्थान पर न हो)।

व्याख्या—रोः ।६।१। सुपि ।७।१। विसर्जनीयः ।१।१। (खरवसानयोर्विसर्जनीयः से)। अर्थः—(सुपि) सप्तमी का बहुवचन 'सुप्' प्रत्यय परे होने पर (रोः) रुँ के स्थान पर (विसर्जनीयः) विसर्जनीय आदेश हो। सुप् परे होने पर रुँ (र्) के स्थान पर विसर्गादेश खरवसानयोः० (९३) सूत्र से ही सिद्ध है, पुनः इस का आरम्भ नियमार्थ ही है—**सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः**। अर्थात् सुप् परे होने पर रुँ के रेफ को ही विसर्ग आदेश हो अन्य रेफ को न हो।

---

१. न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् (२.३.६९) इत्यादिषु तु तृन् इति प्रत्याहारस्येष्टत्वाद् णत्वाभावो जिघृक्षितरूपविनाशभियेति बोध्यम्।

'चतुर्+सु' यहाँ 'र्' का रेफ नहीं अतः विसर्ग आदेश न हुआ। आदेशप्रत्यययोः (१५०) द्वारा सकार को षकार कर—'चतुर्षु'। अब यहां अचो रहाभ्यां द्वे (६०) द्वारा षकार को वैकल्पिक द्वित्व प्राप्त होने पर निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(२६९) शरोऽचि ।८।४।४८॥

अचि परे शरो न द्वे स्तः । चतुर्षु ॥

अर्थः—अच् परे हो तो शर् को द्वित्व नहीं होता।

व्याख्या—अचि ।७।१। शरः ।६।१। न इत्यव्ययपदम् । (नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य से) । द्वे ।१।२। (अचो रहाभ्यां द्वे से) । अर्थः—(अचि) अच् परे होने पर (शरः) शर् के स्थान पर (द्वे) दो शब्दस्वरूप (न) न हों।

'चतुर्षु' यहां उकार अच् परे है अतः षकार शर् को द्वित्व नहीं होता।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१ दर्शनम् । २ स्पर्शनम् । ३ आर्षम् । ४ वर्षणम् । ५ चिकीर्षा । ६ जिहीर्षा । ७ मुमूर्षा । ८ पर्शुः । ९ अर्शः । १० घर्षणम् । ११ कर्षकः । १२ वर्षुकः । १३ कार्षापणम् । १४ वर्षा । १५ हर्षः । इत्यादि।[1]

निम्नलिखित स्थलों में अच् परे न होने से निषेध नहीं होता। अनचि च (१८) अथवा अचो रहाभ्यां द्वे (६०) से द्वित्व हो जाता है—

१ कृष्णः । २ कार्ष्णिः । ३ दर्श्यते । ४ भीष्मः । ५ यष्टिः । ६ अश्वः । ७ अश्मरी । ८ अश्नाति । ९ श्मश्रु । १० अशिश्वी । ११ अष्टौ । १२ विश्रान्तः । १३. ईर्ष्यति । १४ अस्त्रम् । १५ नास्ति । इत्यादि।

अच् परे होने पर भी शर् से अतिरिक्त वर्ण (यर्) को द्वित्व हो ही जायेगा—

१ अर्कः । २ अर्थः । ३ निर्झरः ४ दुर्गः । ५ स्वर्गः । ६ मूर्खः । ७ निर्भरः । ८ मूर्च्छना । ९ ऊर्म्मिः । १० विमर्शः । ११ अर्ज्जुनः । १२ उर्व्वी । १३ आर्य्यः । १४ अर्घ्यः । १५ ऊर्द्ध्वम् । इत्यादि।

'चतुर्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	चत्वारः	पं०	०	०	चतुर्भ्यः
द्वि०	०	०	चतुरः	ष०	०	०	चतुर्णाम्, चतुर्णाम्
तृ०	०	०	चतुर्भिः	स०	०	०	चतुर्षु
च०	०	०	चतुर्भ्यः	सङ्ख्यावाचकों का सम्बोधन नहीं होता।			

इसी प्रकार 'परमचतुर्' आदि शब्दों के रूप होते हैं।

(यहां रेफान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

अब मकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों का वर्णन किया जाता है।

---

१ इस सूत्र का निषेध शकार और षकार तक ही सीमित रहता है। सकार के द्वित्व का प्रसङ्ग कहीं नहीं प्राप्त होता [विशेष स्वयं विचार करें]।

प्रपूर्वक शमुँ उपशमे (दिवा० प०) धातु से क्विप्, अनुनासिकस्य क्विझलोः० (७२७) से उपधा-दीर्घ करने कर 'प्रशाम्' (शान्त) शब्द निष्पन्न होता है।

प्रशाम् + स् (सुँ)। यहां सकारलोप हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२७०) मो नो धातोः।८।२।६४॥

धातोर्मस्य नः पदान्ते। प्रशान्। प्रशान्भ्याम् इत्यादि॥

अर्थः—पदान्त में धातु के मकार को नकार आदेश हो।

व्याख्या—धातोः।६।१। मः।६।१। नः।१।१। पदस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। अन्ते।७।१। (स्कोः संयोगाद्योरन्ते च से)। अर्थः—(पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (धातोः) धातु के (मः) मकार के स्थान पर (नः) न् आदेश होता है[1]।

'प्रशाम्' यहां एकदेशविकृतमनन्यवत् के अनुसार 'शम्' धातु का मकार है अतः प्रकृत-सूत्र से इसे नकार आदेश हो कर—'प्रशान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यह नकारादेश (८.२.६४) न लोपः० (८.२.७) की दृष्टि में असिद्ध है अतः उसे यहां मकार ही दिखाई देता है इस से नकार का लोप नहीं होता।

'प्रशाम्' (शान्त) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	प्रशान्	प्रशामौ	प्रशामः
द्वि०	प्रशामम्	,,	,,
तृ०	प्रशामा	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भिः
च०	प्रशामे	,,	प्रशान्भ्यः
प०	प्रशामः	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भ्यः
ष०	,,	प्रशामोः	प्रशामाम्
स०	प्रशामि	,,	प्रशान्त्सु,-न्सु†
सं०	हे प्रशान्!	हे प्रशामौ!	हे प्रशामः!

† यहां मो नो धातोः सूत्र द्वारा नकार आदेश हो कर नश्च (८७) सूत्र से वैकल्पिक धुँट् का आगम हो जाता है। धुँट्पक्ष में खरि च (७४) से चर्त्व हो कर 'प्रशान्त्सु' और धुँट् के अभाव में 'प्रशान्सु' बन जाता है।

इसी प्रकार—प्रदाम्, प्रताम्, प्रकाम् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

किम् [कौन। कायतेर्डिमिः (५९७) इत्युणादिसूत्रेण साधुः]।

'किम्' शब्द सर्वादिगणपठित है, अतः सर्वादीनि सर्वनामानि (१५१) सूत्र से इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। यह शब्द त्रिलिङ्गी है यहां पुंल्लिङ्ग का प्रकरण होने से पुंल्लिङ्ग में रूप दिखाए जायेंगे।

'किम् + स्' (सुँ) यहां हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सकार का लोप प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२७१) किमः कः।७।२।१०३॥

किमः कः स्याद्विभक्तौ। कः। कौ। के। इत्यादि। शेषं सर्ववत्॥

---

१. 'मः' इति 'धातोः' इत्यस्य विशेषणत्वे तदन्तविधिना 'मकारान्तस्य धातोर्नकारादेशः स्यात्पदान्ते' इत्यर्थो निष्पद्यते। तदाऽलोऽन्त्यविधिनाऽन्त्यमकारस्य नकारादेश उन्नेतव्यः।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर किम् के स्थान पर 'क' आदेश हो।

व्याख्या—किम ।६।१। क ।१।१। विभक्तौ ।७।१। (अष्टन आ विभक्तौ से)। अर्थ—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (किम) 'किम्' शब्द के स्थान पर (क) 'क' आदेश हो। 'क' आदेश सस्वर होने से अनेकाल् है अत अनेकाल्परिभाषा (४५) से सम्पूर्ण 'किम्' के स्थान पर होगा।

इस से सर्वत्र स्वादियों में किम् को 'क' आदेश हो सर्वशब्दवत् प्रक्रिया होती है। ध्यान रहे कि 'क' आदेश स्थानिवद्भाव से सर्वनामसञ्ज्ञक है। रूपमाला यथा—

प्र०	क	कौ	के†	प०	कस्मात्*	काभ्याम्	केभ्य
द्वि०	कम्	,,	कान्	ष०	कस्य	कयो	केषाम्×
तृ०	केन	काभ्याम्	कै	स०	कस्मिन्*	,,	केषु
च०	कस्मै‡	,,	केभ्य		सम्बोधन नहीं होता।		

† जस शी (१५२)। ‡ सर्वनाम्न स्मै (१५३)। *ङसिङ्यो स्मात्स्मिनौ (१५४)। × आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५)।

इदम्=यह (निकटतम)[1]। इन्देः कमिर्नलोपश्च (उणा० ५६६) इति सिध्यति। 'इदम्' शब्द भी सर्वादिगण में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है। यह त्रिलिङ्गी है। यहां पुलिङ्ग का प्रकरण होने से पुलिङ्ग में रूप दर्शाए जाते हैं—

इदम्+स् (सुँ)। यहां त्यदादीनामः (१९३) सूत्र से 'इदम्' के मकार को अकार प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२७२) इदमो मः ।७।२।१०८॥

इदमो मस्य म स्यात्सौ परे। त्यदाद्यत्वापवाद ॥

अर्थ—सुँ परे होने पर इदम् शब्द के मकार को मकार आदेश हो। त्यदाद्यत्वापवाद—यह सूत्र त्यदादियों के स्थान पर होने वाले अत्व का अपवाद है।

व्याख्या—इदम ।६।१। म ।१।१। (मकारादकार उच्चारणार्थ)। सौ ।७।१। (तदोः स सावनन्त्ययो से)। अर्थ—(इदम) इदम् शब्द के स्थान पर (मः) म् आदेश हो (सौ) सुँ परे होने पर। यह मकारादेश अलोऽन्त्यपरिभाषा से इदम् शब्द के अन्त्य अल्=मकार के स्थान पर ही होता है। मकार को पुन मकार आदेश करने का तात्पर्य त्यदादीनाम (१९३) सूत्र द्वारा प्राप्त अकारादेश का निषेध करना है, अर्थात् इदम् का मकार मकाररूपेण ही स्थित रहता है, सुँ परे होने पर उसके स्थान पर अन्य कुछ आदेश नहीं होता।

---

१ इदमस्तु सन्निकृष्टे, समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे, तदिति परोक्षे विजानीयात्॥

इदम् शब्द का प्रयोग निकटतम—जिसे अङ्गुली से बताया जा सके—के लिए, एतद् का निकटतर के लिये, अदस् का दूरस्थ के लिये और तद् का परोक्ष—जो दिखाई न दे—के लिये होता है।

इस सूत्र से 'इदम्+स्' यहां अत्व नहीं होता। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२७३) इदोऽय् पुंसि ।७।२।१११॥

इदम इदोऽय् स्यात्सौ पुंसि। सोर्लोपः। अयम्। त्यदाद्यत्वे—

अर्थः—सुँ परे हो तो पुंलिङ्ग में 'इदम्' के 'इद्' को 'अय्' आदेश हो।

व्याख्या—इदमः।६।१। (**इदमो मः** से)। इदः।६।१। अय्।१।१। पुंसि।७।१। सौ।७।१। (**यः सौ** से)। अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (पुंसि) पुंल्लिङ्ग में (इदमः) इदम् शब्द के अवयव (इदः) इद् के स्थान पर (अय्) अय् आदेश हो। अनेकाल्परिभाषा द्वारा अय् आदेश सम्पूर्ण इद् के स्थान पर होगा। ग्रहणसामर्थ्य से यकार का लोप न होगा, किञ्च प्रयोजनाभाव से इत्सञ्ज्ञा भी न होगी[1]।

'इदम्+स्' यहां पुंल्लिङ्ग में प्रकृतसूत्र से इद् को अय् आदेश हो कर 'अय् अम्+स्' हुआ। अब हल्ङ्याब्भ्यः० (१७६) से सकार का लोप करने पर 'अयम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम्+औ' यहां सुँ परे नहीं है अतः **इदमो मः** (२७२) प्रवृत्त न होगा, त्यदादीनामः(१९३) सूत्र से मकार को अकार आदेश हो कर 'इद अ+औ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२७४) अतो गुणे ।६।१।९४॥

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः॥

अर्थः—अपदान्त अत् से गुण परे हो तो पूर्वपर के स्थान पर पररूप एकादेश हो।

व्याख्या—अपदान्तात्।५।१। (**उस्यपदान्तात्** से)। अतः।५।१। गुणे।७।१। पूर्वपरयोः।६।२। एकम्।१।१। (**एकः पूर्व-परयोः** यह अविकृत है)। पररूपम्।१।१। (**एङि पररूपम्** से)। अर्थः—(अपदान्तात्) अपदान्त (अतः) अत् से परे (गुणे) गुणसञ्ज्ञक वर्ण हो तो (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकम्) एक (पररूपम्) पररूप आदेश हो। अदेङ् गुणः (२५) के अनुसार 'अ, ए, ओ' ये तीन वर्ण गुणसञ्ज्ञक हैं। यह सूत्र सवर्णदीर्घ तथा वृद्धि आदि का अपवाद है। उदाहरण यथा—

पच+अन्ति=पच् 'अ' न्ति=पचन्ति। यज+अन्ति=यज् 'अ' न्ति=यजन्ति। एध+ए=एध् 'ए'=एधे। यदि अत् पदान्त होगा तो पररूप न होगा। यथा—दैत्य+अरि=दैत्यारिः, दीर्घ+एकार=दीर्घैकारः। दीर्घ+ओकार=दीर्घौकारः। इन में समास के कारण विभक्ति का लुक् होने से प्रत्ययलक्षण के कारण अत् पदान्त है। अतः पररूप नहीं होता।

'इद अ+औ' यहां दकारोत्तर अपदान्त अत् से परे 'अ' यह गुण विद्यमान है; अतः पूर्व (अ) और पर (अ) दोनों के स्थान पर एक पररूप 'अ' हो कर 'इद+औ' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

1. पुंसीति किम्? इयं ब्राह्मणी। साविति किम्? इमौ पुत्रौ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२७५) दश्च ।७।२।१०६॥

इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ । इमे । त्यदादेः सम्बोधनं नास्ती-त्युत्सर्गः ॥

अर्थः—विभक्ति परे होने पर इदम् शब्द के दकार को मकार आदेश हो। त्यदादेरिति—सामान्यतया त्यद् आदि शब्दों का सम्बोधन नहीं होता।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। (अष्टन आ विभक्तौ से)। इदमः ।६।१। मः ।१।१। (इदमो मः से। मकारादकार उच्चारणार्थ)। दः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः— (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (इदमः) इदम् शब्द के (दः) द् के स्थान पर (मः) म् आदेश हो।

'इद+औ' यहां विभक्ति 'औ' परे है अतः प्रकृतसूत्र से दकार को मकार हो कर 'इम+औ' हुआ। अब रामशब्दवत् पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर नादिचि (१२७) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है। पुनः वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'इमौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम्+अस्' (जस्)। यहां त्यदाद्यत्व, पररूप तथा दश्च (२७५) सूत्र से दकार को मकार आदेश हो कर 'इम+अस्' हुआ। अब एकदेशविकृतन्याय से 'इम' शब्द की भी सर्वादीनि सर्वनामानि (१५१) से सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। तब जसः शी (१५२) से जस् को शी आदेश हो कर अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश करने पर—'इमे' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्यदादियों [त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्] का सम्बोधन प्रायः नहीं हुआ करता। 'प्रायः' इसलिये कहा है कि भाष्य में कहीं २ 'हे स' आदि प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। मूल का अक्षरार्थ यह है—(त्य-दादेः) त्यदादिगण का (सम्बोधनम्) सम्बोधन (नास्ति) नहीं होता (इति) यह (उत्सर्गः) सामान्य नियम है।

'इदम्' शब्द के सम्बोधन में भी वही रूप बनेंगे जो उस के प्रथमा में बनते हैं। परन्तु लोक में इन का प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता।

'इदम्+अम्' यहां त्यदाद्यत्व, पररूप, दश्च (२७५) से दकार को मकारादेश तथा अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'इमम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम्+अस्(शस्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, दकार को मकारादेश तथा पूर्वसवर्ण-दीर्घ कर सकार को नकारादेश करने से 'इमान्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम्+आ'(टा)। यहां त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो कर 'इद+आ' इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२७६) अनाप्यकः ।७।२।११२॥

अककारस्येदम इदोऽन् आपि विभक्तौ। आप् इति प्रत्याहारः। अनेन॥

अर्थः—ककाररहित इदम् शब्द के 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश हो तृतीयादि विभक्ति परे हो तो।

व्याख्या—अकः ।६।१। इदमः ।६।१। (**इदमो मः** से) । इदः ।६।१। (**इदोऽय् पुंसि** से) । अन् ।१।१। आपि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। (**अष्टन आ विभक्तौ** से) । यहां 'आप्' यह 'टा' के आकार से 'सुप्' के पकार तक प्रत्याहार समझना चाहिये । इस प्रकार तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, और सप्तमी—इन पाञ्च विभक्तियों में स्थित सब प्रत्ययों का 'आप्' शब्द से ग्रहण होता है । नास्ति क् (ककारः) यस्मिन् सः= अक्, तस्य=अकः, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अकः) ककार-रहित (इदमः) इदम् शब्द के (इदः) इद् भाग के स्थान पर (अन्) अन् आदेश हो (आपि) तृतीयादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो । 'इदम्' शब्द में जब **अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः** (१२२६) सूत्र से अकच् प्रत्यय किया जाता है तब वह 'इदकम्' इस प्रकार ककार-सहित हो जाता है । तब 'अन्' आदेश के निषेध के लिये सूत्र में 'अकः' (ककाररहित) कहा है । ध्यान रहे कि 'अन्' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'इद्' भाग के स्थान पर आदिष्ट होता है ।

'इद+आ' यहां प्रकृत-सूत्र से इद् भाग को अन् आदेश हो कर—अन् अ+आ=अन+आ हुआ । पुनः **टा-ङसि-ङसामिनात्स्याः** (१४०) सूत्र से आ को इन आदेश तथा **आद् गुणः** (२७) द्वारा गुण एकादेश करने पर 'अनेन' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'इदम्+भ्याम्' यहां त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो कर 'इद+भ्याम्' इस स्थिति में **अनाप्यकः** (२७६) सूत्र से अन् आदेश प्राप्त होता है । इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(२७७) हलि लोपः ।७।२।११३।।**

अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि हलादौ । नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे (प०) ।।

अर्थः—तृतीयादि हलादि विभक्ति परे हो तो ककाररहित इदम् शब्द के इद् भाग का लोप हो जाता है । **नानर्थक इति**—अभ्यासविकार को छोड़ कर अन्यत्र अनर्थकों में **अलोऽन्त्यस्य** (२६) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता ।

व्याख्या—अकः ।६।१। (**अनाप्यकः** से) । इदमः ।६।१। (**इदमो मः** से) । इदः ।६।१। (**इदोऽय् पुंसि** से) । लोपः ।१।१। आपि ।७।१। (**अनाप्यकः** से) । हलि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। (**अष्टन आ विभक्तौ** से) । 'हलि' यह 'विभक्तौ' पद का विशेषण है और साथ ही सप्तम्यन्त अल् भी है अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्०** से तदादिविधि हो जाती है । अर्थः—(अकः) ककाररहित (इदमः) इदम् शब्द के अवयव (इदः) इद् का (लोपः) लोप हो जाता है (हलि=हलादौ) हलादि (आपि) तृतीयादि विभक्ति परे हो तो । यह सूत्र पिछले **अनाप्यकः** (२७६) सूत्र का अपवाद है ।

'इद+भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यह तृतीयादि हलादि विभक्ति परे है अतः यहां **अनाप्यकः** (२७६) सूत्र का बाध कर **हलि लोपः** (२७७) सूत्र से 'इद्' का लोप प्राप्त होता है । परन्तु **अलोऽन्त्यस्य** (२१) सूत्र से इद् के अन्त्य दकार का लोप होना

चाहिये। इस पर—नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे यह परिभाषा प्रवृत्त हो कर कहती है कि अनर्थक में अलोऽन्त्यस्य (२१) सूत्र प्रवृत्त नहीं हुआ करता, हां! यदि अभ्यास का विकार अनर्थक हो तो यह (अलोऽन्त्यस्य) प्रवृत्त हो जाता है[1]। कौन अनर्थक और कौन सार्थक होता है? इस का निर्णय इस परिभाषा से होता है—समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः। अर्थात् समुदाय ही सार्थक और उस का एक भाग निरर्थक हुआ करता है। तो इस प्रकार 'इदम्' यह सम्पूर्ण समुदाय सार्थक और इस का 'इद्' यह अवयव निरर्थक है। अनर्थक में अलोऽन्त्यविधि नहीं हुआ करती अतः यहां भी दकार का लोप न हो कर सम्पूर्ण इद् भाग का ही लोप हो जायेगा—'अ+भ्याम्'। अब यहां सुँपि च (१४१) सूत्र से हम दीर्घ करना अभीष्ट है परन्तु उस से वह हो नहीं सकता, क्योंकि उस के अर्थ में 'अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो' ऐसा लिखा है। यहां अत् अङ्ग तो है पर अदन्त(अत् है अन्त में जिसके ऐसा)अङ्ग नहीं है। अतः इस की सिद्धि के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—(२७८) आद्यन्तवदेकस्मिन्।१।१।२०॥

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविव अन्त इव च स्यात्। सुँपि च (१४१) इति दीर्घः। आभ्याम्॥

अर्थः—जैसे आदि और अन्त में कार्य्य होते हैं वैसे एक वर्ण में भी कार्य हों।

व्याख्या—आद्यन्तवत् इत्यव्ययपदम्। एकस्मिन् ।७।१। समासः—आदिश्च अन्तश्च=आद्यन्तौ, इतरेतरद्वन्द्वः। तयोरिव=आद्यन्तवत्। तत्र तस्येव (११८६) इति वतिँप्रत्ययः। अर्थः—(आद्यन्तवत्) आदि और अन्त में जैसे कार्य होते हैं वैसे (एकस्मिन्) एक वर्ण में भी हों।

आदि और अन्त शब्द सापेक्ष अर्थात् दूसरे की अपेक्षा या आश्रय करने वाले हैं। जब तक अन्य वर्ण न हो, आदि और अन्त नहीं बन सकते। जैसा कि भाष्य में कहा है—यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते। यस्मात्पूर्वमस्ति परञ्च नास्ति सोऽन्त इत्युच्यते। अर्थात् जिस से पूर्व कोई नहीं, परे है वह—'आदि' तथा जिस से पूर्व तो है, परे नहीं वह—'अन्त' कहाता है। इस प्रकार आदि और अन्त में विधान किये गये कार्य केवल एक वर्ण में प्राप्त नहीं हो सकते। अतः उन की एक-असहाय वर्ण में भी प्रवृत्ति कराने के लिये यह सूत्र आरम्भ किया गया है। उदाहरण यथा—जैसे 'रामाभ्याम्, पुरुषाभ्याम्' यहां अदन्त अङ्ग को सुँपि च (१४१) से दीर्घ होता है वैसे—'अ+भ्याम्' यहां केवल अत् को भी दीर्घ हो कर 'आभ्याम्' बनेगा। आदि का उदाहरण—जैसे 'भविष्यति' यहां वलादि स्य को आर्धधातुकस्येड् वलादेः (४०१) से इट् का आगम होता है वैसे 'आतिष्टाम्, आतिषुः' इत्यादियों में केवल 'स्' को भी होगा।

---

1. यथा—बिभर्ति, पिपर्ति आदियों में अभ्यास के अन्त्य ऋकार को इकार आदेश हो जाता है। अन्यथा यहां भी सम्पूर्ण अभ्यास के स्थान पर आदेश होगा (देखें भैमीव्याख्या द्वितीय भाग सूत्र (६१०)।

नोट—भाष्यकार ने इस सूत्र को और अधिक विस्तृत करने के लिये **व्यपदेशिवदेकस्मिन्** ऐसा लिखा है। मुख्यव्यवहार को 'व्यपदेश' कहते हैं। व्यपदेशोऽस्यास्तीति व्यपदेशी, व्यपदेश वाले का नाम 'व्यपदेशी' हुआ। अर्थात् मुख्य का नाम 'व्यपदेशी' है। उस मुख्य के समान एक में भी कार्य्य हो जाते हैं। यथा—**एकाचो बशो भष्०** (२५३) का मुख्य उदाहरण 'गर्धप्' है। यहां गर्दभ्' धातु का अवयव एकाच् झपन्त 'दभ्' है। परन्तु 'धुक्' यहां ऐसा नहीं। यहां धातु भी वही है और एकाच् झपन्त भी वही है, अर्थात् दोनों अभिन्न हैं, इस में भी मुख्य के समान कार्य्य हो जाएंगे। ये उदाहरण पाणिनि के **आद्यन्तवदेकस्मिन्** सूत्र से सिद्ध नहीं हो सकते थे अतः भाष्यकार को **व्यपदेशिवदेकस्मिन्** इस प्रकार रचना पड़ा। शास्त्र में इसे ही व्यपदेशिवद्भाव कहा गया है। व्यपदेशिवद्भाव का अर्थ गौण को भी मुख्य के समान मानना है।

'इदम्+भिस्' यहां त्यदाद्यत्व, पररूप, **हलि लोपः** (२७७) से इद् का लोप हो 'अ+भिस्' इस स्थिति में व्यपदेशिवद्भाव से **अतो भिस ऐस्** (१४२) द्वारा भिस् को ऐस् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(२७९) **नेदमदसोरकोः** ।७।१।११॥

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न। एभिः। अस्मै। एभ्यः। अस्मात्। अस्य। अनयोः २। एषाम्। अस्मिन्। एषु॥

अर्थः—ककाररहित इदम् और अदस् शब्द के भिस् को ऐस् नहीं होता।

व्याख्या—अकोः।६।२। इदमदसोः।६।२। भिसः।६।१। ऐस्।१।१। (**अतो भिस ऐस्** से)। न इत्यव्ययपदम्। नास्ति क् ययोस्तौ=अकौ, तयोः=अकोः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(अकः) ककाररहित (इदमदसोः) इदम् और अदस् शब्द के (भिसः) भिस् के स्थान पर (ऐस्) ऐस् (न) न हो।

'अ+भिस्' यहां प्रकृतसूत्र से भिस् को ऐस् न हुआ। तब **बहुवचने झल्येत्** (१४५) से एत्व हो सकार को रुत्व विसर्ग करने से 'एभिः' प्रयोग बना।

चतुर्थी के एकवचन में 'इदम्+ए' (ङे)=इद+ए। इस अवस्था में **सर्वनाम्नः स्मै** (१५३) सूत्र से एकार को स्मै आदेश तथा **अनाप्यकः** (२७६) से इद् को अन् आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं। विप्रतिषेधपरिभाषा से परकार्य अन् आदेश होने योग्य है। परन्तु वह अनिष्ट है। इस के लिये परिभाषा प्रवृत्त होती है—**पूर्व-पर-नित्याऽन्तरङ्गाऽपवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः** (प०)। अर्थात् पूर्व से पर, पर से नित्य, नित्य से अन्तरङ्ग और अन्तरङ्ग से अपवाद बलवान् होता है। नित्य उसे कहते हैं कि जो अपने विरोधी के प्रवृत्त होने पर भी प्रवृत्त हो सके। यथा—यहां 'स्मै' आदेश नित्य है क्योंकि यह अपने विरोधी अन् आदेश के प्रवृत्त हो जाने पर भी प्रवृत्त हो सकता है। पर से नित्य बलवान् होता है अतः **अनाप्यकः** (७.२.११२) के परे होने पर भी **सर्वनाम्नः स्मै** (७.१.१४) सूत्र के नित्य होने से स्मै आदेश हो जाता है। तब 'इद+स्मै' इस स्थिति में **हलि लोपः** (२७७) से इद् भाग का लोप हो कर 'अस्मै' प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम्+अस् (ङसिँ)=इद+अस्। यहां भी पूर्ववत् नित्य होने से अन् आदेश का बाध कर ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४) सूत्र से स्मात् आदेश हो जाता है। तब हलि लोपः (२७७) से इद् का लोप करने से 'अस्मात्' रूप बनता है।

इदम्+अस् (ङस्)=इद+अस। नित्य होने से टाङसिङसाम० (१४०) से स्य आदेश हो जाता है। तब इद् का लोप हो अस्य प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम्+ओस्=इद+ओस्। यहां अनाप्यकः (२७६) सूत्र से अन् आदेश, ओसि च (१४७) से एत्व तथा एचोऽयवायावः (२२) से अय् आदेश करने पर 'अनयोः' रूप बनता है।

इदम्+आम्। त्यदाद्यत्व, पररूप, नित्य होने से आमि सर्वनाम्नः सुंट् (१५५) से सुंट्, इद् भाग का लोप और बहुवचने झल्येत् (१४५) से एत्व करने पर—एसाम्। अब आदेशप्रत्यययोः (१५०) से षत्व कर 'एषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम्+इ(ङि)=इद+इ। यहां ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४) से प्रथम स्मिन् आदेश हो कर तदनन्तर इद् भाग का लोप हो जाता है— अस्मिन्।

इदम्+सु (सुप्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, इद् का लोप, एत्व और षत्व करने पर एषु प्रयोग सिद्ध होता है। 'इदम्' शब्द की पुंलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	अयम्	इमौ	इमे	प० अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि०	इमम्	,,	इमान्	ष० अस्य	अनयोः	एषाम्
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः	स० अस्मिन्	,,	एषु
च०	अस्मै	,,	एभ्यः	सम्बोधनं नास्तीति प्रायोवादः।		

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२८०) द्वितीयाटौस्स्वेनः ।२।४।३४॥

इदमेतदोरन्वादेशे। किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः। यथा—अनेन व्याकरणमधीतमेनं छन्दोऽध्यापयेति। अनयोः पवित्रं कुलम् एनयोः प्रभूतं स्वम् इति। एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः २॥

अर्थः—द्वितीया, टा और ओस् विभक्तियों के परे होने पर अन्वादेश में इदम् और एतद् शब्द को 'एन' आदेश हो। किञ्चिद् इति—किसी कार्य को बोधन कराने के लिये ग्रहण किये हुए का पुनः दूसरे कार्य को बोधन कराने के लिये ग्रहण करना 'अन्वादेश' कहाता है।

व्याख्या—इदमः ।६।१। (इदमोऽन्वादेशे० से)। एतदः ।६।१। (एतदस्त्रतसो० से)। अन्वादेशे ।७।१। (इदमोऽन्वादेशे० से)। द्वितीयाटौस्सु ।७।३। एनः ।१।१। समासः—द्वितीया च टाश्च ओस् च=द्वितीयाटौसः, तेषु—द्वितीयाटौस्सु इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अन्वादेशे) अन्वादेश में (इदमः) इदम् तथा (एतदः) एतद् शब्द के स्थान पर (एनः) 'एन' आदेश हो (द्वितीयाटौस्सु) द्वितीया, टा और ओस् विभक्ति

परे होने पर। अनेकाल् होने से 'एन' आदेश सम्पूर्ण इदम् और एतद् के स्थान पर होगा।

अन्वादेश किसे कहते हैं? किसी अज्ञात कार्य को जनाने या विधान करने के लिये जिस का प्रथम एक बार ग्रहण हो चुका हो; यदि पुनः दूसरे अज्ञात कार्य को जनाने या विधान करने के लिये उस का ग्रहण किया जावे तो वह पुनर्ग्रहण 'अन्वादेश' कहाता है। यथा—(१) **अनेन व्याकरणम् अधीतम् एनं छन्दोऽध्यापय** (इस ने व्याकरण पढ़ लिया है अब इसे छन्दश्शास्त्र पढ़ाओ)। यहां 'व्याकरण पढ़ लिया है' इस कार्य के लिये 'अनेन' का ग्रहण किया गया है। पुनः छन्दोऽध्ययन के लिये भी उस का ग्रहण किया गया है अतः दूसरी वार उस का ग्रहण 'अन्वादेश' हुआ। (२) **अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वम्** (इन दोनों का कुल पवित्र है तथा इन का धन भी बहुत है)। यहां प्रथम पवित्र कुल कहने के लिये ग्रहण किये हुए 'इन दोनों' का पुनः बहुत धन कहने के लिये दोबारा ग्रहण किया गया है अतः यह दूसरी वार वाला ग्रहण 'अन्वादेश' है। इसी प्रकार—**इमं बालकं शिक्षामपीपठः, अथो एनं वेदमध्यापय** (इस बालक को तुम शिक्षा पढ़ा चुके हो अब इसे वेद पढ़ाओ)। यहां वेद पढ़ाने के लिये पुनः उस का ग्रहण 'अन्वादेश' है। **अनेनच्छात्त्रेण रात्रिरधीता, अथो एनेनाहरप्यधीतम्** (इस छात्र ने रात भर पढ़ा और इस ने दिन भर भी पढ़ा)। यहां 'दिन भर भी पढ़ा' यह जनाने के लिये पुनः उस का ग्रहण अन्वादेश है। **अनयोश्छात्त्रयोः शोभनं शीलम्, अथो एनयोः कुशाग्रा मेधा** (ये दोनों छात्र अच्छे आचार वाले हैं और इन की बुद्धि भी तीक्ष्ण है)। यहां 'बुद्धि तीक्ष्ण है' यह जनाने के लिये पुनः उन का ग्रहण 'अन्वादेश' है।

अन्वादेश में द्वितीया (अम्, औट्, शस्) तथा टा और ओस् (षष्ठी और सप्तमी दोनों के द्विवचन) इन पाञ्च प्रत्ययों के परे होने पर इदम् और एतद् शब्द को 'एन' सर्वादेश हो जाता है। अन्य विभक्तियों में अनन्वादेश की भांति रूप चलते हैं[1]। 'एतद्' शब्द का वर्णन आगे आयेगा यहां 'इदम्' शब्द प्रस्तुत है—

१. इदम्+अम्=एन+अम्=एनम्। २. इदम्+औट्=एन+औ=एनौ। ३. इदम्+शस्=एन+अस्=एनान्। ४. इदम्+टा=एन+आ=एन+इन=एनेन। ५. इदम्+ओस्=एन+ओस्=एनयोः। 'एन' आदेश होकर यहां पुंलिङ्ग में रामवत् प्रकिया होती है। इन सब का दो श्लोकों में प्राचीन संग्रह यथा—

इमं विद्धि हरेर्भक्तं, विद्धयेनं शिवार्चकम्।
इमाविमान् वित्त शैवान्, एनावेनांस्तु वैष्णवान्॥ १॥

---

१. यद्यपि अन्य विभक्तियों में रूप अनन्वादेश की भांति होते हैं तो भी प्रक्रिया में बड़ा अन्तर होता है। अन्वादेश में इदम् शब्द के स्थान पर तृतीयादि विभक्तियों में **इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ** (२.४.३२) सूत्र से 'अश्' आदेश हो कर शकार का लोप करने पर अदन्त सर्वनाम की तरह कार्य होते हैं। यह सब सप्रयोजन विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

अनेन पूजितः कृष्णोऽर्थनेन गिरिशोऽर्चितः ।
अनयोः केशवः स्वामी, शिवः स्वामी ह्यथैनयोः ॥ २ ॥

विशेष—किञ्चित्कार्यं विधातुम्० यहां 'विधातुम्' से केवल विधान का अभिप्राय नहीं है। किसी अज्ञात बात को बतलाना या जनाना ही यहां अभिप्रेत है। अत एव—अथैनमद्रेस्तनया शुशोच (रघु० २.३७) यहां विधानाभाव में भी अन्वादेश के स्वीकृत होने से 'एन' आदेश सिद्ध हो जाता है। ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः। एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् (देखें पृष्ठ ६०) इस पद्य के पूर्वार्ध में ईषद् आदि लोकप्रसिद्ध अर्थों का अनुवाद ही प्रस्तुत किया गया है अतः अज्ञातज्ञापन न होने से अन्वादेश के अभाव के कारण 'एन' आदेश नहीं हुआ। इसी प्रकार 'गीतगोविन्द' के—नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे ! गृहं प्रापय (यह कृष्ण रात्रि में भीरु है अतः तू=राधा ही इसे घर पहुंचा दे)—इस आद्य पद्य में ज्ञातभीरुता का अनुवादमात्र प्रस्तुत होने से अन्वादेश न होने के कारण 'इमम्' का 'एनम्' नहीं हुआ।

यहां यह जरूरी नहीं कि इदम् शब्द के द्वारा गृहीत का ही जब उसी इदम् शब्द के द्वारा दोबारा ग्रहण हो तभी अन्वादेश मान कर एन आदेश किया जाये, किन्तु प्रथम ग्रहण में चाहे यद्, तद् आदि किसी अन्य शब्द के द्वारा या किसी अन्य प्रकार से भी ग्रहण हो तो दूसरे ग्रहण में इदम् और एतद् को एन आदेश हो जाता है। यथा—

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥ (रघु० ६.२५)

यहां प्रथम 'तद्' शब्द से गृहीत होने पर भी पुनर्ग्रहण में इदम् या एतद् को एन आदेश हो जाता है।

(यहां मकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

अभ्यास (३९)

(१) 'किम्' शब्द ही सर्वनामों में पढ़ा गया है 'क' शब्द नहीं, पुनः 'के, कस्मै' आदियों में क्या सर्वनामकार्य हो जाते हैं ?
(२) 'इदम्' शब्द में स्वतः ही ककार का श्रवण नहीं होता, पुनः उस के वारण के लिये अनाप्यकः में यत्न क्यों किया गया है ?
(३) 'अयम्' में त्यदाद्यत्व क्यों नहीं होता ? यदि उस के प्रवृत्त्यभाव का कोई कारण है तो वह 'इमौ, इमे' आदि में क्यों नहीं ?
(४) 'पुप्+नाति=पुष्णाति' यहां ष्टुत्व होता है या णत्व ? विवेचन करें।
(५) आदि और अन्त का लक्षण लिख कर व्यपदेशिवद्भाव को स्पष्ट करें।
(६) अन्वादेश का सोदाहरण स्पष्टीकरण करें।
(७) नानर्थके० परिभाषा की आवश्यकता पर सोदाहरण एक टिप्पण लिखें।
(८) (क) 'प्रशान्' यहां नकार का लोप क्यों नहीं होता ?

(ख) 'चतुर्षु' में रेफ को विसर्गादेश क्यों नहीं होता ?
(ग) 'अग्निर्नयति' में णत्व क्यों नहीं होता ?

(९) चत्वारः, केषाम्, प्रशान्त्सु, चतुर्णाम्, अयम्, अनयोः, अस्मै, एनयोः, एभिः, एषु—इन रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें।

(१०) अनाप्यकः, दश्च, शरोऽचि, रषाभ्यां नो णः०, आद्यन्तवदेकस्मिन्, अतो गुणे—इन की व्याख्या करते हुए प्रत्येक को उदाहरणों में घटाएं।

——: :०: :——

अब नकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] राजा ॥

व्याख्या—राजृँ दीप्तौ (भ्वा० उभ०) धातु से कनिँन् युवृषि-तक्षि-राजि-धन्वि-द्यु-प्रतिदिवः (उणा० १५४) सूत्रद्वारा कनिँन् प्रत्यय करने से राजन् (राजा) शब्द निष्पन्न होता है। राजते=शोभत इति राजा।

'राजन्+स्' (सुँ) यहां हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) सूत्र से सुँलोप तथा सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) से उपधादीर्घ युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु परत्व के कारण प्रथम उपधादीर्घ हो कर पश्चात् सुँलोप हो जाता है—राजान्+स्=राजान्। अब न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो कर 'राजा' रूप सिद्ध होता है।

'राजन्+औ' यहां सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) से उपधादीर्घ हो कर 'राजानौ' बनता है। इसी प्रकार आगे भी सर्वनामस्थानों में उपधादीर्घ हो जाता है—राजानः, राजानम्, राजानौ।

हे राजन्+स्। यहां एकवचनं सम्बुद्धिः (१३२) से 'सुँ' की सम्बुद्धि सञ्ज्ञा है, अतः सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) से उपधादीर्घ नहीं होता। हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सुँलोप हो कर 'हे राजन्!' हुआ। अब यहां न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) सूत्र से नकार का लोप प्राप्त होता है, परन्तु यह अनिष्ट है। अतः इस का अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(२८१) न ङिसम्बुद्ध्योः ।८।२।८।

नस्य लोपो न, ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्!॥

अर्थः—ङि अथवा सम्बुद्धि परे होने पर नकार का लोप नहीं होता।

व्याख्या—न ।६।१। (लुप्तषष्ठीकं पदम्)। लोपः ।१।१। (न लोपः० से)। न इत्यव्ययपदम्। ङिसम्बुद्ध्योः ।७।२। समासः—ङिश्च सम्बुद्धिश्च=ङिसम्बुद्धी, तयोः=ङिसम्बुद्ध्योः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(ङि-सम्बुद्ध्योः) ङि अथवा सम्बुद्धि परे हो तो (न=नस्य) नकार का (लोपः) लोप (न) नहीं होता[1]।

---

१. ङि का उदाहरण वेद में आता है—परमे व्योमन् (ऋ० १.१६४.३९)।

'हे राजन्' यहां सम्बुद्धि का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण परिभाषा द्वारा सम्बुद्धि को मान कर नकारलोप का निषेध हो जाता है—हे राजन् !।

[लघु०] वा०—(२५) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ । राजानः । राज्ञः ॥

अर्थः—उत्तरपदपरक 'ङि' के परे होने पर न ङिसम्बुद्ध्योः (२८१) सूत्र का निषेध कहना चाहिये।

व्याख्या—ङौ ।७।१। उत्तरपदे ।७।१। प्रतिषेधः ।१।१। वक्तव्यः ।१।१। अर्थः—(उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (ङौ) जो ङि, उस के परे होने पर (प्रतिषेधः) निषेध (वक्तव्यः) कहना चाहिये। किस का निषेध कहना चाहिये? इस का उत्तर यह है कि जिस सूत्र पर जो वार्त्तिक पढ़ा जाता है वह तत्सूत्रविषयक ही समझा जाता है। यहां यह वार्त्तिक न ङिसम्बुद्ध्योः (२८१) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः यह न ङिसम्बुद्ध्योः द्वारा प्राप्त नकार-लोप के निषेध का ही निषेध करेगा।[1]

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि व्याकरण में समास के अन्तिम पद को उत्तरपद तथा आदिम पद को पूर्वपद कहते हैं। यथा—राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः। यहां 'राज्ञः' यह षष्ठ्यन्त पूर्वपद तथा 'पुरुषः' यह प्रथमान्त उत्तरपद है।

ब्रह्मनिष्ठः। ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः। ब्रह्म में स्थिति या विश्वास रखने वाला पुरुष 'ब्रह्मनिष्ठ' कहाता है। 'ब्रह्मन्ङि निष्ठासुँ' यहां बहुव्रीहिसमास में सुँपो धातु० (७२१) सूत्र से ङि और सुँ का लुक् हो कर न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) सूत्र से नकार का लोप प्राप्त होता है, परन्तु न ङिसम्बुद्ध्योः (२८१) सूत्र उस लोप का निषेध कर देता है क्योंकि प्रत्ययलक्षणपरिभाषा से 'ङि' परे स्थित है। अब ङावुत्तरपदे० इस प्रकृत वार्त्तिक से उस निषेध का भी निषेध हो कर पुनः न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से नकारलोप हो जाता है। यहां 'ङि' से परे 'निष्ठा' यह उत्तरपद विद्यमान है। 'ब्रह्मनिष्ठा' ऐसा होने पर गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (९५२) सूत्र द्वारा ह्रस्व हो कर विभक्ति लाने से 'ब्रह्मनिष्ठः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—'आत्मविश्वासः, चर्मतिलः' आदि प्रयोग जानने चाहियें।

'राजन्+अस्' (शस्) यहां अल्लोपोऽनः (२४७) सूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर—'राज्न्+अस्' हुआ। अब स्तोः श्चुना श्चुः (६२) सूत्र से नकार को ञकार करने पर—राज्ञ्+अस्='राज्ञः' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—'ज्ञ्' यह संयुक्त व्यञ्जन है। ज् और ञ् के योग से इस की निष्पत्ति होती है। लिखने की सुविधा के लिये इस का ऐसा स्वरूप माना गया प्रतीत होता है। 'ज्ञ' को पृथक् वर्ण मान कर इस का 'ग्य' वा 'ज्य, ग्न, ज्न' आदि उच्चारण करना नितान्त अशुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है। यदि यह अपूर्व वर्ण बन जाता तो शिक्षाकार

---

१ यदि ङावुत्तरपदेऽप्रतिषेधो वक्तव्यः ऐसा पाठ मिले तो उस का भाव यह होगा कि न ङिसम्बुद्ध्योः वाले निषेध को मत करो अर्थात् वहां पर 'न्' का लोप कर दो।

इस के उच्चारण का भी कहीं निर्देश करते; परन्तु उन्होंने ऐसा कहीं नहीं किया। इस को अपूर्व वर्ण मानने से **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) द्वारा श्चुत्व भी न हो सकेगा। यथा —तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्, एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्, यज्ज्ञात्वा मुच्यतेऽशुभात् इत्यादि। सिद्धान्तकौमुदी के ज्ञाजनोर्जा: पर शेखरकार का वक्तव्य भी यहां द्रष्टव्य है—**जञयोगे लोक-वेदसिद्धतादृशध्वनेर्लिपिविशेषस्य चानुवादकमभियुक्तवचनं न त्विदं वर्णान्तरम्, शिक्षा-दावपरिगणितत्वेन तत्सत्त्वे मानाभावात् । अत एव 'तज्ज्ञानम्' इत्यादौ श्चुत्वसिद्धिः ।** किञ्च यदि इस का उच्चारण 'ग्य' आदि होता तो प्राकृत में—मणोज्ज (मनोज्ञ), जण्ण (यज्ञ), अहिज्जो (अभिज्ञ), सव्वज्जो (सर्वज्ञ) इत्यादियों में इस प्रकार आदि में जकार वा णकार न होता। अतः 'ज्ञ' कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'क्ष्' के विषय में भी समझना चाहिये। यह भी 'क्+ष्' के योग से उत्पन्न होता है।

राजन्+आ(टा)। भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर श्चुत्व करने से—राज्ञ्+आ='राज्ञा' प्रयोग सिद्ध होता है।

'राजन्+भ्याम्' इस स्थिति में **न लोपः०** (१८०) से पदान्त नकार का लोप हो जाता है। तब 'राज+भ्याम्' इस अवस्था में **सुँपि च** (१४१) से दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(२८२) **नलोपः सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुँग्विधिषु कृति। ८।२।२॥**

सुँब्विधौ स्वरविधौ सञ्ज्ञाविधौ कृति तुँग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र 'राजाश्व' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वाद् आत्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः २। राज्ञि, राजनि। राजसु॥

अर्थः—सुँब्विधि, स्वरविधि, सञ्ज्ञाविधि तथा कृत्प्रत्ययपरक तुँग्विधि करने में ही नकार का लोप असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं। यथा—'राजाश्वः' इत्यादियों में असिद्ध नहीं होता। **इत्यसिद्धत्वाद्** इति —इस सूत्र से यहां नकारलोप के असिद्ध होने से आ-भाव, ए-भाव, ऐस्-भाव नहीं होता।

व्याख्या—नलोपः।१।१। सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुँग्विधिषु।७।३। कृति।७।१। असिद्धः।१।१। (**पूर्वत्रासिद्धम्** से लिङ्गविपरिणाम कर के)। समासः—नस्य लोपः=नलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। सुँप् च स्वरश्च सञ्ज्ञा च तुँक् च=सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुँकः, इतरेतरद्वन्द्वः। तेषां विधयः=सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुँग्विधयः, तेषु=सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुँग्विधिषु, षष्ठीतत्पुरुषः। विधिशब्दोऽत्र भावसाधनः। विधानं विधिः। यहां सुँबादिगत शेषषष्ठी के साथ विधि-शब्द का समास हुआ जानना चाहिये। सुँब्विधिः—सुँपो विधिः। यहां शेष में षष्ठी होने के कारण 'सुँप्सम्बन्धी विधि' ऐसा अर्थ हो जाता है। सुँप्सम्बन्धी विधि दो प्रकार की हो सकती है; एक तो सुँप् के स्थान पर, यथा—राजभिः। यहां **अतो भिस ऐस्** (१४२) सूत्र से भिस्=सुँप् के स्थान पर ऐस् प्राप्त होता है। दूसरी सुँप् परे होने

पर, यथा—राजभ्याम्, राजभ्य । यहां सुँप् परे होने पर आत्व तथा एत्व प्राप्त होता है। स्वरविधि = स्वरस्य विधि । यहां स्वर कर्म मे शेषत्व की विवक्षा मे षष्ठी विभक्ति हुई है। 'स्वर को विधान करना' यह अर्थ यहां अभिप्रेत है। सञ्ज्ञाविधि = सञ्ज्ञाया विधि । यहां भी कर्म मे शेषत्व की विवक्षा मे षष्ठी विभक्ति हुई है। 'सञ्ज्ञा को विधान करना' यह अर्थ यहां अभिप्रेत है। तुँग्विधि = तुँको विधि । यहां भी तुँक् कर्म मे शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति जाननी चाहिये। 'कृति' यह 'तुँग्विधि' के साथ ही सम्बन्ध रखता है, असम्भव होने से अन्यो के साथ नही। अत 'कृत् परे होने पर तुँक् को विधान करना' यह अर्थ निष्पन्न होता है। अर्थ —(सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुँग्विधिषु) सुँप्सम्बन्धी विधान, स्वरविधान, सञ्ज्ञाविधान तथा कृत् प्रत्यय परे होने पर तुँग्विधान करने मे (नलोप) नकार का लोप (असिद्ध) असिद्ध होता है।

ये जितनी विधियां गिनाई गई हैं सब अष्टाध्यायी के सवा सात अध्यायो मे स्थित हैं। अत इन विधियों के प्रति नकार का लोप त्रिपादीस्थ होने से ही पूर्वत्रासिद्धम् (३१) द्वारा असिद्ध है, पुन यहां इन विधियो मे नकारलोप को असिद्ध कहना नियमार्थ है—सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः। अर्थात् इन विधियो मे ही नकार का लोप असिद्ध हो अन्य विधियों मे न हो। यथा—राज्ञोऽश्व = राजाश्व । 'राजन्ङस् अश्वसुँ' यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास म सुँपो धातुप्रातिपदिकयो. (७२१) सूत्र से ङस् और सुँ का लुक् हो—राजन् अश्व । न लोप प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो—राज अश्व । अब यहां नलोप के असिद्ध होने से अकः सवर्णे दीर्घः (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ नहीं हो सकता। पुन इस उपर्युक्त नियम से नकारलोप के सिद्ध हो जाने से वह हो जाता है। तो इस प्रकार—'राजाश्व' रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार —दण्ड्यश्व, योग्यात्मा, मन्त्याज्ञा आदि प्रयोगो मे नकारलोप के सिद्ध होने से यण्, 'राजेश्वर' आदि प्रयोगो मे गुण तथा 'राजीयति, राजायते' मे क्रमश क्यचि च (७२२) मे ईत्व और अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (४८३) से दीर्घ हो जाता है। इस सूत्र का यही प्रयोजन है।

'राज+भ्याम्' यहां सुँपि च (१४१) से आत्व, 'राज+भिस्' यहां अतो भिस ऐस् (१४२) से भिस् का ऐस्, 'राज+भ्यस्' यहां बहुवचने झल्येत् (१४५) से एत्व ये सुब्विधियां प्राप्त होती हैं। इन के प्रति नकारलोप असिद्ध ही है अत. इन मे से कोई भी कार्य न होगा। राजभ्याम्, राजभि, राजभ्य.।

राजन्+इ(ङि)। यहां विभाषा ङिश्यो (२४८) सूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है। लोपपक्ष मे श्चुत्व हो कर—'राज्ञि'। लोपाभाव मे—'राजनि'। 'राजन्' शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र० राजा	राजानौ	राजान	प० राज्ञ	राजभ्याम्	राजभ्य
द्वि० राजानम्	,,	राज्ञ	ष० ,,	राज्ञो	राज्ञाम्
तृ० राज्ञा	राजभ्याम्	राजभि	स० राज्ञि, राजनि	,,	राजसु
च० राज्ञे	,,	राजभ्य	स० हे राजन्!	हे राजानौ!	हे राजान!

इसी प्रकार निम्नस्थ शब्दों के रूप होते हैं। [* यह चिह्न णत्वबोधक है]

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
(१) अकिञ्चनिमन् = निर्धनता	(२४) प्रेमन्* = प्रियत्व, प्रेम, स्नेह
(२) अणिमन् = अणुत्व, अणुपना	(२५) बंहिरिमन्* = बहुरापन
(३) अम्लिमन् = अम्लत्व, खट्टापन	(२६) बंहिमन् = बाहुल्य, आधिक्य
(४) आशिमन् = आशुता, शीघ्रता	(२७) बालिमन् = बालपन, लड़कपन
(५) उष्णिमन् = उष्णता, गरमी	(२८) भूमन् = बहुत्व, आधिक्य
(६) ऋजिमन् = ऋजुता, सरलता	(२९) भ्रशिमन् = भृशता, बहुतायत
(७) कालिमन् = कालापन, कृष्णता	(३०) मधुरिमन्* = माधुर्य, मिठास
(८) कृष्णिमन् = कृष्णता, कालापन	(३१) मन्दिमन् = मन्दत्व, मन्दपना
(९) क्रशिमन् = कृशत्व, दुबलापन	(३२) महिमन् = महत्त्व, गौरव
(१०) क्षेपिमन्* = क्षिप्रता, शीघ्रता	(३३) मूकिमन् = मूकता, गूंगापन
(११) क्षोदिमन् = क्षुद्रता, छुटप्पन	(३४) म्रदिमन् = मृदुता, कोमलता
(१२) गरिमन्* = गुरुत्व, गौरव	(३५) रक्तिमन् = रक्तता, लाली
(१३) चण्डिमन् = चण्डता, तीव्रता	(३६) लघिमन् = लघुता, हल्कापन
(१४) जडिमन् = जडत्व, मूर्खता	(३७) लवणिमन् = लवणता, नमकीनपन
(१५) तनिमन् = तनुत्व, पतलापन	(३८) लोहितिमन् = लोहितत्व, लाली
(१६) द्रढिमन् = दृढ़ता, कठोरता	(३९) वरिमन्* = उरुत्व, विशालता
(१७) द्राघिमन्* = दीर्घता, लम्बाई	(४०) शीतिमन् = शीतत्व, ठण्डक
(१८) पटिमन् = पटुता, चतुराई	(४१) शुक्लिमन् = शुक्लता, सुफेदी
(१९) पण्डितिमन् = पाण्डित्य, विद्वत्ता	(४२) श्वेतिमन् = श्वेतता, सुफेदी
(२०) परिव्रढिमन् = स्वामित्व	(४३) साधिमन् = साधुत्व, सज्जनता
(२१) पाण्डिमन् = पाण्डुता, पीलापन	(४४) स्थेमन् = स्थिरता, दृढ़ता
(२२) पाण्डुरिमन्* = पीलापन, सुफेदी	(४५) स्वादिमन् = स्वादुपन
(२३) प्रथिमन् = पृथुता, विस्तार	(४६) ह्रसिमन्[1] = ह्रस्वत्व, छुटप्पन

इसी प्रकार—अश्वत्थामन्, उक्षन्, तक्षन्, वृषन्, मूर्धन् प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः॥

व्याख्या—यजँ (भ्वा० उभ०) धातु से सुयजोर्ङ्वनिप् (३.२.१०३) सूत्र

१. ये सब शब्द पृथ्वादिभ्यः इमनिज्वा (११५२) सूत्र द्वारा भाव में इमनिँच् प्रत्यय करने से निष्पन्न होते हैं। इमनिँच्प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिङ्ग हुआ करते हैं। केवल 'प्रेमन्' शब्द कहीं २ नपुंसक में प्रयुक्त होता है।

द्वारा भूतकालिक ङ्वनिप्' प्रत्यय हो कर 'यज्वन्' शब्द सिद्ध होता है। इष्टवान् इति यज्वा, जो यज्ञ कर चुका है वह 'यज्वन्' कहाता है।

'यज्वन्' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'राजन्' शब्दवत् होती है, केवल भसञ्ज्ञकों में अल्लोपोऽनः (२४७) द्वारा प्राप्त अत् के लोप का निषेध हो जाता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम् (२८३) न संयोगाद्वमन्तात् ।६।४।१३७।।

वमन्तसंयोगादनोऽकारस्य लोपो न। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा॥

अर्थः—वकारान्त वा मकारान्त संयोग से परे अन् के अकार का लोप न हो।

व्याख्या—वमन्तात् ।५।१। संयोगात् ।५।१। अनः ।६।१। अल्लोपः ।१।१। (अल्लोपोऽनः से)। न इत्यव्ययपदम्। समासः—वश्च म् च = वमौ, इतरेतरद्वन्द्वः। वकारादकार उच्चारणार्थः। वमौ अन्तौ यस्य स वमन्तः, तस्मात् = वमन्तात्, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(वमन्तात्) वकारान्त और मकारान्त (संयोगात्) संयोग से परे (अनः) अन् के (अल्लोपः) अकार का लोप (न) नहीं होता।

'यज्वन्+अस् (शस्)' यहां 'यज्व्-अन्' शब्द में 'ज्व्' यह वकारान्त संयोग है अतः इस से परे अन् के अकार का लोप न हुआ—'यज्वनः' सिद्ध हुआ। एवम् आगे भी भसञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिये। रूपमाला यथा—

प्र० यज्वा	यज्वानौ	यज्वानः	पं० यज्वनः	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
द्वि० यज्वानम्	,,	यज्वनः	ष० ,,	यज्वनोः	यज्वनाम्
तृ० यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः	स० यज्वनि	,,	यज्वसु
च० यज्वने	,,	यज्वभ्यः	सं० हे यज्वन्!	हे यज्वानौ!	हे यज्वानः!

मकारान्त संयोग का उदाहरण 'ब्रह्मन्' (ब्रह्मा अथवा ब्राह्मण) है। 'ब्रह्मन्+अस्'(शस्) यहां 'ब्रह्म्-अन्' शब्द में 'ह्म्' यह मकारान्त संयोग है अतः इस से परे भसञ्ज्ञक अन के अकार का लोप न हुआ—'ब्रह्मणः'। रूपमाला यथा—

प्र० ब्रह्मा	ब्रह्माणौ	ब्रह्माणः	पं० ब्रह्मणः	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभ्यः
द्वि० ब्रह्माणम्	,,	ब्रह्मणः	ष० ,,	ब्रह्मणोः	ब्रह्मणाम्
तृ० ब्रह्मणा	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभिः	स० ब्रह्मणि	,,	ब्रह्मसु
च० ब्रह्मणे	,,	ब्रह्मभ्यः	सं० हे ब्रह्मन्!	हे ब्रह्माणौ!	हे ब्रह्माणः!

इसी प्रकार—१ आत्मन् (आत्मा)। २ अश्मन् (पत्थर)। ३ पुष्पधन्वन् (कामदेव)। ४ शार्ङ्गधन्वन् (विष्णु)। ५ सुपर्वन् (बाण, देवता)। ६ अनर्वन् (शत्रु-रहित)। ७ कृष्णवर्त्मन् (अग्नि)। ८ मातरिश्वन् (वायु)। ९ सुधर्मन् (देवसभा)। १० अकृष्णकर्मन् (शुभ कर्मों वाला)। ११ अग्रजन्मन् (बड़ा भाई, ब्राह्मण)। १२. अन्तरात्मन् (परमात्मा)। १३ अस्थिधन्वन् (शिव)। १४ अनुजन्मन् (छोटा भाई)। १५ अदृष्टकर्मन् (अनभ्यासी)। १६ अनात्मन् (जो पदार्थ आत्मा नहीं—शरीर आदि)।

१७. सुशर्मन् (प्राचीनकाल का एक राजा, अच्छी तरह सुखी)। १८. शतधन्वन् (प्राचीनकाल का एक राजा)। १९. पाप्मन् (पाप)। २०. अध्वन् (मार्ग)—इत्यादि शब्दों के रूप होते हैं।

वृत्रं हतवान् इति वृत्रहा। वृत्रकर्मोपपदाद् हन हिंसागत्योः (अदा० प०) इति धातोर् **ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्** (३.२.८७) इति भूते कर्तरि क्विप्। वृत्र को मारने के कारण इन्द्र का नाम 'वृत्रहन्' है।

वृत्रहन्+स्(सुँ)। यहां **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** (१७७) द्वारा नान्त की उपधा को दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(२८४) इन्हन्पूषार्यम्णां शौ।६।४।१२॥

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नाऽन्यत्र। इति निषेधे प्राप्ते—

अर्थः—इन्नन्त, हन्शब्दान्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त अङ्गों की उपधा को शि परे होने पर ही दीर्घ हो अन्यत्र न हो। इस से निषेध प्राप्त होने पर(अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है।)

व्याख्या—इन्हन्पूषार्यम्णाम्।६।३। अङ्गानाम्।६।३। (अङ्गस्य का वचन-विपरिणाम हो जाता है)। शौ।७।१। उपधायाः।६।१। (नोपधायाः से)। दीर्घः।१।१। (**ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से)। 'अङ्गानाम्' का विशेषण होने से 'इन्हन्पूषार्यम्णाम्' से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(इन्हन्पूषार्यम्णाम्) इन्नन्त, हन्नन्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर(दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (शौ) शि परे होने पर।

नपुंसकलिङ्ग में 'शि' की **शि सर्वनामस्थानम्** (२३८) सूत्र-द्वारा सर्वनाम-स्थानसञ्ज्ञा होती है, अतः उस के परे होने पर सूत्र में गिनाये सब शब्दों की उपधा को **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** (१७७) से ही दीर्घ हो सकता है। पुनः इस सूत्र द्वारा दीर्घविधान **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः** के अनुसार नियमार्थ है। अर्थात् —इन की उपधा को यदि दीर्घ हो तो 'शि' परे होने पर ही हो, अन्यत्र न हो—यह नियम फलित होता है।

'वृत्रहन्+स्' यहां हन्शब्दान्त से परे 'सुँ' वर्त्तमान है 'शि' नहीं, अतः प्रकृत-नियम से यहां दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२८५) सौ च।६।४।१३॥

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ (परे)। वृत्रहा। हे वृत्रहन्!॥

अर्थः—इन्नन्त आदि अङ्गों की उपधा को दीर्घ हो, सम्बुद्धि-भिन्न सुँ परे हो तो।

व्याख्या—इन्हन्पूषार्यम्णाम्।६।३। (**इन्हन्पूषार्यम्णां शौ** से)। अङ्गानाम्।६।३। (अङ्गस्य यह अधिकृत है)। उपधायाः।६।१। (नोपधायाः से)। दीर्घः।१।१। (**ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से)। असम्बुद्धौ।७।१। (**सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** से)। सौ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे होने पर

(इन्हन्पूषार्यम्णाम्) इन्नन्त, हन्नन्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घ.) दीर्घ हो जाता है। पूर्वसूत्र के नियम से 'सुँ' में दीर्घ नहीं हो सकता था, अब इस से 'सुँ' मे हो जाता है। शेष 'शि'-भिन्न सर्वनामस्थान मे पूर्वनियमानुसार निषेध ही रहेगा।

'वृत्रहन्+स्' यहां प्रकृतसूत्र से दीर्घ हो जाता है—वृत्रहान्+स्। अब हल्ङ्याब्भ्य.० (१७६) से सकारलोप तथा न लोप० (१८०) से नकार का लोप हो कर 'वृत्रहा' प्रयोग सिद्ध होता है।

'वृत्रहन्+औ' यहा प्राप्त उपधादीर्घ का इन्हन्पूषार्यम्णां शौ (२८४) सूत्र से निषेध हो जाता है। अट्कुप्वाङ्० (१३८) से णत्व भी नहीं हो सकता क्योंकि समानपद नहीं है। अत णत्व करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२८६) एकाजुत्तरपदे णः ।८।४।१२।।

एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुँम्विभक्तिस्थस्य नस्य ण स्यात्। वृत्रहणौ ।।

अर्थः—एक अच् वाला उत्तरपद है जिस के, ऐसे समास मे पूर्वपद में ठहरे निमित्त (ऋ, र् ष्) से परे प्रातिपदिकान्त, नुँम् तथा विभक्ति मे स्थित नकार को णकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—एकाजुत्तरपदे ।७।१। पूर्वपदाभ्याम् ।५।२। (पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः से)। रषाभ्याम् ।५।२। नः ।६।१। ण. ।१।१। (रषाभ्यां नो णः समानपदे से)। प्रातिपदिकान्तनुँम्विभक्तिषु ।७।३। (प्रातिपदिकान्त० से)। समास —एकोऽच् यस्मिन् तद् एकाच्, बहुव्रीहिसमास। एकाच् उत्तरपद यस्य स एकाजुत्तरपद. (समास), तस्मिन् =एकाजुत्तरपदे, बहुव्रीहिसमास। पूर्वं पदं ययोस्तौ पूर्वपदौ (रषौ), ताभ्याम्= पूर्वपदाभ्याम् (रषाभ्याम्), बहुव्रीहिसमासः। प्रातिपदिकस्य अन्त =प्रातिपदिकान्त, षष्ठीतत्पुरुष। प्रातिपदिकान्तश्च नुँम् च विभक्तिश्च=प्रातिपदिकान्तनुँम्विभक्तय, तासु=प्रातिपदिकान्तनुँम्विभक्तिषु, इतरेतरद्वन्द्व। अर्थ —(एकाजुत्तरपदे) जिस समास में उत्तरपद एक अच् वाला हो उस समास मे (पूर्वपदाभ्याम्) पूर्वपद वाले (रषाभ्याम्) रेफ षकार से परे (प्रातिकान्तनुँम्विभक्तिषु) प्रातिपदिक के अन्त मे, नुँम् में, तथा विभक्ति मे स्थित (न.) नकार के स्थान पर (ण) णकार आदेश हो जाता है।

'वृत्रहन्+औ' यहा उपपदसमास मे 'वृत्र' यह पूर्वपद तथा 'हन्' यह उत्तरपद है। उत्तरपद 'हन्' एक अच् वाला है। पूर्वपद मे तकारोत्तर रेफ भी विद्यमान है अत उस से परे प्रातिपदिक के अन्त मे स्थित नकार को णकार हो कर 'वृत्रहणौ' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे सर्वनामस्थानों मे—'वृत्रहण, वृत्रहणम्, वृत्रहणौ' रूप बनते हैं।

'वृत्रहन्+अस्' (शस्) यहां एकाजुत्तरपदे णः (८४१२) के असिद्ध होने से अल्लोपोऽन. (६४१३४) द्वारा अन् के अकार का लोप हो जाता है। 'वृत्रह्न्+अस्' इस अवस्था में अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२८७) हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ।७।३।५४॥

ञिति णिति प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात् । वृत्रघ्नः । इत्यादि । एवं शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन् ॥

अर्थः—ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर अथवा नकार परे होने पर हन् धातु के हकार को कवर्ग (घकार) आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—हन्तेः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। हः ।६।१। ञ्णिन्नेषु ।७।३। कु ।१।१। (चजोः कु घिण्ण्यतोः से) । समासः—ञ् च् ण् च=ञ्णौ, इतरेतर-द्वन्द्वः। ञ्णौ इतौ ययोस्तौ=ञ्णितौ (अङ्गाधिकारत्वात्प्रत्ययौ), बहुव्रीहिसमासः। ञ्णितौ च नश्च=ञ्णिन्नास्तेषु=ञ्णिन्नेषु, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(ञ्णिन्नेषु) ञित् णित् प्रत्यय अथवा नकार परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (हन्तेः) हन् धातु के (हः) हकार के स्थान पर (कु) कवर्ग आदेश हो जाता है। हकार का—संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण यत्न है; कवर्गों में तत्सदृश केवल घकार ही है, अतः हकार के स्थान पर आन्तरतम्य से घकार ही कवर्ग आदेश होगा।[1]

'वृत्रहन्+अस्' यहां नकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से हकार को कवर्ग-घकार आदेश हो कर 'वृत्रघ्नः' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां उत्तरपद के एकाच् न रहने से पूर्वसूत्रद्वारा णत्व नहीं होता। इसी प्रकार आगे भसञ्ज्ञकों में जब **अल्लोपोऽनः** (२४७) से अन् के अकार का लोप हो जाता है तब नकार परे होने से हकार को घकार हो जाता है। यथा—टा में—'वृत्रघ्ना'; ङे में—'वृत्रघ्ने'; ङसि और ङस् में—'वृत्रघ्नः'; ओस् में 'वृत्रघ्नोः'; आम् में—'वृत्रघ्नाम्' रूप बनते हैं। ङि में **विभाषा ङिश्योः** (२४८) द्वारा अन् के अकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है अतः लोपपक्ष में नकार परे रहने से 'वृत्रघ्नि' और लोपाभाव में नकार परे न होने के कारण 'वृत्रहणि' रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	वृत्रहा	वृत्रहणौ	वृत्रहणः	प०	वृत्रघ्नः	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः
द्वि०	वृत्रहणम्	,,	वृत्रघ्नः	ष०	,,	वृत्रघ्नोः	वृत्रघ्नाम्
तृ०	वृत्रघ्ना	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिः	स०	वृत्रघ्नि, वृत्रहणि	,,	वृत्रहसु
च०	वृत्रघ्ने	,,	वृत्रहभ्यः	सं०	हे वृत्रहन्!	हे वृत्रहणौ!	हे वृत्रहणः!

इसी प्रकार—ब्रह्महन्, भ्रूणहन् शब्दों के उच्चारण होते हैं।

शार्ङ्गिन् (विष्णु)। शार्ङ्गम्=शृङ्गनिर्मितं धनुरस्यास्तीति शार्ङ्गी। **अत इनिठनौ** (११८७) इतीनिँप्रत्ययः। रूपमाला यथा—

प्र०	शार्ङ्गी*	शार्ङ्गिणौ†	शार्ङ्गिणः	प०	शार्ङ्गिणः	शार्ङ्गिभ्याम्	शार्ङ्गिभ्यः
द्वि०	शार्ङ्गिणम्	,,	,,	ष०	,,	शार्ङ्गिणोः	शार्ङ्गिणाम्
तृ०	शार्ङ्गिणा	शार्ङ्गिभ्याम्	शार्ङ्गिभिः	स०	शार्ङ्गिणि	,,	शार्ङ्गिषु‡
च०	शार्ङ्गिणे	,,	शार्ङ्गिभ्यः	सं०	हे शार्ङ्गिन्!	शार्ङ्गिणौ!	शार्ङ्गिणः!

१. ञित् के उदाहरण 'घातः' आदि तथा णित् के उदाहरण 'जघान' आदि आगे आयेंगे।

*इन्हन्पूषार्यम्णां शौ (२८४) नियम से उपधादीर्घ के निषिद्ध होने पर सौ च (२८५) से दीर्घ हो सकार और नकार का लोप हो जाता है।

‡ 'शार्ङ्गिणौ' आदियों में अट्कुप्वाङ्० (१३८) से णत्व हो जाता है। 'हे शार्ङ्गिन्!' में पदान्तस्य (१३९) सूत्र द्वारा णत्वनिषेध होता है।

† 'शार्ङ्गिषु' में सुब्विधि न होने से नकार का लोप असिद्ध नहीं होता, अतः षत्व करने में बाधा नहीं होती।

इस प्रकार के इन्नन्त शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत हैं। कुछ का बालोपयोगि-संग्रह नीचे दिया जा रहा है। *यह चिह्न णत्वप्रक्रिया का परिचायक है।

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
अऋणिन् = ऋणरहित	कृतिन् = पण्डित	नयशालिन् = नीतिज्ञ
अनृणिन् = ,,	केसरिन्* = शेर	निवासिन् = रहने वाला
अक्षदेविन् = जुआरी	क्रोधिन् = क्रोधी	पक्षिन्* = परिन्दा
अज्ञानिन् = अज्ञानी	क्षणविध्वंसिन् = क्षणिक	परदेशिन् = विदेशी
अतिशायिन् = बढ़ा हुआ	खड्गिन् = गेण्डा	परमेष्ठिन् = ब्रह्मा
अधिकारिन्* = अधिकारी	गुणिन् = गुणयुक्त	परिपन्थिन् = शत्रु
अधीतिन्[1] = विद्वान्	गृहमेधिन् = गृहस्थी	पादचारिन्* = पैदल
अनुजीविन् = सेवक	गृहिन्* = ,,	पाशिन् = यमराज
अनुयायिन् = अनुयायी	गृहीतिन् = समझा हुआ	पिनाकिन् = शिव
अन्तेवासिन् = शिष्य	घोणिन् = सूअर	पुष्करिन्* = हाथी
आगामिन् = आने वाला	चक्रवर्तिन् = सार्वभौम	प्रकम्पिन् = कांपने वाला
आततायिन् = दुष्ट	चक्रिन्* = चक्रधारी	प्रणयिन् = प्रेमी
उपजीविन् = सेवक	जन्मिन् = प्राणी	प्रतिवेशिन् = पड़ोसी
उपयोगिन् = उपयोगी	जम्भभेदिन् = इन्द्र	प्रत्यर्थिन् = शत्रु
ऊर्मिमालिन् = समुद्र	ज्ञानिन् = ज्ञानी	प्रवासिन् = परदेश गया
एकाकिन् = अकेला	तपस्विन् = तपस्वी	प्राणिन् = प्राणी
कञ्चुकिन् = कञ्चुकी	त्यागिन् = त्यागी	फणिन् = फणधर साँप
कपटिन् = कपटी	दंष्ट्रिन्* = सूअर	फलिन् = फलों वाला पेड़
कपालिन् = महादेव	दण्डिन् = दण्डधारी	बलशालिन् = बलवान्
करटिन् = हाथी	दन्तिन् = हाथी	बलिध्वंसिन् = विष्णु
करिन्* = हाथी	दीर्घदर्शिन् = दूरदर्शी	बलिन् = बलवान्
कलापिन् = मोर	देहिन् = जीवात्मा	बुद्धिशालिन् = बुद्धिमान्
कामिन् = कामी	द्वारिन्* = द्वारपाल	ब्रह्मचारिन्* = ब्रह्मचारी
किरणमालिन् = सूर्य	द्वीपिन् = बाघ	ब्रह्मवादिन् = ब्रह्मवादी
कुण्डलिन् = साँप	धनिन् = धनवान्	भागिन् = हिस्सेदार

१ इस के योग में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है—व्याकरणेऽधीती।

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
भिक्षाशिन् = भिक्षुक	वनमालिन् = श्रीकृष्ण	शिखण्डिन् = मोर
भोगिन् = सांप, राजा	वनवासिन् = वनवासी	शिल्पिन् = कारीगर
मनस्विन् = बुद्धिमान्	वशवर्त्तिन् = आज्ञाकारी	शेषशायिन् = विष्णु
मनीषिन्* = बुद्धिमान्	वशिन् = वशवर्त्ती	श्रमिन्* = परिश्रमी
मन्त्रिन्* = मन्त्री	वाग्मिन् = वाक्पटु	श्रेष्ठिन् = धनवान्
मरीचिमालिन् = सूर्य	विटपिन् = वृक्ष	संयमिन् = संयमी
मस्करिन्* = संन्यासी	वियोगिन् = विरही	सङ्गिन् = साथी
मानिन् = अभिमानी	वीचिमालिन् = समुद्र	सञ्चारिन्* = सञ्चारी
मालिन् = मालाधारी	वैरिन्* = शत्रु	सत्यवादिन् = सत्यवादी
मुण्डिन् = सिरमुण्डा	व्यभिचारिन्* = दुराचारी	सब्रह्मचारिन्* = सहपाठी
मेधाविन् = बुद्धिमान्	व्यवायिन् = व्यभिचारी	सव्यसाचिन् = अर्जुन
योगिन् = योगी	व्यापिन् = व्यापक	सहकारिन्* = सहयोगी
रथारोहिन्* = रथसवार	व्योमचारिन्* = नभचर	साक्षिन्* = गवाह
रूपधारिन्* = रूपधारी	व्रतिन् = व्रत वाला	सादिन् = घुड़सवार
रोगिन्* = रोगी	शमिन् = शान्त	स्वामिन् = स्वामी
लाङ्गलिन् = बलराम	शरीरिन्* = जीवात्मा	हस्तिन् = हाथी
लिङ्गिन् = साधु	शास्त्रदर्शिन् = शास्त्रज्ञ	हितैषिन्* = हितेच्छुक
लोभिन् = लोभी	शास्त्रिन्* = शास्त्रज्ञ	

नोट— ध्यान रहे कि इन्नन्त शब्दों का इकार, आम् में सदा ह्रस्व ही रहता है। यथा—योगिनाम्, करिणाम्, धनिनाम् आदि। इस की दीर्घता केवल सुँ में ही हुआ करती है—योगी, करी, धनी आदि। समास में नकार का लोप हो कर इकार ह्रस्व ही रहता है। यथा—विटपिनः शाखा—विटपिशाखा। रोगिणश्चर्या —रोगिचर्या।

स्त्रीलिङ्ग में इन्नन्त शब्दों का प्रयोग करना हो तो इन के आगे **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) द्वारा ङीप् प्रत्यय किया जाता है। ङीप् के अनुबन्धों का लोप हो कर 'ई' मात्र अवशिष्ट रहता है। तब इस की रूपमाला गौरीशब्द के समान होती है—योगिनी, योगिन्यौ, योगिन्यः आदि।

हिन्दी में इन्नन्त शब्द ईकारान्त के रूप में प्रचलित हैं अतः कई लोग इन को ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग समझने की भूल किया करते हैं। इस से सावधान रहना चाहिये।

पूषन् (सूर्य)। पूषन् शब्द **श्वन्नुक्षन्पूषन्०** (उणा० १५७) इस औणादिक सूत्र द्वारा **पुष पुष्टौ** (क्र्या० प०) धातु से कनिँन्प्रत्ययान्त निपातित होता है। पुष्णातीति पूषा। जगत् को पुष्टि प्रदान करने के कारण सूर्य का नाम 'पूषन्' है। **विकर्तनाऽर्क-मार्तण्ड-मिहिराऽरुणपूषणः**—इत्यमरः। 'पूषन्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	पूषा‡	पूषणौ†	पूषण†	प०	पूष्ण*	पूषभ्याम्	पूषभ्य
द्वि०	पूषणम्†	,,†	पूष्ण*	ष०	,,*	पूष्णो*	पूष्णाम्*
तृ०	पूष्णा*	पूषभ्याम्	पूषभि	स०	पूष्णि पूषणि✓	,,	पूषसु
च०	पूष्णे*	,,	पूषभ्य	सं०	हे पूषन्!	हे पूषणौ!	हे पूषण!

‡ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ (२८४), सौ च (२८५)।

† इ हन्निति नियमान्न दीर्घ । णत्वमत्र अट्कु० (१३८) इति सूत्रेण भवति। भमन्तग्नेषु तु अल्लोपे कृते रषाभ्यां नो णः समानपदे (२६७) इति णत्वं बोध्यम्।

*अल्लोपोऽनः (२४७)। ✓ विभाषा ङिश्योः (२४८)।

अर्यमन् (सूर्य)। श्वन्नुक्षन्० (उणा० १५७) इत्युणादिसूत्रेण अर्योपपदाद् माङ् माने (जुहो० आ०) इत्यस्माद्धातोः कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। रूपमाला यथा—

प्र०	अर्यमा	अर्यमणौ	अर्यमण	प०	अर्यम्ण	अर्यमभ्याम्	अर्यमभ्य
द्वि०	अर्यमणम्	,,	अर्यम्ण	ष०	,,	अर्यम्णो	अर्यम्णाम्
तृ०	अर्यम्णा	अर्यमभ्याम्	अर्यमभि	स०	अर्यम्णि,अर्यमणि	,,	अर्यमसु
च०	अर्यम्णे	,,	अर्यमभ्य	सं०	हे अर्यमन्!	अर्यमणौ!	अर्यमण!

णत्व सर्वत्र अट्कु० (१३८) सूत्र से ही होता है।

यशस्विन् (यशस्वी = कीर्तिमान्)। [यशोऽस्यास्तीति—यशस्वी, अस्माया-मेधास्रजो विनिः (११८९) इति मत्वर्थे विनिप्रत्यय]। रूपमाला यथा—

प्र०	यशस्वी	यशस्विनौ	यशस्विन	प०	यशस्विन	यशस्विभ्याम्	यशस्विभ्य
द्वि०	यशस्विनम्	,,	,,	ष०	,,	यशस्विनो	यशस्विनाम्
तृ०	यशस्विना	यशस्विभ्याम्	यशस्विभि	स०	यशस्विनि	,,	यशस्विषु
च०	यशस्विने	,,	यशस्विभ्य	सं०	हे यशस्विन्!	यशस्विनौ!	यशस्विन!

नोट—यहां 'यशस्विन्' में विन्प्रत्यय होने से 'इन्' अनर्थक तथा शार्ङ्गिन्' में इन्प्रत्यय होने से इन्' सार्थक है—समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थक.। सार्थक और अनर्थक के मध्य सार्थक का ही ग्रहण किया जाता है, अत इस के अनुसार 'यशस्विन्' आदि शब्दों में इन्हन्० (२८४) तथा सौ च (२८५) सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकते थे। परन्तु इस विषय की—अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधि प्रयोजयन्ति (जिन सूत्रों में अन्, इन्, अस्, मन् का ग्रहण हो वे सूत्र इन के सार्थक अथवा अनर्थक होने पर भी एतदन्तों में प्रवृत्त हो जाते हैं[1])। इस परिभाषा से

१ परिभाषोदाहरणानि यथा—राज्ञ इत्यत्र अन् अर्थवान्, दाम्न इत्यत्र तु अनर्थक। शार्ङ्गी इत्यत्र इन् अर्थवान्, यशस्वी इत्यत्र तु अनर्थक। सुपया इत्यत्र अस् अर्थवान्, सुस्रोता इत्यत्र तु अनर्थक। असन्तत्वाद् उभयत्र दीर्घ (३४३)। सुशर्मा इत्यत्र मन् अर्थवान्, सुप्रथिमा इत्यत्र तु अनर्थक। मन (४११*) इति उभयत्र न ङीप्।

अनर्थक 'इन्' होने पर भी इन्हन्० आदि सूत्रों की प्रवृत्ति हो जाती है। इस बात को जनाने के लिये ही ग्रन्थकार ने यहां 'यशस्विन्' यह इन् का दूसरा उदाहरण दिया है, अन्यथा 'शार्ङ्गिन्' यह उदाहरण तो वे दे ही चुके थे।

मघवन् (इन्द्र)। श्वन्नुक्षन्० (उणा० १५७) इति सूत्रेण मह पूजायाम् (भ्वा० प०) इति धातोः कनिँन्प्रत्ययो ह्रस्य घो वुँगागमश्च निपात्यते।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२८८) **मघवा बहुलम्** ।६।४।१२८॥

'मघवन्' शब्दस्य वा तृँ इत्यन्तादेशः स्यात्। ऋ इत्[1]॥

अर्थः—मघवन् शब्द को विकल्प कर के 'तृँ' अन्तादेश हो। ऋ इत्—ऋकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—मघवा ।१।१। (छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति—के अनुसार यहां षष्ठी विभक्ति के अर्थ में प्रथमा विभक्ति जाननी चाहिये)। बहुलम् ।१।१। तृँ ।१।१। (अर्वणस्त्रसावनञः से। यहां प्रथमा विभक्ति का लुक् जानना चाहिये)। **अर्थः**—(मघवा) मघवन् शब्द के स्थान पर (बहुलम्) विकल्प कर के[2] (तृँ) 'तृँ' यह आदेश हो।

यद्यपि यह तृँ आदेश अनेकाल् होने से **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) सूत्र द्वारा सम्पूर्ण 'मघवन्' शब्द के स्थान पर होना चाहिये; तथापि **नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्** (अनुबन्धों के कारण अनेकाल्ता नहीं माननी चाहिये) इस परिभाषा से इस के अनेकाल् न होने से सर्वादेश नहीं होता किन्तु अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्तादेश हो जाता है।

'मघवतृँ' यहां ऋकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा और **तस्य लोपः** (३) से लोप हो कर 'मघवत्' शब्द बन जाता है। जिस पक्ष में तृँ आदेश नहीं होता उस पक्ष में मघवन् ही रहता है उस का विवेचन आगे करेंगे।

'मघवत्+स्' (सुँ) इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२८९) **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** ।७।१।७०॥

अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुँमागमः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। मघवान्। मघवन्तौ। मघवन्तः। हे मघवन्! मघवद्भ्याम्। तृँत्वाऽभावे—मघवा। सुँटि राजवत्॥

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर धातुभिन्न उगित् को तथा जिस के नकार का लोप हो चुका हो ऐसी 'अञ्चुँ' धातु को नुँम् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—उगिदचाम् ।६।३। सर्वनामस्थाने ।७।१। अधातोः ।६।१। नुँम् ।१।१।

---

१. यहां 'ऋ' यह विभक्तिरहित निर्दिष्ट किया गया है। प्रक्रियादशा में अविभक्तिक निर्देश करने में भी कोई दोष नहीं होता।

२. 'बहुलम्' पद केवल विकल्प के लिये ही नहीं है अपितु—'मघवान्' रूप में उपधा-दीर्घ करने पर संयोगान्तलोप असिद्ध न हो—इस के लिये भी समझना चाहिये।

(इदितो नुँम् धातोः से)। समास—उक् इत् येषां ते=उगितः, बहुव्रीहिसमास। उगितश्च अच् च=उगिदचः, तेषाम्=उगिदचाम्, इतरेतरद्वन्द्व। 'अच्'शब्दनेह लुप्तनकारस्य अञ्चुँ गतिपूजनयोः (भ्वा० प०) इति धातोर्ग्रहणं भवति। न धातुः= अधातुः—तस्य—अधातोः, नञ्समास। अधातोरिति उगितामेव विशेषणं सम्भवति न तु अञ्चतेरिति बोध्यम्। अर्थ—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (अधातोः) धातु से भिन्न (उगिदचाम्) उक्—प्रत्याहार इत् वाले शब्दों का तथा नकार लुप्त हुई अञ्चुँ धातु का अवयव (नुँम्) नुँम् हो जाता है[1]।

भाव—जिन शब्दों में उकार, ऋकार, ऌकार वर्णों की इत्सञ्ज्ञा होती है और यदि वे धातु नहीं तो सर्वनामस्थान परे होने पर उन को नुँम् का आगम हो जाता है।

'मघवत्+स्' यहां त् के ऋकार की इत्सञ्ज्ञा हुई है अतः यह उगित् है, इस से परे सुँ यह सर्वनामस्थान भी विद्यमान है। इसलिये मिदचोऽन्त्यात्परः (२४०) परिभाषा की सहायता से प्रकृतसूत्र से अन्त्य अच् से परे नुँम् का आगम हो कर— मघवनुँम् त्+स्='मघवन् त्+स्' हुआ। अब हल्ङ्याब्भ्यः० (१७६) से सकार तथा संयोगान्तस्य लोपः (२०) से तकार का लोप हो कर—'मघवन्'। पुनः प्रत्यय-लक्षण द्वारा सुँ को मान कर सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ (१७७) से उपधादीर्घ करने से 'मघवान्' रूप सिद्ध होता है।

नोट—यहां संयोगान्तस्य लोपः (८.२.२३) द्वारा किया लोप उपधा को दीर्घ करने में असिद्ध नहीं होता। इस का कारण मघवा बहुलम् (२८६) सूत्र में 'बहुल' का ग्रहण है। 'बहुल' ग्रहण का तात्पर्य यह होता है कि लोकप्रसिद्ध इष्टरूप में जितनी बाधाएं उपस्थित होती हैं न हों। 'मघवान्' रूप लोक में प्रसिद्ध है यथा— हरिर्जयति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ (भट्टि०)। अतः इस की सिद्धि के अनुरूप उपधादीर्घ करने में संयोगान्तलोप असिद्ध नहीं होता। नकार का लोप भी इसी कारण नहीं होता। 'बहुल' शब्द पर विशेष विचार कृदन्तों में कृत्यल्युटो बहुलम् (७७२) सूत्र पर किया जायेगा।

तृ-पक्ष में 'मघवन्'शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	मघवान्	मघवन्तौ*	मघवन्तः	पं०	मघवतः	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः
द्वि०	मघवन्तम्	"	मघवतः	ष०	"	मघवतोः	मघवताम्
तृ०	मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः	स०	मघवति	"	मघवत्सु
च०	मघवते	"	मघवद्भ्यः	सं०	हे मघवन्!	मघवन्तौ!	मघवन्तः!

*यहां इतना विशेष है कि नुँम् का आगम होकर नश्चाऽपदान्तस्य झलि (७८)

---

१ लुप्तनकार अञ्चुँ धातु को नुँम् के उदाहरण—'प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः' आदि आगे इसी प्रकरण में (३३४) सूत्र पर देखें।

सूत्र से अनुस्वार और अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (७९) से परसवर्ण—नकार हो जाता है। इसी प्रकार जस्, अम् और औट् में भी प्रक्रिया होती है।

‡इत्यादियों में झलां जशोऽन्ते (६७) से जश्त्व-दकार हो जाता है।

†यहां नुँम् का आगम हो कर हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् तथा संयोगान्तलोप हो जाता है। सम्बुद्धि परे होने से सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) द्वारा उपधादीर्घ नहीं होता। नकारलोप का निषेध पूर्ववत् न ङिसम्बुद्ध्योः (२८१) द्वारा हो जाता है।

तृ‌त्व के अभाव में—

जहां तृ आदेश नहीं होता वहां सुँट् अर्थात् सर्वनामस्थान तक तो मघवन् शब्द के 'राजन्' शब्दवत् रूप बनते हैं। मघवा, मघवानौ, मघवानः, मघवानम्, मघवानौ।

'मघवन्+अस्' (शस्) यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२९०) **श्वयुवमघोनामतद्धिते**[1] ।६।४।१३३॥

अन्नन्तानां भसञ्ज्ञकानाम् एषाम् अतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात्। मघोनः। मघवभ्याम्। एवं श्वन्, युवन्॥

अर्थः—'अन्' शब्द जिन के अन्त में है ऐसे भसञ्ज्ञक श्वन्, युवन्, मघवन् शब्दों को तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण हो जाता है।

व्याख्या—अनाम् ।६।३। (अल्लोपोऽनः सूत्र से वचनविपरिणाम करके)। भानाम् ।६।३। (भस्य इस अधिकार का वचनविपरिणाम हो जाता है)। श्वयुवमघोनाम् ।६।३। सम्प्रसारणम् ।१।१। (वसोः सम्प्रसारणम् से)। अतद्धिते ।७।१। समासः—श्वा च युवा च मघवा च=श्वयुवमघवानः, तेषाम्=श्वयुवमघोनाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। न तद्धितः=अतद्धितस्तस्मिन्=अतद्धिते, नञ्समासः। यहां पर्युदास प्रतिषेध होने से तद्धित से भिन्न तत्सदृश अर्थात् प्रत्यय का ग्रहण होता है। 'अनाम्' से तदन्तविधि

---

१. इस सूत्र पर एक सुभाषित अत्यन्त प्रसिद्ध है—

प्रश्नः—
काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे
ग्रथ्नासि बाले! किमिदं विचित्रम्?

उत्तरम्—
विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे
श्वानं युवानं मघवानमाह॥ } उपजातिवृत्तम्

माला गूंथती हुई किसी बाला से प्रश्न किया गया कि तुम कांच, मणि और सोने को एक—ही सूत्र (तागे) में क्यों गूंथ रही हो? वह उत्तर देती है—विचारवान् पाणिनिमुनि ने भी तो एक सूत्र में कुत्ते, युवा और इन्द्र को घसीट मारा है। अत्यन्त समुचित उत्तर है। जब पाणिनि जैसे बुद्धिमान् लोग भी असमान वस्तुओं को एक स्थान में बिठाते हैं तो भला मैं बाला (मूर्खा) ऐसा करूं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

वस्तुतः यह कोई काव्य नहीं कि 'सहचरभिन्नता' दोष हो। शब्दशास्त्र में ऐसी बात नहीं देखी जानी चाहिये। इस पद्य को कवि का विनोद समझना चाहिये।

होती है। अर्थ —(अनाम्) अन्नन्त (भानाम्) भसञ्ज्ञक (श्वयुवमघोनाम्) श्वन्, युवन् तथा मघवन् शब्दो को (अतद्धिते) तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है।

'मघवन्+अस्' यहा मघवन् शब्द अन्नन्त भी है, भसञ्ज्ञक भी है और इस से परे तद्धितभिन्न 'शस्' प्रत्यय भी विद्यमान है अत इग्यण सम्प्रसारणम् (२५६) के अनुसार प्रकृतसूत्र से वकार को उकार सम्प्रसारण हो कर—'मघ उ अन्+अस्'। सम्प्रसारणाच्च (२५८) से उकार और अकार के स्थान पर पूर्वरूप उकार हो—'मघ उ न्+अस्'। अब आद् गुण (२७) सूत्र से गुण एकादेश करने पर—मघोन्+अस्=मघोनस्='मघोन' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य भसञ्ज्ञको मे भी जानना चाहिये। भ्याम् आदियो मे राजन्शब्दवत् नकार का लोप (१८०) हो जाता है—मघवभ्याम्, मघवभि, मघवभ्य। इस तृत्वाभावपक्ष मे मघवन् शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	मघवा	मघवानौ	मघवान	प०	मघोन	मघवभ्याम्	मघवभ्य
द्वि०	मघवानम्	,,	मघोन	ष०	,,	मघोनो	मघोनाम्
तृ०	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभि	स०	मघोनि	,,	मघवसु
च०	मघोने	,,	मघवभ्य	स०	हे मघवन्!	मघवानौ!	मघवान!

यद्यपि श्वन्, युवन् तथा मघवन् शब्द स्वयम् अन्नन्त ('अन्' अन्त वाले) है, इन के लिये 'अनाम्' पद का अनुवर्त्तन करना कुछ उचित प्रतीत नही होता, तथापि यदि यहा 'अनाम्' पद का अनुवर्त्तन न करते तो तृ आदेश के पक्ष मे 'मघवत, मघवता' आदि रूपो मे एकदेशविकृतमनन्यवत् के न्यायानुसार 'मघवन्' शब्द समझ लिये जाने से सम्प्रसारण हो जाता जो अनिष्ट था। परन्तु अब 'अन्नन्त मघवन्' इस प्रकार के कथन से कुछ भी दोष नही होता, क्योकि तृत्वपक्ष मे अन्नन्त मघवन् नही किन्तु तान्त मघवत् है। यदि यहा कोई यह शङ्का करे कि एकदेशविकृतन्याय से इसे अन्नन्त भी मान लेंगे अत आप का 'अनाम्' यह कथन दोषनिवृत्ति के लिये नही बन सकता तो उस का उत्तर यह है कि एकदेशविकृतन्याय लोकमूलक है। जैसे लोक मे पुच्छकटे कुत्ते मे कुत्ते का तो व्यवहार होता है परन्तु पूछ के विषय मे पूछ का व्यवहार नही होता, इसी प्रकार यहा 'मघवत्' शब्द मे 'मघवन्' शब्द का तो व्यवहार होता है परन्तु अन्नन्तत्व का व्यवहार नही होता अत 'अनाम्' का अनुवर्त्तन करने से दोष निवृत्त हो जाता है।

'तद्धितभिन्न' कथन का यह अभिप्राय है कि माघवनम् [मघवा देवता अस्य हविष तत्=माघवनम्। साऽस्य देवता (१०३८) इति मघवन्शब्दादणि तद्धितेष्वचामादे (६३८) इत्यादिवृद्धौ विभक्त्युत्पत्तौ—'माघवनम्' इति सिध्यति] यहा 'अण्' तद्धित के परे होने पर सम्प्रसारण आदेश न हो।

श्वन् (कुत्ता)। यह शब्द व्युत्पत्तिपक्ष मे श्वन्नुक्षन्० (उणा० १५७) सूत्र

द्वारा टुओश्वि गतिवृद्ध्योः (भ्वा० प०) धातु से कनिँन् प्रत्यय तथा इकारलोप करने पर निपातित हुआ है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	श्वा	श्वानौ	श्वानः	प० शुनः	श्वभ्याम्	श्वभ्यः
द्वि०	श्वानम्	,,	शुनः†	ष० ,,	शुनोः	शुनाम्
तृ०	शुना	श्वभ्याम्	श्वभिः	स० शुनि	,,	श्वसु
च०	शुने	,,	श्वभ्यः	सं० हे श्वन्!	हे श्वानौ!	हे श्वानः!

† 'श्वन्+अस्' (शस्) यहां श्वयुवमघोनामतद्धिते (२६०) सूत्र से सम्प्रसारण हो—शु अन्+अस्। सम्प्रसारणाच्च (२५८) से पूर्वरूप हो—शुन्+अस्='शुनः'। इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिये।

युवन् (जवान, श्रेष्ठ)। [व्युत्पत्तिपक्षे यु मिश्रणामिश्रणयोः (अदा० प०) इति धातोः कनिँन् यु-वृषि-तक्षि-राजि-धन्वि-द्यु-प्रतिदिवः (उणा० १५४) इति सूत्रेण कनिँन्प्रत्यये युवन्शब्दः सिध्यति]।

सर्वनामस्थानों में इस की प्रक्रिया राजन्शब्दवत् होती है। युवा, युवानौ, युवानः, युवानम्, युवानौ।

'युवन्+अस्' (शस्) यहां श्वयुवमघोनामतद्धिते (२६०) सूत्र से वकार को सम्प्रसारण-उकार हो जाता है—यु उ अन्+अस्। अब सम्प्रसारणाच्च (२५८) से पूर्वरूप तथा अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—'यून्+अस्' बन जाता है। अब इस स्थिति में श्वयुवमघोनामतद्धिते (२६०) सूत्र से यकार को भी इकार सम्प्रसारण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(२६१) न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्।६।१।३६॥

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति यकारस्य नेत्वम्। अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्। यूनः। यूना। युवभ्याम् इत्यादि॥

अर्थः—सम्प्रसारण परे होने पर पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता। **इति यस्येति**—इस सूत्र के कारण यकार को इकार नहीं होता। **अत एवेत्यादि**—इस ज्ञापक से यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रथम अन्त्य यण् को सम्प्रसारण करना चाहिये।

व्याख्या—सम्प्रसारणे ।७।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(सम्प्रसारणे) सम्प्रसारण परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता। 'यून्+अस्' यहां सम्प्रसारण परे है अतः पूर्व यकार को सम्प्रसारण नहीं होता—यूनस्='यूनः'। अब यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि पूर्व यकार को पहले सम्प्रसारण कर लिया जाये और वकार को बाद में सम्प्रसारण करें तो **न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** (२६१) सूत्र निषेध न कर सकेगा, अतः यहां ऐसा क्यों न किया जाये? इस के समाधान में कहा है—**अत एव ज्ञापकादित्यादि**। अर्थात् यदि ऐसा किया जाये तो **न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** (२६१) सूत्र व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि तब इसे कोई

भी स्थान प्रवृत्ति के लिये न मिल सकेगा। जब सम्प्रसारण परे होने पर कहीं पर भी सम्प्रसारण न मिलेगा तब निषेध कैसा ? अतः इस निषेधकरणसामर्थ्य से यह सूचित होता है कि जहां दो यण् हों वहां यदि सम्प्रसारण करना हो तो पहले अन्तिम यण् को सम्प्रसारण करना चाहिये। इस नियमानुसार अन्तिम यण् को सम्प्रसारण हो चुकने पर जब प्रथम यण् को सम्प्रसारण प्राप्त होता है तब इस सूत्र से निषेध हो जाता है।

'युवन्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० युवा	युवानौ	युवानः	प० यूनः	युवभ्याम्	युवभ्यः
द्वि० युवानम्	,,	यूनः	ष० ,,	यूनोः	यूनाम्
तृ० यूना	युवभ्याम्	युवभिः	स० यूनि	,,	युवसु
च० यूने	,,	युवभ्यः	सं० हे युवन्!	हे युवानौ!	हे युवानः!

[लघु०] अर्वा। हे अर्वन्!॥

व्याख्या—ऋ गतौ (भ्वा० प०) इत्यस्माद्धातोर् अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (७६६) इतिसूत्रेण वनिँप्प्रत्यये, गुणे, रपरत्वे 'अर्वन्' इतिशब्दः सिध्यति। 'अर्वन्' शब्द का अर्थ 'घोडा' है।

सुँ और सम्बुद्धि में 'अर्वा, हे अर्वन्'। राजन्शब्द के समान बनते हैं।

'अर्वन्+औ' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२९२) अर्वणस्त्रसावनञः।६।४।१२७॥

नञा रहितस्य 'अर्वन्' इत्यस्याङ्गस्य 'तृ' इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वद्भ्याम् इत्यादि॥

अर्थः—'नञ्' से रहित 'अर्वन्' इस अङ्ग को 'तृ' यह अन्तादेश होता है परन्तु सुँ परे होने पर नहीं होता।

व्याख्या—अनञः।६।१। अर्वणः।६।१। अङ्गस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। तृ।१।१। (यहां विभक्ति का लुक् हुआ है)। असौ।७।१। समासः—न विद्यते नञ् यस्य स=अनञ्, तस्य=अनञः। नञ्बहुव्रीहिसमासः। न सुः=असुः, तस्मिन्=असौ। नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अनञः) नञ् से रहित (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (अर्वणः) अर्वन् शब्द के स्थान पर (तृ) 'तृ' यह आदेश हो जाता है परन्तु (असौ) सुँ परे होने पर नहीं होता।

यह आदेश अलोऽन्त्यविधि से अन्त्य अल्=नकार के स्थान पर प्रवृत्त होता है। यहां अनेकाल्परिभाषा से सर्वादेश नहीं हो सकता, क्योंकि 'तृ' में अनुनासिक ऋकार की इत्सञ्ज्ञा (२८) हो जाती है—नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्।

'अर्वन्+औ' यहां नकार को तृ आदेश हो—अर्वत्+औ। उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (२८९) से नुँम् का आगम हो—अर्वनुँम्त्+औ=अर्वन्त्+औ। नश्चापदान्तस्य झलि (७८) सूत्र से नकार को अनुस्वार तथा अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (७९) से परसवर्ण—नकार हो कर 'अर्वन्तौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आगे समझ लेना चाहिये। ध्यान रहे कि केवल सर्वनामस्थानों में ही नुँम् होता है। भ्याम् आदि में जश्त्व हो जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	अर्वा†	अर्वन्तौ	अर्वन्तः	प० अर्वतः	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भ्यः
द्वि०	अर्वन्तम्	,,	अर्वतः	ष० ,,	अर्वतोः	अर्वताम्
तृ०	अर्वता	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भिः	स० अर्वति	,,	अर्वत्सु
च०	अर्वते	,,	अर्वद्भ्यः	सं० हे अर्वन्! †	अर्वन्तौ!	अर्वन्तः!

† यहां 'सुँ' होने से 'तृ' आदेश नहीं होता।

अर्वणस्त्रसावनञः (२९२) सूत्र में 'अनञः' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—न अर्वा=अनर्वा। नञ्तत्पुरुषः। 'अनर्वन्' शब्द को सुँभिन्न विभक्तियों में 'तृ' आदेश न हो जावे। 'अनर्वन्' का उच्चारण 'यज्वन्' शब्द की तरह होता है।

पथिन् (मार्ग)। मथिन् (मथनी)। ऋभुक्षिन् (इन्द्र)।

पत्लृँ गतौ (भ्वा० प०) धातु से पतेस्थ च (उणा० ४५२) सूत्र द्वारा इनिँ प्रत्यय तथा तकार को थकारादेश हो 'पथिन्' शब्द सिद्ध होता है। पतन्ति=गच्छन्ति यत्र स पन्थाः।

मन्थ विलोडने (भ्वा० प०) धातु से मन्थः (उणा० ४५१) सूत्र द्वारा कित् 'इनिँ' प्रत्यय करने पर अनिदिताम्० (३३४) से उपधा के नकार का लोप करने से 'मथिन्' शब्द सिद्ध होता है। मन्थति=विलोडयति दध्यादिकम् इति मन्थाः।

ऋभुक्षः=स्वर्गो वज्रो वा, सोऽस्यास्तीति ऋभुक्षाः। 'ऋभुक्ष' शब्द से मत्वर्थीय 'इनिँ' प्रत्यय (११८७) करने पर 'ऋभुक्षिन्' शब्द सिद्ध होता है।

पथिन्+स्(सुँ)। मथिन्+स्(सुँ)। ऋभुक्षिन्+स्(सुँ)। इस अवस्था में निम्नलिखित सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२९३) **पथिमथ्यृभुक्षामात्** ।७।१।८५॥

एषामाकारोऽन्तादेशः सौ परे ॥

अर्थः—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों को सुँ परे होने पर आकार अन्तादेश हो।

व्याख्या—पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। आत् ।१।१। सौ ।७।१। (सावनडुहः से)। समासः—पन्थाश्च मन्थाश्च ऋभुक्षाश्च=पथिमथ्यृभुक्षाणः, तेषाम्=पथिमथ्यृभुक्षाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों के स्थान पर (सौ) सुँ परे रहते (आत्) आकार आदेश हो। अलोऽन्त्यविधि से यह आकार आदेश अन्त्य अल्—नकार के स्थान पर होगा।

तो इस सूत्र से आकार आदेश करने पर—पथि आ+स्, मथि आ+स्, ऋभुक्षि आ+स्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२९४) **इतोऽत् सर्वनामस्थाने** ।७।१।८६॥

पथ्यादेरिकारस्य अकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे ॥

अर्थ —पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्द के इकार को सर्वनामस्थान परे होने पर अकार हो जाता है।

व्याख्या—पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। (पथिमथ्यृभुक्षामात् से)। इत ।६।१। अत् ।१।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। अर्थ —(पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों के (इत) इकार के स्थान पर (अत्) अत् आदेश हो जाता है (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे हो तो।

इस सूत्र से इकार को अकार करने पर—'पथ आ+स्, मथ आ+स्, ऋभुक्ष आ+स्' हुआ। अब इन तीनों में से प्रथम दो में तो अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है परन्तु तीसरे में सवर्णदीर्घ करने से—ऋभुक्षास्='ऋभुक्षाः' रूप सिद्ध होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२६५) थो न्थः ।७।१।८७॥

पथिमथोस् थस्य न्थादेशः स्यात्, सर्वनामस्थाने परे। पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः॥

अर्थ.—पथिन् तथा मथिन् शब्दों के थकार को न्थ् आदेश हो जाता है सर्वनामस्थान परे हो तो।

व्याख्या—पथिमथोः ।६।२। (पथिमथ्यृभुक्षामात् से, ऋभुक्षिन् में थकार न होने से उस की अनुवृत्ति नहीं होती)। थः ।६।१। न्थ ।१।१। अत्र थकारोत्तरोऽकार उच्चारणार्थः। सर्वनामस्थाने ।७।१। (इतोत्सर्वनामस्थाने से)। अर्थ·—(पथिमथोः) पथिन् और मथिन् शब्द के (थः) थ् के स्थान पर (न्थ) न्थ् आदेश हो जाता है (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे हो तो।

तो इस सूत्र से न्थ् आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'पन्थ् आ स्=पन्था, मन्थ् आ स्=मन्था' रूप सिद्ध होते हैं।

पथिन्+औ, मथिन्+औ, ऋभुक्षिन्+औ—इन में सुँ परे न होने से पथिमथ्यृभुक्षामात् (२६३) सूत्र से नकार को आकार आदेश नहीं होता। इतोत्सर्वनामस्थाने (२६४) सूत्र से इकार को अकार हो कर प्रथम दो रूपों में थो न्थः (२६५) सूत्र से थकार को न्थ् कर के सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) सूत्र द्वारा तीनों रूपों में नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है—पन्थानौ, मन्थानौ, ऋभुक्षाणौ।

पथिन्+अस्(शस्), मथिन्+अस्(शस्), ऋभुक्षिन्+अस्(शस्)—यहां सर्वनामस्थान परे न होने से इतोऽत्सर्वनामस्थाने (२६४) तथा सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) प्रवृत्त नहीं होते। अब इन में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२६६) भस्य टेर्लोपः ।७।१।८८॥

भसञ्ज्ञकस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात्। पथः। पथा। पथिभ्याम्। एवम्—मथिन्, ऋभुक्षिन्॥

अर्थ —भसञ्ज्ञक पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की टि का लोप हो।

व्याख्या—भस्य ।६।१। (यहां वचनविपरिणाम कर के 'भानाम्' कर देना चाहिये)। पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। (पथिमथ्यृभुक्षामात् से)। टेः ।६।१। लोपः ।१।१।

अर्थः—(भस्य=भानाम्) भसञ्ज्ञक (पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की (टेः) टि का (लोपः) लोप हो जाता है।

इस सूत्र से टि(इन्) का लोप हो कर—पथ्+अस्=पथः, मथ्+अस्=मथः, ऋभुक्ष्+अस्=ऋभुक्षः—रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में जान लेना चाहिये। अन्यत्र—पदसञ्ज्ञकों में न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—

पथिन् (मार्ग)				मथिन् (मथनी)		
प्र०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः	मन्थाः	मन्थानौ	मन्थानः
द्वि०	पन्थानम्	,,	पथः	मन्थानम्	,,	मथः
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः	मथा	मथिभ्याम्	मथिभिः
च०	पथे	,,	पथिभ्यः	मथे	,,	मथिभ्यः
प०	पथः	,,	,,	मथः	,,	,,
ष०	,,	पथोः	पथाम्	,,	मथोः	मथाम्
स०	पथि	,,	पथिषु	मथि	,,	मथिषु
सं०	हे पन्थाः!	हे पन्थानौ!	हे पन्थानः!	हे मन्थाः!	हे मन्थानौ!	हे मन्थानः!

ऋभुक्षिन् (इन्द्र)

प्र० ऋभुक्षाः	ऋभुक्षाणौ	ऋभुक्षाणः	प०	ऋभुक्षः	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभ्यः
द्वि० ऋभुक्षाणम्	,,	ऋभुक्षः	ष०	,,	ऋभुक्षोः	ऋभुक्षाम्
तृ० ऋभुक्षा	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभिः	स०	ऋभुक्षि	,,	ऋभुक्षिषु
च० ऋभुक्षे	,,	ऋभुक्षिभ्यः	सं०	हे ऋभुक्षाः!	ऋभुक्षाणौ!	ऋभुक्षाणः!

इस में णत्व **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) सूत्र से होता है।

पञ्चन् (पांच)। 'पञ्चन्' शब्द सिद्धान्तकौमुदीपठित उणादिसूत्रों में सिद्ध नहीं किया गया। उणादिसूत्रों के वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त **कनिँन् युवृषि०** (उणा० १५४) सूत्र पर बहुल द्वारा **पचिँ** (भ्वा० प०, चुरा० उभ०) धातु से कनिँन् प्रत्यय कर के इसे सिद्ध करते हैं। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट उणादिसूत्रों में **पञ्चेश्च** सूत्र पढ़ कर इस की सिद्धि करते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजदेव—**द्वि-यु-वृषि-तक्षि-राजि-ध्वनि-पचि-द्यु-प्रतिदिवभ्यः कनिँन्** इस प्रकार सूत्र बना कर इस की सिद्धि करते हैं। श्रीदुर्गसिंह अपनी वृत्ति में **पचिँ विस्तारे** (चुरा० उ०) धातु से **पञ्चेरनिँः** सूत्र द्वारा 'अनिँ' प्रत्यय ला कर इस की निष्पत्ति मानते हैं। 'पञ्चन्' शब्द तीनों लिङ्गों में एक समान रहने वाला तथा नित्यबहुवचनान्त है। अतः इस से 'जस्' आदि बहुवचन प्रत्यय ही होते है।

'पञ्चन्+जस्' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—(२९७) ष्णान्ता षट् ।१।१।२३॥

षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात् । 'पञ्चन्'शब्दो नित्य बहुवचनान्त । पञ्च । पञ्च । पञ्चभि । पञ्चभ्य. । पञ्चभ्य. । नुँट्—

अर्थ —षकारान्त और नकारान्त सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञक होती है। 'पञ्चन्' शब्द नित्यबहुवचनान्त होता है।

व्याख्या—ष्णान्ता ।१।१। सङ्ख्या ।१।१। (बहुगणवतुडति सङ्ख्या से) । षट् ।१।१।[1] समास —ष् च नश्च=ष्णौ, नकारादकार उच्चारणार्थ. । ष्णौ अन्तौ यस्या. सा ष्णान्ता । बहुव्रीहिसमास । अर्थ —(ष्णान्ता) षकारान्त और नकारान्त (सङ्ख्या) सङ्ख्या (षट्) षट्सञ्ज्ञक होती है।

'पञ्चन्' शब्द नकारान्त सङ्ख्या है, अतः इस की 'षट्' सञ्ज्ञा हो कर षड्भ्यो लुक् (१८८) द्वारा जस का लुक् हो न लोप. प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से नकार का भी लोप कर देने म 'पञ्च' सिद्ध होता है। 'शस्' में भी इसी तरह—'पञ्च' ।

पञ्चन्+भिस् =पञ्चभि । पञ्चभ्य ।[न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०)]।

पञ्चन्+आम् । यहा ष्णान्ता षट् (२९७) सूत्र से षट् सञ्ज्ञा हो कर षट्चतुर्भ्यश्च (२९९) सूत्र द्वारा आम् को नुँट् का आगम हो जाता है—पञ्चन्+नुँट् आम्=पञ्चन+नाम् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(२९८) नोपधायाः ।६।४।७॥

नान्तस्योपधाया दीर्घ स्यान्नामि परे । पञ्चानाम् । पञ्चसु ॥

अर्थ —'नाम्' परे होने पर नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—न ।६।१। (यहा षष्ठी का लुक् समझना चाहिये । यह अङ्गस्य का विशेषण है अत इस मे तदन्तविधि होती है) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । उपधाया ।६।१। दीर्घ ।१।१। (ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः से) । नामि ।७।१। (नामि म) । अर्थ.—(नामि) नाम् परे होने पर (न) नान्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधाया) उपधा के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है।

'पञ्चन्+नाम्' यहा स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) से पदत्व होने पर न लोप प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) द्वारा प्राप्त नकारलोप के असिद्ध होने से नोपधाया. (२९८) द्वारा उपधादीर्घ हो कर पश्चात् नकारलोप करने से 'पञ्चानाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—'पञ्चन्+नाम्' यहा न लोप० (१८०) द्वारा यदि नकार का लोप कर दिया जाता तो उस के असिद्ध होने से नामि (१४९) द्वारा दीर्घ न हो सकता था। अत. नोपधाया (२९८) सूत्र बनाया गया है।

---

१. 'षट्' यह सञ्ज्ञा अन्वर्थ अर्थात् अर्थ के अनुसार की गई है। इस सञ्ज्ञा के मुख्यतया सञ्ज्ञी—१ पञ्चन्, २ षष्, ३ सप्तन्, ४ अष्टन्, ५ नवन्, ६ दशन्—ये छ शब्द होते हैं। अत इस सञ्ज्ञा का नाम 'षट्' युक्त ही है।

पञ्चन्+सुप्=पञ्चसु । नलोपः० से नकारलोप । रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	पञ्च	पं०	०	०	पञ्चभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	पञ्चानाम्
तृ०	०	०	पञ्चभिः	स०	०	०	पञ्चसु
च०	०	०	पञ्चभ्यः				

—:०:—

'पञ्चन्' शब्द के अनन्तर 'षष्' (छः) शब्द की वारी आती है; परन्तु यह षकारान्त है, यहां नकारान्तों का प्रकरण चल रहा है अतः इस का विवेचन आगे यथास्थान षकारान्तों में किया जायेगा । 'षष्' शब्द के बाद 'सप्तन्' (सात) शब्द आता है । इस की समग्र प्रक्रिया 'पञ्चन्' शब्दवत् होती है, कुछ विशेष नहीं होता ।

सप्तन् (सात) । **षप समवाये** (भ्वा० प०) इत्यस्मात् **सप्यशूभ्यां तुँट् च** (उणा० १५५) इति कनिँन्प्रत्यये तुँडागमे च सप्तन् इति शब्दः साधुः ।

रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	सप्त†	पं०	०	०	सप्तभ्यः*
द्वि०	०	०	,, †	ष०	०	०	सप्तानाम्‡
तृ०	०	०	सप्तभिः*	स०	०	०	सप्तसु*
च०	०	०	सप्तभ्यः*				

—:०:—

† **ष्णान्ता षट्** (२६७) से षट्सञ्ज्ञा तथा **षड्भ्यो लुक्** (१८८) से जस् और शस् का लुक् हो कर **न लोपः०** (१८०) से नकारलोप हो जाता है।

* **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का लोप होता है ।

‡ षट्सञ्ज्ञा, **षट्चतुर्भ्यश्च** (२६६) से नुँडागम, **नोपधायाः** (२६८) से उपधादीर्घ तथा **न लोपः०** (१८०) से नकार का लोप हो जाता है ।

अष्टन् (आठ) । **अशूँ व्याप्तौ** (स्वा० आ०) इत्यस्मात् **सप्यशूभ्यां तुँट् च** (उणा० १५५) इति कनिँनि तुँडागमे च अष्टन् इति शब्दः साधुः । 'अष्टन्' शब्द भी पञ्चन् और सप्तन् शब्दों की तरह सदा वहुवचनान्त होता है ।

'अष्टन्+अस्' (जस् वा शस्) । यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(२९९) **अष्टन आ विभक्तौ** ।७।२।८४।।

अष्टन आत्वं वा स्याद् हलादौ विभक्तौ ।।

अर्थः—हलादि विभक्ति परे होने पर 'अष्टन्' शब्द को विकल्प कर के आकार अन्तादेश हो जाता है ।

व्याख्या—अष्टनः ।६।१। आ ।१।१। विभक्तौ ।७।१। हलि ।७।१। (**रायो हलि** इस अग्रिमसूत्र से । यह 'विभक्तौ' का विशेषण है । अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** द्वारा तदादिविधि हो कर 'हलादौ' वन जाता है ।) अर्थः—(अष्टनः) अष्टन् शब्द के स्थान पर (आ) 'आ' यह आदेश हो जाता है (हलि=हलादौ) हलादि (विभक्तौ)

विभक्ति परे हो तो। अलोऽन्त्यविधि के अनुसार यह आकार आदेश अन्त्य अल्=नकार के स्थान पर होता है।

यह आत्व **अष्टनो दीर्घात्** (६ १ १६८)[1] सूत्र मे दीर्घग्रहणसामर्थ्य से वैकल्पिक माना जाता है। क्योंकि यदि यह नित्य होता तो सर्वत्र दीर्घ ही के प्राप्त होने से सूत्र मे 'दीर्घात्' का ग्रहण व्यर्थ हो जाता—उस का ग्रहण न किया जाता। पुन उस के ग्रहण से आत्व की वैकल्पिकता स्पष्ट हो जाती है।

यह सूत्र हलादि विभक्तियो मे प्रवृत्त होता है। यहा जस् और शस् तो जकार और शकार के लुप्त हो जाने से अजादि हैं। अत इस की प्रवृत्ति नही हो सकती। इस शङ्का की निवृत्ति अग्रिमसूत्र से करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३००) अष्टाभ्य औश् ।७।१।२१॥

कृताकाराद् अष्टन परयोर्जश्शसोर् औश् स्यात्। 'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषय आत्वं ज्ञापयति। अष्टौ। अष्टौ। अष्टाभि। अष्टाभ्य। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाऽभावे—अष्ट २ इत्यादि पञ्चवत्॥

अर्थ—कृताकार अर्थात् आकार आदेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द से परे जस् और शस् को 'औश्' आदेश हो।

व्याख्या—अष्टाभ्य ।५।३। जश्शसो ।६।२। (जश्शसो दि. से)। औश् ।१।१। भ्यस् विभक्ति मे अष्टन् शब्द के 'अष्टाभ्य' और 'अष्टभ्य' ये दो रूप बनते हैं। परन्तु यहा 'अष्टाभ्य' रूप 'अष्टन्' शब्द का नही किन्तु 'अष्टा' शब्द का है। 'अष्टा' शब्द आकार अन्तादेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द का अनुकरण है। बहुवचन का प्रयोग शब्दो के बाहुल्य की दृष्टि से अथवा मुख्य अष्टन् को बताने के लिये किया गया है। अर्थ—(अष्टाभ्य) 'अष्टा' शब्द अर्थात् आकार अन्तादेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द से परे (जश्शसो) जस् और शस् के स्थान पर (औश्) औश् आदेश हो जाता है।

औश् आदेश शित् होने के कारण **अनेकाल्शित्सर्वस्य**(४५) सूत्र द्वारा सम्पूर्ण जस् और शस् के स्थान पर होता है। ध्यान रहे कि यह सूत्र **षड्भ्यो लुक्** (१८८) सूत्र का अपवाद है।

अब यहा प्रश्न उत्पन्न होता है कि **अष्टन आ विभक्तौ** (२९९) सूत्र से हलादि विभक्तियो मे 'अष्टन्' को आकार अन्तादेश करने का विधान किया गया है, इस से जस् और शस् के अजादि होने के कारण जबकि 'अष्टन' को आकार आदेश ही नही होता तो पुन उस से परे जस् और शस् को 'औश्' विधान कैसे सम्भव हो सकता है? इस का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि **अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषय आत्वं ज्ञापयति**। अर्थात् महामुनि को यदि अष्टन् शब्द से परे केवल जस् और शस को 'औश्' ही विधान करना अभीष्ट होता तो वे **अष्टाभ्य औश्**(३००)

---

[1] सूत्र का अर्थ—दीर्घान्त अष्टन् शब्द से परे शस् आदि विभक्ति उदात्त होती है।

सूत्र में 'अष्टाभ्यः' पद की वजाय 'अष्टभ्यः' ऐसा लिखते, क्योंकि इस से एक मात्रा का लाघव हो सकता था। परन्तु मुनि ने ऐसा न कर 'अष्टाभ्यः' लिखा, इस से यह विदित होता है कि वे आत्व किये हुए 'अष्टन्' शब्द की ओर निर्देश कर रहे हैं। परन्तु जस् और शस् में आत्व करने वाला कोई सूत्र नहीं है, अतः यहां पाणिनि के निर्देशसामर्थ्य से ही जस्, शस् में भी वैकल्पिक आत्व का होना विदिन होना है।

'अष्टन्+अस्' (जस् वा शस्) यहां **अष्टाभ्य औश्** (३००) इस प्रकृत सूत्र में आत्व-निर्देश के कारण आकार अन्तादेश तथा सूत्र से जस् वा शस् को 'औश्' सर्वादेश हो कर 'अष्ट आ+औ'। अब **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ तथा **वृद्धिरेचि** (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'अष्टौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

भिस् और भ्यस् में हलादि विभक्ति परे होने के कारण **अष्टन आ विभक्तौ** (२९९) से नकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से—'अष्टाभिः, अष्टाभ्यः'।

अष्टन्+आम्। यहां **ष्णान्ता षट्** (२९७) सूत्र से षट्सञ्ज्ञा हो कर **षट्चतुर्भ्यश्च** (२९६) सूत्र द्वारा नुंट् का आगम करने से—अष्टन्+नाम्। अब 'नाम्' के हलादि होने से **अष्टन आ विभक्तौ** (२९९) सूत्र से नकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'अष्टानाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अष्टन्+सुप्=अष्टासु (**अष्टन आ विभक्तौ**)।

जहां आत्व न होगा वहां सम्पूर्ण रूपमाला और सिद्धि 'पञ्चन्' शब्दवत् होगी।

विशेष—आत्व अनात्व दोनों पक्षों में आम् विभक्ति में 'अष्टानाम्' एक सा रूप बनता है। परन्तु दोनों पक्षों की प्रक्रियाओं के अन्तर को ध्यान में रखना चाहिये। आत्वपक्ष में पहले नुंट् का आगम और तदनन्तर आत्व करने से रूप सिद्ध होता है। परन्तु आत्वाभाव में नुंट् का आगम हो कर **नोपधायाः** (२९८) से उपधादीर्घ तथा **न लोपः०** (१८०) से नकार का लोप करने से रूप सिद्ध होता है। दोनों पक्षों में रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	वहुवचन	
			(आत्वपक्षे)	(अनात्वपक्षे)
प्रथमा	०	०	अष्टौ	अष्ट
द्वितीया	०	०	,,	,,
तृतीया	०	०	अष्टाभिः	अष्टभिः
चतुर्थी	०	०	अष्टाभ्यः	अष्टभ्यः
पञ्चमी	०	०	,,	,,
षष्ठी	०	०	अष्टानाम्	अष्टानाम्
सप्तमी	०	०	अष्टासु	अष्टसु

'अष्टन्' शब्द के अनन्तर 'नवन्' (नौ) और 'दशन्' (दस) आते हैं। ये भी सदा बहुवचनान्त हैं। इन की रूपमाला और सिद्धि 'पञ्चन्' शब्दवत् होती है।

नवन् (नौ)				दशन् (दस)			
प्र०	०	०	नव	प्र०	०	०	दश
द्वि०	०	०		द्वि०	०	०	,,
तृ०	०	०	नवभि	तृ०	०	०	दशभि
च०	०	०	नवभ्य	च०	०	०	दशभ्य
प०	०	०		प०	०	०	,,
ष०	०	०	नवानाम्	ष०	०	०	दशानाम्
स०	०	०	नवसु	स०	०	०	दशसु

इसी प्रकार—एकादशन् (ग्यारह), द्वादशन् (बारह), त्रयोदशन् (तेरह), चतुर्दशन् (चौदह), पञ्चदशन् (पन्द्रह), षोडशन् (सोलह), सप्तदशन् (सतरह), अष्टादशन् (अठारह), नवदशन् (उन्नीस) शब्दों के रूप होते हैं।

(यहां नकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

अभ्यास (४०)

(१) नोपधायाः सूत्र की व्यर्थता बतला कर उस का समाधान करें।

(२) (क) नलोपः सुप्स्वरसञ्ज्ञा० नियम का क्या लाभ है?

(ख) अर्वणस्त्रसावनञः सूत्र में 'अनञः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(ग) श्वयुव० सूत्र पर प्रसिद्ध सूक्ति का विवेचन करें।

(घ) षट्सञ्ज्ञा की अन्वर्थता पर संक्षिप्त नोट लिखें।

(ङ) 'मघवन्' शब्द की दोनों पक्षों में रूपमाला लिखें।

(३) निम्नलिखित वचनों की प्रकरणनिर्देशपूर्वक व्याख्या करें—

(क) अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्।

(ख) अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृताकारनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति।

(ग) अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चाऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति।

(४) अधोलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१ यज्वनि। २ राज्ञः। ३ ब्रह्मा। ४ वृत्रहणि। ५ पथः। ६ मन्थाः। ७ अष्टौ। ८ पञ्च। ९ वृत्रहा। १० अवन्तौ। ११ मघोनः। १२ यूनि।

(५) निम्नलिखित शब्दों का केवल शस् में रूप लिखें—

१ अश्वत्थामन्। २ पुष्पधन्वन्। ३ मथिन्। ४ मघवन्। ५ श्वन्। ६ पञ्चन्। ७ अष्टन्। ८ अर्वन्। ९ भ्रूणहन्। १० पूषन्।

(६) सूत्रों की व्याख्या करें—
१. एकाजुत्तरपदे णः। २. हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु। ३. सौ च। ४. न संयोगाद्वमन्तात्। ५. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः। ६. न ङि-सम्बुद्ध्योः। ७. थो न्थः। ८. अष्टाभ्य औश्। ९. इन्हन्पूषार्यम्णां शौ। १०. अर्वणस्त्रसावनञः।
(७) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः वार्त्तिक का भाव प्रतिपादन करें।
(८) (क) क्या 'ज्ञ' तथा 'क्ष' स्वतन्त्र वर्ण हैं? विवेचनात्मक नोट लिखें।
(ख) अर्वणस्त्रसावनञः द्वारा प्रतिपादित 'तृँ' आदेश अनेकाल् होने पर भी क्यों सर्वादेश नहीं होता?
(ग) मघवा बहुलम् सूत्र में 'बहुलम्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?
(घ) 'अष्टानाम्' पर दोनों पक्षों की प्रक्रियाएं स्पष्ट करें।
(ङ) अष्टन आ विभक्तौ द्वारा विहित आकार कैसे वैकल्पिक है?

———::०::———

अब जकारान्त पुंल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३०१) **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुँयुजिक्रुञ्चां च ।३।२।५९।।**

एभ्यः क्विँन् स्यात्[1]। अञ्चेः सुँप्युपपदे। युजिक्रुञ्चोः केवलयोः। क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ ।।

अर्थः—ऋत्विज्, दधृष्, स्रज्, दिश्, उष्णिह्—ये पांच क्विँन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हैं; तथा सुँबन्त उपपद होने पर 'अञ्चुँ' धातु से, उपपदरहित युजि और क्रुञ्च् धातु से भी क्विँन् प्रत्यय हो जाता है। किञ्च क्विँन् परे रहते क्रुञ्च् के नकार का लोप भी नहीं होता।

व्याख्या—ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक् ।१।१। अञ्चुँयुजिक्रुञ्चाम् ।६।३। च इत्यव्ययपदम्। क्विँन् ।१।१। (स्पृशोऽनुदके क्विँन् से)। समासः—ऋत्विक् च दधृक् च स्रक् च दिक् च उष्णिक् च=ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्, समाहारद्वन्द्वः। अञ्चुँश्च युजिश्च क्रुङ् च=अञ्चुँयुजिक्रुञ्चः, तेषाम्=अञ्चुँयुजिक्रुञ्चाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। पञ्चम्यर्थे सौत्रत्वात्षष्ठी। इस सूत्र में दो वाक्य हैं—१. ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्। २. अञ्चुँयुजिक्रुञ्चां च क्विँन्। पहले वाक्य में पाणिनि ने बने बनाये पांच शब्द गिनाये हैं। सूत्रकार का स्वयं सब कार्य कर के पढ़ देना निपातन कहाता है[2]। इन पांच शब्दों का निपातन किया गया है। 'क्विँन्' के प्रकरण में पढ़े जाने के कारण इन शब्दों को

---

१. **एभ्यः क्विँन् स्यात्**—यह वचन ऋत्विज् आदि पांच शब्दों के अन्तर्गत यज् आदि पाञ्च धातुओं को तथा सूत्र में साक्षात् पढ़े अञ्चुँ आदि तीन धातुओं को लक्ष्य कर के कहा गया है।
२. लक्षणं विनैव निपतति=प्रवर्त्तते लक्ष्येषु इति निपातनम्।

भी क्विँन्नन्त समझना चाहिये। दूसरे वाक्य में तीन धातुओं से 'क्विँन्' प्रत्यय का विधान किया गया है। अर्थ —(ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्) ऋत्विज्, दधृष्, स्रज्, दिश् और उष्णिह् ये पांच क्विँन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हैं। (च) तथा (अञ्चुँयुजि-क्रुञ्चाम्) अञ्चुँ, युजि तथा क्रुञ्च् धातुओं से (क्विँन्) क्विँन्' प्रत्यय हो जाता है।

निपातनों के साथ २ अञ्चुँ आदि तीन धातुओं से 'क्विँन्' प्रत्यय विधान करने से यह विदित होता है कि इन धातुओं में भी कुछ २ निपातन कार्य होते हैं। वे निपातन-कार्य शिष्टग्रन्थों के अनुसार निम्नलिखित हैं—

(१) सुँबन्त उपपद होने पर ही 'अञ्चुँ' धातु से क्विँन् होता है।

(२) उपपदरहित 'युजि' और 'क्रुञ्च्' धातु से क्विँन् होता है।

(३) 'क्विन्' परे होने पर 'क्रुञ्च्' के उपधाभूत नकार का **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) द्वारा लोप नहीं होता।

ऋत्विज् आदि पांच शब्दों में महामुनि ने निम्नलिखित कार्य किये हैं—

(१) **ऋत्विज्**—में 'ऋतु' उपपद वाली यजँ' (भ्वा० उ०) धातु से क्विँन्, उस का सर्वापहार लोप, **वचि-स्वपि०** (५४७) से सम्प्रसारण, **सम्प्रसारणाच्च**(२५८) से पूर्वरूप तथा **इको यणचि** (१५) से यण् किया गया है।

(२) **दधृष्**—में धृष्' (स्वा० प०) धातु से क्विँन्, उस का सर्वापहारलोप, द्वित्वादिक कार्य तथा अन्तोदात्तत्व किया गया है। यह शब्द पुंल्लिङ्ग है। आगे षकारान्तों में इस का विवेचन किया जायेगा।

(३) **स्रज्**—में 'सृज' (तुदा० प०) धातु से क्विँन्, उस का सर्वापहारलोप, ऋकार से परे अम् का आगम तथा यणादेश किया गया है। यह शब्द जकारान्त स्त्रीलिङ्गप्रकरण में आगे कहा जायेगा।

(४) **दिश्**—में 'दिश' (तुदा० प०) धातु से कर्मकारक में क्विँन् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारलोप किया गया है। यह शब्द शकारान्त स्त्रीलिङ्गप्रकरण में आगे कहा जायेगा।

(५) **उष्णिह्**—में 'उद्' पूर्वक 'ष्णिह्' (दिवा० प०) धातु से क्विँन्, उस का सर्वापहारलोप, उद् के दकार का भी लोप तथा सकार को षकार किया गया है। यह शब्द भी आगे हकारान्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में कहा जायेगा।

अब क्रमप्राप्त जकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों में प्रथम 'ऋत्विज्' शब्द का विवेचन किया जाता है। यह शब्द क्विँन्नन्त निपातन किया गया है। 'क्विँन्' प्रत्यय आ जाने से क्या क्या लाभ होते हैं तथा उस का किस प्रकार सर्वापहारलोप किया जाता है—यह बतलाने के लिये अब अग्रिमसूत्रों का विवेचन किया जाता है—

'ऋत्विज्+क्विँन्'[1] यहां **हलन्त्यम्**(१) से नकार तथा **लशक्वतद्धिते**(१३६)

१ वस्तुतः क्विँन्नन्त 'ऋत्विज्' शब्द बना बनाया निपातन किया गया है, इस की सिद्धि करने की आवश्यकता नहीं। और यदि सिद्धि करनी भी हो तो 'ऋत्विज्+

से ककार की इत्सञ्ज्ञा हो लोप हो जाता है[1]। इकार उच्चारणार्थ है। तो इस प्रकार —'ऋत्विज्+व्' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३०२) कृदतिङ् ।३।१।९३॥

अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्सञ्ज्ञः स्यात् ॥

अर्थः—धातोः (३.१.९१) इस अधिकार में पठित प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम्। (**तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** से)। अतिङ् ।१।१। (यह अविकृत है)। कृत् ।१।१। अर्थः—(तत्र) उस **धातोः** के अधिकार में (अतिङ्) तिङ्भिन्न (प्रत्ययः) प्रत्यय (कृत्) कृत्सञ्ज्ञक हो।

इस सूत्र से एक सूत्र पीछे अष्टाध्यायी में **धातोः** (७९६) इस प्रकार का एक अधिकार चलाया गया है। इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि तृतीय अध्याय की समाप्ति तक जितने प्रत्यय विधान किये जायें वे सब धातु से परे हों। इस अधिकार को चला कर अब 'तत्र अतिङ् प्रत्ययः कृत्' ऐसा कथन किया गया है। अर्थात् उस धात्वधिकार में तिङ्भिन्न प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक होता है। यह सूत्र अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में स्थित है। इस पाद में दो धात्वधिकार हैं। एक—**धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्** (३.१.२२) सूत्र में और दूसरा **धातोः** (३.१.९१) यह उपर्युक्त। यहां 'तत्र' शब्द द्वितीय धात्वधिकार को लक्ष्य कर के प्रयुक्त किया गया है। इसलिये वृत्ति में 'अत्र' कहा गया है। अतः प्रथम धात्वधिकार में धातु से परे विहित प्रत्यय की कृत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

'अतिङ्' कहने से इस धात्वधिकार में पठित होने पर भी तिङ्प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक न होंगे। यथा—भवति, पठति, पठन्तु आदि। यदि यहां भी कृत्सञ्ज्ञा हो जाती तो **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादिप्रत्यय उत्पन्न हो जाने से—'भवतिः, पठतिः, पठन्तुः' इस प्रकार अनिष्ट रूप हो जाते।

ऋत्विज्+व् (क्विँन्)। यहां क्विँन् की कृत्सञ्ज्ञा हो जाती है, क्योंकि यह द्वितीय धात्वधिकार में पठित तथा तिङ्भिन्न प्रत्यय है। अब यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३०३) वेरपृक्तस्य ।६।१।६५॥

अपृक्तस्य वस्य लोपः ॥

अर्थः—अपृक्तसञ्ज्ञक वकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—वेः ।६।१। अपृक्तस्य ।६।१। लोपः ।१।१। (**लोपो व्योर्वलि** से)।

क्विँन्' ऐसा नहीं लिखा जा सकता, क्योंकि तब प्रथम ऋतूपपद 'यज्' धातु से क्विँन् कर उसका सर्वापहारलोप कर बाद में उसको मान सम्प्रसारण आदि होने चाहियें, लोप से पूर्व नहीं। अतः बालकों के ज्ञान वा सौकर्य के लिये ही यह अलीक मार्ग अवलम्बन किया गया समझना चाहिये।

१. 'क्विँन्' प्रत्यय में नकार का ग्रहण क्विँन् और क्विँप् में भेद कराने के लिये तथा ककार का ग्रहण कित् कार्यों के लिये है।

यहां 'वि' मे इकार उच्चारणार्थ है, क्योंकि 'वि' अपृक्त नही हो सकता। अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१७८) द्वारा एकाल् प्रत्यय की ही अपृक्तसञ्ज्ञा होती है। अर्थ —(अपृक्तस्य) अपृक्तसञ्ज्ञक (वे) वकार का (लोप) लोप हो जाता है।

ऋत्विज्+व्' यहा वकार अपृक्त है, अत प्रकृतसूत्र से इस का लोप हो कर 'ऋत्विज्' ही अवशिष्ट रहता है। अब इस के कृदन्त होने से प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते है—

'ऋत्विज्+स्'(सुँ) यहा हल्ङ्याब्भ्य०(१७९) सूत्र मे सुँ का लोप हो जाता है। अब 'ऋत्विज्' इस अवस्था मे अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(३०४) क्विँन्प्रत्ययस्य कुः ।८।२।६२॥

क्विँन्प्रत्ययो यस्मात् तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते। अस्यासिद्धत्वाच् 'चोः कुः' (३०६) इति कुत्वम्। ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्॥

अर्थ—'क्विँन्' प्रत्यय जिस से किया जाये, उस को पदान्त मे कवर्ग अन्तादेश हो जाता है। इस सूत्र के असिद्ध होने से **चोः कुः** (३०६) द्वारा कुत्व हो जाता है।

व्याख्या—क्विँन्प्रत्ययस्य ।६।१। कुः ।१।१। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अन्ते ।७।१। (**स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से)। समास—क्विँन्प्रत्ययो यस्मात् स क्विँन्प्रत्ययः, तस्य=क्विँन्प्रत्ययस्य। बहुव्रीहिसमास। अर्थ—(क्विँन्प्रत्ययस्य) 'क्विँन्' प्रत्यय जिस से किया गया हो उस के स्थान पर (कुः) कवर्ग आदेश हो जाता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त मे। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। अत एव वृत्ति मे 'अन्तादेशः' लिखा है। यहा 'कु' से **अणुदित् सवर्णस्य०** (११) द्वारा कवर्ग समझा जाता है—यह सञ्ज्ञाप्रकरण मे उसी सूत्र मे स्पष्ट कर चुके हैं।

यहा इस सूत्र से केवलमात्र यह अभिप्राय नही समझना चाहिये कि 'पदान्त मे क्विँन्नन्त शब्द के अन्त को कवर्ग आदेश होता है'। यदि केवल इतना ही अभीष्ट होता तो 'क्विँनः कुः' सूत्र रचते, 'प्रत्यय' शब्द साथ मे न जोडते। अत 'प्रत्यय' शब्द साथ लगाने का यह प्रयोजन है कि 'क्विँन्प्रत्ययो यस्मात्' इस प्रकार बहुव्रीहि-समास मान कर अब अक्विँन्नन्तो अर्थात् क्विँन्भिन्न अन्यप्रत्ययान्तो को भी कवर्ग अन्तादेश हो जावे यदि कही उन मे क्विँन्प्रत्यय हो चुका हो। यह सब आगे हलन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण मे मूल मे ही स्पष्ट हो जायेगा।

प्रकृत मे 'ऋत्विज्' यह शब्द क्विँन्नन्त है अत पदान्त मे इस सूत्र से जकार को कवर्ग-गकार प्राप्त होता है। इस के अतिरिक्त आगे आने वाले **चोः कुः** (३०६) सूत्र से भी जकार को कवर्ग अर्थात् गकार प्राप्त होता है। **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) द्वारा **चोः कुः** (८.२.३०) की दृष्टि मे **क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (८.२.६२) सूत्र असिद्ध है, अतः

चोः कुः द्वारा ही कुत्व-गकार हो कर—ऋत्विग् । वाऽवसाने (१४६) से विकल्प कर के चर्त्व ककार करने से—'ऋत्विक्, ऋत्विग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

यद्यपि क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) और चोः कुः (३०६) इन दोनों सूत्रों में से किसी एक के द्वारा यहां कार्य्य सिद्ध हो सकता है, तथापि अन्यत्र भिन्न २ उदाहरणों में कार्यसिद्धि के लिये दोनों सूत्रों का होना आवश्यक है। यथा—'युङ्' यहां चवर्ग न होने से चोः कुः (३०६) प्रवृत्त नहीं होता, क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) से ही कार्य होता है। 'सुयुक्, सुयुग्' यहां क्विन्प्रत्यय न होने से क्विन्प्रत्ययस्य कुः(३०४) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, चोः कुः(३०६) से ही कुत्व होता है।

विशेष—वस्तुतः 'ऋत्विक्-ग्' में क्विन्प्रत्ययस्य कुः द्वारा ही कुत्व होता है चोः कुः द्वारा नहीं। यह सब विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्याओं में देखें।

भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् में स्वादिष्वसर्वनामस्थाने(१६४) द्वारा पदसंज्ञा हो कर चोः कुः(३०६) से कुत्व-गकार हो जाता है। सुप् में कुत्व के अनन्तर आदेश-प्रत्ययोः (१५०) से सकार को षकार तथा खरि च (७४) से गकार को चर्त्व-ककार कर क्+ष् के योग से क्ष् आकृति हो जाती है। 'ऋत्विज्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ऋत्विक्-ग्	ऋत्विजौ	ऋत्विजः	प०	ऋत्विजः	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भ्यः
द्वि०	ऋत्विजम्	,,	,,	ष०	,,	ऋत्विजोः	ऋत्विजाम्
तृ०	ऋत्विजा	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भिः	स०	ऋत्विजि	,,	ऋत्विक्षु
च०	ऋत्विजे	,,	ऋत्विग्भ्यः	सं०	हे ऋत्विक्-ग्!	ऋत्विजौ!	ऋत्विजः!

युज् (योगी)। युजिँर् योगे (रुधा० उभ०) धातु से ऋत्विग्दधृक्० (३०१) सूत्र से क्विन्प्रत्यय होकर उस का सर्वापहार लोप हो जाता है। इस प्रकार 'युज्' शब्द के कृदन्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

युज्+स्(सुँ)। यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३०५) युजेरसमासे ।७।१।७१॥

युजेः सर्वनामस्थाने नुँम् स्यादसमासे। सुँलोपः। संयोगान्तलोपः। कुत्वेन नस्य ङः। युङ्। अनुस्वारपरसवर्णौ—युञ्जौ, युञ्जः। युग्भ्याम् ॥

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर युज् को नुँम् का आगम होता है, परन्तु समास में नहीं होता।

व्याख्या—सर्वनामस्थाने ।७।१। (उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः से)। युजेः ।६।१। नुँम् ।१।१। (इदितो नुँम् धातोः से)। असमासे ।७।१। अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (युजेः) युज् धातु का अवयव (नुँम्) नुँम् हो जाता है (असमासे) परन्तु समास में नहीं होता।

ध्यान रहे कि ऋत्विग्दधृक्० (३०१) सूत्र में तथा युजेरसमासे (३०५) इस सूत्र में 'युजि' इस प्रकार इकार ग्रहण करना 'कार' प्रत्यय की भांति स्वार्थ में

इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे इस इक् प्रत्यय द्वारा नही समझना चाहिये, किन्तु इस मे युजिँर् योगे (रुधा० उभ०) धातु का अनुकरण किया गया है। अत इन सूत्रो मे युज समाधौ (दिवा०) धातु का ग्रहण नही होता। विस्तार के लिये सिद्धान्तकौमुदी देखें।

'युज्+स्' यहा सर्वनामस्थान परे है, अत युजेरसमासे सूत्र से नुँम् का आगम हो—यु नुँम् ज्+स्। मकार और उकार अनुबन्धो का लोप हो कर—युनुज्+स्। हल्ङ्याब्भ्य० (१७६) से सकार का लोप—युनुज्। सयोगान्तस्य लोप (२०) से जकार का लोप कर क्विन्प्रत्ययस्य कु. (३०४) से नकार को ङकार करने से—'युङ्' प्रयोग सिद्ध होता है।

युज्+औ' यहा भी सर्वनामस्थान परे होने के कारण युजेरसमासे (३०५) सूत्र द्वारा नुँम् का आगम—यु नुँम् ज्+औ। नश्चापदान्तस्य झलि (७८) सूत्र से नकार को अनुस्वार तथा अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण (७९) सूत्र द्वारा अनुस्वार को परसवर्ण— ञकार हो कर 'युञ्जौ' सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि परसवर्ण—के असिद्ध होन स चो कु (३०६) द्वारा ञकार को ङकार नही होता। रूपमाला यथा—

प्र० युङ्	युञ्जौ	युञ्ज	प० युज	युग्भ्याम्*	युग्भ्य *
द्वि० युञ्जम्	,,	युज	ष० ,,	युजो	युजाम्
तृ० युजा	युग्भ्याम्*	युग्भि *	स० युजि	,,	युक्षु‡
च० युजे	,,*	युग्भ्य *	स० हे युङ्!	हे युञ्जौ!	हे युञ्ज!

* इन स्थानो पर चो कु (३०६) द्वारा कुत्व हो जाता है। क्विन्प्रत्ययस्य कु (३०४) सूत्र उस की दृष्टि मे असिद्ध है।

‡ चो. कु (३०६), आदेशप्रत्यययो (१५०), खरि च (७४)।

सुयुज् (उत्तम योगी)। सुपूर्वक युजिँर् योगे (रुधा० उभ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सुयुज्' शब्द निष्पन्न होता है। ध्यान रहे कि यहा ऋत्विग्दधृक्० (३०१) सूत्र द्वारा क्विन् प्रत्यय नही होता, क्योकि वहा निरुपपद युज् मे क्विन् विधान किया गया है, यहा 'सु' यह उपपद विद्यमान है।

सुयुज्+स्(सुँ)। यहा समास मे निषेध होने से युजेरसमासे (३०५) द्वारा नुँम् का आगम नही होता। हल्ङ्याब्भ्य० (१७९) से सकार का लोप हो कर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३०६) चोः कुः।८।२।३०॥

चवर्गस्य कवर्ग स्याज्झलि पदान्ते च। सुयुक्, सुयुग्। सुयुजौ। सुयुग्भ्याम्। खन्। खञ्जौ। खन्भ्याम्॥

अर्थ—झल् परे होने पर या पदान्त मे चवर्ग को कवर्ग हो।

व्याख्या—चो।६।१। कु।१।१। झलि।७।१। (झलो झलि से)। पदस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। अन्ते।७।१। (स्को. सयोगाद्योरन्ते च से)। अर्थ—

(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (चोः) चवर्ग के स्थान पर (कुः) कवर्ग आदेश हो जाता है।

'सुयुज्' यहां पद के अन्त में चवर्ग-जकार को कवर्ग-गकार हो कर वाऽवसाने (१४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व-ककार करने पर—'सुयुक्, सुयुग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	सुयुक्-ग्	सुयुजौ	सुयुजः	प०	सुयुजः	सुयुग्भ्याम्*	सुयुग्भ्यः*
द्वि०	सुयुजम्	,,	,,	ष०	,,	सुयुजोः	सुयुजाम्
तृ०	सुयुजा	सुयुग्भ्याम्*	सुयुग्भिः*	स०	सुयुजि	,,	सुयुक्षु‡
च०	सुयुजे	,,*	सुयुग्भ्यः*	सं०	हे सुयुक्-ग्!	हे सुयुजौ!	हे सुयुजः!

* चोः कुः (३०६) से कुत्व हो जाता है।

‡ चोः कुः (३०६) से जकार को गकार, आदेशप्रत्यययोः (१५०) से सकार को षकार तथा खरि च (७४) से गकार को ककार हो कर क्+ष् के योग से 'क्ष्' आकृति बन जाती है।

खञ्ज् (लङ्गड़ा)। **खजिँ गतिवैकल्ये** (भ्वा० प०) इत्यस्माद्धातोः क्विँपि, इदित्त्वान्नुँमि, **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) इत्यनुस्वारे, **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) इति परसवर्णे ञकारे च कृते 'खञ्ज्' इति शब्दो निष्पद्यते। कृदन्त होने से 'खञ्ज्' शब्द की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते है।

खञ्ज्+स् (सुँ)। हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सुँलोप, **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से जकारलोप, **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्यायानुसार ञकार को पुनः नकार हो कर 'खन्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) द्वारा नकार का लोप नहीं होता। किञ्च—क्विँन्-प्रत्ययान्त न होने से **क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) द्वारा नकार को ङकार आदेश भी नहीं होता। रूपमाला यथा—

प्र०	खन्	खञ्जौ	खञ्जः	प०	खञ्जः	खन्भ्याम्†	खन्भ्यः†
द्वि०	खञ्जम्	,,	,,	ष०	,,	खञ्जोः	खञ्जाम्
तृ०	खञ्जा	खन्भ्याम्†	खन्भिः†	स०	खञ्जि	,,	खन्त्सु, खन्सु*
च०	खञ्जे	,,†	खन्भ्यः†	सं०	हे खन्!	हे खञ्जौ!	हे खञ्जः!

† **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से जकार का लोप हो जाता है।

* संयोगान्तलोप हो कर **नश्च** (८७) से वैकल्पिक 'धुँट्' पुनः चर्त्व।

राज् (दीप्तिमान्, राजा)। **राजृँ दीप्तौ** (भ्वा० उ०) इत्यस्मात्क्विँपि तस्य च सर्वापहारलोपे 'राज्' इति शब्दो निष्पद्यते। कृदन्त होने से स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

राज्+स् (सुँ)। यहां हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सुँलोप हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३०७) व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राजच्छशां षः ।८।२।३६॥

व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज् झलि पदान्ते च । जश्त्व-चर्त्वे । राट्, राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । एवं विभ्राट् । देवेट् । विश्वसृट् ॥

अर्थ —झल् परे होने पर या पदान्त में व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज्, भ्राज् इन सात धातुओं को तथा छकारान्त और शकारान्तों को षकार अन्तादेश हो जाता है ।

व्याख्या—व्रश्च-भ्रस्ज—छशाम् ।६।३। षः ।१।१। झलि ।७।१। (झलो झलि से) । पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । अन्ते ।७।१। (स्कोः संयोगाद्योरन्ते च से)। समास —व्रश्चश्च भ्रस्जश्च सृजश्च मृजश्च यजश्च राजश्च भ्राजश्च छश्च श् च= व्रश्च-भ्रस्ज—भ्राजच्छशः, तेषाम्=व्रश्च-भ्रस्ज—भ्राजच्छशाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । व्रश्चादिष्वकार उच्चारणार्थः । यहां 'व्रश्च्' आदि सात धातु हैं तथा छ्, श् ये दो वर्ण हैं । ये दोनों वर्ण 'शब्दस्वरूपम्' विशेष्य के विशेषण हैं । शब्दानुशासन का सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में अधिकार होने से 'शब्दस्वरूपम्' यह उपलब्ध हो जाता है । तब तदन्तविधि हो कर शकारान्त छकारान्त शब्दस्वरूप ऐसा अर्थ हो जाता है । अर्थः—(व्रश्च-भ्रस्ज—छशाम्) व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज्, भ्राज् तथा छकारान्त और शकारान्त शब्दों के स्थान पर (षः) 'ष्' आदेश हो जाता है (झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में । अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है ।

'राज्' यहां पदान्त में प्रकृत-सूत्र से जकार को षकार हो कर झलां जशोऽन्ते (६७) से षकार को डकार तथा वाऽवसाने (१४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने पर 'राट्, राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	राट्-ड्	राजौ	राजः	प० राजः	राड्भ्याम्†	राड्भ्यः†
द्वि०	राजम्	,,	,,	ष० ,,	राजोः	राजाम्
तृ०	राजा	राड्भ्याम्†	राड्भिः†	स० राजि	,,	राट्त्सु-ट्सु*
च०	राजे	,,†	राड्भ्यः†	सं० हे राट्-ड् !	हे राजौ !	हे राजः !

† व्रश्च-भ्रस्ज० (३०७) इति षत्वे, झलां जशोऽन्ते (६७) इति डकारः ।

* षत्वे जश्त्वे च कृते डः सि धुट् (८४) इति वा धुडागमे खरि च (७४) इति चर्त्वम् ।

विभ्राज् (विशेष शोभायुक्त) । 'वि' पूर्वक भ्राजृँ दीप्तौ (भ्वा० आ०) धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने पर 'विभ्राज्' शब्द सिद्ध होता है । कृदन्त होने से इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

विभ्राज्+स् (सुँ) । हल्ङ्याब्भ्य० (१७९) से सकारलोप, व्रश्च-भ्रस्ज०;

(३०७) से जकार को षकार, **झलां जशोऽन्ते** (६७) से षकार को डकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने से 'विभ्राट्, विभ्राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	विभ्राट्-ड्	विभ्राजौ	विभ्राजः	प०	विभ्राजः	विभ्राड्भ्याम्	विभ्राड्भ्यः
द्वि०	विभ्राजम्	,,	,,	ष०	,,	विभ्राजोः	विभ्राजाम्
तृ०	विभ्राजा	विभ्राड्भ्याम्	विभ्राड्भिः	स०	विभ्राजि	,,	विभ्राट्त्सु,ट्सु
च०	विभ्राजे	,,	विभ्राड्भ्यः	सं०	हे विभ्राट्!	विभ्राजौ!	विभ्राजः!

भ्यामादिषु **व्रश्च-भ्रस्ज०** (३०७) इति षत्वे **झलां जशोऽन्ते** (६७) इति जश्त्वम्। सुपि षत्वे, जश्त्वे, वा धुँडागमे चर्त्वम्।

देवेज् (देवताओं का यजन करने वाला)। देवान् यजत इति देवेट्। 'देव'-कर्मोपपदाद् यजतेः(भ्वा० उभ०) क्विँपि, कित्त्वाद्, **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) इति सम्प्रसारणे, **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) इति पूर्वरूपे, गुणे च कृते 'देवेज्' इति शब्दो निष्पद्यते। कृदन्त होने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो कर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

इस की रूपमाला यथा—

प्र०	देवेट्-ड्	देवेजौ	देवेजः	प०	देवेजः	देवेड्भ्याम्	देवेड्भ्यः
द्वि०	देवेजम्	,,	,,	ष०	,,	देवेजोः	देवेजाम्
तृ०	देवेजा	देवेड्भ्याम्	देवेड्भिः	स०	देवेजि	,,	देवेट्त्सु-ट्सु
च०	देवेजे	,,	देवेड्भ्यः	सं०	हे देवेट्!	हे देवेजौ!	हे देवेजः!

यहां 'यज्' होने से पदान्त में पूर्ववत् **व्रश्च-भ्रस्ज०** (३०७) सूत्र से षत्व तथा **झलां जशोऽन्ते** (६७) से जश्त्व-डकार हो जाता है।

विशेष—**क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) सूत्र में बहुव्रीहिसमास के आश्रयण के कारण यहां कुत्व प्राप्त था परन्तु भाष्यकार के 'उपयट् काम्यति' प्रयोग के निर्देश से नहीं होता। यह विषय विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

विश्वसृज् (जगत् के रचयिता, भगवान्)। विश्वं सृजतीति विश्वसृट्। विश्व-कर्मोपपदात् सृज विसर्गे (तुदा० प०) इत्यस्मात्कर्त्तरि क्विँपि 'विश्वसृज्' इतिशब्दो निष्पद्यते। इस की रूपमाला यथा—

प्र० विश्वसृट्-ड्, विश्वसृजौ, विश्वसृजः। **द्वि०** विश्वसृजम्, विश्वसृजौ, विश्वसृजः। **तृ०** विश्वसृजा, विश्वसृड्भ्याम्, विश्वसृड्भिः। **च०** विश्वसृजे, विश्वसृड्भ्याम्, विश्वसृड्भ्यः। **प०** विश्वसृजः, विश्वसृड्भ्याम्, विश्वसृड्भ्यः। **ष०** विश्वसृजः, विश्वसृजोः, विश्वसृजाम्। **स०** विश्वसृजि, विश्वसृजोः, विश्वसृट्त्सु-ट्सु। **सं०** हे विश्वसृट्-ड्! हे विश्वसृजौ! हे विश्वसृजः!।

यहां 'सृज्' धातु होने से **व्रश्च-भ्रस्ज०** (३०७) सूत्र से पदान्त में जकार को षकार तथा **झलां जशोऽन्ते** (६७) से षकार को डकार हो जाता है। 'रज्जुसृड्भ्याम्' इस भाष्यप्रयोग से यहां पर कुत्व नहीं होता। विशेष सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

परिव्राज् (सन्यासी)। इस की सिद्धि के लिये उणादिसूत्र उद्धृत करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**परौ व्रजेः षः पदान्ते** (उणादि० २१८)।

परावुपपदे व्रजे क्विँप् स्याद् दीर्घश्च पदान्ते षत्वमपि। परिव्राट्, परिव्राड्। परिव्राजौ॥

अर्थः—'परि' उपपद होने पर 'व्रज्' (भ्वा० प०) धातु से क्विँप् प्रत्यय हो और धातु के अकार को दीर्घ हो। किञ्च—पदान्त में षत्व भी होना चाहिये।

व्याख्या—यह शाकटायनमुनिप्रणीत उणादिसूत्र (२१८) है। परौ।७।१। व्रजेः।५।१। क्विँप्।१।१। (क्विब् वचिप्रच्छ्यायतस्तु० से)। पदान्ते।७।१। षः।१।१। अर्थः—(परौ) 'परि' उपपद होने पर (व्रजेः) व्रज् धातु से (क्विँप्) क्विँप् प्रत्यय तथा (दीर्घः) दीर्घ होता है। किञ्च (पदान्ते) पदान्त में (षः) षकार भी हो जाता है।

जिस पद के साथ रहने पर कोई कार्य विधान किया जाता है उसे 'उपपद' कहते हैं, उपपद सदा पूर्व में ही प्रयुक्त हुआ करता है। [देखें—**तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३), **उपपदमतिङ्** (९५४)]। यहां 'परि' उपपद होने पर 'व्रज्' धातु से क्विँप् का विधान है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि परिपूर्वक व्रज् धातु से क्विँप् हो अन्यथा नहीं।

क्विँप् के साथ धातु को दीर्घ करने का भी विधान है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अचों के ही धर्म हैं अतः बिना कहे भी ये अचों के स्थान पर समझने चाहियें। अतः यहां 'व्रज्' धातु के अन्तर्गत रेफोत्तर अकार को ही दीर्घ होगा।

पदान्त में विहित षत्व अलोऽन्त्यविधि से जकार के स्थान पर होगा।

परि‌व्रज्+क्विँप्=परिव्राज्+क्विँप्। क्विँप् का सर्वापहार लोप करने से—परिव्राज्। कृदन्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है।

परिव्राज्+स्(सुँ) यहां हल्ङ्याब्भ्यो०(१७९) से सकार का लोप कर पदान्त में षत्व करने पर—परिव्राष्। **झलां जशोऽन्ते**(६७) से जश्त्व—डकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने से 'परिव्राट्, परिव्राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र० परिव्राट्-ड्, परिव्राजौ, परिव्राजः। द्वि० परिव्राजम्, परिव्राजौ, परिव्राजः। तृ० परिव्राजा, परिव्राड्भ्याम्, परिव्राड्भिः। च० परिव्राजे, परिव्राड्भ्याम्, परिव्राड्भ्यः। पं० परिव्राजः, परिव्राड्भ्याम्, परिव्राड्भ्यः। ष० परिव्राजः, परिव्राजोः, परिव्राजाम्। स० परिव्राजि, परिव्राजोः, परिव्राट्त्सु-ट्सु। सं० हे परिव्राट्-ड्!, हे परिव्राजौ!, हे परिव्राजः!।

पदान्त में सर्वत्र **परौ व्रजेः षः पदान्ते** द्वारा षत्व तथा **झलां जशोऽन्ते** (६७) से जश्त्व हो जाता है।

विश्वराज् (विश्वपति, भगवान्)। विश्वस्मिन् राजत इति विश्वाराट्।

विश्वोपपदाद् राजतेः (भ्वा० उ०) सत्सूद्विष० (३.२.६१) इति क्विँपि, उपपदसमासे 'विश्वराज्' इतिशब्दो निष्पद्यते ।

विश्वराज्+स्(सुँ) । यहां सकारलोप हो व्रश्च-भ्रस्ज० (३०७) सूत्र से जकार को षकार, झलां जशोऽन्ते (६७) द्वारा षकार को डकार तथा वाऽवसाने (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने पर—'विश्वराट्, विश्वराड्' । अब इन दोनों अवस्थाओं में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३०८) **विश्वस्य वसुराटोः ।६।३।१२७ ।।**

विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद् वसौ राट्शब्दे च परे। विश्वाराट्, विश्वाराड् । विश्वराजौ । विश्वाराड्भ्याम् ।।

अर्थः—वसु अथवा राट् परे होने पर विश्व शब्द को दीर्घ अन्तादेश हो ।

व्याख्या—विश्वस्य ।६।१। दीर्घः ।१।१। (**ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से) । वसुराटोः ।७।२। अर्थः—(वसुराटोः) वसु अथवा राट् शब्द परे होने पर (विश्वस्य) 'विश्व' शब्द के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यविधि से यह दीर्घ अन्त्य अच् के स्थान पर होगा । यहां 'राट्' का ग्रहण पदान्त का उपलक्षण है; अतः 'राट्' हो या 'राड्', दोनों अवस्थाओं में दीर्घ हो जाता है।

इस सूत्र से दीर्घ करने पर—'विश्वाराट्, विश्वाराड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं । रूपमाला यथा—

प्र० विश्वाराट्-ड्, विश्वराजौ, विश्वराजः । **द्वि०** विश्वराजम्, विश्वराजौ, विश्वराजः । **तृ०** विश्वराजा, विश्वाराड्भ्याम्, विश्वाराड्भिः । **च०** विश्वराजे, विश्वाराड्भ्याम्, विश्वाराड्भ्यः । **प०** विश्वराजः, विश्वाराड्भ्याम्, विश्वाराड्भ्यः । **ष०** विश्वराजः, विश्वराजोः, विश्वराजाम् । **स०** विश्वराजि, विश्वराजोः, विश्वाराट्त्सु-ट्सु । **सं०** हे विश्वाराट्-ड् !, हे विश्वराजौ !, हे विश्वराजः ! ।

भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् में षत्व और डत्व हो कर दीर्घ हो जाता है । सुप् में डत्व हो कर वैकल्पिक धुँट् का आगम तथा चर्त्व विशेष हैं ।

भृस्ज् (भठियारा वा भड़भूंजा) । **भ्रस्जँ पाके** (तुदा० उभ०) धातु से क्विँप्, ग्रहिज्या० (६३४) से सम्प्रसारण तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप करने से 'भृस्ज्' शब्द बनता है । भृज्जतीति=भृट् ।

भृस्ज्+स् । सकार का लोप (१७९) हो कर—भृस्ज् । अब **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से जकारलोप के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३०९) **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ।८।२।२९।।**

पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः स्यात् । भृट् । सस्य श्चुत्वेन शः । झलां जश्झशि (१९) इति शस्य जः । भृज्जौ । भृड्भ्याम् ।।

अर्थः—पदान्त में या झल् परे होने पर संयोग के आदि वाले सकार ककार का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—स्कोः ।६।२। संयोगाद्योः ।६।२। लोपः ।१।१। (संयोगान्तस्य लोपः से) । झलि ।७।१। (झलो झलि से) । पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । अन्ते ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । समासः—स् च क् च=स्कौ, तयोः=स्कोः । इतरेतरद्वन्द्वः । संयोगस्य आदी=संयोगादी तयोः=संयोगाद्योः । षष्ठीतत्पुरुषः । अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में स्थित (संयोगाद्योः) जो संयोग, उस के आदि सकार ककार का (लोपः) लोप हो जाता है ।

यद्यपि यह सूत्र संयोगान्तस्य लोपः (२०) की दृष्टि में असिद्ध है तथापि वचनसामर्थ्य से यह उस का अपवाद है—अपवादो वचनप्रामाण्यात् ।

'भृस्ज्' यहां पदान्त में प्रकृतसूत्र से संयोग के आदि सकार का लोप हो—'भृज्' । व्रश्च-भ्रस्ज० (३०७) सूत्र से जकार को षकार, जश्त्व से षकार को डकार तथा वैकल्पिक चर्त्व में टकार करने पर—'भृट्, भृड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

'भृस्ज+औ' यहां पदान्त वा झल् परे न होने से संयोगादि सकार का लोप नहीं होता । झलां जश् झशि (१९) और स्तोः श्चुना श्चुः (६२) दोनों प्राप्त हैं । जश्त्व के असिद्ध होने से प्रथम श्चुत्व से सकार को शकार हो—भृश्ज्+औ । पुनः झलां जश्झशि (१९) से तालुस्थानिक शकार के स्थान पर तादृश जश्—जकार करने पर 'भृज्जौ' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—

प्र०	भृट्-ड्	भृज्जौ	भृज्जः	पं०	भृज्जः	भृड्भ्याम्	भृड्भ्यः
द्वि०	भृज्जम्	,,	,,	ष०	,,	भृज्जोः	भृज्जाम्
तृ०	भृज्जा	भृड्भ्याम्	भृड्भिः	स०	भृज्जि	,,	भृट्त्सु-ट्सु
च०	भृज्जे	,,	भृड्भ्यः	सं०	हे भृट्-ड् !	हे भृज्जौ !	हे भृज्जः !

अभ्यास (४१)

(१) 'ऋत्विक्' आदि में चोः कुः अथवा क्विन्प्रत्ययस्य कुः किसी एक के द्वारा कार्य्य सिद्ध हो सकता है, पुनः दो सूत्रों का निर्माण क्यों ?

(२) युञ्जौ, युञ्जः—आदि में चोः कुः द्वारा कुत्व क्यों नहीं होता ?

(३) क्विन् का सर्वापहार लोप कैसे और क्यों किया जाता है ? ससूत्र लिखें ।

(४) युजेरसमासे में 'युजि' के साथ इकार जोड़ने का क्या अभिप्राय है ?

(५) निम्नलिखित सूत्रों की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या करें—
स्कोः०, ऋत्विग्दधृक्०, क्विन्प्रत्ययस्य कुः, युजेरसमासे ।

(६) १ सन्त्सु २ परिव्राट्, ३. विश्वाराट्, ४. भृट्, ५ भृज्जौ, ६ युग्भ्याम, ७ विश्वसृट्, ८ देवेड्भ्याम्, ९ ऋत्विक्षु—इन प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि लिखें ।

(७) जब संयोगान्तलोप की दृष्टि में स्कोः संयोगाद्योरन्ते च सूत्र असिद्ध है, तो पुनः वह उस का कैसे बाध कर लेता है ?

(८) पदान्त में पकार के स्थान पर किस सूत्र से जश्त्व होता है ? और वह जश्त्व कौन सा वर्ण होना चाहिये ? सोपपत्तिक स्पष्ट करें।

(९) कृदतिङ् सूत्र पर 'अत्र धात्वधिकारे' का क्या अभिप्राय है ?

(१०) 'राजा' यह किस शब्द का किस विभक्ति का रूप है ?

(उत्तर—राजन् सुँ, राज् टा)

(यहां जकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——: :o: :——

अब दकारान्त पुंल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

त्यद् (वह)। **त्यजि-तनि-यजिभ्यो डित्** (उणा० १२९) इस सूत्र द्वारा **त्यज हानौ** (भ्वा० प०) धातु से डित् 'अदिँ' प्रत्यय करने से टि का लोप कर देने पर 'त्यद्' शब्द निष्पन्न होता है। इस का लोक में प्रयोग नहीं देखा जाता। वेद में इस का प्रचुर प्रयोग होता है[1]। अकेले ऋग्वेद में ही पुंल्लिङ्ग त्यद् के प्रथमा के एकवचन का प्रायः छत्तीस वार प्रयोग हुआ है। सर्वादिगणान्तर्गत होने से इसे सर्वनामकार्य होते हैं।

त्यद्+स्(सुँ)। यहां **त्यदादीनामः**(१९३) सूत्र द्वारा दकार को अकार तथा **अतो गुणे**(२७४) सूत्र से पररूप एकादेश करने पर—त्य+स्। यही बात ग्रन्थकार निर्देश करते हैं—

[लघु०] त्यदाद्यत्वम्पररूपत्वञ्च ॥

अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३१०) तदोः सः सावनन्त्ययोः ।७।२।१०६॥

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ। स्यः। त्यौ। त्ये। सः। तौ। ते। यः। यौ। ये। एषः। एतौ। एते। अन्वादेशे—एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः २॥

---

१. परन्तु **स्यश्छन्दसि बहुलम्**(६.१.१२९)सूत्र के निर्देश से इस का लोक में भी प्रयोग अशुद्ध प्रतीत नहीं होता। अत एव वेणीसंहारनाटक में—**सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा स्यो वा भवाम्यहम्** (३.३५) ऐसा क्वचित् पाठ-भेद पाया जाता है। **त्यजि-तनि०**(उणा० १२९) सूत्र पर पेरुसूरि के श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—

त्यस्तद्यदस्त्रयः सर्वादिगणे पठिता अमी।
तत्राद्यौ तु परोक्षार्थौ तृतीयस्तन्निरूपकः ॥१॥
आद्यस्य लोके न क्वापि प्रयोगः परिदृश्यते।
वेदे त्वेष स्य वाजीति प्रभृतिष्वथ गम्यते ॥२॥
स्यश्छन्दसीतिसूत्रस्थच्छन्दोग्रहणलिङ्गतः।
लोकेऽप्यस्य प्रयोगोऽस्तीत्येतदभ्युपगम्यते ॥३॥

अर्थ —'सुँ' परे होने पर त्यदादियो के अनन्त्य (अन्त मे न रहने वाले) तकार दकार को सकार आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—त्यदादीनाम् ।६।३। (त्यदादीनाम से)। तदो ।६।२। स ।१।१। सौ ।७।१। अनन्त्ययो ।६।२। समास —न अन्त्ययो =अनन्त्ययो, नञ्समास । अर्थ — (सौ) सुँ परे होने पर (त्यदादीनाम्) त्यदादियो के (अनन्त्ययो) अनन्त्य (तदो) तकार दकार को (स) सकार आदेश हो जाता है ।

त्य+स् । यहा प्रकृतसूत्र स त्यद् शब्द के अनन्त्य तकार को सकार हो कर— स्य+स् । प्रत्यय के सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर—'स्य' प्रयोग सिद्ध हुआ । इस की रूपमाला यथा—

प्र० स्य	त्यौ	त्ये	प० त्यस्मात्	त्याभ्याम्	त्येभ्य
द्वि० त्यम्	,,	त्यान्	ष० त्यस्य	त्ययो	त्येषाम्
तृ० त्येन	त्याभ्याम्	त्यै	स० त्यस्मिन्	,,	त्येषु
च० त्यस्मै	,,	त्येभ्य	सम्बोधन प्राय नही होता ।		

यहा सर्वत्र त्यदाद्यत्व और पररूप कर प्रथम 'त्य' इस प्रकार अदन्त सर्वनाम बना लेना चाहिये । तब इस की प्रक्रिया 'सर्व'शब्दवत् चलती है । केवल 'स्य' मे कुछ विशेष है जो बताया जा चुका है ।

तद् (वह) । यह शब्द भी तनुँ विस्तारे (तना० उभ०) धातु से त्यजि-तनि० (उणा० १२६) सूत्र द्वारा डित् 'अदिँ' प्रत्यय करने मे निष्पन्न होता है ।

तद्+स्(सुँ)। यहा भी त्यदाद्यत्व तथा पररूप होकर—'त+स' । पुन तदो स ०(३१०) सूत्र से अनन्त्य तकार को सकार आदेश कर रुँत्व विसर्ग करने मे—'स' प्रयोग सिद्ध होता है । इस की रूपमाला यथा—

प्र० स	तौ	ते	प० तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्य
द्वि० तम्	,,	तान्	ष० तस्य	तयो	तेषाम्
तृ० तेन	ताभ्याम्	तै	स० तस्मिन्	,,	तेषु
च० तस्मै	,,	तेभ्य			

———०———

यहा भी पूर्ववत् त्यदादीनाम (१९३) मे दकार को अकार तथा अतो गुणे (२७४) से पररूप होकर 'त' इस प्रकार अदन्त सर्वनाम बन जाता है । तब इस की प्रक्रिया 'सर्व'शब्दवत् होती है । सुँ विभक्ति मे ही विशेष है ।

यद् (जो)। यह शब्द भी यजँ देवपूजासगतिकरणदानेषु (भ्वा० उभ०) धातु से त्यजि-तनि-यजिभ्यो डित् (उणा० १२६) सूत्र द्वारा 'अदिँ' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है । इस की रूपमाला यथा—

प्र० य	यौ	ये	प० यस्मात्	याभ्याम्	येभ्य
द्वि० यम्	,,	यान्	ष० यस्य	ययो	येषाम्
तृ० येन	याभ्याम्	यै	स० यस्मिन्	,,	येषु
च० यस्मै	,,	येभ्य			

———०———

यहाँ भी पूर्ववत् त्यदाद्यत्व और पररूप कर सर्वनामकार्य हो जाते हैं। अनन्त्य तकार दकार न होने से सुँ में तदोः सः० (३१०) प्रवृत्त नहीं होता।

एतद् (यह)। इण् गतौ (अदा० प०) धातु से **एतेस्तुंट् च** (उणा० १३०) सूत्र द्वारा अदिँ प्रत्यय तथा 'तुंट्' का आगम करने पर 'एतद्' शब्द निष्पन्न होता है।

एतद्+स् (सु)। यहां **त्यदादीनामः** (१९३) से दकार को अकार, **अतो गुणे** (२७४) से पररूप, **तदोः सः०** (३१०) से अनन्त्य तकार को सकार तथा **आदेश-प्रत्यययोः** (१५०) से उस सकार को षकार करने पर—एषस्='एषः' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	एषः	एतौ	एते	**पं०**	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
द्वि०	एतम्	,,	एतान्	**ष०**	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतैः	**स०**	एतस्मिन्	,,	एतेषु
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्यः				

———०———

यहां भी सर्वत्र त्यदाद्यत्व और पररूप होकर 'एत' शब्द बन जाने पर सर्व-शब्द की तरह सर्वनामकार्य होते हैं। सुँ विभक्ति का विशेष बता चुके हैं।

अन्वादेश में **द्वितीयाटौस्स्वेनः** (२८०) सूत्र द्वारा द्वितीया, टा और ओस् विभक्तियों में 'एतद्' शब्द के स्थान पर 'एन' आदेश हो जाता है। शेष विभक्तियों में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। अन्वादेश में रूपमाला यथा—

प्र०	एषः	एतौ	एते	**पं०**	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
द्वि०	एनम्*	एनौ*	एनान्*	**ष०**	एतस्य	एनयोः*	एतेषाम्
तृ०	एनेन*	एताभ्याम्	एतैः	**स०**	एतस्मिन्	,, *	एतेषु
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्यः				

*द्वितीयाटौस्स्वेनः (२८०)

नोट—त्यदादियों का प्रायः सम्बोधन नहीं हुआ करता—यह हम पीछे लिख चुके हैं। यदि बनेगा भी तो प्रथमावत् बनेगा। सम्बुद्धि में **एङ्ह्रस्वात्०** (१३४) का ध्यान रख लेना चाहिये।

सूचना—ऊपर त्यदादियों के पुंल्लिङ्ग के रूप दिये गये हैं। स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग के रूप आगे तत्तत्प्रकरणों में देखें।

अब दकारान्तों में युष्मद् और अस्मद् शब्दों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। युष्मद् और अस्मद् शब्द तीनों लिङ्गों में एक समान होते हैं—यह हम पीछे अजन्त-पुंल्लिङ्ग-प्रकरण में 'कति' शब्द पर लिख चुके हैं।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों की सिद्धि में अनेक सूत्र प्रयुक्त होते हैं, अतः यह बालकों को कठिन प्रतीत होती है। हम इसे यथाशक्ति सरल तथा सुबोध बनाने का प्रयास करेंगे। बालकों को इन की सिद्धि से पूर्व इन के उच्चारण भली-भांति कण्ठस्थ कर लेने चाहियें। ऐसा करने से एक तो ये शब्द सरल दूसरे झटिति समझ में आ जाते हैं। इन दोनों की रूपमाला यथा—

युष्मद्[1]=तुम			अस्मद्=मैं		
प्र० त्वम्	युवाम्	यूयम्	प्र० अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि० त्वाम्	,,	युष्मान्	द्वि० माम्	,,	अस्मान्
तृ० त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभि	तृ० मया	आवाभ्याम्	अस्माभि
च० तुभ्यम्	,,	युष्मभ्यम	च० मह्यम्	,,	अस्मभ्यम्
प० त्वत्-द्	,,	युष्मत्-द्	प० मत्-द्	,,	अस्मत्-द्
ष० तव	युवयो	युष्माकम	ष० मम	आवयो	अस्माकम्
स० त्वयि	,,	युष्मासु	स० मयि	,,	अस्मासु

युष्मद् और अस्मद् दोनों शब्दों में एक समान सूत्र प्रवृत्त होते हैं अत हम भी इन की सिद्धि इकट्ठी दिखायेंगे ।

युष्मद्+सुँ, अस्मद्+सुँ । यहा अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३११) ङे प्रथमयोरम् ।७।१।२८॥

युष्मदस्मद्भ्या परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेश ॥

अर्थ —युष्मद् और अस्मद् शब्दो से परे 'ङे' को तथा प्रथमा और द्वितीया विभक्ति को अम् आदेश हो ।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। (युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् से) । ङे ।६।१। (यहा षष्ठीविभक्ति का लुक् समझना चाहिये)। प्रथमयो ।६।२। अम ।१।१। समास — प्रथमा च प्रथमा च=प्रथमे, तयो=प्रथमयो , एकशेष । यहा पहले 'प्रथमा' शब्द से प्रथमाविभक्ति तथा दूसरे 'प्रथमा' शब्द से द्वितीया विभक्ति अभिप्रेत है[2]। अर्थ — (युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दो से परे (ङे) ङे के स्थान पर तथा (प्रथमयो) प्रथमा वा द्वितीया विभक्ति के स्थान पर (अम्) 'अम्' आदश हो जाता है।

इस सूत्र से सुँ को अम् आदेश हो कर —युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम् । यहाँ हलन्त्यम्(१) द्वारा अम् के मकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती । न विभक्तौ तुस्मा (१३१) सूत्र से निषेध हो जाता है । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३१२) त्वाहौ सौ ।७।२।९४॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहावादेशौ स्त (सौ परे) ॥

अर्थ.—सुँ परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दो को मपर्यन्त (म् भी साथ लेना है) क्रमश त्व, अह आदेश हो जाते हैं ।

---

१ युष्यसिभ्यां मदिक् (उणा० १३६) इति शब्दावेतौ सिध्यत । युषि सौत्र ।

२ पहले 'प्रथमा' शब्द से सात विभक्तियो में से प्रथमाविभक्ति का ग्रहण हो जाता है, शेष द्वितीया आदि छ विभक्तिया बच रहती हैं । अब दूसरे 'प्रथमा' शब्द से उन छ अवशिष्ट विभक्तियो में से प्रथमाविभक्ति अर्थात् द्वितीया विभक्ति का ग्रहण हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। (युष्मदस्मदोरनादेशे से) । मपर्यन्तस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । त्वाहौ ।१।२। सौ ।७।१। समासः—त्वश्च अहश्च=त्वाहौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (मपर्यन्तस्य=मपर्यन्तयोः) 'म्' तक (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर (त्वाहौ) क्रमशः त्व और अह आदेश हो जाते हैं ।

युष्मद् में युष्म् और अस्मद् में अस्म् ये म्पर्यन्त भाग हैं। सुँ परे होने पर इन के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'अह' आदेश होते हैं ।

युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्—यहां सुँ के स्थान पर हुए अम् आदेश को स्थानिवद्भाव से सुँ मान कर प्रकृतसूत्र से क्रमशः म्पर्यन्त त्व और अह आदेश करने से—'त्व अद्+अम्, अह अद्+अम्' । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३१३) शेषे लोपः ।७।२।९०।।

एतयोष्टिलोपः । त्वम् । अहम् ।।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् की टि अर्थात् 'अद्' भाग का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। (**युष्मदस्मदोरनादेशे** से) । मपर्यन्तात् ।५।१। (**मपर्यन्तस्य** इस अधिकृत का अपकर्ष कर विभक्तिविपरिणाम हो जाता है) । शेषे ।७।१। (स्थानषष्ठी के अर्थ में अधिकरणत्व की विवक्षा से सप्तमी हुई है) । लोपः ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तात्) म्पर्यन्त भाग से आगे (शेषे) शेष भाग में (लोपः) लोप प्रवृत्त होता है ।

म्पर्यन्त भाग से आगे शेष भाग 'अद्' होता है । इस के लोप का इस सूत्र से विधान किया गया है । यह 'अद्' भाग युष्मद् और अस्मद् का 'टि' भाग ही होता है, अतः वृत्ति में टि के लोप का कथन किया गया है ।

सावधानता—यहां यह नहीं समझना चाहिये कि युष्मद् और अस्मद् शब्द में म्पर्यन्त आदेशों से अवशिष्ट शेष भाग का लोप होता है, यथा यहां त्व और अह आदेश हो चुकने पर 'अद्' भाग शेष रहता है । यदि ऐसा मानेंगे तो यहां तो कार्य्य चल जायेगा, परन्तु 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' आदियों में न हो सकेगा । क्योंकि वहां 'युष्मद्, अस्मद्' शब्दों के स्थान पर कुछ आदेश नहीं होता । अतः यहां 'मपर्यन्तस्य' का अपकर्षण कर म् से आगे के भाग अर्थात् 'अद्' को शेष समझना चाहिये ।

इस सूत्र का दूसरा अर्थ भी होता है और कहीं २ लघुकौमुदी में वह उपलब्ध भी होता है । वह यह है—

आत्व-यत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोपः स्यात् ।

अर्थः—जिस विभक्ति के परे होने पर आत्व और यत्व विधान नहीं होते, उस विभक्ति के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के अन्त्य अर्थात् दकार का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—अष्टन आ विभक्तौ से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आ जाने से इस

अर्थ की उत्पत्ति इस प्रकार होती है—(शेषे) शेष (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (युष्मदस्मदो) युष्मद् और अस्मद् का (लोप) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह लोप अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में—युष्मदस्मदोरनादेशे (७.२.८६), द्वितीयायाञ्च (७.२.८७), प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (७.२.८८), योऽचि (७.२.८९)—इन चार सूत्रों के द्वारा कुछ विशिष्ट विभक्तियों के परे होने पर आत्व और यत्व का विधान किया गया है। यदि आत्व और यत्व निमित्तक विभक्तियों से भिन्न अन्य शेष विभक्तियां परे हों तो दकार का लोप हो जाता है। काशिकाकार ने उन सब शेष विभक्तियों की गणना एक श्लोक में कर दी है जिन में आत्व और यत्व प्रवृत्त नहीं हो सकते। तथाहि—

पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च, षष्ठीप्रथमयोरपि।
यान्यद्विवचनान्यत्र, 'शेषे लोपो' विधीयते॥

अर्थात् पञ्चमी, चतुर्थी, षष्ठी तथा प्रथमा विभक्तियों के एकवचन और बहुवचन शेषविभक्तियां हैं। इन के परे होने पर शेषे लोपः (३१३) से युष्मद् और अस्मद् के अन्त्य दकार का लोप हो जाता है।

त्व अद्+अम्, अह अद्+अम्—यहां अन्तरङ्ग होने से प्रथम अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश हो 'त्वद्+अम्, अहद्+अम्'। अब शेषे लोपः (३१३) से अद् भाग का लोप हो कर—'त्व्+अम्=त्वम्, अह्+अम्=अहम्' ये रूप सिद्ध होते हैं।[1] अन्त्यलोप वाले पक्ष में केवल दकार का लोप हो कर अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने से इन प्रयोगों की निष्पत्ति होती है—यही विशेष है।

---

१. त्व अद्+अम्, अह अद्+अम्—यहां शेषे लोपः (३१३) से अद् भाग का लोप और अतो गुणे (२७४) से पररूप दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं। शेषे लोपः (३१३) सूत्र अष्टाध्यायी में पर होते हुए भी प्रथम प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि वह अङ्गाधिकार में पठित होने से विभक्ति प्रत्यय सापेक्ष होने के कारण बहिरङ्ग है और अतो गुणे (२७४) सूत्र अन्तर्गतवर्णद्वयापेक्ष होने से अन्तरङ्ग है। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे—इस परिभाषा के अनुसार अन्तरङ्गकार्य अतो गुणे प्रथम हो जाता है। शेषे लोपः बहिरङ्ग होने से अन्तरङ्ग के बाद प्रवृत्त होता है।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि वार्णादाङ्गं बलीयः (वर्णकार्य की अपेक्षा अङ्गकार्य बलवान् होता है) परिभाषा के आश्रय से वर्णकार्य अतो लोप की अपेक्षा अङ्गकार्य शेषे लोपः को बलवान् नहीं माना जा सकता, क्योंकि जहां आङ्ग और वार्ण कार्य समानाश्रय हों वहीं पर यह परिभाषा प्रवृत्त होती है। जैसे कृ+ण्वुल्=कृ+अक यहां 'ऋ' को प्रत्यय के णित् होने से आङ्गकार्य अचो ञ्णिति (१८२) से वृद्धि प्राप्त होती है तथा इसी ऋ को वार्णकार्य यण् (र्) भी प्राप्त होता है। इस परिभाषा से आङ्गकार्य वृद्धि हो जाती है। परन्तु

युष्मद्+औ, अस्मद्+औ—यहां ङे प्रथमयोरम् (३११) सूत्र से औकार को अम् आदेश हो जाता है। 'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्'। अब इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३१४) युवावौ द्विवचने ।७।२।९२।।

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर द्वित्वकथन में युष्मद् और अस्मद् को म्पर्यन्त क्रमशः युव और आव आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। (अष्टन आ विभक्तौ से)। युष्मदस्मदोः ।६।२। (युष्मदस्मदोरनादेशे से)। मपर्यन्तस्य ।६।१। (अधिकृत है)। युवावौ ।१।२। द्विवचने ।७।१। समासः—द्वयोर् वचनम् (कथनम्) द्विवचनम्, तस्मिन्=द्विवचने। षष्ठीतत्पुरुषः। यहां 'द्विवचने' का 'विभक्तौ' के साथ सामानाधिकरण्य कर लेने से 'द्विवचन विभक्ति परे होने पर' ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं। क्योंकि यदि ऐसा अभीष्ट होता तो महामुनि 'द्विवचने' न कहकर 'द्वित्वे' ही कह देते। उन के 'द्वित्वे' न कह कर 'द्विवचने' कथन का यह तात्पर्य है कि चाहे एकवचन, द्विवचन, बहुवचन जो भी विभक्ति परे हो द्वित्वकथन में युष्मद् और अस्मद् को म्पर्यन्त युव, आव आदेश हो जाते हैं। यथा—युवाम् अतिक्रान्तः=अतियुवाम्, आवाम् अतिक्रान्तः=अत्यावाम्। यहां सुँ परे होने पर भी युव और आव आदेश हो जाते हैं। यहां का विशेष विचार सिद्धान्त-कौमुदी में देखें। अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (द्विवचने) द्वित्वकथन में (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) म्पर्यन्त भाग के स्थान पर (युवावौ) क्रमशः युव और आव आदेश हो जाते हैं।

युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्—यहां द्वित्वकथन में युवावौ द्विवचने (३१४) सूत्र द्वारा म्पर्यन्त क्रमशः युव, आव आदेश करने पर—युव अद्+अम्, आव अद्+अम्। अब अन्तरङ्ग होने से प्रथम अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश हो जाता है—युवद्+अम्, आवद्+अम्। इस स्थिति में अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३१५) प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ।७।२।८८।।

औङ्येतयोरात्वं लोके। युवाम्। आवाम् ।।

अर्थः—लोक में प्रथमा का द्विवचन परे होने पर युष्मद् और अस्मद् को आकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—प्रथमायाः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। द्विवचने ।७।१। भाषायाम् ।७।१। युष्मदस्मदोः ।६।२। (युष्मदस्मदोरनादेशे से)। आ ।१।१। (अष्टन आ विभक्तौ से)। अर्थः—(भाषायाम्) लोक में (प्रथमायाः) प्रथमाविभक्ति के (द्विवचने)

व्याश्रय (भिन्न भिन्न आश्रय) में यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। यहां प्रकृत में शेषे लोपः तो विभक्ति को निमित्त मानता है और अतो गुणे 'अ' को। अतः भिन्न भिन्न आश्रय होने से यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

द्विवचन के परे होने पर (च) भी (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आकार आदेश अन्त्य अल् —दकार के स्थान पर होता है।

युवद्+अम् आवद्+अम्। यहां प्रकृतसूत्र से दकार को आकार आदेश होकर—युव आ+अम्, आव आ+अम् हुआ। अब अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ और अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने पर—'युवाम्, आवाम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। [भाषाभाष्य कथन से वद से युवम् आवम् बनेंगे]।

युष्मद्+जस् अस्मद्+जस्—यहां ङे प्रथमयोरम् (३११) से जस् को अम् आदेश हो जाता है। 'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३१६) यूयवयौ जसि ।७।२।९३॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो जसि। यूयम्। वयम्॥

अर्थः—जस् परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के म्पर्यन्त क्रमशः यूय और वय आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। (युष्मदस्मदोरनादेशे से)। मपर्यन्तस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। यूयवयौ ।१।२। जसि ।७।१। अर्थः—(जसि) जस् परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) म्पर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः (यूयवयौ) यूय और वय आदेश होते हैं।

'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्' यहां अम् को स्थानिवद्भाव से जस् मान कर उस के परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा म्पर्यन्त क्रमशः यूय और वय आदेश हो—'यूय अद्+अम्, वय अद्+अम्'। अब अतो गुणे (२७४) से पररूप करने पर—यूयद्+अम्, वयद्+अम्। पुनः शेषे लोपः (३१३) से अद् भाग का लोप हो कर—यूय्+अम्='यूयम्', वय्+अम्='वयम्' रूप सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में शेषे लोपः (३१३) से जब केवल दकार का लोप होता है तब अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने से उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

द्वितीया के एकवचन में—'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्'। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३१७) त्वमावेकवचने ।७।२।९७॥

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ॥

अर्थः—विभक्ति परे होने पर एकत्व कथन में युष्मद् और अस्मद् को म्पर्यन्त त्व और म आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। (अष्टम आ विभक्तौ से)। युष्मदस्मदोः ।६।२। (युष्मदस्मदोरनादेशे से)। मपर्यन्तस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। त्वमौ ।१।२। एकवचने ।७।१। समासः—एकस्य वचनम्—कथनम्=एकवचनम्, तस्मिन्=एकवचने।

षष्ठीतत्पुरुषसमासः। यहां 'एकवचने' का 'विभक्तौ' के साथ सामानाधिकरण्य करके 'एकवचन विभक्ति परे होने पर' ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं। क्योंकि तब आचार्य 'एक-वचने' न कह कर 'एकत्वे' ऐसा कह देते। अतः यहां 'एकवचने' कहने का यह तात्पर्य है कि चाहे एकवचन, द्विवचन वा बहुवचन जो भी विभक्ति परे हो युष्मद् और अस्मद् को एकत्वकथन मे म्पर्यन्त त्व और म आदेश हो जाते है। यथा—त्वाम् अतिक्रान्तौ=अतित्वाम्, माम् अतिक्रान्तौ=अतिमाम्। यहा द्विवचन परे होने पर भी युष्मद् और अस्मद् के एकार्थवाची होने से 'त्व, म' आदेश हो जाते है। विशेष सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्' यहां क्रमशः म्पर्यन्त 'त्व, म' आदेश होकर—'त्व अद्+अम्, म अद्+अम्'। **अतो गुणे** (२७४) से पररूप करने पर—'त्वद्+अम्, मद्+अम्'। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३१८) द्वितीयायाञ्च ।७।२।८७।।

अनयोरात् स्यात्। त्वाम्। माम्॥

अर्थः—द्वितीया विभक्ति परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को आकार आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः।६।२। (**युष्मदस्मदोरनादेशे** से)। आ।१।१। (**अष्टन आ विभक्तौ** से)। द्वितीयायाम्।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(द्वितीयायाम्) द्वितीया विभक्ति परे होने पर (च) भी (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह आदेश अन्त्य दकार के स्थान पर होता है।

'त्वद्+अम्, मद्+अम्' यहां द्वितीया परे है अतः प्रकृतसूत्र से दकार को आकार आदेश होकर—'त्व आ+अम्, म आ+अम्' हुआ। अब **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'त्वाम्, माम्' प्रयोग सिद्ध होते है।

युष्मद्+औट्, अस्मद्+औट्—यहां **ङे प्रथमयोरम्** (३११) सूत्र से अम् आदेश होकर—'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्'। **युवावौ द्विवचने** (३१४) से म्पर्यन्त युव और आव हो—'युव अद्+अम्, आव अद्+अम्'। **अतो गुणे** (२७४) से पररूप करने से—'युवद्+अम्, आवद्+अम्'। अब **द्वितीयायां च** (३१८) से दकार को आकार, **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'युवाम्, आवाम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

विशेष—प्रथमाविभक्ति के 'युवाम्, आवाम्' की प्रक्रिया में तथा द्वितीया विभक्ति के 'युवाम्, आवाम्' की प्रक्रिया में आकारविधायक सूत्र का भेद है। प्रथमा में **प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्** (३१५) द्वारा तथा द्वितीया में **द्वितीयायाञ्च** (३१८) से आकार आदेश होता है।

'युष्मद्+शस्, अस्मद्+शस्' यहां अनुबन्ध शकार का लोप होकर 'युष्मद्+अस्, अस्मद्+अस्' । अब इस अवस्था में ङे प्रथमयोरम् (३११) द्वारा अम् आदेश प्राप्त होने पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३१९) शसो न ।७।१।२९॥

आभ्यां शसो नः स्यात् । अमोऽपवादः । आदेः परस्य (७२) । संयोगान्तलोपः । युष्मान् । अस्मान् ॥

अर्थः—युष्मद् या अस्मद् शब्दों से परे शस् को नकार आदेश हो ।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। (युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् से) । शसः ।६।१। न ।१।१। (विभक्ति का लुक्) । अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (शसः) शस् के स्थान पर (न) न् आदेश हो जाता है । अम् आदेश के प्राप्त होने पर यह आदेश विधान किया गया है अतः यह उस (३११) का अपवाद है । यह नकारादेश अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् अर्थात् सकार के स्थान पर प्राप्त था, परन्तु आदेः परस्य (७२) से उस का बाध कर शस्=अस् के आदि अर्थात् अकार के स्थान पर हो जाता है ।

'युष्मद्+अस्, अस्मद्+अस्' यहां प्रकृतसूत्र से शस् के अकार को नकार आदेश हो 'युष्मद्+न्स्, अस्मद्+न्स्' । अब द्वितीयायाञ्च (३१८) सूत्र से दकार को आकार तथा अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ हो—'युष्मान्स्, अस्मान्स्' । पुनः संयोगान्तस्य लोपः (२०) से सकार का लोप करने पर—'युष्मान्, अस्मान्' प्रयोग सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि यहां संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से न लोप० (१८०) द्वारा नकार का लोप नहीं होता किञ्च 'युष्मान्' में अट्कु० (१३८) द्वारा प्राप्त णत्व का भी पदान्तस्य (१३९) द्वारा निषेध हो जाता है ।

युष्मद्+आ(टा), अस्मद्+आ(टा)—यहां एकत्ववचन होने के कारण त्वमावेकवचने (३१७) से म्पर्यन्त त्व और म आदेश हो—'त्व अद्+आ, म अद्+आ' । अतो गुणे (२७४) से पररूप हो—'त्वद्+आ, मद्+आ' । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३२०) योऽचि ।७।२।८९॥

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः । त्वया । मया ॥

अर्थः—अनादेश अजादि विभक्ति परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को यकार आदेश हो ।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। (युष्मदस्मदोरनादेशे से) । यः ।१।१। (यकाराकार उच्चारणार्थ) । अनादेशे ।७।१। (युष्मदस्मदोरनादेशे से) । अचि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। (अष्टन आ विभक्तौ से) । 'अचि' यह 'विभक्तौ' का विशेषण है अतः यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे द्वारा तदादिविधि हो कर 'अजादौ विभक्तौ' बन जाता है ।

अर्थः—(अनादेशे) अनादेश (अचि) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (यः) य् आदेश हो जाता है।

जिन विभक्तियों के स्थान पर कोई आदेश नहीं होता वे अनादेश विभक्तियां कहाती हैं। अनादेश अजादि विभक्ति परे होने पर युष्मद् और अस्मद् को य् आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

'त्वद्+आ, मद्+आ' यहां 'आ' यह अनादेश अजादि विभक्ति परे है अतः प्रकृतसूत्र से दकार को यकार आदेश हो कर—त्वय्+आ='त्वया', मय्+आ='मया' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'अनादेश' कथन के कारण पञ्चमीबहुवचनान्त 'युष्मत्, अस्मत्' में यकारादेश नहीं होता। क्योंकि यहां पञ्चमी के बहुवचन 'भ्यस्' के स्थान पर **पञ्चम्या अत्** (३२५) द्वारा 'अत्' यह अजादि आदेश हुआ है।

'युष्मद्+भ्याम्, अस्मद्+भ्याम्' यहां **युवावौ द्विवचने** (३१४) से क्रमशः म्पर्यन्त युव और आव आदेश हो कर 'युव अद्+भ्याम्, आव अद्+भ्याम्'। **अतो गुणे** (२७४) से पररूप करने पर—'युवद्+भ्याम्, आवद्+भ्याम्'। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३२१) **युष्मदस्मदोरनादेशे** ।७।२।८६।।

अनयोरात् स्याद् अनादेशे हलादौ विभक्तौ। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। युष्माभिः। अस्माभिः॥

अर्थः—अनादेश हलादि विभक्तियों के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर आकार आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। अनादेशे ।७।१। हलि ।७।१। (**रायो हलि** से)। विभक्तौ ।७।१। आ ।१।१। (**अष्टन आ विभक्तौ** से)। अर्थः—(अनादेशे) अनादेश (हलि=हलादौ) हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (आ) 'आ' यह आदेश हो जाता है। यह आकार आदेश अलोऽन्त्यविधि से अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

'युवद्+भ्याम्, आवद्+भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यह अनादेश हलादि विभक्ति परे है अतः दकार को आकार हो कर सवर्णदीर्घ करने से—'युवाभ्याम्, आवाभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

अनादेश के फलस्वरूप 'युष्मभ्यम्' आदि में भ्यम्-पक्ष में 'आ' आदेश न होगा।

'युष्मद्+भिस्, अस्मद्+भिस्' यहां **युष्मदस्मदोरनादेशे** (३२१) सूत्र से दकार को आकार तथा सवर्णदीर्घ हो कर 'युष्माभिः, अस्माभिः' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'युष्मद्+ङे, अस्मद्+ङे' यहां **ङे प्रथमयोरम्** (३११) से ङे को अम् आदेश हो कर 'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्'। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३२२) तुभ्यमह्यौ ङयि ।७।२।९५॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् ॥

अर्थः—'ङे' परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को म्पर्यन्त क्रमशः तुभ्य और मह्य आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। (युष्मदस्मदोरनादेशे से) । मपर्यन्तस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । तुभ्यमह्यौ ।१।२। ङयि ।७।१। अर्थः—(ङयि) 'ङे' परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मकारपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः (तुभ्यमह्यौ) तुभ्य और मह्य आदेश हो जाते हैं।

'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्' यहां स्थानिवद्भाव से अम् को ङे मान कर प्रकृतसूत्र से तुभ्य और मह्य आदेश हो कर 'तुभ्य अद्+अम्, मह्य अद्+अम्'। अतो गुणे (२७४) से पररूप हो—'तुभ्यद्+अम्, मह्यद्+अम्'। अब टिलोपपक्ष में शेषे लोपः (३१३) से अद् भाग का लोप करने पर 'तुभ्यम्, मह्यम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में शेषे लोपः (३१३) से दकारलोप तथा अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने पर उक्त रूपों की सिद्धि होती है।

'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३२३) भ्यसोऽभ्यम् ।७।१।३०॥

आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् इत्यादेशः स्यात्। युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम् ॥

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे भ्यस् को अभ्यम् आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। (युष्मदस्मद्भ्याम् ङसोऽश् से) । भ्यसः ।६।१। अभ्यम् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (भ्यसः) भ्यस् के स्थान पर (अभ्यम्) अभ्यम् आदेश हो जाता है।

'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां भ्यस् को अभ्यम् आदेश हो कर शेषे लोपः (३१३) से टिलोप करने से 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में केवल दकार का लोप हो कर अतो गुणे (२७४) से पररूप करने पर उक्त रूप सिद्ध होंगे।

ध्यान रहे कि शेषे लोपः (३१३) में अन्त्यलोप मानने वाले कुछ वैयाकरण 'भ्यसो भ्यम्' इस प्रकार सूत्र पढ कर भ्यस् के स्थान पर भ्यम् आदेश करते हैं। अब उन के मत में पररूप किये बिना ही यथेष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं।[२]

---

१. यहां अनादेश अजादि विभक्ति न होने से योऽचि (३२०) सूत्र से यकारादेश नहीं होता। एवम्—'भ्यम्' पक्ष में भी युष्मदस्मदोरनादेशे (३२१) से आकारादेश की अप्रवृत्ति जाननी चाहिये।

२. परन्तु इस प्रकार अन्त्यलोप करने पर 'युष्म+भ्यम्, अस्म+भ्यम्' इस अवस्था में बहुवचने झल्येत् (१४५) द्वारा एत्व प्राप्त होता है। इस का वारण अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्य इस परिभाषा से किया जाता है। किंवा अङ्गाधि-

'युष्मद्+ङसिँ, अस्मद्+ङसिँ' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३२४) **एकवचनस्य च** ।७।१।३२॥

आभ्यां ङसेरत् । त्वत् । मत् ॥

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङसिँ को 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। (युष्मदस्मद्भ्याम् ङसोऽश् से) । पञ्चम्याः ।६।१। (पञ्चम्या अत् से) । एकवचनस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अत् ।१।१। (पञ्चम्या अत् से) । अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी के (एकवचनस्य) एकवचन के स्थान पर (च) भी (अत्) 'अत्' यह आदेश हो जाता है।

'युष्मद्+ङसिँ, अस्मद्+ङसिँ' यहां प्रकृतसूत्र से ङसिँ के स्थान पर अत् आदेश (ध्यान रहे कि अत् आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है) होकर—'युष्मद्+अत्, अस्मद्+अत्' । **त्वमावेकवचने** (३१७) से मपर्यन्त 'त्व, म' होकर—'त्व अद्+अत्, म अद्+अत्' । **अतो गुणे** (२७४) से पररूप हो—'त्वद्+अत्, मद्+अत्' । अब **शेषे लोपः** (३१३) से टि=अद् भाग का लोप करने पर—'त्व्+अत्=त्वत्, म्+अत्=मत्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में केवल दकार का लोप हो कर पररूप (२७४) करने से यही रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—'अत्' आदेश में **हलन्त्यम्** (१) द्वारा तकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) सूत्र निषेध करता है। अवसान में जश्त्व-चर्त्व तो होंगे ही।

पञ्चमी के बहुवचन में 'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां **भ्यसोऽभ्यम्** (३२३) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३२५) **पञ्चम्या अत्** ।७।१।३१॥

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात् । युष्मत् । अस्मत् ॥

अर्थः—युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे पञ्चमी के भ्यस् को 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। (युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् से) । पञ्चम्याः ।६।१। भ्यसः ।६।१। (भ्यसोऽभ्यम् से) । अत् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी के (भ्यसः) भ्यस् के स्थान पर (अत्) 'अत्' आदेश हो जाता है। अनेकाल् होने से 'अत्' सर्वादेश होता है।

'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां प्रकृतसूत्र से पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश होकर—'युष्मद्+अत्, अस्मद्+अत्' । अब **शेषे लोपः** (३१३) से टिलोप

कारीय विधि के प्रवृत्त होने पर यदि परिनिष्ठित (व्यवहार्य) प्रयोग बन जाये तो पुनः दूसरे अङ्गाविकारीय कार्य की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये। यहां **शेषे लोपः** (३१३) इस अङ्गकार्य के प्रवृत्त होने पर लोकप्रसिद्ध 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' प्रयोग बन चुके हैं अतः अब इन का रूप बिगाड़ने के लिये दूसरा अङ्गकार्य **बहुवचने झल्येत्** (१४५) प्रवृत्त न होगा।

होकर युष्म्+अत्=युष्मत्, अस्म्+अत्=अस्मत्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में अन्त्य दकार का लोप होकर **अतो गुणे**(२७४) द्वारा पररूप करने से—'युष्मत्, अस्मत्' यही रूप सिद्ध होते हैं।

षष्ठी के एकवचन में 'युष्मद्+ङस्, अस्मद्+ङस्' यहां **त्वमावेकवचने** (३१७) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३२६) तवममौ ङसि ।७।२।९६॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि ॥

अर्थः—'ङस्' परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को मपर्यन्त क्रमशः 'तव' और 'मम' आदेश होते हैं।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। (**युष्मदस्मदोरनादेशे** से)। मपर्यन्तस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। तवममौ ।१।२। ङसि ।७।१। अर्थः—(ङसि) ङस् परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मकारपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः (तव ममौ) 'तव' और 'मम' आदेश होते हैं।

'युष्मद्+ङस्, अस्मद्+ङस्' यहां प्रकृतसूत्र से मपर्यन्त 'तव, मम' आदेश करने पर—तव अद्+ङस्, मम अद्+ङस्। **अतो गुणे** (२७४) से पररूप कर—'तवद्+ङस, ममद्+ङस्'। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३२७) युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ।७।१।२७॥

[युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽशादेशः स्यात्]। तव। मम। युवयोः। आवयोः ॥

अर्थः—युष्मद और अस्मद् शब्दों से परे ङस् के स्थान पर 'अश्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ङसः ।६।१। अश् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (ङसः) ङस् के स्थान पर (अश्) अश् आदेश हो जाता है। 'अश्' आदेश शित् होने से **आदेः परस्य** (७२) का बाध कर **अनेकाल्शित्सर्वस्य**(४५) से सर्वादेश होता है।

'तवद+ङस्, ममद्+ङस्' यहां अश् आदेश होकर—'तवद्+अ (अश्), ममद+अ(अश्)'। अब **शेषे लोपः** (३१३) से अद् का लोप करने से—'तव, मम' ये प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में केवल दकार का लोप होकर पररूप एकादेश करने से यही रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'युष्मद+ओस, अस्मद्+ओस्' यहां **युवावौ द्विवचने** (३१४) से मपर्यन्त क्रमशः युव, आव आदेश होकर—'युव अद्+ओस्, आव अद्+ओस्'। **अतो गुणे** (२७४) से पररूप कर—'युवद्+ओस्, आवद्+ओस्'। अब अनादेश अजादि विभक्ति ओस् के परे होने से **योऽचि**(३२०) से दकार को यकार आदेश होकर—'युवय्+ओस्=युवयोः, आवय्+ओस्=आवयोः' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'युष्मद्+आम् अस्मद्+आम्' अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३२८) साम आकम् ।७।१।३३।।

आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । युष्मासु । अस्मासु ।।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे साम् को आकम् आदेश हो ।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। (युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् से) । सामः ।६।१। आकम् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (सामः) साम् के स्थान पर (आकम्) आकम् आदेश हो ।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों के अदन्त न होने से इन से परे आम् को आमि सर्वनाम्नः सुँट् (१५५) से सुँट् न हो सकने के कारण जब साम् ही नहीं होता तो पुनः उस के स्थान पर 'आकम्' आदेश कैसे सम्भव हो सकता है ? यह प्रश्न यहां उपस्थित होता है । इस का उत्तर यह है कि यहां 'साम्' निर्देश भावी (आगामी=आगे होने वाले) 'सुँट्' की निवृत्ति के लिये है । अर्थात् 'आकम्' आदेश करने पर अन्त्यलोपपक्ष में शेषे लोपः (३१३) सूत्र से जब अन्त्य दकार का लोप हो जाता है तब युष्मद् अस्मद् के अदन्त हो जाने से आमि सर्वनाम्नः सुँट् (१५५) सूत्र से जो 'सुँट्' का आगम प्राप्त होता है, उसकी निवृत्ति के लिये यहां 'साम्' के स्थान पर 'आकम्' आदेश कर रहे हैं । इस से 'आकम्' आदेश करने पर अन्त्यलोपपक्ष में अवर्णान्त हो जाने पर भी सुँट् का आगम नहीं होता ।

बालोपयोगी सार यह है कि यह सूत्र दो कार्य करता है । एक तो यह आम् के स्थान पर आकम् आदेश करता है । दूसरा यह शेषे लोपः (३१३) से अन्त्यलोपपक्ष में दकारलोप हो जाने पर प्राप्त सुँट् आगम का भी निषेध करता है ।

'युष्मद्+आम्, अस्मद्+आम्' यहां साम आकम् (३२८) सूत्र से आम् को आकम् करने पर—युष्मद्+आकम्, अस्मद्+आकम् । अब अन्त्यलोपपक्ष में शेषे लोपः (३१३) से दकार का लोप होकर सवर्णदीर्घ करने पर 'युष्माकम्, अस्माकम्' ये रूप सिद्ध होते हैं । टिलोपपक्ष में भी शेषे लोपः (३१३) से टि=अद् का लोप हो कर—'युष्म्+आकम्=युष्माकम्, अस्म्+आकम्=अस्माकम्' सिद्ध हो जाते हैं ।

विशेष—यदि 'आकम्' की बजाय 'अकम्' कहा होता तो अन्त्यलोपपक्ष में शेषे लोपः (३१३) से दकार का लोप हो कर पररूप एकादेश करने पर 'युष्मकम्' 'अस्मकम्' इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जाते । अतः 'आकम्' आदेश कहा है ।

'युष्मद्+ङि, अस्मद्+ङि' यहां ङकार अनुबन्ध का लोप हो कर त्वमावेकवचने (३१७) से क्रमशः म्पर्यन्त त्व और म आदेश करने से—'त्व अद्+इ, म अद्+इ' । अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश कर—'त्वद्+इ, मद्+इ' । अब अनादेश अजादि विभक्ति परे रहने के कारण योऽचि (३२०) से दकार को यकार करने से—'त्वय्+इ=त्वयि, मय्+इ=मयि' प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

युष्मद्+सु(सुप्), अस्मद्+सु(सुप्) । यहां युष्मदस्मदोरनादेशे (३२१) से दकार को आकार हो सवर्णदीर्घ करने से 'युष्मासु, अस्मासु' प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

अब युष्मद्-अस्मद्-विषयक कुछ उपयोगी नोट लिखते हैं। इन से सब सूत्रों का अवगाहन हो कर निश्चय ही बालकों को अपूर्व लाभ होगा। ध्यान देकर पढ़ें—

[१] (मपर्यन्त आदेशों के विषय में)—

(क) एकवचन में—सुँ, ङे, ङस् को छोड कर अन्य सब स्थानों में त्वमावेकवचने (३१७) प्रवृत्त हो जाता है। सुँ में त्वाहौ सौ (३१२), ङे में तुभ्यमह्यौ ङयि (३२२) और ङस् में तवममौ ङसि (३२६) अपवाद हैं। तथाहि—

ङस सु ङेविभक्तिञ्च विनैकवचने सदा।
एकोक्तौ तु त्वमादेशौ मपर्यन्तावितीरितौ ॥१॥
तुभ्यमह्यौ ङयि स्याता त्वाहौ सौ मुनिचोदितौ।
ङस्यादेशौ तथा स्यातौ तवेति च ममेत्यपि ॥२॥

(ख) द्विवचनों में सदा मपर्यन्त 'युव, आव' आदेश होते हैं। इन का कोई अपवाद नहीं। तथाहि—

विना बाध तु द्वित्वोक्तौ युवावौ भवत. सदा।

(ग) बहुवचन में जस् को छोड कर अन्य कहीं भी मपर्यन्त आदेश नहीं होता। जस् में यूयवयौ जसि (३१६) से 'यूय, वय' आदेश होते हैं। तथाहि—

बहुत्वोक्तौ जसोऽन्यत्र नैवादेशौ क्वचिन्मतौ।
जसि यूयवयादेशौ मपर्यन्तावितीरितौ॥

[२] (विभक्तिस्थानिक आदेशों के विषय में)—

शस त्यक्त्वा द्वितीयायाः प्रथमायास्तथैव ङेः।
अमादेशो बुधैः प्रोक्तः शसोऽकारस्य न. स्मृतः ॥१॥
साम आकं ङसोऽश्प्रोक्तोऽत् पञ्चम्येवबहुत्वयो.।
ऋत एभ्यो न चादेशो विभक्तीना क्वचिद्भवेत् ॥२॥

अर्थ —शस् को छोड कर द्वितीया के तथा प्रथमा और ङे के स्थान पर अम् आदेश हो जाता है। शस् के अकार को नकार आदेश होता है ॥१॥ साम् (आम्) को आकम्, ङस् को अश्, पञ्चमी के एकवचन और बहुवचन को अत् आदेश होता है। इन के विना अन्य किसी विभक्ति के स्थान पर कोई आदेश नहीं होता ॥२॥

[३] (आत्व और यत्व के विषय में)—

(क) सुपि चौङि भिसि भ्यामि द्वितीयायां तथैव च।
आत्वमेषु दकारस्य त्रिभि सूत्रैर्मुनीरितं ॥

अर्थ —प्रथमा के द्विवचन (औ), द्वितीया, भ्याम्, भिस् तथा सुप् में युष्मद् अस्मद् के दकार को आकार हो जाता है। दकार को आकार तीन सूत्रों से होता है, —१. प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (३१५), २ द्वितीयायां च (३१८), ३. युष्मदस्मदोरनादेशे (३२१)।

(ग) योऽचिसूत्रेण यादेश आङि ओसि तथैव ङौ।

अर्थः—आङ् (टा), ओस् तथा ङि परे होने पर योऽचि (३२०) सूत्र से दकार को यकारादेश हो जाता है।

[४] ('शेषे लोपः' सूत्र के विषय में)—

पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च षष्ठीप्रथमयोरपि।
यान्यद्विवचनान्यत्र शेषे—लोपो विधीयते॥

अर्थः—पञ्चमी, चतुर्थी, षष्ठी तथा प्रथमा के एकवचन और बहुवचन के परे होने पर शेषे लोपः (३१३) सूत्र प्रवृत्त हुआ करता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३२९) **युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ।८।१।२०॥**

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्युष्मदस्मदोर्वान्नौ इत्यादेशौ स्तः॥

अर्थः—पद से परे, पाद के आदि में न ठहरे हुए, षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्ति से युक्त युष्मद्, अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः वाम्, नौ आदेश होते हैं।

व्याख्या—पदात् ।५।१। (यह अधिकृत है)। षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः। ।६।२। युष्मदस्मदोः ।६।२। वान्नावौ ।१।२। अपादादौ ।७।१। (यह अधिकृत है)। समासः—न पादादौ=अपादादौ, प्रसज्यप्रतिषेधः। नञ्समासः। अर्थः—(पदात्) पद से परे (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः) षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्ति के साथ वर्त्तमान (युष्मदस्मदोः) युष्मद्, अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (वान्नावौ) वाम्, नौ आदेश हो जाते हैं। (अपादादौ) परन्तु पाद के आदि में नहीं होते।

यह सूत्र केवल षष्ठ्यादि के द्विवचन में ही प्रवृत्त होता है, एकवचन वा बहुवचन में नहीं। एकवचन और बहुवचन में अग्रिम तीन सूत्र इस के अपवाद हैं। सूत्र के उदाहरण यथा—

षष्ठी—धनमिदं वाम् (युवयोः) अस्ति। धनमिदं नौ (आवयोः) अस्ति।
चतुर्थी—ईशो वां (युवाभ्याम्) ददाति। ईशो नौ (आवाभ्याम्) ददाति।
द्वितीया—ईश्वरो वां (युवाम्) पश्यति। ईश्वरो नौ (आवाम्) पश्यति।

यहां कोष्ठक में लिखे शब्दों के स्थान पर वाम्, नौ आदेश हुए हैं।

'पद से परे' इसलिये कहा है कि—(१) युवयोर्धनमस्ति। (२) आवयोर्धनमस्ति। (३) युवाभ्यां माता ददाति। (४) आवाभ्यां माता ददाति। (५) युवामीशो रक्षतु। (६) आवामीशो रक्षतु। इत्यादि स्थानों पर आदेश न हों। यहां 'युवयोः' आदि पद से परे नहीं हैं।

'अपादादौ' इसलिये कहा है कि श्लोक के पाद के आदि में 'वाम्, नौ' आदेश न हो जाएं। यथा—

योऽयम्भूतेश्वरो देवो युवयोः पापनाशनः।
असावस्तु विभुर्नाथ आवयोरपि पालकः॥

यहां 'युवयो' और आवयो' के पद से परे होने पर भी पाद के आदि मे वर्त्तमान होने के कारण 'वाम्, नौ' आदेश नही होते।[1]

युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः० मे 'स्थ' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि षष्ठ्यादि विभक्तियो के साथ रहने पर ही 'युष्मद्, अस्मद्' शब्दो को 'वाम्, नौ' आदेश हो, समास मे विभक्ति के लुप्त हो जाने पर न हो। यथा—'इमौ युष्मत्पुत्रौ गच्छत। इमावस्मत्पुत्रौ वदत' यहा 'युवयोः पुत्रौ=युष्मत्पुत्रौ, आवयो पुत्रौ=अस्मत्पुत्रौ' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष-समास है। समास मे विभक्ति का लुक् हो जाने से 'वाम्, नौ' आदेश नहीं होते।

अब इस सूत्र के अपवाद आरम्भ किये जाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३०) बहुवचनस्य वस्नसौ।८।१।२१॥

उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः॥

अर्थ—पद से परे, पाद के आदि में न ठहरे हुए, षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया के बहुवचनो से युक्त युष्मद्, अस्मद् शब्दो को क्रमशः वस्, नस् आदेश हो जाते है।

व्याख्या—पदात् ।५।१। (अधिकृत है)। षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ।६।२। युष्मदस्मदो ।६।२। (पूर्वसूत्र से)। बहुवचनस्य ।६।१। (यह 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है, अतः वचनविपरिणाम तथा तदन्तविधि से 'बहुवचनान्तयो' बन जाता है)। वस्नसौ ।१।२। अपादादौ ।७।१। (यह भी अधिकृत है)। अर्थः—(पदात्) पद से परे (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः) षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया सहित वर्तमान (बहुवचनस्य =बहुवचनान्तयोः) बहुवचनान्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद्, अस्मद् शब्दो के स्थान पर क्रमशः (वस्नसौ) वस्, नस् आदेश हो जाते हैं। परन्तु (अपादादौ) पाद के आदि में नहीं होते। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। उदाहरण यथा—

षष्ठी—गावो वः (युष्माकम्) सन्ति। अजा नः (अस्माकम्) सन्ति।

चतुर्थी—गावो वो (युष्मभ्यम्) दीयन्ते। अजा नो (अस्मभ्यम्) दीयन्ते।

द्वितीया—गावो वः (युष्मान्) पश्यन्ति। अजा नः (अस्मान्) पश्यन्ति।

'पद से परे' इसलिये कहा है कि—१ युष्माकं धनमस्ति। २. अस्माकं बलमस्ति। ३. युष्मभ्यं दीयते। ४. अस्मभ्यं दीयते। ५. युष्मान् पश्यन्ति। ६ अस्मान् पश्यन्ति। इत्यादियों में वस्, नस् आदेश न हो।

'अपादादौ' इसलिये कहा गया है कि—रुद्रः शिवकरो देवो युष्माकं पापहारकः—इत्यादियों मे 'युष्माकम्' के स्थान पर 'वस्' आदेश न हो।

'स्थ' ग्रहण से पूर्ववत्—'अयं युष्मद्दासो (युष्माकं दासः) याति, अयम् अस्मद्दासो (अस्माकं दासः) याति इत्यादियों मे वस्, नस् आदेश नहीं होते।

---

१. यह निषेध श्लोक के द्वितीय तृतीयादि पादों के लिये किया गया है, प्रथम पाद के लिये नहीं। क्योंकि प्रथम पाद मे तो 'पदात्' इस अधिकार से ही व्यभिचार-निवृत्ति हो सकती थी।

अब 'वाम्, नौ' आदेशों का दूसरा अपवाद लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३१) **तेमयावेकवचनस्य ।८।१।२२।।**

उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः ।।

अर्थः—पद से परे पाद के आदि में न ठहरे हुए, षष्ठी तथा चतुर्थी के एक-वचनों से युक्त, युष्मद् अस्मद् शब्दों को क्रमशः 'ते, मे' आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या—पदात् ।५।१। (अधिकृत है) । षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ।६।२। युष्मदस्मदोः ।६।२। (**युष्मदस्मदोः षष्ठी०** से) । एकवचनस्य ।६।१। (**युष्मदस्मदोः** का विशेषण होने से पूर्ववत् 'एकवचनान्तयोः' बन जाता है)। तेमयौ ।१।२। अपादादौ ।७।१। (अधिकृत है) । अर्थः—(पदात्) पद से परे, (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः) षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया के सहित वर्त्तमान (एकवचनस्य=एकवचनान्तयोः) एक-वचनान्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद्, अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (तेमयौ) 'ते, मे' आदेश होते हैं। परन्तु (अपादादौ) पाद के आदि में नहीं होते ।

यह सूत्र **युष्मदस्मदोः षष्ठी०** (३२९)सूत्र का अपवाद है। इस का भी **त्वामौ द्वितीयायाः**(३३२) यह अग्रिमसूत्र अपवाद है। अतः यह सूत्र केवल षष्ठी तथा चतुर्थी के एकवचनान्तों में ही प्रवृत्त होता है। ग्रन्थकार ने भी वृत्ति में इसीलिये द्वितीया का ग्रहण नहीं किया । इस के उदाहरण यथा—

षष्ठी—ईश ! अहं ते (तव) दासोऽस्मि । त्वं मे (मम) पालकोऽसि ।

चतुर्थी—नमस्ते (तुभ्यम्) ऽस्तु । भोजनं मे (मह्यम्) प्रयच्छ ।

'पद से परे' इसलिये कहा है कि—तव दास एष जनः । ममास्ति प्रयोजनम् । तुभ्यं धनं दास्यामि । मह्यम् मोदकम् रोचते। इत्यादियों में 'ते, मे' आदेश न हो जाएं।

'अपादादौ' इसलिये कहा है कि—**आगमिष्यति यन्मित्रं, तव कार्यं करिष्यति** इत्यादि में आदेश न हो जाये ।

अब इस सूत्र का अपवाद कहते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३२) **त्वामौ द्वितीयायाः ।८।१।२३।।**

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः ।।

अर्थः—पद से परे, पाद के आदि में न ठहरे हुए, द्वितीया के एकवचन से युक्त युष्मद्, अस्मद् शब्दों को क्रमशः 'त्वा, मा' आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या—पदात् ।५।१। (अधिकृत है)। द्वितीयायाः।६।१। एकवचनस्य ।६।१। (**तेमयावेकवचनस्य** से । 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है, अतः वचनविपरिणाम तथा तदन्तविधि हो कर 'एकवचनान्तयोः' बन जाता है) । युष्मदस्मदोः ।६।२। (**युष्मद-स्मदोः षष्ठी०** से) । त्वामौ ।१।२। अपादादौ ।७।१। (यह भी अधिकृत है) । अर्थः —(पदात्)पद से परे (द्वितीयायाः) द्वितीया के(एकवचनस्य=एकवचनान्तयोः)एक-वचनान्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद्, अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (त्वामौ) त्वा, मा आदेश हो जाते हैं (अपादादौ) परन्तु पाद के आदि में नहीं होते ।

यह सूत्र **तेमयावेकवचनस्य** (३३१) सूत्र का अपवाद है। इस के उदाहरण यथा—

लोकस्त्वा (त्वाम्) पश्यति। लोको मा (माम्) पश्यति।

'पद से परे' इसलिये कहा है कि—त्वा लोका. पश्यन्ति। मा लोका. पश्यन्ति। इत्यादियो मे 'त्वा, मा' आदेश न हो।

'अपादादौ' इसलिये कहा है कि—स जगद्रक्षको देवो मा सदा पालयिष्यति इत्यादियो मे आदेश न हो।

अब ग्रन्थकार इन सब सूत्रो के उदाहरणो को रामचन्द्राचार्यनिर्मित दो श्लोको मे दर्शाते हैं—

[लघु०] श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह, दत्तात् ते मेऽपि शर्म स ।
स्वामी ते मेऽपि स हरि, पातु वाम् अपि नौ विभु. ॥१॥
सुखं वां नौ ददात्वीश, पतिर्वाम् अपि नौ हरि ।
सोऽव्याद् वो नः, शिव वो नो दद्यात्, सेव्योऽत्र वः स नः ॥२॥

अर्थः—(इह) इस लोक मे (श्रीश) श्रीपति विष्णु (त्वा=त्वाम्) तुझे (अपि) तथा (मा=माम्) मुझे (अवतु) बचावे। (सः) वह भगवान् विष्णु (ते=तुभ्यम्) तेरे लिये (अपि) तथा (मे=मह्यम्) मेरे लिये (शर्म) कल्याण (दत्तात्) प्रदान करे। (स) वह (हरि) भगवान् विष्णु (ते=तव) तेरा (अपि) तथा (मे=मम) मेरा (स्वामी) स्वामी है। (विभु') सर्वव्यापक हरि (वाम्=युवाम्) तुम दोनो को (अपि) तथा (नौ=आवाम्) हम दोनो को (पातु) बचावे ॥१॥ (ईश.) भगवान् (वाम्=युवाभ्याम्) तुम दोनो के लिये तथा (नौ=आवाभ्याम्) हम दोनो के लिये (सुखम्) सुख (ददातु) प्रदान करे। (हरि.) श्री विष्णु (वाम्=युवयो) तुम दोनो का (अपि) तथा (नौ=आवयो) हम दोनो का (पति) पति है। (स) वह भगवान् विष्णु (व'=युष्मान्) तुम सब को तथा (न.=अस्मान्) हम सबको (अव्यात्) बचावे। (सः) वह जगत्प्रसिद्ध विष्णु (व=युष्मभ्यम्) तुम सबके लिये तथा (न.=अस्मभ्यम्) हम सब के लिये (शिवम्) कल्याण (दद्यात्) प्रदान करे। (स) वह विष्णु (व=युष्माकम्) तुम सब का तथा (न=अस्माकम्) हम सब का (सेव्य) सेवनीय=आराध्य है।

व्याख्या—यहा पहले द्वितीया, चतुर्थी तथा षष्ठी के एकवचन का, पीछे द्विवचन का और तदनन्तर बहुवचन का उदाहरण दिया गया है। हम ने अर्थ करते समय कोष्ठक मे इसे स्पष्ट कर दिया है। ये श्लोक प्रक्रियाकौमुदी से उद्धृत किये गये हैं।

[लघु०] वा०—(२६) समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः ॥

एकतिङ् वाक्यम्। तेनेह न—ओदन पच तव भविष्यति। इह तु स्यादेव—शालीनान्ते ओदन दास्यामि ॥

अर्थ—युष्मद् अस्मद् शब्दो के स्थान पर होने वाले 'वाम्, नौ' आदि आदेश समानवाक्य अर्थात् एक वाक्य में होते हैं। एकतिङ् इति—एक तिङन्त वाला वाक्य कहाता है।

व्याख्या—पूर्वोक्त 'वाम्, नौ' आदि आदेश समान वाक्य में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् इन सूत्रों के विषय में निमित्त और निमित्ती का एक ही वाक्य में वर्त्तमान होना आवश्यक है। पद से परे 'वाम्, नौ' आदि आदेशों का विधान है। यहां पद निमित्त तथा 'वाम्, नौ' आदि आदेश निमित्ती हैं। यदि निमित्त अन्य वाक्य में स्थित होगा तो ये आदेश न होंगे।

इस वार्तिक के उदाहरण देने से पूर्व वाक्य क्या होता है? इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये वाक्य का लक्षण करते हैं—एकतिङ् वाक्यम्। एकः=मुख्यः, तिङ् =तिङन्तो यस्य यस्मिन् वा तद् एकतिङ्। जिस में तिङन्त मुख्य वा विशेष्य हो—उसे 'वाक्य' कहते हैं।[1]

अब वार्तिक का प्रयोजन दिखाते हुए प्रत्युदाहरण देते हैं—

'ओदनं पच तव भविष्यति'। यहां एक वाक्य नहीं, दो वाक्य हैं। 'ओदनं पच' यह पहला वाक्य तथा 'तव भविष्यति' यह दूसरा वाक्य है। यहां दूसरे वाक्य में स्थित 'तव' के स्थान पर 'ते' आदेश नहीं होता, क्योंकि उस का निमित्त पद (पच) उस वाक्य में स्थित नहीं।

'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' (मैं तुझे साठी चावलों का भात दूंगा)। यहां 'शालीनाम्' यह निमित्त एक वाक्य में स्थित है अतः इस से परे 'तुभ्यम्' के स्थान पर 'ते' आदेश हो जाता है।

[लघु०] वा०—(२७) एते वान्नावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः ॥

धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्तीति वा। अन्वादेशे तु नित्यं स्युः—तस्मै ते नम इत्येव ॥

अर्थः—अन्वादेश न होने पर पूर्वोक्त वाम्, नौ आदि आदेश विकल्प से होते हैं। [तात्पर्य यह है कि अन्वादेश में नित्य होते हैं।]

व्याख्या—'किसी कार्य्य को विधान या बोधन कराने के लिये ग्रहण किये हुए का पुनः दूसरे कार्य्य को बोधन कराने के लिये ग्रहण करना अन्वादेश कहाता है' यह हम पीछे 'इदम्' शब्द पर स्पष्ट कर चुके हैं। जहां अन्वादेश न होगा वहां पूर्वोक्त 'वाम्, नौ, वस्, नस्, ते, मे, त्वा, मा' आदेश विकल्प से प्रवृत्त होंगे। जहां अन्वादेश होगा वहां नित्य होंगे। यथा—

धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति (ब्रह्मा तेरा भक्त है)। यहां अन्वादेश न होने से 'तव' को 'ते' आदेश विकल्प से प्रवृत्त होता है।

योऽग्निर्हव्यवाड् तस्मै ते नमः (जो तू हव्य को ले जाने वाला अग्निदेव है,

---

१. 'विशेष्य' के कथन से—'पश्य मृगस्ते धावति' (अपने दौड़ते हुए मृग को देखो) इत्यादि दो तिङन्तों वाले भी वाक्य हो सकते हैं। इन में भी 'पश्य' इस एक तिङन्त की ही मुख्यता या विशेष्यता है।

उस तुझे नमस्कार हो)। यहा अन्वादेश होने से 'तुभ्यम्' के स्थान पर नित्य 'ते' आदेश हो जाता है विकल्प नही होता।

यहा पाणिनि के और भी दो नियम जानने आवश्यक है—

(१) न च-वा-हाऽहैवयोगे (८.१.२४)। अर्थात् यदि 'च, वा, ह, अह, एव' इन पाञ्चो मे स किसी अव्यय का युष्मद् और अस्मद् क साथ साक्षात् योग हो तो ये वाम्, नौ आदि आदेश नही होते। यथा—हरिस्त्वा मा च रक्षतु। यहा 'त्वाम्, माम्' के स्थान पर 'त्वा, मा' आदेश नही होते क्योकि 'च' का योग है। मा मस्या इद पुस्तक ममैवास्तीति। यहा 'मम' के स्थान पर 'मे' आदेश न होगा क्योकि 'एव' का योग है।

(२) पश्यार्थैश्चाऽनालोचने (८.१.२५)। अर्थात् अचाक्षुष ज्ञानार्थक धातुओं के योग मे ये आदश नही होते। यथा—चेतसा त्वा समीक्षते (वह मन से तुझे देखता है)। यहा 'त्वाम्' को 'त्वा' नही हुआ। क्योकि देखना आखो से नही हो रहा।

(यहा युष्मद् अस्मद् शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

[लघु०] सुपात्, सुपाद्। सुपादौ॥

व्याख्या—सु=शोभनौ पादौ यस्य स.=सुपात्। बहुव्रीहिसमास.। सङ्ख्या-सुपूर्वस्य (५.४.१४०) इतिपादस्यान्त्यलोप, समासान्त। सुन्दर पैरो वाले को 'सुपाद्' कहते हैं।

सुपाद्+स्(सुँ)। यहा हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से अपृक्त सकार का लोप हो कर वाऽवसाने (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने से—सुपात्, सुपाद्।

सुपाद्+अस् (शस्)। यहा अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३३) पादः पत्।६।४।१३०॥

पाच्छब्दान्त यदङ्ग भ तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेश· स्यात्। सुपद.। सुपदा। सुपाद्भ्याम्॥

अर्थ·—'पाद्'शब्दान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अवयव 'पाद्' शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश होता है।

व्याख्या—पाद.।६।१। (यह अङ्गस्य का विशेषण है अन इस से तदन्तविधि होकर 'पादन्तस्य' बन जाता है)। भस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। अङ्गस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। पत्।१।१। अर्थ.—(पाद=पादन्तस्य) 'पाद्' अन्त वाले (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (पत्) पद् आदेश हो जाता है।

निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति इस पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार 'पाद्' के स्थान पर ही 'पद्' यह सर्वादेश होगा।

सुपाद्+अस् (शस्)। यहा यचि भम् (१६५) के अनुसार 'सुपाद्' की भसञ्ज्ञा है। इस के अवयव 'पाद्' शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश होकर—सुपद्+अस्=सुपद। इसी प्रकार अन्य भसञ्ज्ञको मे भी समझ लेना चाहिये।

सुपाद् शब्दकी समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	सुपात्-द्	सुपादौ	सुपादः	प०	सुपदः†	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भ्यः
द्वि०	सुपादम्	,,	सुपदः†	ष०	,, †	सुपदोः†	सुपदाम्†
तृ०	सुपदा†	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भिः	स०	सुपदि†	,, †	सुपात्सु‡
च०	सुपदे†	,,	सुपाद्भ्यः	सं०	हे सुपात्-द् !	सुपादौ !	सुपादः!

†सर्वत्र पादः पत् (३३३) से पाद् को पद् आदेश होता है।
‡पद् आदेश हो कर खरि च (७४) से चर्त्व—तकार हो जाता है।
इसी प्रकार— द्विपाद्, त्रिपाद् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

अभ्यास (४२)

(१) शेषे लोपः सूत्र के दोनों अर्थ स्पष्ट करें।
(२) 'युष्मद्, अस्मद्' शब्द अवर्णान्त नहीं अतः सुँट् आगम स्वतः ही प्राप्त नहीं तो पुनः साम आकम् में ससुँट् निर्देश का क्या प्रयोजन है ?
(३) किस किस विभक्ति में शेषे लोपः सूत्र की प्रवृत्ति होती है ?
(४) शसो न द्वारा नकारादेश कैसे और किस के स्थान पर होता है ?
(५) 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' में योऽचि द्वारा यकारादेश क्यों नहीं होता ?
(६) 'वाम्, नौ' आदेशों के कौन २ अपवाद हैं ससूत्र सोदाहरण लिखें।
(७) ङेप्रथमयोरम् के अर्थ में 'द्वितीया' का कैसे ग्रहण हो जाता है ?
(८) भ्यसोभ्यम् सूत्र के दो प्रकार के अर्थों का विवेचन करें ?
(९) सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८.६६)
यहां 'त्वाम्' को 'त्वा' हुआ है परन्तु 'माम्' को 'मा' नहीं, क्या कारण है ?
(१०) युवावौ द्विवचने और त्वमावेकवचने में वचनग्रहण को स्पष्ट करें।
(११) एषः, त्वम्, युष्माकम्, त्वयि, अस्मान्, आवाभ्याम्, सुपदः, त्वत्, मम, माम्, एनयोः, एतेषाम्, तस्मिन्, आवयोः—रूपों को सिद्ध करें।
(१२) अधोलिखित सूत्र-वार्त्तिकों की व्याख्या करें—
१ पादः पत्। २ योऽचि। ३ द्वितीयायाञ्च। ४ त्वाहौ सौ। ५ तदोः सः०। ६ समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशाः०। ७ एते वान्नावादयः०।
(१३) ऐसा शब्द बताएं जिस के दोनों भ्यसों तथा दोनों 'औ' में रूप वा सिद्धि का भेद पड़ता हो।

(यहां दकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

———:०:———

अब थकारान्त पुल्ँलिङ्ग का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अग्निमत्, अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः॥

व्याख्या—अग्निं मथ्नातीति—अग्निमत्। अग्निकर्मोपपदाद् मन्थ विलोडने

(भ्वा० क्र्या० प०) इत्यस्माद्धातोः क्विपि सर्वापहारलोपे 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३३४) इति नलोपे च कृते 'अग्निमथ्' इतिशब्दः सिध्यति। अग्नि का मन्थन करने वाला 'अग्निमथ्' कहलाता है। इस की रूपमाला यथा—

प्र० अग्निमत्-द्†, अग्निमथौ, अग्निमथः। द्वि० अग्निमथम्, अग्निमथौ, अग्निमथः। तृ० अग्निमथा, अग्निमद्भ्याम्‡, अग्निमद्भिः। च० अग्निमथे, अग्निमद्भ्याम्, अग्निमद्भ्यः। प० अग्निमथः, अग्निमद्भ्याम्, अग्निमद्भ्यः। ष० अग्निमथः, अग्निमथोः, अग्निमथाम्। स० अग्निमथि, अग्निमथोः, अग्निमत्सु*। स० हे अग्निमत्-द्[1], हे अग्निमथौ[1], हे अग्निमथः[1]।

† हल्ङ्याब्भ्यो० (१७९), झलां जशोऽन्ते (६७), वाऽवसाने (१४६)।
‡ झलां जशोऽन्ते (६७)। * झलां जशोऽन्ते (६७), खरि च (७४)।

(यहां थकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—— ० ——

अब चकारान्त पुंलिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३४) अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति।६।४।२४॥

हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति ङिति। नुम्। संयोगान्तस्य लोपः (२०)। नस्य कुत्वेन ङः। प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः॥

अर्थः—जिन के इकार की इत्संज्ञा नहीं होती ऐसे हलन्त अङ्गों की उपधा के नकार का कित् ङित् परे होने पर लोप हो जाता है।

व्याख्या—अनिदिताम् ।६।३। हलः ।६।१। (अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर 'हलन्तस्य' बन जाता है)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। उपधायाः ।६।१। नः ।६।१। (श्नान्नलोपः में। यहां षष्ठी का लुक् हुआ है)। लोपः ।१।१। (श्नान्नलोपः से)। क्ङिति ।७।१। समास—इत् (ह्रस्व इकार) इत् (इत्संज्ञक) येषान्ते=इदितः, बहुव्रीहिसमासः। न इदितः=अनिदितः, तेषाम्=अनिदिताम्, नञ्समासः। क् च ङ् च=क्ङौ, इतरेतरद्वन्द्वः। क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन्=क्ङिति, बहुव्रीहिसमासः। 'अनिदिताम्' इस प्रकार बहुवचननिर्देश करने से 'हलः' और 'अङ्गस्य' दोनों में वचनविपरिणाम अर्थात् बहुवचन हो जाता है। अर्थः—(अनिदिताम्) जिन के इकार की इत्संज्ञा नहीं होती ऐसे (हलः=हलन्तानाम्) हलन्त (अङ्गस्य=अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के (नः=नस्य) नकार का (लोपः) लोप हो जाता है (क्ङिति) कित् ङित् परे हो तो।

'प्र' पूर्वक 'अञ्चु गतिपूजनयोः'[2] (भ्वा० प०) धातु से ऋत्विगादिसूत्र० (३०१)

1. इदितो मथेस्तु नलोपाभावाद्—अग्निमन्थ्, अग्निमन्थावित्यादिरूपाणि ज्ञेयानि।
2. यहां केवल गति अर्थ ही विवक्षित है, पूजन नहीं। अन्यथा नाञ्चेः पूजायाम् (३४१) से नकारलोप का निषेध हो जायेगा। पूजा अर्थ में रूप आगे दर्शाए जाएंगे।

सूत्र से क्विँन् प्रत्यय करने पर उस का सर्वापहार लोप हो जाने से—'प्र अञ्च्'। अब यहां प्रत्ययलक्षणद्वारा कित् क्विँन् प्रत्यय को मान कर **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) सूत्र से नकार[1] का लोप हो जाने पर 'प्र अच्' हुआ। अब इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा[2] होकर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

प्र अच्+स् (सुँ)। **उगिदचाम्०** (२८९) से नुँम् का आगम—प्र अनुँम्च्+स्'। 'उँम्' अनुबन्ध का लोप होकर 'प्र अन्च्+स्'। **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) से सुँलोप, **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से चकारलोप—'प्र अन्'। अब **क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) से नासिकास्थानीय नकार के स्थान पर तादृश ङकार होकर—'प्र अङ्'। **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) सूत्र से सवर्णदीर्घ एकादेश करने पर 'प्राङ्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र अच्+औ[3]। **उगिदचाम्०** (२८९) से नुँम् आगम, उँम् अनुबन्ध का लोप, **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) से नकार के स्थान पर अनुस्वार[4] तथा **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) से अनुस्वार को परसवर्ण ञकार करने पर—प्र अञ्च्+औ=प्राञ्चौ। इसी प्रकार सम्पूर्ण सर्वनामस्थान में प्रक्रिया होती है।

प्र अच्+अस् (शस्)। सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा न होने से **उगिदचाम्०** (२८९) से नुँम् आगम नहीं हो सकता। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३५) अचः।६।४।१३८॥

लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः स्यात् ॥

अर्थः—लुप्त नकार वाली अञ्चुँ धातु के भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो।

व्याख्या—अचः।६।१। (यहां 'अच्' से लुप्तनकार वाली अञ्चुँ धातु का निर्देश किया गया है)। भस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। अत्।६।१। (षष्ठी का लुक् हुआ है)। लोपः।१।१। (**अल्लोपोऽनः** से)। अर्थः—(अचः) लुप्त नकार वाली अञ्चुँ धातु के (भस्य) भसञ्ज्ञक (अत्=अतः) अकार का (लोपः) लोप हो जाता है।

'प्र अच्+अस्'। यहां 'अच्' यह लुप्तनकार अञ्चुँ है, **यचि भम्** (१६५) से इस की भसञ्ज्ञा भी है अतः प्रकृतसूत्र से इस के अकार का लोप होकर—'प्र च्+अस्'। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. अञ्चुँ धातु में **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) द्वारा नकार का ञकार बना है। इस का स्पष्टीकरण इस व्याख्या के द्वितीय भाग में **स्रंसुँ** (भ्वा० आ०) धातु पर देखें।

२. इस प्रकरण में 'प्र अच्, प्रति अच्, समि अच्' इस प्रकार सन्ध्यभाव में ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जाती है। यह सब शसादियों में **अचः** (३३५) आदि द्वारा अकारलोपादिप्रक्रिया की सुविधा के लिये ही किया जाता है।

३. क्विँन्, उसका सर्वापहारलोप, **अनिदिताम्०** (३३४) द्वारा नकारलोप—इतनी प्रक्रिया स्वयं सब विभक्तियों में जान लें बार-बार नहीं लिखेंगे।

४. नस्य श्चुत्वन्तु न भवति, अनुस्वारं प्रति श्चुत्वस्याऽसिद्धत्वात्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३६) चौ ।६।३।१३७॥

लुप्ताऽकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात् । प्राचः । प्राचा । प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रतीचः । प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ ॥

अर्थः—लुप्त अकार-नकार वाली 'अञ्चु' धातु परे हो तो पूर्व अण् को दीर्घ आदेश हो ।

व्याख्या—चौ ।७।१। (यहां 'चु' से लुप्त अकार नकार वाली 'अञ्चु' धातु का ग्रहण अभिप्रेत है) । पूर्वस्य ।६।१। अणः ।६।१। दीर्घः ।१।१। (ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः से) । अर्थः—(चौ) लुप्त अकार-नकार वाली 'अञ्चुँ' धातु के परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (अणः) अण् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है ।

प्र च्+अस् यहां लुप्ताकारनकारवाली च् यह अञ्चुँ धातु परे है अतः पूर्व अण् अर्थात् 'प्र' के रेफोत्तर अकार को दीर्घ होकर—प्राच्+अस्='प्राचः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में जान लेना चाहिये ।

नोट—यद्यपि यहां अचः (३३५) और चौ (३३६) सूत्रों के बिना भी 'प्र अच्+अस्' इस अवस्था में अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ होकर 'प्राचः' प्रयोग सिद्ध हो सकता था तथापि इन सूत्रों की 'प्रतीचः' आदि के लिये परम आवश्यकता थी अतः यहां भी न्यायवशात् प्रवृत्ति दिखा दी है ।

'प्र+अच्' (उत्तमरीति से या पहले चलने वाला अथवा पूर्व के देश, काल, जन आदि) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः	प० प्राचः	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्यः
द्वि०	प्राञ्चम्	,,	प्राचः	ष० ,,	प्राचोः	प्राचाम्
तृ०	प्राचा	प्राग्भ्याम्*	प्राग्भिः	स० प्राचि	,,	प्राक्षु†
च०	प्राचे	,,	प्राग्भ्यः	सं० हे प्राङ् !	हे प्राञ्चौ !	हे प्राञ्चः !

*यहां चोः कुः (३०६) की दृष्टि में क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) तथा झलां जशोऽन्ते (६७) दोनों के असिद्ध होने से प्रथम चकार को ककार होकर पुनः झलां जशोऽन्ते (६७) से गकार करने पर 'प्राग्भ्याम्' आदि रूप सिद्ध होते हैं । यहां पर भत्व न होने से अचः (३३५) तथा चौ (३३६) न लगेंगे, सवर्णदीर्घ हो कर उक्त प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं । इसी प्रकार हलादि विभक्तियों में आगे भी प्रक्रिया जाननी चाहिये ।

†यहां चोः कुः (३०६) द्वारा कुत्व होकर आदेशप्रत्यययोः (१५०) से सकार को षकार हो जाता है ।

'प्रति' पूर्वक अञ्चुँ धातु से ऋत्विग्दधृक्० (३०१) से क्विन्, उस का सर्वापहारलोप तथा अनिदितां हल० (३३४) से नकारलोप होकर प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने से सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।

प्रति अच्+स् (सुँ) । उगिदचाम्० (२८९) से नुँम् आगम, उँम् अनुबन्ध

का लोप, सुँ-लोप तथा संयोगान्तस्य लोपः (२०) से चकारलोप हो 'प्रति अन्'। अब क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) से नकार को ङकार तथा इको यणचि (१५) से यण् करने से 'प्रत्यङ्' प्रयोग सिद्ध होता है। प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः—आदि में पूर्ववत् अनुस्वार-परसवर्ण प्रक्रिया जाननी चाहिये।

'प्रति अच्+अस्' (शस्)। यहां अचः (३३५) से अकारलोप तथा चौ (३३६) से पूर्व अण् अर्थात् 'प्रति' के अन्त वाले इकार को दीर्घ होकर—'प्रतीचः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'प्रति अच्+भ्याम्' यहां चोः कुः (३०६) से चकार को ककार तथा झलां जशोऽन्ते (६७) से ककार को गकार होकर यण् करने से—'प्रत्यग्भ्याम्'। 'प्रति+अच्' (पीछे या विपरीत जाने वाला अथवा पश्चिम के देश, काल, जन आदि) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	प्रत्यङ्	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्चः	प०	प्रतीचः	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भ्यः
द्वि०	प्रत्यञ्चम्	,,	प्रतीचः	ष०	,,	प्रतीचोः	प्रतीचाम्
तृ०	प्रतीचा	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भिः	स०	प्रतीचि	,,	प्रत्यक्षु
च०	प्रतीचे	,,	प्रत्यग्भ्यः	सं०	हे प्रत्यङ्!	प्रत्यञ्चौ!	प्रत्यञ्चः!

'उद्' पूर्वक 'अञ्चुँ' धातु से ऋत्विग्दधृक्० (३०१) द्वारा क्विन्, उस का सर्वापहारलोप, नकारलोप तथा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

उद् अच्+स्। यहां उगिदचाम्० (२८९) से नुँम् आगम, उँम् अनुबन्ध का लोप, सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) से नकार को ङकार होकर—'उदङ्' प्रयोग सिद्ध होता है। उदञ्चौ, उदञ्चः आदि पूर्ववत् जानें।

उद् अच्+अस् (शस्)। यहां अचः (३३५) सूत्र द्वारा अकार का लोप प्राप्त होता है, इस पर अग्रिम अपवाद-सूत्र प्रवृत्त हो जाता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३७) उद ईत्।६।४।१३९॥

उच्छब्दात् परस्य लुप्तनकाराञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत्। उदीचः। उदीचा। उदग्भ्याम्॥

अर्थः—'उद्' से परे लुप्त नकार वाली अञ्चुँ धातु के भसञ्ज्ञक अकार को ईकार हो जाता है।

व्याख्या—उदः।५।१। अचः।६।१। (अचः से)। भस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। अत्।६।१। (अल्लोपोऽनः से)। ईत्।१।१। अर्थः—(उदः) उद् से परे (अचः) लुप्त नकार वाली अञ्चुँ धातु के (भस्य) भसञ्ज्ञक (अत्=अतः) अकार के स्थान पर (ईत्) ईकार आदेश हो जाता है।

उद् अच्+अस्। यहां प्रकृतसूत्र से अकार को ईकार होकर—उद् ईच्+अस्='उदीचः' प्रयोग सिद्ध होता है। 'उदच्' (ऊपर जाने वाला अथवा उत्तर के देश, काल, जन आदि) शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्च	प०	उदीच	उदग्भ्याम्	उदग्भ्य
द्वि०	उदञ्चम्	,,	उदीच	ष०	,,	उदीचो:	उदीचाम्
तृ०	उदीचा	उदग्भ्याम्	उदग्भि	स०	उदीचि	,,	उदक्षु
च०	उदीचे	,,	उदग्भ्य	स०	हे उदङ् !	उदञ्चौ !	उदञ्च !

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३८) समः समि ।६।३।६२॥

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे [सम सम्यादश स्यात्] । सम्यङ् । सम्यञ्चौ । समीच । सम्यग्भ्याम् ॥

अर्थ —वप्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु परे हो तो सम् को समि आदेश हो ।

व्याख्या —वप्रत्यय[1] ।७।१। (विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये मे)। अञ्चतौ ।७।१। (विष्वग्देवयोश्च० से) । सम ।६।१। समि ।१।१। (नपुसक म निर्देश किया गया है) । समास —व प्रत्ययो यस्मात् स वप्रत्यय । तस्मिन्=वप्रत्यये । बहुव्रीहि-समास । 'व्' स यहाँ क्विँन्, विँच् आदि वकारघटित प्रत्यय अभिप्रेत हैं । अर्थ.—(वप्रत्यये) जिस स 'व्' प्रत्यय किया गया हो ऐसे (अञ्चतौ) अञ्चुँ धातु के परे होने पर (सम) सम् के स्थान पर (समि) समि आदेश हो जाता है ।

'समि' मे इकार अनुनासिक नही अत उपदेशेऽजनुनासिक इत् (२८) सूत्र स उस की इत्सज्ञा नही होती ।

'सम्' पूर्वक 'अञ्चुँ' धातु से ऋत्विग्दधृक्० (३०१) द्वारा क्विँन्, उस का सर्वापहारलोप तथा अनिदिता हल ० (३३४) मे नकारलोप होकर—'सम् अच्' । अब वप्रत्ययान्त या अप्रत्ययान्त 'अञ्चुँ' परे होने के कारण सम समि (३३८) द्वारा सम् को समि आदेश होकर प्रातिपदिकसज्ञा करने से सुँ आदि की उत्पत्ति होती है—

समि अच्+स् । उगिदचाम्० (२८९) से नुँम्, उँम् अनुबन्ध का लोप, सुँ-लोप तथा सयोगान्तलोप होकर—'समि अन्' । क्विँन्प्रत्ययस्य कु (३०४) से नकार को ङकार तथा इको यणचि (१५) से यण् करने पर— सम्यङ्' प्रयोग सिद्ध होता है । सम्यञ्चौ, सम्यञ्च —यहाँ पूर्ववत् नुँम्, अनुस्वार तथा परसवर्ण जानें ।

समि अच्+अस् (शस्) । अच. (३३५) से अकारलोप तथा चौ (३३६)से पूर्व इकार को दीर्घ करने से—'समीच' । 'सम्यच्' (ठीक चलने वाला) शब्द की समग्र रूपमाला यथा—

---

१. कई लोग विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये (६ ३ ९१) ऐसा पाठ मान कर सम. समि(३३८)सूत्र मे 'अप्रत्यये' का अनुवर्तन करते हैं । तब इस सूत्र का—अविद्यमान-प्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु के परे होने पर सम् को समि आदेश हो—ऐसा अर्थ होता है । 'अविद्यमान प्रत्यय' मे क्विँन् विँच् आदि प्रत्ययो का ही ग्रहण होता है, क्योकि ये प्रत्यय सर्वापहारलोप के कारण सदा अविद्यमान ही रहते हैं ।

प्र०	सम्यङ्	सम्यञ्चौ	सम्यञ्चः	प०	समीचः	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भ्यः
द्वि०	सम्यञ्चम्	,,	समीचः	ष०	,,	समीचोः	समीचाम्
तृ०	समीचा	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भिः	स०	समीचि	,,	सम्यक्षु
च०	समीचे	,,	सम्यग्भ्यः	सं०	हे सम्यङ् !	सम्यञ्चौ !	सम्यञ्चः !

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३३९) सहस्य सध्रिः ।६।३।९४॥

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे [सहस्य सध्र्यादेशः स्यात्]। सध्र्यङ् ॥

अर्थः—वप्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु परे होने पर 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश हो।

व्याख्या—वप्रत्ययान्ते ।७।१। अञ्चतौ ।७।१। (विष्वग्देवयोश्च० से)। सहस्य ।६।१। सध्रिः ।१।१। अर्थः—(वप्रत्यये) जिस से 'व्' प्रत्यय किया गया हो ऐसे (अञ्चतौ) अञ्चुँ धातु के परे होने पर (सहस्य) 'सह' के स्थान पर (सध्रिः) 'सध्रि' आदेश हो। अनेकाल्परिभाषा से यह सर्वादेश होगा।

यहां भी अनुनासिक न होने से सध्रि के इकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

'सह' पूर्वक 'अञ्चुँ' धातु से पूर्ववत् क्विन्, उस का सर्वापहारलोप, नकारलोप तथा सहस्य सध्रिः (३३९) से 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होकर—'सध्रि अच्'। अब प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है।

सध्रि अच्+स्। नुँम् आगम, उँम्लोप, सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) से नकार को ङकार करने से—सध्रि अङ् = 'सध्र्यङ्' प्रयोग सिद्ध होता है। सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः—आदि में पूर्ववत् 'अनुस्वारपरसवर्णौ' कर लेने चाहियें।

सध्रि अच्+अस् (शस्)। अचः (३३५) द्वारा अकारलोप तथा चौ (३३६) द्वारा पूर्व अण् इकार को दीर्घ करने से 'सध्रीचः'।

'सध्र्यच्' (साथ चलने वाला, साथी) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सध्र्यङ्	सध्र्यञ्चौ	सध्र्यञ्चः	प०	सध्रीचः	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भ्यः
द्वि०	सध्र्यञ्चम्	,,	सध्रीचः	ष०	,,	सध्रीचोः	सध्रीचाम्
तृ०	सध्रीचा	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भिः	स०	सध्रीचि	,,	सध्र्यक्षु
च०	सध्रीचे	,,	सध्र्यग्भ्यः	सं०	हे सध्र्यङ्!	सध्र्यञ्चौ!	सध्र्यञ्चः!

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३४०) तिरसस्तिर्यलोपे ।६।३।९३॥

अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः स्यात्। तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिरश्चः। तिर्यग्भ्याम् ॥

अर्थः—जिस के अकार का लोप नहीं हुआ ऐसी वप्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु के परे होने पर 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश हो।

व्याख्या—अलोपे ।७।१। वप्रत्यये ।७।१। अञ्चतौ ।७।१। (विष्वग्देवयोश्च

टेरद्रयञ्चतावप्रत्यये से) । तिरस ।६।१। तिरि ।१।१। समास —नास्ति लोपो यस्य सोऽलोपस्तस्मिन्=अलोपे । नञ्बहुव्रीहिसमास । यहां लोप से तात्पर्य चौ (३३६) द्वारा किये अकारलोप से ही है । अर्थ —(अलोपे) अलुप्त अकार वाली (वप्रत्यये) वप्रत्ययान्त (अञ्चतौ) अञ्चुँ धातु के परे होने पर (तिरस) तिरस् के स्थान पर (तिरि) तिरि आदेश हो जाता है ।

अञ्चुँ धातु के अकार का लोप भसञ्ज्ञकों में अच. (३३५) सूत्र द्वारा हुआ करता है । अत भसञ्ज्ञा के अभाव में ही तिरस् को तिरि यह आदेश होता है। भसञ्ज्ञकों में तिरि' आदेश नहीं होता ।

'तिरस्' पूर्वक 'अञ्चुँ' धातु से क्विँन्, उस का सर्वापहार लोप, नकारलोप, तिरसस्तिर्यलोपे (३४०) से तिरस् के स्थान पर तिरि आदेश होकर—'तिरि अच्' । अब सुँ प्रत्यय आकर नुँम् आगम, उँम्-लोप, सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा क्विँन्प्रत्ययस्य कु. (३०४) से कुत्व अर्थात नकार को ङकारादेश और पुन इको यणचि (१५) से यण् होकर 'तिर्यङ्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'तिरस्+अच्' (टेढा चलने वाला अर्थात् जो मनुष्य की तरह सीधा खड़ा हो कर नहीं चलता—पशु पक्षी आदि) की रूपमाला यथा—

प्र० तिर्यङ्	तिर्यञ्चौ	तिर्यञ्च	प० तिरश्च	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भ्य
द्वि० तिर्यञ्चम्	,,	तिरश्च †	ष० ,,	तिरश्चो	तिरश्चाम्
तृ० तिरश्चा	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भि	स० तिरश्चि	,,	तिर्यक्षु
च० तिरश्चे	,,	तिर्यग्भ्य	सं० हे तिर्यङ् !	तिर्यञ्चौ !	तिर्यञ्च !

† तिरस् अच्+अस् । यहां अच (३३५) सूत्र से अकार का लोप होकर स्तो श्चुना श्चु (६२) से श्चुत्व हो जाता है । इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिये । ध्यान रहे कि इन स्थानों पर 'तिरि' नहीं होगा, क्योंकि यहां अकार का लोप है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३४१) नाञ्चे पूजायाम् ।६।४।३०॥

पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न । प्राङ् । प्राञ्चौ । नलोपाभावादलोपो न । प्राञ्च । प्राङ्भ्याम् । प्राङ्क्षु । एवम् पूजार्थे प्रत्यङ्डादय ॥

अर्थ —पूजार्थक 'अञ्चुँ' धातु के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता ।

व्याख्या—पूजायाम् ।७।१। अञ्चे ।६।१। उपधाया. ।६।१। (अनिदिता हल उपधाया से) । न ।६।१। (श्नान्नलोप से, यहां षष्ठी का लुक् हुआ है) । लोप. ।१।१। (श्नान्नलोप से)। न इत्यव्ययपदम् । अर्थ —(पूजायाम्) पूजा अर्थ में (अञ्चे.) अञ्चुँ धातु के (उपधाया) उपधा के (न =नस्य) नकार का (लोप) लोप (न) नहीं होता ।

अञ्चुँ धातु के दो अर्थ होते हैं । एक गति और दूसरा पूजा । पूजा अर्थ में

अनिदिताम्० (३३४) द्वारा नकारलोप प्राप्त होने पर **नाञ्चेः पूजायाम्** (३४१) से निषेध कर दिया जाता हैं। अतः गति अर्थ होने पर ही नकार का लोप होता है पूजा अर्थ में नहीं। पीछे 'प्राङ्' से लेकर 'तिर्यङ्' तक सर्वत्र गत्यर्थक अञ्चुँ धातु का ही प्रयोग हुआ है। अब पूजा अर्थ में प्रयोग दिखलाते हैं—

प्राञ्च्—'प्र' पूर्वक पूजार्थक 'अञ्चुँ' धातु से क्विँन्, उस का सर्वापहारलोप, **अनिदितां हलः०** (३३४) मे उपधाभूत नकार का लोप प्राप्त होने पर—**नाञ्चेः पूजायाम्** (३४१) से निषेध, सवर्णदीर्घ हो कर प्रातिपदिक संज्ञा करने से सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। नलोपी अञ्चुँ न होने से **उगिदचाम्०** (२८९) वाला नुँम् भी न होगा।

प्राञ्च्+स्। सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा **क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) से नकार को ङकार होकर—प्राङ्।

नोट—नकारलोप के निषेध का फल शसादियों में स्पष्ट होता है। सर्वनामस्थान तक तो गत्यर्थक और पूजार्थक दोनों अवस्थाओं में प्रक्रियाओं का अन्तर होने पर भी रूप एक समान होते हैं।

पूजायाम्—'प्राञ्च्' (उत्तमरीति से पूजा करने वाला)[1]

प्र०	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः	**प०** प्राञ्चः	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः
द्वि०	प्राञ्चम्	,,	,, †	**ष०** ,,	प्राञ्चोः	प्राञ्चाम्
तृ०	प्राञ्चा	प्राङ्भ्याम्‡	प्राङ्भिः	**स०** प्राञ्चि	,,	प्राङ्ख्षु,-क्षु,-षु*
च०	प्राञ्चे	,,	प्राङ्भ्यः	**सं०** हे प्राङ्!	हे प्राञ्चौ!	हे प्राञ्चः!

†'प्राञ्च्+अस्' यहां नकारलोप न होने से **अचः** (३३५) द्वारा भसंज्ञक अकार का भी लोप नहीं होता, उस के अर्थ में 'लुप्तनकारस्याञ्चतेः' ऐसा लिख चुके हैं। फिर **चौ** (३३६) से दीर्घ भी नहीं होता। किन्तु सवर्णदीर्घ होकर कार्यनिष्पत्ति होती है।

‡'प्राञ्च्+भ्याम्' यहाँ संयोगान्तलोप होकर **क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) द्वारा नकार को ङकार हो जाता है।

*'प्राञ्च्+सु' यहां संयोगान्तलोप तथा नकार को ङकार हो—**ङ्णोः कुँक्टुँक् शरि** (८६) द्वारा विकल्प कर के कुँक् आगम होकर एकपक्ष में **चयो द्वितीयाः शरि०** (वा० १४) वार्तिक द्वारा ककार को खकार हो जाता है। पुनः दोनों पक्षों में **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व हो जाता है।

पूजायाम्—'प्रत्यञ्च्' (विपरीत रीति से पूजा करने वाला)

प्र०	प्रत्यङ्	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्चः	**प०** प्रत्यञ्चः	प्रत्यङ्भ्याम्	प्रत्यङ्भ्यः
द्वि०	प्रत्यञ्चम्	,,	,,	**ष०** ,,	प्रत्यञ्चोः	प्रत्यञ्चाम्
तृ०	प्रत्यञ्चा	प्रत्यङ्भ्याम्	प्रत्यङ्भिः	**स०** प्रत्यञ्चि	,,	प्रत्यङ्ख्षु,-क्षु,-षु
च०	प्रत्यञ्चे	,,	प्रत्यङ्भ्यः	**सं०** हे प्रत्यङ्!	हे प्रत्यञ्चौ!	हे प्रत्यञ्चः!

१. इन शब्दों के पूजा अर्थ में प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

पूजायाम्—'उदञ्च्' (उत्कृष्ट रीति से पूजा करने वाला)

प्र० उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्चः		पं० उदञ्चः	उदङ्भ्याम्	उदङ्भ्यः
द्वि० उदञ्चम्	,,	,,		ष० ,,	उदञ्चोः	उदञ्चाम्
तृ० उदञ्चा	उदङ्भ्याम्	उदङ्भिः		स० उदञ्चि	,,	उदङ्क्षु,-ङ्षु,-षु
च० उदञ्चे	,,	उदङ्भ्यः		सं० हे उदङ्!	हे उदञ्चौ!	हे उदञ्चः!

नकारलोप न होने से शसादियों में उद ईत् (३३७) सूत्र प्रवृत्त न होगा ।

पूजायाम्—'सम्यञ्च्' (सम्यग्रीति से पूजा करने वाला)

प्र० सम्यङ्	सम्यञ्चौ	सम्यञ्चः		पं० सम्यञ्चः	सम्यङ्भ्याम्	सम्यङ्भ्यः
द्वि० सम्यञ्चम्	,,	,,		ष० ,,	सम्यञ्चोः	सम्यञ्चाम्
तृ० सम्यञ्चा	सम्यङ्भ्याम्	सम्यङ्भिः		स० सम्यञ्चि	,,	सम्यङ्क्षु,-ङ्षु,-षु
च० सम्यञ्चे	,,	सम्यङ्भ्यः		सं० हे सम्यङ्!	सम्यञ्चौ!	सम्यञ्चः!

भसञ्ज्ञकों में अकार का लोप तथा दीर्घ न होगा । समः समि (३३८) तो लोप वा अलोप दोनों पक्षों में सर्वत्र हो ही जाता है ।

पूजायाम्—'सध्र्यञ्च्' (साथ पूजा करने वाला)

प्र० सध्र्यङ्	सध्र्यञ्चौ	सध्र्यञ्चः		पं० सध्र्यञ्चः	सध्र्यङ्भ्याम्	सध्र्यङ्भ्यः
द्वि० सध्र्यञ्चम्	,,	,,		ष० ,,	सध्र्यञ्चोः	सध्र्यञ्चाम्
तृ० सध्र्यञ्चा	सध्र्यङ्भ्याम्	सध्र्यङ्भिः		स० सध्र्यञ्चि	,,	सध्र्यङ्क्षु,-ङ्षु,-षु
च० सध्र्यञ्चे	,,	सध्र्यङ्भ्यः		सं० हे सध्र्यङ्!	सध्र्यञ्चौ!	सध्र्यञ्चः!

भत्व में अचः (३३५) से अ का लोप तथा चौ (३३६) से दीर्घ न होगा । 'सध्रि' तो लोप तथा अलोप दोनों में ही सर्वत्र हो जाता है ।

पूजायाम्—'तिर्यञ्च्' (विपरीत रीति से पूजा करने वाला)

प्र० तिर्यङ्	तिर्यञ्चौ	तिर्यञ्चः		पं० तिर्यञ्चः	तिर्यङ्भ्याम्	तिर्यङ्भ्यः
द्वि० तिर्यञ्चम्	,,	,,		ष० ,,	तिर्यञ्चोः	तिर्यञ्चाम्
तृ० तिर्यञ्चा	तिर्यङ्भ्याम्	तिर्यङ्भिः		स० तिर्यञ्चि	,,	तिर्यङ्क्षु,-ङ्षु,-षु
च० तिर्यञ्चे	,,	तिर्यङ्भ्यः		सं० हे तिर्यङ्!	हे तिर्यञ्चौ!	हे तिर्यञ्चः!

इस में नकारलोप न होने से अचः (३३५) द्वारा अकारलोप कहीं नहीं होता, अतः तिरसस्तिर्यलोपे (३४०) द्वारा सर्वत्र 'तिरि' आदेश हो जाता है ।

[लघु०] क्रुङ् । क्रुञ्चौ । क्रुङ्भ्याम् ॥

व्याख्या—क्रुञ्च गतिकौटिल्याल्पीभावयोः (भ्वा० प०) धातु से ऋत्विग्दधृक्० (३०१) द्वारा क्विन् प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा अनिदिताम्० (३३४) द्वारा नलोप प्राप्त होने पर लोपाभाव का निपातन करने से 'क्रुञ्च्' (क्रौञ्चपक्षी) शब्द निष्पन्न होता है । भाष्यकार के मत में यह आपध धातु है; अतः लोप की प्राप्ति ही नहीं ।

क्रुञ्च् + स (सुँ) । हल्ङ्यादिलोप तथा संयोगान्तलोप होकर निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः के अनुसार ञकार को नकार हो जाता है—क्रुन् । अब क्विन्प्रत्य-

यस्य कुः (३०४) से नकार को कुत्व-ङकार होकर—'क्रुङ्' प्रयोग सिद्ध होता है।

भ्याम् आदि में संयोगान्तलोप होकर कुत्व हो जाता है—क्रुङ्भ्याम् आदि।

सुप् में संयोगान्तलोप तथा कुत्व होकर—क्रुङ्+सु। अब वैकल्पिक कुँक् हो पक्ष में ककार को खकार हो जाता है। पुनः दोनों पक्षों में षत्व हो—क्रुङ्ख्षु, क्रुङ्क्षु। कुँक् के अभाव में—क्रुङ्षु। तीन रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र० क्रुङ्	क्रुञ्चौ	क्रुञ्चः	प० क्रुञ्चः	क्रुङ्भ्याम्	क्रुङ्भ्यः
द्वि० क्रुञ्चम्	,,	,,	ष० ,,	क्रुञ्चोः	क्रुञ्चाम्
तृ० क्रुञ्चा	क्रुङ्भ्याम्	क्रुङ्भिः	स० क्रुञ्चि	,,	क्रुङ्ख्षु,-क्षु,-षु
च० क्रुञ्चे	,,	क्रुङ्भ्यः	सं० हे क्रुङ्!	क्रुञ्चौ!	क्रुञ्चः!

[लघु०] पयोमुक्, पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुग्भ्याम्॥

व्याख्या—पयो जलं मुञ्चतीति—पयोमुक् [क्विँप्प्रत्ययान्तः]। 'पयोमुच्' शब्द क्विँन्नन्त नहीं किन्तु क्विँबन्त है अतः सर्वत्र पदान्त में चोः कुः (३०६) प्रवृत्त होता है। पयोमुच् (बादल) शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र० पयोमुक्-ग्†	पयोमुचौ	पयोमुचः	प० पयोमुचः	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भ्यः
द्वि० पयोमुचम्	,,	,,	ष० ,,	पयोमुचोः	पयोमुचाम्
तृ० पयोमुचा	पयोमुग्भ्याम्‡	पयोमुग्भिः	स० पयोमुचि	,,	पयोमुक्षु*
च० पयोमुचे	,,	पयोमुग्भ्यः	सं० हे पयोमुक्-ग्!	पयोमुचौ!	पयोमुचः!

†हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९), चोः कुः (३०६), झलां जशोऽन्ते (६७), वाऽवसाने (१४६)।

‡चोः कुः (३०६), झलां जशोऽन्ते (६७)।

*चोः कुः (३०६), झलां जशोऽन्ते (६७), खरि च (७४)।

अभ्यास (४३)

(१) अप्रत्यय और वप्रत्यय से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट करें।

(२) पूजापक्ष में अञ्चुँ का नकारलोप (?) किस सूत्र से हो जाता है?

(३) 'क्रुञ्च्' से 'क्विँन्' होने पर भी नकार का लोप क्यों नहीं होता?

(४) पूजापक्ष में शसादि में 'तिर्यञ्च्' शब्द की भसञ्ज्ञा होने पर भी अचः द्वारा अकार का लोप क्यों नही होता?

(५) 'उदञ्च्' के पूजापक्ष में उद ईत् सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता?

(६) 'प्र+अच्, प्रति+अच्, समि+अच्' इस प्रकार सन्ध्यभाव में ही इन की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का क्या प्रयोजन है?

(७) निम्नलिखित रूपों की सूत्रोपन्यासपूर्वक साधनप्रक्रिया दर्शाएं—
१ प्राचः, २ प्रतीचः, ३ उदीचः, ४ समीचः, ५ तिरश्चः, ६ पयोमुक्, ७ अग्निमत्, ८ प्राङ्ख्षु, ९ तिर्यङ्, १० प्राङ्।

(८) निम्नलिखित शब्दों की रूपमाला लिखें—
१ क्रुञ्च्, २ अग्निमथ्, ३ सह+अञ्च् (दोनों पक्षों में), ४ तिरस्+अञ्च् (दोनों पक्षों में) ५ प्रति+अञ्च् (दोनों पक्षों में) ।

(९) निम्नलिखित सूत्रों की व्याख्या करें—
१ अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति । २ अचः । ३ चौ । ४ तिरसस्तिर्यलोपे । ५ उद ईत् । ६ सहस्य सध्रिः ।

(यहां चकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है ।)

—— ० ——

अब तकारान्त पुंलिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] उगित्त्वान्नुँम् ॥

व्याख्या—महत् (बड़ा) शब्द वर्तमाने पृषद्-बृहन्महज्जगच् छतृवच्च (उणा० २४१) इस औणादिक सूत्र द्वारा मह पूजायाम् (भ्वा० प०) धातु से अति प्रत्यय कर निपातित किया गया है और साथ ही इसे शतृप्रत्यय के समान आदिष्ट भी किया गया है । शतृ प्रत्यय अन्त्य ऋकार के इत् होने से उगित् है । इस प्रकार महत् शब्द को भी उगित मान कर उगित्कार्य नुँम् आदि हो जायेंगे ।

महत्+सुँ (स्) । शतृवत् अतिदेश के कारण उगित् होने से उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (२८९) से नुँम् का आगम होकर—मह नुँम् त्+स्=महन्त्+स् । अब निम्नस्थ सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(३४२) सान्तमहतः संयोगस्य ।६।४।१०॥

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् ! । महद्भ्याम् ॥

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर सकारान्त संयोग के तथा महत् शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—सान्त ।६।१। (यहां षष्ठीविभक्ति का लुक् हुआ है । यह 'संयोगस्य' का विशेषण है) । संयोगस्य ।६।१। महतः ।६।१। नः ।६।१। (नोपधायाः से । यहां षष्ठी का लुक् हुआ है)। उपधायाः ।६।१। (नोपधायाः से) । दीर्घः ।१।१। (ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः से)। असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। (सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से)। अर्थः— (सान्त) सकारान्त (संयोगस्य) संयोग के तथा (महतः) महत् शब्द के (नः—नस्य) नकार की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर । सकारान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ करने के उदाहरण आगे—विद्वांसौ, विद्वांसः, यशांसि, मनांसि आदि आएंगे ।

'महन्त्+स्' । यहां प्रकृतसूत्र से महत् शब्द के अवयव नकार की उपधा—हकारोत्तर अकार को दीर्घ होकर—'महान्त्+स्' । अब सुँलोप तथा संयोगान्तलोप

होकर 'महान्' प्रयोग सिद्ध होता है। संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता। 'महत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	महान्	महान्तौ†	महान्तः	प०	महतः	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
द्वि०	महान्तम्	,,	महतः	ष०	,,	महतोः	महताम्
तृ०	महता	महद्भ्याम्‡	महद्भिः	स०	महति	,,	महत्सु
च०	महते	,,	महद्भ्यः	सं०	हे महन्* !	हे महान्तौ !	हे महान्तः!

†उगिदचाम्० (२८९) से नुँम् तथा सान्तमहतः० (३४२) से नकार की उपधा को दीर्घ होकर अनुस्वार (७८) और परसवर्ण (७९) हो जाते हैं।

‡झलां जशोऽन्ते (६७) से तकार को जश्त्व-दकार हो जाता है।

*उगिदचाम्० (२८९) से नुँम् होकर सुँलोप तथा संयोगान्तलोप हो जाते हैं। सम्बुद्धि परे होने से सान्तमहतः० (३४२) प्रवृत्त नहीं होता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३४३) **अत्वसन्तस्य चाधातोः ।६।४।१४॥**

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नाऽसन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ सौ परे। धीमान्। धीमन्तौ। धीमन्तः। हे धीमन्! । शसादौ महद्वत् ॥

अर्थः—सम्बुद्धि-भिन्न सुँ परे होने पर, 'अतुँ' जिस के अन्त में हो उस की उपधा को दीर्घ होता है एवम् धातु को छोड़कर 'अस्' जिस के अन्त में हो उसकी उपधा को भी दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—अतुँ ।६।१। (यहां षष्ठी का लुक् हुआ है। अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर 'अत्वन्तस्य' बन जाता है)। असन्तस्य ।६।१। च इत्यव्यय-पदम्। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। उपधायाः ।६।१। (**नोपधायाः** से)। दीर्घः ।१।१। (**ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से)। असम्बुद्धौ ।७।१। (**सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से)। सौ ।७।१। (**सौ च** से)। अर्थः—(अतु-अन्तस्य) अत्वन्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (च) तथा (अधातोः) धातुभिन्न (असन्तस्य) अस् अन्त वाले (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ होता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे हो तो।

'अतुँ' से 'मतुँप्, वतुँप्, डवतुँ, क्तवतुँ' आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है। 'अस्-अन्त' का उदाहरण आगे मूल में ही 'वेधाः' आदि पर स्पष्ट हो जायेगा। यहां अत्वन्त का उदाहरण दर्शाया जाता है—

धीमत् (बुद्धिमान्)। धीरस्त्यस्येति धीमान्। 'धी' शब्द से **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८१) सूत्र द्वारा मतुँप् प्रत्यय करने पर 'धीमत्' शब्द निष्पन्न होता है।

'धीमत्+स्' यहां धीमत् शब्द के अतु+अन्त (मतुँ=म्+अतुँ) होने से प्रथम[1] **अत्वसन्तस्य चाधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ होकर—धीमात्+स्। पुनः

---

१. ध्यान रहे कि 'धीमत्+स्' में **अत्वसन्तस्य०** (३४३) द्वारा उपधादीर्घ तथा **उगिदचाम्०** (२८९) से नुँम् आगम युगपत् प्राप्त होते हैं। नुँम् आगम नित्य तथा पर होने पर भी प्रथम नहीं होता। क्योंकि यदि ऐसा किया जाये तो सर्वत्र

उगिदचाम्० (२८६) से नुँम् आगम—धीमा न् त्+स्। अब सुँलोप और संयोगान्त-लोप होकर—'धीमान्' प्रयोग सिद्ध होता है। 'धीमत्' की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	धीमान्	धीमन्तौ	धीमन्त:	प०	धीमत:	धीमद्भ्याम्	धीमद्भ्य:
द्वि०	धीमन्तम्	,,	धीमत:	ष०	,,	धीमतो:	धीमताम्
तृ०	धीमता	धीमद्भ्याम्	धीमद्भि:	स०	धीमति	,,	धीमत्सु
च०	धीमते	,,	धीमद्भ्य:	स०	हे धीमन्*!	धीमन्तौ!	धीमन्त: !

*सम्बुद्धि मे अत्वसन्तस्य० (३४३) द्वारा दीर्घ नही होता।

इसी प्रकार—भगवत्, बुद्धिमत्, धनवत्, मतिमत्, गतवत्, कृतवत् आदि मत्वन्त, वत्वन्त और क्तवत्वन्त शब्दो के रूप होते हैं।

[लघु०] भातेर्डवतुँ। डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोप.। भवान्। भवन्तौ। भवन्त। शत्रन्तस्य—भवन्॥

व्याख्या—भवतुँ=भवत् (आप)। भा दीप्तौ (अदा० प०) धातु से भातेर्डवतुँ (उणा० ६३) इस औणादिकसूत्र द्वारा 'डवतुँ' प्रत्यय करने मे—'भा+डवतुँ'। डवतुँ के अनुबन्धो का लोप कर 'अवत्' शेष रह जाता है—'भा+अवत्'। अब 'भा' की भसञ्ज्ञा न होने पर भी डवतुँ को डित् करने के सामर्थ्य से भकारोत्तर आकार का टे:(२४२) से लोप होकर—'भवत्' शब्द निष्पन्न होता है।

भवत्+स्(सुँ)। अत्वन्त होने से अत्वसन्तस्य चाधातो. (३४३) से उपधा-दीर्घ, उगिदचाम्० (२८६) से नुँम् आगम, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप करने मे 'भवान्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'धीमत्' शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	भवान्	भवन्तौ	भवन्त.	प०	भवत:	भवद्भ्याम्	भवद्भ्य:
द्वि०	भवन्तम्	,,	भवत:	ष०	,,	भवतो:	भवताम्
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भि.	स०	भवति	,,	भवत्सु
च०	भवते	,,	भवद्भ्य:	स०	हे भवन्*!	भवन्तौ!	भवन्त !

*सम्बुद्धि मे अत्वसन्तस्य० (३४३) प्रवृत्त नही होता।

'भवत्' शब्द 'त्यदाद्यन्तर्गत सर्वनाम है। सर्वनामसञ्ज्ञा का प्रयोजन 'भवकान्' आदि मे अव्यय सर्वनाम्नामकच् प्राक्टे: (१२२६) द्वारा अकच् प्रत्यय करना है। *त्यदादियो का यद्यपि सम्बोधन नही होता तथापि ऊपर सम्भावनामात्र से दर्शाया गया है।*

भवत्ँ=भवत् (होता हुआ)। भू सत्तायाम् (भ्वा प०) धातु से लँट्, उस के स्थान पर शतृँ प्रत्यय, शतृँ के सार्वधातुक होने से शप् विकरण, गुण, अवादेश तथा अतो गुणे (२७४) से पररूप करने पर 'भवत्' शब्द निष्पन्न होता है। यह 'भवत्'

अत्वन्त की उपधा 'न्' ही मिलेगी जिसे दीर्घ नहीं हो सकेगा क्योंकि अचश्च (१२२८) परिभाषा द्वारा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अचों के स्थान पर ही हुआ करते हैं। अत. वचनसामर्थ्य से प्रथम उपधादीर्घ होकर पश्चात् नुँम् आगम होता है।

शब्द शतृ प्रत्ययान्त है। शतृ प्रत्यय के ऋकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत् (२८) से इत्संज्ञा होती है। अतः 'भवत्' शब्द उगित् है। उगित् होने से सर्वनामस्थान में इसे नुँम् का आगम (२८६) हो जायेगा। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	भवन्†	भवन्तौ	भवन्तः	प० भवतः	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
द्वि०	भवन्तम्	,,	भवतः	ष० ,,	भवतोः	भवताम्
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः	स० भवति	,,	भवत्सु
च०	भवते	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः	सं० हे भवन्!	हे भवन्तौ!	हे भवन्तः!

† यहां अत्वन्त न होने से अत्वसन्तस्य चाधातोः (३४३) सूत्र से उपधादीर्घ नहीं होता। नुँम्, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप पूर्ववत् होते हैं।

इसी प्रकार—गच्छत् (जाता हुआ), चलत् (चलता हुआ), पतत् (गिरता हुआ), खादत् (खाता हुआ) प्रभृति शत्रन्त शब्दों के रूप होते हैं। शत्रन्तों का सार्थ वृहत्-संग्रह इस व्याख्या के द्वितीयभागस्थ शतृ प्रकरण में देखें।

अब शत्रन्त शब्दों में कुछ विशेष प्रक्रिया वाले शब्द कहे जाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३४४) उभे अभ्यस्तम्[1]।६।१।५॥

पाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसञ्ज्ञे स्तः॥

अर्थः—षष्ठाध्याय के द्वित्वप्रकरण में द्वित्व से जिन दो शब्दस्वरूपों का विधान होता है वे दोनों समुदित (इकट्ठे न कि पृथक्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—उभे।१।२। द्वे।१।२। (एकाचो द्वे प्रथमस्य से)। अभ्यस्तम्।१।१। अर्थः—(उभे) समुदित (द्वे) दोनों शब्दस्वरूप (अभ्यस्तम्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक होते हैं।

द्वित्व अर्थात् एक शब्द को दो शब्द विधान करने वाले अष्टाध्यायी में दो प्रकरण आते हैं। पहला—छठे अध्याय के प्रथमपाद के प्रथमसूत्र से लेकर बारहवें सूत्र तक। दूसरा अष्टम अध्याय के प्रथमपाद के प्रथमसूत्र से लेकर पन्द्रहवें सूत्र तक। यहां अभ्यस्तसञ्ज्ञा षष्ठाध्याय वाले शब्दस्वरूपों की होती है अष्टमाध्याय वाले शब्द-स्वरूपों की नहीं। इस का कारण यह है कि—अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा (५०) अर्थात् विधि और निषेध समीप पठित के ही होते हैं दूरपठित के नहीं। उभे अभ्यस्तम् (६.१.५) सूत्र छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में पढ़ा गया है अतः अभ्यस्तसञ्ज्ञा भी छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में विहित समुदित शब्दस्वरूपों की ही होगी।

'द्वे' पद का अनुवर्त्तन होने पर भी 'उभे' का ग्रहण इस बात को बतलाने के लिये है कि दोनों की इकट्ठी अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो प्रत्येक की पृथक् २ न हो। इस से 'नेनिजति' आदि में अभ्यस्तानामादिः (६.१.१८३) द्वारा प्रत्येक को आद्युदात्त न

---

१. 'उभे+अभ्यस्तम्' में ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् (५१) द्वारा प्रगृह्यसञ्ज्ञा और प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (५०) द्वारा प्रकृतिभाव हो जाने से सन्धि नहीं होती। एवम् वृत्ति में 'ते उभे समुदिते अभ्यस्तसञ्ज्ञे' यहां पर भी सन्ध्यभाव जानना चाहिये।

होकर समुदित का होता है। इस का विशेष विवेचन काशिका और महाभाष्य में देखना चाहिये।

ददत्—ददत् (देता हुआ)। दा (डुदाञ् दाने, जुहो० उभ०) धातु से लँट्, उस को शतृ, शप् प्रत्यय, शप् का श्लु (लोप), श्लु पर होने पर षष्ठाध्यायस्थ श्लौ (६.१.१०) सूत्र से द्वित्व, अभ्यासह्रस्व तथा श्नाभ्यस्तयोरातः (६१९) से आकार का लोप होकर ददत् शब्द निष्पन्न होता है।

षाष्ठद्वित्वप्रकरणस्थ श्लौ (६.१.१०) सूत्र से द्वित्व होने के कारण 'दद्' की उभे अभ्यस्तम् (३४४) से अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्र द्वारा अभ्यस्तसञ्ज्ञा का प्रयोजन बतलाते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—(३४५) नाभ्यस्ताच्छतुः ।७।१।७८॥

अभ्यस्तात् परस्य शतुर्नुम् न स्यात्। ददत्, ददद्। ददतौ। ददतः॥

अर्थः—अभ्यस्त से परे शतृ प्रत्यय को नुँम् का आगम नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। अभ्यस्तात् ।५।१। शतुः ।६।१। नुँम् ।१।१। (इदितो नुँम् धातोः से)। अर्थः—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे (शतुः) शतृ का अवयव (नुँम्) नुँम् (न) नहीं होता।

ददत्+स् (सुँ)। यहां उगिदचाम्० (२८९) से प्राप्त नुँम् आगम का नाभ्यस्ताच्छतुः (३४५) से निषेध हो जाता है। अब हल्ङ्याब्भ्यः०(१७९) से सुँ का लोप कर जश्त्व चर्त्व प्रक्रिया से—ददत्, ददद् ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार आगे भी सर्वनामस्थानों में नुँम् का निषेध कर लेना चाहिये। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	ददत्,-द्	ददतौ	ददतः	पं०	ददतः	ददद्भ्याम्	ददद्भ्यः
द्वि०	ददतम्	ददतौ	ददतः	ष०	,,	ददतोः	ददताम्
तृ०	ददता	ददद्भ्याम्*	ददद्भिः	स०	ददति	,,	ददत्सु
च०	ददते	,,	ददद्भ्यः	सं०	हे ददत्-द्!	हे ददतौ!	हे ददतः!

*झलां जशोऽन्ते (६७) से तकार को दकार हो जाता है।

इसी प्रकार—दधत् (धारण करता हुआ), जुह्वत् (हवन करता हुआ), बिभ्यत् (डरता हुआ), बिभ्रत् (धारण करता हुआ), जहत् (छोड़ता हुआ), जिह्रियत् (शर्माता हुआ) आदि जुहोत्यादिगणीय शत्रन्तों के रूप होते हैं।

अब कुछ उन शत्रन्तों का वर्णन करते हैं जिन में नुँम् का निषेध तो अभीष्ट है परन्तु षाष्ठद्वित्व न होने से अभ्यस्तसञ्ज्ञा प्राप्त नहीं।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—(३४६) जक्षित्यादयः षट् ।६।१।६॥

षड् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसञ्ज्ञाः स्युः। जक्षत्, जक्षद्। जक्षतौ। जक्षतः। एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्॥

अर्थः—जागृ आदि छः धातु तथा सातवीं 'जक्ष्' धातु अभ्यस्तसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—जक्ष् ।१।१। इत्यादयः ।१।३। षट् ।१।३। अभ्यस्तम्

। १। १। (उभे अभ्यस्तम् से)। समासः—इति (इतिशब्देन जक्षपरामर्शो भवति) आदिर्येषान्ते=इत्यादयः, अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः, 'षड्' इतिग्रहणात्। अर्थः—(जक्ष्) जक्ष् धातु तथा (इत्यादयः) जक्ष् से अगली (षट्) छः धातुएं अर्थात् कुल सात धातुएं (अभ्यस्तम्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक होती हैं।

इन सात धातुओं का सङ्ग्रह एक प्राचीन श्लोक में यथा—

जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ्-चकास्तथा।
अभ्यस्तसञ्ज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥

१. जक्ष भक्षहसनयोः (अदा० प०)। २. जागृ निद्राक्षये (अदा० प०)। ३. दरिद्रा दुर्गतौ (अदा० प०)। ४. चकासृ दीप्तौ (अदा० प०)। ५. शासु अनुशिष्टौ (अदा० प०)। ६. दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः (अदा० आ०)। ७. वेवीङ् वेतिना तुल्ये (अदा० आ०)। इन सात में पिछली दीधीङ् और वेवीङ् धातुओं का प्रयोग वेद में ही होता है। इन के शत्रन्त रूप क्रमशः यथा—१. जक्षत्=खाता वा हँसता हुआ। २. जाग्रत्=जागता हुआ। ३. दरिद्रत्=दरिद्रता या दुर्गति को प्राप्त होता हुआ। ४. चकासत्=चमकता हुआ। ५. शासत्=शासन करता हुआ। ६. दीध्यत्=क्रीडा करता हुआ। ७. वेव्यत्=गति करता हुआ।

इन सातों शत्रन्तों से सर्वनामस्थान परे होने पर उगिदचाम्० (२८९) द्वारा नुँम् आगम प्राप्त था जो अब जक्षित्यादयः षट् (३४६) सूत्र से अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो जाने के कारण नाभ्यस्ताच्छतुः (३४५) द्वारा निषिद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ 'जक्षत्' की रूपमाला यथा—

प्र०	जक्षत्-द्‡	जक्षतौ	जक्षतः	पं० जक्षतः	जक्षद्भ्याम्	जक्षद्भ्यः
द्वि०	जक्षतम्	,,	,,	ष० ,,	जक्षतोः	जक्षताम्
तृ०	जक्षता	जक्षद्भ्याम्	जक्षद्भिः	स० जक्षति	,,	जक्षत्सु
च०	जक्षते	,,	जक्षद्भ्यः	सं० हे जक्षत्-द्!	जक्षतौ!	जक्षतः!

‡हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९), झलां जशोऽन्ते (६७), वाऽवसाने (१४६)।

इसी प्रकार अन्य छः शत्रन्तों के रूप बनते हैं।

तकारान्त पुंलिङ्गों के विषय में विशेष वक्तव्य—

तकारान्त पुंल्लिङ्गों को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) 'महत्' शब्द। सान्तमहतः संयोगस्य (३४२) सूत्र में केवल 'महत्' शब्द का वर्णन होने से यह अपने ढङ्ग का अकेला शब्द है अतः इस के सदृश अन्य किसी तकारान्त पुंल्लिङ्ग का उच्चारण नहीं होता।

(२) अत्वन्त शब्द। इस श्रेणी में मत्वन्त, वत्वन्त, क्तवत्वन्त शब्द तथा डवतुँप्रत्ययान्त सर्वनाम 'भवत्' शब्द आता है। मत्वन्तों और क्तवत्वन्तों का वृहत् सङ्ग्रह इस व्याख्या के अपने-अपने प्रकरणों में देखें।

(३) शत्रन्त शब्द। इस श्रेणी में अभ्यस्त शत्रन्तों को छोड़कर अन्य सब शत्रन्त शब्द आ जाते हैं।

(४) अभ्यस्त शत्रन्त । इस श्रेणी मे ददत्, दधत् प्रभृति जुहोत्यादिगण के शत्रन्त तथा जक्षत् आदि अदादिगण के सात शत्रन्त सम्मिलित हैं।

बालकों के अभ्यासार्थ कुछ तकारान्त शब्द नीचे सार्थ लिखे जाते हैं। इन के आगे १, २, ३, ४ के अङ्क इन की उपर्युक्त श्रेणी के बोधक हैं—

१ विद्यावत् (२) = विद्वान्	१३ विचारवत् (२) = विचार वाला
२ पचत् (३) = पकाता हुआ	१४ मधुमत् (२) = मिठासयुक्त, मीठा
३ वेविषत् (४) = व्याप्त होता हुआ	१५ सुमहत् (१) = बहुत बडा
४ चकासत् (४) = चमकता हुआ।	१६ जुह्वत् (४) = होम करता हुआ
५ भक्तिमत् (२) = भक्तिवाला, भक्त	१७ भूतवत् (२) = हो चुका हुआ
६ महत् (१) = बडा	१८ पृच्छत् (३) = पूछता हुआ
७ नेनिजत् (४) = शुद्ध करता हुआ	१९ शासत् (४) = शासन करता हुआ
८ गुणवत् (२) = गुणों वाला, गुणी	२० हतवत् (२) = मार चुका हुआ
९ दरिद्रत् (४) = दरिद्र होता हुआ	२१ जहत् (४) = छोडता हुआ
१० चिन्तयत् (३) = सोचता हुआ	२२ दीव्यत् (३) = चमकता हुआ
११ जाग्रत् (४) = जागता हुआ	२३ वेव्यत् (४) = जाता हुआ
१२ विचारयत् (३) = विचार करता हुआ	२४ सृष्टवत् (२) = पैदा कर चुका हुआ

(यहां तकारान्त पुलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

अभ्यास (४४)

(१) अभ्यस्तसंज्ञा का सूत्र लिख कर इस संज्ञा का प्रयोजन स्पष्ट करें।

(२) जक्षित्यादयः षट् मे षट् कहने पर भी सात धातुएं कैसे हो जाती हैं?

(३) उभे अभ्यस्तम् मे 'उभे' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(४) सर्वनामसंज्ञक भवत् तथा शत्रन्त भवत् शब्दों मे क्या अन्तर है?

(५) तकारान्त पुलिङ्ग चार प्रकार के हैं—सोदाहरण स्पष्ट करें।

(६) भवतु शब्द की सर्वनामसंज्ञा क्यों की जाती है?

(७) जक्षित्यादि सात धातुएं कौन सी हैं?

(८) अनन्तरस्य विधिर्वा० परिभाषा का सोदाहरण विवेचन करें।

(९) सान्तमहतः संयोगस्य और उभे अभ्यस्तम् सूत्रों की व्याख्या करें।

(१०) उभे अभ्यस्तम् सूत्र मे स्वरसन्धि क्यों नहीं हुई?

(११) निम्नलिखित रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें—
भवान्, महान्तौ, धीमन्त, ददतम्, जक्षती।

(१२) प्राणवत्, जाग्रत्, अतिमहत्, बिभ्यत्, अधीतवत्, धनवत्—इन शब्दों की प्रथमा के एकवचन मे साधनप्रक्रिया दर्शाते हुए रूपमाला लिखें।

(१३) नुंम् की अपेक्षा अत्वसन्तस्य० पहले क्यों प्रवृत्त हो जाता है?

——:o:——

[लघु०] गुप्, गुव् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् ॥

व्याख्या—गुप् (रक्षा करने वाला) । गोपायतीति—गुप् । गुपूँ रक्षणे (भ्वा० प०) इत्यस्मात् क्विँप् च (८०२) इति क्विँपि तस्य च सर्वापहारलोपे 'गुप्' इति शब्दः सिध्यति । रूपमाला यथा—

प्र०	गुप्-ब्*	गुपौ	गुपः	पं०	गुपः	गुब्भ्याम्	गुब्भ्यः
द्वि०	गुपम्	,,	गुपः	ष०	,,	गुपोः	गुपाम्
तृ०	गुपा	गुब्भ्याम्‡	गुब्भिः	स०	गुपि	,,	गुप्सु†
च०	गुपे	,,	गुब्भ्यः	सं०	हे गुप्-ब् !	हे गुपौ !	हे गुपः !

*सुँलोप, जश्त्व, चर्त्व । ‡झलां जशोऽन्ते । †जश्त्व, चर्त्व ।

(यहां पकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:o:—

अब शकारान्त पुंलिङ्गों का वर्णन करते है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३४७) **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च** ।३।२।६०॥

त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेः कञ् स्याच्चात् क्विँन् ॥

अर्थः—त्यद् आदि शब्दों के उपपद रहने पर ज्ञानभिन्न अर्थ के वाचक 'दृश्' धातु से कञ् तथा क्विँन् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—त्यदादिषु ।७।३। दृशः ।५।१। अनालोचने ।७।१। कञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । क्विँन् ।१।१। (**स्पृशोऽनुदके क्विँन्** से)। समासः—आलोचनं ज्ञानम्, न आलोचनम्=अनालोचनम्, तस्मिन्=अनालोचने । नञ्तत्पुरुषसमासः । अर्थः—(त्यदादिषु) त्यद् आदि उपपद अर्थात् समीप ठहरने पर (अनालोचने) ज्ञान से भिन्न अर्थ में (दृशः) दृश् धातु से (कञ्) कञ् प्रत्यय (च) तथा (क्विँन्) क्विँन् प्रत्यय होता है ।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद में **धातोः** (७६६) यह अधिकार चलाया गया है । यह अधिकार तृतीयाध्याय की समाप्तिपर्यन्त जाता है । इस अधिकार में सप्तम्यन्त पदों की **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) सूत्र द्वारा उपपदसञ्ज्ञा की जाती है । उपपदसञ्ज्ञा का प्रयोजन **उपपदमतिङ्** (९५४) सूत्र द्वारा समास कर पूर्वनिपात करना है । यह सब समासों में स्पष्ट हो जायेगा । यहां पर 'त्यदादिषु' सप्तम्यन्त होने से उपपद है ।

तादृश् (उसके समान दिखाई देने वाला अर्थात् वैसा)। स इव पश्यतीति विग्रहः । कर्मकर्त्तरि प्रयोगः । ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । दृशेरत्र ज्ञानविषयत्वापत्तिमात्रवृत्तित्वादज्ञानार्थता । 'तद्'पूर्वक अज्ञानार्थक[1] दृश् (भ्वा० प०) धातु से **त्यदादिषु०** (३४७)

---

१. यहां दृश् धातु का अर्थ देखना नहीं अपितु कर्मकर्तृप्रक्रियावशात् दिखाई देना या दीखना है । 'देखना' ज्ञान है, दीखना नहीं । अतः यह अज्ञानार्थक है । यदि दृश् धातु ज्ञानार्थक होगी तो ये कञ्-क्विँन् न होंगे, तब **कर्मण्यण्** (७९०) से अण्

सूत्र से कञ् और पक्ष में क्विन् प्रत्यय होकर—१ कञ्पक्ष में—तद् दृश्+कञ्[1]=तद् दृश्+अ=तद् दृश। क्विन्-पक्ष में—तद् दृश्+क्विन्=तद् दृश्। अब दोनों पक्षों में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३४८) आ सर्वनाम्नः।६।३।९०॥

सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृशवतुषु। तादृक्, तादृग्। तादृशौ। तादृशः। तादृग्भ्याम्॥

अर्थः—दृश्, दृश या वतु परे हो तो सर्वनाम को आकार अन्तादेश हो।

व्याख्या—दृग्दृशवतुषु।७।३। (दृग्दृशवतुषु मे)। सर्वनाम्नः।६।१। आ।१।१। (छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति इस अतिदेश से यहां सुपां सुलुक्० द्वारा प्रथमा का लुक् हो जाता है)। अर्थः—(दृग्दृशवतुषु) दृश्, दृश या वतु परे होने पर (सर्वनाम्नः) सर्वनाम के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश सर्वनाम के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है।

यहां 'दृग्' से तात्पर्य क्विन्नन्त दृश् से तथा 'दृश' से तात्पर्य कञन्त दृश् से है।

इस सूत्र से दोनों पक्षों में 'तद्' इस सर्वनाम के दकार को आकार हो कर सवर्णदीर्घ करने से कञ्पक्ष में 'तादृश' और क्विन्पक्ष में 'तादृश्' बना। कञ्पक्ष वाले 'तादृश' शब्द का उच्चारण पुंलिङ्ग में 'राम'शब्दवत् होता है। यथा—

प्र०	तादृशः	तादृशौ	तादृशाः	प०	तादृशात्	तादृशाभ्याम्	तादृशेभ्यः
द्वि०	तादृशम्	,,	तादृशान्	ष०	तादृशस्य	तादृशयोः	तादृशानाम्
तृ०	तादृशेन	तादृशाभ्याम्	तादृशैः	स०	तादृशे	,,	तादृशेषु
च०	तादृशाय	,,	तादृशेभ्यः	सं०	हे तादृश!	हे तादृशौ!	हे तादृशाः!

सम्बोधन का प्रयोग प्रायः नहीं देखा जाता। इसी प्रकार—१. यादृश=जैसा। २. एतादृश=ऐसा। ३. त्वादृश=तुझ जैसा। ४. मादृश=मुझ जैसा। ५. अस्मादृश=हम जैसा। ६. युष्मादृश=तुम सब जैसा। ७. भवादृश=आप जैसा। ८. कीदृश[2]=कैसा। ९. ईदृश=ऐसा। इत्यादि शब्दों के कञ्पक्ष में रूप बनते हैं[3]।

'तादृश्' यहां क्विन्नन्तपक्ष में प्रक्रिया यथा—'तादृश्+स्' यहां सुं लोप हो कर

प्रत्यय होगा। यथा—तम्पश्यतीति तद्दर्शः। यहां अण् परे रहते लघूपधगुण हो कर उपपदसमास हो जाता है।

१. कञ् में ककार की लशक्वतद्धिते (१३६) से तथा ञकार की हलन्त्यम् (१) से इत्संज्ञा हो जाती है। 'अ' मात्र शेष रहता है। क्विन् प्रत्यय का पूर्वोक्तरीत्या सर्वापहारलोप हो जाता है।

२. इदंकिमोरीश्की (११६७) सूत्र से इदम् को 'ईश्' तथा किम् को 'की' आदेश।

३. स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ्० (१२४७) से ङीप् हो कर 'नदी' की तरह तथा नपुंसक में 'ज्ञान' की तरह रूप होंगे। वत्वन्त में आत्व के उदाहरण—'यावत्, तावत्, एतावत्' आदि समझने चाहियें।

क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) सूत्र के असिद्ध होने से **व्रश्च-भ्रस्ज०** (३०७) सूत्र द्वारा शकार को षकार हो जाता है—तादृष्। **झलां जशोऽन्ते** (६७) से षकार को डकार तथा **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) से डकार को गकार हो कर—'तादृग्'। अब **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर—'तादृक्, तादृग्' ये दो रूप बनते हैं। क्विन्नन्त 'तादृग्' की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	तादृक्-ग्	तादृशौ	तादृशः	पं०	तादृशः	तादृग्भ्याम्	तादृग्भ्यः
द्वि०	तादृशम्	,,	तादृशः	ष०	,,	तादृशोः	तादृशाम्
तृ०	तादृशा	तादृग्भ्याम्‡	तादृग्भिः	स०	तादृशि	,,	तादृक्षु†
च०	तादृशे	,,	तादृग्भ्यः	सं०	हे तादृक्-ग्!	तादृशौ!	तादृशः!

‡ भ्याम् आदि मे क्रमशः षत्व, डत्व और कुत्व हो जाते हैं।

† षत्व, डत्व और कुत्व हो कर **खरि च** (७४) के असिद्ध होने से प्रथम **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व कर पुनः चर्त्व हो जाता है।

इसी प्रकार—१. यादृश्=जैसा। २. एतादृश्=ऐसा। ३. त्वादृश्=तुझ जैसा। ४. मादृश्=मुझ जैसा। ५. अस्मादृश्=हम जैसा। ६. युष्मादृश्=तुम सब जैसा। ७. भवादृश्=आप जैसा। ८. कीदृश्=कैसा। ९. ईदृश्=ऐसा। इत्यादि क्विन्नन्त शब्दों के रूप बनते हैं। स्त्रीलिङ्ग में भी क्विन्-प्रत्ययान्तों के इसी प्रकार रूप बनते हैं। नपुंसक में प्रथमा-द्वितीया को छोड़ कर इसी तरह।

[लघु०] व्रश्च० (३०७) इति षः। जश्त्व-चर्त्वे। विट्, विड्। विशौ। विशः। विड्भ्याम्॥

व्याख्या—विश्=वैश्य अथवा प्रजा। **विश प्रवेशने** (तुदा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने से 'विश्' शब्द निष्पन्न होता है।

विश्+स्। सुँलोप, **व्रश्च-भ्रस्ज०** (३०७) से शकार को षकार, जश्त्व से षकार को डकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) द्वारा वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने पर 'विट्, विड्' दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	विट्,-ड्	विशौ	विशः	पं०	विशः	विड्भ्याम्	विड्भ्यः
द्वि०	विशम्	,,	,,	ष०	,,	विशोः	विशाम्
तृ०	विशा	विड्भ्याम्*	विड्भिः	स०	विशि	,,	विट्त्सु,-ट्सु†
च०	विशे	,,	विड्भ्यः	सं०	हे विट्,-ड्!	हे विशौ!	हे विशः!

* **व्रश्च०** (३०७) द्वारा षत्व तथा **झलां जशोऽन्ते** (६७) से डत्व होता है।

† षत्व, डत्व तथा धुट्प्रक्रिया (८४)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(३४९) नशेर्वा ।८।२।६३॥**

नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात् पदान्ते। नक्, नग्। नट्, नड्। नशौ। नशः। नग्भ्याम्, नड्भ्याम्॥

अर्थः—पदान्त में नश् शब्द को विकल्प कर के कवर्ग अन्तादेश होता है।

व्याख्या—नशेः ।६।१। वा इत्यव्ययपदम् । कुः ।१।१। (क्विन्प्रत्ययस्य कुः से)। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अन्ते ।७।१। (स्कोः संयोगाद्योरन्ते च से)। अर्थः—(नशेः) नश् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (कुः) कवर्ग आदेश होता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होगा।

नश् (नाश होने वाला, नश्वर)। णश अदर्शने (दिवा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'नश्' शब्द निष्पन्न होता है। नश्यतीति नक्।

नश्+स्। सुँलोप होकर नशेर्वा (८.२.६३) के असिद्ध होने से व्रश्च-भ्रस्ज० (८.२.३६) द्वारा शकार को षकार तथा झलां जशोऽन्ते (६७) से षकार को डकार हो कर—नड्। अब एक पक्ष में नशेर्वा (३४९) से कवर्ग—गकार हो जाता है, तब वैकल्पिक चर्त्व करने पर—'नक्, नग्'। दूसरे पक्ष में केवल चर्त्व करने में—'नट्, नड्'। इस प्रकार चार प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्रथमा	नक्, नग्, नट्, नड्	नशौ	नशः
द्वितीया	नशम्	,,	,,
तृतीया	नशा	नग्भ्याम्, नड्भ्याम्*	नग्भिः, नड्भिः*
चतुर्थी	नशे	,, ,,	नग्भ्यः, नड्भ्यः*
पञ्चमी	नशः	,, ,,	,, ,,
षष्ठी	,,	नशोः	नशाम्
सप्तमी	नशि	,,	नक्षु, नट्त्सु, नट्सु†
सम्बोधन	हे नक्, नग्, नट्, नड्!	हे नशौ!	हे नशः!

* षत्वे, जश्त्वेन डत्वे, नशेर्वा (३४९) इति विकल्पेन कुत्वे रूपद्वयम्।

† षत्वे डत्वे वा कुत्वम्। कुत्वे चर्त्वं कुत्वाभावे धुँट्प्रक्रियाविकल्पः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३५०) **स्पृशोऽनुदके क्विन्** ।३।२।५८॥

अनुदके सुँप्युपपदे स्पृशेः क्विन्। घृतस्पृक्, घृतस्पृग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृशः॥

अर्थः—'उदक' शब्द से भिन्न अन्य सुँबन्त उपपद हो तो 'स्पृश्' धातु से परे क्विन् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—स्पृशः ।५।१। अनुदके ।७।१। क्विन् ।१।१। सुँपि ।७।१। (सुँपि स्थः से)। अर्थः—(अनुदके) उदकभिन्न[1] (सुँपि) सुँबन्त उपपद हो तो (स्पृशः) स्पृश् धातु से परे (क्विन्) क्विन् प्रत्यय होता है।

---

१ यदि 'उदक' उपपद हो तो स्पृश् से क्विन् नहीं होगा, किन्तु कर्मण्यण् (७९०) द्वारा सामान्यविहित अण् प्रत्यय होकर 'उदकस्पर्शः' बन जायगा। यद्यपि 'उदक' उपपद होने पर क्विप् प्रत्यय करने से भी 'उदकस्पृश्' शब्द निष्पन्न हो सकता है और क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) में बहुव्रीहिसमास के आश्रयण से कुत्व भी हो

घृतस्पृश् (घी को छूने वाला) । घृतं स्पृशतीति घृतस्पृक् । यहां स्पृश् (तुदा० प०) धातु के उपपद में 'उदक' शब्द नहीं है किन्तु 'घृत' सुँबन्त है, अतः **स्पृशोऽनुदके क्विँन्** (३५०) से क्विँन्प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा उपपदसमास करने से 'घृतस्पृश्' शब्द निष्पन्न होता है ।

घृतस्पृश्+स् । सुँलोप, **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से शकार को षकार, **झलां जशोऽन्ते** (६७) से षकार को डकार, **क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) से डकार को गकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-ककार करने पर—'घृतस्पृक्, घृतस्पृग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	घृतस्पृक्-ग्	घृतस्पृशौ	घृतस्पृशः	पं० घृतस्पृशः	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
द्वि०	घृतस्पृशम्	,,	,,	ष० ,,	घृतस्पृशोः	घृतस्पृशाम्
तृ०	घृतस्पृशा	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भिः	स० घृतस्पृशि	,,	घृतस्पृक्षु
च०	घृतस्पृशे	,,	घृतस्पृग्भ्यः	सं० हे घृतस्पृक्-ग्!	घृतस्पृशौ!	घृतस्पृशः!

भ्याम् आदियों में क्रमशः षत्व, डत्व और कुत्व हो जाता है ।

इसी प्रकार—मन्त्रस्पृश्, जलस्पृश्, तृणस्पृश्, वारिस्पृश्, स्पृश् (यह क्विँबन्त है, यहां भी 'क्विँन्प्रत्ययो यस्मात्' इस प्रकार बहुव्रीहि के आश्रयण से कुत्व हो जाता है) आदि शब्दों के रूप बनते हैं ।

(यहां शकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है ।)

अब षकारान्त पुंल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] दधृक्, दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् ॥

व्याख्या—'दधृष्' शब्द **ऋत्विग्दधृक्०** (३०१) सूत्र द्वारा **ञिधृषा** (स्वा० प०) धातु से क्विँन्नन्त निपातित होता है ।

दधृष्+स् । सुँ-लोप, जश्त्व से डकार, **क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) से गकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से ककार होकर—'दधृक्, दधृग्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

दधृष् (तिरस्कार करने वाला) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दधृक्-ग्	दधृषौ	दधृषः	पं० दधृषः	दधृग्भ्याम्	दधृग्भ्यः
द्वि०	दधृषम्	,,	,,	ष० ,,	दधृषोः	दधृषाम्
तृ०	दधृषा	दधृग्भ्याम्†	दधृग्भिः	स० दधृषि	,,	दधृक्षु
च०	दधृषे	,,	दधृग्भ्यः	सं० हे दधृक्-ग्!	हे दधृषौ!	हे दधृषः!

† क्रमशः जश्त्व से डकार और कुत्व से गकार हो जाता है ।

सकता है तथापि 'अनुदके' कथन के कारण क्विँप् भी नहीं होता, ऐसा काशिकाकार आदि प्राचीन वैयाकरणों का मत है; परन्तु नव्य लोगों का कथन है कि क्विँप् प्रत्यय तो हो जाता है परन्तु 'अनुदक' कथन के सामर्थ्य से कुत्व नहीं होता । अतः क्विँबन्त के 'उदकस्पृट्' आदि रूप बनते हैं ।

[लघु०] रत्नमुट्, रत्नमुड् । रत्नमुपौ । रत्नमुड्भ्याम् ॥

व्याख्या—**रत्नमुष्** (रत्न चुराने वाला)। रत्नानि मुष्णातीति रत्नमुट्। रत्नकर्म के उपपद होने पर **मुष स्तेये** (क्र्या० प०) धातु से क्विंप् प्रत्यय करने पर उपपदसमास होकर 'रत्नमुष्' शब्द निष्पन्न होता है। यह क्विन्नन्त नहीं अतः **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) द्वारा कुत्व नहीं होता।

रत्नमुष्+स्। सुंलोप, जश्त्व से डकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से टकार हो कर—'रत्नमुट्, रत्नमुड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	रत्नमुट्-ड्	रत्नमुषौ	रत्नमुषः	प०	रत्नमुषः	रत्नमुड्भ्याम्	रत्नमुड्भ्यः
द्वि०	रत्नमुषम्	,,	,,	ष०	,,	रत्नमुषोः	रत्नमुषाम्
तृ०	रत्नमुषा	रत्नमुड्भ्याम्	रत्नमुड्भिः	स०	रत्नमुषि	,,	रत्नमुट्त्सु,-ट्सु
च०	रत्नमुषे	,,	रत्नमुड्भ्यः	सं०	हे रत्नमुट्-ड्!	रत्नमुषौ!	रत्नमुषः!

भ्याम् आदियों में **झलां जशोऽन्ते** (६७) से जश्त्व-डकार हो जाता है।

[लघु०] षट्, षड् । षड्भिः । षड्भ्यः । षण्णाम् । षट्त्सु, षट्सु ॥

व्याख्या—**षो अन्तकर्मणि** (दिवा० प०) धातु से **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (६.३.१०८) द्वारा 'षष्' (छः) शब्द निष्पन्न होता है। यह नित्य बहुवचनान्त है।

षष्+अस् (जस् वा शस्)। **ष्णान्ता षट्** (२६७) से षट्सञ्ज्ञा हो कर **षड्भ्यो लुक्** (१८८) से जस् वा शस् का लुक् हो जाता है। अब **झलां जशोऽन्ते** (६७) से जश्त्व डकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व टकार हो कर—'षट्, षड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

भिस् वा भ्यस् में जश्त्व हो जाता है—षड्भिः, षड्भ्यः।

षष्+आम्। षट्सञ्ज्ञा हो कर **षट्चतुर्भ्यश्च** (२६६) सूत्र से आम् को नुंट् का आगम हो जाता है—षष्+नाम्। अब 'आम्' अजादि नहीं रहा अतः भसञ्ज्ञा न हुई, **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पदसञ्ज्ञा हो कर **झलां जशोऽन्ते** (६७) से जश्त्व—डकार, **ष्टुना ष्टुः** (६४) से नकार को णकार तथा **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) से डकार को भी णकार करने पर 'षण्णाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां पदान्त होने पर भी **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) सूत्र से ष्टुत्व का निषेध नहीं होता, क्योंकि उस में 'अनाम्' कह कर 'नाम्' के विषय में छूट दे दी गई है।

षष्+सु(सुप्) यहां पदान्त में जश्त्व—डकार हो कर **डः सि धुंट्** (८४) से वैकल्पिक धुंट् आगम तथा **खरि च** (७४) से यथासम्भव दोनों पक्षों में चर्त्व करने से—'षट्त्सु, षट्सु' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	षट्, षड्	प०	०	०	षड्भ्यः
द्वि०	०	०	,, ,,	ष०	०	०	षण्णाम्
तृ०	०	०	षड्भिः	स०	०	०	षट्त्सु षट्सु
च०	०	०	षड्भ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

ध्यान रहे कि 'पष्' शब्द षट्सञ्ज्ञक होने से तीनों लिङ्गों में एक समान है।

पिपठिष् (पढ़ने की इच्छा करने वाला)। पठितुमिच्छतीति—पिपठीः। पठ **व्यक्तायां वाचि** (भ्वा० प०) धातु से सन्प्रत्यय, द्वित्व, अभ्यासकार्य, अभ्यास को इकारादेश, इट् आगम तथा **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से सकार को षकार हो कर—'पिपठिष'। अब **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) सूत्र से धातुसञ्ज्ञा कर क्विँप्प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा **अतो लोपः** (४७०) से अकार का भी लोप करने पर—'पिपठिष्' शब्द निष्पन्न होता है। कृदन्त होने से इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

पिपठिष्+स्। हल्ङ्याब्भ्यः० (१७६) से सुँलोप हो कर—'पिपठिष्'। अब यहां पदान्त में षकार को रुँत्व करना है परन्तु **ससजुषो रुँः** (१०५) द्वारा पदान्त सकार को ही रुँत्व हो सकता है षकार को नहीं, तो यहां कैसे उस की प्रवृत्ति हो? इस शङ्का को मन में रख कर इस का समाधान करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[लघु०] रुँत्वं प्रति षत्वस्याऽसिद्धत्वात् ससजुषो रुँः (१०५) इति रुँत्वम्॥

अर्थः—रुँत्वविधि के प्रति षत्वविधि असिद्ध है अतः **ससजुषो रुँः** (१०५) से रुँ आदेश हो जायेगा।

व्याख्या—**ससजुषो रुँः** (८.२.६६) की दृष्टि में **आदेशप्रत्यययोः** (८.३.५९) सूत्र त्रिपादी में पर होने के कारण **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) द्वारा असिद्ध है अतः उस के किये षकार को वह सकार ही देखता है। इस से 'पिपठिष्' यहां पदान्त में **ससजुषो रुँः** (१०५) की प्रवृत्ति हो कर—पिपठिरुँ='पिपठिर्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३५१) **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** ।८।२।७६॥

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्यात् पदान्ते। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठीर्भ्याम्॥

अर्थः—पदान्त में रेफान्त और वकारान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ हो।

व्याख्या—र्वोः ।६।२। (धातोः का विशेषण होने से तदन्तविधि हो जाती है)। धातोः ।६।१। (**सिपि धातो रुँर्वा** से)। उपधायाः ।६।१। इकः ।६।१। दीर्घः ।१।१। पदस्य ।६।१। (अधिकृत है)। अन्ते ।७।१। (**स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से)। समासः—र् च व् च—र्वौ, तयोः=र्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(र्वोः) रेफान्त और वकारान्त (धातोः=धात्वोः) धातुओं की (उपधायाः) उपधा के (इकः) इक् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में।

'पिपठिर्' यहां रेफान्त धातु है अतः पदान्त में प्रकृतसूत्र से इस की उपधा ठकारोत्तर इकार को दीर्घ कर—पिपठीर्। अब रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—'पिपठीः' प्रयोग सिद्ध होता है।

पिपठिष्+औ=पिपठिषौ। इत्यादि।

'पिपठिष्+भ्याम्' । यहा भी रुँत्व तथा दीर्घ हो कर —पिपठीर्भ्याम् ।

'पिपठिष्+सु' (सुप्)। रुँत्व तथा दीर्घ हो कर—पिपठीर्+सु । अब आदेश-प्रत्यययो (१५०) से षत्व तथा खरवसानयोर्विसर्जनीय (६३) से विसर्ग आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं । परन्तु षत्व के असिद्ध होने से प्रथम विसर्ग आदेश हो जाता है—पिपठी सु । पुन वा शरि (१०४) से विकल्प कर के विसर्ग को विसर्ग और पक्ष में विसर्जनीयस्य स (१०३) से सकार आदेश हो जाता है—१ पिपठी सु २ पिपठीस्सु । अब इन दोनो रूपो मे क्रमश विसर्ग और सकार का व्यवधान पडने से ईकार—इण् से परे सकार को आदेशप्रत्यययो (१५०) से षत्व प्राप्त नही हो सकता । इस पर षत्व करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३५२) नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ।८।३।५८॥

एतै प्रत्येक व्यवधानेऽपि इण्कुभ्या परस्य सस्य मूर्धन्यादेश स्यात् । ष्टुत्वेन पूर्वस्य ष —पिपठीष्षु । पिपठी षु ॥

अर्थ —नुम, विसर्जनीय और शर् इन मे किसी एक के व्यवधान होने पर भी इण् कवर्ग से परे सकार को मूर्धन्य आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—इण्को ।५।१। (यह अधिकृत है) । नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये ।७।१। अपि इत्यव्ययपदम् । स ।६।१। (सहे साड. स से) । मूर्धन्य ।१।१। (अपदान्तस्य मूर्धन्य स) । समास —नुम् च विसर्जनीयश्च शर् च=नुम्विसर्जनीयशर , इतरेतरद्वन्द्व । तेषा व्यवाय (व्यवधानम्) =नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाय , तस्मिन् = नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये, षष्ठीतत्पुरुष । यहा भाष्यकार ने प्रत्येक का व्यवधान स्वीकार किया है [प्रत्येक व्यवायशब्द परिसमाप्यत इति भाष्यम्] । अर्थ —(इण्को) इण् प्रत्याहार अथवा कवर्ग से परे (स) स् के स्थान पर (मूर्धन्य) मूर्धन्य आदेश (नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये) नुम्, विसर्ग अथवा शर् इन मे से किसी एक का व्यवधान होने पर (अपि) भी हो जाता है । सकार को मूर्धन्य (मूर्धा स्थान वाला) षकार हो जाता है—यह पीछे आदेशप्रत्यययो. (१५०) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं ।

'पिपठी सु' यहा विसर्ग का व्यवधान तथा 'पिपठीस्सु' यहा शर्-सकार का व्यवधान होने पर भी इण् ईकार से परे दोनो जगह प्रकृतसूत्र से सकार को मूर्धन्य षकार हो जाता है—१ पिपठी षु, २ पिपठीस्षु । अब सकारपक्ष मे ष्टुना ष्टु.(६४) से सकार को षकार होकर—'१ पिपठी षु, २ पिपठीष्षु' इस प्रकार दो रूप निष्पन्न होते हैं । इसकी समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	पिपठी	पिपठिषौ	पिपठिष	प०	पिपठिष	पिपठिषो	पिपठिषाम्
द्वि०	पिपठिषम्	,,	,,	स०	पिपठिषि	,,	पिपठी षु / पिपठीष्षु
तृ०	पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीभि.				
च०	पिपठिषे	,,	पिपठीर्भ्य	स०	हे पिपठी. !	पिपठिषौ !	पिपठिष !
प०	पिपठिष	,,	पिपठीर्भ्य				

—०—

[लघु०] चिकीः । चिकीर्षौ । चिकीर्भ्याम् । चिकीर्षु ॥

व्याख्या—चिकीर्ष् (करने की इच्छा वाला)। कर्तुमिच्छतीति चिकीः। डुकृञ् करणे (तना० उभ०) धातु से धातोः कर्मणः० (७०५) से सन्प्रत्यय, इको झल् (७०६) से कित्त्व के कारण गुणाभाव, अज्झनगमां सनि (७०८) से दीर्घ, ॠत इद्धातोः (६६०) से इत्व, रपर, हलि च (६१२) से उपधादीर्घ, द्वित्व, अभ्यासकार्य, कुहोश्चुः (४५४) से चुत्व तथा आदेशप्रत्यययोः (१५०) से षत्व हो कर—'चिकीर्ष'। अब सनाद्यन्ता धातवः (४६८) से धातुसञ्ज्ञा होकर कर्त्ता में क्विप्, उस का सर्वापहार-लोप तथा अतो लोपः (४७०) से अकार का लोप करने पर—'चिकीर्ष्' शब्द निष्पन्न होता है। कृदन्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर इस से स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

'चिकीर्ष्+स्' यहाँ सुँलोप होकर संयोगान्तस्य लोपः (२०) के प्राप्त होने पर रात्सस्य (२०६) के नियमानुसार सकार का लोप हो जाता है—'चिकीर्'। अब अवसान में खरवसानयोः० (६३) से रेफ को विसर्ग करने पर—'चिकीः' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला यथा—

प्र० चिकीः	चिकीर्षौ	चिकीर्षः	प०	चिकीर्षः	चिकीर्भ्याम्	चिकीर्भ्यः
द्वि० चिकीर्षम्	,,	,,	ष०	,,	चिकीर्षोः	चिकीर्षाम्
तृ० चिकीर्षा	चिकीर्भ्याम्†	चिकीर्भिः	स०	चिकीर्षि	,,	चिकीर्षु*
च० चिकीर्षे	,,	चिकीर्भ्यः	सं०	हे चिकीः !	चिकीर्षौ !	चिकीर्षः !

† यहां पदान्त में रात्सस्य (२०६) के नियमानुसार सकार का लोप हो जाता है। ध्यान रहे कि रात्सस्य (८.२.२४) की दृष्टि में षत्व (८.३.५६) असिद्ध है। वह इसे सकार ही समझता है।

* यहां रोः सुपि (२६८) के नियमानुसार रेफ को विसर्ग आदेश नहीं होता।

अभ्यास (४५)

(१) 'उपपद' किसे कहते हैं? सूत्र बता कर व्याख्यान करें।

(२) स्पृशोऽनुदके क्विन् सूत्र में 'अनुदके' कथन का क्या प्रयोजन है?

(३) 'चिकीर्षौ' में खर् परे होने पर भी रेफ को विसर्ग क्यों नहीं होता?

(४) पिपठिष्, तादृग्, चिकीर्ष्, घृतस्पृग्— शब्दों की प्रकृतिप्रत्ययनिर्देशपुरःसर शब्दनिष्पत्ति करें।

(५) 'चिकीर्ष्+सुप्' यहां षकार में रात्सस्य सूत्र कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

(६) निम्नलिखित रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—
१. षट्। २. यादृक्। ३. नक्। ४. षण्णाम्। ५. दधृग्भ्याम्। ६. घृत-स्पृक्। ७. पिपठीः। ८. विट्। ६. चिकीः। १०. पिपठीष्षु।

(७) नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, र्वोरुपधाया दीर्घ इकः, आ सर्वनाम्नः—इन सूत्रों की सविस्तर व्याख्या करें।

(८) चिकीर्ष्, पिपठिष्, ईदृश्, उदकस्पृग्—शब्दों की रूपमाला लिखें।

(यहां षकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——:॰:——

अब सकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् [1] ॥

व्याख्या—विद ज्ञाने (अदा० प०) धातु से लँट्, उसके स्थान पर शतृ, शप्, उस का लुक् तथा विदेः शतुर्वसुः (८३३) से शतृ को वसु आदेश करने से 'विद्वस्' शब्द निष्पन्न होता है। वसु आदेश में उकार की इत्सञ्ज्ञा होती है अतः 'विद्वस्' शब्द उगित है। यह शब्द विशेष्यनिघ्न के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। यहां पुंलिङ्ग में इस के रूप दर्शाए जायेंगे।

विद्वस्+स। उगित होने से उगिदचाम्० (२८९) द्वारा नुँम् आगम, सान्त-महतः संयोगस्य (३४२) से सान्तसंयोग के नकार की उपधा को दीर्घ होकर—विद्वान्स्+स। अब सुँलोप तथा संयोगान्तस्य लोपः (२०) से संयोगान्तलोप करने से 'विद्वान्' प्रयोग सिद्ध होता है। संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता। किञ्च सान्त वस्वन्त न होने से वसुँस्रंसुँध्वंस्वनडुहां दः (२६२) द्वारा दत्व भी नहीं होता।

'विद्वस्+औ'। नुँम् आगम तथा सान्तमहतः०(३४२)से दीर्घ हो—विद्वान्स्+औ। नश्चाऽपदान्तस्य झलि (७८) से नकार को अनुस्वार करने पर 'विद्वांसौ' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यय् परे न होने से अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (७९) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। कई लोग 'विद्वांसौ' वा 'विद्वान्सौ' लिखते हैं—वे ठीक नहीं। इसी प्रकार—'विद्वांसः' आदि बनते हैं।

विद्वस्+अस् (शस्)। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३५३) वसोः सम्प्रसारणम् ।६।४।१३१॥

वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात्। विदुषः। वसुँस्रंसुँ० (२६२) इति दः—विद्वद्भ्याम् ॥

अर्थः—वसुँप्रत्ययान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण हो जाता है।

व्याख्या—वसोः ।६।१। (भस्य का विशेषण होने से अथवा प्रत्यय होने से तदन्तविधि हो जाती है)। भस्य ।६।१। (अधिकृत है)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। सम्प्रसारणम् ।१।१। अर्थः—(वसोः=वस्वन्तस्य) वसुँप्रत्ययान्त (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है।

विद्वस्+अस्। यहां 'विद्वस्' यह वसुँप्रत्ययान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग है अतः इस के द्वितीय वकार [न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् (२९१) का ध्यान कर लें] को उकार सम्प्रसारण होकर—विदु अस्+अस्। सम्प्रसारणाच्च(२५८)से पूर्वरूप तथा आदेश-प्रत्यययोः (१५०)[1] से प्रत्यय के सकार को षकार करने पर—विदुषस्='विदुषः'

1. ऋग्वेद (१२५६) के भाष्य में सायणमाधव ने 'दाशुषे' प्रयोग में शासि वसि-घसीनां च (५५४) से षत्व किया है, पर यह ठीक नहीं। पूर्वोत्तरसाहचर्य से

प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार आगे भी अजादि विभक्तियों में प्रक्रिया होती है।

'विद्वस्+भ्याम्' यहां वसुंस्रंसुं० (२६२) से पदान्त सकार को दकार होकर—विद्वद्भ्याम्। इसीप्रकार अन्य हलादि विभक्तियों में भी।

हे विद्वस्+स्। यहां नुँम्, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप करने से—हे विद्वन्। सम्बुद्धि परे होने से सान्तमहतः० (३४२) से दीर्घ न होगा।

विद्वस् (विद्वान्) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः	पं०	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
द्वि०	विद्वांसम्	,,	विदुषः	ष०	,,	विदुषोः	विदुषाम्
तृ०	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः	स०	विदुषि	,,	विद्वत्सु
च०	विदुषे	,,	विद्वद्भ्यः	सं०	हे विद्वन्!	हे विद्वांसौ!	हे विद्वांसः!

इसीप्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द	अर्थ	प्रत्यय	शस् का रूप
१. ऊषिवस्	रह चुका	क्वसुँ	ऊषुषः[1]
२. तस्थिवस्	ठहर चुका	,,	तस्थुषः
३. सेदिवस्	गमन कर चुका	,,	सेदुषः
४. प्रसेदिवस्	प्रसन्न हो चुका	,,	प्रसेदुषः
५. निषेदिवस्	बैठ चुका	,,	निषेदुषः
६. निपेतिवस्	गिर चुका	,,	निपेतुषः
७. ददिवस्	दे चुका	,,	ददुषः
८. शुश्रुवस्	सुन चुका	,,	शुश्रुवुषः[2]
९. उपेयिवस्	प्राप्त कर चुका	,,	उपेयुषः
१०. अनाश्वस्	भोजन न कर चुका	,,	अनाशुषः
११. दाश्वस्	दे चुका	,,	दाशुषः
१२. अधिजग्मिवस्	प्राप्त कर चुका	,,	अधिजग्मुषः

इस सूत्र में 'वस्' धातु ही इष्ट है आदेश वा प्रत्यय नहीं। अतः यहां आदेशप्रत्यययोः (१५०) से ही षत्व करना चाहिये।

१. इन में यथासम्भव प्राप्त इट् आगम भसञ्ज्ञकों में प्रवृत्त नहीं होता। अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः (प०) अर्थात् इस व्याकरण शास्त्र में निमित्त को विनाशोन्मुख देख कर तत्प्रयुक्त कार्य नहीं करना चाहिये। जब 'वसुँ' प्रत्यय, भसञ्ज्ञकों में वकार को सम्प्रसारण हो जाने से वलादि ही नहीं रहता तब तत्प्रयुक्त कार्य वलादिलक्षण इट् आगम भी नहीं होता।

२. शुश्रुवस्+अस् (शस्) में सम्प्रसारण और पूर्वरूप हो कर 'शुश्रुउस्+अस्' इस दशा में अचि श्नु० (१९९) से धातु के उकार को उवँङ् हो जाता है।

ईयसुँन्प्रत्ययान्तों के रूप भी प्रायः 'विद्वस्' शब्द की तरह होते हैं। केवल शसादियों में सम्प्रसारणकार्य्य तथा भ्याम् आदि में दत्व नहीं होता। निदर्शनार्थ 'श्रेयस्' (दोनों में अधिक अच्छा) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	श्रेयान्	श्रेयांसौ	श्रेयांसः	प०	श्रेयसः	श्रेयोभ्याम्	श्रेयोभ्यः
द्वि०	श्रेयांसम्	"	श्रेयसः	ष०	"	श्रेयसोः	श्रेयसाम्
तृ०	श्रेयसा	श्रेयोभ्याम्‡	श्रेयोभिः	स०	श्रेयसि	"	श्रेयःसु, -स्सु†
च०	श्रेयसे	"	श्रेयोभ्यः	सं०	हे श्रेयन्!	श्रेयांसौ!	श्रेयांसः!

‡ ससजुषो रुः (१०५), हशि च (१०७)। † वा शरि (१०४)।

इसीप्रकार निम्नस्थ ईयसुँन्प्रत्ययान्त शब्दों के रूप बनते हैं—

१ अणीयस् = दोनों में अधिक सूक्ष्म
२ अल्पीयस् = दोनों में अधिक थोड़ा
३. ऋजीयस् = दोनों में अधिक सरल
४. कनीयस् = दोनों में अधिक युवा / दोनों में अधिक छोटा
५ क्रशीयस् = दोनों में अधिक कृश
६ क्षेपीयस् = दोनों में अधिक तेज
७ क्षोदीयस् = दोनों में अधिक क्षुद्र
८ गरीयस् = दोनों में अधिक भारी
९. जवीयस् = दोनों में अधिक वेगवान्
१०. ज्यायस् = दोनों में अधिक प्रशस्य / दोनों में अधिक वृद्ध
११ दवीयस् = दोनों में अधिक दूर
१२ द्रढीयस् = दोनों में अधिक दृढ
१३ द्राघीयस् = दोनों में अधिक दीर्घ
१४ घनीयस् = दोनों में अधिक घनी
१५ नेदीयस् = दोनों में अधिक निकट
१६ पटीयस् = दोनों में अधिक चतुर
१७ पापीयस् = दोनों में अधिक पापी
१८ प्रथीयस् = दोनों में अधिक विस्तृत
१९ प्रेयस् = दोनों में अधिक प्रिय
२०. बलीयस् = दोनों में अधिक बलवान्
२१ भूयस् = दोनों में अधिक मात्रा वाला
२२ महीयस् = दोनों में अधिक बड़ा
२३. म्रदीयस् = दोनों में अधिक मृदु
२४ यवीयस् = दोनों में अधिक युवा
२५ लघीयस् = दोनों में अधिक छोटा
२६. वरीयस् = दोनों में अधिक विशाल
२७. साधीयस् = दोनों में अधिक अच्छा
२८. स्थवीयस् = दोनों में अधिक स्थूल
२९. स्थेयस् = दोनों में अधिक स्थिर
३०. ह्रसीयस् = दोनों में अधिक छोटा

नोट—जब ईयसुँन्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में आते हैं तब उगितश्च (१२४६) से ङीप् प्रत्यय होकर—श्रेयसी, अल्पीयसी, कनीयसी, प्रभृति शब्द बन जाते हैं। वसुँ-प्रत्ययान्तों में भी स्त्रीत्व में ङीप् होता है परन्तु सम्प्रसारण विशेष होता है। यथा—विदुषी, ऊपुषी आदि। इन सब का उच्चारण नदीशब्दवत् समझना चाहिये। नपुंसक में वस्वन्तों को पदान्त में दत्व होगा—विद्वत्, विदुषी, विद्वांसि आदि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३५४) पुंसोऽसुँङ् ।७।१।८९॥

सर्वनामस्थाने विवक्षिते पुंसोऽसुँङ् स्यात्। पुमान्। हे पुमन्। पुमांसौ। पुंसः। पुम्भ्याम्। पुंसु॥

अर्थः—सर्वनामस्थान की विवक्षा हो तो 'पुंस्' को असुँङ् आदेश होता है।

व्याख्या—सर्वनामस्थाने ।७।१। (इतोऽत्सर्वनामस्थाने से)। पुंसः ।६।१।

असुँङ् ।१।१। 'सर्वनामस्थाने' में परसप्तमी मानने से 'परमपुमान्' यहां अनिष्ट स्वर प्राप्त होता है । अतः विषय-सप्तमी मान कर 'विवक्षिते' का अध्याहार कर लेते हैं । अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान विवक्षित होने पर (पुंसः) पुंस् शब्द के स्थान पर (असुँङ्) असुँङ् आदेश हो जाता है ।

सर्वनामस्थान (सुँ, औ, जस्, अम्, औट्) लाने से पूर्व उस के लाने की इच्छा-मात्र होने पर ही असुँङ् आदेश हो जाता है । असुँङ् ङित् है, अतः वह **ङिच्च** (४६) द्वारा 'पुंस्' के अन्त्य अल्-सकार के स्थान पर होता है ।

पुंस् (पुरुष)। **पूञ् पवने** (क्र्या० उभ०) धातु से **पूञो डुम्सुँन्**[1] (उणा० ६१८) द्वारा 'डुम्सुँन्' प्रत्यय हो कर **उणादयो बहुलम्** (८४८) सूत्र में बहुलग्रहणसामर्थ्य से **आदिर्ञिटुडवः** (४६२) द्वारा डु की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु **चुटू** (१२९) से केवल डकार की ही इत्सञ्ज्ञा होकर उस का तथा उँन् अनुबन्ध का लोप करने से—पू+उम्स् । डित्त्वकरणसामर्थ्य से टि का भी लोप हो कर—प्+उम्स्=पुम्स् । अब **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) द्वारा अपदान्त मकार को अनुस्वार करने पर 'पुंस्' शब्द निष्पन्न होता है ।

अब 'सुँ' सर्वनामस्थान करने की इच्छामात्र में, प्रत्यय करने से पूर्व ही **पुंसोऽसुँङ्** (३५४) द्वारा सकार को असुँङ् आदेश होने पर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** से अनुस्वार भी अपने पूर्वस्वरूप मकार में परिणत हुआ—पुमस् । अब सुँप्रत्यय लाने पर **उगिदचाम्०** (२८९) से नुँम्, अनुबन्धलोप, **सान्तमहत०** (३४२) से दीर्घ, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप होकर—'पुमान्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

सम्बुद्धि में केवल **सान्तमहतः०** (३४२) से दीर्घ नहीं होता शेष सब प्रक्रिया सुँप्रत्ययवत् जानें—हे पुमन्! ।

पुंस्+औ=पुमस्+औ । नुँम्, दीर्घ तथा अनुस्वार होकर—पुमांसौ । इसी प्रकार अन्य सर्वनामस्थान प्रत्ययों में भी जान लें ।

अब आगे शसादि विभक्तियों की विवक्षा में असुँङ् न होगा । पुंस्+अस् (शस्)=पुंसः ।

पुंस्+भ्याम् । यहां **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्त[2] सकार का लोप होकर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्यायानुसार अनुस्वार पुनः मकाररूप में परिणत हो जाता है—पुम्+भ्याम् । अब **मोऽनुस्वारः** (७७) से पदान्त मकार को

---

१. 'पातेर्डुम्सुँन्' इति पाठान्तरम् । सूतेः सस्य पः ह्रस्वो म्सुँन्प्रत्यय इति स्त्रियामिति सूत्रे भाष्य उक्तम् । न्यासे तु—'पुनातेर्मक्सुँन् ह्रस्वश्चे'ति पठितम् । उपेयप्रति-पत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिता इति तत्त्वम् ।

२. अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय) की गणना अट्-प्रत्याहार तथा शर्प्रत्याहार में भाष्यकार ने स्वीकार की है । इस से अनुस्वार को हल् मान कर **हलोऽनन्तराः संयोगः** (१३) से संयोगसञ्ज्ञा हो जाती है ।

अनुस्वार तथा वा पदान्तस्य(८०) द्वारा उसे विकल्प करके परसवर्ण—मकार करने से—'पुम्भ्याम्, पुंभ्याम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

पुम्+सुप्। संयोगान्तलोप, अनुस्वार की मकाररूप में परिणति तथा मोऽनुस्वारः (७७) से अनुस्वार होकर 'पुंसु'। यहां यय् परे न रहने से वा पदान्तस्य(८०) प्रवृत्त नहीं होता[1]। 'पुंस्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	पुमान्	पुमांसौ	पुमांसः	पं०	पुंसः	पुम्भ्याम्	पुम्भ्यः
द्वि०	पुमांसम्	,,	पुंसः	ष०	,,	पुंसोः	पुंसाम्
तृ०	पुंसा	पुम्भ्याम्†	पुम्भिः	स०	पुंसि	,,	पुंसु
च०	पुंसे	,,	पुम्भ्यः	सं०	हे पुमन्!	हे पुमांसौ!	हे पुमांसः!

† भ्याम्, भिस् और भ्यस् में अनुस्वारपक्षीय रूप भी न भूलें।

[लघु०] ऋदुशनस्० (२०५) इत्यनङ्। उशना। उशनसौ॥

व्याख्या—उशनस् (शुक्राचार्य्य)। शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः—इत्यमरः। वश कान्तौ(अदा० प०) धातु से वशेः कनसिः (उणा० ६७८) द्वारा 'कनसि' प्रत्यय तथा ग्रहिज्या० (६३४) से सम्प्रसारण और सम्प्रसारणाच्च(२५८) से पूर्वरूप होकर 'उशनस्' शब्द निष्पन्न होता है।

उशनस्+सुँ। यहां ऋदुशनस्० (२०५) सूत्र से सकार को अनँङ् आदेश होकर अङ् अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर—उशन अन्+स्। अतो गुणे (२७४) से पररूप हो—उशनन्+स्। सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ(१७७) से नान्त की उपधा को दीर्घ हो—उशनान्+स्। हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) सूत्र से सुँलोप तथा न लोपः० (१८०) से नकार का भी लोप होकर—'उशना' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार उशनस्+औ=उशनसौ। इत्यादि।

हे उशनस्+स्। यहां अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(२८) अस्य सम्बुद्धौ वाऽनँङ् नलोपश्च वा वाच्यः॥

हे उशन!, हे उशनन्!, हे उशनः!। हे उशनसौ!। उशनोभ्याम्। उशनःसु, उशनस्सु॥

अर्थ—सम्बुद्धि परे होने पर उशनस् शब्द के सकार को विकल्प से अनँङ् आदेश हो तथा नकार का लोप भी विकल्प से हो।

---

१. जनश्रुति है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य के मुख से एक बार पण्डितसभा में 'पुंसु' के स्थान पर 'पुंक्षु' प्रयोग उच्चरित हो गया। पण्डितों ने इस पर उन का बहुत उपहास किया। इस उपहास से खिन्न हो कर उन्होंने 'पुंक्षु' प्रयोग की साधुता के लिये सरस्वती देवी की कृपा से अपना नया व्याकरण(सारस्वतव्याकरण) रचा। इस में उन्होंने असम्भवे पुंसः कक् सौ सूत्र बना कर सप्तमीबहुवचन के परे रहते पुंस् के अन्त में कक् का आगम कर संयोगमध्यगत सकार का किसी तरह लोप कर 'पुंक्षु' की सिद्धि दर्शाई है।

व्याख्या—सम्बुद्धि में 'हे उशनस्+स्' यहां प्रकृतवार्त्तिक से उशनस् के सकार को विकल्प कर के अनँङ् आदेश हो कर अनँङ्पक्ष में अनुबन्धलोप, पररूप, सुँलोप तथा नकार का वैकल्पिक लोप करने से—'हे उशन, हे उशनन्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। अनँङ् के अभाव में सुँलोप, रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—'हे उशनः' यह एक रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार कुल मिला कर सम्बुद्धि में तीन रूप बनते हैं—

अनँङ्पक्षे (नकारलोपे)	(१) हे उशन !
,, (नकारलोपाऽभावे)	(२) हे उशनन्!
अनँङोऽभावे	(३) हे उशनः!

काशिका में यहां एक सुन्दर प्राचीन श्लोक दिया हुआ है—

सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः॥

नोट—यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि इस वार्त्तिक का उल्लेख महाभाष्य में कहीं नहीं आया। कौमुदीकार ने काशिका का भावानुवाद प्रस्तुत किया प्रतीत होता है। अत एव कई लोग इसे प्रमाण नहीं मानते।

उशनस्+भ्याम्। यहां पदान्त में ससजुषो रुः (१०५) से रुँत्व, हशि च (१०७) से उत्व तथा आद् गुणः (२७) से गुण होकर—उशनोभ्याम्।

उशनस्+सुप्। यहां पदान्त में रुँत्व, खरवसानयोः० (९३) से विसर्ग आदेश हो विसर्जनीयस्य सः (१०३) सूत्र से सकार के प्राप्त होने पर उस के अपवाद वा शरि (१०४) सूत्र से वैकल्पिक विसर्ग आदेश करने से—'उशनःसु, उशनस्सु' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस की रूपमाला यथा—

प्रथमा	उशना	उशनसौ	उशनसः
द्वितीया	उशनसम्	,,	,,
तृतीया	उशनसा	उशनोभ्याम्	उशनोभिः
चतुर्थी	उशनसे	,,	उशनोभ्यः
पञ्चमी	उशनसः	,,	,,
षष्ठी	,,	उशनसोः	उशनसाम्
सप्तमी	उशनसि	,,	उशनःसु, उशनस्सु
सम्बोधन	हे उशन, उशनन्, उशनः!	हे उशनसौ !	हे उशनसः !

[लघु०] अनेहा। अनेहसौ। हे अनेहः ! ॥

व्याख्या—अनेहस्=(समय)। कालो दिष्टोऽप्यनेहापि—इत्यमरः। 'नञ्' उपपद वाली हन हिंसा-गत्योः (अदा० प०) धातु से नञि हन एह च (उणा० ६६३) सूत्र द्वारा 'असिँ' प्रत्यय[1] तथा हन् को 'एह्' आदेश होकर नञ्कार्य करने से—'अनेहस्'

---

१. शेखरकार तथा बालमनोरमाकार का अनेहस् शब्द को असुँन्नन्त लिखना ठीक नहीं, क्योंकि तब उगिदचाम्० (२८९) द्वारा नुँम् प्रसक्त होगा।

शब्द निष्पन्न होता है । इसकी प्रक्रिया भी 'उशनस्' शब्दवत् होती है केवल सम्बुद्धि मे इस का एक रूप बनता है । रूपमाला यथा—

प्र०	अनेहा†	अनेहसौ	अनेहसः	प०	अनेहसः	अनेहोभ्याम्	अनेहोभ्यः
द्वि०	अनेहसम्	,,	,,	ष०	,,	अनेहसोः	अनेहसाम्
तृ०	अनेहसा	अनेहोभ्याम्‡	अनेहोभिः	स०	अनेहसि	,,	अनेहःसु-स्सु*
च०	अनेहसे	,,	अनेहोभ्यः	सं०	हे अनेहः !@	अनेहसौ !	अनेहसः !

†ऋदुशनस्० (२०५) से अनँङ्, अनुबन्धलोप, पररूप, नान्त की उपधा को दीर्घ, सुँलोप तथा नलोप होकर— 'अनेहा' सिद्ध होता है ।

‡ससजुषो रुः (१०५), हशि च (१०७), आद्गुणः (२७) ।

*रुँत्व विसर्ग होकर वा शरि (१०४) प्रवृत्त हो जाता है ।

@सुँलोप, रुँत्व तथा अवसान मे रेफ को विसर्ग हो जाते हैं ।

'अनेहस्' की तरह प्रक्रिया तथा रूपमाला वाला केवल एक ही शब्द है—पुरुदंसस् । इस का वेद मे ही प्रयोग देखा जाता है । इस का अर्थ 'इन्द्र' आदि है । 'बहुत कर्मों वाला' इस अर्थ मे यह विशेषणवाची होने से त्रिलिङ्गी है । इसे वैदिक समझ कर ही कौमुदीकार ने सम्भवतः इस का उल्लेख नही किया ।

[लघु०] वेधाः । वेधसौ । हे वेधः । वेधोभ्याम् ॥

व्याख्या—वेधस् = (ब्रह्मा) । स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा इत्यमरः । विपूर्वक डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहो० उभ०) धातु से विधाञो वेध च (उणा० ६६४) इस औणादिकसूत्र द्वारा 'असिँ' प्रत्यय तथा सोपसर्ग 'धा' को 'वेध्' आदेश होकर 'वेधस्' शब्द निष्पन्न होता है ।

वेधस्+सुँ । अत्वसन्तस्य चाधातोः (३४३) से दीर्घ, हल्ङ्याब्भ्यो०(१७९) से सुँलोप तथा प्रकृति के सकार को रुँत्व विसर्ग करने से—वेधाः ।

अन्य विभक्तियों मे 'अनेहस्' की तरह प्रक्रिया जानें । रूपमाला यथा—

प्र०	वेधाः	वेधसौ	वेधसः	प०	वेधसः	वेधोभ्याम्	वेधोभ्यः
द्वि०	वेधसम्	,,	,,	ष०	,,	वेधसोः	वेधसाम्
तृ०	वेधसा	वेधोभ्याम्†	वेधोभिः	स०	वेधसि	,,	वेधःसु,-स्सु
च०	वेधसे	,,	वेधोभ्यः	सं०	हे वेधः !*	वेधसौ !	वेधसः !

†रुँत्व, उत्व तथा गुण हो जाता है । *सुँलोप, रुँत्व तथा विसर्ग होते हैं ।

इसीप्रकार—१. वनौकस् (बन्दर), २ दिवौकस् (देवता), ३ हिरण्यरेतस् (सूर्य वा अग्नि), ४ चन्द्रमस् (चन्द्रमा), ५. सुमनस् (देवता), ६ प्रचेतस् (वरुण), ७ सुमेधस् (अच्छी बुद्धि वाला), ८ नृचक्षस् (मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाला । अथर्व०), ९ जातवेदस् (अग्नि), १० अङ्गिरस् (एक ऋषि) ११. विश्ववेदस् (सब कुछ जानने वाला), १२ पुरोधस् (पुरोहित), १३ वयोधस् (तरुण, जवान) १४.

दुर्वासस् (एक ऋषि), १५. विमनस् (दुःखी पुरुष), १६. विडौजस् (इन्द्र) प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।[1]

अदस् (वह—दूरवर्त्ती पदार्थ जिसका अङ्गुली से निर्देश नहीं किया जा सकता)। न दस्यते=उत्क्षिप्यतेऽङ्गुलिर्यत्र—इस विग्रह में नञ्पूर्वक दस् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'अदस्' शब्द निष्पन्न होता है। त्यदादियों के अन्तर्गत होने के कारण इस की **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१५१) द्वारा सर्वनामसंज्ञा होती है। यह शब्द त्रिलिङ्गी है। यहां पुंलिङ्ग में इस की सुँबन्त-प्रक्रिया का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(३५५) अदस औ सुँलोपश्च ।७।२।१०७।।**

अदस औत् स्यात् सौ परे सुँलोपश्च । तदोः० (३१०) इति सः । असौ । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । वृद्धिः ।।

अर्थः—सुँ परे होने पर अदस् शब्द के अन्त्य सकार को औकार तथा सुँ का लोप हो जाता है।

व्याख्या—सौ ।७।१। (**तदोः सः सावनन्त्ययोः** से) । अदसः ।६।१। औ ।१।१। (यहां विभक्ति का लुक् हुआ है)। सुँलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । समासः—सोर्लोपः =सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । **अर्थः**—(सौ) सुँ परे होने पर (अदसः) अदस् शब्द के स्थान पर (औ) 'औ' आदेश होता है (च) तथा (सुँलोपः) सुँ का भी लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह औकार आदेश अन्त्य अल् सकार के स्थान पर होगा। 'अदस औ' इस अंश में यह सूत्र **त्यदादीनामः** (१९३) सूत्र का अपवाद है।

अदस्+सुँ । यहां **त्यदादीनामः** (१९३) के प्राप्त होने पर **अदस औ सुँलोपश्च** (३५५) सूत्र से सकार को औकार तथा सुँ का लोप होकर—अद+औ । **वृद्धिरेचि** (३३) से वृद्धि एकादेश करने से—'अदौ' । अब प्रत्ययलक्षण द्वारा लुप्त हुए सुँ-प्रत्यय को मान कर **तदोः सः सावनन्त्ययोः** (३१०) सूत्र से दकार को सकार करने पर—'असौ' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'अदौ' इस अवस्था में **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८.२.८०) सूत्र भी प्राप्त होता है परन्तु **तदोः सः**० (७.२.१०६) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध होने से वह प्रवृत्त नहीं होता।

अदस्+औ । यहां **त्यदादीनामः** (१९३) सूत्र से सकार को अकार तथा **अतो**

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि असन्त शब्द में 'अस्' यदि धातु का अवयव होगा तो **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) सूत्र में 'अधातोः' कथन के कारण उस असन्त की उपधा को दीर्घ न होगा। यथा—सुपूर्वक **वसँ** आच्छादने (अदा० आ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सुवस्' (अच्छी तरह ढांपने वाला) शब्द निष्पन्न होता है। यह शब्द असन्त तो है पर इस के अन्त में 'अस्' यह 'वस्' धातु का अवयव है अतः 'सुवस्+स्' में उपधादीर्घ न होगा, सुँलोप हो कर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से—सुवः, सुवसौ, सुवसः—आदि रूप बनेंगे। इसीप्रकार पिण्डग्रस्, पिण्डग्लस् (पिण्ड खाने वाला) आदि शब्दों के रूप समझने चाहियें।

गुणे (२७४) से पररूप कर—'अद+औ'। अब वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर—'अदौ'। इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(३५६) अदसोऽसेर्दादु दो मः ।८।२।८०॥

अदसोऽसान्तस्य दात् परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य—उ, दीर्घस्य—ऊ। अमू। जस शी (१५२)। गुण॥

अर्थ—जिस के अन्त में सकार न हो ऐसे अदस् शब्द के दकार से पर वर्ण को उकार और ऊकार हो जाता है तथा दकार को मकार भी होता है।

व्याख्या—अदस ।६।१। असे ।६।१। दात् ।५।१। उ ।१।१। द ।६।१। म. ।१।१। (मकारादकार उच्चारणार्थ)। समास—नास्ति सि=सकार (सकाराद् इकार उच्चारणार्थ) यस्मिन् स=असि, तस्य=असे। नञ्बहुव्रीहिसमास.। यह 'अदस' का विशेषण है। अदस् शब्द के अन्त में सकार होता है अत यहां असकारान्त अदस् शब्द का ग्रहण अभिप्रेत है। उश्च ऊश्च=उ, समाहारद्वन्द्व। अर्थ—(असे.) असान्त अर्थात् जिस के अन्त में सकार विद्यमान नहीं ऐसे (अदस) अदस् शब्द के (दात्) दकार से पर वर्ण के स्थान पर (उ) उकार या ऊकार आदेश हो जाता है तथा (द) दकार के स्थान पर (म) म् आदेश भी हो जाता है।

असान्त अदस् शब्द के दकार से परे वाला वर्ण प्राय ह्रस्व या दीर्घ हुआ करता है[1]। स्थानेऽन्तरतमः (१७) द्वारा ह्रस्व वर्ण के स्थान पर ह्रस्व उकार तथा दीर्घ वर्ण के स्थान पर दीर्घ ऊकार होगा[2]।

'अदौ' यहां असान्त अदस् शब्द के दकार से परे दीर्घ औकार विद्यमान है। अत प्रकृतसूत्र से औकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर—'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+अस् (जस्)। यहां त्यदादीनाम (१९३) से सकार को अकार, अतो गुणे (२७४) से पररूप, जसः शी (१५२) से जस् को शी तथा आद्गुण (२७) सूत्र से गुण होकर—'अदे'। अब अदसोऽसेर्दादु दो मः (३५६) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३५७) एत ईद् बहुवचने ।८।२।८१॥

अदसो दात्परस्य एत ईद्, दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। पूर्वत्रा-

---

१. कहीं-कहीं 'हल्' भी पाया जाता है, जैसे—अदद्र्यङ्, अमुमुयङ्। यहां दकार से परे 'र्' है।

२. आन्तर्य अर्थात् सादृश्य चार प्रकार का होता है—यह हम पीछे स्थानेऽन्तरतमः (१७) सूत्र पर लिख चुके हैं। यहां प्रमाणकृत (मात्राकृत) आन्तर्य द्वारा ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व तथा दीर्घ के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है। दकार से परे यदि हल् हो तो उसे भी ह्रस्व उकार आदेश होता है।

सिद्धम् (३१) इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चाद् उत्व-मत्वे । अमुम् । अमू । अमून् । मुत्वे कृते घिसञ्ज्ञायां नाभावः ॥

अर्थः—अदस् शब्द के दकार से परे एकार को ईकार तथा दकार को मकार हो जाता है वहुत अर्थो की उक्ति में ।

व्याख्या—अदसः ।६।१। दात् ।५।१। (अदसोऽसेर्दाद्० से) । एतः ।६।१। ईत् ।१।१। दः ।६।१। मः ।१।१। (अदसोऽसेः० से) । वहुवचने ।७।१। समासः—वहूनां वचनम्— उक्तिः=वहुवचनम्, तस्मिन्=वहुवचने[1] । षष्ठीतत्पुरुषसमासः । अर्थः—(वहुवचने) वहुत्व की विवक्षा में (अदसः) अदस् शब्द के अवयव (दात्) दकार से परे (एतः) 'ए' के स्थान पर (ईत्) 'ई' आदेश हो जाता है तथा (दः) उस दकार के स्थान पर भी (मः) 'म्' आदेश हो जाता है ।

'अदे' यहां प्रकृतसूत्र से एकार को ईकार तथा दकार को मकार होकर—'अमी' प्रयोग सिद्ध होता है ।

अदस्+अम् । यहां त्यदाद्यत्व और पररूप होकर—'अद+अम्' । अव यहां **अमि पूर्वः** (६.१.१०३) से पूर्वरूप तथा **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८.२.८०) से उत्व-मत्व युगपत् प्राप्त होते हैं । **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) द्वारा उत्वमत्वविधायक सूत्र के असिद्ध होने से प्रथम पूर्वरूप होकर 'अदम्' वन जाता है । तदनन्तर उत्व-मत्व हो 'अमुम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पूर्वत्रासिद्धम् (३१) इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे ।

अर्थात् **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) सूत्र से—अदसोऽसेः० (३५६) तथा **एत ईद् बहुवचने** (३५७) सूत्र के असिद्ध होने से प्रथम **अमि पूर्वः** (१३५) आदि सूत्रों द्वारा विभक्तिकार्य होगा तदनन्तर उन सूत्रों की प्रवृत्ति होगी । परन्तु अव इस पर यह विचार उपस्थित होता है कि क्या **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) से कार्य असिद्ध किया जाता है या शास्त्र असिद्ध ?

यदि किये हुए कार्य को असिद्ध मानेंगे तो प्रथम कार्य का विद्यमान होना आवश्यक होगा; क्योंकि यदि कार्य ही विद्यमान न रहेगा तो पुनः वह असिद्ध कैसे हो

१. यहां 'वहुवचन' शब्द से पारिभाषिक वहुवचन—जस्, शस् आदि का ग्रहण नहीं करना चाहिये । क्योंकि वैसा अर्थ करने से 'अदेभ्यः=अमीभ्यः, अदेभिः=अमीभिः' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने पर भी 'अदे=अमी' यहां प्रयोगसिद्धि न हो सकेगी । क्योंकि 'अदे' में एकार स्वयं वहुवचन है इस से परे अन्य कोई वहुवचन नहीं है । अतः यहाँ 'वहुवचने' पद को यौगिक स्वीकार कर 'वहुतों की उक्ति अर्थात् वहुत्व की विवक्षा में' ऐसा अर्थ करना उचित है । इस अर्थ से 'अदे' आदि सव स्थानों पर वहुत्व की विवक्षा वर्तमान रहने से कोई दोष प्राप्त नहीं होता । इस सूत्र पर भाष्यकार ने लिखा है—**नेदं पारिभाषिकस्य वहुवचनस्य ग्रहणम् । किन्तर्हि ? अन्वर्थग्रहणमेतत् । वहूनामर्थानां वचनम्=वहुवचनम् ।**

सकेगा ? अतः कार्यासिद्धपक्ष में प्रथम **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) सूत्र के बल से भावी असिद्ध कार्य कर चुकने पर पश्चात् **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) से वह पूर्व की दृष्टि में असिद्ध होगा अन्यथा नहीं। इस पक्ष में 'अद+अम्' यहां प्रथम **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (३१) द्वारा पूर्वरूप की अपेक्षा पर होने से उत्व-मत्व होकर—'अमु+अम्' बन जायगा। तदनन्तर **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) द्वारा मुकार्य को पूर्वरूप की दृष्टि में असिद्ध माना जायगा। अब इस मुकार्य के असिद्ध मान जाने पर भी पूर्वरूप नहीं हो सकेगा, क्योंकि— **देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य पुनरुन्मज्जनं न भवति** अर्थात् देवदत्त के हन्ता के मारे जाने पर भी देवदत्त की पुनरुत्पत्ति नहीं हो सकती। इस न्यायानुसार 'द' के हन्ता 'मु' के असिद्ध होने पर भी पुनः 'द' नहीं आ सकेगा, क्योंकि उस का तो विनाश हो चुका है। इस प्रकार 'द' के न आने से अक् नहीं मिलेगा तब **अमि पूर्वः** (१३५) द्वारा पूर्वरूप न हो सकेगा। अतः यह पक्ष ठीक नहीं।

अब यदि शास्त्रासिद्धपक्ष स्वीकार करते हैं तो इस पक्ष में दोनों सूत्रों के युगपत् प्राप्त होने पर **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) द्वारा परशास्त्र असिद्ध अर्थात् अभावात्मक हो जाता है। इस से पूर्वले सवासात अध्यायों के सूत्रों की दृष्टि में वह सूत्र नहीं रहता, उस के न रहने से विप्रतिषेध नहीं हो सकता, क्योंकि विप्रतिषेध वहां होता है जहां अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाश सूत्र परस्पर की दृष्टि में भावात्मक होते हुए एक स्थान पर प्राप्त हों। यहां पूर्व की दृष्टि में पर सूत्र अभावात्मक होने से वर्तमान नहीं रहता अतः प्रथम पूर्वसूत्र प्रवृत्त होता है और तदनन्तर असिद्ध सूत्र। इस प्रकार इस पक्ष के स्वीकार करने से 'अद+अम्' यहां पर **अदसोऽसे०** तथा **अमि पूर्वः** इन दोनों सूत्रों के युगपत् प्राप्त होने पर **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) द्वारा **अमि पूर्वः** (६.१.१०३) की दृष्टि में **अदसोऽसे०** (८.२.८०) सूत्र असिद्ध अर्थात् अभावात्मक हो जाता है। अतः प्रथम पूर्वरूप होकर 'अदम्' हो जाने पर पश्चात् उत्व-मत्व करने से 'अमुम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार कोई दोष उत्पन्न नहीं होता।

अतः **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) सूत्र में शास्त्रासिद्धपक्ष ही स्वीकार करना चाहिये, कार्यासिद्ध नहीं। अत एव ग्रन्थकार ने भी **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) सूत्र की वृत्ति में इसी पक्ष का अनुमोदन किया है—'सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रम् असिद्धम्'। **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) सूत्र पर भी यही स्वीकार किया है—"पूर्वत्रासिद्धमिति रोरीत्यस्यासिद्धत्वाद् उत्वमेव"। भाष्यकार भी इसी पक्ष के पक्षपाती हैं—**पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य**। इस विषय पर अन्य विस्तृत विचार व्याकरण के उच्चग्रन्थों में देखें।

अदस्+अस् (शस्)। त्यदाद्यत्व और पररूप होकर—अद+अस्। अब अदसोऽसे० (३५६) के असिद्ध होने से, प्रथम विभक्तिकार्य्य—पूर्वसवर्णदीर्घ और शस् के सकार को नकार करने से—'अदान्'। अब अदसोऽसे० (३५६) से दकारोत्तर आकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर 'अमून्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+आ (टा)। त्यदाद्यत्व और पररूप होकर—अद+आ। अब यहां

यद्यपि अदसोऽसेः० (३५६) के असिद्ध होने से, प्रथम विभक्तिकार्य अर्थात् **टाङसिँङसामिनात्स्याः** (१४०) सूत्र से टा को इन आदेश प्राप्त होता है तथापि **न मु ने** (३५८) सूत्र के आरम्भसामर्थ्य से[1] वह नहीं होता; अतः **अदसोऽसेः०** (३५६) से दकारोत्तर अकार को उकार तथा दकार को मकार हो जाता है अमु+आ। अब यहां 'मु' भाव के असिद्ध होने से **शेषो घ्यसखि** (१७०) द्वारा घिसञ्ज्ञा नहीं हो सकती, और बिना घिसञ्ज्ञा के **आङो नाऽस्त्रियाम्** (१७१) सूत्र से टा को ना नहीं हो सकता; पर हमें 'ना' करना अभीष्ट है। अतः 'मु' भाव को सिद्ध करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है —

[लघु०] निषेध-सूत्रम्— **(३५८) न मु ने।८।२।३॥**

'ना'भावे कर्त्तव्ये कृते च 'मु'भावो नाऽसिद्धः। अमुना। अमूभ्याम् ३। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः २। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः २। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमीषु॥

अर्थः—'ना' आदेश करना हो या कर चुके हों तो 'मु' आदेश असिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। मु। १।१। ने।७।१। असिद्धम्।१।१। (**पूर्वत्रासिद्धम्** से)। समासः—म् च उश्च=मु। समाहारद्वन्द्वः। 'ने' यह ना-शब्द के सप्तमी का एकवचन है—ना+ङि=ना+इ=ने। यहां परसप्तमी या विषयसप्तमी समझनी चाहिये। अर्थः—(ने) 'ना' के विषय में अथवा 'ना' परे होने पर (मु) 'मु' आदेश (असिद्धम्) असिद्ध (न) नहीं होता।

'अमु+आ' यहां ना के विषय में 'मु' आदेश असिद्ध न हुआ तो घिसञ्ज्ञा होकर **आङो नाऽस्त्रियाम्** (१७१) से टा को ना करने पर—'अमुना' प्रयोग सिद्ध हुआ।

सूचना—ध्यान रहे कि 'अमुना' में 'ना' के परे होने पर 'मु' आदेश के असिद्ध होने से **सुँपि च** (१४१) द्वारा दीर्घ प्राप्त होता है। वह भी **न मु ने** (३५८) से 'मु' आदेश के सिद्ध हो जाने पर नहीं होता। इसीलिये तो 'ने' में दो प्रकार की सप्तमी स्वीकार कर के 'ना करने में या ना परे होने पर' ऐसा अर्थ किया गया है।

अदस्+भ्याम्। त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर **सुँपि च** (१४१) से दीर्घ हो जाता है—अदाभ्याम्। अब **अदसोऽसेः०** (३५६) से ऊत्व-मत्व करने से—'अमूभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+भिस्। त्यदाद्यत्व और पररूप कर 'अद+भिस्'। इस अवस्था में

---

१. यदि यहाँ टा को इन कर दें तो **न मु ने** (३५८) सूत्र बनाने का कुछ प्रयोजन नहीं रहता। अतः इस का बनाना तभी सार्थक किया जा सकता है जब 'इन' आदेश न होकर 'मु' हो जाये। यही इस का आरम्भसामर्थ्य है।

अतो भिस ऐस् (१४२) प्राप्त होता है, परन्तु उस का नेदमदसोरको (२७६) से निषेध हो जाता है। अब बहुवचने झल्येत् (१४५) द्वारा एकारादेश कर एत ईद् बहुवचने (३५७) से एकार को ईकार तथा दकार को मकार करने से—'अमीभि' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदम+ए(ङे)। त्यदाद्यत्व, पररूप, सर्वनाम्न स्मै (१५३) से ङे को स्मै, मुत्व तथा आदेशप्रत्यययो (१५०) स षत्व होकर—अमुष्मै।

अदस+भ्यस। त्यदाद्यत्व, पररूप, बहुवचने झल्येत् (१४५) से एत्व तथा एत ईद बहुवचने (३५७) से ईत्व मत्व होकर—अमीभ्य।

अदस्+अस्(ङसिँ)। त्यदाद्यत्व, पररूप तथा ङसिँङ्यो स्मात्स्मिनौ(१५४) से 'स्मात्' आदेश उत्व-मत्व तथा षत्व होकर—अमुष्मात्।

अदस्+अस (ङस्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाङसिँङसामिनात्स्या (१४०) से स्य आदेश, उत्व मत्व तथा षत्व होकर—अमुष्य।

अदस+ओस। त्यदाद्यत्व पररूप, ओसि च (१४७) से एत्व, एचोऽयवायाव (२२) से अय आदेश होकर—अदयो। अब उत्व-मत्व होकर—अमुयो।

अदस्+आम्। त्यदाद्यत्व, पररूप, आमि सर्वनाम्न सुँट् (१५५) से सुँट् आगम, बहुवचने झल्येत् (१४५) से एत्व, एत ईद् बहुवचने (३५७) से ईत्व-मत्व और षत्व करने से—'अमीषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+इ (ङि)। त्यदाद्यत्व, पररूप, ङसिँङ्यो स्मात्स्मिनौ (१५४) से ङि को स्मिन्, मु आदेश तथा षत्व करने पर—अमुष्मिन्।

अदस+सु (सुप्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, बहुवचने झल्येत् (१४५) से एत्व, एत ईद् बहुवचने (३५७) से ईत्व-मत्व तथा आदेशप्रत्यययो (१५०) से षत्व करने पर—अमीषु। अदस् (वह) शब्द की पुलिङ्ग मे रूपमाला यथा—

प्र० अमौ	अमू	अमी	प० अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्य
द्वि० अमुम्	,,	अमून्	ष० अमुष्य	अमुयो	अमीषाम्
तृ० अमुना	अमूभ्याम्	अमीभि	स० अमुष्मिन्	,,	अमीषु
च० अमुष्मै	,,	अमीभ्य	सम्बोधन प्राय नही होता।		

(यहां सकारान्त पुलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

[लघु०] इति हलन्ता पुलिङ्गा [शब्दा] ॥

अर्थ —यहा हलन्त पुलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

अभ्यास (४६)

(१) (क) 'विद्वान्' मे वसुँस्रसुँ० द्वारा दत्व क्यो नहीं होता ?
(ख) 'विद्वांसौ' मे अनुस्वार को परसवर्ण क्यो नही होता ?
(ग) 'अनेहस्' को असुँमन्त मानने मे क्या दोष है ?

(२) व्याख्या करें—
(क) सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम् ।
(ख) आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः ।
(ग) अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः ।
(घ) अदस औ सुलोपश्च, अदसोऽसेर्दादु दो मः, वसोः सम्प्रसारणम् ।
(३) पुंमु, वेधोभ्याम्, अमी, विद्वद्भ्याम्, अमुना, श्रेयांसौ, अमू, तस्थुषः, अमुष्मिन्, विद्वन्—इन रूपों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखें ।
(४) एत ईद् बहुवचने सूत्र की व्याख्या करते हुए—बहुवचनपद पारिभाषिक नहीं यौगिक है—इसे स्पष्ट करें ।
(५) अनुस्वार का पाठ हल्प्रत्याहार में नहीं आता तो पुनः 'पुंस् + भ्याम्' में कैसे संयोगसञ्ज्ञा होकर संयोगान्तलोप हो जाता है ?
(६) इन शब्दों का प्रथमैकवचन सिद्ध कर रूपमाला लिखें—
वनौकस्, उशनस्, अनेहस्, पुंस्, वेधस्, श्रेयस्, अदस् ।
(७) पूर्वत्रासिद्धम् द्वारा कार्यासिद्ध और शास्त्रासिद्ध पक्षों में से किस पक्ष का प्रतिपादन होता है—सोदाहरण व्याख्या करें ।
(८) न मु ने की व्याख्या करते हुए 'कर्त्तव्ये कृते च' कथन को स्पष्ट करें ।
(९) पुंस् और विद्वस् शब्दों की प्रकृतिप्रत्ययनिर्देशपुरःसर निष्पत्ति लिखें ।
(१०) पुंसोऽसुँङ् सूत्र पर—'सर्वनामस्थान परे होने पर' ऐसा न कहकर 'सर्वनामस्थाने विवक्षिते' ऐसा क्यों कहा गया है ?
(११) असान्त अदस् शब्द के दकार से परे हल् वर्ण को क्या आदेश होता है ? सप्रमाण समझाएं ।
(१२) अत्वसन्तस्य चाधातोः में 'अधातोः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?
(१३) निम्नस्थ शब्दों का सम्बुद्धि में रूप सिद्ध करें—
पुंस्, उशनस्, वेधस्, विद्वस्, अनेहस् ।

——: :०: :——

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्त-कौमुद्यां हलन्त-पुंल्लिङ्ग-प्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ हलन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणम्

अब क्रमप्राप्त हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण का आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में भी सब शब्द प्रत्याहारक्रम से कहे गये हैं। अब प्रथम हयवरट् (प्रत्याहारसूत्र ५) के क्रमानुसार हकारान्त शब्द कहे जाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(३५६) नहो धः ।८।२।३४॥

नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च ॥

अर्थः—नह् के हकार को धकार हो जाता है झल् परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—झलि ।७।१। (झलो झलि से)। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अन्ते ।७।१। (स्को संयोगाद्योरन्ते च से)। नहः ।६।१। धः ।१।१। धकारादकार उच्चारणार्थ। अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (नहः) नह् धातु के स्थान पर (धः) ध् आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह आदेश नह् धातु के अन्त्य अल् हकार के स्थान पर होगा। यह हो ढः (२५१) सूत्र का अपवाद है।

इस सूत्र का उपयोग 'उपानह्' शब्द में किया जाता है अतः प्रथम 'उपानह्' शब्द की निष्पत्ति की जाती है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—(३६०) नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ ।६।३।११५॥

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्, उपानद्। उपानहौ। उपानत्सु॥

अर्थः—नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन्—ये क्विबन्त धातु परे हों तो पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—नहि वृति वृषि व्यधि रुचि-सहि-तनिषु ।७।३। क्वौ ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। दीर्घः ।१।१। (ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः से)। यह सूत्र उत्तरपदाधिकार में पढ़ा गया है अतः 'पूर्वस्य' का 'पदस्य' विशेषण उपलब्ध हो जाता है। यद्यपि 'क्वि' ग्रहण में क्विप् और क्विन् दोनों का ग्रहण हो सकता है तथापि नह् आदि धातुओं में क्विन् का विधान न होने से अवशिष्ट क्विप् का ही ग्रहण होता है। अर्थः—(क्वौ) क्विप् परे होने पर (नहि-वृति वृषि व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु) जो नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातु, इन के परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (पदस्य) पद के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। अलोऽन्त्यस्य (२१) तथा अचश्च (१.२.२८) परिभाषाओं द्वारा यह दीर्घ पूर्वपद के अन्त्य अच् के स्थान पर होता है।

क्विप् परे होने पर जो नह्, वृत् आदि धातु, उन के परे होने पर—इसका अभिप्राय—क्विबन्त नह्, वृत् आदि धातु परे होने पर—ऐसा समझना चाहिये। अतः एव वृत्ति में यही लिखा है।

'उप' पूर्वक णहँ बन्धने (दिवा० उभय०) धातु से सम्पदादिभ्यः क्विँप् (वा० ५१) वार्त्तिक द्वारा कर्म में क्विँप् प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप, प्रत्ययलक्षणद्वारा पुनः उसे मान कर नहि-वृति-वृषि० (३६०) सूत्र से पूर्वपद के अन्त्य अच् को दीर्घ तथा अन्त में प्रादिसमास करने से 'उपानह्' शब्द निष्पन्न होता है। उप=समीपे नह्यते=बध्यत इत्युपानत्। जूते को उपानह् कहते हैं। अथ पादुका पादूरुपानत् स्त्री—इत्यमरः। उपानह् का बहुधा द्विवचन में प्रयोग होता है। दक्षिण पाद के जूते को 'पूर्वा उपानत्' तथा बाएं पाद के जूते को 'अपरा उपानत्' कहते हैं (व्या० च०)। विशेषण लगा कर ही इस का स्त्रीत्व प्रकट किया जा सकता है। यथा—इयम् उपानत्, इमे उपानहौ आदि। उपानह् शब्द के कुछ प्रयोग यथा—उपानद्-गूढ-पादस्य ननु चर्मावृतेव भूः (हितोप० १.१४४)। श्वा यदि क्रियते राजा स किं नाश्नात्युपानहम् (हितोप० ३.५८)।

उपानह्+स् (सुँ)। अपृक्त सकार का लोप होकर नहो धः (३५६) द्वारा पदान्त हकार को धकार[1], जश्त्व से दकार और चर्त्व से वैकल्पिक तकार करने पर—'उपानत्, उपानद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

उपानह्+भ्याम्। यहां पदान्त में नहो धः (३५६) से हकार को धकार पुनः जश्त्व से दकार करने पर 'उपानद्भ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

उपानह्+सु (सुप्)। नहो धः (३५६) से धकार, जश्त्व से दकार तथा खरि च (७४) से तकार होकर 'उपानत्सु' सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	उपानत्-द्	उपानहौ	उपानहः	प०	उपानहः	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः
द्वि०	उपानहम्	,,	,,	ष०	,,	उपानहोः	उपानहाम्
तृ०	उपानहा	उपानद्भ्याम्	उपानद्भिः	स०	उपानहि	,,	उपानत्सु
च०	उपानहे	,,	उपानद्भ्यः	सं०	हे उपानत्-द्!	उपानहौ!	उपानहः!

वक्तव्य—ग्रन्थकार का नहि-वृति० (३६०) सूत्र यहां लिखना उचित प्रतीत नहीं होता, इसे नहो धः (३५६) से पूर्व लिखना चाहिये था।

नहि-वृति० (३६०) सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—१. वृत्—नीवृत् (पुं० स्त्री०)=जनपद, देश। २. वृष्—प्रावृष् (स्त्री०)=वर्षा ऋतु। ३. व्यध्—हृदयावित् (त्रि०)=हृदय को बींधने वाला। ४. रुच्—नीरुच् (त्रि०)=निरन्तर चमकने वाला। ५. सह्—ऋतीसह् (त्रि०)=दुःखों या शत्रुओं को सहने वाला। ६. तन्—परीतत् (त्रि०)=चारों ओर फैलने वाला।

[लघु०] क्विँन्नन्तत्वात् कुत्वेन घः। उष्णिक्, उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम्॥

व्याख्या—उष्णिह् (छन्दोविशेष)। 'उष्णिह्' शब्द ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिग्०

१. धकार करने का प्रयोजन 'नद्धः' आदि में झषस्तथोर्धोऽधः (५४६) की प्रवृत्ति कराना है अन्यथा 'नहो दः' सूत्र ही बनाते।

(३०१) सूत्रद्वारा 'उद्' पूर्वक 'स्निह्' (दिवा० प०) धातु से क्विँबन्त निपातन किया जाता है।

उष्णिह् + सुँ। सुँलोप, क्विँबन्त होने से **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) द्वारा हकार को घकार, जश्त्व से घकार को गकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से गकार को ककार होकर—'उष्णिक्, उष्णिग्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र० उष्णिक्, ग्	उष्णिहौ	उष्णिह	पं० उष्णिह	उष्णिग्भ्याम्	उष्णिग्भ्य.
द्वि० उष्णिहम्	,,	,,	ष० ,,	उष्णिहो	उष्णिहाम्
तृ० उष्णिहा	उष्णिग्भ्याम्*	उष्णिग्भि	स० उष्णिहि	,,	उष्णिक्षु†
च० उष्णिहे	,,	उष्णिग्भ्य	सं० हे उष्णिक्,-ग्!	उष्णिहौ!	उष्णिह!

* क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४), झलां जशोऽन्ते (६७)।

† कुत्व, जश्त्व, षत्व, खरि च (७४) से चर्त्व।

(यहां हकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—·०·—

[लघु०] द्यौः। दिवौ। दिव। द्युभ्याम्॥

व्याख्या—'दिव्' (आकाश या स्वर्ग) शब्द विशुद्ध अवस्था में नित्यस्त्रीलिङ्ग होता है। पुंलिङ्ग आदि में इसका प्रयोग बहुव्रीहिसमासवश हुआ करता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया हलन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'सुदिव्' शब्दवत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र० द्यौ†	दिवौ	दिव	पं० दिव	द्युभ्याम्	द्युभ्यः
द्वि० दिवम्	,,	,,	ष० ,,	दिवो	दिवाम्
तृ० दिवा	द्युभ्याम्‡	द्युभिः	स० दिवि	,,	द्युषु
च० दिवे	,,	द्युभ्य	सं० हे द्यौ!	हे दिवौ!	हे दिव!

† दिव औत् (२६४)। ‡ दिव उत् (२६५)।

(यहां वकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:०:—

[लघु०] गीः। गिरौ। गिरः। एवम्—पूः॥

व्याख्या—गिर् = वाणी। गॄ निगरणे (तुदा० प०) धातु से क्विँप्, उस का सर्वापहार लोप, ॠत इद्धातोः (६६०) से इत्व तथा उरण्रपरः (२९) से रपर करने पर 'गिर्' शब्द निष्पन्न होता है।

गिर् + स् (सुँ)। सुँलोप होकर क्विँबन्ता धातुत्वं न जहति इस कथन से धातु होने से पदान्त में **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** (३५१) से उपधादीर्घ होकर 'गीर्' बना। अब रेफ को विसर्ग आदेश करने से—'गीः' प्रयोग सिद्ध होता है।

गिर् + औ = गिरौ। यहां पदान्त न होने से उपधादीर्घ नहीं होता।

गिर् + भ्याम्। यहां स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) द्वारा पदत्व होने से **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** (३५१) से उपधादीर्घ हो जाता है—गीर्भ्याम्।

गिर्+सुप्। यहां पदान्त में उपधादीर्घ होकर इण्—रेफ से परे प्रत्यय के अवयव सकार को षकार (१५०) हो जाता है—गीर्षु। ध्यान रहे कि यहां रोः सुपि (२६८) के नियमानुसार रेफ को विसर्ग आदेश नहीं होता। समग्र रूपमाला यथा—

प्र० गीः	गिरौ	गिरः	पं० गिरः	गीर्भ्याम्	गीर्भ्यः
द्वि० गिरम्	,,	,,	ष० ,,	गिरोः	गिराम्
तृ० गिरा	गीर्भ्याम्	गीर्भिः	स० गिरि	,,	गीर्षु
च० गिरे	,,	गीर्भ्यः	सं० हे गीः !	हे गिरौ !	हे गिरः !

इसी प्रकार—पुर्=(नगर)। पॄ पालनपूरणयोः (जुहो० प०) धातु से क्विप्, उसका सर्वापहारलोप, उदोष्ठ्यपूर्वस्य (६११) से उत्व तथा उरण्रपरः (२६) से रपर करने पर 'पुर्' शब्द निष्पन्न होता है। इस की भी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'गिर्' शब्द की तरह होती है। रूपमाला यथा—

प्र० पूः[1]	पुरौ	पुरः	पं० पुरः	पूर्भ्याम्	पूर्भ्यः
द्वि० पुरम्	,,	,,	ष० ,,	पुरोः	पुराम्
तृ० पुरा	पूर्भ्याम्	पूर्भिः	स० पुरि	,,	पूर्षु
च० पुरे	,,	पूर्भ्यः	सं० हे पूः !	हे पुरौ !	हे पुरः !

इसी प्रकार—धुर् (गाड़ी का अग्रिम भाग) प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

[लघु०] चतस्रः। चतसृणाम् ॥

व्याख्या—चतुर्=(चार)। स्त्रीलिङ्ग में विभक्ति परे होने पर चतुर् शब्द को त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ (२२४) सूत्र से 'चतसृ' आदेश हो जाता है।[2]

चतसृ+अस्(जस्)। ऋतो ङि० (२०४) से गुण प्राप्त होने पर उस के अपवाद अचि र ऋतः (२२५) से रेफ आदेश करने पर—'चतस्रः' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतसृ+अस् (शस्)। यहां सर्वनामस्थान परे न होने से पूर्वोक्त गुण प्राप्त नहीं होता। प्रथमयोः० (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उस के अपवाद अचि र ऋतः (२२५) द्वारा रेफ आदेश हो जाता है—चतस्रः।

चतसृ+आम्। अचि र ऋतः (२२५) का बाध कर नुमचिर० (वा० १६) की सहायता से पूर्वविप्रतिषेध से ह्रस्वनद्यापो नुट् (१४८) द्वारा नुँट् का आगम हो जाता है—चतसृ+नाम्। अब नामि (१४६) से प्राप्त दीर्घ का न तिसृ-चतसृ (२२६) से निषेध हो जाता है, पुनः ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् (वा० २१) से णत्व होकर 'चतसृणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतसृ (स्त्रीलिङ्ग में चतुर्) शब्द की रूपमाला यथा—

---

१. इसका भ्रामक रूप इस उक्ति में प्रसिद्ध है—का पूर्वः (का, पूः=नगरी, वः=युष्माकम्। तुम्हारी कौन-सी नगरी है ?)।

२. यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि चतसृशब्द से ऋन्नेभ्यो ङीप् (२३२) से प्राप्त ङीप् का न षट्स्वस्रादिभ्यः (२३३) से निषेध हो जाता है।

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	चतस्रः	प०	०	०	चतसृभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	चतसृणाम्
तृ०	०	०	चतसृभिः	स०	०	०	चतसृषु
च०	०	०	चतसृभ्यः				

—०—

(यहां रेफान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है ।)

[लघु०] का । के । काः । सर्वावत् ॥

व्याख्या— किम् (कौन)। 'किम्' शब्द के पुंलिङ्ग में रूप कह चुके हैं । अब स्त्रीलिङ्ग में रूप सिद्ध किये जाते हैं ।

विभक्ति परे होने पर सर्वत्र किमः कः (२७१) द्वारा 'किम्' को 'क' सर्वादेश हो जाता है । पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा में अजाद्यतष्टाप् (१२४५) से टाप् (आ) प्रत्यय होकर सवर्णदीर्घ करने से 'का' शब्द निष्पन्न होता है सर्वादीनि सर्वनामानि (१५१) से इस की सर्वनामसंज्ञा होने से सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सर्वा'शब्दवत् होती है । 'का' (स्त्रीलिङ्ग में किम् शब्द) की रूपमाला यथा—

प्र० का	के	काः	प० कस्याः†	काभ्याम्	काभ्यः
द्वि० काम्	,,	,,	ष० ,, †	कयोः*	कासाम्‡
तृ० कया*	काभ्याम्	काभिः	स० कस्याम्†	,, *	कासु
च० कस्यै†	,,	काभ्यः	सम्बोधन प्रायः नहीं होता ।		

*आङि चापः (२१८)। † सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (२२०)। ‡ आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५)।

[लघु०] विधि सूत्रम्—(३६१) यः सौ ।७।२।११०॥

इदमो दस्य यः । इयम् । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । टाप् । दश्च (२७५) इति मः । इमे । इमाः । इमाम् । अनया । हलि लोपः (२७७) आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः । अनयोः । आसाम् । अस्याम् । आसु ॥

अर्थः—सुँ परे होने पर इदम् के दकार को यकार आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—इदमः ।६।१। (इदमो मः से) । दः ।६।१। (दश्च से) । यः ।१।१। सौ ।७।१। अर्थः—(इदमः) इदम् शब्द के (दः) द् के स्थान पर (यः) य् आदेश हो जाता है (सौ) सुँ परे होने पर ।

यह सूत्र केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रवृत्त होता है । क्योंकि पुंलिङ्ग में सुँ परे होने पर इदोऽय् पुंसि (२७३) सूत्र से इद् को अय् आदेश हो जाने से दकार नहीं मिल सकता । नपुंसक में भी सुँ का लुक् हो जाने से प्रत्ययलक्षण न होने से इसे अवकाश नहीं मिलता ।

'इदम्' शब्द के पुंलिङ्ग में रूप सिद्ध किये जा चुके हैं, अब स्त्रीलिङ्ग में रूप सिद्ध करते हैं—

इदम्+स् (सुँ)। यहां प्रकृतसूत्र से दकार को यकार हो कर हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सुँ का लोप हो जाता है—इयम्। ध्यान रहे कि यहां इदमो मः (२७२) के निषेध के कारण त्यदाद्यत्व नहीं होता।

इदम्+औ। त्यदाद्यत्व, पररूप, अजाद्यतष्टाप् (१२४५) से टाप्, अनुबन्ध-लोप कर सवर्णदीर्घ करने से—इदा+औ। अब दश्च (२७५) सूत्र से दकार को मकार, औङ आपः (२१६) से औकार को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण करने पर—इमे।

इदम्+अस् (जस्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ तथा दश्च (२७५) से दकार को मकार होकर—इमा+अस्। अब दीर्घाज्जसि च (१६२) से पूर्वसवर्ण-दीर्घ का निषेध होकर अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ तथा सकार को रुँत्व विसर्ग करने से—इमाः।

इदम्+अम्। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ, दश्च (२७५) सूत्र से दकार को मकार तथा अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप होकर—इमाम्।

इदम्+अस् (शस्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ तथा दकार को मकार होकर पूर्वसवर्णदीर्घ करने से—इमास्=इमाः।

नोट—जस् में सवर्णदीर्घ और शस् में पूर्वसवर्णदीर्घ यह ध्यातव्य है।

इदम्+आ (टा)=इद+आ=इदा+आ। अब यहां अनाप्यकः (२७६) सूत्र से इद् भाग को अन् आदेश, आङि चापः (२१८) से प्रकृति के आकार को एकार तथा एचोऽयवायावः (२२) से अय् आदेश करने पर—अनया।

इदम्+भ्याम्=इद+भ्याम्=इदा+भ्याम्। हलि लोपः (२७७) से इद् भाग का लोप होकर—आभ्याम्। इसी प्रकार—आभिः।

इदम्+ए (ङे)=इद+ए=इदा+ए। अब सर्वनामसञ्ज्ञा होकर प्रथम नित्य होने से सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (२२०) सूत्र से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व हो जाता है—इद+स्या ए। अब वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि और हलि लोपः (२७७) से इद् भाग का लोप करने से—अस्यै।

इदम्+अस् (ङसिँ वा ङस्)=इद+अस्=इदा+अस्। यहां भी पूर्ववत् सर्वनामसञ्ज्ञा, स्याट् आगम तथा आप् को ह्रस्व होकर—इद+स्या अस्। अब अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ तथा हलि लोपः (२७७) से इद् का लोप होकर—अस्यास्=अस्याः।

इदम्+ओस्=इद+ओस्=इदा+ओस्। अनाप्यकः (२७६) से इद को अन् आदेश, आङि चापः (२१८) से आप् को एकार तथा एकार को अय् आदेश करने पर—अनयोः।

इदम्+आम्=इद+आम्=इदा+आम्। सर्वनामसञ्ज्ञा होकर आमि सर्वनाम्नः सुँट् (१५५) से सुँट् का आगम तथा हलि लोपः (२७७) से इद् का लोप हो जाता है—आसाम्।

इदम्+इ (ङि)=इद+इ=इदा+इ। यहां ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (१६८) से ङि को आम्, सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (२२०) से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व, हलि लोपः (२७७) से इद् का लोप तथा सवर्णदीर्घ करने पर—अस्याम्।

इदम्+सुप्=इद+सु=इदा+सु=आसु [हलि लोपः (२७७)]।

'इदम्' (यह) शब्द की स्त्रीलिङ्ग मे रूपमाला यथा—

प्र० इयम्	इमे	इमा	प० अस्या	आभ्याम्	आभ्य
द्वि० इमाम्	,,	,,	ष० ,,	अनयो	आसाम्
तृ० अनया	आभ्याम्	आभि	स० अस्याम्	,,	आसु
च० अस्यै	,,	आभ्य	सम्बोधन प्राय नही होता।		

नोट—अन्वादेश मे द्वितीया, टा और ओस् विभक्तियो के परे होने पर द्वितीयाटौस्स्वेनः (२८०) से इदम् को एन आदेश हो जाता है। तब टाप् प्रत्यय होकर विभक्ति कार्य करने से—एनाम्, एने, एना, एनया, एनयो—रूप बन जाते है।

(यहां मकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—०—

[लघु०] त्यदाद्यत्वम्। टाप्—स्या, त्ये, त्याः। एव तद्, एतद्॥

व्याख्या—त्यद् (वह)। 'त्यद्' शब्द के पुंल्लिङ्ग में रूप दर्शाए जा चुके हैं। अब स्त्रीलिङ्ग में रूप दर्शाए जाते हैं—

त्यद्+स् (सुँ)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ, तदो. स सावनन्त्ययो. (३१०) से तकार को सकार तथा हल्ङ्याब्भ्य.० (१७६) से अपृक्त सकार का लोप होकर—स्या।

त्यद्+औ=त्य+औ=त्या+औ। औङ आपः (२१६) से शी आदेश तथा अनुबन्धलोप कर गुण करने से—त्ये।

आगे सर्वत्र त्यदाद्यत्व पररूप और टाप् होकर 'त्या' रूप बन जाता है। तब इस की प्रक्रिया 'सर्वा'शब्दवत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र० स्या	त्ये	त्या.	प० त्यस्या.	त्याभ्याम्	त्याभ्य
द्वि० त्याम्	,,	,,	ष० ,,	त्ययो.	त्यासाम्
तृ० त्यया	त्याभ्याम्	त्याभि.	स० त्यस्याम्	,,	त्यासु
च० त्यस्यै	,,	त्याभ्यः	सम्बोधन प्राय नही होता।		

तद् (वह)। 'तद्' शब्द की भी प्रक्रिया 'त्यद्' शब्द के समान होती है।

तद्+सुँ। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ होकर—'ता+स्'। अब तदो. स सावनन्त्ययोः (३१०) मे तकार को सकार तथा हल्ङ्याब्भ्य.० (१७६) से सुँ का लोप होकर—सा। 'तद्' शब्द की स्त्रीलिङ्ग मे रूपमाला यथा—

प्र० सा	ते	ता	प० तस्या.	ताभ्याम्	ताभ्यः
द्वि० ताम्	,,	,,	ष० ,,	तयो	तासाम्
तृ० तया	ताभ्याम्	ताभि.	स० तस्याम्	,,	तासु
च० तस्यै	,,	ताभ्य.	सम्बोधन प्राय नही होता।		

एतद् (यह)। 'एतद्' शब्द की भी स्त्रीलिङ्ग में समग्र प्रक्रिया 'त्यद्, तद्' शब्दों की तरह होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	एषा	एते	एताः	पं०	एतस्याः	एताभ्याम्	एताभ्यः
द्वि०	एताम्	,,	,,	ष०	,,	एतयोः	एतासाम्
तृ०	एतया	एताभ्याम्	एताभिः	स०	एतस्याम्	,,	एतासु
च०	एतस्यै	,,	एताभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

(यहां दकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:०:—

[लघु०] वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु॥

व्याख्या—वाच् (वाणी)। वच परिभाषणे (अदा० प०) धातु से क्विब्वचि० (वा० ४८) द्वारा क्विप्, दीर्घ और सम्प्रसारण का अभाव करने पर 'वाच्' शब्द निष्पन्न होता है। पदान्त में इसे चोः कुः (३०६) द्वारा सर्वत्र कवर्गादेश हो जाता है। 'वाच्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	वाक्,-ग्*	वाचौ	वाचः	पं०	वाचः	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
द्वि०	वाचम्	,,	,,	ष०	,,	वाचोः	वाचाम्
तृ०	वाचा	वाग्भ्याम्‡	वाग्भिः	स०	वाचि	,,	वाक्षु†
च०	वाचे	,,	वाग्भ्यः	सं०	हे वाक्,-ग्!	हे वाचौ!	हे वाचः!

*सुंलोप, चोः कुः (३०६) से चकार को ककार, तथा जश्त्व-चर्त्व (६७, १४६)।

‡चोः कुः (३०६) से कुत्व हो कर झलां जशोऽन्ते (६७) से जश्त्व हो जाता है।

†चोः कुः, झलां जशोऽन्ते, आदेशप्रत्यययोः (१५०), खरि च (७४)।

इसी प्रकार—शुच् (शोक), त्वच् (त्वगिन्द्रिय) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। अप्तृन्तृच्० (२०६) इति दीर्घः। आपः। अपः॥

व्याख्या—अप् (जल)। 'अप्' शब्द संस्कृतसाहित्य में नित्यबहुवचनान्त[1] तथा

---

१. त्रि, चतुर्, पञ्चन् आदि शब्दों का बहुवचन में प्रयोग तो समझ में आ सकता है; परन्तु जब अप्, दार आदि शब्दों का बहुवचन में प्रयोग सामने आता है तो वैसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता। आधुनिक कई वैज्ञानिक दो गैसों के संयोग को ही जलतत्त्व नाम देते हैं, शायद सूक्ष्म अनुसन्धान से किन्हीं अन्य गैसों का भी मिश्रण प्रतीत हो और उन सब के संयोगात्मक तत्त्व 'अप्' को प्राचीन आर्यों ने नित्यबहुवचनान्त माना हो अथवा जल के अनेक सूक्ष्म विन्दुओं के कारण यह बहुवचनान्त माना गया हो। किञ्च जल, वारि आदि को बहुवचन न मानकर 'अप्' को ही बहुवचनान्त मानने का कारण शायद आप्लृँ व्याप्तौ धातु भी हो जिस से अप् शब्द की निष्पत्ति होती है। 'दार' शब्द शायद इसलिये बहुवचनान्त

स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। आप: स्त्री भूम्नि वार्वारि—इत्यमर । लिङ्गानुशासन के स्त्रीप्रकरण में भी अप् सुमनस्-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं च (सूत्र २९)। आप्नुवन्ति शरीरमिति आप । आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प०) धातु से आप्नोतेर्ह्रस्वश्च (उणा० २१६) सूत्र द्वारा क्विप् प्रत्यय तथा धातु के आकार को ह्रस्व करने पर जलवाचक 'अप्' शब्द निष्पन्न होता है।

अप्+अस् (जस्)। 'जस्' प्रत्यय सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है अत उस के परे होने पर अप्तृन्० (२०६) सूत्र द्वारा 'अप्' की उपधा को दीर्घ होकर—आपस् ='आप' प्रयोग बनता है।

अप्+अस् (शस्)। शस् सर्वनामस्थान नहीं अत इस के परे उपधादीर्घ नहीं होता। स्वर व्यञ्जन का संयोग हो रुत्व विसर्ग करने से—अप ।

अप्+भिस्। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३६२) अपो भि ।७।४।४८॥

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये। अद्भि.। अद्भ्य २। अपाम्। अप्सु ॥

अर्थः—भकारादि प्रत्यय परे हो तो 'अप्' को तकार आदेश हो।

व्याख्या—अप ।६।१। त. ।१।१।(अच उपसर्गात्तः से। तकारादकार उच्चारणार्थ)। भि ।७।१। (अङ्गस्य का अधिकार होने से 'प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है। 'प्रत्यये' विशेष्य और 'भि' विशेषण है। विशेषण के अल् होने से तदादिविधि होकर —'भादौ प्रत्यये' बन जाता है)। अर्थ —(भादौ प्रत्यये) भकारादि प्रत्यय परे होने पर (अप) 'अप्' शब्द के स्थान पर (त) त् आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् पकार के स्थान पर होगा। सुपों में भकारादि प्रत्यय भ्याम् और भिस् के अतिरिक्त कोई नहीं है।

'अप्+भिस्' यहां पकार को तकार होकर जश्त्व करने से—अद्भि । इसी प्रकार—अद्भ्य । अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मन सत्येन शुध्यति—(मनु० ५ १०९)।

अप्+आम्=अपाम्। अप्+सुप्=अप्सु। यहां भकारादि प्रत्यय परे न होने से तकार आदेश न होगा। अप् (जल) शब्द की समग्र रूपमाला यथा —

माना गया हो कि पूर्वकाल में एक पुरुष की अनेक स्त्रियां होती थीं। किञ्च दृ विदारणे धातु भी शायद इस में कारण हो जिस के अन्यत्र भार्या आदि में न होने के कारण वे नित्य-बहुवचनान्त न बन सके हों। सिकता और वर्षा शब्द तो सिकताकणों और जलकणों के समूह के कारण ही बहुवचनान्त माने गये प्रतीत होते हैं; जहां एक कण की विवक्षा होती है वहां एकवचन का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा महाभाष्य में - एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था। संस्कृत में लिङ्ग और वचनों का विषय पर्याप्त अनुसन्धेय है।

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	आपः	पं०	०	०	अद्भ्यः
द्वि०	०	०	अपः	ष०	०	०	अपाम्
तृ०	०	०	अद्भिः	स०	०	०	अप्सु
च०	०	०	अद्भ्यः	सं०	०	०	हे आपः!

(यहां पकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

———:०:———

[लघु०] दिक्, दिग्। दिशः। दिग्भ्याम्॥

व्याख्या—दिश् (दिशा)। यह शब्द ऋत्विग्दधृक्० (३०१) सूत्र से क्विँन्नन्त निपातन किया गया है।

दिश्+सुँ। सुँलोप, व्रश्चभ्रस्ज० (३०७) से षत्व, झलां जशोऽन्ते (६७) से डत्व, क्विँन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) से गकार तथा वाऽवसाने (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व=ककार करने से—'दिक्, दिग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

दिश्+भ्याम्। पदान्त में षत्व, डत्व और कुत्व होकर—दिग्भ्याम्।

'दिश्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दिक्-ग्	दिशौ	दिशः	पं०	दिशः	दिग्भ्याम्	दिग्भ्यः
द्वि०	दिशम्	,,	,,	ष०	,,	दिशोः	दिशाम्
तृ०	दिशा	दिग्भ्याम्	दिग्भिः	स०	दिशि	,,	दिक्षु
च०	दिशे	,,	दिग्भ्यः	सं०	हे दिक्-ग्!	दिशौ!	दिशः!

इसी शब्द का आपं चैव हलन्तानाम् से आप् करने पर 'दिशा' शब्द बन जाता है, तब 'रमा' की तरह रूप चलते हैं। इसे अव्ययप्रकरण के अन्त में देखें।

[लघु०] त्यदादिषु० (३४७) इति दृशेः क्विँन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम्। दृक्, दृग्। दृशौ। दृग्भ्याम्॥

व्याख्या—दृश् (आंख, दृष्टि)। दृश्यन्तेऽर्था अनयेति विग्रहे सम्पदादित्वाद् दृशेः क्विँप्। 'दृश्' शब्द क्विँबन्त है क्विँन्नन्त नहीं।

दृश्+सुँ। यहां अपृक्त सकार का लोप होकर पदान्त में व्रश्चभ्रस्ज० (३०७) सूत्र से शकार को षकार, झलां जशोऽन्ते (६७) से षकार को डकार, क्विँन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) से डकार को कुत्व-गकार तथा वाऽवसाने (१४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व-ककार करने से—'दृक्, दृग्' ये दो रूप बनते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि यहां क्विँन् प्रत्यय न होने से क्विँन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) द्वारा कुत्व न होना चाहिये था; तथापि 'क्विँन्प्रत्ययो यस्मात्' ऐसा विग्रह कर बहुव्रीहिसमास स्वीकार करने से कुत्व हो जाता है कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस धातु से कहीं भी क्विँन्प्रत्यय देखा गया हो चाहे अब उस से वह किया गया हो या न हो उसे कुत्व हो जायेगा। 'दृश्' धातु से यहां तो क्विँन् नहीं

हुआ किन्तु 'तादृश्' शब्द म त्यदादिषु० (३८७) सूत्र द्वारा देखा जाता है अत यहा क्विन् के अभाव म भी कुत्व हो जायेगा।

दृश्+भ्याम्। षत्व, डत्व और कुत्व होकर—दृग्भ्याम्। दृग्भि। दृग्भ्य।

दृश्[1] शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० दृक्, ग	दृशौ	दृश	प० दृश	दृग्भ्याम्	दृग्भ्य
द्वि० दृशम	,,	,,	ष० ,,	दृशो	दृशाम्
तृ० दृशा	दृग्भ्याम्	दृग्भि	स० दृशि	,,	दृक्षु
च० दृशे	,,	दृग्भ्य	सं० हे दृक्, ग्!	हे दृशौ!	हे दृश!

इसी प्रकार—तादृश, एतादृश्, यादृश् आदि के स्त्रीलिङ्ग म रूप समझने चाहियें[2]।

(यहां शकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

— : —

[लघु०] त्विट्, त्विड्। त्विड्भ्याम्॥

व्याख्या—त्विष् (कान्ति)। त्विषँ दीप्तौ (भ्वा० उभ०) धातु से क्विँप् प्रत्यय करने पर त्विष्' शब्द निष्पन्न होता है। 'त्विष्' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया पुंल्लिङ्ग के 'रत्नमुष्' शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र० त्विट् ड्*	त्विषौ	त्विष	प० त्विष	त्विड्भ्याम्	त्विड्भ्य
द्वि० त्विषम्	,,	,,	ष० ,,	त्विषो	त्विषाम्
तृ० त्विषा	त्विड्भ्याम्†	त्विड्भि	स० त्विषि	,,	त्विट्सु ट्सु‡
च० त्विषे	,,	त्विड्भ्य	सं० हे त्विट् ड्!	हे त्विषौ!	हे त्विष!

*झलां जशोऽन्ते (६७), वाऽवसाने (१४६)। †झलां जशोऽन्ते (६७)।

‡जश्त्व करने पर धुँट् प्रक्रिया।

इसी प्रकार—प्रावृष्, (वर्षा ऋतु), रुष् (क्रोध) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] ससजुषो रुँः (१०५) इति रुँत्वम्। सजूः। सजुषौ। सजूर्भ्याम्। आशीः। आशिषौ। आशीर्भ्याम्॥

व्याख्या—सजुष् (मित्र)। सह जुषते=सेवत इति सजूः। जुषीँ प्रीतिसेवनयोः (तुदा० आ०) इति धातोः क्विँप्। सहस्य स सञ्ज्ञायाम् (६.३.७७) इति सूत्रेण, ससजुषो रुँः (१०५) इति निपातनाद्वा सहस्य स भाव।

'सजुष्+सुँ। सुँलोप होकर ससजुषो रुँः (१०५) सूत्र म विशेष उल्लेख के कारण सजुष् के षकार को रुँ आदेश, र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (३५१) से उपधादीर्घ तथा रेफ को विसर्ग करने से 'सजूः' प्रयोग सिद्ध होता है।

---

१ 'तादृश्' शब्द के रूपों म 'ता' हटा दिया जाये तो 'दृश्' शब्द के रूप हो जाते हैं।

२ तादृशी, एतादृशी, कीदृशी आदि रूप कञन्त 'तादृश' आदि शब्दों से टिड्ढाणञ्० (१२४७) द्वारा ङीप् कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से बनते हैं। इन का उच्चारण नदीवत् होता है।

'सजुष्+भ्याम्'। पदान्त में रुँत्व और पूर्वोक्तरीत्या उपधादीर्घ होकर—सजूर्भ्याम्। इसी प्रकार—सजूर्भिः। सजूर्भ्यः।

सजुष्+सुप्। रुँत्व और उपधादीर्घ होकर—सजूर्+सु। अब षत्व (१५०) के असिद्ध होने से प्रथम **खरवसानयोः०** (६३) से विसर्ग आदेश हो जाता है—सजूः+सु। पुनः **वा शरि** (१०४) से विकल्प कर के विसर्ग को विसर्ग और पक्ष में **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से सकार आदेश होकर **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि** (३५२) सूत्र से दोनों पक्षों में सकार को मूर्धन्य षकार करने से—१. सजूःषु, २. सजूस्षु। अब सकार वाले पक्ष में ष्टुत्व (६४) हो जाता है। इस प्रकार—१. सजूःषु, २. सजूष्षु—ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'सजुष्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० सजूः	सजुषौ	सजुषः	पं० सजुषः	सजूर्भ्याम्	सजूर्भ्यः
द्वि० सजुषम्	,,	,,	ष० ,,	सजुषोः	सजुषाम्
तृ० सजुषा	सजूर्भ्याम्	सजूर्भिः	स० सजुषि	,,	सजूःषु,-ष्षु
च० सजुषे	,,	सजूर्भ्यः	सं० हे सजूः!	सजुषौ!	सजुषः!

इसी प्रकार—**आशिष्** (आशीर्वाद)। आङ् पूर्वक 'शास्' (अदा० आ०) धातु से क्विँप् प्रत्यय, **आशासः क्वावुपसङ्ख्यानम्** वार्त्तिक से इत्व तथा **शासि-वसिघसीनाञ्च** (५५४) द्वारा मूर्धन्य षकार करने पर 'आशिष्' शब्द निष्पन्न होता है। यहां का षत्व (८.३.६०) **ससजुषो रुँः** (८.२.६६) की दृष्टि में असिद्ध है; अतः पदान्त में सकार समझ कर सर्वत्र **ससजुषो रुँः** (१०५) से रुँत्व हो जाता है। शेष सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र० आशीः	आशिषौ	आशिषः	पं० आशिषः	आशीर्भ्याम्	आशीर्भ्यः
द्वि० आशिषम्	,,	,,[1]	ष० ,,	आशिषोः	आशिषाम्
तृ० आशिषा	आशीर्भ्याम्	आशीर्भिः	स० आशिषि	,,	आशीःषु,-ष्षु
च० आशिषे	,,	आशीर्भ्यः	सं० हे आशीः!	आशिषौ!	आशिषः!

(यहां षकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:o:—

[लघु०] असौ। उत्व-मत्वे—अमू। अमूः। अमुया। अमूभिः। अमुष्यै। अमूभ्यः। अमुष्याः। अमुयोः। अमूषाम्। अमुष्याम्। अमूषु॥

व्याख्या—'अदस्' शब्द की पुंल्लिङ्ग में प्रक्रिया लिख चुके हैं, अब स्त्रीलिङ्ग में लिखते हैं।

अदस्+सुँ। यहां पुंल्लिङ्ग के समान ही **अदस औ सुँ-लोपश्च** (३५५) द्वारा सकार को औकार और सुँ का लोप, **तदोः सः०** (३१०) से दकार को सकार तथा अन्त में **वृद्धिरेचि** (३३) से वृद्धि होकर—'असौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

---

१. कई लोग शस् में—परमात्मा जनेभ्य 'आशीर्ददाति—इस प्रकार भ्रम से अशुद्ध लिखते हैं; आशिषो ददाति—लिखना चाहिये।

अदस्+औ। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप् और सवर्णदीर्घ होकर—अदा+औ। औङ आपः (२१६) से औ को शी हो गुण एकादेश करने से—'अदे'। अब अदसोऽसेर्दादु दो मः (३५६) से एकार को ऊकार तथा दकार को मकार करने पर—अमू।

अदस्+अस् (जस्)=अदा+अस्। दीर्घाज्जसि च (१६२) सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होकर सवर्णदीर्घ हो जाता है—अदा। अब ऊत्व मत्व करने से—'अमू' सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां अदन्त सर्वनाम न होने से जस् को शी आदेश तथा एकार न होने के कारण एत ईद्० (३५७) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

अदस्+अम्=अदा+अम्। पूर्वरूप कर ऊत्व मत्व करने से—अमूम्।

अदस्+अस् (शस्)=अदा+अस्। पूर्वसवर्णदीर्घ होकर ऊत्व मत्व हो जाते हैं—अमूः।

अदस्+आ (टा)=अदा+आ। आङि चापः (२१८) से एकार होकर अय् आदेश करने से—अदया। अब उत्व मत्व करने से—अमुया।

अदस्+भ्याम्=अदा+भ्याम्। ऊत्व मत्व करने से—अमूभ्याम्।

अदस्+ए (ङे)=अदा+ए। सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (२२०) से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व हो—अद+स्या ए। पुनः वृद्धि कर के उत्व, मत्व और षत्व करने से—अमुष्यै।

अदस्+अस् (ङसिँ वा ङस्)=अदा+अस्=अदस्याः। अब उत्व, मत्व और षत्व करने पर—अमुष्याः।

अदस्+ओस्=अदा+ओस्। आङि चापः (२१८) से एकार तथा एचोऽयवायावः (२२) से अय् आदेश हो—अदयोः। उत्व मत्व करने पर—अमुयोः।

अदस्+आम्=अदा+आम्। सर्वनाम होने से आमि सर्वनाम्नः सुँट् (१५५) द्वारा सुँट् आगम कर ऊत्व मत्व और षत्व हो जाता है—अमूषाम्।

अदस्+इ (ङि)=अदा+इ। ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (१६८) से ङि को आम् हो स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व करने से—अदस्याम्। अब उत्व मत्व और षत्व करने पर—अमुष्याम्।

अदस्+सुप्=अदा+सु। ऊत्व मत्व और षत्व होकर—अमूषु।

'अदस्' शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	असौ	अमू	अमूः	प० अमुष्याः	अमूभ्याम्	अमूभ्यः
द्वि०	अमूम्	,,	,,	ष० ,,	अमुयोः	अमूषाम्
तृ०	अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः	स० अमुष्याम्	,,	अमूषु
च०	अमुष्यै	,,	अमूभ्यः	सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

नोट—स्त्रीलिङ्ग में अदस् शब्द की सिद्धि करते समय सुँ को छोड़ अन्य सब विभक्तियों में सर्वप्रथम 'अदा' रूप बना लेना चाहिये। तब 'सर्वा' शब्द के समान प्रक्रिया कर के अदसोऽसेर्दादु दो मः (३५६) सूत्र प्रवृत्त करना चाहिये। ऐसा करने से प्रक्रिया में अशुद्धि नहीं हो सकेगी।

विशेष—अप्सरस्, उषस्, सुमनस् (पुष्प) प्रभृति सकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप 'वेधस्' शब्द के तुल्य होते हैं कुछ विशेष नहीं होता। हां ! इन में पुष्पवाचक 'सुमनस्' प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त होता है।

(यहां सकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

[लघु०] इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः [शब्दाः] ॥

अर्थः—यहां हलन्त-स्त्रीलिङ्ग शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है।

अभ्यास (४७)

(१) निम्नलिखित शब्दों के सब विभक्तियों में रूप लिखें—
सुमनस्, त्विष्, उपानह्, दिव्, अप्, सजुष्, इदम् (स्त्रीलिङ्ग के अन्वादेश में), एतद् (स्त्रीलिङ्ग), चतुर् (स्त्रीलिङ्ग), किम् (स्त्रीलिङ्ग), अदस् (पुंल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग दोनों)।

(२) दृश्, उष्णिह्, दिश् आदि चाहे पुंलिङ्ग हों या स्त्रीलिङ्ग एक समान रूप बनते हैं पुनः इन्हें स्त्रीलिङ्गी क्यों माना जाता है ?

(३) 'उपानह् + भ्याम्' में हो ढः सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

(४) अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः—इस पर यथाधीत नोट लिखें।

(५) क्विन्नन्त न होने पर भी 'दृश्' में कुत्व कैसे हो जाता है ?

(६) निम्नलिखित सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. अपो भि। २. यः सौ। ३. नहो धः। ४. नहिवृतिवृषि०।

(७) सूत्रोपन्यासपूर्वक निम्नलिखित रूपों की सिद्धि करें—
१ अद्भिः। २ अनया। ३ उपानत्। ४ अमूषाम्। ५ चतस्रः। ६ आपः। ७ पूः। ८ द्यौः। ९ एनया। १० अमूः। ११ सजूष्षु। १२ इयम्। १३ गीर्षु। १४ चतसृणाम्। १५ कस्याम्। १६ उष्णिक्। १७ द्युषु। १८ अमुष्यै। १९ तस्याः। २० दिक्।

—:०:—

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्त-कौमुद्यां हलन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ हलन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणम्

[लघु०] स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत्, स्वनडुद् । स्वनडुही । चतुरनडुहो० (२५९) इत्याम् । स्वनड्वाहि । पुनस्तद्वत्[1] । शेषं पुंवत् ॥

व्याख्या—स्वनडुह् (अच्छे बैलों वाला कुल वा क्षेत्र आदि)। सु—शोभना, अनड्वाह = वृषभा यस्य तत् स्वनडुत् । यहां 'सु' और 'अनडुह्' का बहुव्रीहिसमास होता है । समाससञ्ज्ञा होने के कारण कृत्तद्धितसमासाश्च (११७) द्वारा प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होकर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।

स्वनडुह् + सुँ (सुँ) । यहां हल्ङ्याब्भ्यो० (१७९) द्वारा सुँ लोप प्राप्त होता है । परन्तु अपवाद होने के कारण उस का बाध कर स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) द्वारा सुँ का लुक् हो जाता है । पुनः प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१९०) द्वारा पदसञ्ज्ञा[2] हो जाने से वसुस्रंसु० (२६२) सूत्र से हकार को दकार[3] तथा वाऽवसाने (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-तकार होकर—'स्वनडुत्, स्वनडुद्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

स्वनडुह् + औ । यहां नपुंसकाच्च (२३५) सूत्र से 'औ' को 'शी' आदेश हो कर अनुबन्धलोप करने से—स्वनडुही ।

स्वनडुह् + जस् । यहां जश्शसोः शिः (२३७) से जस् को शि आदेश, शि सर्वनामस्थानम् (२३८) से उस की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, चतुरनडुहोरामुदात्तः (२५९) से आम् का आगम तथा नपुंसकस्य झलचः (२३९) से नुँम् का आगम होकर—'स्वनडु आ न् ह् + इ' । अब इको यणचि (१५) से यण् और नश्चापदान्तस्य झलि (७८) से नकार को अनुस्वार करने से—'स्वनड्वांहि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

स्वनडुह् + अम् । यहां भी स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) से अम् का लुक्, पदान्त में हकार को दकार तथा वैकल्पिक चर्त्व करने से—स्वनडुत्, स्वनडुद् ।

औट् में औ की तरह तथा शस् में जस् की तरह रूप बनते हैं । शेष विभक्तियों में पुंवत् (पुंल्लिङ्ग की तरह) रूप होते हैं । 'स्वनडुह्' की रूपमाला यथा—

---

१ पुनः उसी प्रकार अर्थात् द्वितीया विभक्ति के रूप भी प्रथमाविभक्ति के समान होते हैं । क्योंकि नपुंसक में सुँ के समान अम् का भी लुक् हो जाता है । 'औ' तथा 'औट्' में तो कोई अन्तर ही नहीं, और शस् को भी जस् के समान 'शि' आदेश होता है । यह नियम प्रायः सर्वत्र नपुंसक में प्रयुक्त होता है ।

२ ध्यान रहे कि पदसञ्ज्ञा अङ्गकार्य नहीं क्योंकि यह अङ्ग (प्रकृति) और प्रत्यय दोनों की समुदित सञ्ज्ञा है । अतः पदसञ्ज्ञा करने में न लुमताऽङ्गस्य (१९१) द्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता ।

३. वसुस्रंसु० (२६२) यह अङ्गाधिकारस्थ कार्य है, अतः यह तदन्त में भी प्रवृत्त होता है । देखें पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च (प०) ।

प्र०	स्वनडुत्,-द्	स्वनडुही	स्वनड्वांहि	प०	स्वनडुहः	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	स्वनडुहोः	स्वनडुहाम्
तृ०	स्वनडुहा	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भिः	स०	स्वनडुहि	,,	स्वनडुत्सु
च०	स्वनडुहे	,,	स्वनडुद्भ्यः	सं०	हे स्वनडुत्-द्!	स्वनडुही!	स्वनड्वांहि!

भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् में वसुंस्रंसुं० (२६२) से दत्व हो जाता है।

(यहां हकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——::०::——

[लघु०] वाः। वारी। वारि। वार्भ्याम्॥

व्याख्या—वार् (जल)। आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि—इत्यमरः।

वार्+सुँ। स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) से सुँ का लुक् होकर अवसान में रेफ को विसर्ग हो जाता है—वाः।

वार्+औ। नपुंसकाच्च (२३५) से औ को शी हो—वार्+शी=वारी।

वार्+जस्। जश्शसोः शिः (२३७) से जस् को शि हो—वार्+शि=वारि। रेफ का झलों में पाठ न होने से यहां नपुंसकस्य झलचः (२३९) से नुँम् का आगम नहीं होता। 'वार्' (जल) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	वाः	वारी	वारि	प०	वारः	वार्भ्याम्	वार्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	वारोः	वाराम्
तृ०	वारा	वार्भ्याम्	वार्भिः	स०	वारि	,,	वार्षु†
च०	वारे	,,	वार्भ्यः	सं०	हे वाः!	हे वारी!	हे वारि!

† यहां रुँ का रेफ न होने से विसर्ग आदेश नहीं होता—रोः सुपि (२६८)।

[लघु०] चत्वारि॥

व्याख्या—'चतुर्' शब्द त्रिलिङ्गी तथा नित्य बहुवचनान्त होता है। यहां नपुंसक में इस की प्रक्रिया दर्शाई जाती है—

चतुर्+जस्=चतुर्+शि। शि सर्वनामस्थानम् (२३८) द्वारा 'शि' की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर चतुरनडुहोः० (२५९) से आम् का आगम तथा इको यणचि (१५) सूत्र से यण् आदेश होकर—चत्वारि। इसी प्रकार शस् में। शेष विभक्तियों में पुंवत् प्रक्रिया जाननी चाहिये। रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	चत्वारि	प०	०	०	चतुर्भ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	चतुर्णाम्
तृ०	०	०	चतुर्भिः	स०	०	०	चतुर्षु
च०	०	०	चतुर्भ्यः		सम्बोधन नहीं होता।		

(यहां रेफान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

——::०::——

[लघु०] किम् । के । कानि ॥

व्याख्या—किम्+सुँ । स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) से सुँ का लुक् होकर—किम् । अब विभक्ति परे न होने से किमः कः (२७१) से 'क' आदेश नहीं हो सकता, प्रत्ययलक्षण भी न लुमताऽङ्गस्य (१९१) के निषेध के कारण नहीं हो पाता ।

किम्+औ । यहां विभक्ति परे होने के कारण किमः कः (२७१) से क आदेश होकर औ को शी और गुण करने से—के ।

किम्+जस् । क आदेश होकर ज्ञानशब्दवत्—कानि । रूपमाला यथा—

प्र० किम्	के	कानि	प० कस्मात्*	काभ्याम्	केभ्यः
द्वि० „	„	„	ष० कस्य	कयोः	केषाम्‡
तृ० केन	काभ्याम्	कैः	स० कस्मिन्*	„	केषु
च० कस्मै†		केभ्यः	सम्बोधन नहीं होता ।		

† सर्वनाम्नः स्मै (१५३) । * ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४) ।

‡ आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५), बहुवचने० (१४५), आदेशप्रत्यययोः (१५०)।

[लघु०] इदम् । इमे । इमानि ॥

व्याख्या—नपुंसकलिङ्ग में 'इदम्' शब्द की प्रक्रिया यथा—

इदम्+सुँ । स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) से सुँ का लुक् होकर—इदम् । विभक्ति का लुक् होने से इदमो मः (२७२) तथा त्यदाद्यत्व आदि नहीं होते ।

इदम्+औ । त्यदाद्यत्व, पररूप, शी आदेश, गुण और दश्च (२७५) द्वारा दकार को मकार होकर—इमे ।

इदम्+जस् । त्यदाद्यत्व, पररूप, शि आदेश, उस की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, अकारान्त होने से नुँम् आगम, उपधादीर्घ और दकार को मकार करने पर—इमानि ।

द्वितीया में भी इसी तरह रूप बनते हैं । शेष पुंवत् जानें । रूपमाला यथा—

प्र० इदम्	इमे	इमानि	प० अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि० „	„	„	ष० अस्य	अनयोः	एषाम्
तृ० अनेन	आभ्याम्	एभिः	स० अस्मिन्	„	एषु
च० अस्मै	„	एभ्यः	सम्बोधन नहीं होता ।		

[लघु०] वा०—(२९) अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः ॥

एनत्, एनद् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः २ ॥

अर्थः—द्वितीया, टा और ओस् विभक्ति परे होने पर नपुंसकलिङ्ग में अन्वादेश में इदम् और एतद् शब्द के स्थान पर 'एनत्' आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक द्वितीयाटौस्स्वेनः (२८०) सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है, अतः यह तद्विषयक ही है ।

यह 'एनत्' आदेश अम् के लिये ही किया गया है, क्योंकि अन्य विभक्तियों (औट्, शस्, टा, ओस्) में तो द्वितीयाटौस्स्वेनः (२८०) से भी कार्य निकल सकता

है। भाष्यकार ने भी यही स्वीकार किया है—एनदिति नपुंसक एकवचने वक्तव्यम्, कुण्डमानय, प्रक्षालयैनत्।

इदम्+अम्। यहां **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) से अम् का लुक् होकर प्रत्यय-लक्षण का निषेध होने पर भी एनद्विधानसामर्थ्य से अम् को मानकर प्रकृतवार्त्तिक से 'एनत्' आदेश हो जाता है। पुनः जश्त्व-चर्त्व करने पर—'एनत्, एनद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इदम्+औट्=इदम्+शी=एनत्+ई। त्यदाद्यत्व, पररूप, तथा गुण एकादेश होकर—एने।

इदम्+शस्=इदम्+शि=एनत्+इ। त्यदाद्यत्व, पररूप, **नपुंसकस्य झलचः** (२३९) से नुँम् आगम तथा **सर्वनामस्थाने चाऽसंबुद्धौ** (१७७) से उपधादीर्घ होकर—एनानि।

इदम्+टा=एनत्+आ। त्यदाद्यत्व, पररूप तथा **टाङसिँङसामिनात्स्याः** (१४०) से टा को इन आदेश और गुण एकादेश करने पर—एनेन।

इदम्+ओस्=एनत्+ओस्=एन+ओस्। **ओसि च** (१४७) से अकार को एकार होकर अय् आदेश करने से—एनयोः।

नोट—वस्तुतः अम् से भिन्न अन्य विभक्तियों में उपर्युक्त भाष्य के वचन से **द्वितीयाटौस्स्वेनः** (२८०) द्वारा 'एन' आदेश ही होता है, एनत् नहीं। हम ने यह सब मतान्तर के आश्रय से ही लिखा है।

नपुंसकलिङ्ग के अन्वादेश में 'इदम्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० इदम्	इमे	इमानि	प० अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि० एनत्-द्	एने	एनानि	ष० अस्य	एनयोः	एषाम्
तृ० एनेन	आभ्याम्	एभिः	स० अस्मिन्	,,	एषु
च० अस्मै	,,	एभ्यः	सम्बोधन में प्रयोग नहीं होता।		

(यहां मकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

———::o::———

[लघु०] अहः। विभाषा ङिश्योः (२४८)—अह्नी, अहनी। अहानि॥

व्याख्या—अहन् (दिन)। **घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ**—इत्यमरः।

अहन्+सुँ। **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) से सुँ का लुक्, **रोऽसुँपि** (११०)[1] से नकार को रेफ आदेश और **खरवसानयोः०** (९३) से उसे विसर्ग करने पर 'अहः'[2] प्रयोग सिद्ध होता है।

अहन्+औ। यहां **यचि भम्** (१६५) सूत्र द्वारा भसञ्ज्ञा होने के कारण

१. यहाँ अहन् (३६३) से रुँत्व न होकर 'असुँपि' के सामर्थ्य से रत्व होगा।
२. 'अहः+इदम्' की सन्धि 'अहरिदम्'। इसी प्रकार 'अहर्भाति'। देखें (११०)।

विभाषा ङिश्योः (२४८) से अन् के अकार का विकल्प से लोप हो जाता है—अह्नी, अहनी।

अहन्+जस्=अहन्+शि। यहां सर्वनामस्थाने० (१७७) से उपधादीर्घ हो कर—अहानि। भसंज्ञा न होने से अन् के अकार का लोप न होगा।

अहन्+आ (टा)। भसञ्ज्ञा होकर अल्लोपोऽनः (२४७) से अन् के अकार का नित्य लोप हो जाता है—अह्ना।

अहन्+भ्याम्। यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३६३) अहन् ।८।२।६८॥

अहन् इत्यस्य रुँ पदान्ते। अहोभ्याम् ॥

अर्थः—पदान्त में 'अहन्' के नकार के स्थान पर रुँ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—अहन् ।६।१। (यहां षष्ठी का लुक् हुआ है)। रुँ ।१।१। (ससजुषो रुँः से)। पदस्य ।६।१। (अधिकृत है)। अन्ते ।७।१। (स्कोः० से) अर्थः—(पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (अहन्) अहन् शब्द के स्थान पर (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल्—नकार के स्थान पर होता है।

अहन्+भ्याम्। यहां प्रकृतसूत्र से नकार को रुँ आदेश होकर हशि च (१०७) से उत्व तथा आद् गुणः (२७) से गुण करने पर—अहोभ्याम्। इसी प्रकार—अहोभिः, अहोभ्यः।

अहन्+इ (ङि)। भसञ्ज्ञा होकर विभाषा ङिश्योः (२४८) से विकल्प कर के अन् के अकार का लोप हो जाता है—अह्नि, अहनि।

अहन्+सुप्। रुँत्व विसर्ग होकर—अहः सु। वा शरि (१०४) से विकल्प कर के विसर्ग तथा पक्ष में विसर्जनीयस्य सः (९६) से विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होकर—अहः सु अहस्सु। रूपमाला यथा—

प्रथमा	अहः	अह्नी, अहनी	अहानि
द्वितीया	"	" "	"
तृतीया	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
चतुर्थी	अह्ने	"	अहोभ्यः
पञ्चमी	अह्नः	"	"
षष्ठी	"	अह्नोः	अह्नाम्
सप्तमी	अह्नि, अहनि	"	अहः सु, अहस्सु
सम्बोधन	हे अहः !	हे अह्नी, अहनी !	हे अहानि !

[लघु०] दण्डि ॥

व्याख्या—दण्डोऽस्यास्तीति—दण्डि (कुलम्)। अत इनिठनौ (११८७)।

दण्डिन्+सुँ। यहां स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) से सु का लुक् होकर—न लोपः० (१८०) से नकार का भी लोप हो जाता है—दण्डि।

हे दण्डिन्+सुँ । सुँ का लुक् होकर नकारलोप प्राप्त होता है । इस पर अग्रिम-वार्त्तिक से विकल्प होता है—

[लघु०] वा०—(३०) सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः ॥

हे दण्डिन् !, हे दण्डि ! । दण्डिनी । दण्डीनि । दण्डिना । दण्डिभ्याम् ॥

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर नपुंसकों के नकार का विकल्प से लोप हो ।

व्याख्या—'हे दण्डिन्' यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा सम्बुद्धि के परे होने से नकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है । लोपपक्ष में—हे दण्डि !, लोपाभावपक्ष में—हे दण्डिन् ! ।

दण्डिन्+औ=दण्डिन्+शी=दण्डिनी ।

दण्डिन्+अस् (जस्)=दण्डिन्+शि । **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** (१७७) से उपधादीर्घ होकर—दण्डीनि[1] ।

दण्डिन् (दण्ड वाला कुल आदि) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दण्डि	दण्डिनी	दण्डीनि	पं०	दण्डिनः	दण्डिभ्याम्	दण्डिभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	दण्डिनोः	दण्डिनाम्
तृ०	दण्डिना	दण्डिभ्याम्	दण्डिभिः	स०	दण्डिनि	,,	दण्डिषु
च०	दण्डिने	,,	दण्डिभ्यः	सं०	हे दण्डि,-न्!	दण्डिनी	दण्डीनि!

[लघु०] सुपथि । टेर्लोपः—सुपथी । सुपन्थानि ॥

व्याख्या—सुन्दराः पन्थानो यस्मिन् तत् सुपथि नगरम् । बहुव्रीहिसमासः ।

सुपथिन्+सुँ । यहां 'दण्डिन्' के समान सुँलुक् तथा नकारलोप होकर—सुपथि ।

सुपथिन्+औ=सुपथिन्+ई (शी) । भसञ्ज्ञा होकर **भस्य टेर्लोपः** (२९६) से 'इन्' भाग का लोप हो जाता है—सुपथी ।

सुपथिन्+जस्=सुपथिन्+शि । यहां 'शि' की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर **इतोऽत्सर्वनामस्थाने** (२९४) से इकार को अकार तथा **थो न्थः** (२९५) सूत्र से थकार को न्थ् आदेश हो जाता है । अब **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** (१७७) से उपधादीर्घ करने पर—सुपन्थानि ।

सुपथिन् (सुन्दर मार्गों वाला नगर आदि) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सुपथि	सुपथी	सुपन्थानि	पं०	सुपथः	सुपथिभ्याम्	सुपथिभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	सुपथोः	सुपथाम्
तृ०	सुपथा	सुपथिभ्याम्	सुपथिभिः	स०	सुपथि	,,	सुपथिषु
च०	सुपथे	,,	सुपथिभ्यः	सं०	हे सुपथि,-न् !	सुपथी!	सुपन्थानि !

(यहां नकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है ।)

—:o:—

1. यहां इन्हन्पूषार्यम्णां शौ (२८४) के नियम के कारण दीर्घनिषेध नहीं होता ।

[लघु०] ऊर्क्, ऊर्ग् । ऊर्जी । ऊर्न्जि । नरजानां संयोगः ॥

व्याख्या—ऊर्ज् (बल या तेज) । ऊर्ज बलप्राणनयोः (चु० उभ०) धातु से क्विँप् प्रत्यय करने पर उस का सर्वापहार लोप हो 'ऊर्ज्' शब्द निष्पन्न होता है ।

ऊर्ज्+सुँ । सुँ का लुक् होकर चोः कुः (३०६) द्वारा जकार को गकार तथा वाऽवसाने (१४६) से वैकल्पिक ककार करने पर—ऊर्क्, ऊर्ग् ।

ऊर्ज्+औ=ऊर्ज्+शी=ऊर्जी ।

ऊर्ज्+जस्=ऊर्ज्+शि । यहां नपुंसकस्य झलचः (२३९) द्वारा अच् से परे नुँम् आगम होकर—'ऊर्न्जि'[1] सिद्ध होता है । समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	ऊर्क्, ग्	ऊर्जी	ऊर्न्जि	पं०	ऊर्जः	ऊर्ग्भ्याम्	ऊर्ग्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	ऊर्जोः	ऊर्जाम्
तृ०	ऊर्जा	ऊर्ग्भ्याम्	ऊर्ग्भिः	स०	ऊर्जि	,,	ऊर्क्षु
च०	ऊर्जे	,,	ऊर्ग्भ्यः	सं०	हे ऊर्क्,-ग् !	ऊर्जी !	ऊर्न्जि !

(यहां जकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है ।)

—— o ——

[लघु०] तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि ॥

व्याख्या—तद्+सुँ । सुँ का लुक् हो वैकल्पिक चर्त्व करने से—तत्, तद् । ध्यान रहे कि यहां सुँ का लुक् हो जाने से तदोः सः०(३१०)द्वारा तकार को सकारादेश नहीं होता । इसी प्रकार एतद् शब्द में भी समझ लेना चाहिये ।

तद्+औ । त्यदाद्यत्व, पररूप, 'औ' को शी कर गुण करने से—ते ।

तद्+जस् । त्यदाद्यत्व, पररूप, जस् को शि आदेश, नुँम् आगम और उपधादीर्घ होकर—तानि । द्वितीया में भी इसी प्रकार होता है । शेष पूर्ववत् जानें ।

'तद्' (वह) शब्द की नपुंसकलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	तत्, तद्	ते	तानि	पं०	तस्मात्-द्	ताभ्याम्	तेभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः	स०	तस्मिन्	,,	तेषु
च०	तस्मै	,,	तेभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग में यद् (जो) शब्द की रूपमाला यथा—

---

१ 'ऊर्ञ्जि' लिखने वाले सावधान रहें । क्योंकि वैसा लिखने से रेफ सब से पहले पढ़ा जायेगा, जैसे—'कार्त्स्न्यं' आदि में होता है । परन्तु हमें नकार (नुँम्) का पाठ रेफ से पूर्व करना इष्ट है । अतः 'ऊर्न्जि' इस ढंग से ही लिखना चाहिये । ग्रन्थकार ने भी लेखकों की इस भ्रान्ति की ओर ध्यान देते हुए—नरजानां संयोगः (नकार, रेफ और जकार का संयोग है) ऐसा स्पष्ट लिख दिया है । अत एव रेफ का बीच में व्यवधान पड़ने से नकार को श्चुत्व नहीं होता ।

प्र० यत्-द्	ये	यानि	प० यस्मात्-द्	याभ्याम्	येभ्यः
द्वि० ,,	,,	,,	ष० यस्य	ययोः	येषाम्
तृ० येन	याभ्याम्	यैः	स० यस्मिन्	,,	येषु
च० यस्मै	,,	येभ्यः	सम्बोधन नहीं होता ।		

इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग में 'एतद्' (यह) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० एतत्-द्	एते	एतानि	प० एतस्मात्-द्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
द्वि० ,,	,,	,,	ष० एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
तृ० एतेन	एताभ्याम्	एतैः	स० एतस्मिन्	,,	एतेषु
च० एतस्मै	,,	एतेभ्यः	सम्बोधन नहीं होता ।		

(यहां दकारान्त नपुंसक-शब्दों का विवेचन समाप्त होता है ।)

——::o::——

[लघु०] गवाक् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् ॥

व्याख्या—**गो अञ्च्** (गौ के पीछे चलने वाला कुल आदि) ।

गामञ्चतीति—गवाक् । 'गो' कर्म उपपद होने पर गत्यर्थक **अञ्चुँ** (भ्वा० प०) धातु से **ऋत्विग्दधृक्०** (३०१) सूत्र से क्विँन्प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप, **अनिदिताम्०** (३३४) से उपधा के नकार का लोप होकर—गो अच् । अब इस से स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

'सुँ' में—गो अच्+स् । **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) से सुँ का लुक्, **क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (८.२.६२) के असिद्ध होने से **चोः कुः** (८.२.३०) द्वारा चकार को ककार होकर जश्त्व-चर्त्व प्रक्रिया करने से—'गो अक्, गो अग्' । अब 'गो' शब्द के ओकार तथा 'अक्' शब्द के अकार के मध्य तीन प्रकार की सन्धि [**अवङ् स्फोटायनस्य**(४७) से वैकल्पिक अवङ् हो कर सवर्णदीर्घ, अवङ्-अभाव में **सर्वत्र विभाषा गोः** (४४) से वैकल्पिक प्रकृतिभाव, प्रकृतिभाव के अभाव में **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्वरूप] होने से छः रूप सिद्ध होते हैं । यथा— (अवङ्पक्ष में) १. गवाक्, २. गवाग् ।(प्रकृतिभावपक्ष में) ३. गोअक्, ४. गोअग् । (पूर्वरूपपक्ष में) ५. गोऽक्, ६. गोऽग् ।

'औ' में—गो अच्+औ । यहां **नपुंसकाच्च**(२३५) से 'औ' को शी, अनुबन्धलोप, **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा तथा **अचः** (३३५) सूत्र से अकार का लोप होकर—'गोची' यह एक ही रूप सिद्ध होता है । इस प्रकार गति अर्थ में भसञ्ज्ञा के सब स्थलों में यही बात समझनी चाहिये ।

'जस्' में—गो अच्+जस् । **जश्शसोः शिः** (२३७) से जस् को शि आदेश, उस की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः**(२८९) सूत्र से नुँम् आगम, **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) से नकार को अनुस्वार, **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) से परसवर्ण ञकार तथा उपर्युक्त तीनों प्रकार की सन्धि करने से—गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि ये तीन रूप सिद्ध होते हैं ।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है ।

'टा' में—गो अच् + आ (टा)। भसञ्ज्ञा होकर अच.(३३५) से अकार का लोप हो जाता है—गोचा।

'भ्याम्' में—गो अच् + भ्याम्। यहां भसञ्ज्ञा न होने से अकारलोप नहीं होता। पदान्त में चोः कुः (३०६) द्वारा कुत्व-ककार तथा झलां जशोऽन्ते (६७) से उसे गकार करने पर तीन प्रकार की सन्धि हो जाती है—१. गवाग्भ्याम्, २. गोअग्भ्याम्, ३. गोऽग्भ्याम्। इसी प्रकार—भिस्, भ्यस् और सुप् में तीन २ रूप बना लेने चाहियें। सुप् में खरि च (७४) से चर्त्व विशेष है।

गतिपक्ष में 'गोअञ्च्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	गवाक्,-ग् गोअक्,-ग् गोऽक्,-ग्	गोची	गवाञ्चि गोअञ्चि गोऽञ्चि
द्वि०	गवाक्,-ग् गोअक्,-ग् गोऽक्,-ग्	गोची	गवाञ्चि गोअञ्चि गोऽञ्चि
तृ०	गोचा	गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्	गवाग्भिः गोअग्भिः गोऽग्भिः
च०	गोचे	गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्	गवाग्भ्यः गोअग्भ्यः गोऽग्भ्यः
पं०	गोचः	गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्	गवाग्भ्यः गोअग्भ्यः गोऽग्भ्यः
ष०	गोचः	गोचोः	गोचाम्
स०	गोचि	"	गवाक्षु† गोअक्षु गोऽक्षु
सं०	हे गवाक्,-ग्! हे गोअक्,-ग्! हे गोऽक्,-ग्!	हे गोची!	हे गवाञ्चि! हे गोअञ्चि! हे गोऽञ्चि!

† यहां खरि च (७४) से हुआ चर्त्व चयो द्वितीया० (वा० १४) की दृष्टि में असिद्ध है अतः चय् न होने से खकार आदेश नहीं होता।

ये सब रूप गत्यर्थक 'अञ्चुँ' धातु के हैं। यदि 'अञ्चुँ' धातु पूजार्थक होगी तो निम्नप्रकारेण प्रक्रिया होगी—

गो अञ्च् (गाय की पूजा करने वाला)। 'गो' कर्मोपपद 'अञ्चुँ' धातु से क्विन्, उस का सर्वापहारलोप, नाञ्चेः पूजायाम् (३४१) से नकार के लोप का निषेध हो जाता है। अब प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

'सुँ' में—गो अञ्च् + सुँ। स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) से सुँ का लुक्, संयोगान्तस्य लोपः (२०) सूत्र से संयोगान्त चकार का लोप; निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः के न्यायानुसार ञकार को पुनः नकार तथा उसे क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) सूत्र से ङकार करने पर—'गो अङ्'। अब तीन प्रकार की सन्धि करने में—'१. गवाङ्, २ गोअङ्, ३ गोऽङ्' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं।

'औ' में—गो अञ्च् + औ। नपुंसकाच्च (२३५) सूत्र से 'औ' को शी आदेश होकर तीन प्रकार की सन्धि करने से—'१. गवाञ्ची, २. गोअञ्ची, ३. गोऽञ्ची' ये

तीन रूप सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि लुप्तनकार अञ्चुं न होने से अचः (३३५) से अकार का लोप न होगा। इसी प्रकार भत्व में सर्वत्र जानना चाहिये।

'जस्' में—गो अञ्च्+जस्। जस् को शि आदेश होकर नकारलोप न होने के कारण सर्वनामस्थान परे होने पर भी **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुंम् आगम नहीं होता। **नपुंसकस्य झलचः** (२३९) से भी नुंम् न होगा, क्योंकि वहां पर 'अचः परस्यैव झलो नुम्विधानम्' यह व्यवस्था की गई है। अब तीन प्रकार की सन्धि करने से—१. गवाञ्चि, २. गोअञ्चि, ३. गोऽञ्चि—ये तीन रूप सिद्ध होते हैं।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है।

'टा' में—गो अञ्च्+आ (टा)। नकार का लोप न होने के कारण अचः (३३५) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। केवल तीन प्रकार की सन्धि करने से—१. गवाञ्चा, २. गोअञ्चा, ३. गोऽञ्चा—ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—ङे, ङसिँ, ङस्, ओस्, आम् और ङि में प्रक्रिया होती है।

'भ्याम्' में—गो अञ्च्+भ्याम्। **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) सूत्र से चकार-लोप, **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के न्यायानुसार ञकार को नकार तथा **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) से उसे ङकार होकर तीन प्रकार की सन्धि करने से—१. गवाङ्भ्याम्, २. गोअङ्भ्याम्, ३. गोऽङ्भ्याम्—ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—भिस् और भ्यस् में भी प्रक्रिया होती है।

'सुप्' में—गो अञ्च्+सुप्। संयोगान्तलोप, ञकार को नकार तथा **क्विन्प्रत्ययस्य कुः**(३०४)से नकार को ङकार होकर—गोअङ्+सु। **आदेश-प्रत्यययोः**(१५०) से षत्व, **ङ्णोः कुँक् टुँक् शरि** (८६) सूत्र से वैकल्पिक कुँक् आगम करने पर तीनों प्रकार की सन्धि हो जाती है—

अवङ्पक्ष में———{ गवाङ्क्षु, गवाङ्षु।
प्रकृतिभावपक्ष में———{ गोअङ्क्षु गोअङ्षु।
पूर्वरूपपक्ष में———{ गोऽङ्क्षु, गोऽङ्षु। }[1]

पूजापक्ष में 'गोअञ्च्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	गवाङ् / गोअङ् / गोऽङ्	गवाञ्ची / गोअञ्ची / गोऽञ्ची	गवाञ्चि / गोअञ्चि / गोऽञ्चि	तृ०	गवाञ्चा / गोअञ्चा / गोऽञ्चा	गवाङ्भ्याम् / गोअङ्भ्याम् / गोऽङ्भ्याम्	गवाङ्भिः / गोअङ्भिः / गोऽङ्भिः
द्वि०	गवाङ् / गोअङ् / गोऽङ्	गवाञ्ची / गोअञ्ची / गोऽञ्ची	गवाञ्चि / गोअञ्चि / गोऽञ्चि	च०	गवाञ्चे / गोअञ्चे / गोऽञ्चे	गवाङ्भ्याम् / गोअङ्भ्याम् / गोऽङ्भ्याम्	गवाङ्भ्यः / गोअङ्भ्यः / गोऽङ्भ्यः

१. यहां पक्ष में **चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्** (वा० १४) से ककार को वर्गद्वितीय—खकार हो जाता है। इस से सुप् में तीन रूप और बढ़ कर नौ रूप हो जाते हैं।

प०	गवाञ्च गोअञ्च गोऽञ्च	गवाङ्भ्याम् गोअङ्भ्याम् गोऽङ्भ्याम्	गवाङ्भ्य गोअङ्भ्यः गोऽङ्भ्य	ष०	गवाञ्च गोअञ्च गोऽञ्च	गवाञ्चो गोअञ्चो गोऽञ्चो	गवाञ्चाम् गोअञ्चाम् गोऽञ्चाम्

स०	गवाञ्चि गोअञ्चि गोऽञ्चि	गवाञ्चो गोअञ्चो गोऽञ्चो.	गवाङ्क्षु, गवाङ्क्षु, गवाङ्षु गोअङ्क्षु, गोअङ्क्षु, गोअङ्षु गोऽङ्क्षु, गोऽङ्क्षु, गोऽङ्षु

स० सम्बोधन म प्रथमावत् रूप बनते हैं ।

तो इस प्रकार गतिपक्ष मे ४९ रूप तथा पूजापक्ष मे ६६ रूप अर्थात् कुल मिलाकर ४९ + ६६ = ११५ रूप बनते हैं । जस् और शस् मे पूजा और गति दोनो पक्षो मे एक समान रूप बनते हैं, अत. एक सौ पन्द्रह रूपो मे छ रूप घटा देने पर—११५ — ६ = १०९ रूप अवशिष्ट रहते हैं[1] । यद्यपि पूजापक्ष मे सुप् मे **चयो द्वितीयाः०** वार्त्तिक से वर्गद्वितीय आदेश होने से तीन रूप और बढ कर एक सौ बारह रूप होते हैं, तथापि यहा मूलकार के मतानुसार एक सौ नौ (१०९) रूपो का परिगणन समझना चाहिये । इस शब्द पर एक रोचक प्रश्नोत्तर बहुत प्रसिद्ध है । तथाहि—

प्रश्न—
जायन्ते नव सौ, तथाऽमि च नव, भ्याम्भिस्भ्यसा सङ्गमे
षट्सङ्ख्यानि, नवैव सुप्यथ जसि श्रोष्येव तद्वच्छसि ।
चत्वार्यन्यवच सु कस्य विबुधा. ! शब्दस्य रूपाणि तज्-
जानन्तु प्रतिभास्ति चेन्निगदितुं षाण्मासिकोऽत्रावधि. ॥
(शार्दूलविक्रीडितम्)

भावार्थ.— हे बुधजनो ! यदि आप मे बुद्धि है तो हम आपको छ मास का अवसर प्रदान करते हैं आप उस शब्द को जानने का प्रयत्न करे जिस के सुँ अम् और सुप् मे नौ नौ, भ्याम्, भ्यस् और भिस् मे छ छ, जस् और शस् मे तीन-तीन तथा अन्यवचनो मे चार-चार रूप बनते हैं ।

उत्तर— **गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।**
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं (१०९) मतम् ॥१॥

भावार्थ.—नपुंसकलिङ्ग मे गति और पूजा के भेद से तथा प्रकृतिभाव, अवङ् और पूर्वरूप के कारण गोपूर्वक क्विन्नन्त अञ्चुँ के एक सौ नौ रूप होते हैं। तथाहि—

स्वम्सुप्सु नव षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसो. ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥२॥

---

१ यद्यपि तीन भ्याम् प्रत्ययो, दो भ्यस् प्रत्ययों एव पञ्चमी षष्ठी तथा इतर विभक्तियों मे भी रूपो के एक जैसा होने से एक सौ नौ (१०९) रूप युक्त नही कहे जा सकते, तथापि यहा—उसी एक विभक्ति मे यदि रूपो की समानता पाई जाये तो उसे एक रूप मानना चाहिये, इतरेतर विभक्तियों मे नही—यह अभिप्राय इष्ट होने मे कोई दोष नही आता । किञ्च यहा सम्बोधन के रूपो के परिगणन का प्रश्न नही उठाना चाहिये, क्योकि सम्बोधन विभक्ति तो विशेष प्रकार की प्रथमा ही होती है [सम्बोधने च (८८९)] ।

भावार्थः—इस शब्द के सुँ, अम् तथा सुप् में नौ नौ, भ्याम् भिस् आदि छः भकारादियों में छः छः, जस् शस् में तीन-तीन तथा शेष दसों में चार-चार रूप होते हैं।

(यहां चकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन होता है।)

——:०:——

[लघु०] शकृत्। शकृती। शकृन्ति॥

व्याख्या—शकृत् (विष्ठा)। उच्चारावस्करौ शमलं शकृत् इत्यमरः।

शकृत्+सुँ। स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) से सुँ का लुक् होकर जश्त्व-चर्त्व प्रक्रिया करने से—शकृत्, शकृद्।

शकृत्+औ=शकृत्+शी=शकृती।

शकृत्+जस्=शकृत्+शि। झलन्त होने से नपुंसकस्य झलचः (२३६) से नुँम् आगम, अनुस्वार और परसवर्ण करने पर—शकृन्ति। रूपमाला यथा—

प्र०	शकृत्-द्	शकृती	शकृन्ति	पं०	शकृतः	शकृद्भ्याम्	शकृद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	शकृतोः	शकृताम्
तृ०	शकृता	शकृद्भ्याम्	शकृद्भिः	स०	शकृति	,,	शकृत्सु
च०	शकृते	,,	शकृद्भ्यः	सं०	हे शकृत्-द्!	हे शकृती!	हे शकृन्ति!

इसी प्रकार—यकृत् (जिगर) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।[1]

[लघु०] ददत्। ददती॥

व्याख्या—ददत् (देता हुआ कुल आदि)। शत्रन्तोऽयम्।

ददत्+सुँ। सुँ का लुक् होकर जश्त्व–चर्त्व-प्रक्रिया से—ददत्, ददद्।

ददत्+औ=ददत्+शी=ददती।

ददत्+जस्=ददत्+शि=ददत्+इ। यहां उगिदचाम्० (२८६) सूत्र द्वारा अथवा नपुंसकस्य झलचः (२३६) सूत्र द्वारा नित्य नुँम् का आगम प्राप्त होता है, परन्तु उभे अभ्यस्तम् (३४४) से अभ्यस्तसञ्ज्ञा होकर नाभ्यस्ताच्छतुः (३४५) द्वारा उस का निषेध हो जाता है। अब वैकल्पिक नुँम् करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३६४) वा नपुंसकस्य।७।१।७६॥

अभ्यस्तात् परो यः शता तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुँम् सर्वनामस्थाने। ददन्ति, ददति॥

अर्थः—अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे जो शतृ प्रत्यय तदन्त नपुंसकलिङ्ग को सर्व-नामस्थान परे होने पर विकल्प से नुँम् का आगम हो जाता है।

---

१. पद्-दन्-नो-मास्-हृन्-निश्-असन्-यूषन्-दोषन्-यकन्-शकन्-उदन्-आसन् शस्प्रभृतिषु (६.१.६१) सूत्रद्वारा शस् आदि विभक्तियों में यकृत् को यकन् तथा शकृत् को शकन् ये वैकल्पिक आदेश भी हो जाते हैं। इन का विवेचन सिद्धान्त-कौमुदी में देखें।

व्याख्या—अभ्यस्तात् ।५।१। शतु ।६।१। (नाभ्यस्ताच्छतु से)। नपुंसकस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। वा इत्यव्ययपदम्। नुंम् ।१।१। (इदितो नुंम् धातोः से)। सर्वनामस्थाने ।७।१। (उगिदचां सर्वनामस्थाने० से)। अर्थः—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे (शतुः) जो शतृं प्रत्यय, तदन्त (नपुंसकस्य) नपुंसक (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (वा) विकल्प कर के (नुंम्) नुंम् हो जाता है (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे हो तो।

ददत्+इ। यहां 'शि' यह सर्वनामस्थान परे है, अभ्यस्त होने से नाभ्यस्ताच्छतुः (३४५) से नुंम्निषेध प्राप्त था, पर नपुंसकत्व में प्रकृतसूत्र से विकल्प से नुंम् का आगम होकर अनुस्वार-परसवर्ण करने से—'ददन्ति, ददति' ये दो रूप बनते हैं। नपुंसक में 'ददत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ददत्,-द्	ददती	ददन्ति,ददति	प०	ददतः	ददद्भ्याम्	ददद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	ददतोः	ददताम्
तृ०	ददता	ददद्भ्याम्	ददद्भिः	स०	ददति	,,	ददत्सु
च०	ददते	,,	ददद्भ्यः	स०	सम्बोधन प्रथमावत् होता है।		

[लघु०] तुदत् ॥

व्याख्या—तुदत् (दुःख देता हुआ कुल आदि)। शत्रन्त।

तुदँ व्यथने (तुदा० उभ०) धातु से शतृं प्रत्यय, उस की सार्वधातुकसञ्ज्ञा, तुदादिभ्यः शः (६५१) से श प्रत्यय, अनुबन्धलोप और अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश करने से—'तुदत्' शब्द निष्पन्न होता है।

तुदत्+सुँ। स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) से सुँ का लुक् होकर जश्त्व-चर्त्व करने से—तुदत्, तुदद्।

तुदत्+औ=तुदत्+ई (शी)। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३६५) आच्छीनद्योर्नुंम् ।७।१।८०॥

अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुंम् वा शीनद्योः। तुदन्ती, तुदती। तुदन्ति ॥

अर्थः—अवर्णान्त अङ्ग से परे जो शतृं प्रत्यय का अवयव तदन्त अङ्ग को विकल्प करके नुंम् का आगम हो जाता है शी या नदी परे हो तो।

व्याख्या—आत् ।५।१। अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य इस अधिकृत का विभक्ति-विपरिणाम हो जाता है)। शतुः ।६।१। (नाभ्यस्ताच्छतुः से)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। वा इत्यव्ययपदम्। (वा नपुंसकस्य से)। नुंम् ।१।१। शीनद्योः ।७।२। 'आत्' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'अवर्णान्तात्' बन जाता है। अर्थः—(आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (शतुः) जो शतृं-प्रत्यय का अवयव, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (वा) विकल्प करके (नुंम्) नुंम् हो जाता है (शीनद्योः) शी और नदी परे हो तो। 'नदी' से यहां ङीप् आदि इष्ट हैं।

तुदत्+ई। यहां 'तुद' यह अवर्णान्त अङ्ग है, इस से परे 'त्' यह शतृ का अवयव है। तदन्त अङ्ग 'तुदत्' है। इस से परे शी के रहने से विकल्प कर के नुँम् का आगम हो जाता है। नुँम्-पक्ष मे अनुस्वार परसवर्ण प्रक्रिया करने पर—तुदन्ती। नुँम् के अभाव में—तुदती।

तुदत्+जस्=तुदत्+शि। सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर झलन्त होने से नपुंसकस्य झलचः (२३९) से नुँम् का आगम हो कर अनुस्वार-परसवर्ण-प्रक्रिया करने से—'तुदन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र० तुदत्-द्	तुदन्ती,तुदती	तुदन्ति	पं० तुदतः	तुदद्भ्याम्	तुदद्भ्यः
द्वि० ,,	,,	,,	ष० ,,	तुदतोः	तुदताम्
तृ० तुदता	तुदद्भ्याम्	तुदद्भिः	स० तुदति	,,	तुदत्सु
च० तुदते	,,	तुदद्भ्यः	सं० सम्बोधन प्रथमावत् होता है।		

प्रकृतसूत्र से भ्वादि, दिवादि, तुदादि, चुरादि शबन्त तथा अदादिगण की 'या, पा' आदि आकारान्त शबन्त धातुओं से तथा स्य के आगे शतृ प्रत्यय होने पर नपुंसक के द्विवचन शी में अङ्ग को वैकल्पिक नुँम् का आगम प्राप्त होता है। इस पर भ्वादि, चुरादि तथा दिवादिगणीय शबन्त धातुओं को अग्रिमसूत्र द्वारा नित्य नुँम् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३६६) शप्श्यनोर्नित्यम् ।७।१।८१।।

शप्श्यनोरात् परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुँम् शीनद्योः। पचन्ती। पचन्ति। दीव्यत्। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति ।।

अर्थः—शप् वा श्यन् के अवर्ण से परे जो शतृ प्रत्यय का अवयव (त्), तदन्त अङ्ग को नित्य नुँम् का आगम हो जाता है शी अथवा नदी[1] परे हो तो।

व्याख्या—शप्श्यनोः।६।२। आत् ।५।१। (आच्छीनद्योर्नुम् से)। शतुः।६।१। (नाभ्यस्ताच्छतुः से)। अङ्गस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। नित्यम्।२।१। (क्रियाविशेषणम्)। नुँम्।१।१। (आच्छीनद्योर्नुम् से)। अर्थः—(शप्श्यनोः) शप् वा श्यन् के (आत्) अवर्ण से परे (शतुः) जो शतृ का अवयव, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (नित्यम्) नित्य (नुँम्) नुँम् हो जाता है (शीनद्योः) शी अथवा नदी परे हो तो।

भ्वादि और चुरादिगण में शप् तथा दिवादिगण में श्यन् विकरण हुआ करता है। भ्वादि, चुरादि तथा दिवादिगणीय शबन्तों को इस सूत्र से शी या नदी (ङीप् आदि) परे होने पर नित्य नुँम् का आगम हो जाता है।

पचत् (पकाता हुआ कुल आदि)। पच् (डुपचँष् पाके) यह भ्वादिगणीय उभयपदी धातु है। इस से परे लँट् को शतृ प्रत्यय तथा शप् विकरण हो कर—पच् शप्

१. नदी के उदाहरण 'भवन्ती, दीव्यन्ती' आदि हैं।

शतृ=पच् अ अत्। अब यहां यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१३३) सूत्र द्वारा पच्+अ='पच' की अङ्गसञ्ज्ञा होकर अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश करने से 'पचत्' शब्द निष्पन्न होता है।

पचत्+औ=पचत्+ई (शी)। यहां अन्तादिवच्च (४१) की सहायता से 'पच' की अङ्गसञ्ज्ञा हो जाती है। इस से परे 'त्' यह शतृ-प्रत्यय का अवयव है, तदन्त अङ्ग 'पचत्' है। इस से परे 'शी' के रहने से प्रकृतसूत्र द्वारा नित्य नुँम् का आगम होकर अनुस्वारपरसवर्णप्रक्रिया हो जाती है—पचन्ती।

पचत्+जस्=पचत्+शि। झलन्त होने से नुँम् का आगम और पूर्ववत् अनुस्वारपरसवर्णप्रक्रिया करने से—'पचन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पचत्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र० पचत्-द्	पचन्ती	पचन्ति	प० पचत.	पचद्भ्याम्	पचद्भ्य
द्वि० ,,	,,	,,	ष० ,,	पचतो.	पचताम्
तृ० पचता	पचद्भ्याम्	पचद्भि.	स० पचति	,,	पचत्सु
च० पचते	,,	पचद्भ्य.	सं० हे पचत्-द्!	पचन्ती!	पचन्ति!

इसी प्रकार—गच्छत् (जाता हुआ), चलत् (चलता हुआ), भवत् (होता हुआ), नयत् (ले जाता हुआ), नमत् (नमस्कार करता हुआ), वदत् (बोलता हुआ) इत्यादि भ्वादिगणीय तथा चोरयत् (चुराता हुआ) प्रभृति चुरादिगणीय धातुओं के रूप भी समझ लेने चाहियें।

दीव्यत् (खेलता हुआ वा चमकता हुआ कुल आदि) दिवुँ क्रीडाविजिगीषा० (दिवा० प०) धातु से लँट्, शतृ-प्रत्यय तथा श्यन् विकरण होकर—दिव्+श्यन्+शतृ=दिव् य अत्। अब हलि च (६१२) से उपधादीर्घ तथा अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'दीव्यत्' शब्द निष्पन्न होता है।

दीव्यत्+औ=दीव्यत्+ई (शी)। यहां श्यन् के यकारोत्तर अवर्ण से परे शतृ का अवयव तकार विद्यमान है, अत. तदन्त 'दीव्यत्' को शी परे होने पर नित्य नुँम् का आगम होकर अनुस्वारपरसवर्णप्रक्रिया करने से—दीव्यन्ती।

जस् में पूर्ववत्—दीव्यन्ति। 'दीव्यत्' की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र० दीव्यत्-द्	दीव्यन्ती	दीव्यन्ति	प० दीव्यतः	दीव्यद्भ्याम्	दीव्यद्भ्य.
द्वि० ,,	,,	,,	ष० ,,	दीव्यतो.	दीव्यताम्
तृ० दीव्यता	दीव्यद्भ्याम्	दीव्यद्भि	स० दीव्यति	,,	दीव्यत्सु
च० दीव्यते	,,	दीव्यद्भ्य.	सं० हे दीव्यत्-द्!	दीव्यन्ती!	दीव्यन्ति!

इसी प्रकार—सीव्यत् (सीता हुआ), अस्यत् (फेंकता हुआ), कुप्यत् (क्रोध करता हुआ), शुध्यत् (शुद्ध होता हुआ) इत्यादि दिवादिगणीय शत्रन्तों के रूप होते हैं।

शत्रन्तों पर विशेष स्मरणीय—

(१) अभ्यस्तसञ्ज्ञक शब्द। इस श्रेणी में ददत्, दधत्, जुह्वत्, बिभ्यत्,

जाग्रत्, जक्षत्, दरिद्रत् प्रभृति शब्द आते हैं। इन शब्दों को 'शी' में नुँम् का आगम प्राप्त नहीं होता। 'शि' में **वा नपुंसकस्य**(३६४)से विकल्प कर के नुँम् हो जाता है।

(२) शप् वा श्यन् विकरण के शत्रन्त। भ्वादि और चुरादिगणीय धातुओं से शप्-विकरण तथा दिवादिगणीय धातुओं से श्यन्विकरण हुआ करता है। इन के शत्रन्तों को शी तथा शि दोनों में नित्य नुँम् का आगम हो जाता है। यथा—भवत्, भवन्ती, भवन्ति। चोरयत्, चोरयन्ती, चोरयन्ति। दीव्यत्, दीव्यन्ती, दीव्यन्ति।

(३) तुदादि, आकारान्त अदादि तथा लृटः सद्वा (८३५) के शत्रन्त। इन [illegible] शी में **आच्छीनद्योर्नुम्** (३६५) द्वारा वैकल्पिक तथा शि में **नपुंसकस्य झलचः** [illegible]६)से नित्य नुँम् का आगम हो जाता है। यथा—तुदत्, तुदन्ती-तुदती, तुदन्ति। [illegible] यान्ती-याती, यान्ति। भविष्यत्, भविष्यन्ती-भविष्यती, भविष्यन्ति।

[illegible]४) उपर्युक्त गणों से भिन्नगणीय धातुओं के शत्रन्त। इस श्रेणी में 'शी' परे [illegible]गम बिलकुल नहीं होता। 'शि' में झलन्तत्वात् नित्य नुँम् होता है। [illegible]णीय) मुष्णत्, मुष्णती, मुष्णन्ति। (तनादिगणीय) कुर्वत्, कुर्वती, [illegible]

[illegible]यान्त शब्द उगित् हुआ करते हैं; अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** [illegible]६) सूत्र से ङीप् प्रत्यय होता है। ङीप् के अनुबन्धों का लोप होकर 'ई' [illegible]शिष्ट रह जाता है। **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४) से 'ई' की नदीसञ्ज्ञा है। तब [illegible]शी' में जैसे २ नित्य वा वैकल्पिक नुँम् होता है। वैसे २ नित्य वा वैकल्पिक नुँम् 'ई' परे होने पर भी हो जाता है। यथा—शप् और श्यन् विकरणीय धातुओं से शी मे नित्य नुँम् होता है, तो नदीसञ्ज्ञक 'ई' में भी नित्य नुँम् हो जायेगा। तथाहि—

		(नपुंसक 'शी'(औ) में)	(नदीसञ्ज्ञक 'ई' अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में)	
श्यन्विकरणीय वा शब्विकरणीय	१	भवन्ती	भवन्ती, भवन्त्यौ, भवन्त्यः।	नदीवत्
	२	नमन्ती	नमन्ती, नमन्त्यौ, नमन्त्यः।	,,
	३	पतन्ती	पतन्ती, पतन्त्यौ, पतन्त्यः।	,,
	४	चोरयन्ती	चोरयन्ती, चोरयन्त्यौ, चोरयन्त्यः।	,,
	५	गणयन्ती	गणयन्ती, गणयन्त्यौ, गणयन्त्यः।	,,
	६	दीव्यन्ती	दीव्यन्ती, दीव्यन्त्यौ, दीव्यन्त्यः।	,,
	७	अस्यन्ती	अस्यन्ती, अस्यन्त्यौ, अस्यन्त्यः।	,,
	८	श्राम्यन्ती	श्राम्यन्ती, श्राम्यन्त्यौ, श्राम्यन्त्यः।	,,

तुदादिगणीय, आकारान्त अदादिगणीय तथा लृटः सद्वा(८३५)वाले शत्रन्तों से 'शी' में वैकल्पिक नुँम् होता है तो 'ई' में भी वैकल्पिक नुँम् होगा। तथाहि—

तुदादि०	१. तुदन्ती, तुदती	तुदन्ती, तुदन्त्यौ, तुदन्त्यः।	नदीवत्
		तुदती, तुदत्यौ, तुदत्यः।	,,
	२. लिखन्ती, लिखती	लिखन्ती, लिखन्त्यौ, लिखन्त्यः।	,,
		लिखती, लिखत्यौ, लिखत्यः।	,,

अब बालकों के अभ्यासार्थ नीचे कुछ शत्रन्त अपने श्रेणीबोधक अङ्कसहित लिखे जाते हैं—

१ चलत् (२), २ विन्दत् (३), ३ जाग्रत् (१), ४ पठत् (२), ५ विशत् (३) ६ शासत् (१), ७ लिखत् (३), ८ विश्राम्यत् (२), ६ बिभ्यत् (१), १० सुवत् (४), ११ दण्डयत (२), १२ सृजत् (३), १३ दधत् (१), १४ मुञ्चत् (३), १५ कुर्वत् (४), १६ कथयत (२) १७ नृत्यत् (२), १८ जुह्वत् (१), १६ सिञ्चत् (३), २० यात् (३) २१ करिष्यत् (३) ॥

(यहां तकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

[लघु०] धनु । धनुषी । सान्त० (३४२) इति दीर्घ । नुम्विसर्जनीय (३५२) इति ष । धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । एवम् —चक्षुर्हविरादि

व्याख्या— धन धान्ये (जुहो० प०) अथवा धन शब्दे (भ्वा अपठित) धातु से अर्ति-पृ-वपि-यजि तनि धनि-तपिभ्यो नित् (उणा० ...) औणादिक उस् प्रत्यय होकर आदेशप्रत्यययोः (१५०) से प्रत्यय के ... करने से 'धनुष्' (कमान) शब्द निष्पन्न होता है।

आकारान्त अदा०	३ यान्ती, याती	यान्ती, यान्त्यौ, यान्त्य । याती, यात्यौ, यात्य ।	
	४ पान्ती, पाती	पान्ती, पान्त्यौ, पान्त्य । पाती, पात्यौ, पात्य ।	"
लृट्. सद्रा	५ करिष्यन्ती, करिष्यती	करिष्यन्ती, करिष्यन्त्यौ, करिष्यन्त्य । करिष्यती, करिष्यत्यौ, करिष्यत्य ।	"

उपर्युक्त गणों से भिन्नगणीय शत्रन्त धातुओं के 'शी' में नुँम् नहीं होता ... नदीसञ्ज्ञक 'ई' में भी नुँम् न होगा। तथाहि—

क्र्या०	१ अश्नती ।	अश्नती, अश्नत्यौ, अश्नत्य ।	नदीवत्
	२ मुष्णती ।	मुष्णती, मुष्णत्यौ, मुष्णत्य ।	"
अदा०	३ अदती ।	अदती, अदत्यौ, अदत्य ।	"
	४ घ्नती ।	घ्नती, घ्नत्यौ, घ्नत्य ।	"
जुहो०	५ जुह्वती ।	जुह्वती, जुह्वत्यौ, जुह्वत्य ।	"
	६ ददती ।	ददती, ददत्यौ, ददत्य ।	"
स्वा०	७ प्राप्नुवती ।	प्राप्नुवती, प्राप्नुवत्यौ, प्राप्नुवत्य ।	"
	८ शृण्वती ।	शृण्वती, शृण्वत्यौ, शृण्वत्य ।	"
तना०	९ कुर्वती ।	कुर्वती, कुर्वत्यौ, कुर्वत्य ।	"
	१० तन्वती ।	तन्वती, तन्वत्यौ, तन्वत्य ।	"
रुधा०	११ जानती ।	जानती, जानत्यौ, जानत्य. ।	"
	१२ रुन्धती ।	रुन्धती, रुन्धत्यौ, रुन्धत्य ।	"

धनुष्+स्(सुँ)। **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) से सुँ का लुक् हो कर आदेश-प्रत्यययोः (८.३.५९) द्वारा किये गये षत्व के असिद्ध होने से उसे सकार समझ कर ससजुषो रुः (८.२.६६) से रुँ तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से—'धनुः' प्रयोग सिद्ध होता है।

धनुष्+औ। नपुंसकाच्च (२३५)से औ को शी आदेश हो कर अनुबन्धलोप करने से—धनुष्+ई=धनुषी।

धनुष्+जस्=धनुष्+इ(शि)। **नपुंसकस्य झलचः** (२३६) द्वारा नुँम् का आगम और सान्तमहतः संयोगस्य (३४२) से सान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ कर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** से षकार को सकार हो कर—धनून्स्+इ। अब नश्चाऽपदान्तस्य झलि (७८)से नकार को अनुस्वार तथा उसके व्यवधान में नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि (३५२) द्वारा सकार को पुनः षत्व हो कर 'धनूंषि' प्रयोग सिद्ध होता है।

भ्याम्, भिस्, भ्यस् में षत्व के असिद्ध होने से **ससजुषो रुः** (१०५ से रुँत्व हो कर रेफ का ऊर्ध्वगमन करने पर—धनुर्भ्याम्, धनुर्भिः, धनुर्भ्यः।

धनुष्+सु(सुप्)। यहां षत्व के असिद्ध होने से उसे सकार समझ कर ससजुषो रुः(१०५)से रुँत्व हो जाता है। अब रेफ को विसर्ग आदेश हो कर वा शरि (१०४) से एक पक्ष में वैकल्पिक विसर्ग आदेश और दूसरे पक्ष में **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से सकार आदेश हो जाता है—'धनुः सु, धनुस् सु'। अब प्रथम रूप में विसर्ग के व्यवधान में तथा दूसरे रूप में शर्-सकार के व्यवधान में **नुँम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि** (३५२)सूत्र द्वारा प्रत्यय के सकार को षकार हो कर—धनुःषु, धनुस्षु। अब सकार-पक्ष में **ष्टुना ष्टुः**(६४)से ष्टुत्वद्वारा प्रथम सकार को भी षकार करने से—'धनुःषु, धनुष्षु' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'धनुष्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	धनुः	धनुषी	धनूंषि	प०	धनुषः	धनुर्भ्याम्	धनुर्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	धनुषोः	धनुषाम्
तृ०	धनुषा	धनुर्भ्याम्	धनुर्भिः	स०	धनुषि	,,	धनुःषु,-ष्षु
च०	धनुषे	,,	धनुर्भ्यः	सं०	हे धनुः!	हे धनुषी!	हे धनूंषि!

इसी प्रकार—१. वपुष्=शरीर। २. हविष्=होम में प्रक्षेप्य घृतादि। ३. चक्षुष्=नेत्र। ४. जनुष्=जन्म। ५. यजुष्=यजुर्वेद। ६. ज्योतिष्=नक्षत्र। ७. आयुष्=आयु। ८. अरुष्=मर्म। ९. अर्चिष्=प्रकाश। १०. सर्पिष्=घृत। ११. तनुष्=शरीर। इत्यादि शब्दों के रूप होते हैं।[1]

---

१. कई वैयाकरण इन धनुष् आदि शब्दों को सकारान्त मान कर ही स्वादिप्रत्यय लाते हैं और बाद में जहां-जहां सूत्रप्रवृत्ति हो सके षत्व कर लेते हैं। इन का कथन है कि यदि इन को षकारान्त मान कर स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति मानेंगे तो उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि (परिभाषा)—इस अव्युत्पत्तिपक्ष में ससजुषो रुः

[लघु०] पयः । पयसी । पयांसि । पयसा । पयोभ्याम् ॥

व्याख्या—पयस् (जल वा दूध) । पयः क्षीरं पयोऽम्बु च इत्यमरः ।

पयस्+सुँ । सुँलुक् होकर रुँत्व विसर्ग करने से—पयः ।

पयस्+औ = पयस्+शी = पयस्+ई = पयसी ।

पयस्+जस् = पयस्+इ (शि) । नपुंसकस्य झलचः (२३९) से नुँम् का आगम, सान्तमहतः संयोगस्य (३४२) से उपधादीर्घ तथा नश्चापदान्तस्य झलि (७८) से अनुस्वार होकर—पयांसि ।

पयस्+भ्याम् । यहां ससजुषो रुँः (१०५) से रुँत्व, हशि च (१०७) से उत्व तथा आद् गुणः (२७) से गुण होकर—पयोभ्याम् । रूपमाला यथा—

प्र०	पयः	पयसी	पयांसि	पं०	पयसः	पयोभ्याम्	पयोभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	पयसोः	पयसाम्
तृ०	पयसा	पयोभ्याम्	पयोभिः	स०	पयसि	,,	पयःसु,-स्सु
च०	पयसे	,,	पयोभ्यः	सं०	हे पयः !	हे पयसी !	हे पयांसि !

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ	शब्द—अर्थ
अनस् = छकड़ा	छन्दस् = छन्द	रहस् = एकान्त
अम्भस् = जल	तपस् = तप	रहस् = वेग
अयस् = लोहा	तमस् = अन्धकार	रेतस् = वीर्य
अर्णस् = जल	तरस् = वेग	रोधस् = तट
अर्शस् = बवासीर	तेजस् = तेज	वक्षस् = छाती
आगस् = अपराध	नभस् = आकाश	वचस् = वचन
उरस् = छाती	पाथस् = जल	वर्चस् = तेज
ऊधस् = चद्दा	मनस् = मन	वयस् = आयु, पक्षी
एधस् = ईंधन	महस् = तेज	वासस् = कपड़ा
एनस् = पाप	मेदस् = चर्बी	शिरस् = सिर
ओकस्[1] = घर	यशस् = यश	श्रवस् = कान
ओजस् = बल, तेज	यादस् = जलजन्तु	सरस् = तालाब
अंहस् = पाप	रक्षस् = राक्षस	स्रोतस् = झरना
चेतस् = चित्त	रजस् = धूल	सहस् = बल

(१०५) की प्रवृत्ति न हो सकेगी क्योंकि वहां सकार तो होगा नहीं षकार होगा । अन्य लोगों का कथन है कि उणादयो बहुलम् (८४८) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण सर्वप्रकार के व्यभिचारों की निवृत्ति हो जाती है कोई दोष नहीं आता । अन्यथा सकारान्त मान कर भी अव्युत्पत्तिपक्ष में 'धनुषा, यजुषा' आदि में प्रत्यय का अवयव न होने से आदेशप्रत्यययोः (१५०) से षत्व न हो सकेगा ।

१ इसी का कूट प्रश्न पूछा जाता है—कदागुरोकसो भवन्तः ? । 'कदा-अगुः, ओकसो भवन्तः' यह छेद है (आप घर से कब गये ?) ।

ये ही शब्द जब बहुव्रीहि में किसी के विशेषण बन जायें, तब नपुंसकलिङ्ग में तो उच्चारण इसी प्रकार होगा। परन्तु पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में 'वेधस्' के समान उच्चारण होगा— प्रसन्नमनाः पुरुषः, प्रसन्नमनाः स्त्री। प्रसन्नमनसः पुमांसः स्त्रियो वा। प्रसन्नमनसं पुमांसं स्त्रियं वा।

[लघु०] सुपुम्। सुपुंसी। सुपुमांसि॥

व्याख्या—शोभनाः पुमांसो यस्मिन् तत् सुपुम् (कुलम्)। जिस कुल या नगर आदि में सुन्दर या अच्छे पुरुष हों उस कुल या नगर आदि को 'सुपुंस्' कहते हैं।

सुपुंस्+सुँ। यहां सुँ का लुक् होकर **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) द्वारा सकार का भी लोप हो जाता है। अब **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** द्वारा अनुस्वार अपने पूर्व वाले रूप मकार में परिणत हो जाता है—सुपुम्।

सुपुंस्+औ=सुपुंस्+शी=सुपुंस्+ई=सुपुंसी।

सुपुंस्+जस्। यहां जस् के स्थान पर भावी 'शि' सर्वनामस्थान की विवक्षा में **पुंसोऽसुँङ्** (३५४) द्वारा असुँङ् आदेश हो कर—सुपुमस्+जस्। पुनः 'शि' आदेश, झलन्तलक्षण नुँम्, सान्तमहतः० (३४२) से दीर्घ तथा **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) से अनुस्वार होकर—सुपुमांसि। 'सुपुंस्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र०	सुपुम्	सुपुंसी	सुपुमांसि	पं०	सुपुंसः	सुपुम्भ्याम्	सुपुम्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	सुपुंसोः	सुपुंसाम्
तृ०	सुपुंसा	सुपुम्भ्याम्	सुपुम्भिः	स०	सुपुंसि	,,	सुपुंसु
च०	सुपुंसे	,,	सुपुम्भ्यः	सं०	हे सुपुम्!	हे सुपुंसी!	हे सुपुमांसि!

नोट—वस्वन्त नपुंसकों का उच्चारण—विद्वत्-द्, विदुषी, विद्वांसि। उपेयिवत्, उपेयुषी, उपेयिवांसि। उपेयिवद्भ्याम्। उपेयिवत्सु। इस प्रकार होगा। अन्य सकारान्तों का नपुंसक में—ज्यायः, ज्यायसी, ज्यायांसि आदि।

[लघु०] अदः। विभक्तिकार्यम्। उत्व-मत्वे। अमू। अमूनि। शेषं पुंवत्॥

व्याख्या—अब 'अदस्' शब्द के नपुंसक में रूप सिद्ध किये जाते हैं—

अदस्+सुँ। सुँलुक् होकर रुँत्व विसर्ग करने से—अदः[1]।

अदस्+औ=अदस्+ई (शी)। उत्व-मत्व के असिद्ध होने से प्रथम त्यदाद्यत्व, पररूप, और गुण एकादेश होकर—'अदे'। अब **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) सूत्र से एकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर—अमू।

अदस्+जस्=अदस्+शि। त्यदाद्यत्व, पररूप, नुँम् आगम तथा उपधादीर्घ (१७७) होकर—अदानि। अब **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) सूत्र से ऊत्व-मत्व करने से—अमूनि।

---

१. यहां अदस् शब्द के सान्त होने से **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) द्वारा उत्व-मत्व नहीं होता। विभक्ति परे न होने के कारण **त्यदादीनामः** (१९३) सूत्र से अत्व भी नहीं हो सकता।

द्वितीया में भी इसी तरह प्रयोग बनते हैं। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है।

नपुंसक में 'अदस्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	अद	अमू	अमूनि	पं०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्य
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	अमुष्य	अमुयो	अमीषाम्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभि	स०	अमुष्मिन्	,,	अमीषु
च०	अमुष्मै	,,	अमीभ्य		सम्बोधन नहीं होता।		

(यहां सकारान्त नपुंसक शब्दों का विवेचन समाप्त होता है।)

अभ्यास (४८)

(१) 'ऊर्जि' पर नरजानां सयोग लिखने की क्या आवश्यकता थी ?

(२) नपुंसक में भसञ्ज्ञा और सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा कहां २ होती है ?

(३) हलन्त-नपुंसक में ऐसा कौन सा शब्द है जिसके सुं और अम् के रूपों में भेद होता है ? (उत्तर—अन्वादेश में 'इदम्' शब्द)।

(४) गतिपक्ष के 'गवाक्' में चयो द्वितीया० क्या प्रवृत्त नहीं होता ?

(५) धनुस् को मान्त मानें या सान्त ? विवेचन करें।

(६) 'अद' प्रयोग में त्यदाद्यत्व तथा उत्व-मत्व क्यों नहीं होते ?

(७) 'इदम्' के नपुंसक के अन्वादेश में 'एनत्' क्यों विधान किया गया है, क्या 'एन' आदेश से काम नहीं चल सकता था ?

(८) नपुंसक में शत्रन्त शब्द चार प्रकार के होते हैं—स्पष्ट करें।

(९) वारि, ददति, तुदति, पचति, दीव्यति, दीव्यन्ति, के, इमे, ते, ये, एते—प्रयोग क्या अन्यशब्द वा धातु की वा अन्य विभक्ति की भ्रान्ति तो उत्पन्न नहीं कराते ? स्पष्ट करें।

(१०) 'गो अञ्च्' शब्द के १०९ रूपों की सङ्क्षिप्तरीत्या सिद्धि करें।

(११) गवाक्शब्द के १०९ रूपों की सङ्ख्या पर आपत्ति उठाते हुए उन का समाधान करें।

(१२) तत्, यत्, एतत्—में तदोः स० द्वारा सकारादेश क्यों न हो ?

(१३) 'वार्षु' में खर् परे होने पर रेफ को विसर्ग आदेश क्यों नहीं होता ?

(१४) ऊर्जि, चत्वारि, सुपुमांसि, धनूंषि, पयोभि, धनुष्षु, तपांसि, हे दण्डि, सुपन्थानि, अह्नी, इम, स्वनडुत्, अमूनि—इन प्रयोगों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें।

[लघु०] इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गा [शब्दा] ॥

अर्थ.—यहां हलन्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है।

व्याख्या—षड्लिङ्गप्रकरण भी यहां समाप्त समझना चाहिये।

——:o::——

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां लघु-सिद्धान्त-
कौमुद्यां हलन्त-नपुंसकलिङ्ग-
प्रकरणं समाप्तम् ॥
[समाप्ता चात्र षड्लिङ्गी बोध्या ॥]

अथाऽव्यय-प्रकरणम्

संस्कृतसाहित्य में दो प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। १. विकारी, २. अविकारी। जो शब्द विभक्तिवचनवशात् विकार को प्राप्त होते हैं वे 'विकारी' कहाते हैं। इस कोटि में सुबन्त[1] और तिङन्त शब्द आते हैं। जो शब्द सदा सब विभक्तियों में विकाररहित अर्थात् एकसमान रहते हैं वे 'अविकारी' कहाते हैं। यथा—च, न, यदि, अपि, नाना, विना आदि। व्याकरण में अविकारी शब्दों को 'अव्यय' कहते हैं। अब यहां उन अव्ययों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३६७) **स्वरादिनिपातमव्ययम्** ।१।१।३६।।

स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसञ्ज्ञाः स्युः ।।

अर्थः—स्वर् आदि शब्द तथा निपात अव्ययसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—स्वरादिनिपातम् ।१।१। अव्ययम् ।१।१। समासः—'स्वर्' शब्द आदिर्येषान्ते स्वरादयः। स्वरादयश्च निपाताश्च = स्वरादिनिपातम्। समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(स्वरादिनिपातम्) स्वर् आदि शब्द तथा निपात (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं। स्वरादि शब्द पाणिनिमुनिविरचित 'गणपाठ' में पढ़े गये हैं। निपात—अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के चतुर्थपादान्तर्गत प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१.४.५६) के अधिकार में पढ़े गये हैं। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुंल्लुक् आदि आगे मूल में ही स्पष्ट हो जायेगा।

अब मूलगत स्वरादिगण—अर्थ, उदाहरण तथा विस्तृत टिप्पण सहित नीचे दिया जा रहा है। इस गण में बालोपयोगी अत्यन्त प्रसिद्ध शब्दों पर चिह्न (*) कर दिया गया है।

स्वरादि-गण

[१] स्वर्* ।।

स्वर्गे परे च लोके स्वः—इत्यमरः। १. स्वर्ग-लोक—**पुण्यकर्माणः स्वर्गच्छन्ति। देवाः स्वस्तिष्ठन्ति।** २. परलोक—**स्वर्गतस्य क्रिया कार्या पुत्रैः परमभक्तितः** (उद्धृत)। ३. सुखविशेष—**यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्** (तन्त्रवार्तिक)।

[२] अन्तर्* ।।

१. में, अन्दर, भीतर, मध्य आदि—**अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्** (ऋ० १.२३.१९), जल में अमृत है जल में औषध है। **अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनस्तिरस्क्रियां लभते। निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु ज्वलितः** (पञ्च० १. ३२)। **अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते** (विक्रमो०), निरुद्धप्राण मुमुक्षुओं से वह

---

१. यहां सुंबन्त से तात्पर्य अव्ययभिन्न सुंबन्तों से है।

भगवान् अन्दर अर्थात् अपने हृदय में खोजा जाता है। इन अर्थों में इस अव्यय के साथ प्राय सप्तम्यन्त पद का प्रयोग होता है पर कहीं-कहीं षष्ठ्यन्त वा द्वितीयान्त का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि साक्षिवत् (याज्ञ० ७ १०४)। अन्तर्देवान् मर्त्यांश्च (ऋ० ८ २ ४), देवों और मर्त्यों के बीच में। २ पकड़ना—अन्तर्हत्वा मूषिका श्येनो गतः (काशिका १ ४ ६५), बाज़ चुहिया को मार कर पकड़ ले गया।

[३] प्रातर्* ॥

१ प्रातःकाल, सुबह, सवेरे—प्रातर्द्यूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गत। रात्रौ चौरप्रसङ्गेन कालो गच्छति धीमताम् (सुभाषित)। द्यूतप्रसङ्ग =महाभारतम्, स्त्री-प्रसङ्ग =रामायणम्, चौरप्रसङ्ग =भागवतम्।

[४] पुनर्* ॥

१ फिर, दुबारा—न पुनरेव प्रवर्तितव्यम् (शाकुन्तल० ६)। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ? । गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय (स्वप्न० १)। २ 'तु' के अर्थ में—पद सहेत भ्रमरस्य पेलव शिरीषपुष्प न पुन पतत्रिण (कुमार० ५.४)। पुन-पुन —बार बार—विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति (मुद्रा० २ १७)। कि पुन = कहना ही क्या—मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेत। कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे (मेघ० १ ३)। पुनरपि = पुन पुन =बार बार—पुनरपि जनन पुनरपि मरण पुनरपि जननीजठरे शयनम्। इह ससारे खलु दुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे (चर्पट० ८)।

[५] सनुतर् ॥

१ छिपना—सनुतश्चौरो गच्छति (गणरत्न०)। इस अव्यय का प्रयोग लोक में नहीं पाया जाता। अमरकोष आदि लौकिक कोषों में इस का कहीं उल्लेख नहीं। वेद में इस के प्रयोग मिलते हैं।[1]

नोट—उपर्युक्त पाञ्चों अव्यय रेफान्त हैं अत इन का रेफ न होने से हशि च (१०७) आदि द्वारा उत्व आदि कार्य नहीं होते। यथा—स्वर्गत, प्रातर्गच्छ, पुनरत्र,

१ निघण्टु में यह 'निर्णीतान्तर्हित' अर्थ में पढ़ा गया है। निर्णीत च तद् अन्तर्हित चेति कर्मधारय (स्कन्दमाहेश्वरकृत निरुक्तभाष्यटीका)। जो छिपा हुआ पर निर्णीत हो उसे 'सनुतर्' कहते हैं। श्रीसायण अपने वेदभाष्य में सर्वत्र इस का अर्थ 'छिपा हुआ' करते हैं—सनुतश्चरन्तम्—निगूढ चरन्तम् (ऋ० ५ २ ४ सायणभाष्य)। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायीभाष्य तथा वेदाङ्गप्रकाश के 'अव्ययार्थ' में 'सनुत' का 'सदा' अर्थ लिखा है। सनुत. पुरुषार्थे प्रयतेरन्—यह उन्होंने उदाहरण भी दिया है। इस प्रकार आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम (ऋ० ५ ४५ ५) इस ऋचा का अर्थ होगा—हम सदा शत्रुओं को दूर रखें। यह अर्थ भी सुसगत प्रतीत होता है।

अन्तर्गृहे, सनुतर्युहि तं ततः (ऋ० ८.९७.३)। प्रातोऽत्र, पुनोऽपि लिखने वाले विद्यार्थी सावधान रहें।

[६] उच्चैस्* ॥

१. महान्—किं पुनर्यस्तयोच्चैः (मेघ० १.१७)। २. ऊँचे पर, ऊँचे में—पश्चादुच्चैर्भुजतरुवन० (मेघ० १.३६)। विपद्युच्चैः धैर्यम् (नीति० ५६)। उच्चैरुदात्तः (१.२.२९)। ३. जोरदार आवाज में—उच्चैर्विहस्य (रघु० २.१२)। ४. अत्यधिक—विदधति भयमुच्चैर्वीक्ष्यमाणा वनान्ताः (ऋतु० १.२२)।

[७] नीचैस्* ॥

१. मन्द आवाज से (प्रायः क्रियाविशेषण)—नीचैः शंस हृदि स्थितो ननु स मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति (अमरु० ६८)। २. नीचे, नीचे की ओर—नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण (मेघ० २.४६)। ३. धीरे से, मन्दगति से—नीचैर्वाति समीरणः (व्या० च०)। ४. विनीत, नम्र—तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत (रघु० ३.३४)।

[८] शनैस्* ॥

१. धीरे से (क्रियाविशेषण)—शनैर्याति पिपीलिका (व्या० च०)। धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः (मनु० ४.२३८)। कुरु पदानि घनोरु! शनैः शनैः (वेणी० २.२१)। शनैश्चरः। शनैः पन्थाः शनैः कन्था शनैः पर्वतलङ्घनम् (सुभाषित०)।

[९] ऋधक् ॥

१. सत्य—ऋधग्वदन्ति विद्वांसः (गणरत्न०)। गणरत्नमहोदधि में इस के कुछ अन्य अर्थ भी लिखे हैं—वियोग-शीघ्र-सामीप्य-लाघवेष्वित्यन्ये। लौकिककोषों में इस का प्रायः उल्लेख नहीं मिलता पर वेद में इस के प्रचुर प्रयोग हैं—किं स ऋधक् कृणवद् (ऋ० ४.१८.४)।

[१०] ऋते* ॥

१. विना, बग़ैर—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः (सुप्रसिद्ध), ज्ञान के विना मुक्ति नहीं। ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपा-तमस्काण्ड-मलीमसं नभः (माघ० १.३८), सूर्य के विना रात्रि के अन्धकार से मलिन आकाश को कौन धो कर निर्मल बना सकता है?

नोट—'ऋते' के योग में अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते (२.३.२९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का विधान किया गया है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में स्पष्ट है। लोक में इस के योग में कहीं कहीं द्वितीया का प्रयोग भी देखा जाता है। ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे (गीता० ११.३२)। चान्द्रव्याकरण में इस के योग में द्वितीया का विधायकसूत्र भी पढ़ा गया है—ऋते द्वितीया च (चान्द्र० २.१.८४)। पाणिनीय वैयाकरण इस का समाधान—ततोऽन्यत्रापि दृश्यते इस वार्तिकांश से करते हैं।

[११] युगपत्* ॥

१ एक साथ, एक ही समय में— सहस्रमक्ष्णा युगपत् पपात (कुमार० ३ १)। युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम् (न्यायदर्शन १ १.१६)।

[१२] आरात्* ॥

आराद् दूरसमीपयोरित्यमर । १ दूर—आराद् दुष्टात् सदा वसेत् । दुष्ट से सदा दूर रहे । २ समीप, निकट—तमर्च्यम् आराद् अभिवर्त्तमानम् (रघु० २ १०)। ग्रामादारादाराम —गाव के पास बगीचा है।

नोट—'आरात्' के योग में अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते (२.३ २९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का विधान है।

[१३] पृथक्* ॥

१ अलग, भिन्न—शङ्खान् दध्मु: पृथक् पृथक् (गीता० १ १८)। साङ्ख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिताः (गीता० ५ ४)। २ विना, वगैर—राम पृथग् नहि सुखम्।

नोट—'विना' अर्थ वाले पृथक् के योग में पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् (२.३.३२) सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान है।

[१४] ह्यस्* ॥

१. बीत चुका पिछला दिन (Yesterday)—ह्योऽस्माक परीक्षाऽभूत्। ह्यो भवम्—ह्यस्त्य ह्यस्तन वा। ऐषमोह्य:श्वसोऽन्यतरस्याम् (४ २ १०४) सूत्र से पाक्षिक त्यप् हो जाता है। तदभाव में सायं-चिर-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुंट् च(४.३ २३) से ट्युप्रत्यय हो कर उसे तुंट् का आगम हो जाता है। ह्यस्त्यम्=अतीत कल से सम्बन्ध रखने वाला कार्य आदि।

[१५] श्वस्*॥

१. Tomorrow आने वाला कल—श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्। नहि प्रतीक्षते मृत्यु कृतमस्य न वा कृतम् (महाभारत० १२.३२१.७३)। वरमद्य कपोत श्वोमयूरात्—नौ नक्द न तेरह उधार।

[१६] दिवा*॥

१. दिन—दिवा च रात्रिश्च दिवारात्रम्, दिन और रात। निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः (भागवत० १ १६.९)। २ दिन में—पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते (लोकोक्ति)।

[१७] रात्रौ ॥

१. रात में—रात्रौ वृत्त तु द्रक्ष्यसि। रात्रौचरः। ये दोनो उदाहरण गणरत्नमहोदधि के हैं। 'रात्रौ' को अव्यय मानना हमारे विचार मे युक्त प्रतीत नही होता। 'रात्रि' शब्द से ही काम चल सकता है। यदि इसे अव्यय मानना ही अभीष्ट है तो 'रात्रौ' को विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय माना जा सकता है।

[१८] सायम्*॥

१. सायङ्काल, शाम का समय—प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि (रघु० १.९०)। सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं वेदनिर्मितम्। नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् (महाभारत० १२.१९३.१०)।

नोट—इसी अर्थ में घञन्त 'साय' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है। वह घञन्त होने से पुंलिङ्ग माना जाता है। संख्या-वि-सायपूर्वस्या-ह्नस्याहनन्यतरस्यां ङौ (६.३. १०९) सूत्र में इसी का ग्रहण होता है—सायाह्नि, सायाहनि, सायाह्ने। इस विषय में सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च (४.३.२३) सूत्र की काशिका-वृत्ति भी द्रष्टव्य है।

[१९] चिरम्*॥

१. देर तक—मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् (महाभारत ५.१३३.१५); देर तक धूंआ देने की अपेक्षा थोड़ी देर तक प्रज्वलित होना श्रेष्ठ है। चिरं जीवतु मे भर्ता।

नोट—दीर्घकालवर्त्ती पदार्थ में त्रिलिङ्गी चिर शब्द बहुधा प्रयुक्त होता है। इसी से ही चिरजीविन्, चिरायुष्, चिरक्रिय, चिरकारिन् आदि शब्द निष्पन्न होते हैं। 'चिरं जीवतु मे भर्ता' आदि 'चिरम्' अव्यय के उदाहरण भी चिरशब्द से क्रियाविशेषणत्वेन निष्पन्न हो सकते हैं। इस अव्यय का फल 'चिरञ्जीवी, चिरञ्जीवकः' प्रभृति कतिपय शब्दों में ही देखा जाता है। 'चिरन्तनः' भी चिरशब्द से निष्पन्न हो सकता है। देखें—सायंचिरंप्राह्णे० (४.३.२३) सूत्र पर काशिकावृत्ति।

[२०] मनाक्*॥

१. ज़रा, थोड़ा-सा—कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत् (नैषध० १.११९)। रे पान्थ विह्वलमना न मनागपि स्याः (भामिनी० १.३६)।

[२१] ईषत्*॥

१. थोड़ा, स्वल्प, कुछ—ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः (शाकुन्तल० १४)। ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः (पञ्च० १.१५२)। २. आसानी से, विना कठिनाई से—ईषत्करः कटो भवता; (८७६) सूत्र पर इस व्याख्या में इस उदाहरण का विवेचन देखें।

[२२] जोषम्*॥

तूष्णीमर्थे सुखे जोषम् इत्यमरः। १. चुप्प, शान्त—जोषमाप न विशिष्य बभाषे (नैषध० ५.७८)। किमिति जोषमास्यते? (शाकुन्तल० ५)। २. सुखपूर्वक—जोषमास्ते जितेन्द्रियः; जितेन्द्रिय पुरुष सुख से रहता है।

[२३] तूष्णीम्*॥

मौने तु तूष्णीम् इत्यमरः। चुप्प—न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह (गीता० २.९)।

[२४] बहिस्*॥

१ बाहर, बाहर से—स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः (मनु० २.१०३)। अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोहरा। गुञ्जाफलसमाकारा: स्वभावादेव योषितः (पञ्च० ४.८७)। २ बाह्य—न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते (उत्तर-राम० ६.१२)।

[२५] अवस्॥

१ बाहर, नीचे आदि—अवो गच्छति (गणरत्न०)। इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

नोट—पञ्चम्यन्तात् सप्तम्यन्तात् प्रथमान्ताद्वा अवरशब्दात् पूर्वाऽधराऽवराणामसि पुरधवश्चैषाम् (५.३.३९) इति असिप्रत्यये अवरशब्दस्य च 'अव्' इत्यादेशे तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः (३६८) इत्यनेनैवाऽव्ययत्वे सिद्धे स्वरादौ पाठश्चिन्त्य इति केचित्।

[२६] अधस्*॥

१ नीचे—अध: पश्यसि किं वृद्धे तव किं पतितं भुवि। रे रे मूढ न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम् (चाणक्य०)। अधोऽध:=नीचे और नीचे—अधोऽध: पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते। उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति (हितोप० २.२)।

[२७] समया*॥

१ समीप—ग्रामं समया रम्या पुष्पवाटिका। वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम् (ऋ० १.७३.६); पर्वत के समीप नदियां बहती हैं। अमरकोष में इस का अर्थ 'मध्य' भी दिया गया है—समयाऽन्तिकमध्ययोरित्यमरः। इस अर्थ में प्रयोग कम है।

नोट—इस के योग में द्वितीया का विधान है [देखें विभक्त्यर्थप्रकरणपरिशिष्ट (११)]।

[२८] निकषा*॥

१ समीप—विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति (माघ० १.६८), क्या आप को याद है कि आप ने समुद्र पार कर के लङ्का के समीप रावण को मारा था? अभिज्ञावचने लृट् (७६१) से भूतकाल में लृट् का प्रयोग है। पूरा श्लोक सार्थ इस व्याख्या की लकारार्थप्रक्रिया में इसी सूत्र पर देखें।

नोट—इस के योग में भी पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति का विधान है।

[२९] स्वयम्*॥

१ आत्मना, अपने आप—इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः (चाणक्य०)।[1]

---

१. दो सहेलियां अपने-अपने पति का गुणबखान इस प्रकार करती हैं—
चतुरः सखि मे भर्ता यल्लिखति न तत् परो न वाचयति।
तस्मादप्यधिको मे स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयति॥ (समयोचित०)

[३०] वृथा*॥

१. व्यर्थ, बेकार, निरर्थक—**वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तस्य भोजनम्। वृथा दानं समर्थस्य वृथा दीपो दिवाऽपि च** (सुभाषित०)।

[३१] नक्तम्*॥

रात्रि (में)—**न नक्तं दधि भुञ्जीत** (चरक सूत्र० ७.५८), रात में दही सेवन न करे। २. रात—नक्तं च दिवा च नक्तंदिवम्। अचतुर० (५.४.७७) सूत्र से निपातन होता है।

नोट—संस्कृतसाहित्य मे 'नक्त' इस प्रकार का अजन्त नपुसक शब्द भी रात्रि-वाचक विद्यमान है। इस से नक्तचर, नक्तभोजिन्, नक्तान्ध, नक्तमाल प्रभृति शब्द बनते हैं। पर यहां मकारान्त अव्यय मानना भी परम आवश्यक है। अन्यथा—नक्तञ्चरः, नक्तञ्चारी, नक्तन्तनम्, नक्तन्दिनम्, नक्तन्दिवम् प्रभृति शब्द न बन सकेंगे।

[३२]नञ्*॥

१. नहीं, प्रतिषेध—**एकः स्वादु न भुञ्जीत, स्वार्थमेको न चिन्तयेत्। एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात्** (सुभाषितसुधा०)। प्रतिषेध दो प्रकार का होता है—पर्युदास और प्रसज्य। इस का विवेचन पीछे (१८) सूत्र पर कर चुके है।

नोट—'नञ्' के अन्त्य ञकार का लोप हो जाता है अतः प्रयोग मे 'न' ही आता है। यह अनुबन्ध इसलिये लगाया गया है कि **नलोपो नञः**(९४७) सूत्र में इसी नकार का ग्रहण हो अग्रिमपठित 'न' का न हो। अतः 'नैकधा' (नैषध० २.२) आदियों में उस सूत्र की प्रवृत्ति नही होती। इस नञ् के अनेक अर्थ होते हैं। यहां सरल साधारण प्रसिद्ध अर्थ लिख दिया है। 'ईषत्' अर्थ में भी यह कुछ२ प्रसिद्ध है—अनुदरा (अल्पोदरी) कन्या। नञ् के अर्थों का विशेष विस्तार वैयाकरणभूषणसार आदि उच्च ग्रन्थों में देखें।

[३३] न*॥

१. नही, प्रतिषेध—**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति** (गीता० ५.६)। न चिरेण=नचिरेण। सुप्सुपेति समासः। **चित्रं चित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणाम्। सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः** (हितोप० २.१६०)। इसी प्रकार—नैकधा, नान्तरीयम्, गमिकर्मीकृतनैकनीवृता (नैषध० २.४०) आदियों में समझना चाहिये।

[३४] हेतौ॥

१. निमित्त (में)—**हेतौ हृष्यति** (गणरत्न०)।

नोट—यह अव्यय हमें किसी ग्रन्थ में नहीं मिला। गणरत्नमहोदधि का यह उदाहरण भी सप्तम्यन्त हेतुशब्द से सिद्ध हो सकता है। अतः इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

[३५] इद्धा॥

१. प्रकट, ज़ाहिर—**समिद्धमिद्धेश महो ददासि** (गणरत्न०)।

नोट—यह अव्यय हमें किसी ग्रन्थ में नहीं मिला। किसी कोषकार ने इस का उल्लेख नहीं किया। वैदिक साहित्य में भी इस का कहीं पता नहीं चला। उपर्युक्त उदाहरण गणरत्नमहोदधिकार श्रीवर्धमान (वैक्रम० ११९७) का है। अन्य सब व्याख्याकारों ने इसे ही उद्धृत किया है। वाचस्पत्यकोषकार ने यह उदाहरण भागवत का माना है परन्तु हमें यह भागवत में नहीं मिला।

[३६] अद्धा ॥

१ वस्तुतः, यथार्थतः—एष ह वा अनद्धा पुरुषो यो न देवानर्चति न पितॄन् न मनुष्यान् (शत० ब्रा० ८.३.१.२४), जो देवताओं पितरों और मनुष्यों की पूजा नहीं करता वह वस्तुतः मनुष्य नहीं। को अद्धा वेद (ऋ० ३.५४.५); इस संसार को यथार्थतः कौन जान सकता है?। २ सचमुच, निस्सन्देह—अद्धा नकिरन्यस्त्वावान् (ऋ० १.४२.१३), हे प्रभो! सचमुच तेरे जैसा कोई नहीं। यास्यत्यद्धाऽकुतोभयम् (भागवत० १.१२.२८), निस्सन्देह वह अमरपद को पायेगा। ३ साक्षात्—त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्। रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति (भागवत० १.८.४२), हे मधुपते! जैसे गङ्गा का प्रवाह निरन्तर समुद्र की ओर बढ़ता रहता है वैसे ही साक्षात् आप में मेरी सर्वदा अनन्यप्रीति हो।

[३७] सामि* ॥

१ आधा—सामिकृतम्, सामिभुक्तम्। सामिभुक्तविषयाः समागमाः (रघु० १९.१६)। अभिवीक्ष्य सामिकृतमण्डनं यती (माघ० १३.३१)। सामि (२.१.२२) इति समासः। २ निन्दित, आक्षेपयोग्य—उदाहरणम्मृग्यम्।

[३८] वत्*। ब्राह्मणवत्। क्षत्रियवत् ॥

नोट—'वत्' यह प्रत्यय है। वतिप्रत्ययान्त अव्यय हों—यह इस के ग्रहण का प्रयोजन है। यहां तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (११४८), तत्र तस्येव (११४९), तदर्हम् (५.१.११६) इन तीन सूत्रों से विहित वतिप्रत्यय का ही ग्रहण समझना चाहिये। ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत्—ये दो वतिप्रत्ययान्त के उदाहरण दिये गये हैं। इसी प्रकार—नृपवत्, बालवत्, चौरवत् आदि अन्य वत्यन्त शब्द भी जान लेने चाहियें। यह वतिप्रत्यय सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा—ब्राह्मणवत्=ब्राह्मण के समान, क्षत्रियवत्=क्षत्रिय के समान इत्यादि। वस्तुतः इस अव्यय का पाठ यहां उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वतिप्रत्ययान्तों की अव्ययसंज्ञा तो तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (३६८) से ही सिद्ध है।

[३९] सना ॥

१. सदा, हमेशा, नित्य—सना भूवन् द्युम्नानि मोत सारिषुः (ऋ० १.१३९.८), धन नित्य रहें कभी नष्ट न हों। सना भव—सनातनो धर्मः, सायंचिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च (४.३.२३) इति ट्युप्रत्ययस्तस्य च तुडागमः। एष धर्मः सनातनः (उत्तरराम० ५.२२)।

[४०] सनत् ॥

१. सदा, हमेशा, नित्य—सनत्कुमारः (नित्य ब्रह्मचारी ब्रह्मपुत्र)।

[४१] सनात् ॥

१. सदा, हमेशा, नित्य—अशत्रुर्जनुषा सनादसि (ऋ० १.१०२.८), हे इन्द्र! तूं जन्म से ही सदा शत्रुरहित है। यह अव्यय वेद में ही देखा जाता है।

[४२] उपधा ॥

नोट—इस अव्यय का प्रयोग हमें कहीं नहीं मिला। श्रीसभापतिशर्मोपाध्याय सिद्धान्तकौमुदी की 'लक्ष्मी' व्याख्या में इस अव्यय पर टिप्पण करते हुए उपधा धर्माद्यैर्यत्परीक्षणम् इस अमरकोपोक्त वचन की विवृति करने लगते हैं। यह ठीक नहीं। क्योंकि अमरकोपोक्त 'उपधा' आबन्त स्त्रीलिङ्ग है अव्यय नहीं।

[४३] तिरस्*॥

१. टेढ़ा या तिरछा—स तिर्यङ् यस्तिरोऽञ्चति—इत्यमरः। तिरोदृष्ट्या समीक्षते। २. छिपना—इति व्याहृत्य विबुधान् विश्वयोनिस्तिरोदधे (कुमार० २.६२)। ३. अनादर—गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्। अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति (भामिनी० १.७२)।[1]

नोट—छिपना आदि अर्थों में तिरस् का प्रयोग प्रायः धातु के साथ ही पाया जाता है। तिरोऽन्तर्धौ (१.४.७०) सूत्र द्वारा छिपना अर्थ में तिरस् की गतिसंज्ञा हो जाती है। गतिसंज्ञा होने से कुगतिप्रादयः (९४९) द्वारा समास हो जाता है। समास होने के कारण समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (८८४) से क्त्वा को ल्यप् हो जाता है। यथा—तिरोभूय, तिरोधाय इत्यादि। परन्तु कृञ् धातु के योग में 'छिपना' अर्थ होने पर भी विभाषा कृञि (१.४.७१) सूत्रद्वारा 'तिरस्' की विकल्प से गतिसंज्ञा होती है। गतिपक्ष में कुगतिप्रादयः (९४९) से समास हो कर क्त्वा को ल्यप् हो जाता है। यथा—तिरस्कृत्य। गतिसंज्ञा के अभाव में समास न होने से क्त्वा को ल्यप् नहीं होता। यथा—तिरः कृत्वा।[2]

[४४] अन्तरा*॥

१. अन्दर से—भवद्भिरन्तरा प्रोत्साह्य कोपितो वृषलः (मुद्रा० ३); आप

---

१. वैदिक साहित्य में 'तिरस्' अव्यय का प्रयोग धातुयोग के विना अकेले भी बहुत आता है यथा—तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः (शत० ब्रा० ३.१.१.८), देवता मनुष्यों से छिपे से रहते हैं। स्त्रियस्तिर इवैव पुंसो जिघत्सन्ति (शत० ब्रा० १.९.२.१२), स्त्रियां पुरुषों को मानो गुप्तरूप से खा जाती हैं। परन्तु लौकिक साहित्य में इस का प्रयोग प्रायः भू, धा, कृ धातुओं के योग में ही दृष्टिगोचर होता है।

२. गतिपक्ष में तिरसोऽन्यतरस्याम् (८.३.४२) द्वारा विसर्ग को विकल्प से सकारादेश हो जाता है। यथा—तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य। परन्तु 'तिरःकृत्वा' में गतिसंज्ञा न होने से सकारादेश भी नहीं होता।

लोगो ने अन्दर से भडका कर चन्द्रगुप्त को कुपित कर दिया है। २ मध्य मे, बीच मे—**त्रिशङ्कुरिव अन्तरा तिष्ठ** (शाकुन्तल० २), त्रिशङ्कु की तरह मध्य मे लटके रहो। **मैनम् अन्तरा प्रतिबध्नय**(शाकुन्तल० ६); इसे बीच मे मत टोको। **नाऽद्याच्चैव तथान्तरा** (मनु० २ ५६)सवेरे-शाम दो भोजनो के मध्य मे कुछ न खाए। ३. अन्दर ही अन्दर—**अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति** (मनु० १० ७१), अयोग्य खेत मे डाला गया बीज अन्दर ही अन्दर नष्ट हो जाता है। ४ बिना, बगैर— **न प्रयोजनमन्तरा चाणक्य स्वप्नेऽपि चेष्टते** (मुद्रा०), प्रयोजन के बिना चाणक्य स्वप्न मे भी चेष्टा नही करता। ५ मार्ग मे, रास्ते मे—**अन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीय जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागता.** (विक्रमो० १), मार्ग मे ही चारणो से तुम्हारी यशोगाथा सुनकर तुम्हारे पास यहा आये हैं। ६ सदृश—**न द्रक्ष्याम. पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा** (रामायण० २ ५७ १३) राम सदृश धार्मिक पुरुष फिर हम कभी नही देखेंगे।

नोट—**अन्तराऽन्तरेणयुक्ते** (२ ३ ४) सूत्रद्वारा अन्तरा के योग मे द्वितीया विभक्ति का विधान है।

[४५] अन्तरेण*॥

१ बिना, बगैर—**न राजापराधमन्तरेण प्रजास्वकालमृत्युश्चरति** (उत्तरराम० २)। न चान्तरेण नाव तरीतु शक्येय सरित्। **क्रियान्तरान्तरायमन्तेरण आर्य द्रष्टुमिच्छामि** (मुद्रा० ३), यदि किसी काम मे विघ्न न हो तो आप के दर्शन करना चाहता हू। २ मध्य मे, बीच मे, के विषय मे—**त्वां माञ्चान्तरेण कमण्डलु.** (महाभाष्य), तेरे और मेरे बीच कमण्डलु है। **अथ भवन्तमन्तरेण कीदृशोऽस्या दृष्टिराग ?** (शाकुन्तल० २), आप के विषय मे इस का चक्षूराग कैसा था ?

नोट—इस के योग मे भी पूर्ववत् द्वितीया का विधान है।[1]

[४६] ज्योक् ॥

१ दीर्घ काल तक, लम्बे समय तक— **ज्योक् च सूर्यं दृशे** (ऋ० १ २३ २१)। **सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या** (छान्दोग्योपनिषत् २.११.२)।

नोट—यह अव्यय प्राय वैदिकसाहित्य मे प्रयुक्त देखा जाता है।

[४७] कम् ॥

१. जल—**कं (जले) जायत इति कञ्जम् (कमलम्)। कम् (जलम्)अलंकरोतीति कमलम्।** २ सुख—**कम्=सुखम् अस्त्यस्येति कयु=सुखी। कशम्भ्यां ब-भ-युस्-ति-तु-त-यसः** (५ २ १३८) इति मत्वर्थीयो युस्। **सिति च** (१.४.१६)इति पदत्वेनानुस्वारपरसवर्णौ। ३. सिर—**क (शिरसि) जायन्त इति कञ्जा=केशा।**

---

१. अन्तराऽन्तरेणयुक्ते(२ ३ ४)सूत्र के भाष्य मे भाष्यकार ने अन्तरा और अन्तरेण को निपात माना है। परन्तु निपातसज्ञा करने के लिये तब इन का पाठ चादियो मे मानना होगा। अत. यहां स्वरादियो मे इन का पाठ प्रक्षिप्त समझना चाहिये

कं (शिरः) धारयतीति कन्धरा = ग्रीवा । ४. निन्दनीय—कं (कुत्सितः) दर्पोऽस्येति कन्दर्पः = कामः ।

[४८] शम्* ॥

१. सुख, शान्ति, कल्याण—शं (कल्याणं) करोतीति शङ्करः । शङ्करः शं करोतु नः । शं (सुखम्) अस्त्यस्येति शंयुः = सुखी । पूर्ववद् युस् ।

नोट—कम्-शम्शब्दयोर्विभक्तिप्रतिरूपकाव्ययत्वे सिद्धे स्वरादौ पाठश्चिन्त्य इति केचिदाहुः ।

[४९] सहसा* ॥

१. विना, विचारे, यकदम, अचानक—सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् (किरात० २.३०) । सहसोत्पतिताः सर्वे स्वासनेभ्यः ससंभ्रमम् (रामायण० २.१६.४) ।

[५०] विना* ॥

१. विना, बग़ैर—दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना (हितोप० १.१८)।

नोट—इस अव्यय के योग में पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् (२.३.३२) सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान है ।

[५१] नाना* ॥

१. विना, बग़ैर—नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा (गणरत्न०), विना स्त्री के लोकयात्रा निष्फल है । २. अनेक प्रकार के—नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः (नीति० ३७) । नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः (गीता० १.९) । ३. पृथक् रूप में—मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति (कठो० ४.१०) । विश्वं न नाना शम्भुना (वोपदेव), यह जगत् शम्भु से पृथक् नहीं ।

नोट—इस अव्यय के योग में भी पूर्वोक्तसूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान है ।

वक्तव्य—विना और नाना का पाठ भी 'वत्' की तरह यहां स्वरादियों में व्यर्थ सा प्रतीत होता है । तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः (३६८) से ही इन की अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो सकती है ।

[५२] स्वस्ति* ॥

१. मङ्गल, कल्याण, सुख—स्वस्त्यस्तु ते (रघु० ५.१७) । स्वस्ति भवते (शाकुन्तल० २) ।

नोट—इस अव्यय के योग में नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च (८९८) सूत्र से चतुर्थी विभक्ति का विधान है ।

[५३] स्वधा ॥

१. पितरों के निमित्त अन्न आदि देते समय उच्चार्यमाण विशिष्ट शब्द—पितृभ्यः स्वधा ।

नोट—इस अव्यय के योग में भी पूर्ववत् चतुर्थी का विधान है।

[५४] अलम्* ॥

१ भूषित करना, सजाना—वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते (नीति० १५)। अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते (मनु० ३ २८)[1]। २ पर्याप्त होना, काफी होना, समर्थ होना—तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै (रघु० २ ३९)। अहस्येन शर्मयितुमलं वारिधारासहस्रं (मेघ० २ ५२)। अलम्मल्लो मल्लाय (काशिका)[2]। ३ निषेध करना, मना करना, रोकना—अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् (रघु० २ ३४)। अलं हसितेन[3]। अलं बहु विकथ्य, बहुत डींग न मारिये। अलम् अन्यथा गृहीत्वा, अन्यथा ग्रहण न कीजिये। यहां के स्पष्टीकरण के लिये (८७८) सूत्र पर हमारी व्याख्या देखें।

[५५-५७] वषट्। श्रौषट्। वौषट् ॥

१ देवताओं के निमित्त हविर्दान में—वषडस्तु तुभ्यम् (यजु० ११ ३९)। अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निम् (ऋ० १ १३९ १)। सोमस्याग्ने वीहि वौषट् (ऐतरेय ब्रा० ४ ५ ४ ६)।

नोट—इन में से वषट् के योग में नमःस्वस्ति० (८९८) द्वारा चतुर्थी विभक्ति होती है।

[५८] अन्यत् ॥

१ अन्य, पुनः, इस के अतिरिक्त—देवदत्त आयातोऽन्यच्च यज्ञदत्तः (गण-रत्न०)। प्रयोग अन्वेषणीय हैं। विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय मान कर काम चल सकता है।

[५९] अस्ति ॥

१ विद्यमान, मौजूद—अतिथिर्बालकश्चैव राजा भार्या तथैव च। अस्ति नास्ति न जानन्ति देहि देहि पुनः पुनः (चाणक्य०)। अस्तिक्षीरा (अस्ति—विद्यमानं क्षीरमस्याः) गौः। अस्ति (विद्यमानः परलोकः) इति मतिरस्येत्यास्तिकः। अस्ति-नास्ति दिष्टं मतिः (४ ४ ६०) इति ठक्, ठस्येकः (१०२४) इति ठस्य इका-देशः। अस्तित्वम्।

नोट—इसे तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय भी माना गया है। विशेष चादिगण में अस्तिक्षीरा शब्द पर देखें।

---

१ यहां भूषणेऽलम् (१४६३) सूत्र से अलम् की गतिसंज्ञा हो कर कुगतिप्रादयः (९४९) द्वारा समास हो कर समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (८८४) से क्त्वा को ल्यप् हो जाता है।

२ इस अर्थ में नमःस्वस्तिस्वाहा० (८९८) सूत्रस्थ अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् (वा० ५२) वार्तिक से अलम् के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है।

३ ऐसे स्थलों में अलम् के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है। इस के स्पष्टीकरण के लिये इस व्याख्या के विभक्त्यर्थ परिशिष्ट में (२०) संख्या देखें।

[६०] उपांशु ॥

उपांशु विजनेऽव्ययम् इति विश्वः । १. एकान्त—परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् (रघु० ८.१८); रघु ने वृद्धावस्था को प्राप्त हो कर एकान्त में धारणा का अभ्यास करने के लिये कुशापवित्र आसन को ग्रहण किया ।

नोट—जिह्वोष्ठौ चालयेत् किञ्चिद् देवतागतमानसः । निजश्रवण-योग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः । इस प्रकार का जप भी 'उपांशु' कहाता है परन्तु वह प्रायः उकारान्त पुंलिङ्ग होता है अव्यय नहीं ।

[६१] क्षमा ॥

१. क्षमा, माफ़ी—क्षमा करोतु भवान् (व्या० सि० सु०)।

नोट—इस अव्यय के संस्कृतसाहित्य में प्रयोग अन्वेषणीय हैं । यदि इसे अव्यय मानना ही हो तो विभक्तिप्रतिरूपक माना जा सकता है, अथवा स्वरभेदार्थ यहां पाठ किया गया है ।

[६२] विहायसा ॥

१. आकाश—विहायसा पश्य विहङ्गराजम् (हेमचन्द्र) । विहायसा रम्यमितो विभाति (व्या० सि० सु०)। इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । संस्कृत में आकाशवाचक तथा पक्षिवाचक सकारान्त विहायस् शब्द बहुत प्रसिद्ध है—विहायाः शकुनौ पुंसि, गगने पुन्नपुंसकम्—इति मेदिनी ।

[६३] दोषा ॥

१. रात्रि— दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति (माघ० ४.४६), रात्रि के समय भी वह (चन्द्र) सूर्य है ऐसा समझ कर । दोषामन्यम् अहः (महाभाष्य), घने बादलों या धुन्ध के कारण अपने आप को रात्रि समझने वाला दिन । यहां 'दोषा' के अव्यय होने से खित्यनव्ययस्य (८०६) से ह्रस्व नहीं होता ।

नोट—'दोषा' यह रात्रिवाचक आकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी प्रयोग में देखा जाता है । यथा—ततः कथाभिः समतीत्य दोषाम् (भट्टि० २२.२४) ।

[६४] मृषा* ॥

असत्य, झूठ, मिथ्या । अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् । मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नलः । (नैषध० १.१५) । मृषा मिथ्या च वितथे—इत्यमरः ।

[६५] मिथ्या* ॥

१.झूठ असत्य—मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः (शाकुन्तल० २.५) । २. व्यर्थ, बेकार—ज्योतिषं जलदे मिथ्या, मिथ्या श्वासिनि वैद्यकम् । योगो बह्वशने मिथ्या, मिथ्याज्ञानं च मद्यपे (समयोचित०) ।

[६६] मुधा ॥

१. व्यर्थ में—रात्रिःसैव पुनः स एव दिवसो मत्वा मुधा जन्तवः(वैराग्य० ४४)।

सीतया रामचन्द्रस्य गले कमलमालिका । मुधा बुधा भ्रमन्त्यत्र प्रत्यक्षेपि क्रियापदे (सुभाषित०) । 'प्रत्यक्षेपि' इति कर्मणि लुङ्प्रयोग ।

[६७] पुरा* ॥

१ प्राचीन समय मे, व्यतीतकाल मे—पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदास । अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद् अनामिका सार्थवती बभूव (सुभाषित०) । पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-परागसुरभीकृते पयसि यस्य यात वय: । स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले, मरालकुलनायक. कथय रे कथ वर्ततांम् (भामिनी० १ २)। २ प्रबन्ध (क्रियासातत्य) मे—उपाध्यायेन स्म पुराधीयते (गणरत्न०) उपाध्याय ने निरन्तर पाठ किया । ३ निकट भविष्य मे—आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा (मेघ० २ २२), बलिकर्म मे लगी हुई शीघ्र ही वह तेरी दृष्टि मे आएगी। पुरा सप्तद्वीपा जयति वसुधामप्रतिरथः (शाकुन्तल० ७ ३३), आगे निकट भविष्य मे यह (सर्वदमन) अप्रतिम योधा बन कर सप्तद्वीपा सम्पूर्ण पृथ्वी को विजय करेगा । इस अर्थ मे 'पुरा' के योग मे यावत्पुरानिपातयोर्लट् (३ ३ ४) से भविष्यत्काल मे भी लट् का प्रयोग होता है ।

[६८] मिथो ॥

१ एकान्त । २ परस्पर—मन्त्रयन्ते मिथो (शब्दकौस्तुभ) ।

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । कुछ लोग 'मिथो+अत्र, मिथो+इति, इत्यादियो मे ओत् (५६) सूत्रद्वारा प्रगृह्यसंज्ञा कर प्रकृतिभाव करते है। परन्तु इस प्रकार मानने से इस का पाठ चादियो मे करना होगा अन्यथा चादयोऽसत्त्वे (५३) से निपातसंज्ञा न हो सकेगी ।

[६९] मिथस्* ॥

मिथोऽन्योन्य रहस्यपि—इत्यमर । १ परस्पर—तन्मिथः सवर्णसंज्ञ स्यात् (लघुसिद्धान्तकौमुदी १० सूत्र पर) । कामान् माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथ (मनु० २ १४७) । २ एकान्त—रत्नाकर वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच (रघु० १३ १), मिथ =रहसि । भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना वक्तुं मिथ प्राक्रमतैवमेनम् (कुमार० ३ २) ।

[७०] प्रायस् * ॥

१ बहुधा, अक्सर, बहुत बार—प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभव स्वामिन सेवमाना (मुद्रा० ४ २२) । प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापद.(नीति० ८४) । २ सम्भवत —तव प्राज्ञ प्रसादादिह प्रायः प्राप्स्यामि जीवितम् (महाभारत०)

नोट—इसी अर्थ मे घञन्त पुंलिङ्ग 'प्राय' शब्द का भी बहुत प्रयोग देखा जाता है । यथा—मृतप्रायो गर्दभ , शालिप्राया भूमिः, कष्टप्राय शरीरम् । पूर्ण अर्थ मे भी इस घञन्त का प्रयोग देखा जाता है—अमृतप्राय वचनम् । प्रायोपवेशनम् =अन्नादित्यागपूर्वक मृत्यु के लिये बैठ जाना, मरणव्रत रखना ।

[७१] मुहुस्* ॥

१. पुनः पुनः, बार बार—ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः (शाकुन्तल० १.७)। मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना। मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः। मुहुर्भ्रश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफलेत्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः (मुद्रा० ५.३)। मुहुर्मुहुः=बार बार—मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि (सुभाषित)।

[७२-७३] प्रवाहुकम्। प्रवाहिका ॥

१. समानकाल, उसी समय। २. ऊर्ध्व। प्रवाहुकं गृह्णीयात् (गणरत्न०)।

नोट—कई गणपाठों में 'प्रवाहुकम्' के स्थान पर 'प्रवाहिका' पाठ पाया जाता है। इन अव्ययों के प्रयोग अन्वेषणीय हैं। किसी कोष में इन का उल्लेख नहीं। ग्रहणीरोगवाची 'प्रवाहिका' शब्द टावन्त होता है। स्वामी दयानन्दसरस्वती ने 'प्रवाहुकम्' पाठ मान कर उस का 'प्राबल्य' अर्थ किया है। इस अर्थ में 'प्रवाहुक्' शब्द तो काठकसंहिता में देखा जाता है—देवा वा असुरान् यज्ञमभिजित्य ते प्रवाहुग्ग्रहान् गृह्णाना आयन् (काठकसंहिता २९.६)। सम्भव है कि इस शब्द का किसी लुप्तशाखा में उल्लेख हो।

[७४] आर्यहलम् ॥

१. बलपूर्वक, जबरदस्ती—आर्यहलं गृह्णाति (गणरत्न०)।

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

[७५] अभीक्ष्णम्* ॥

१. निरन्तर, बार बार, पुनः पुनः—क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णम् (पञ्च० २.१९२)।

[७६] साकम्* ॥

१. के साथ—आस्स्व साकं मया सौधे माधिष्ठा निर्जनं वनम् (भट्टि० ८.७९)। साकं ग्रावगणैर्लुठन्ति मणयो बालार्कबिम्बोपमाः (भामिनी० १.४०)।

नोट—साकम्, सार्धम्, समम्, सह आदि सहार्थक अव्ययों के योग में अप्रधान में सहयुक्तेऽप्रधाने (२.३.१९) द्वारा तृतीया विभक्ति का विधान है।

[७७] सार्धम्* ॥

१. के साथ—नाश्नीयाद् भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् (मनु० ४.४३)। वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः (रघु० १४.६३)।

[७८] नमस्* ॥

१. नमस्कार—नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति (नीति० ९१)। येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः। तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः (पाणिनीयशिक्षा ५८)।

नोट—इस अव्यय के योग में नमःस्वस्तिस्वाहा० (८९८) सूत्र द्वारा चतुर्थी विभक्ति का विधान है। इस अव्यय के 'अन्न, वज्र' आदि अन्य अनेक अर्थ भी वेद में प्रसिद्ध हैं।

[७९] हिरुक् ॥

पृथग्विनाऽन्तरेणर्तेहिरुङ्नाना च वर्जने—इत्यमरः । १ विना, बगैर—हिरुक् कर्म न मोक्षः स्यात् (व्या० च०), बिना कर्म के मोक्ष दुर्लभ है। २ समीप—पर्वतस्य हिरुङ् नदी (व्या० च०), पर्वत के समीप नदी है। ३ तिरोहित—य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् (ऋ० १.१६४.३२)।

नोट—यह अव्यय प्रायः वैदिकसाहित्य में उपलब्ध होता है।

[८०] धिक्* ॥

१ धिक्कार— धिक् तां च तं च मदनं च इमाञ्च माञ्च (नीति० २)। राम सीता लक्ष्मण जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तञ्च धिग् धिक्। अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तञ्च धिग्धिक् (सुभाषित०)।[1]

नोट—इस अव्यय के योग में उभसर्वतसोः कार्या० (वा०) द्वारा द्वितीया का विधान है।

[८१] अथ* ॥

१ आरम्भ अर्थ में—अथ शब्दानुशासनम् (अष्टाध्याय्या आदौ)। अथ योगानुशासनम् (योगदर्शन १.१)। २ अनन्तर अर्थ में—अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्। वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच (रघु० २.१), अथ=निशानयनानन्तरमित्यर्थः। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (वेदान्तसूत्र १.१.१), अथ—साधनचतुष्टयानन्तरमित्यर्थः। ३ विकल्प अर्थ में—शब्दो नित्योऽथानित्यः (गणरत्न०), शब्द नित्य है या अनित्य ?। ४ प्रश्न या प्रश्नावतरण में (यह बताइये—इस अर्थ में)—अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी (शाकुन्तल० ७), अच्छा तो यह बताइये कि वह आदरणीया किस राजर्षि की पत्नी है ?। न चेन्मुनिकुमारोऽयम् अथ कोऽस्य व्यपदेशः ? (शाकुन्तल० ७), यदि यह मुनिकुमार नहीं तो इस का कुल क्या है ?। अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः (गीता० ३.३६), तो यह पुरुष किस से प्रयुक्त हुआ पापाचरण करता है ?। ५ समुच्चय में—गणितमथ कलां वैशिकीम् (मृच्छ० २.३), गणित तथा वेश्यागृहसम्बन्धी कला को। मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा। सम्पूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया (मनु० २.१३१)। ६ यदि, अगर (पक्षान्तर) अर्थ में—अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि (गीता० २.३३), यदि तुम इस धार्मिक संग्राम को नहीं करोगे। अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत (हितोप० ३.१४१), यदि मृत्यु अवश्य होनी ही है तो व्यर्थ में अपना यश क्यों कलङ्कित किया जाये ?। ७ मङ्गल—इस अर्थ का विवेचन चादिगणप्रोक्त 'अथ' निपात पर देखें।

[८२] अम् ॥

१ शीघ्र, २ अल्प। इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

---

१. अत्र इवे प्रतिकृतौ (१२३४) इति विहितस्य कनः जीविकार्थे चापण्ये (५.३.९९) इति लुपोऽभावाद् 'रामकम्, सीतिकाम्, लक्ष्मणकम्' इत्येव प्रयोगाः साधवः।

नोट—वर्तमान उपलब्ध लौकिक या वैदिकसाहित्य में हमें यह अव्यय कहीं नहीं मिला। दीक्षित आदि इसे प्रत्यय मानते है। उन का कथन है कि **अमु च च्छन्दसि** (५.४.१२) सूत्र से विहित अम्प्रत्ययान्त की अव्ययसंज्ञा होती है। उदाहरण यथा—**प्र तं नय प्रतरं वयस्यः** (यजु० १२.२६)। परन्तु चाहे यहां 'अम्' से प्रत्यय भी समझ लें तो भी **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से ही इस के अव्ययसंज्ञक हो जाने से यहां ग्रहण व्यर्थ सा प्रतीत होता है।

[८३] आम् ॥

१. स्वीकृति या स्मृति द्वारा 'जी हां' के अर्थ में—**आम्! ज्ञातम्** (शाकुन्तल० ३)।

नोट—कई वैयाकरण यहां भी पूर्ववत् **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (५.४.११) आदि सूत्रों से विहित आम्प्रत्ययान्तों की अव्ययसंज्ञा मानते हैं।

[८४] प्रताम् ॥

१. ग्लानि—इस के उदाहरण अन्वेष्टव्य हैं।

नोट—'प्रताम्' शब्द प्रपूर्वक तम् (**तमु काङ्क्षायाम्**) धातु से क्विप् प्रत्यय कर उपधादीर्घ (७२७) करने से निष्पन्न होता है। यहां सुंव्लुक् हो जाने पर **मो नो धातोः** (२७०) से इस के मकार को नकार नहीं होता क्योंकि यदि ऐसा करना होता तो आचार्य इस गण में प्रशान् (प्रतान्) शब्दों को नकारान्त निर्दिष्ट न करते।

[८५] प्रशान् ॥

१. तुल्य, सदृश, समान—**प्रशान् देवदत्तो यज्ञदत्तेन** (गणरत्न०)।

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं। कई वैयाकरण 'प्रशान्' के स्थान पर 'प्रशाम्' पाठ मानते हैं। कुछ अन्य लोग यहां 'प्रतान्' शब्द को भी पढ़ते हैं।

[८६] मा* ॥

१. निषेध (मत) अर्थ में—**मा जानीत विदर्भजामविदुषीम्** (नैषध० १५.८६)। **मा ब्रूहि दीनं वचः** (नीति० ५१)। **माऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्** (हितोप० १.१०२)। **मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (गीता० २.४७)। २. 'ऐसा न हो' इस अर्थ में—**मा कश्चिन्ममाप्यनर्थो भवेत्** (पञ्च० ५), ऐसा न हो कि मुझ पर भी कोई अनर्थ आ पड़े। **लघु एनां परित्रायस्व मा कस्यापि तपस्विनो हस्ते पतिष्यति** (शाकुन्तल० २), शीघ्र ही इसे बचाइये ऐसा न हो कि यह किसी तपस्वी के हाथ में पड़ जाये। ३. धिक्कार—**मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति** (माघ० २.४५), धिक्कार है उस के जीवन पर जो शत्रुओं से तिरस्कृत हुआ भी जीता है।

नोट—कुछ वैयाकरण इस अव्यय को नहीं मानते केवल अग्रिम 'माङ्' को ही स्वीकार करते हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण इस व्याख्या के द्वितीय-भागस्थ **माङि लुङ्** (४३५) सूत्र पर देखें।

[८७] माङ्* ॥

१. मत—**पापे रतिं मा कृथाः** (भागवत० २.७७), पाप में प्रेम मत कर।

'स्म' के साथ इस के प्रयोग बहुत प्रसिद्ध हैं—क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते (गीता० २.३)। माङि लुङ् (४३५) तथा स्मोत्तरे लङ् च (४३६) सूत्रों द्वारा केवल माङ् के योग में लुङ् तथा स्म के साथ लङ् लुङ् का विधान है। न माङ्योगे (४४१) से अट् आट् के आगम नहीं होते।[1]

आकृतिगणोऽयम् ॥

यह स्वरादिगण आकृतिगण है अर्थात् स्वरादिशब्द केवल इतने ही नहीं जितने परिगणित किये गये हैं, अपितु इन के अतिरिक्त अन्य जिन शब्दों में अव्ययकार्य पाया जाये उन को भी इस गण में सम्मिलित कर लेना चाहिये। आकृतिगण का स्पष्टीकरण पीछे (३९)सूत्र पर कर चुके हैं। स्वरादिगण में गिनने योग्य कुछ अन्य शब्द यथा—

(१) समम्* =के साथ। दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिञ्चापि न कारयेत्। उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् (हितोप० १.८०)। इस के योग में तृतीया विभक्ति होती है—सहयुक्तेऽप्रधाने (२.३.१९)।

(२) सत्रा* =साथ। सत्रा पुत्रकलत्रमित्रनिवहैः (रामचरितम्० २.९४)। पूर्ववत् तृतीया।

(३) झटिति* =शीघ्र। झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः (नैषध०)।

(४) तरसा* =शीघ्र। तरसा तां समुत्पाट्य चिक्षेप बलवद्बली (रामायण० ५.४४.११)। तृतीयान्त 'तरस्' से काम चल सकता है, इसे अव्यय मानना अनावश्यक है।

(५) द्राक्* =शीघ्र। द्राग्विद्रुताः कातराः (गणरत्न०), कायर शीघ्र भाग गये।

(६) अञ्जसा =शीघ्र। स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् (मनु० २.२४)।

(७) मङ्क्षु =शीघ्र। मङ्क्षूदपाति परितः पटलैरलीनाम् (माघ० ५.३७), भौंरों के समूह चारों तरफ झटपट उड़ गये।

(८) सपदि* =शीघ्र, तत्क्षण। सपदि कुमुदिनीभिर्मीलितम् (माघ० ११.२४)।

(९) भूयस्* =पुनः, फिर। भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्त्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे (रघु० २.४६)। अत्यधिक, बार बार। भूयोऽपि सिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति (सुभाषित०)।

(१०) कामम्* =भले ही। कामं धीरस्वभावेयं स्त्रीस्वभावस्तु कातरः (स्वप्न० ४.८)। मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं नैव गच्छति (हितोप० १.१३३)। निश्चय ही। कामं व्यसनवृक्षस्य मूलं दुर्जनसंगतिः (कथासरित्०)। कामम् =निश्चय ही।

(११) संवत्* (सर्वं॒वत्) =वर्ष, विशेषतः वैक्रमाब्द। 'संवत्सर' का संक्षेप है।

---

१. मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वम् अगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकम् अवधीः काम-मोहितम् ॥ (रामायण० १.२.१५)
यहां 'अगमः' में अट् आगम आर्ष समझना चाहिये। अथवा यहां माङ् का प्रयोग न हो कर पूर्वोक्त 'मा' का प्रयोग ही समझा जा सकता है।

(१२) वदि*=कृष्णपक्ष। 'बहुलदिवस' का संक्षेप है। 'वदि' भी लिखते हैं।

(१३) शुदि*=शुक्लपक्ष। 'शुक्ल-दिवस' का संक्षेप है। 'सुदि' भी होता है।

(१४) साक्षात्*=प्रत्यक्ष, सामने उपस्थित। मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम् (शाकुन्तल० १.६)। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः (निरुक्त १)।

(१५) साचि=टेढ़ा। साचि लोचनयुगं नमयन्ती (किरात० ६.४४)।

(१६) अजस्रम्*=निरन्तर। पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रम् (उत्तरराम० ४.२६)।

(१७) अनिशम्*=निरन्तर। तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव (शाकुन्तल० ३.१४)।

(१८) वरम्*=अच्छा, अपेक्षाकृत अच्छा। वरमद्य कपोतः श्वोमयूरात् (लोकोक्ति)। याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा (मेघ० ६)। वरं भिक्षाशित्वं न च परधनाऽऽस्वादनसुखम् (हितोप० १.१३७)।

(१९) स्थाने*=उचित, ठीक, योग्य। स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति (रघु० ५.१६)।

(२०) कृतम्*='अलम्' के अर्थ में, बस, निषेध, रोकना। अथवा कृतं सन्देहेन (शाकुन्तल० १), अथवा अब सन्देह नहीं करना चाहिये। प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम् (रघु० ११.४१)। इस के योग में तृतीया का प्रयोग होता है।

(२१) प्रादुस्*=प्रकट, उत्पन्न। ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाच्छविः (रघु० ११.१५), राम-लक्ष्मण के धनुष की टंकार को सुनती हुई कृष्णपक्ष की रात्रि के समान वर्ण वाली ताडका प्रकट हुई। इस का प्रयोग प्रायः भू, कृ, अस् धातुओं के साथ ही मिलता है।

(२२) आविस्*=प्रकट। तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति (शाकुन्तल० ५.१४), सूर्य के चमकते हुए अन्धेरा कैसे प्रकट होगा? तेषामाविरभूद् ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम् (कुमार० २.२)।

(२३) प्रकामम्*=यथेच्छ, बहुत। प्रकाममभ्यस्यतु नाम विद्यां सौजन्यमभ्यासवशादलभ्यम् (सुभाषित)। जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा (शाकुन्तल० ४.२२)। अनव्यय 'प्रकाम' शब्द भी बहुधा प्रयुक्त होता है—न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः (रघु० १.६६)।

(२४) उषा=रात्रि का अन्त, भोर वेला, प्रातः काल। उषा रात्रेरवसाने—इत्यमरः। उषा स्याद्रजनीशेषे 'उषः' इत्यपि दृश्यते—इति रभसः। इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं। सुप्रसिद्ध 'उषस्' शब्द सकारान्त स्त्रीलिङ्ग है—उषाः, उषसौ, उषसः।

(२५) ओम्*=स्वीकार करना। द्वितीयश्चेद् ओमिति ब्रूमः (साहित्यदर्पण० १)। ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिणः (माघ० १.७५)। ओमित्युच्यताममात्यः (मालती० ६), मन्त्री को कह दो कि हमें स्वीकार है। 'ओम्' यह परब्रह्म का वाचक भी है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् (कठोप० २.१५) ।

(२६) अवश्यम्*=जरूर, अवश्य। अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः (वैराग्य० १२) । समास में कृत्यप्रत्ययान्त शब्द के परे होने पर 'अवश्यम्' के मकार का लोप हो जाता है—लुम्पेदवश्यमः कृत्ये (वा०) । यथा—अवश्यपाच्यम्, अवश्यलाव्यम्, अवश्यस्तुत्य ।

(२७) सम्प्रति*=अब । सम्प्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते यस्यायमाद्यः श्लोकः (हितोप० १) ।

(२८) साम्प्रतम्*=अब, आजकल । धनं साम्प्रतं वन्द्यमास्ते न विद्या (कस्यचित्) । उचित, युक्त, मुनासिब— हन्त स्थाने क्रोधस्य साम्प्रतं देव्याः (वेणीसंहार० १) । युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने—इत्यमरः ।

(२९) सुष्ठु*=अच्छा, ठीक, युक्त । अथवा सुष्ठु खल्विदमुच्यते । सुष्ठूक्तं त्वया । बहुत अच्छी तरह – सुष्ठु शोभसे आर्यपुत्र एतेन विनयमाहात्म्येन (उत्तरराम० १) । इस का स्वरभेदार्थं चादियों में भी परिगणन किया गया है ।

(३०) दुष्ठु=बुरा । यन्मां दुष्ठु मन्यसे (बुद्धचरित० ४.८४) । निन्दायां दुष्ठु सुष्ठु प्रशंसने—इत्यमरः ।

(३१) मिथु या मिथुर् (?)=दोनों, परस्पर । ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः (भागवत० ११.६.१४) ।

(३२) असाम्प्रतम्*=अयुक्त । विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् (कुमार० २.५५) ।

(३३) कु*=कुत्सित, बुरा । कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति (देवीक्षमा० १) । थोड़ा, अल्प—सुपूरा स्यात् कुनदिका (पञ्च० १.२६) । पृथ्वीवाचक 'कु' अव्यय नहीं है उकारान्त स्त्रीलिङ्ग है—गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही—इत्यमरः । कौ मोदत इति कुमुदम् ।

(३४) सु*=अच्छा, अच्छी तरह । सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः । सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् (हितोप० १.२२) ।

(३५) चिरेण*=चिर काल बाद । कियच्चिरेण आर्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यति (शाकुन्तल० ६), कितने चिर बाद आर्यपुत्र सन्देश भेजेंगे ? । चिरेण सञ्ज्ञां प्रतिलभ्य भूयो विचिन्तयामास विशालनेत्रा (रामायण० सुन्दर० ३२.८), बहुत काल के बाद होश में आकर वह विशालाक्षी पुनः सोचने लगी। नचिरेण, अचिरेण=शीघ्र । 'न' अव्यय के साथ सुप्सुपा-समास हो कर 'नचिरेण' तथा 'नञ्' अव्यय के साथ नञ्तत्पुरुषसमास होकर 'अचिरेण' बनता है । योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति (गीता० ५.६) । अचिरेणैव सीदति (मनु० ७.१३४) ।

(३६) चिराय*=चिर काल तक, देर तक । प्रीताऽस्मि ते सौम्य चिराय जीव

(रघु० १४.५६)। काकोऽपि जीवति चिराय बलिञ्च भुङ्क्ते (पञ्च० १.२५)।

(३७) चिररात्राय = चिरकाल के लिये। प्रतियाते महारण्यं चिररात्राय राघवे। बभूव नगरे मूर्च्छा बलमूर्च्छाजिनस्य च (रामायण० २.४०.१८), राम के चिरकाल के लिये वन को चले जाने पर नगर में मूर्छा छा गई।

(३८) चिरात्* = बहुत काल के बाद। भो भगिनीसुत ! किमिति चिराद् दृष्टोऽसि (पञ्च० ४), हे भाञ्जे ! क्या कारण है बहुत काल के बाद दिखाई दिये हो ?। चिर तक, बहुत काल तक—तदक्षयं महद् दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरात् (रामायण० २.२०.४६), मैं उस अक्षय महान् दुःख को बहुत काल तक न सह सकूंगी। नचिरात्-अचिरात् = शीघ्र। तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागराद्। भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् (गीता० १२.७)। अचिराद्उपकर्त्तुराचरेदथवाऽऽत्मौपयिकीमुपक्रियाम्। पृथुरित्यमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः (नैषध० २.१४)।

(३९) चिरस्य = चिरकाल के बाद। समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः (शाकुन्तल० ५.१५), तुल्य गुणों वाले वधू-वर का जोड़ा बनाते हुए आज चिरकाल के बाद प्रजापति निन्दा को प्राप्त नहीं हुआ। चिरस्य बत पश्यामि दूराद् भरतमागतम् (रामायण० २.१००.५)।

(४०) चिरे = देर तक। चिरे कुर्यात् (शतपथब्रा०)। इस का लोक में प्रयोग बहुत कम होता है।

इस प्रकार शिष्टग्रन्थों के प्रयोग से अन्य स्वरादि भी जानने चाहियें।

स्वरादिनिपातमव्ययम् (३६७) सूत्र में निपातों की भी अव्ययसंज्ञा की गई है। निपातों का सम्पूर्ण वर्णन अष्टाध्यायी में प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१.४.५६) सूत्र के अधिकार में किया गया है। इस अधिकार के दो सूत्र चादयोऽसत्त्वे (५३) तथा प्रादयः (५४) पीछे अच्सन्धिप्रकरण में निर्दिष्ट किये जा चुके हैं। चादि तथा प्रादि गणों में पठित शब्द असत्त्व अर्थ में निपात होते हैं। इन में से प्रादिगण का निर्देश (३५) सूत्र पर पीछे किया जा चुका है अब चादिगण का परिगणन करते हैं। निपात होने से चादि अव्यय हैं—यह नहीं भूलना चाहिये।[1]

---

१. चादिगण को यदि स्वरादिगण में सम्मिलित कर देते तो भी इस की अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो सकती थी तो पुनः इस की निपातसंज्ञा का यह प्रयोजन है कि चादयोऽसत्त्वे (५३) सूत्र में 'असत्त्व' कथन के कारण द्रव्यवाचक चादियों की निपातसंज्ञा और उस के कारण अव्ययसंज्ञा न हो। यथा—

'पशु' शब्द चादिगण में पढ़ा गया है। 'पशु' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक—पशु = चौपाया, जानवर, दूसरा पशु = सम्यक्, अच्छी तरह। चौपाया अर्थ वाला 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक होने से न निपातसंज्ञक होता है और न अव्ययसंज्ञक। यथा—पशुं पश्य (चौपाये को देखो), यहां अव्ययसंज्ञा न होने से पशु शब्द से परे द्वितीयाविभक्ति का लुक् (३७२) नहीं होता। पशु पश्य (ठीक

[१] च* ॥

१ समुच्चय[1]—अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत् (हितोप० ३)। स शापो न त्वया राजन् न च सारथिना श्रुतः (रघु० १.७८)। २ अन्वाचय—भो भिक्षामट गाञ्चानय (गणरत्न०), भिक्षा के लिये घूमो और (यदि मार्ग में गौ मिल जाये तो) गाय को भी लेते आना। ३ इतरेतरयोग—तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी। तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः (रघु० १.५७)। ४ समाहार—पाणी च पादौ च पाणिपादम् (गणरत्न०)। ५ परन्तु लेकिन—शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य (शाकुन्तल० १.१५)। अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः (हितोप० १२)। ६ तुल्ययोगिता (ज्यों ही त्यों ही)—ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः (रघु० १०.६), ज्योंही वे क्षीरसागर पर पहुंचे त्योंही आदिपुरुष (विष्णु) जाग गये। ७ अवधारण (ही)—अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयोः (गणरत्न०) हे देव! यस्तव महिमा स वाङ्मनसयोः पन्थानं मार्गमतीत एव। कर्मक्षयाच्च निर्वाणम् (व्या० च०), कर्मों के क्षय से ही मोक्ष प्राप्त होता है। ८ यदि (अगर)—जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु (महाभारत), हे मूढ! यदि तुम जीना चाहते हो तो मुझ से कारण सुनो। ९ पादपूर्त्ति—भीमः पार्थस्तथैव च (गणरत्न०)।

[२] वा* ॥

१ विकल्प—यवैर्वा व्रीहिभिर्वा यजेत (सुप्रसिद्धा श्रुतिः)। २ अथवा, या—काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्। व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा (हितोप० ११)। श्वशुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणां यदि भवति विवेकी पञ्च वा षड् दिनानि (समयोचित०)[2]। ३ समुच्चय—अस्ति ते माता स्मरसि वा तातम्

तरह में देखो), यहां 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक नहीं अतः निपात होने से उस की अव्ययसंज्ञा हो कर सुँलुक् हो जाता है। इसीप्रकार लक्ष्मीवाचक 'मा' शब्द की अव्ययसंज्ञा नहीं होती, निषेधवाचक की ही होती है।

अब यदि चादियों का पाठ स्वरादियों में ही होता और उन की निपातसंज्ञा न की जाती तो 'पशु पश्य' इत्यादि स्थलों की तरह 'पशु पश्य' इत्यादियों में भी अव्ययसंज्ञा हो जाने से अनिष्ट हो जाता जो अब नहीं होता। सार यह है कि—स्वरादियों में तो द्रव्यवाचक की भी अव्ययसंज्ञा हो जाती है, यथा—स्वः पश्य (स्वर्ग को देख)। परन्तु चादियों में द्रव्यवाचक की नहीं होती। किञ्च—निपाता आद्युदात्ताः (फिट्सूत्र ८०) द्वारा आद्युदात्तस्वर भी निपातसंज्ञा का प्रयोजन है।

१ समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग, समाहार—शब्दों की विस्तृत व्याख्या इस व्याख्या के द्वन्द्वसमासप्रकरण में चार्थे द्वन्द्वः (९८२) सूत्र पर देखें।

२ इस श्लोक का उत्तरार्ध इस प्रकार है—दधि-मधु-घृतलोभान्मासमेकं वसेच्चेद् भवति विगतलज्जो मानवो मानहीनः। (मालिनी छन्द है)।

(उत्तररामचरित ४)। ४. इव=सदृश—जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम् (मेघ० २.२०), मैं मानता हूं कि वह मेरी प्रिया हिममर्दित कमलिनी की तरह विकृतरूप को प्राप्त हो गई है। हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शिखी (मृच्छ० ५.६), प्रसन्न एवम् अतिगर्वित बल वाले दुर्योधन के समान मोर गरज रहा है। ५. वाक्यालंकार—परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते (पञ्च० १.२८)।

[३] ह ॥

१. कहते हैं, सुनते हैं—इस प्रकार पिछली अतीत घटना को बताने में—तस्य ह शतं जाया बभूवुः (ऐतरेयब्रा०), कहते हैं कि उस की सौ स्त्रिया थीं। द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च (बृहदारण्यकोप० १.३.१), सुनते हैं कि देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानें हैं। उषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास (छान्दोग्योप० १.१.१), कहते हैं कि चक्र का गोत्रापत्य उषस्ति महावतों के ग्राम में दुर्गत अवस्था में रहता था। पादपूर्त्ति में—इति ह स्माहुराचार्याः (गणरत्न०)।

नोट—इस का प्रयोग बहुधा वैदिक ब्राह्मणसाहित्य में देखा जाता है।

[४] अह ॥

१. आचारातिक्रमण—स्वयमह ओदनं भुङ्क्त आचार्य सक्तून् पाययति। स्वयमह रथेन याति, उपाध्यायं पदातिं गनयति (काशिका ८.२.१०४)। २. पूजा—अह माणवको भुङ्क्ते (गणरत्न०)। ३. विनियोग—त्वमह ग्रामं गच्छ। अयमहारण्यं गच्छतु (गणरत्न०)।

[५] एव* ॥

१. अवधारण (ही)—सत्यमेव जयते नाऽनृतम् (मुण्डकोप० ३.१.६)। कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः (गीता० ३.२०)। भवितव्यं भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत् (सुभाषित०)। अयोग्मणा विरहितः पुरुषः स एव (पञ्च० ५.२६)। २. ज्यों ही, as soon as—उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् (रघु० १.८७)। ३. की तरह—श्रीस्तवैव मेऽस्तु (गणरत्न०), तेरे समान मेरा धन हो।

नोट—ध्यान रहे कि 'च' से लेकर 'एव' तक का प्रयोग पाद या वाक्य के आदि में नहीं होता। पादादौ न च वक्तव्याश्चादयः प्रायशो बुधैः (वाग्भटालङ्कार)। इसी तरह 'खलु' 'तु' आदि के विषय में भी जानना चाहिये।

[६] एवम्* ॥

१. इस प्रकार, इस तरह, ऐसे—एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्। विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः (गीता० १.४७)। तस्मादेवं विदित्वैनं नाऽनुशोचितुमर्हसि (गीता० २.२५)। यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः। विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः (माघ० २.१३)।

[७] नूनम्* ॥

१. निश्चय से, सचमुच—नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीस्ताः। याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः

कय ता (शृङ्गार० १०)। क्षुद्रेऽपि नून शरण प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव (कुमार० १.१२)। नून न दृष्टः कविनापि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी[1] (सुभाषितसुधा०)। तन्नूनं सा वानरी भविष्यति यतस्तस्या अनुरागत. सकलमपि दिनं तत्र गमयसि (पञ्च० ४)। २ तर्क करना, अनुमान करना, खयाल दौड़ाना—पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि। तत्रायमद्यापतितो विपाको दु खेन दु ख यदह विशामि (रामायण० ३ ६३.४)। वेद में इस अव्यय के 'अब, अभी, आज' आदि अन्य अर्थ भी होते हैं।

[८] शश्वत्* ॥

१ नित्य, हमेशा, सदा, निरन्तर—जीवन्पुन शश्वदुपप्लवेभ्य प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि (रघु० २ ४८)। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति (गीता० ९ ३१)। शश्वद्भव शाश्वत वैरम्, तत्र भव (१०८९) इत्यण्। अनित्योऽव्ययाना टिलोप, बहिषष्टिलोपवचनाज्ज्ञापकात्। २ पुन पुन, बार बार—उपदा विविशु शश्वन्नोत्सेका कोसलेश्वरम् (रघु० ४ ७०), कोसलेश्वर रघु को बार बार उपहार प्राप्त हुए परन्तु उस मे गर्व उत्पन्न नहीं हुआ। ३ साथ साथ, एक साथ—शश्वद् भुञ्जाते (गणरत्न०)। शश्वत्ते मुनयस्तत्र तमसेवन्त योगिनम् (व्या० च०)।[2]

[९] युगपत्* ॥

१. एक साथ—युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम् युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाऽभवत् (रामायण० ३ २५.४१)। इस अव्यय का उल्लेख पीछे स्वरादियों में न०(११) पर हो चुका है।

[१०] भूयस्* ॥

१ पुन, फिर—गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्या नरा भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूय पुरुषा. सुरत्वात् (विष्णुपुराण २ ३ २४)। भूयोभूय =पुन पुन, बार बार—भूयोभूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति व्याप्ति

---

१ अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिम न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्क. ॥ (कुमार० १.३)
कालिदास की इस सुन्दर उक्ति पर किसी कवि की सुन्दर चुटकी यथा—
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
नूनं न दृष्टः कविनापि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी ॥ (सुभाषितसुधा०)

२. 'ह' और 'शश्वत्' के योग मे भूतानद्यतन परोक्ष काल मे लिट् और लङ् दोनो का प्रयोग हो सकता है—हशश्वतोर्लङ् च (३.२ ११६)। यथा—इति ह अकरोत्, इति ह चकार। शश्वदकरोत्, शश्वच्चकार। यथा च भट्टिकाव्ये (६.१४३)—

दैवं न विदधे नूनं युगपत्सुखमावयो।
शश्वद् बभूव तद्दुःस्य यतो नाविति हाकरोत्॥

गृहीत्वा (तर्कसंग्रह)। भूयोभूयः शरान् घोरान् विससर्ज महामृधे (रामायण० ६.४५.१४)। २. अधिक—रामभद्र ! उच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि (उत्तरराम० अन्ते)। इस अव्यय का वर्णन पीछे (पृष्ठ ५३२) स्वरादियों के आकृतिगणत्व के कारण परिगृहीत शब्दों में भी आ चुका है।

[११] कूपत् ॥

१. प्रश्न या प्रशंसा में—कूपदयं गायति (गणरत्न०)।

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

[१२] सूपत् ॥

१. प्रश्न या प्रशंसा में। इस का प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीं हुआ।

[१३] कुवित् ॥

१. बहुत—कुवित् सोमस्यापाम् (ऋ० १०.११९.१), मैं ने बहुत सोम पिया।

नोट—इस के प्रयोग वैदिक साहित्य में बहुत हैं पर लोक में नहीं।

[१४] नेत् ॥

१. ऐसा न हो—नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम (ऋ० खिलपाठ, ३.२२), ऐसा न हो कि कुटिल आचरण करती हुई हम नरक में पड़ जायें। नेच्छत्रुः प्राशं जयाति (अथर्व० २.२७.१), ऐसा न हो कि शत्रु हमारा भक्ष्य छीन ले।

नोट—वेद में 'नेत्' का प्रयोग तो अनेक बार आया है परन्तु पदपाठकारों ने सर्वत्र 'न+इत्' ऐसा छेद ही माना है। अतः यह निपातसमुदाय है।

[१५] चेत्* ॥

१. अगर, यदि—लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः। सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् (नीति० ४४)। उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् (गीता० ३.२४)। अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः (गीता० ९.३०)। किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः (रघु० २.५७)। अथ चेत् (और अगर)—अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि (गीता० २.३३)।

नोट—इस अव्यय का प्रयोग वाक्य के आदि में नहीं होता।

[१६] चण् ॥

१. यदि, अगर—इन्द्रश्च मृडयाति नः (नागेशद्वारा उद्धृत), इन्द्र यदि हमें सुखी करे। अयं च मरिष्यति (काशिका ८.१.३०), यदि यह मरेगा।

नोट—इस निपात में णकार इत्संज्ञक है अतः उस का लोप हो कर 'च' ही अवशिष्ट रहता है। इस णित् 'च' निपात के योग में निपातैर्यद्-यदि-हन्त-कुविन्नेच्चेच्चण्-कच्चिद्-यत्र-युक्तम् (८.१.३०) सूत्र द्वारा तिङन्त को निघातस्वर का निषेध हो जाता है। समुच्चयाद्यर्थक पूर्वोक्त निरनुबन्ध 'च' से पृथक् रखने के लिये ही इसे णित् किया गया है। अतः पूर्वोक्त 'च' के योग में निघातस्वर का निषेध नहीं होता।

[१७] यत्र* ॥

१ जिस स्थान या काल में, जहां—प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः (नीति० ८४)। यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि। निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते (हितोप० १.६९)। यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति (सुभाषित०)।[1]

नोट—त्रल्प्रत्ययान्त होने से यद्यपि तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः (३६८) सूत्र द्वारा ही इस की अव्ययसंज्ञा हो सकती है तथापि यहां चादियों में पाठ निपातसंज्ञा के लिये है। निपातसंज्ञा का प्रयोजन निपातैर्यद्यदिहन्त० (८.१.३०) सूत्र से निघातस्वर का प्रतिषेध करना है।

[१८] कच्चित्* ॥

१ इष्ट बात के पूछने में—आयस्ते विपुलः कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्ययः। अपात्रेषु न ते कच्चित् कोशो गच्छति राघव (रामायण० २.१०० ५४), राम भरत से पूछते हैं—हे राघव (भरत) क्या तुम्हारा खर्च तुम्हारी आमदनी से कम तो है ? क्या तेरा धन कहीं कुपात्रों पर तो खर्च नहीं हो रहा ?। कच्चित् स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव। कच्चिदाशासमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि (रामायण० २.१००.७५), हे भरत ! क्या तुम स्वादिष्ट भोज्य वस्तु इच्छुक मित्रों को दिये विना अकेले तो नहीं खा जाते ?। आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् (रघु० ५.५), महर्षि का त्रिविध तप कहीं विघ्नों से नष्ट तो नहीं हो रहा ?

[१९] नह ॥

१. प्रत्यारम्भ=निश्चितनिषेध—नह भोक्ष्यसे (गणरत्न०), तू नहीं खायेगा (न खा)। चोदितस्यावधीरणे उपालिप्सया प्रतिषेधयुक्त आरम्भः प्रत्यारम्भः (काशिका ८.१.३१)। २. निषेधमात्र— नह वै तस्मिंश्च लोके दक्षिणामिच्छन्ति (अनुपलब्धमूल काशिकायां प्रत्युदाहरणम्)। दिप्सन्त इद् रिपवो नह देभुः (ऋ० १.१४७ ३), शत्रु धोखा देना चाहते थे पर दे न सके।

नोट—यह निपात 'न+ह' इन दो निपातों के समुदाय से बना है।

[२०] हन्त* ॥

१ हर्ष प्रकट करना—हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम् (शाकुन्तल० ४)। हन्त प्रवृत्तं संगीतकम् (मालविका० १)। २. अनुकम्पा—हा हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार (सुभाषित०)। ३. वाक्यारम्भ में—हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः (गीता० १०.१९)। ४ विषाद में—काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया (सुभाषित०)। हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः—इत्यमरः।

[२१] माकिर् ॥

१. मत (मत कोई)—माकिर्नो दुरिताय धायीः (ऋ० १.१४७ ५)। मा-

१. यत्र—अनवक्लृप्त्यमर्षगर्हाऽऽश्चर्येषु। नाऽवकल्पयामि, न मर्षये, गर्हे, आश्चर्यं वा, यत्र भवान् वृषलं याजयेत्—इति तत्त्वबोधिनी।

किस्तोकस्य नो रिषत (ऋ० ८.६७.११)। शाकटायन इसे सान्त मानते हैं।

[२२] माकीम् ॥

१. मत (मत कोई)—माकिर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं संशारि केवटे (ऋ० ६.५४.७)। गण में 'माकिम्' पाठ अपपाठ है।

[२३] नकिर् ॥

१. न कोई—सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान् (ऋ० १.५२.१३), सचमुच तेरे जैसा अन्य कोई नहीं है। नकिर् वक्ता ना दादिति (ऋ० ८.३२.१५), कोई यह कहने वाला नहीं है कि इन्द्र नहीं देता। नकिस्तं घ्नन्त्यन्तितो न दूरात् (ऋ० २.२७.१३), उसे कोई भी न तो समीप से मार सकता है और न दूर से।

[२४] नकीम् ॥

१. न कोई—नकीम् इन्द्रो निकर्तवे (ऋ० ८.७८.५), कोई इन्द्र का तिरस्कार नहीं कर सकता। इस गण में उपलभ्यमान 'नकिम्' पाठ अपपाठ है।

नोट—माकिर् आदि चारों निपात वेद में ही उपलब्ध होते हैं।

[२५] माङ्* ॥

१. निषेध (मत)—धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् (मनु० ८.१५)।

नोट—अनुबन्ध ङकार का लोप हो कर 'माङ्' का 'मा' ही अवशिष्ट रहता है। ध्यान रहे कि इस का स्वरादियों में भी पाठ किया गया है। नागेशभट्ट के विचार में इस का स्वरादियों में पाठ व्यर्थ है; क्योंकि वहां पढ़ने से स्वर (अन्तोदात्त) में तो कोई अन्तर आता ही नहीं, उल्टा यहां पढ़ने के कारण लक्ष्मीवाची 'मा' शब्द की अव्ययसंज्ञा नहीं होती—जो न करनी ही अभीष्ट है। विशेष विचार सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्याओं में देखें।

[२६] नञ्* ॥

१. नहीं—न हि सुशिक्षितोऽपि वटुः स्वस्कन्धमारोढुं पटुः (भुवनेश०)।

नोट—इस का स्वरादियों में विवेचन कर चुके हैं। नागेशभट्ट के अनुसार इस का भी स्वरादियों में पाठ अप्रामाणिक है।

[२७] यावत्* ॥

१. अवधि (पर्यन्त)—स्तन्यत्यागं यावत् पुत्रयोरवेक्षस्व (उत्तरराम० ७)। सर्पकोटरं यावत् (पञ्च० १)। २. यदा, जब—यावदुत्थाय निरीक्षते तावद् हंसोऽवलोकितः (हितोप० ३)। ३. जब तक—यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा (वैराग्य० ७५)। यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः (मोहमुद्गर० ८)। ४. तब तक, तब तक के लिये—यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि (शाकुन्तल० १)। तद् यावद् गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि (शाकुन्तल० १)। ५. निश्चय ही—यावद् भुङ्क्ते (वह निश्चय ही खायेगा)। यावत्पुरानिपातयोर्लट् (३.३.४) इति लट्।

नोट— जितना' अर्थ मे त्रिलिङ्गी 'यावत्' शब्द का भी बहुधा प्रयोग देखा जाता है। यथा—यावान् अर्थ उदपाने सर्वत. सम्प्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः (गीता० २ ४६)। यावती सम्भवेद् बुद्धिस्तावतीं दातुमर्हति (मनु० ८ १५५)। यावन्ति पशुरोमाणि (मनु० ५ ३८)।

[२८] तावत्* ॥

१ तब तक—तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किञ्चिन्न भाषते (हितोप० १)। २ पहले (अन्य कार्य करने से पूर्व)—आर्ये! इतस्तावदागम्यताम् (शाकुन्तल० १)। ३. तो—एव कृते तव तावत् क्लेश विना प्राणयात्रा भविष्यति (पञ्च० १ कथा ८)। विग्रहस्तावदुपस्थित (हितोप० ३)। ४. निश्चित ही—त्वमेव तावत् प्रथमो राजद्रोही (मुद्रा० १)। ५ यावत् के प्रतिसम्बन्ध मे—एकस्य दु खस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य। तावद् द्वितीय समुपस्थित मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति (पञ्च० २ १०६)। यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्य समाचरेत् (मनु० २ २३५), माता, पिता और गुरु जब तक जीवित रहे तब तक उन की ही सेवा मे रत रहे।

नोट—'उतना' अर्थ मे त्रिलिङ्गी 'तावत्' शब्द का भी बहुधा प्रयोग होता है। उदाहरण ऊपर 'यावत्' के नोट मे देखें।

[२९] त्वै ॥

१ विशेष—अयं त्वै प्रकृष्यते (गणरत्न०)। २. वितर्क—कस्त्वा एषोऽभिगच्छति (गणरत्न०)।

नोट—यह निपात ब्राह्मणग्रन्थो के कतिपय प्रयोगो के अतिरिक्त अन्यत्र कही उपलब्ध नही हुआ। शतपथ (माध्यन्दिनीय) के (१२.२.२१२) मे इस का प्रयोग देखा जाता है। एवम् अन्य ब्राह्मणो मे भी क्वाचित्क प्रयोग हैं।

[३०] न्वै ॥

१ वितर्क—को न्वा एषोऽभिगच्छति (गणरत्न०)। पादपूरणेऽपि—इति वर्धमान।

नोट – कई लोग 'त्वै' के स्थान पर 'न्वै' का पाठ मानते हैं। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों मे दोनो का पाठ देखा जाता है। निदर्शनार्थ 'न्वै' का पाठ माध्यन्दिनीय शतपथ मे (१२ ४ १ ३) के स्थान पर देखें।

[३१] द्वै ॥

१ वितर्क। इस का प्रयोग वर्त्तमान उपलब्ध वैदिक वा लौकिक वाङ्मय मे हमें कही नही मिला।

[३२] रै ॥

१ अनादर—त्व ह रै किं करिष्यसि (गणरत्न०)। दान—रै करोति(गणरत्न०), दान ददातीत्यर्थ।

नोट—इस के उदाहरण अन्वेष्टव्य हैं। वर्धमानोक्त उदाहरण ही दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ मे उद्धृत किये हैं। किसी को भी अन्य कोई उदाहरण नही मिला।

[३३—३७] श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा, स्वधा, वषट् ॥

इन की व्याख्या स्वरादियों में की जा चुकी है। इन का यहां पुनर्ग्रहण स्वर (आद्युदात्त) के लिये ही समझना चाहिये।

[३८] तुम् ॥

१. तूं तूं कह कर निरादर करना—गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः। श्मशाने जायते घोरे काकगृध्रोपसेविते (सुप्रसिद्ध)।

नोट—यहां 'तुम्' से उपर्युक्त उदाहरणगत 'तुम्' के ग्रहण में हमारा मन सन्देह करता है। किसी कोषकार ने इस का उल्लेख नहीं किया।

[३९] तथाहि* ॥

१. क्योंकि, कारण कि, इसीलिये—तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना। तथाहि सर्वे तस्यासन् परार्थैकफला गुणाः (रघु० १.२९)। २. इस तरह, इस प्रकार—तथाहि रामो भरतेन ताम्यता प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः। न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान् मतिं पितुस्तद्वचने व्यवस्थितः (रामायण० २.१०६.३३)।

नोट—यह निपात 'तथा' और 'हि' इन दो निपातों को मिला कर बना है।

[४०] खलु* ॥

१. शैलीवशात् दवाव (Stress) डालते हुए वाक्यालंकार में—न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम (शाकुन्तल० ४)। न खलु स उपरतो यस्य वल्लभो जनः स्मरति (सुभाषित०)। २. अनुनय करना—न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्। मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः (शाकुन्तल० १)। न खलु न खलु मुग्धे साहसं कार्यमेतत् (नागानन्द० ३)। ३. निश्चय ही, निस्सन्देह, सचमुच—अनुत्सेकः खलु विक्रमाऽलङ्कारः (विक्रमो० १), निश्चय ही अभिमानशून्यता वीरता का अलङ्कार है। न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् (रघु० ३.५१), निश्चय ही रघु को जीते विना आप कृतकृत्य नहीं हो सकते। दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः (शाकुन्तल० १.१६), निस्सन्देह वन की वेलों ने बाग की वेलों को मात दे दी। पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानम् (पञ्च० २.५५), सचमुच दान पुत्र से भी अधिक प्रिय होता है। ४. प्रश्न पूछने में—न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः (विक्रमो० ३), तो क्या गुरु उस पर क्रुद्ध नहीं हुए? न खलु विदितास्ते तत्र निवसन्तश्चाणक्यहतकेन (मुद्रा० २), तो क्या उन्हें वहां रहते हुए दुष्ट चाणक्य ने नहीं जाना? ५. निषेध में—पीत्वा खलु (मत पिओ), यहां अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा (८७८) सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो जाता है। निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् (माघ० २.७०), लेख द्वारा अर्थ के जान लेने पर फिर मौखिक अभिप्राय समझाना व्यर्थ है। ६. हेत्वर्थ में (कारण कि, क्योंकि)—न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः (कुमार० ४.५), मैं विदीर्ण नहीं हो रही कारण कि स्त्रियां कठोर होती हैं।

नोट—न पादादौ खल्वादयः (वामनसूत्र ५.१.५) यह सूत्र निषेधार्थक से भिन्न 'खलु' के लिये है।

[४१] किल* ॥

१ वार्ता अर्थात् ऐतिह्य बात कहने में—बभूव योगी किल कार्त्तवीर्यः (रघु० ६.३८), सुनते हैं कि कार्त्तवीर्य नाम वाला एक ब्रह्मवेत्ता था। जघान कंसं किल वासुदेवः (महाभाष्ये ३.२.१११), कहते हैं कि वासुदेव ने कंस को मार डाला। २ निश्चय में—इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः (शाकुन्तल० १.१८), निश्चय से यह शरीर स्वाभाविक सुन्दर है। स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायम् (ऋ० १.४७.१) निश्चय ही यह सोम स्वादु है और मधुर है। ३ अलीक अर्थात् अवास्तविक बात कहने में—प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष (रघु० २.२७), सिंह ने बलपूर्वक उस नन्दिनी को दबोचने का बहाना किया। अयि कठोर यशः किल ते प्रियम् (उत्तरराम० ३.२७), ऐ निर्दय ! तुझे यश प्यारा है—यह झूठ है। द्राघीयसा वयोऽतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना (किरात० ११.२), वह बूढा कपटरूप से दीर्घ मार्ग के कारण थका हुआ प्रतीत हो रहा था। ४ सम्भावना में—पार्थः किल विजेष्यते कुरून् (गणरत्न०), आशा है कि अर्जुन कौरवों को जीतेगा। गुरून् किलातिशेते शिष्यः (व्या० च०), सम्भावना है कि शिष्य गुरुओं से बढ जायेगा। ५ अरुचि में—एवं किल केचिद्वदन्ति (गणरत्न०), [हम तो नहीं मानते] परन्तु कुछ लोग ऐसा कहते हैं। ६ निरादर में—त्वं किल योत्स्यसे (गणरत्न०), तू और फिर युद्ध करेगा अर्थात् युद्ध करना तेरे बूते से बाहर है। ७. हेतु अर्थ में (क्योंकि)—क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः (रघु० २.५३), क्योंकि घाव से बचाता है इस कारण उग्र क्षत्रशब्द तीनों लोकों में प्रसिद्ध है।

[४२] अथो ॥

इस के भी प्रायः 'अथ' की तरह अर्थ होते हैं। १. समुच्चय ('च' के अर्थ) में—स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्। विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः (मनु० २.४०)। २ अनन्तर—अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्त्तिनीं विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत (कुमार० ५.५१), तब अञ्जनशून्य नेत्रों वाली पास खडी सखी को पार्वती ने देखा।

नोट—'अथो' निपात (५३) है अतः इस के आगे स्वर वर्ण आने पर ओत् (५६) सूत्र द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती है। तब प्रकृतिभाव होने से सन्धि नहीं होती। यथा—अनेन व्याकरणमधीतमथो एनं छन्दोऽध्यापयेति (सि० कौ०)।

[४३] अथ* ॥

इस का विवेचन स्वरादियों में हो चुका है। स्वरादियों में इस के पढने का प्रयोजन यह है कि मङ्गलरूपसत्त्ववाचक 'अथ' शब्द की भी अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो जाये। यथा नैषध० (१५.९) में—

उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजा पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ताम् ॥

यहां 'अथ स्नपयाम्बभूव' का 'मङ्गलं स्नपनं चकार' ऐसा अर्थ है। निपातों में पढा

गया यह 'अथ' अन्य अर्थ का वाचक होता हुआ केवल स्वरूपमात्र से मङ्गल का द्योतन कराता है। यथा —अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (वेदान्तदर्शन १.१.१), यहां आनन्तर्य अर्थ का वाचक 'अथ' शब्दस्वरूप अर्थात् ध्वनिमात्र से माङ्गलिक (मङ्गलद्योतक) है। कहा भी है—

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥

[४४] सुष्ठु* ॥

इस का विवेचन स्वरादियों के आकृतिगणत्वेन परिगणित संग्रह में कर चुके हैं। यहां निपातों में इस का पुनर्ग्रहण निपाता आद्युदात्ताः (फिट्सूत्र ८०) द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये ही किया गया है। स्वरादियों में प्रायः फिषोऽन्त उदात्तः (फिट्सूत्र १) से अन्तोदात्त स्वर होता है। जिन में दोनों स्वर अभीष्ट होते हैं उन अनेकाचों का दोनों जगह पाठ किया जाता है। ध्यान रहे कि एकाचों में स्वरसंबंधी कोई अन्तर नहीं होता।

[४५] स्म* ॥

१. भूतकाल में—भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म (पञ्च० १)। क्रीणन्ति स्म प्राणमूल्यैर्यशांसि (माघ० १८.१५)। इस के योग में भूतकाल में भी लँट् का प्रयोग होता है—देखें लँट् स्मे (७६३) तथा अपरोक्षे च (३.२.११९)। २. शब्द सौन्दर्य बढ़ाने के लिये प्रायः 'मा' (मत) के साथ—भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः (शाकुन्तल० ४.१८)। मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् (हितोप० २.७)। ३. पादपूर्ति के लिये—तु हि च स्म ह वै पादपूरणे —इत्यमरः।

[४६] आदह ॥

१. हिंसा– आदहारीन् पुरन्दर (गणरत्न०)। २. उपक्रम—आदह भक्तस्य भोजनाय (गणरत्न०)। ३. कुत्सन—कुर्वादह यदि करिष्यसि (गणरत्न०)।

नोट—इस अव्यय का हमें कहीं प्रयोग नहीं मिल सका। भट्टोजिदीक्षित को भी इस का प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ, यह उन्होंने शब्दकौस्तुभ में स्पष्ट स्वीकार किया है।

उपसर्ग-विभक्ति-स्वर-प्रतिरूपकाश्च (गणसूत्रम्) ॥

अर्थः—उपसर्गप्रतिरूपक, विभक्तिप्रतिरूपक तथा स्वरप्रतिरूपक भी चादियों में पढ़ने चाहियें। जो वस्तुतः उपसर्ग तो न हों पर आकृत्या उपसर्ग के समान प्रतीत हों उन्हें 'उपसर्गप्रतिरूपक' कहते हैं। इसी प्रकार विभक्ति अर्थात् विभक्त्यन्त के समान प्रतीत होने वाले 'विभक्तिप्रतिरूपक' तथा स्वर अर्थात् अच् के समान प्रतीत होने वाले 'स्वरप्रतिरूपक' कहलाते हैं। उपसर्गप्रतिरूपक यथा—

[४७] अवदत्तम् ॥

१. दिया जा चुका। किमन्नम् अवदत्तं त्वया ?

नोट—अव+दा+क्त=अव+दद्+त=अवदत्तम्। यहां 'अव' उपसर्ग नहीं अपितु उपसर्गप्रतिरूपक (उपसर्ग के सदृश दिखाई देने वाला) निपात है। अतः उपसर्ग न होने से इस से परे 'दा' धातु के आकार को अच उपसर्गात्तः (७.४.४७)[1] सूत्रद्वारा त् आदेश नहीं होता। दो दद् घोः (८२७)[2] द्वारा सम्पूर्ण 'दा' के स्थान पर दद् आदेश हो होता है। ध्यान रहे कि 'अव' उपसर्ग के योग में 'दा' के आकार को त् आदेश करने पर—अव+द त्+क्त=अवत्तम् रूप बनता है। इसी प्रकार—

अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तञ्चादिकर्मणि।
सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्यते ॥ (महाभाष्य)

इन में अनु, प्र, सु, वि और नि को भी उपसर्गप्रतिरूपक निपात समझना चाहिये।

विभक्तिप्रतिरूपक यथा—

[४८] अहंयु ॥

१ अहङ्कारवान्—स शुश्रुवांस्तद्वचनं मुमोह राजाऽसहिष्णुः सुतविप्रयोगम्। अहंयुनाऽथ क्षितिपः शुभंयुरूचे वचस्तापसकुञ्जरेण (भट्टि० १.२०), महाराज दशरथ विश्वामित्र के उन वचनों को सुन कर पुत्रवियोग को सहन न करते हुए मोह को प्राप्त हो गए। तब अहङ्कारवान् तापसश्रेष्ठ विश्वामित्र ने अपना कल्याण चाहने वाले राजा को यह वचन कहा।

नोट—'अहम्' यह अहङ्कारवाचक विभक्तिप्रतिरूपक निपात है। 'अस्मद्' शब्द के प्रथमैकवचनान्त के समान प्रतीत होता है, परन्तु है यह उस से नितान्त ही भिन्न। इस निपात (अव्यय) से मत्वर्थ में अहंशुभमोर्युस् (११९२) सूत्रद्वारा युस् प्रत्यय हो जाता है। अहम् (अहङ्कार) अस्त्यस्येति—अहंयुः। 'अहंयु' शब्द उकारान्त त्रिलिङ्गी हो जाता है। ध्यान रहे कि इसे सकारान्त समझना भूल है। प्रत्यय का सित्त्व पदसंज्ञार्थ है। अतः भसंज्ञा न हो कर पदसंज्ञा के कारण मोऽनुस्वारः (७७) से मकार को अनुस्वार हो जाता है। 'अहंयु' शब्द में यदि 'अस्मद्' शब्द होता तो प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (७.२.९८) द्वारा मपर्यन्त मद् आदेश होकर 'मद्यु' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

इसी प्रकार 'शुभम्' (सुख, कल्याण) इस विभक्तिप्रतिरूपक निपात से भी युस् प्रत्यय हो कर—शुभम् अस्त्यस्येति 'शुभंयु' निष्पन्न होता है। इस का साहित्यगत प्रयोग भी ऊपर के श्लोक में आ चुका है। अहङ्कारवानहंयुः शुभंयुस्तु शुभान्वितः—इत्यमरः।

चिरेण, चिराय, चिरात्, चिरे, चिरस्य—इत्यादि अव्ययों को भी कई लोग

---

१ अच उपसर्गात्तः (७.४.४७)—अजन्त उपसर्ग से परे घुसंज्ञक दा धातु के आकार को 'त्' आदेश हो जाता है तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो।

२ दो दद् घोः (८२७)—घुसंज्ञक दा धातु को 'दद्' यह सर्वादेश हो जाता है तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो।

स्वरादियों में न पढ़ कर चादियों में ही पढ़ते है। ये सब विभक्तिप्रतिरूपक निपात या अव्यय हैं। विभक्ति न होने पर भी इन में विभक्ति का सा भ्रम होता है। सुब्विभक्त्यन्त का भ्रम होने से इन को सुबन्तप्रतिरूपक निपात भी कहते हैं। अब तिङन्तप्रतिरूपक निपात का उदाहरण देते हैं—

[४९] अस्तिक्षीरा ॥

अस्तिक्षीरा = क्षीरवती (गाय आदि)। अस्ति (विद्यमानम्) क्षीरं (दुग्धम्) यस्याः सा—अस्तिक्षीरा। बहुव्रीहिसमासः। यहां 'अस्ति' यह विद्यमानार्थक तिङन्त-प्रतिरूपक निपात (अव्यय) है। यदि यह वस्तुतः तिङन्त होता तो इस का सुबन्त क्षीरशब्द के साथ बहुव्रीहिसमास न हो सकता [देखें—**अनेकमन्यपदार्थे**(९३५)]। किसी घटना, कथा या वर्णन को आरम्भ करने में भी 'अस्ति' निपात का प्रयोग देखा जाता है। यथा—**अस्ति पूर्वमहं व्योमचारी विद्याधरोऽभवम्** (कथासरित्० २२.५६)। इसी निपात से अस्तिकायः, अस्तित्व आदि शब्द बनते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि 'अस्ति' का पीछे स्वरादियों में पाठ आ चुका है अतः इसे तिङन्तप्रतिरूपक के रूप में उदाहृत करना बेकार है[1]। इस के स्थान पर अस्मि (मैं) का उदाहरण यहां के लिये उपयुक्त है। 'अस्मि' के उदाहरण यथा—**त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति** (साहित्य० ४), अस्मि = अहं वच्मि इत्यर्थः। **दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दूये** (साहित्य० १०), हे सुन्दरि! अपराधी सेवक पर प्रभु पादप्रहार करें यह उचित ही है अतः मैं दुःखी नहीं हो रहा हूं। **अन्यत्र यूयं पुष्पावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः** (काव्यप्र० ३.२०), हे सखियो! आप दूसरी जगह फूल चुनो मैं यहां चुनता हूं। **नृमांसमस्मि विक्रीणे गृह्यतामित्युवाच सः** (कथासरित्०), मैं नरमांस बेच रहा हूं लीजिये ऐसा उस ने कहा। योगशास्त्र में प्रसिद्ध अस्मिता शब्द भी इसी निपात से निष्पन्न होता है। इसी प्रकार—'अस्तु' आदि अन्य भी तिङन्तप्रतिरूपक निपात समझ लेने चाहियें।

---

१. उन का यह भी कहना है कि 'अस्ति' शब्द का अर्थ 'धन' भी होता है इस से अस्तिमान् (धनवान्) शब्द निष्पन्न होता है। अतः सत्त्ववाचक होने से स्वरादियों में ही इस का पाठ उचित है। क्योंकि यहां **चादयोऽसत्त्वे** (५३) में 'असत्त्वे' कथन के कारण धनवाचक 'अस्ति' शब्द की निपातसंज्ञा न हो सकेगी। परन्तु अन्य लोग उन के इस विचार से सहमत नहीं उन का कथन है कि (५.२.९४) सूत्रस्थ महाभाष्य के अवलोकन से यह सुतरां प्रमाणित होता है कि इस का स्वरादियों में पाठ अप्रामाणिक है चादियों में ही पाठ उचित है। अस्तिमान् का वास्तविक अर्थ 'सत्ता वाला' है। लोक में सत्ता प्रायः धनमूलक मानी जाती है अतः इस का अर्थ 'धनवान्' भी हो गया है।

स्वरप्रतिरूपक यथा—

[५०] अ ॥

१ सम्बोधन—अ अनन्त । २ आक्षेप (निन्दा) मे—अपचसि जाल्म (सि० कौ०) हे दुष्ट ! तुम गर्हिततरीत्या पकाते हो । अनेक वैयाकरण इस अर्थ मे नञ् के नकार का नञो नलोपस्तिङि क्षेपे(वा०)वार्तिक द्वारा लोप हुआ मानते हैं स्वतन्त्रतया 'अ' निपात का प्रयोग नही ।

[५१] आ ॥

१ पूर्व प्रक्रान्त वाक्य के अन्यथा करने मे— आ एव नु मन्यसे(काशिका), अब तू ऐसा मानता है अर्थात् पहले तू ऐसा नही मानता था अब मानने लगा है। २ स्मरण मे—आ एव किल तत् (काशिका), ओह ! वह ऐसा ही है । इस का विवेचन पीछे निपात एकाजनाङ (५५) सूत्र पर कर चुके हैं ।

[५२] इ ॥

१ सम्बोधन—इ इन्द्र पश्य (काशिका), ऐ ! इन्द्र को देखो । २ विस्मय—इ इन्द्र (सि० कौ०), ओह ! यह इन्द्र है ।

[५३] ई ॥

१ सम्बोधन—ई ईश ! । ई ईदृश ससार (गणरत्न०) ।

[५४] उ ॥

१ सम्बोधन—उ उत्तिष्ठ (गणरत्न०)। २ वितर्क—उ उमेश (सि० कौ०), जान पड़ता है कि उमेश है ।

[५५—५९] ऊ । ए । ऐ । ओ । औ ॥[1]

१ सम्बोधन—ऊ ऊपरे बीज वपति । ए इतो भव । ऐ वाच देहि । ओ श्रावय (गणरत्न०)। औ महात्मन् ! ।

नोट—इन स्वरप्रतिरूपक निपातो को अच् परे होने पर निपात एकाजनाङ् (५५) सूत्रद्वारा प्रगृह्यसञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है, अतः स्वरसन्धि नही होती ।

[६०] पशु ॥

१ ठीक तरह मे—लोध नयन्ति पशु मन्यमाना (ऋ० ३ ५३ २३) ।

[६१] शुकम् ॥

१ शीघ्र—शुक गच्छति (गणरत्न०), शीघ्र जाता है ।

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं। कुछ कोषकार यहा 'शकम्' पाठ मानते हैं ।

---

१ स्वरादिरिति सम्बोधन भर्त्सनाऽनुकम्पा-पादपूरण-प्रतिषेधेषु यथासम्भव भवति—इति गणरत्नमहोदधौ वर्धमान ।

[६२] यथाकथाच ॥

१. अनादर—यथाकथाच दीयते (गणरत्न०)। यथाकथाच दक्षिणा (गणरत्न०)। यथाकथाच दीयते क्रियते वा याथाकथाचम् (व्या० च०)। 'याथाकथाचम्' तद्धितान्त प्रयोग है।

नोट—यह निपातसमुदाय है। इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

[६३-६४] पाट्। प्याट्॥

१. सम्बोधन—पाट् पान्थ, प्याट् पावक (हेमचन्द्र)[1]।

[६५] अङ्ग* ॥

१. सम्बोधन—अङ्ग कच्चित्कुशली तातः (कादम्बरी०)। प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकस्ते (महावीर० ३.५)। अङ्गाधीष्व भक्तं ते दास्यामि (काशिका ८.२.९६), अरे भाई पढ़ो मैं तुझे भात दूंगा। २. किम्+अङ्ग=किमङ्ग=कितना अधिक—तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग वाग्हस्तवता नरेण (पञ्च० १.७१)। ३. बात ही क्या—शक्तिरस्ति कस्यचिद्विदेहराजस्य च्छायामप्यवस्कन्दयितुं किमङ्ग जामातरम् (महावीर० ३)।

नोट—कोषकारों ने इस निपात के ये अर्थ गिनाये हैं—क्षिप्रे च पुनरर्थे च सङ्गमासूययोस्तथा। हर्षे सम्बोधने चैव ह्यङ्गशब्दः प्रयुज्यते।

[६६] है ॥

१. सम्बोधन—है राम पाहि माम्।

[६७] हे* ॥

१. सम्बोधन—हे कृष्ण हे यादव हे सखेति (गीता० ११.४१)।

[६८] भोस्* ॥

१. सम्बोधन—भोस्तपोधनाः! चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि (शाकुन्तल० ५)। भो भोः पण्डिताः श्रूयताम् (हितोप० प्रस्तावना)।[2]

[६९] अये* ॥

१. सम्बोधन—अये गौरीनाथ! त्रिपुरहर! शम्भो! त्रिनयन! (वैराग्य० ८७)। २. आश्चर्य—अये कुमारलक्ष्मणः प्राप्तः (उत्तरराम० १)।

---

१. सम्बोधनेऽङ्ग भोः प्याट् पाट् हे है हंहो अरेऽयि रे—इत्यभिधानचिन्तामणिः।

२. कुछ वैयाकरण 'भो' इस प्रकार का ओदन्त निपात भी मानते हैं। अहो आहो हो उताहो च नो अंहो अयो इमे। भो प्रयुक्ताश्च ओदन्ता अष्टावित्यागमे स्मृताः (शाकटायन लघुवृत्ति पृ० २९ बनारससंस्करण)। भो सुन्दरि (जैनेन्द्रमहावृत्ति ५.४.३)। साहित्य में इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं [पाणिनीयतन्त्र में इस प्रकार की मान्यता हमारे दृग्गोचर कहीं नहीं हुई]।

[७०] घ ।

१ पादपूर्ति २ हिंसा ३ प्रातिलोम्य । घ हिनस्ति मृग व्याध (प्रक्रिया० प्रसाद) ।

नोट—इस निपात का प्रयोग हमे कही नही मिला । अथर्ववेद मे घ का पाठ तीन स्थानो पर आया है परन्तु वहा सर्वत्र अव्यय का प्रयोग न हो कर धातु का रूप प्रयुक्त किया गया है ।

[७१] विषु ॥

१ साम्य समता । विषु (साम्यम्) अस्त्यस्येति विषुवान । समरात्रिंदिव काल (Equinox) इत्यर्थ । विषुवद् वृत्तम् = भूमध्यरेखा = Equator । २ चहुँ ओर नाना दिशाओ मे—विषु (सर्वासु दिक्षु) अञ्चतीति विष्वक । छायासुप्तमृग शकुन्तनिवहैर्विश्वग्विलुप्तच्छद (पञ्च० २ २) । समन्ततस्तु परित सर्वतो विष्वगित्यपि—इत्यमर ।

[७२] एकपदे* ॥

१ एकदम एकसाथ—निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्त स्वरानिव (माघ० २ ९५) । २ अकस्मात् अचानक—अयमेकपदे तया वियोग प्रियया चोपनत सुदु सहो मे (विक्रमो० ४ ३) । कथमेकपदे निरागस जनमाभाष्यमिम न मन्यसे (रघु० ८ ४८) ।

[७३] पुत् ॥

१ कुत्सा, गर्हा । उदाहरणम्मृग्यम् ।

नोट—शब्दकौस्तुभ, प्रौढमनोरमा, व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि आदि ग्रन्थो मे यहां 'पुत' पाठ दे कर—पुत् कुत्सितमवयव छादयतीति पुच्छम—ऐसा उदाहरण भी लिखा हुआ मिलता है ।

[७४] आतस् ॥

१ इतोऽपि = इस कारण से भी—आतश्च सूत्रत एव (महाभाष्य० पस्पशाह्निक) । आतस्त्वां प्रति कोपनस्य तरल शापोदक दक्षिण (व्या० मि० सु०) ।

आकृतिगणोऽयम् ॥

यह चादि भी आकृतिगण है । प्रयोग मे देखे जाने वाले कुछ अन्य अव्यय यथा—

(१) अयि* = १ कोमल सम्बोधन । अयि कठोर यश किल ते प्रियम् (उत्तरराम० ३ २७) । अयि विद्युत प्रमदानां त्वमपि च दु ख न जानासि (मृच्छ० ५ ३२) । अयि मातर्देवयजनसम्भवे देवि सीते (उत्तरराम० ४) । २ पूछने मे—अयि जानीथे रेभिलस्य सार्थवाहस्योदवसितम् ? (मृच्छ० ४) । अयि जीवितनाथ जीवसि (कुमार० ४ ३) ।

(२) रे* = सम्बोधन । रे रे घातक सावधानमनसा मित्र क्षण श्रूयताम्

(नीति०) । रे पान्य! विह्वलमना न मनागपि स्याः (भामिनी० १.३६) । दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकम् (नैषध० १.६०) ।

(३) अरे=अपने से निकृष्टों के सम्बोधन में—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृ० उ० २.५), अरी ! आत्मा ही देखने योग्य, सुनने योग्य तथा मनन करने योग्य है । यहां याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को सम्बोधित कर रहे हैं ।

(४) अरेरे=क्रोध या निरादर से सम्बोधन करने में—अरेरे राधागर्भभारभूत सूतापसद (वेणी० ३) ।

(५) भगोस्=देवों या मान्यों के सम्बोधन में—भगो नमस्ते (भगवन् ! आप को नमस्कार हो) । सा होवाच मैत्रेयी यन्नु मे इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति (बृ० उ० २.४.२), वह मैत्रेयी बोली—हे भगवन् ! यदि यह सम्पूर्ण पृथ्वी धन से परिपूर्ण हुई मेरी हो जाये तो भी मैं कैसे उस से मुक्त हो जाऊंगी ?

(६) अघोस्=निकृष्ट पापी या दुष्ट को सम्बोधित करने में—अघो याहि (रे दुष्ट ! तूं जा) ।

(७) हंहो=प्रायः मध्यमदर्जे के जनों को सम्बोधित करने में—हंहो ब्राह्मण ! मा कुप्य (मुद्रा० १) । हंहो तिष्ठ सखे ! विवेक ! बहुभिः प्राप्तोऽसि पुण्यैर्मया (हेमचन्द्र), हे मित्र विवेक ! तूं मेरे पास रह जा, मैं ने तुम्हें बड़े पुण्यों से पाया है ।

(८) हा*=१. दुःख, शोक या खेद प्रकट करने में—हा कष्टं ललिता लवङ्गलतिका दावाग्निना दह्यते (भामिनी० १.५५) । हा पितः ! क्वासि हे सुभ्रु ! (भट्टि० ६.११) । हाहा तथापि विषया न परित्यजन्ति (वैराग्य० १५) । हाहा देवि ! स्फुटति हृदयं स्रंसते देहबन्धः (उत्तरराम० ३. ३८) । २. आश्चर्य प्रकट करने में—हा कथं महाराजदशरथस्य धर्मदाराः प्रियसखी मे कौशल्या (उत्तरराम० ४) ।

(९) अहह=१. खेदातिशय प्रकट करने में—तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे, न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः (नीति० २८), पिता हिमालय के क्लेशविवश होने पर उस के पुत्र मैनाक का समुद्र में डुबकी लगाना अच्छा न था । २. आश्चर्य या अद्भुत अर्थ में—अहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः (नीति० २७), आश्चर्य है कि महापुरुषों के चरित का माहात्म्य सीमारहित होता है ।

(१०) अहो*=१. महत्त्व या आश्चर्य प्रकट करने में—अहो मधुरमासां दर्शनम् (शाकुन्तल० १) । अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता (किरात० १.३३) । अहो कामी स्वतां पश्यति (शाकुन्तल० २.२) । अहो रूपमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः । अहो दीप्तिरहो कान्तिरहो शीलमहो बलम् । अहो शक्तिरहो भक्तिरहो प्रज्ञा हनूमतः (रामचरित० १.५२) । २. खेद या दुःख प्रकट करने में—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः (शाकुन्तल० ५) । विधिरहो बलवानिति मे मतिः (नीति० ८५) ।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् (गीता० १ ४४)। ३ सम्बोधन—अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि। अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीमिच्छामि (हितोप०)।

(११) सह=के साथ। शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित् प्रलीयते (कुमार० ४ ३३)। सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी (चाणक्य०)।

(१२) जातु*=सर्वथा, बिलकुल, कभी भी—न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते (मनु० २ ९४)। अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति (भामिनी० १ ७२)।

(१३) इत्=ही—अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व (ऋ० १० ३४ १३), जूआ मत खेल, खेती ही कर। अर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते (निरुक्त)। लौकिक साहित्य में इस का स्थान प्रायः 'एव' ने ले लिया है।

(१४) नो*=नहीं, नञ् के अर्थ में। भार्या साधु सुवंशजापि भजते नो यान्ति मित्राणि च, न्यायारोपितविक्रमाण्यपि नृणां येषां नहि स्याद्धनम् (पञ्च० ५ २४)। पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः (अमरु० ४३)। विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो बहिः। याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव (भामिनी० १ ६४)।

(१५) नोचेत्*=यदि नहीं तो—नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ (वैराग्य० ६६)। धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते, नोचेद् अनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति (आपस्त० ध० १.२० ३.४)।[1]

(१६) नहि*=नहीं, निश्चित निषेध। नहि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया (हितोप० १ ८६)। अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि केसरी (माघ० १६ २५)। नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली (रघु० ६ ६९)। कियन्मात्रं जलं विप्र ! जानुदघ्नं नराधिप। तथापीयमवस्था ते नहि सर्वे भवादृशाः (सुभाषितरत्न०)।

(१७) उत*=१. अथवा, या, विकल्प—वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव (वीरचरित०)। किमिदं गुरुभिरुपदिष्टमुत धर्मशास्त्रेषु पठितमुत मोक्षप्राप्तियुक्तिरियम् (कादम्बरी०)। तत्किमयमातपदोषः स्यादुत यथा मे मनसि वर्तते (शाकुन्तल० ३)। एकमेव वरं पुंसामुत राज्यमुताश्रमः (गणरत्न०)। २. भी, 'अपि' के अर्थ में—प्रिय

---

१. इन अव्ययों या निपातों में अनेक शब्द दो अव्ययों के सयोग से बने हैं। यथा—नोचेत्, नहि, प्रत्युत, यद्यपि, अतीव, किमपि, किञ्च आदि। क्या इन को एक ही अव्यय मानें या दो का समुदाय ? इस विषय में हम कुछ कहने की स्थिति में नहीं हैं। कारण कि पाणिनिद्वारा अव्ययों के निरूपण का मूल आधार स्वरव्यवस्था थी जो उस समय लोक और वेद दोनों में समानरूप से व्यापृत थी। अद्यत्वे स्वरव्यवस्था लोक में सर्वथा उठ चुकी है अतः इन लौकिक अव्ययों में कौन संयुक्त और कौन एक अव्यय है—यह निर्देश करना एक दुष्कर कार्य है।

मा कृणु देवेषु प्रियं शूद्र उतार्ये (अथर्व० १९.६२.१), मुझे देवताओं का प्यारा बना, शूद्र और आर्य का भी। ३. श्लोक के अन्त में पादपूर्त्यर्थ—धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत (गीता० १.४०)।

(१८) किम्*=१. क्यों, क्या। किं बद्धः सरितां नाथः क्लेशिताः किं वनौकसः। त्यक्तव्या यदि वैदेही किं हतो दशकन्धरः (रामचरित० ४० ६३), यदि मुझे सीता का त्याग ही करना था तो समुद्र को क्यों बांधा, वनवासी वानरों को क्यों क्लेश दिया, रावण को क्यों मारा ?। न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः (वैराग्य० ८९)। २. कुत्सा, निन्दा अर्थ में—स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपम् (किरात० १.५), वह कुत्सित मित्र है जो राजा को ठीक सलाह नहीं देता।

(१९) किमुत*=कहना ही क्या। ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः (रघु० २.६२), ऋषि के प्रभाव से मुझ पर यम भी प्रहार नहीं कर सकता दूसरे हिंसक जीवों का तो कहना ही क्या ?

(२०) किमु*=१. कहना ही क्या। यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् (हितोप० प्रस्तावना)। २. अथवा क्या—किमु विषविसर्पः किमु मदः (उत्तरराम० १.३५)। ३. क्या—प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते (आप्टे०)।

(२१) किमिति*=किस कारण से, किस लिये—किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम् (कुमार० ५.४४)। तत् किमित्युदासते भरताः (मालती० १), तो नटवर्ग क्यों उदास है ?

(२२) किमिव*=क्या (इव वाक्यालंकार में है)—किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाऽऽकृतीनाम् (शाकुन्तल० १.१८)। स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव न हि रम्यं मृगदृशः (शृङ्गार० ६)।

(२३) किमपि*=१. कुछ अनिर्वाच्य—किमपि कमनीयं वपुरिदम् (शाकुन्तल० ३.७), यह शरीर इतना सुन्दर है कि बखान नहीं किया जा सकता। २. कुछ—जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः (मालती० १.८)।

(२४) प्रत्युत*=के विपरीत, उल्टा—कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातङ्कः। प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदरसोदरः खलो जगति (भामिनी० १.७५), किये हुए महोपकार को दूध की तरह पी कर निःशङ्क हुआ दुर्जन सांप की तरह उल्टा मारने को दौड़ता है। विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् (वैराग्य० ५८), दुःख प्रकट करना चाहिये पर मूढ लोग इस के विपरीत प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

(२५) अकाण्डे*=अचिन्तित रूप से, अचानक—दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा (शाकुन्तल० २.१३), कुछ कदम चल कर वह सुन्दरी कुशाङ्कुर से पांव छिल गया है इस का बहाना कर अचानक रुक गई।

(२६-२७) चित्*, चन*। ये दोनों निपात प्रायः किसी भी विभक्त्यन्त या

प्रत्ययान्त किम् शब्द के अन्त मे जुड कर असाकल्य या अनिश्चितता को प्रकट करते हैं। यथा—कश्चित् (कोई), काचित्, किञ्चित्, केनचित्, कस्मैचित्, कस्मिंश्चित्, क्वचित्, कुत्रचित्, कथञ्चित्, कदाचित्, कुतश्चित्। इसी प्रकार—कश्चन, काचन, केचन, कदाचन आदि। उदाहरण यथा—न कश्चित् कस्यचिन्मित्र न कश्चित् कस्यचिद्रिपु। व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा (हितोप० १७१)। नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् (मनु० २ ११०)। कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति(देवीक्षमा० १)। कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन(गीता० २.४७)। यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्ध समभवम् (नीति० ७)।

(२८) अमा=अमा सह समीपे च इत्यमर। साथ या समीप—अमा (सह) वसतश्चन्द्रार्कौ अस्या साऽमावस्या। अमा (राज्ञ समीपे) वर्तत इत्यमात्य। वेद मे इस के गृह आदि अन्य अर्थ भी होते हैं।

(२९) आहो*=अथवा, या—वैखानस किमनया व्रतमाप्रदानाद् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्। अत्यन्तमेव सदृशेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति सम हरिणाङ्गनाभि.(शाकुन्तल० १.२४)। दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुल (शाकुन्तल० ५ २९)।

(३०) उताहो*=अथवा, या—उताहो हतवीर्यास्ते बभूवु पृथिवीक्षितः (रामायण० ७ ३१.४)। कच्चित् त्वमसि मानुषी उताहो सुराङ्गना (व्या० च०)।

(३१) स्वित्=वितर्क मे—दनुज. स्विदय क्षपाचरो वा वनजे नेति बल बतास्ति सत्त्वे (किरात० १३ ८), क्या यह दानव हो सकता है या राक्षस ? क्योंकि जगली प्राणी मे तो इतना बल नही हो सकता। तपोबलेनैष विधाय भूयसीस्तनूरदृश्या स्विदिषून् निरस्यति (किरात० १४.६०), क्या यह तपस्वी अपने तपोबल से अनेक शरीरो को रच कर बाण छोड रहा है ?। किम् (सर्वनाम न कि अव्यय) शब्द के साथ जुड कर वितर्कपूर्वक जिज्ञासा मे—कास्विदियमवगुण्ठनवती(शाकुन्तल० ५ १३), यह घूघट वाली स्त्री कौन हो सकती है ?। किम्+स्वित्=केवल प्रश्न मे—कस्य-स्विद् हृदय नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्धते। अश्मनो हृदय नास्ति नदी वेगेन वर्धते॥ किंस्विद् गुरुतर भूमे. किंस्विदुच्चतर च खात्। माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतर-स्तथा॥ महाभारतवनपर्वस्थ यक्षोपाख्यान मे इस के बहुत सुन्दर उदाहरण हैं। इन स्थानो पर 'किंस्वित्' का अर्थ 'कौन सी वस्तु' है।

(३२) आहोस्वित्*=अथवा—आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधाम् (शाकुन्तल० ५.९), अथवा मेरे पापो के कारण पौधो मे पुष्पादि का आना रुक गया है।

(३३) अतीव*=बहुत ही, अत्यन्त। भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया· (गीता० २ २०)। अतीव खलु ते कान्ता वसुधा वसुधाधिप। गतासुरपि यां गात्रैर्मां विहाय निषेवसे (रामायण० ४.२० ६), तारा अपने पति की मृत्यु पर विलाप करती हुई कहती है—हे राजन्! निश्चय से तुझे वसुधा मेरे से भी अधिक प्यारी है जो तुम

मुझे छोड़ कर मर कर भी इस से लिपटे हुए हो। त्वञ्चातीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम् (हितोप० १)।

(३४) वत*=१. सम्बोधन में—वत वितरत तोयं तोयवाहा नितान्तम् (गणरत्न०), ऐ बादलो खूब पानी बरसाओ। त्यजत मानमलं वत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः (रघु० ६.४७), हे ललनाओ! मान का त्याग कर दो, कलह करना छोड़ दो, उपभोगयोग्य यह जवानी फिर वापस नहीं आती। २. खेद या दुःख प्रकट करने में—अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् (गीता० १.४५), आश्चर्य तथा खेद है कि हम इतना बड़ा पाप करने में उद्यत हो रहे हैं। ३. अनुकम्पा प्रकट करने में—क्व वत हरिणकानां जीवितञ्चातिलोलं क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते (शाकुन्तल० १.१०), हाय! कहां तो इन वेचारे हरिणों का अतिचञ्चल जीवन और कहां वज्र की तरह तीक्ष्ण धार वाले तुम्हारे बाण। ४. आश्चर्य प्रकट करने में—अहो वत महच्चित्रम् (कादम्बरी०)। ५. प्रसन्नता या सन्तोष प्रकट करने मे—अपि वतासि स्पृहणीयवीर्यः (कुमार० ३.२०)।

(३५) अद्यापि*=आज भी, अब तक भी—अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटम् (चौरपञ्चा० ५०)। अद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः (सुभाषित०)। गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु (वेणी० १.११)। तृष्णे जृम्भसि पापकर्मपिशुने नाद्यापि संतुष्यसि (वैराग्य० २)।

(३६) प्रभृति*=तब से ले कर (आज तक)। शैशवात् प्रभृति पोषितां प्रियाम् (उत्तरराम० १.४५)। इस के योग में पञ्चमी का प्रयोग होता है। तद्दिनात् प्रभृति, ततः प्रभृति, अतः प्रभृति, अद्यप्रभृति आदि। इस का विशेष विवेचन (५५२) सूत्रस्थ टिप्पण में देखें।

(३७) तु*=१. किन्तु, परन्तु, लेकिन—स सर्वेषां सुखानामन्तं ययौ। एकं तु सुतमुखदर्शनसुखं न लेभे (कादम्बरी०)। मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति (हितोप० १.१३३)। इस अर्थ में किम् या परम् के साथ इस का प्रयोग बहुधा देखा जाता है। 'किन्तु' और 'परन्तु' ये निपातसमुदाय 'तु' की तरह अर्थ देते हैं—भाग्येनैतत् सम्भवति किन्त्वस्मिन्नात्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न कार्या (हितोप० १)। अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान् मतो मे (रघु० १४.४०)[1]। २. अवधारण (ही) अर्थ में—भीमस्तु पाण्डवानां रौद्रः (गणरत्न०), भीम ही पाण्डवों में भयङ्कर था। धर्मं स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः (हितोप० १.१०३)। स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला (वैराग्य० ५३)। ३. वैपरीत्यप्रतिपादन करने में=अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् (हितोप० १.७०)।

---

१. ध्यान रहे कि 'तु' का वाक्य के आदि में प्रयोग नहीं होता लेकिन 'किन्तु' 'परन्तु' का हो सकता है—किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्। न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी (रघु० १.६५)।

मृद्‌घटवत् सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति । सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेय (हितोप० १ ६२) । ३ विशेषता या उच्चता प्रतिपादन करने में—मिष्ट पयो मिष्टतरं तु दुग्धम् (गणरत्न०), पानी मीठा होता है पर दूध उस से अधिक मीठा होता है। सद्भवतु खरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे (हितोप० प्रस्तावना १३) । ४ हेतु (क्योंकि)—वृद्धाना वचन ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते। सर्वनैव विचारे तु भोजनेऽप्यप्रवर्तनम् (हितोप० १ २३)। हत्वार्थकामास्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् (गीता० २ ५) । ५ और अब (दूसरी तरफ)—अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम (गीता० १ ७)। सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ (गीता० १८ ३६)। ६ पादपूर्ति के लिये—अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधस । क्रिया सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा (हितोप० १ १२५) ।

(३८) ननु* । १ अवधारण (निश्चय ही, वस्तुत, सचमुच)—ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरय (शाकुन्तल० ६), तूफान मे भी निश्चय ही पर्वत निश्चल रहते हैं। ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद् विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्या (विक्रमो० १ १७), वस्तुत यह इन्द्र का ही बल है जो उस के पक्षपाती शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं। मन्निन्दया यदि जन. परितोषमेति नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे (शान्तिशतक), मेरी निन्दा मे यदि लोग प्रसन्न होते हैं तो यह निश्चय ही मुझे विना यत्न उन का अनुग्रह प्राप्त हो रहा है। ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चित. (किरात० २ ५), सचमुच भाषण के विषय मे गुणग्राही विद्वज्जन वक्ता की ओर ध्यान नहीं दिया करते वे तो भाषण की सारासारता को ही देखा करते हैं। २ सम्बोधन—ननु मूर्खा पठितमेव युष्माभिस्तत्काण्डे (उत्तरराम० ४), ऐ मूर्खो ! उस काण्ड मे यह विषय तो तुम पढ ही चुके हो। ३ प्रार्थना, याचना—ननु मा प्रापय पत्युरन्तिकम् (कुमार० ४ ३२), कृपया मुझे मेरे पति के पास पहुचा दो। ४ पूछताछ (Enquiry) करने मे—ननु समाप्तकृत्यो गौतम (मालविका० ४), क्या गौतम ने अपना काम समाप्त कर लिया है ? । परवर्ती भारतीय तर्क शैली मे प्राय 'ननु' से ही शङ्का का आरम्भ किया जाता है।

(३९) हि* । १ केवल, सिर्फ—धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना. पशुभि समाना (हितोप० १ २६) । मूढो हि मदनेनायास्यते (कादम्बरी०) । २. हेत्वर्थ मे (क्योंकि)—अग्निरिहास्ति धूमो हि दृश्यते (गणरत्न०) । जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुव जन्म मृतस्य च (गीता० २ २७), हि=यत । ३ अवधारण (ही, वस्तुत, निश्चय से आदि)—न हि सुशिक्षितोऽपि वटु· स्वस्कन्धमारोढुं पटु (नीतिक० २२०)। देव प्रयोगप्रधान हि नाट्यशास्त्र किमत्र वाग्व्यवहारेण (मालविका० १) । प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् (नीति० ५२) । ४ उदाहरण प्रदर्शन करने मे—प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् । सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः (रघु० १ १८) । ५ पादपूर्ति या वाक्यालङ्कार के लिये—भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्त· सर्व एव हि (गीता० १.११) । 'हि' का वाक्य के आदि मे प्रयोग नहीं होता।

(४०) नाम*। १. नामक, नाम वाला, नाम से प्रसिद्ध—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् (पञ्च० १)। अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नाम अरण्यानी (हितोप० १)। अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः (कुमार० १.१)। २. वस्तुतः—वीणा हि नाम असमुद्रोत्थितं हि रत्नम् (मृच्छ० ३), वीणा वस्तुतः एक ऐसा रत्न है जो समुद्र से उत्पन्न नहीं हुआ। विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम (शाकुन्तल० १), वस्तुतः तपोवन में विनीतवेष से प्रवेश करना चाहिये। तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः (मृच्छ० ५.३२), वस्तुतः पुरुष कठोर होते हैं। ३. सम्भावना—को नाम राज्ञां प्रियः (पञ्च० १.१५६) राजाओं का कौन प्यारा हो सकता है? को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे (उत्तरराम० ७.४), जब दैव फल देने को उद्यत हो तो भला कौन पुरुष उस के द्वार बन्द कर सकता है? अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम (शाकुन्तल० ५.८), धन के आधिक्य में बन्धुओं के बन जाने की सम्भावना है। अये पदशब्द इव, मा नाम रक्षिणः (मृच्छ० ३), अरे पांव की आहट सुनाई दे रही है। मेरे विचार में रक्षी का शब्द न होगा। ४. अपमानाश्रित क्रोध प्रकट करने में—ममापि नाम दशाननस्य परैः परिभवः (गणरत्न०), क्या शत्रुओं द्वारा मुझ रावण का भी तिरस्कार! । ममापि नाम सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः (शाकुन्तल० ६), क्या हमारे भवनों पर भी भूतों द्वारा आक्रमण किया जा रहा है? ५. मिथ्या-छल-कपट प्रकट करने में—परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम् (कुमार० ५.३२), क्षण भर थकावट को दूर करने का बहाना कर के। कार्तान्तिको नाम भूत्वा (दशकु०), कपट से ज्योतिषी बन कर। ६. आश्चर्य में—आश्चर्यमन्धो नाम पर्वतमारोक्ष्यति (काशिका ३.३.१५१), आश्चर्य है कि अन्धा होता हुआ भी पहाड़ पर चढ़ रहा है। आश्चर्यं बधिरो नाम व्याकरणमध्येष्यते (काशिका ३.३.१५१)। आश्चर्यं यदि मूको नामाधीयीत (सि० कौ०)। ऐसे स्थलों पर शेषे लृडयदौ (३.३.१५१) सूत्र से लृट् का प्रयोग होता है। परन्तु 'यदि' शब्द का भी साथ में प्रयोग हो तो लिङ् ही होता है।

(४१) इव*। १. सादृश्य (के समान, की तरह)—छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् (रघु० २.६), छाया के समान राजा दिलीप उस नन्दिनी का अनुसरण करता था। असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता (मृच्छ० १.३४), दुर्जन पुरुष की सेवा के समान दृष्टि अन्धकार में व्यर्थ अर्थात् असफल हो रही है। शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना (चाणक्य०), विद्या के बिना मनुष्य का जीवन कुत्ते की पूंछ की तरह व्यर्थ है। २. उत्प्रेक्षा (जैसा कि, मानो)—साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम् (शाकुन्तल० १.६), जैसा कि मानो मैं साक्षात् शिव को देख रहा हूं। वर्षतीवाञ्जनं नभः (मृच्छ० १.३४), आकाश मानो सुरमा बरसा रहा है। ३. स्वल्प—कडार इवायम् (गणरत्न०), यह कुछ कुछ पीला है। ४. वाक्यालंकार—कथमिवैतद्भविष्यति (गणरत्न०)।

(४२) इति*। १. समाप्ति अर्थ में—इति रघुवंशे प्रथमः सर्गः। २. हेत्वर्थ में—वैदेशिकोऽस्मीति पृच्छामि (उत्तरराम० १), मैं विदेशी हूं इसलिये पूछ रहा हूं।

पुराणमित्येव न साधु सर्वम् (मालविका० १ २), पुराना है इसलिये सब ठीक नहीं होता। हन्तीति पलायते (सि० कौ०), मारता है इसलिये भागता है। अयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया। धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः (साहित्य०)। शरीरस्य विनाशो मा भूदिति मयेदमुद्दिश्य समानीतम् (कादम्बरी०)। ३ पूर्वोक्त या कथित के निर्देश में—इत्यमुं विलपन्तममुञ्चद् दीनदयालुतयाऽवनिपालः। रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय (नैषध० १ १४३)। इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्याम् (किरात० ११ ८०)। ज्ञास्यति कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति (शाकुन्तल० १ १३)। ४ शब्दनिर्देश में—सत्यशिववीति भायायाम् (४ १ ६२)। विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् (५७०)। अहो, अथो इति निपातेषु पठितौ। अमरा निर्जरा देवा इत्यमरः। ५ वक्ष्यमाण के निर्देश में—रामाभिधानो हरिरित्युवाच (रघु० १३.१) राम ने वक्ष्यमाण प्रकारेण वचन कहे। ६ के विषय में, के सम्बन्ध में—शीघ्रमिति सुकरं निभृतमिति चिन्तनीयम् (शाकुन्तल० ३), जहां तक शीघ्रता का सम्बन्ध है वह आसान है पर जहां गुप्तरूप का सम्बन्ध है वह चिन्तनीय है। ७ विवक्षा में—तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (११८१), वह उस का है अथवा उस में है ऐसी विवक्षा होने पर प्रथमान्त समर्थ से मतुप् प्रत्यय होता है।

(४३) दिष्ट्या*। हर्ष का विषय, आनन्द का विषय, सौभाग्य—दिष्ट्या प्रतिहतममङ्गलम् (मालती० ४), हर्ष का विषय है कि अमङ्गल नष्ट हो गया है। दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चाऽऽयुष्मान् वर्धते (शाकुन्तल० ७)। दिष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्धनः। यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च (उत्तरराम० १.३२)। यह विभक्तिप्रतिरूपक निपात है।

(४४) नु*। १ सन्देहमिश्रित प्रश्न में—स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु (शाकुन्तल० ६ १०), क्या यह स्वप्न था या कोई माया अथवा बुद्धि का व्यामोह ही था? इस का 'किम्' शब्द या किम्शब्दोत्पन्न कथम्, क्व आदि शब्दों के साथ बहुधा प्रयोग उपलब्ध होता है। तब 'क्या' के साथ 'सम्भवतः' या 'वस्तुतः' का भाव भी जुड़ा रहता है—ततो दुःखतरं नु किम्? (गीता० २ ३३), वस्तुतः इस से अधिक और क्या दुःख हो सकता है। कथं नु गुणवद् विन्देयं कलत्रम् (दशकु०), गुणवती भार्या को पाना कैसे मेरे लिये सम्भव हो सकेगा?

(४५-४६) यद्, तद्। चूंकि—इसलिये। यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः। तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते (नीति० २९)। चूंकि अचेतन सूर्यकान्त भी सूर्य के पादों (किरणों) से छुआ हुआ जलने लग जाता है इसी कारण तेजस्वी पुरुष दूसरों के किये तिरस्कार को कैसे सह सकता है? केवल 'यद्' का भी बहुत प्रयोग देखा जाता है—किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत् (मुद्रा० २.१८), क्या शेषनाग के शरीर में भारजनित पीडा नहीं होती जो वह पृथ्वी को फेंक नहीं देता।

(४७) यदपि=यद्यपि। वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तरस्याम् (मेघ० १.२७)।

(४८-४९) ते, मे। ये दोनों विभक्तिप्रतिरूपक निपात हैं जो क्रमशः 'त्वया' और 'मया' के अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। श्रुतं ते वचनं तस्य (वामनवृत्ति ५.२.१०), त्वया तस्य वचनं श्रुतमित्यर्थः। वेदानधीत इति नाधिगतं पुरा मे (वही, ५.२.१०), मे=मया। विलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता (पञ्च० ३.२१२), मया न श्रुतेत्यर्थः। श्रुतं ते राजशार्दूल। श्रुतं मे भरतर्षभ (गणरत्न०)। वामन ने अपने सूत्रों में भी इन को निपात माना है—ते-मे-शब्दौ निपातेषु (वामनसूत्र० ५.२.१०)।

(५०) मम=मेरा। इसे निपात मान कर 'ममत्व, ममता, निर्मम' आदि शब्द सिद्ध होते हैं - क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव (कुमार० १.१२), ममशब्दात् त्वप्रत्यय इति मल्लिनाथः। ममेति षष्ठ्यन्तप्रतिरूपको निपात इति वल्लभः।

(५१) वाम्=तुम दोनों। इसे भी कई वैयाकरण विभक्तिप्रतिरूपक निपात मानते हैं। गेये केन विनीतौ वाम् (रघु० १५.६९), वाम्=युवाम् इत्यर्थः। प्रथमा के द्विवचन में 'वाम्' दुर्लभ है अतः इसे निपात माना है।

(५२) अस्तु=१. स्वीकृति—एवमस्तु को नाम दोषः (गणरत्न०)। अस्तुङ्कारः='अस्तु' करने वाला। अस्तोश्चेति वक्तव्यम् इति वार्तिकेन मुँम्। अस्त्विति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम् इति तत्त्वबोधिनी। २. असूया (क्रोध)—अस्तु ज्ञास्यसि कालेन सोऽल्पेनैव न भूयसा (मूलं मृग्यम्)। ३. पीड़ा (दुःख)—अस्तु नाम विधुरेण वेधसा साधुरप्यलमुपाधिभिर्ध्रुवम्। बाध्यते—(मूलं मृग्यम्), दुःख का विषय है कि प्रतिकूल दैव सज्जन को भी नाना छलों से बहुत दुःखी करता है। ४, निषेध—अस्तु साम्ना (गणरत्न०), अब सामप्रयोग (शान्त्युपाय) को रहने दो इस से कुछ सिद्ध न होगा।

(५३) नास्ति=अविद्यमान। यह भी तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। इसी से 'नास्तिकः, नास्तिवादः, नास्तिक्यम्, नास्तिक्षीरा' प्रभृति शब्द सिद्ध होते हैं। देखें पाणिनिसूत्र—अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः (४.४.६०)।

(५४) येन=जिस से। वितर गिरमुदारां येन मूकाः पिकाः स्युः (गणरत्न०), ऐसी वाणी बोलो जिस से कोयलें चुप हो जायें।

(५५) तेन=इस से, इस कारण से। अपराद्धोऽहमत्रभवत्सु, न च मर्षितः, तेन तप्ये नितान्तम् (न्या० च०)। येन दाता तेन श्लाघ्यः (गणरत्न०)।

(५६) अकस्मात्*=अचानक, एकदम, विना कारण के। इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात् पतिरार्यवृत्तः (रघु० १४.५५)। नाऽकस्माच्छाण्डिली मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान् (पञ्च० २.७२)। अकस्माद्भवः—आकस्मिकः।

(५७) प्रसह्य*=बलपूर्वक, जबरदस्ती। प्रसह्य मणिमुद्धरेद् मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात् (नीति० ३)। प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष (रघु० २.२७)। प्रसह्य वित्तानि

हरन्ति चौरा (हेमचन्द्र)। इसी से ही 'प्रसह्यकारी, प्रसह्यहरणम्' आदि शब्द बनते हैं।

(५८) अह्नाय—शीघ्र, फौरन। अह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् (रघु० ५.७१)।

(५९) व—सदृश। मणीव उष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम (महाभारत १२.१७२.१२)। अत्र तु इवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोध्य —सि० कौ०।

(६०) समन्तात्*—चारों ओर[1]। हेमचन्द्र ने इसे विभक्तिप्रतिरूपक निपात माना है। लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् (गीता० ११.३०)। कालागुरुदहनमध्यगतः समन्तात् लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति (भामिनी० १.६९)।

(६१) भवतु—अलम् (बस, निषेध) का अर्थ। गोत्रेण पुष्करावर्त्त ! किं त्वया गर्जितं कृतम्। विद्युताऽत्र भवत्वद्भिर्हंसा ऊर्ध्वबिलं धनम् (दृष्टा०)।

(६२) बलवत्—पूरी तरह से, पूर्णरूपेण। बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः (शाकुन्तल० १.२)। पुनर्वशित्वाद् बलवन्निगृह्य (कुमार० ३.६९)।

(६३) तदपि—तो भी। तदपि तव गुणानामीश पारं न याति (शिवमहिम्न स्तोत्र)।

(६४) यस्मात्—जिस कारण से, क्योंकि। अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति। मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा (रघु० १.७७)।

(६५) तस्मात्—इसलिये। तस्माद् युध्यस्व भारत (गीता० २.१८)।

(६६) आ (स्)। १ स्मरण में—आ, उपनयतु भवान् भूर्जपत्रम् (विक्रमो० २)। २ क्रोध प्रकट करने में—आः कथमद्यापि राक्षसत्रासः (उत्तरराम० १)। आः पापे तिष्ठ तिष्ठ (मालती० ८)। ३ क्रोधपूर्वक अपाकरण में—आः क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति बलात् (मुद्रा० १)। आः ! वृथामङ्गलपाठक (वेणी० १)। ४ सन्ताप (दुःख) प्रकट करने में—विद्यामातरमा प्रदर्श्य नृपतीन् भिक्षामहे निस्त्रपाः (उद्भट)। (आः स्मरणेऽप्याकरणे कोपसन्तापयोस्तथा—इति मेदिनी)।

(६७) ही। विस्मय में—हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः (माघ० ११.६४), आश्चर्य है कि अभागे विधाता की चेष्टाओं का विचित्र फल है।

(६८) वै*—अवधारण (ही)—पिता वै गार्हपत्योऽग्निः (मनु० २.२३१)। आपो वै नरसूनवः (मनु० १.१०)। आत्मा वै पुत्रनामासि (कौषी० ब्रा० २.११)।

(६९) किञ्च*—और भी, इसके अतिरिक्त, पुनः। किञ्च सर्वगुणसम्पन्नोऽपि भेदेन वध्यते (पञ्च० ४)। किञ्च काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम् (साहित्य० १)। किञ्च काव्याद् धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना (साहित्य० १)।

(७०) यदि*—अगर (पक्षान्तर)—यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः

---

१ इसी अर्थ में 'समन्ततः' अव्यय भी बहुत प्रसिद्ध है। यथा—मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः (गीता० ६.२४)। समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि—इत्यमरः। समन्तादिति समन्ततः, आद्यादित्वात्तसिरित्यमरव्याख्याता भानुजि-दीक्षितः।

(पञ्च० २.१३८)। नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् (नीति० ९३)।

(७१) यद्यपि=अगरचे, यद्यपि—यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः (गीता० १.३७)। यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्। स्वजनः श्वजनो मा भूत्सकलं शकलं सकृच्छकृत् (सुभाषित०)।

(७२) यद्वा*=अथवा। यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः (गीता० २.६)।

(७३) यदि वा*=अथवा। स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा (उत्तरराम० १.१२)।

(७४) अथवा*। १. 'वा' के अर्थ में—व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् (हितोप० १.५८)। २. पक्षान्तर में—अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः (रघु० १.४)।

(७५) वारं वारम्*=बारबार—मनसि विचारय वारं वारम् (चर्पट० ११)।

(७६) प्रेत्य। १. परलोक—अन्यो धनं प्रेत्यगतस्य भुङ्क्ते (गणरत्न०)। २. इस संसार से गया हुआ—प्रेत्यभावः, प्रेत्यलोकः। प्रेत्यामुत्र भवान्तरे इत्यमरः।

(७७) पुरतः(स्)*=सामने, आगे। यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः (नीति०)। स्यात्पुरः पुरतोऽग्रतः—इत्यमरः।

(७८) प्रायेण*=प्रायः, अक्सर, बहुधा। प्रायेणाऽधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते (पञ्च० १.२७३)। प्रायेण नीचा व्यसनेषु मग्ना निन्दन्ति दैवं न तु कुकृतं स्वम् (महाभारत० ८.९१.१)। वामन शिवराम आप्टे आदि कोषकारों ने इसे अव्यय माना है। परन्तु अनेक वैयाकरण 'प्राय' (पुं०) शब्द से प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०) द्वारा तृतीया विभक्ति हुई मान कर इसे अव्यय नहीं मानते।

(७९) प्रायशः (स्)*=प्रायः, अक्सर, बहुधा। आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि (मेघ० १.१०)। इसे तद्धितशस्-प्रत्ययान्त माना जा सकता है। तब तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (३६८) से अव्यय-संज्ञा हो जायेगी।

(८०) वस्तुतः(स्)*=यथार्थतः, दर असल, हकीकत में, सत्यतः, मूलतः—वस्तुतः लृकारस्य ऋकारग्राहकत्वं न कुत्राप्युपलभ्यते (तत्त्वबोधिनी संज्ञाप्रकरण)।

(८१) अथ किम्*=जी हां। सर्वथा अप्सरःसम्भवैषा। अथ किम् (शाकुन्तल० १)। अपि वृषलमनुरक्ताः प्रकृतयः? अथ किम् (मुद्रा० १)।

(८२) अन्वक्=पीछे। तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः (रघु० २.१६)। अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्—इत्यमरः।

(८३) अपि वा*=अथवा। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा (रघु० १.१०)।

(८४) कस्मात्*=क्यों, किस कारण, किस लिये। अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया (शाकुन्तल० ६.१३)। इस विभक्तिप्रतिरूपक

अव्यय से नञ्समास हो कर 'अकस्मात्' अव्यय बनता है। पुन इस अव्यय से अकस्माद्भव आकस्मिक (विनयादित्वाद् ठकि टेर्लोप) सिद्ध होता है।

(८५) प्रगे=प्रात काल, सुबह सवेरे। साय स्नायात् प्रगे तथा (मनु० ६ ६)। इसी से ही 'प्रगेशय' (प्रभात मे सोने वाला) आदि निष्पन्न होते हैं। सायंचिरम्प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुँट् च (१०८३) सूत्र मे अनव्यय प्रगशब्द को एत्व निपातन किया गया है।

(८६) परश्व (स्)*=आगामी कल से अगला दिन, परसों। परश्वो यास्यति मुनि। अनागतेऽह्नि श्व. परश्वश्च परेऽहनि—इत्यमर।

(८७) स्राक्=शीघ्र। स्राक् सरत्यभिसारिका. (हेमचन्द्र)।

(८८) अरम्=शीघ्र। अर याति तुरङ्गम (हेमचन्द्र)।

(८९) रह (स्)*=एकान्त एकान्त मे, चुपके से। अत परीक्ष्य कर्तव्य विशेषात् सगत रह (शाकुन्तल० ५ २४)। रहो भव रहस्यम्, दिगादित्वाद्यत्। रहस् शब्द सकारान्त नपुसक भी होता है। यथा—रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृत. (किरात० १ ३)।

(९०) उपजोषम्=१. अपनी इच्छा के अनुसार, स्वेच्छा से। यथोपजोषं वासांसि परिधाय—(भागवत० ८ ६ १५), अपनी इच्छानुसार वस्त्र धारण करके। २ 'दिष्टया' के अर्थ मे—उपजोषं ते पुत्रो जातः (हेमचन्द्र), बड़े आनन्द की बात है कि तेरा पुत्र उत्पन्न हुआ है। 'समुपजोषम्' भी देखा जाता है। दिष्टया समुपजोषञ्चेत्यानन्दे—इत्यमर।

स्वरादियों और चादियों का ठीक तरह से पृथक् २ निरूपण एक दुष्कर कार्य है। कुछ स्वरादि शब्द चादियों मे तथा कुछ चादि शब्द स्वरादियों मे मिश्रित हो गये हैं। कुछ शब्द तो दोनों ही गणों मे पढे गये हैं। परन्तु यहा यह ध्यातव्य है कि जिन मे निपातस्वर (आद्युदात्त) इष्ट हो उन्हें चादियों मे तथा जिन मे अन्तोदात्त-स्वर इष्ट हो उन्हें स्वरादियों मे गिनना चाहिये। किञ्च जहा दोनों प्रकार के स्वर अभीष्ट हों उन को दोनों ही गणों मे पढना चाहिये[1]। इन चादियों से अतिरिक्त अन्य भी बहुत से निपात होते हैं। उन सब की भी स्वरादिनिपातमव्ययम् (३६७) सूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है। इन सब का विवेचन जानने के इच्छुक प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१४५६) के अधिकार को अष्टाध्यायी या काशिकावृत्ति मे देखें[2]।

---

१. परन्तु यह स्वरव्यवस्था अनेकाच् शब्दों के लिये ही समझनी चाहिये एकाच् शब्दों के लिये नहीं, क्योंकि एकाच् शब्दों मे चाहे आद्युदात्त स्वर हो या अन्तोदात्त, कोई अन्तर ही नहीं पडता।

२ निपातों के विषय मे एक सूक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

इयन्त इति सख्यान निपातानां न विद्यते।
प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे॥

प्र आदि शब्द भी निपाताधिकार में **प्रादयः** (५४) सूत्रद्वारा निपातसंज्ञक होकर अव्ययसंज्ञक हो जाते हैं। इन प्र आदियों का क्रिया के योग में तथा कुछ का क्रियायोग के अभाव में भी स्वतन्त्ररीत्या प्रयोग हुआ करता है। क्रिया के योग में इन की **उपसर्गाः क्रियायोगे** (३५) सूत्र से उपसर्गसंज्ञा विशेष है। निपातसंज्ञा तो दोनों अवस्थाओं में ही अक्षुण्ण बनी रहती है। अब प्रादियों में क्रियायोग के अभाव में स्वतन्त्रतया प्रयुक्त होने वाले कुछ प्रसिद्ध २ निपातों का विवेचन करते हैं—

(१) अनु। १. पीछे—**विष्णोः पश्चाद् अनुविष्णु** (सि० कौ०)। **आश्वास्यादौ तदनु कथयेर्माधवीयामवस्थाम्** (मालती० ६.२६)। २. के साथ साथ (लम्बाई में)—**अनुगङ्गं वाराणसी** (व्या० च०), गङ्गातट के साथ साथ बनारस बसा हुआ है। ३. हीन अर्थ में—**अनु पाणिनिमन्ये वैयाकरणाः** (व्या० च०), अन्य वैयाकरण पाणिनि से नीचे हैं। **अन्वर्जुनं धानुष्काः** (व्या० च०), अन्य धनुर्धारी अर्जुन से हीन हैं। इसी प्रकार—**अन्वाम्रं फलानि** आदि। ४. लक्षण (निशानी) अर्थ में—**वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्** (काशिका), बिजली वृक्ष के समीप चमक रही है। इसी प्रकार—**क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत्** (रघु० २.२४)। ५. इत्थम्भूताख्यान (वह इस तरह का है—इस प्रकार कहने) में—**साधुर्देवदत्तो मातरमनु**, देवदत्त माता के प्रति सद्व्यवहारी है। ६. भाग (हिस्सा) अर्थ में—**लक्ष्मीर्हरिमनु** (सि० कौ०), लक्ष्मी विष्णु का भाग है। ७. वीप्सा—**वृक्षं वृक्षमनु सिञ्चति** (सि० कौ०), प्रत्येक वृक्ष को सींचता है। ८. हेतुयुक्त अनन्तर अर्थ में—**जपमनु प्रावर्षत्** (सि० कौ०), जप के कारण जप के बाद वर्षा हुई। ९. के अनुसार—**अनुक्रमम्, अनुज्येष्ठम्, अनुरूपम्**। इस के अन्य भी अनेक अर्थ आकरग्रन्थों में देखें। ध्यान रहे कि प्रायः इन अर्थों में इस की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाती है तब **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** (२.३.८) सूत्र से इस के योग में द्वितीया विभक्ति हो जाती है। विशेष सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

(२) आङ्=आ। १. ईषत् (थोड़ा) अर्थ में—**ओष्णम्** (ईषदुष्णम्—कुछ गरम)। २. मर्यादा अर्थ में—**ओदकान्ताद् आवनान्ताद्वा प्रियं प्रोष्यमनुव्रजेत्** (धर्मशास्त्रे), तालाब या वन के अन्त तक प्रवास करते बन्धु के साथ जाये। इसीप्रकार—**आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्** (शाकुन्तल० १.२)। **आ विन्ध्याद् उत्तरपथः**। ३. अभिविधि अर्थ में—**आ कुमाराद् यशः पाणिनेः**, पाणिनि का यश बच्चों तक अर्थात् बच्चों को भी अभिव्याप्त कर रहा है। इसीप्रकार—**आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि** (शाकुन्तल० १)। मर्यादा और अभिविधि अर्थों में **आङ् मर्यादावचने** (१.४.८८) से आङ् की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाती है तब इस के योग में **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** (२.३.१०) सूत्र से पञ्चमीविभक्ति हो जाती है।

(३) अधि। १. स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध में—**अधि ब्रह्मदत्ते पाञ्चालाः** (काशिका), पाञ्चालदेश ब्रह्मदत्त के अधीन है। **अधि पाञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः** (काशिका), ब्रह्मदत्त पाञ्चालदेश का अधिकृत राजा है। इसी प्रकार—**अधि रामे भूः, अधि भुवि रामः** (सि० कौ०)। ध्यान रहे कि यहां **अधिरीश्वरे** (१.४.९६) सूत्र से 'अधि' की

कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर उस के योग में यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी (२.३.९) द्वारा कभी स्वामिवाचक से तथा कभी स्ववाचक से सप्तमी विभक्ति हो जाती है। २ में, के विषय में—हरौ इत्यधिहरि (हरि में या हरि के विषय में)। अव्ययीभावसमास के नित्य होने से लौकिकविग्रह में 'अधि' लिखा नहीं जा सकता।

(४) अपि। १ प्रश्न में—अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः (शाकुन्तल० १), क्या कुलपति आश्रम में हैं? अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते? (रघु० ५.४)। अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशम् (कुमार० ५.३३)। २ थोड़ा, स्तोक, बिन्दु, ज़रा सा अंश आदि अर्थों में—सर्पिषोऽपि स्यात्, मधुनोऽपि स्यात् (काशिका), घृत का अंश होगा, मधु का अंश होगा। ३ कामचारानुज्ञा—अपि सिञ्च अपि स्तुहि (काशिका), तुम्हारी इच्छा है सींचो या स्तुति करो। ४ सम्भावना प्रकट करने में (शायद)—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात् (शाकुन्तल० १)। अपि नाम रामभद्रः पुनरपीदं वनमलङ्कुर्यात् (उत्तरराम० २)। ५ समुच्चय (भी)—अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु (शाकुन्तल० १)। विष्णुशर्मणापि पाठितास्ते राजपुत्राः (पञ्च० प्रस्तावना)। ६ चाहे हो—अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः किं करोति गतायुषि (सुभाषित०)। अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् (उत्तरराम० १.२८)। ७ ज़ोर या Stress देने के लिये—विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणासौ (हितोप० १.१९)। यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः (शाकुन्तल० १)। ८. कवियों द्वारा विरोधाभास प्रदर्शित करने में—खर्वामपि अखर्वपराक्रमाम्, श्यामामपि यशःसमूहश्वेतीकृतत्रिभुवनाम् (शिवराज० २)। ९. 'किम्' के साथ लग कर अनिश्चय में—व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः (उत्तरराम० ६.१२)। केऽपि एते प्रवयसः त्वां दिदृक्षवः (उत्तरराम० ४)।

(५) अभि। १ लक्षण (निशानी)—वृक्षमभि विद्योतते विद्युत् (काशिका), वृक्ष के सामने बिजली चमक रही है। २ इत्थम्भूताख्यान—साधुर्देवदत्तो मातरमभि (काशिका)। ३ वीप्सा—वृक्षं वृक्षमभि सिञ्चति। ४ आभिमुख्य में—अग्निमभि शलभाः पतन्ति (काशिका), पतंगे अग्नि के अभिमुख गिर रहे हैं। आभिमुख्य अर्थ में वैकल्पिक अव्ययीभावसमास का भी विधान है—अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति। लक्षणादि अर्थों में 'अभि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर उस के योग में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

(६) प्रति। १ लक्षण—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् (काशिका)। तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः (रघु० २.७०)। मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति (शाकुन्तल० १)। २ इत्थम्भूताख्यान—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति (काशिका)। ३. भाग—यदत्र मां प्रति स्यात्तद् दीयताम् (काशिका), इस में मेरा जो हिस्सा हो वह दीजिये। ४ वीप्सा—वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति। ५. प्रतिनिधि—अभिमन्युरर्जुनतः प्रति (काशिका), अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है। प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति (काशिका), प्रद्युम्न वासुदेव का प्रतिनिधि है। ६ प्रतिदान (बदले में

देना)—तिलेभ्यः प्रति यच्छति माषान् (काशिका), तिलों के बदले माष देता है। शेफालीभ्यो ददुर्लास्यं प्रति गन्धाच्च मारुताः (व्या० च०), वायु ने शेफालिका से गन्ध ले कर उस के बदले उन्हें नृत्य दे दिया[1]। ७. आभिमुख्य में—अग्निं प्रति शलभाः पतन्ति, प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति। पूर्ववत् वैकल्पिक अव्ययीभावसमास हो जाता है।

(७) परि। १. लक्षण (निशानी)—वृक्षं परि विद्योतते विद्युत् (काशिका), वृक्ष पर बिजली चमक रही है। २. इत्थम्भूताख्यान—साधुर्देवदत्तो मातरं परि। ३. भाग—यदत्र मां परि स्यात्तद्दीयताम्, इस में मेरा जो भाग है वह दे दीजिये। ४. वीप्सा—वृक्षं वृक्षं परि सिञ्चति। ५. मर्यादा—परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः, त्रिगर्त-देश तक(पर त्रिगर्त को छोड़ कर)मेघ बरसा। ६. दुःखी, तंग—परिग्लानोऽध्ययनाय =पर्यध्ययनः[2]।

(८) अप। तक, मर्यादा अर्थ में—अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः, त्रिगर्तदेश तक (पर त्रिगर्त में नहीं) मेघ बरसा। अपपरी वर्जने (१.४.८७) से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर उस के योग में—पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२.३.१०) से पञ्चमी हो जाती है।

(९) उप। १. हीन, निम्न—उप हरिं सुराः (सि० कौ०), देवता हरि से निम्नकोटि के हैं। शक्रादय उपाच्युतम् (वोपदेव), इन्द्र आदि भगवान् विष्णु से निम्न-स्तर के हैं। २. अधिक—उप परार्धे हरेर्गुणाः (सि० कौ०), हरि के गुण परार्धसंख्या से भी अधिक हैं। यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी (२.३.९) इस सूत्र से अधिक अर्थ के वाचक उप के योग में सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

(१०) अति। १. अतिशय, आधिक्य—अतिदानाद् बलिर्बद्धो नष्टो मानात् सुयोधनः। विनष्टो रावणो लौल्याद् अति सर्वत्र वर्जयेत् (चाणक्य०)। नातिदूरे=बहुत दूर नहीं=निकट। २. अतिक्रमण में—अति देवांस्ते मनुजाः परार्थे ये तनुत्यजः(व्या० च०), वे मनुष्य देवताओं का अतिक्रमण कर जाते हैं जो दूसरों के लिये प्राण देते हैं। अति देवान् कृष्णः (सि० कौ०)। श्रिया समानान् अति सर्वान् स्याम् (अथर्व० ११.१.२१), मैं लक्ष्मी में समान लोगों से आगे बढ़ जाऊँ। अतिरतिक्रमणे च (१.४.९४) से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर उस के योग में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

अब तद्धितान्त अव्ययों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३६८) तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः ।१।१।३७।।

यस्मात् सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात् ।।

अर्थः—जिस तद्धितान्त से वचनत्रयात्मिका सब विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं वह अव्ययसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—तद्धितः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। असर्वविभक्तिः ।१।१। अव्ययम्

---

१. प्रतिनिधि और प्रतिदान में प्रति की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर इस के योग में पञ्चमी हो जाती है। देखें इस व्याख्या का विभक्त्यर्थपरिशिष्ट (३८, ३९)।

२. पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या (वा० ६१) इस वार्तिक से नित्यसमास हो जाता है अतः लौकिकविग्रह में 'परि' का प्रयोग नहीं हो सकता।

।१।१। (स्वरादिनिपातमव्ययम् से) । समास:—नोत्पद्यन्ते सर्वा वचनत्रयात्मिका[1] विभक्तयो यस्मात् सोऽसर्वविभक्ति, बहुव्रीहिसमास । अर्थ —(असर्वविभक्ति.) जिस से वचनत्रयात्मिका सम्पूर्ण विभक्तिया उत्पन्न नही हो सकती वह (तद्धित =तद्धितान्त[2]) तद्धितान्त (च) भी (अव्ययम्) अव्ययसज्ञक होता है ।

यथा—अत (इस से) इस तद्धितान्त से सब विभक्तिया उत्पन्न नही हो सकती, अर्थात् 'इस से को, इस से द्वारा, इस से के लिये' इत्यादि विभक्तियों वाला व्यवहार यहा सम्भव नही हो सकता । इसलिये यह अव्ययसज्ञक है । अत एव—अतत, ततत, कुतत. आदि प्रयोग ठीक नही ।

प्रशस्त पचतीति—पचतिरूपम् [प्रशसायां रूपप् (५ ३ ६६)], ईषद् असम्पूर्ण पचतीति पचतिकल्पम् [ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयर॰ (५ ३.६७)]। यहा इन तद्धितान्तो से भी वचनत्रयात्मिका सब विभक्तिया उत्पन्न नही हो सकती अत. इन की भी अव्ययसज्ञा हो कर सुंप् का लुक् प्राप्त होता है—जो अत्यन्त अनिष्ट है। किञ्च वचनत्रयात्मिका सब विभक्तिया तो 'उभय' शब्द से भी उत्पन्न नही होतीं और यह तद्धितान्त भी है अत इस की भी अव्ययसज्ञा हो कर सुंब्लुक् आदि दोष प्राप्त होवें हैं । इस पर उन उन तद्धितप्रत्ययो का परिगणन करते हैं जिन के अन्त में आने से अव्ययसज्ञा होती है[3] ।

[लघु०] परिगणन कर्तव्यम् । तसिँलादय प्राक्पाशप॰ । शस्प्रभृतय. प्राक् समासान्तेभ्य. । अम् । आम् । कृत्वोऽर्था: । तसि-वती । ना-नाञौ । एतदन्तमव्ययम् । अत इत्यादि ॥

अर्थ.—उन तद्धित प्रत्ययो का परिगणन करना चाहिये—

[क] 'तसिँल्' से ले कर 'पाशप्' के पूर्व तक के सब प्रत्यय ।

[ख] 'शस्' से ले कर समासान्तो के पूर्व तक के सब प्रत्यय ।

[ग] 'अम्' और 'आम्' प्रत्यय ।

[घ] 'कृत्वसुँच्' तथा उस के अर्थ वाले अन्य प्रत्यय ।

---

१ एकवचनमुत्सर्गत. करिष्यते—इस महाभाष्य के कथन से सब विभक्तियो का एकवचन तो सब शब्दो से स्वत सिद्ध है ही, अत. 'असर्वविभक्ति:' यह कथन व्यर्थ हो जाता है । इसलिये यहा इस का आशय यह समझना चाहिये कि जिस तद्धितान्त से सब विभक्तियो के सब वचनो की उत्पत्ति न हो उस की अव्ययसज्ञा होती है ।

२. केवलस्य तद्धितस्य प्रयोगाभावेन फलाभावात् सज्ञाविधावपि तदन्तविधि ।

३ यहा यह ध्यान रहे कि इस परिगणन के बिना दोषनिवृत्ति असम्भव है, अत. यह तद्धितश्चासर्वविभक्ति. (३६८) सूत्र व्यर्थ सा है। अत एव प्राचीन वैयाकरणो ने इस परिगणन को स्वरादिगण में सम्मिलित कर दिया है । देखें काशिकावृत्ति (१ १.३६) ।

[ङ] 'तसि' और 'वति' प्रत्यय।

[च] 'ना' और 'नाञ्' प्रत्यय।

ये तद्धितप्रत्यय जिन के अन्त में हों उन की अव्ययसंज्ञा होती है। यथा—'अतः' (यहां एतद् शब्द से तसिँल् प्रत्यय किया गया है)।

व्याख्या—उपर्युक्त सब प्रत्यय अष्टाध्यायी के क्रम से कहे गये हैं। जिन को अष्टाध्यायी का सूत्रपाठ कण्ठस्थ है उन के लिये यह सब समझना अत्यन्त सुकर है। हम यहां इन प्रत्ययों का ससूत्र सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

[क] तसिँलादयः प्राक् पाशपः ।।

(तसिँल् से लेकर पाशप् के पूर्व तक के सब प्रत्यय)

(तसिँल्)—[पञ्चम्यास्तसिँल् (५.३.७), पर्यभिभ्यां च (५.३.६)]।

इतः (स्)[1]=इस से, इस कारण से। तस्मादितो मयान्यत्र गन्तव्यं कानने क्वचित् (कथासरित्०)।

ततः (स्)=उस से, उस कारण से। इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः।

अतः (स्)=इस से, इस कारण से। *अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् सङ्गतं* रहः (शाकुन्तल० ५.२४)। अतोऽहम्ब्रवीमि (पञ्च० १)।

कुतः (स्)=किस से, किस कारण से, कहां से। कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् (गीता० २.२)।

यतः (स्)=जिस से, जिस कारण से, जहां से। यतो जातानि भुवनानि विश्वा (श्वेता० ४.४)। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तै० उप० ३.१)।

सर्वतः (स्)=सब ओर से, चहुं ओर से। सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षि-शिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति (गीता० १३.१३)। सर्वतो नगरं प्राकारः।

अन्यतः (स्)=अन्य से। तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः (उत्तर-राम० १.१३)।

परितः (स्)=चहुं ओर से। वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रकीर्णाश्छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः (शाकुन्तल० ३.२४)। परितः कृष्णं गोपाः।

अभितः (स्)=चारों ओर, दोनों ओर, निकट। परिजनो यथाव्यापारं राजा-नमभितः स्थितः (मालविका० १)। पादपैः पत्रपुष्पाणि सृजद्भिरभितो नदीम् (रामा-यण० २.६५.८)। ततो राजाऽब्रवीद् वाक्यं सुमन्त्रमभितः स्थितम् (रामायण)।

उभयतः (स्)=दोनों ओर। उभयतो मार्गं वृक्षाः।

नोट—उभयतः, सर्वतः, परितः, अभितः—इन के योग में द्वितीया विभक्ति का विधान है। देखें—इसी व्याख्या के तृतीयभाग का विभक्त्यर्थपरिशिष्ट (१०, ११)।

---

१. 'इतः' आदि ये तद्धितान्त अव्यय प्रायः सब प्रसिद्ध हैं अतः इन पर * यह चिह्न अङ्कित नहीं किया है।

(त्रल्)—[सप्तम्यास्त्रल् (५.३.१०)]।

सर्वत्र=सब जगह, सब में, सब स्थानों पर। साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने (चाणक्य०)। अति सर्वत्र वर्जयेत् (चाणक्य०)।

कुत्र=कहां, कहां पर। कुत्र नु खलु गत आर्यवसन्तकः (स्वप्न० ४)। शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले। प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा (हितोप० १.२४)।

अन्यत्र=अन्य जगह, दूसरी जगह पर। विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति (पञ्च० १.४१)।

अत्र=यहां, यहां पर, इस पर, इस में। यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः (पञ्च० १.२१७)। तन्भद्र न कृतं यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः (हितोप० १)।

यत्र=जहां, जिस में। तत्र=वहां, उस में। यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि। निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते (हितोप० १.६९)[1]।

एकत्र=एक जगह पर, एक में। घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्। तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः (हितोप० १.११८)।

अमुत्र=उस में, परलोक में। अनेनैवार्भकाः सर्वे नगरेऽमुत्र भक्षिताः (कथासरित्०)। नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः (मनु० ४.२३९)। प्रेत्यामुत्र भवान्तरे—इत्यमरः।

बहुत्र=बहुतों में, बहुत स्थानों में। पूर्वत्र=पूर्व में। उत्तरत्र=अगले में। उभयत्र (दोनों में) इत्यादि।

(ह)—[इदमो हः (५.३.११), वा ह च च्छन्दसि (५.३.१३)]।

इह=यहां, इस में। इह लोके हि धनिनां परोऽपि स्वजनायते (पञ्च० १.५)। अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते (हितोप० १.८३)।

कुह=कहां। वेद में ही प्रयोग होता है। यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् (ऋ० २.१२.५)।

(अत्)—[किमोऽत् (५.३.१२)]।

क्व=कहां, किस स्थान पर। क्व गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः।

---

१ 'अत्र' और 'तत्र' के आगे भवत् (आप) शब्द का प्रयोग 'पूज्य, आदरणीय' आदि अर्थ को प्रकट करने के लिये किया जाता है। पूज्ये तत्रभवानत्रभवांश्च भगवानपि—इत्यभिधानचिन्तामणौ हेमचन्द्रः। जब आदरणीय पुरुष या स्त्री, वक्ता के सामने या निकट हो तो 'अत्रभवान्, अत्रभवती' आदि का, जब दूर हो तो 'तत्रभवान्, तत्रभवती' आदि का प्रयोग होता है। यथा—अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः (शाकुन्तल० २)। वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये (शाकुन्तल० १)। असाधुदर्शी तत्रभवान् काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते (शाकुन्तल० १)।

वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति (हितोप० ४.६४)। क्व वयं क्व परोक्ष-मन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः (शाकुन्तल० २.१६)। क्व सूर्यप्रभवो वंशः (रघु० १.२)। क्वचित्=कहीं पर, कभी, किसी दिन। क्वचित् पृथ्वीशय्यः क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः (नीति० ७३)। कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति (देवीक्षमा० १)। इसी प्रकार—क्वापि=कभी, कहीं पर।

(दा)—[सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा (५.३.१५)]।

सर्वदा=हमेशा। स्वजनोऽपि दरिद्राणां सर्वदा दुर्जनायते (पञ्च० १.५)।

सदा=हमेशा। 'दा' प्रत्यय के परे रहते सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि (१२०६) से 'सर्व' को वैकल्पिक 'स' आदेश हो जाता है। सदाभिमानैकधना हि मानिनः (माघ० १.६७)।

एकदा=एक वार, कभी। अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम् (हितोप० १)।

अन्यदा=अन्य समय में। अन्यदा भूषणं पुंसां क्षमा लज्जेव योषिताम्। पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव (माघ० २.४४)।

कदा=कब, किस समय। परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः। गङ्गा ब्रूते कदागत्य मामयं पावयिष्यति (सुभाषित०)। कदागुरोकसो भवन्तः?। कदाचित्, कदाचन, कदापि=कभी। कदाचित् कुपिता माता न कदाचिद् हरीतकी (सुभाषित०)। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन। (तै० उप० २.४)।

यदा=जब। यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम् (नीति० ७)।

तदा=तब। यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् (गीता० ४.७)।

(र्हिल्)—[इदमो र्हिल् (५.३.१६), अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् (५.३.२१)]।

एतर्हि=इस समय, अब। भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्त्तमानं नरदेव वर्त्मनि। कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः (किरात० १.३२)।

कर्हि=कब। वेद में प्रायः प्रसिद्ध है। लोक में—कर्हिचित्=कभी भी। अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् (मनु० २.४)।

यर्हि=जब। तर्हि=तब। सुषिरो वै पुरुषः स वै तर्ह्येव सर्वो यर्ह्याशितः (मैत्रा० सं० ३.६.२), मनुष्य निश्चय ही भीतर से खोखला है, वह तभी पूर्ण हो जाता है जब खा कर तृप्त हो जाता है।

(धुना)—[अधुना (५.३.१७)]।

अधुना=अब, इस समय। पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम् (उत्तर-राम० २.२७)।

(दानीम्)—[दानीञ्च (५.३.१८), तदो दा च (५.३.१९)]।

इदानीम्=अब। तदानीम्=तब। वत्से प्रतिष्ठस्वेदानीम् (शाकुन्तल० ४)। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् (ऋ० १०.१२९.१)।

(सद्यस् आदि निपातन)—[सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः (५ ३ २२), द्युश्चोभयाद्वक्तव्य (वा०)]।

सद्यः (स्)=समानेऽहनि, उसी दिन, उसी समय, फौरन, तत्काल। सद्यो बलहरा नारी सद्यो बलकरं पयः (चाणक्य०)। नाऽधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव (मनु० ४ ७२)।

परुत्=पिछले वर्ष, गत वर्ष मे। परुज्जातस्सुतस्तव।

परारि=गत वर्ष से पूर्व वर्ष मे। परारि वृष्टिः समभूदपूर्वा।

ऐषमः (स)=इस वर्ष मे। महार्घता वृद्धिमुपागतैषमः, इस वर्ष महगाई बढ गई है।

परेद्यवि=परले दिन, परसो। स तु गन्ता परेद्यवि, वह तो परसो जायेगा।

अद्य=इसी दिन, आज। श्व कार्यमद्य कुर्वीत (महाभारत० १२ ३२१ ७३)।

पूर्वेद्युः (स्)=पूर्व दिन, गत दिन, पिछले दिन। प्रातः कृतार्थानि यथा विरेजुस्तथा न पूर्वेद्युरलङ्कृतानि (भट्टि० ११ २१)।

अन्येद्युः (स्)=अन्य दिन। अन्येद्युरात्मानुचरस्य भाव जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः (रघु० २ २६)।

इतरेद्युः (स्)=अन्य दिन। अपरेद्युः (स्)—अन्य दिन। ततोऽपरेद्युस्त देशमाजगाम स वीर्यवान् (रामायण० १ ११ २४)। अधरेद्युः (स्)=परले दिन, परसो। उभयेद्युः (स)=दोनो दिनो मे। उत्तरेद्युः (स्)=अगले दिन। उभयद्युः (स्)=दोनो दिनो मे।

(थाल्)—[प्रकारवचने थाल् (५ ३ २३)]।

यथा=जैसे। तथा=वैसे। यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति (मनु० २ २१८)। यथा नदीनदा सर्वे सागरे यान्ति सस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति सस्थितिम् (मनु० ६ ९०)।

सर्वथा=सब प्रकार से, सब तरह से। सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता। यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः (उत्तरराम० ५)।

अन्यथा=अन्य प्रकार से, विपरीत। यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा। इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते (हितोप० प्रस्तावना ३०)।

उभयथा=दोनो प्रकार से, दोनो अवस्थाओं मे। उभयथाऽपि घटते (विक्रमो० ३)। छन्दस्युभयथा (३ ४ ११७)।

(थमु)—[इदमस्थमुः (५ ३ २४), किमश्च (५ ३ २५)]।

इत्थम्=इस तरह, इस प्रकार। इत्थममु विलपन्तममुञ्चद् दीनदयालुतयाऽवनिपाल (नैषध० १.१ ४३)।

कथम्=कैसे, किस तरह, किस प्रकार। कथ मारात्मके त्वयि विश्वास ? (हितोप० १)। कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् (रघु० २ ५४)। कथमपि=किसी तरह, बडी कठिनता से। तस्य स्थित्वा कथमपि पुर:

कौतुकाधानहेतोः (मेघ० १.३)। कथमपि भुवनेऽस्मिन् तादृशाः सम्भवन्ति (मालती० २.९)। कथं कथमपि=बड़ी कठिनता से। कथं कथमप्युत्थाय चलितः (पञ्च० १)। कथञ्चित्, कथञ्चन=किसी तरह, बड़ी मुश्किल से। कथञ्चिदीशा मनसां बभूवुः (कुमार० ३.३४)। न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन (मनु० ४.११)।

(था)—[था हेतौ च च्छन्दसि (५.३.२६)]।

कथा=किस कारण से। वेद में ही प्रयोग होता है। कथा विधात्यप्रचेताः (ऋ० १.१२०.१), अज्ञानी कैसे कार्य कर सकता है?

(अस्ताति)—दिक्छब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः (५.३.२७)।

पुरस्तात्=सामने, पूर्व में, पूर्व से, पूर्व (दिशा, देश या काल), गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत् पुरस्तादनुपेक्षणीयम् (रघु० २.४४)। रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्तात् (मेघ० १.१५)। पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् (परिभाषा)। इसी प्रकार—

परस्तात्=आगे, परे, दूसरी ओर। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् (श्वेता० ३.४)। परस्ताज्ज्ञायत एव (शाकुन्तल० १)।

अधस्तात्=नीचे, नीचे की ओर। धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण (सांख्यका० ४४)। तस्याधस्ताद् वयमपि रतास्तेषु पर्णोटजेषु (उत्तरराम० २.२५)।

(अतसुँच्)—[दक्षिणोत्तराभ्यामतसुँच् (५.३.२८), विभाषा परावराभ्याम् (५.३.२९)]।

दक्षिणतः (स्)=दक्षिण में, दक्षिण से, दक्षिण (दिशा और देश केवल दो के लिये)। उत्तराहि वसन् रामः समुद्राद् रक्षसां पुरीम्। अवैल्लवणतोयस्य स्थितां दक्षिणतः कथम् (भट्टि० ८.१०७)। इसी प्रकार—उत्तरतः=उत्तर में, उत्तर से, उत्तर। परतः=परे, पर से, पर। अवरतः=पीछे से। ये दिशा, देश और काल तीनों के लिये प्रयुक्त होते हैं।

(अस्तातेर्लुक्)—[अञ्चेर्लुक् (५.३.३०)]।

प्राक्=पहले, आगे, पूर्व में, पूर्व से, पूर्व (दिशा, देश या काल)। प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसम् (हितोप० १.८१)। प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते (मनु० २.२९)। प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म, तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थेन भवितुं किम्पुनरियता सूत्रेण (महाभाष्य १.१.१)। प्रागगामि पुण्यं नृणाम् (हेमचन्द्र), मनुष्यों का पुण्य आगे चलता है। इसी प्रकार प्रत्यक्=विपरीत दिशा। आदि शब्द जानने चाहियें।

(रिल्, रिष्टात्)—[उपर्युपरिष्टात् (५.३.३१)]।

उपरि=ऊपर (दिशा, देश, काल)। अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात

विद्याधरहस्तमुक्ता (रघु० २ ६०)। उपर्युपरि=ऊपर ऊपर। उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति (हितोप० २ २)।

उपरिष्टात्=ऊपर (दिशा, देश, काल)। सजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणे नोपरिष्टान्न चाध (वैराग्य० ११०)। इत्युपरिष्टाद् व्याख्यातम्।

(आति)—[पश्चात् (५ ३ ३२)]।

पश्चात्=पीछे, अस्तात्यर्थे। लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् (नीति० ४६)। गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः (शाकुन्तल० १ ३३)। पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रम् (उत्तरराम० ४ २६)। पश्चात्तापः।

(अ, आ,)—[पश्च पश्चा च च्छन्दसि (५ ३ ३३)]।

पश्च=पीछे। पश्चा=पीछे। वेद में ही प्रयुक्त होते हैं।

(आति)—[उत्तराधरदक्षिणादातिः (५ ३ ३४)]।

उत्तरात्, अधरात्, दक्षिणात्। *अस्ताति वाला अर्थ। उत्तराद् वसति* (उत्तरस्यां दिशि वसतीत्यर्थः)। उत्तरादागत। उत्तराद् रमणीयम् (काशिका)। इसी प्रकार—अधराद्रमति, दक्षिणाद्रमति आदि।

(एनप्)—[एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः (५ ३.३५)]।

उत्तरेण, अधरेण, दक्षिणेन। सब जगह 'अस्ताति' वाला अर्थ, केवल पञ्चमी का ग्रहण नहीं। इस के योग में एनपा द्वितीया (२ ३.३१) द्वारा द्वितीया विभक्ति का विधान है—तत्रागारं धनपतिगृहान् उत्तरेणास्मदीयम् (मेघ० २ १२), हमारा घर कुबेर के भवन के निकट उत्तर में है। दण्डकां दक्षिणेनाहं सरितोऽद्रीन् वनानि च (भट्टि० ८.१०८)। उत्तरेण स्रवन्तीम् (मालती० ९.२४)। दक्षिणेन वृक्षवाटिकाम् आलाप इव श्रूयते (शाकुन्तल० १)।

(आच्)—[दक्षिणादाच् (५.३ ३६)]।

दक्षिणा=दक्षिण में, आदि। अस्तात्यर्थे। दक्षिणा ग्रामात् (सि० कौ०), ग्राम के दक्षिण में। आच्प्रत्ययान्त के योग में अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते (२ ३ २९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

(आहि)—[आहि च दूरे (५ ३ ३७), उत्तराच्च (५ ३ ३८)]।

दक्षिणाहि=दक्षिण में। उत्तराहि=उत्तर में। अस्तात्यर्थे। दक्षिणाहि ग्रामात्, उत्तराहि ग्रामात् (सि० कौ०), ग्राम से दूर दक्षिण में, ग्राम से दूर उत्तर में। इस के योग में भी पूर्ववत् पञ्चमी विभक्ति होती है। उत्तराहि वसन् रामः समुद्रात् (भट्टि० ८ १०७), समुद्र से दूर उत्तर में रहते हुए राम ने।

(असि)—[पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (५ ३ ३९)]।

पुर. (स्)=आगे, सामने, पूर्व में, पूर्व से, पूर्व (अस्तात्यर्थे)। अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम् (रघु० २ ३६)। तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः (शाकुन्तल० ७ ३०), तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः (मेघ० १.३)।

अधः (स्)=नीचे, नीचे में, नीचे से (अस्तात्यर्थे)। इस का पहले स्वरादियों में व्याख्यान किया जा चुका है।

अवः (स्)=न्यून, निम्न, बाह्य आदि (अस्तात्यर्थे)। इस का भी पहले स्वरादियों में व्याख्यान कर चुके हैं।

(धा)—[सङ्ख्याया विधार्थे धा (५.३.४२)]।

एकधा=एक प्रकार से। न एकधा=अनेकधा, नैकधा। जगत्कृत्स्नं प्रविभक्त-मनेकधा (गीता० ११.१३)। अधुनीत खगः स नैकधा (नैषध० २.२)।

द्विधा=दो प्रकार, दो प्रकार से। द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् (मनु० १.३२)। द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः (रघु० १.३९)।

त्रिधा=तीन प्रकार से। एकैव मूर्त्तिर्बिभिदे त्रिधा सा (कुमार० ७.४४)।

चतुर्धा= चार प्रकार से। चतुर्धा विभजात्मानम् आत्मनैव दुरासदे (रामायण० ७.८६.११)। इसी प्रकार—पञ्चधा, षड्धा, षोढा, सप्तधा, अष्टधा, नवधा, बहुधा आदि।

(ध्यमुँञ्)—[एकाद्धो ध्यमुँञन्यतरस्याम् (५.३.४४)]।

ऐकध्यम्=एक बार। ऐकध्यं भुङ्क्ते (काशिका)।

(धमुँञ्)—[द्वित्र्योश्च धमुँञ् (५.३.४५)]।

द्वैधम्=दो प्रकार। श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ (मनु० २.१४)।

त्रैधम्=तीन प्रकार। त्रैधमेव भजति त्रिभिर्गुणैः (माघ० १४.६१)।

(एधाच्)—[एधाच्च (५.३.४६)]।

द्वेधा=दो प्रकार से। वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च। तासु तेष्व-प्यनासक्तः साक्षाद् भर्गो नराकृतिः (कुवलया०)।

त्रेधा=तीन प्रकार से। त्रेधा विभज्य रचितां वहसेऽद्य वेणीम् (चम्पूभारत ६.३०)। तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने (रघु० १०.१६)।

अब इस के आगे याप्ये पाशप् (५.३.४७) सूत्र से पाशप् प्रत्यय का विधान किया जाता है। तसिलादयः प्राक् पाशपः—में पाशप् से पूर्व का ग्रहण होने से पाशप् प्रत्ययान्त की अव्ययसंज्ञा नहीं होती। अत एव - याप्यो (निन्दितो) वैयाकरणः= 'वैयाकरणपाशः' इत्यादियों में सुँप् का लुक् नहीं होता, क्योंकि सुँब्लुक् तो अव्यय से परे ही हुआ करता है। देखें—अव्ययादाप्सुँपः (३७२)।

[ख] शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः॥

(शस् से ले कर समासान्तों से पूर्व तक के प्रत्यय)

(शस्)—[बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् (५.४.४२)]।

बहुशः (स्)=बहुतों को, बहुतों से, बहुतों के लिये आदि। प्रत्येक कारक में प्रयोग होता है। बहूनि ददातीति बहुशो ददाति। बहुभिर्ददातीति बहुशो ददाति। बहुभ्यो

ददातीति बहुशो ददाति। इसी तरह अन्य कारकों में भी समझ लेना चाहिये। एवम्—अल्पशः। भूरिशः। स्तोकशः। आदि। एकशः, द्विशः, त्रिशः, शतशः, सहस्रशः—आदि में सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् (५.४.४३) द्वारा वीप्सा में शस् प्रत्यय होता है। एकशो ददाति—एक एक करके देता है। द्विशो ददाति—दो दो देता है। न एकशः—अनेकशः=अनेक बार, अनेकशो निर्जितराजकस्त्वम् (भट्टि० २.५२)। इसी प्रकार—, पादशो ददाति, कार्षापणशो ददाति। आदि।

(तसिँ)—[प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः (५.४.४४)]।

प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति प्रद्युम्न वासुदेव का प्रतिनिधि है। **अभिमन्युरर्जुनतः प्रति**, अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है। कर्मप्रवचनीय 'प्रति' के योग में जो पीछे (पृष्ठ ५६८ पर) पञ्चमी कह चुके हैं उसी का यहां ग्रहण है।

(तसिँ)—[आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् (वा०)]।

इस वार्तिकद्वारा सब विभक्तियों के अर्थ में तसिँ प्रत्यय होता है अतः इसे 'सार्वविभक्तिकस्तसि' कहा जाता है। यथा—आदौ इति आदितः=आदि में। तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (१.२.३२), आदितः आदावित्यर्थः। मध्ये इति मध्यतः। अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः (महाभारते यक्षोपाख्याने), वृत्तेनेति वृत्ततः। विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः (मनु० २.१५५), ज्ञानेनेति ज्ञानतः, वीर्येणेति वीर्यतः। अस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि (शाकुन्तल० ७), नाम्ना इति नामतः।

(तसिँ)—[अपादाने चाहीयरुहोः (५.४.४५)]।

चौरादिति चौरतो बिभेति। अध्ययनादिति अध्ययनतः पराजयते।

(तसिँ)—[अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्तरि तृतीयायाः (५.४.४६)]।

वृत्ततोऽतिगृह्यते। चारित्रतोऽतिगृह्यते। अन्यानतिक्रम्य वृत्तेन चारित्रेण वा गृह्यत इत्यर्थः। वृत्ततो न व्यथते। वृत्तेन न चलतीत्यर्थः। वृत्ततः क्षिप्तः। वृत्तेन निन्दित इत्यर्थः। इत्यादि।

(च्विँ) [कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः (५.४.५०)]।

अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोतीति शुक्ली[1] करोति। शुक्ली भवति। शुक्ली स्यात्। अस्मद्विना मा भृशम् उन्मनी[2] भूः (किरात० ३.३९)।

(साति)—[विभाषा साति कार्त्स्न्ये (५.४.५२) आदि]।

कृत्स्नम् अनुदकम् उदकं सम्पद्यत इति उदकी भवति, उदकसाद् भवतीति वा। वर्षासु कृत्स्नं लवणपिण्डमुदकसाद् भवति। अग्नी[3] भवति, अग्निसाद् भवति शस्त्रम्।

---

१ च्वौ, तस्य सर्वापहारलोपः, प्रत्ययलक्षणेन तमाश्रित्य अस्य च्वौ (१२४२) इति अकारस्य ईकारः। शुक्लीति पृथक् पदमव्ययम्। अव्ययत्वात् सुपो लुक्।

२ अनुन्मना उन्मना भवतीति विग्रहः। च्वौ सर्वापहारलोपे, अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च (५.४.५१) इति सकारलोपे, अस्य ईत्वे च कृते रूपसिद्धिः।

३. च्व्यन्तमेतद्रूपम्। च्वौ च (१२४५) इति दीर्घः।

(त्रा)—[देये त्रा च (५.४.५५), तदधीनवचने (५.४.५४) आदि]।

ब्राह्मणत्रा करोति। ब्राह्मणाधीनं देयं करोतीत्यर्थः। राजसात् करोति। राजाधीनं करोतीत्यर्थः। राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाध्वराज्योपमयैव राज्यम् (नैषध० ३.२४)।

(डाच्)—[अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् (५.४.५७) इत्यादि]।

पटपटा करोति (पटत् इस प्रकार की ध्वनि करता है)। दमदमा करोति। इन की सिद्धि इस व्याख्या के चतुर्थभागस्थ (१२४६) सूत्र पर देखें।

इस के बाद समासान्त आरम्भ हो जाते हैं। तदन्तों की अव्ययसंज्ञा नहीं होती। यथा—व्यूढोरस्कः।

[ग] अम्। आम्—अम् और आम् प्रत्यय।

(अमुँ)—[अमुँ च च्छन्दसि (५.४.१२)]।

प्रतरं न आयुः (ऋ० ४.१२.६)। वेद में ही प्रयोग होता है।

(आमुँ)—[किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे (५.४.११)]।

किन्तराम्। किन्तमाम्। पचतितराम्। पचतितमाम्। इस का विवेचन इस व्याख्या के चतुर्थभागस्थ (१२२०) सूत्र पर देखें।

[घ] कृत्वोऽर्थाः—कृत्वसुँच् तथा उस के अर्थ वाले प्रत्यय।

(कृत्वसुँच्)—[संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुँच् (५.४.१७)]।

पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते (पांच वार खाता है)। सप्तकृत्वः=सात वार।

(सुँच्)—[द्वित्रिचतुर्भ्यः सुँच् (५.४.१८)]।

द्विर्भुङ्क्ते (दो वार खाता है)। त्रिस्=तीन वार। चतुस्=चार वार। त्रिराचमेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् (मनु० २.६०)।

(सुँच्)—[एकस्य सकृच्च (५.४.१९)]।

सकृत्[1]=एक वार। सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते। सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् (मनु० ९.४७)। न सकृत् असकृत्=वार वार। असकृदेकरथेन तरस्विना (रघु० ९.२३)।

(धा)—[विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले (५.४.२०)]।

बहुधा=थोड़े २ अन्तर पर बहुत वार। बहुधा दिवसस्य भुङ्क्ते (काशिका)। बहुकृत्वो दिवसस्य भुङ्क्ते (काशिका)।

[ङ] तसिँ-वती—तसिँ और वतिँ प्रत्यय।

(तसिँ)—[तेनैकदिक् (४.३.११२), तसिँश्च (४.३.११३)]।

सुदामतः (सु)=जो सुदामन् पर्वत (या मेघ) की दिशा में हो। हिमवत्तः (सु)=जो हिमालय की दिशा में हो। पीलुमूलतः (सु)=जो पीलुमूल की दिशा में हो। ध्यान रहे कि यहां का तसिँ प्रत्यय पीछे शस्प्रभृति में आये तसिँप्रत्यय से नितान्त भिन्न है।

---

१. एकशब्दात्सुँचि एकस्य च सकृदादेशे संयोगान्तलोपे रूपसिद्धिः।

(वतिँ)—[तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५.१.११४)]।

ब्राह्मणेन तुल्यं वर्तते इति ब्राह्मणवद् वर्त्तते। ब्राह्मण जैसा व्यवहार करता है। प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् (चाणक्य०)। गुरुवद् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्। इसी प्रकार—यद्वत्=जैसे, तद्वत्=वैसे, यथावत्=ठीक तरह। आदि।

(वतिँ)—[तत्र तस्येव (५.१.११५)]।

मथुरायामिव स्रुघ्ने प्राकारः—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। मथुरा में जैसे प्राकार है वैसे स्रुघ्न में है। यज्ञदत्तस्येव—यज्ञदत्तवद् देवदत्तस्य दन्ताः। यज्ञदत्त के दान्तों की तरह देवदत्त के दान्त हैं।

(वतिँ)—[तदर्हम् (५.१.११६)]।

राजानमर्हतीति—राजवदस्य पालनं क्रियताम्। ऋषिवदस्य समादरः कर्त्तव्यः।

[च] ना-नाञौ—ना और नाञ् प्रत्यय।

(ना, नाञ्)—[विनञ्भ्यां ना-नाञौ न सह (५.२.२७)]।

विना—बगैर। विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति (पञ्च० १.४१)।

नाना=बगैर। नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा (गणरत्न०)। इन दोनों का उल्लेख पीछे स्वरादिगण में हो चुका है। विशेष वक्तव्य वहीं देखें।

यहां पर तद्धितान्त अव्ययों का वर्णन समाप्त होता है। अब अग्रिम दो सूत्रों द्वारा कृदन्त अव्ययों को प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३६९) कृन्मेजन्तः ।१।१।३८॥

कृद् यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात्। स्मारं स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै॥

अर्थः—मकारान्त कृत्प्रत्यय या एजन्त कृत्प्रत्यय जिस के अन्त में हो उस की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—कृत् ।१।१। मेजन्तः ।१।१। अव्ययम् ।१।१। (स्वरादिनिपातमव्ययम् से)। समासः—म् च एच् च—मेचौ, इतरेतरद्वन्द्वः। मेचौ अन्तौ यस्य स मेजन्तः, बहुव्रीहिसमासः। सौत्रत्वात्कुत्वाभावः। ध्यान रहे कि केवल कृत्प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकता अतः सञ्ज्ञाविधि में भी तदन्तविधि हो कर 'कृत्' से कृदन्त का ग्रहण होता है। अर्थः—(मेजन्तः) मकारान्त या एजन्त (कृत्=कृदन्त) जो कृत्, वह जिस के अन्त में हो ऐसा शब्द (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

णमुँल्, कमुँल्, खमुँञ्, तुमुँन्—ये चार प्रत्यय ही कृत्प्रत्ययों में मान्त होते हैं। इन के उदाहरण क्रमशः यथा—

णमुँल्—स्मारं स्मारम्। स्मृ चिन्तायाम् (भ्वा० प०) धातु से आभीक्ष्ण्ये णमुँल् च (८८५) सूत्रद्वारा णमुँल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा अचो ञ्णिति (१८२) से वृद्धि और रपर करने से—स्मारम्। 'स्मारम्' यह कृदन्त है, इस के अन्त में णमुँल् (अम्) यह कृत्प्रत्यय किया गया है। अतः प्रकृतसूत्र से अव्ययसञ्ज्ञा होने के कारण

कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वेन उत्पन्न सुँप् का अव्ययादाप्सुँपः (३७२) से लुक् हो जाता है। अब नित्यवीप्सयोः (८८६) से द्वित्व हो कर 'स्मारं स्मारम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार—ध्यायं ध्यायम्[1]। ध्यायं ध्यायं परं ब्रह्म स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः। सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यां कुर्मः प्रौढमनोरमाम् (प्रौढमनोरमादौ), परब्रह्म का वार वार ध्यान कर तथा गुरुजी के वचनों का वार वार स्मरण कर मैं (भट्टोजिदीक्षित) सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या प्रौढमनोरमा की रचना करता हूं।

कमुँल्—यह प्रत्यय वेद में ही प्रयुक्त होता है। अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन् (मैत्रा० सं० १.६.४), विभाजम्=विभक्तुमित्यर्थः। यहां विपूर्वक भज् धातु से णमुँल् प्रत्यय किया गया है। अपलुपं नाशक्नोत् (मैत्रा० सं० १.६.५), अपलुपम्=अपलोप्तुमित्यर्थः। अपपूर्वक लुप् धातु से कमुँल् प्रत्यय किया गया है। विभाजम् और अपलुपम् दोनों के अन्त में मकारान्त कृत् है अतः इन की प्रकृतसूत्र से अव्ययसंज्ञा हो कर अव्ययादाप्सुँपः (३७२) से सुँप् का लुक् हो जाता है।

खमुँञ्—चोरङ्कारम् आक्रोशति (तुम चोर हो—ऐसा कह कर गाली देता है)। यहां 'कृ' धातु से कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुँञ् (३.४.२५) सूत्र द्वारा खमुँञ् प्रत्यय किया गया है। मकारान्त कृत् प्रत्यय अन्त में होने के कारण 'चोरङ्कारम्' की अव्ययसंज्ञा हो कर सुँब्लुक् हो जाता है।

तुमुँन्—पठितुम् (पढ़ने के लिये), भवितुम् (होने के लिये)। इन में तुमुँण्ण्वुलौ० (८४९) आदि सूत्रों से तुमुँन् (तुम्) प्रत्यय किया जाता है। मकारान्त कृत् प्रत्यय अन्त में होने के कारण अव्ययसंज्ञा हो कर इन से परे सुँप् का लुक् हो जाता है। अनुवादोपयोगी तीन सौ से अधिक सार्थ तुमुँन्प्रत्ययान्तों का एक बृहत्संग्रह इस व्याख्या के तृतीयभागस्थ (८५०) सूत्र पर दिया गया है वहीं देखें।

ध्यान रहे कि णमुँल् आदि चारों कृत्प्रत्यय अनुबन्धों का लोप हो जाने से मकारान्त हो जाते हैं। यथा—णमुँल्=अम्, कमुँल्=अम्, खमुँञ्=अम्, तुमुँन्=तुम्।

कृत्प्रत्ययों में एजन्तप्रत्यय (एकारान्त, ओकारान्त, ऐकारान्त, औकारान्त) तुमर्थे से-सेन्० (३.४.९) आदि सूत्रों से वेद में विधान किये जाते हैं। तदन्तों की भी प्रकृतसूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है। अव्ययसंज्ञा का प्रयोजन सुँब्लुक् आदि है। तथाहि—

१. से—वक्षे (कहने के लिये)।[2]	३. असे—जीवसे (जीने के लिये)।
२. सेन् (से)=एषे (जाने के लिये)।	४. असेन् (असे)—पूर्वोक्त उदाहरण।

१. इन की पूरी सिद्धि इस व्याख्या के तृतीयभागस्थ (८८६) सूत्र पर देखें।

२. तुमर्थे से-सेन्-असे-असेन्-क्से-कसेन्-अध्यै-अध्यैन्-कध्यै-कध्यैन्-शध्यै-शध्यैन्-तवै-तवेङ्-तवेनः (३.४.९)—वेद में तुमुँन् प्रत्यय के अर्थ में धातु से परे से, सेन्

५ क्से (से)—प्रेषे (भेजने के लिये)।
६. क्सेन् (असे)—श्रियसे (श्रयितुम्)।
७ अध्यै—पृणध्यै (भरने के लिये)।
८ अध्यैन् (अध्यै)—पूर्वोक्त उदाहरण।
९ कध्यै (अध्यै)--आहुवध्यै (आहोतुम्)।
१० कध्यैन् (अध्यै)—पूर्वोक्त उदाहरण।
११. शध्यै (अध्यै)—मादयध्यै (मादयितुम्)।
१२ शध्यैन् (अध्यै)—पिबध्यै (पीने के लिये)।
१३ तवै—दातवै (देने के लिये)।
१४ तवेङ् (तवे)—सूनवे (जनने के लिये)।
१५ तवेन् (तवे)—कर्तवे (करने के लिये)।
१६. कै प्रत्ययान्त—प्रयै (जाने के लिये)।[1]
१७ इध्यै „ —रोहिष्यै (रोढुम्)।
१८ „ „ —अव्यथिष्यै (अव्यथनाय)
१९ के प्रत्ययान्त—दृशे (देखने के लिये)।[2]
२० „ —विख्ये (विख्यातुम्)।
२१ तवै—न म्लेच्छितवै (अपशब्द नहीं बोलने चाहियें)।[3]
२२ केन् (ए)—अवगाहे (अवगाहितव्यम्)।
२३ एश् प्रत्ययान्त—अवचक्षे (अवख्यातव्यम्)।[4]

अब ग्रन्थकार अन्य कृदन्त अव्ययों का निरूपण करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३७०) क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः ।१।१।३९॥

एतदन्तमव्ययम् । कृत्वा । उदेतोः । विसृपः ॥

अर्थः—क्त्वा, तोसुँन् और कसुँन् प्रत्यय जिस के अन्त में हो वह भी अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः ।१।३। अव्ययानि ।१।३। (स्वरादिनिपातमव्ययम् से वचनविपरिणाम द्वारा)। केवल प्रत्यय की सञ्ज्ञा का कुछ भी प्रयोजन न होने से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः) क्त्वा, तोसुँन् या कसुँन् प्रत्यय जिन के अन्त में हों वे शब्द (अव्ययानि) अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं। उदाहरण यथा—

आदि पन्द्रह प्रत्यय होते हैं। इन प्रत्ययों में अनुबन्धभेद स्वरभेद के लिये या गुणवृद्धिनिषेध आदि के लिये समझना चाहिये।

१ प्रयै-रोहिष्यै अव्यथिष्यै (३.४.१०)—तुमुँन् प्रत्यय के अर्थ में प्रयै, रोहिष्यै और अव्यथिष्यै ये तीन कृदन्त शब्द वेद में निपातित किये जाते हैं।

२ दृशे विख्ये च (३.४.११)—तुमुँन् प्रत्यय के अर्थ में दृशे और विख्ये ये दो कृदन्त शब्द वेद में निपातित किये जाते हैं।

३. कृत्यार्थे तवै-केन्-केन्य-त्वनः (३.४.१४)—कृत्यप्रत्ययों के अर्थ में वेद में तवै, केन्, केन्य और त्वन् प्रत्यय धातु से परे होते हैं। तवै और केन् प्रत्यय एजन्त कृत्प्रत्यय हैं अतः एतदन्तों की ही अव्ययसञ्ज्ञा होती है अन्यदन्तों की नहीं।

४ अवचक्षे च (३.४.१५)—कृत्यप्रत्यय के अर्थ में वेद में 'अवचक्षे' यह कृदन्त शब्द निपातित किया जाता है।

क्त्वा (त्वा)—कृत्वा, पठित्वा, भूत्वा, गत्वा आदि। यहां **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७९) सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो जाता है। अतः क्त्वाप्रत्ययान्त होने के कारण इन की प्रकृतसूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है। अव्ययसंज्ञा का प्रयोजन सुँब्लुक् (३७२) आदि होता है।

तोसुँन् (तोस्)—उदेतोः (उदय होने तक), प्रवदितोः (बोलने तक), प्रचरितोः (चलने तक) आदि। यहां **भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुँन्** (३.४.१६) सूत्र द्वारा तोसुँन् (तोस्) प्रत्यय हो जाता है। अतः इन की अव्ययसंज्ञा हो जाती है।

कसुँन् (अस्)—विसृपः, आतृदः। यहां **सृपितृदोः कसुँन्** (३.४.१७) सूत्र-द्वारा कसुँन् प्रत्यय हो जाता है। अतः प्रकृतसूत्र से तदन्तों की अव्ययसंज्ञा हो जाती है।

क्त्वा, तोसुँन् और कसुँन् इन तीन प्रत्ययों में तोसुँन् और कसुँन् केवल वेद में तथा क्त्वा प्रत्यय लोक और वेद दोनों में समानरूप से प्रयुक्त होता है। ये तीनों प्रत्यय भी कृत्संज्ञक हैं।

अब अव्ययीभावसमास की भी अव्ययसंज्ञा करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(३७१) **अव्ययीभावश्च** ।१।१।४०॥

अधिहरि॥

अर्थः- अव्ययीभावसमास भी अव्ययसंज्ञक होता है।

व्याख्या—अव्ययीभावः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अव्ययम् ।१।१। (**स्वरादिनिपातमव्ययम्** से)। अर्थः—(अव्ययीभावः) अव्ययीभावसमास (च) भी (अव्ययम्) अव्ययसंज्ञक होता है।

अव्ययीभावसमास का विवेचन इस व्याख्या के समासप्रकरण में किया गया है वहीं देखें। उदाहरण यथा—

अधिहरि [हरौ—इत्यधिहरि, हरि में]। यहां विभक्त्यर्थ में **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि०** (९०८) सूत्र द्वारा अव्ययीभावसमास हो कर समासकार्य करने पर 'अधिहरि' शब्द निष्पन्न होता है[1]। इस की प्रकृतसूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है अतः समासत्व के कारण प्रातिपदिक से उत्पन्न सुँ—सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है। इसी प्रकार—'यथाशक्ति' आदियों में समझ लेना चाहिये।

अब अव्ययसंज्ञा करने के मुख्य प्रयोजन सुँब्लुक् का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३७२) **अव्ययादाप्सुँपः** ।२।४।८२॥

अव्ययाद्विहितस्य आपः सुँपश्च लुक्। तत्र शालायाम्॥

---

१. इस की सम्पूर्ण सिद्धि अव्ययीभावसमास प्रकरण में देखें।

अर्थः—अव्यय से विधान किये गये आप् (टाप् आदि स्त्रीप्रत्ययों) तथा सुँप् प्रत्ययों का लुक् हो जाता है।

व्याख्या—अव्ययात् ।५।१। आप्सुँप ।६।१। लुक् ।१।१। (ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः से)। आप् च सुँप् च आप्सुँप्, तस्य=आप्सुँप, समाहारद्वन्द्वः। **अर्थः**—(अव्ययात्) अव्यय से विधान किये गये (आप्सुँप) आप् और सुँप् प्रत्यय का (लुक्) लुक् हो जाता है। आप् से टाप्, डाप्, चाप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का तथा सुँप् से सुँ, औ, जस आदि का ग्रहण होता है। उदाहरण यथा—

तत्र शालायाम् (उस शाला में)। यहां 'तत्र' यह अव्यय 'शाला' इस स्त्रीलिङ्गी पद का विशेषण है अतः इस से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) द्वारा टाप् प्रत्यय हो कर प्रकृतसूत्र से लुक् हो जाता है।

सुँप का लुक् तो प्रत्येक अव्यय से होता ही है—च+सुँ=च। वा+सुँ=वा। इस सूत्र पर विशेष विचार सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्याओं में देखें।

अब अव्यय का लक्षण करने के लिये एक प्राचीन श्लोक (गोपथब्राह्मण की ब्रह्मपरक श्रुति) उद्धृत करते हैं—

[लघु०]   सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥

अर्थः—जो तीनों लिङ्गों, सब विभक्तियों और सब वचनों में विकार को प्राप्त नहीं होता—एक जैसा रहता है—बदलता नहीं, वह अव्यय कहाता है।

व्याख्या—अव्ययम् यह अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुसारिणी संज्ञा है। नास्ति व्ययः =विनाशः=विकृतिर्यस्य यस्मिन् वा तद् अव्ययम्। जिस में किसी प्रकार की विकृति न हो—प्रत्येक अवस्था में एक जैसा स्वरूप रहे उसे अव्यय कहते हैं। इसी लक्षण को ऊपर के श्लोक में और अधिक परिष्कृत किया गया है। श्लोक में 'विभक्ति' से तात्पर्य कर्म आदि कारक और 'वचन' से एकत्व, द्वित्व, बहुत्व का ग्रहण समझना चाहिये।

अब 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के विषय में भागुरि आचार्य का मत दर्शाते हैं—

[लघु०]   वष्टि[1] भागुरिरल्लोपम् अवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥

वगाहः। अवगाहः। पिधानम्। अपिधानम् ॥

अर्थः—भागुरि आचार्य 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के (आदि) अकार का लोप चाहते हैं तथा हलन्त शब्दों से स्त्रीत्वबोधक 'आप्' प्रत्यय भी विधान करना चाहते हैं।

---

१. वष्टेश्छान्दसत्वेन प्रयोगश्चिन्त्य इति नागेशः। एतज्ज्ञापकाद् भाषायामप्यस्य प्रयोग इति तत्त्वबोधिनी-बालमनोरमाकारादयः।

व्याख्या—भागुरि आचार्य सम्भवतः पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरण हो चुके हैं। जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में उन के अनेक मन्तव्यों का उल्लेख किया है। परन्तु अष्टाध्यायी में पाणिनि ने उन के मत का कहीं उल्लेख नहीं किया। भागुरि के मत में 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के आदि अकार का लोप हो जाता है[1]। अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) वगाहः, अवगाहः (स्नान आदि)। अवपूर्वक गाह् (गाहूँ विलोडने, भ्वा० आ०) धातु से भाव आदि में घञ् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'अवगाहः' प्रयोग सिद्ध होता है। परन्तु भागुरि आचार्य के मत मे 'अव' उपसर्ग के अकार का लोप हो कर—'वगाहः' प्रयोग बनता है। हमें सब आचार्य मान्य हैं अतः लोक में 'अवगाहः, वगाहः' दोनों प्रयोग मान्य हैं। इसी प्रकार शिष्टप्रयोगानुसार अन्य प्रत्ययों में भी समझ लेना चाहिये। साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—**सुभगसलिलाऽवगाहाः** (शाकुन्तल० १.३)। **जलावगाहक्षणमात्रशान्ता** (रघु० ५.४७)। **दग्धानामवगाहनाय विधिना रम्यं सरो निर्मितम्** (शृङ्गारतिलक)। **पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य** (कुमार० १.१)। **तमोऽपहन्त्री तमसां वगाह्य** (रघु० १४.७६)। **सुरभीकृतमपि नीरं वगाहमानमत्तमतङ्गजमदधाराभिः कटूकुर्वन्** (शिवराज० २)।

इसी प्रकार—अवतंसः—वतंसः (कर्णभूषण या शिरोभूषण, श्रेष्ठ)। **यैर्वतंसकुसुमैः प्रियमेताः** (माघ० १०.६७)। **पित्तेन दूने रसने सितापि तिक्तायते हंसकुलावतंस** (नैषध० ३.९४)। अवस्था—वस्था (हालत, दशा)। **कुम्भोऽप्येतां पितुरुपनतां वीक्ष्य वस्थां वपुष्मान्** (महावीर० ६.४४)। **अवस्था वस्तूनि प्रथयति च सङ्कोचयति च** (नीति० ३६)। अवक्रयः - वक्रयः (मूल्य)। अवक्रीयतेऽनेनेति अवक्रयः, **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (८७२) इति घः। **मूल्यं वस्नोऽप्यवक्रय** इत्यमरः। भागुरिमतेऽकारलोपे वक्रयः। **मूल्ये वस्नाऽर्घ-वक्रया** इति हेमचन्द्रः। अवक्रमः—वक्रमः (आप्टे०)।

(२) पिधानम्, अपिधानम् (ढांपना या ढक्कन)। अपिपूर्वक धा (**डुधाञ् धारण-पोषणयोः**, जुहो० उ०) धातु से भाव या करण में ल्युट् प्रत्यय करने पर **युवोरनाकौ** (७८५) सूत्र से यु को अन आदेश हो कर विभक्ति लाने से 'अपिधानम्' प्रयोग निष्पन्न होता है। भागुरि आचार्य के मत में 'अपि' के अकार का लोप हो कर—'पिधानम्' बनेगा। हमें सब आचार्य मान्य हैं अतः लोक में 'अपिधानम्, पिधानम्' दोनों प्रयोग चलते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रत्ययों में भी शिष्टप्रयोगानुसार जान लेना चाहिये। 'अपि' के अकारलोप के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—**गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्त्तते। कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः** (मनु० २.२००)। **भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति** (रघु० १.८०)। **अधित काऽपि मुखे सलिलं सखी प्यधित कापि सरोजदलैः स्तनौ** (नैषध० ४.१११)। लोपाभाव पक्ष में भी प्रयोग

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि 'अपि' के साहचर्य के कारण 'अव' के भी आद्य अकार का ही लोप होता है अन्त्य का नहीं।

उपलब्ध होते हैं—अपिधाय बिलद्वारं गिरिशृङ्गेण तत्तदा (रामायण० ४ १० ५)। व्यमति मधुपसमूहे श्रवणमपिदधाति (गीत० ५ ३)।

इसी प्रकार—नह् (णह बन्धने, दिवा० उ०) धातु के साथ प्रायः 'अपि' के अकार का लोप देखा जाता है—मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा (शाकुन्तल० ७ २)। कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्त्रोदरेण (शाकुन्तल० १ १९)। कवचं पिनह्य (भट्टि० ३ ४७)। पिनह्य तानि पुष्पाणि केशेषु वरवर्णिनी (महाभारत० १३ ४२ ६)। लोपाभाव में भी—अभिजानामि पुष्पाणि तानीमानीह लक्ष्मण। अपिनद्धानि वैदेह्या मया दत्तानि कानने (रामायण० ३ ६४ २७)।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि भागुरि का यह मत हम यहां विस्तृत रूप से नहीं लेना चाहिये। अतः यह विकल्प हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है बल्कि कुछ शिष्टप्रयोगों तक ही सीमित है। पाणिनीयमत में भागुरिसम्मत प्रयोगों को पृषोदरादित्वेन सिद्ध किया जा सकता है।

किञ्च—हलन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्गबोधक आप् (टाप्) हो' यह भी भागुरि आचार्य चाहते हैं। पाणिनि के मत में हलन्त शब्दों से टाप् का विधान करने वाला कोई सूत्र नहीं अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा। उदाहरण यथा—

१ वाच् (वाणी)	भागुरिमते—वाच् + आ (आप्) = वाचा।[1]
२ निश् (रात्रि)	भागुरिमते—निश् + आ (आप्) = निशा।[2]
३ दिश् (दिशा)	भागुरिमते—दिश् + आ (आप्) = दिशा।[3]
इसी प्रकार—	
४ क्षुध् (भूख)	भागुरिमते—क्षुध् + आ (आप्) = क्षुधा।[4]
५ गिर् (वाणी)	भागुरिमते—गिर् + आ (आप्) = गिरा।[5]
६ तृष् (प्यास, लोभ)	भागुरिमते—तृष् + आ (आप्) = तृषा।[6]
७ रुज् (पीडा)	भागुरिमते—रुज् + आ (आप्) = रुजा।[7]
८ मुद् (प्रसन्नता)	भागुरिमते—मुद् + आ (आप्) = मुदा।[8]

१ ब्राह्मी वाणी वचनं वाचा जल्पितं गदितं गिरा—इति शब्दार्णवः। तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणेन लिवुभिर्वाचाभिः स्वजीवितार्थं दत्तम् (पञ्च० ४)।

२ या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी (गीता० २ ६९)। निशाकर, निशाचर आदि शब्द इसी से बनते हैं। दिवा-विभा-निशा० (३.२ २१)।

३ दिशागजस्तु तच्छ्रुत्वा प्रत्याहानुमतो वचः (रामायण० १.४१ ९)।

४. स्त्रीरत्नं विविधान् भोगान् वस्त्राण्याभरणानि च। न चेच्छति नरः किञ्चित् क्षुधया कलुषीकृतः (वह्निपुराण, प्रेतोपाख्यान)।

५. तां गिरां कर्णौ श्रुत्वा (दशरथविलापनाटकम्, शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत)।

६. लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् (हितोप० १ १४२)।

७ निपातात्तव शस्त्राणां शरीरे याऽभवद् रुजा (महाभारत० ८ ३८ १४९)।

८. तत्पार्श्ववर्त्तिनी कन्या शुश्रावाथ मुदावती (मार्कण्डेयपु० ११६.३०)।

९. प्रतिपद् (पड़वा तिथि) भागुरिमते—प्रतिपद्+आ (आप्)=प्रतिपदा।[1]

१०. वीरुध् (विस्तृत बेल) भागुरिमते—वीरुध्+आ (आप्)=वीरुधा।[2]

इत्थम्—दृग्—दृगा (नेत्र); शुच्—शुचा (शोक); रुष्—रुषा (क्रोध; विपद्—विपदा (विपत्ति); आपद्—आपदा; रुच्—रुचा (कान्ति); मृद्—मृदा (मिट्टी); त्वच्—त्वचा (चमड़ी); त्विष्—त्विषा (कान्ति); ऋच्—ऋचा (ऋग्मन्त्र) आदि समझने चाहियें।

परन्तु शेखरकार श्रीनागेश इस आप् वाले पक्ष को अप्रामाणिक मानते हैं। विशेष जिज्ञासु उन का मत वहीं देखें।

[लघु०] इत्यव्ययप्रकरणं समाप्तम्॥

इति सुबन्तम्॥

इति पूर्वार्धम्॥

अर्थः—यहां अव्ययप्रकरण और इस के साथ सुबन्तप्रकरण समाप्त होता है। किञ्च ग्रन्थ का पूर्वार्ध भी यहां समाप्त समझना चाहिये।

अभ्यास (४९)

(१) 'मिथो' का स्वरादिगण में पाठ उपयुक्त है या नहीं, विवेचन करें।

(२) तद्धितश्चासर्वविभक्तिः सूत्रगत 'असर्वविभक्तिः' को स्पष्ट करते हुए यह बताएं कि इस सूत्र के रहते परिगणन की क्या ज़रूरत है?

(३) उपसर्गप्रतिरूपक तथा विभक्तिप्रतिरूपकों का सोदाहरण विवेचन करें।

(४) निम्नस्थ अव्ययों को सार्थ सोदाहरण स्पष्ट करें तथा इन की अव्यय-संज्ञा करने वाला सूत्र भी अर्थसहित लिखें—
अथ, पठितुम्, परस्तात्, स्थाने, अलम्, नाना, विसृपः, यर्हि, पुरा, अस्ति, ऐषमः, अन्तरा, चिरम्, सार्धम्, कच्चित्, परुत्, जीवसे, खलु, प्रसह्य, यथाशक्ति, किल, सनुतर्।

(५) 'परिगणनं कर्तव्यम्' कह कर किन२ प्रत्ययों का परिगणन किया है?

(६) स्वर्, अन्तर्, प्रातर् यदि सकारान्त हों तो क्या अनिष्ट होगा?

(७) भागुरि के मत में निम्नस्थों का क्या रूप होगा सोदाहरण लिखें—
क्षुध्, वाच्, अपिधानम्, प्रतिपद्, मुद्, अवगाहः, निश्।

(८) मान्त कृत्प्रत्यय कौन २ से हैं? तदन्तों की अव्ययसंज्ञा कैसे होती है?

(९) अव्ययसंज्ञा की अन्वर्थता सिद्ध कर अव्यय का सार्थ लक्षण लिखें।

(१०) 'यत्र' का पाठ चादियों में क्यों किया गया है?

---

१. देवानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणां च सत्तम। आदौ प्रतिपदा येन त्वमुत्पन्नोऽसि पावक (वराहपुराण, महातपोपाख्यान, अग्न्युत्पत्तिनामाध्याय)।

२. श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् (अथर्व० ६.२१.२)।

(११) निम्नस्थ प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर दें—

(क) चादयोऽसत्त्वे में 'असत्त्वे' क्यों कहा गया है ?

(ख) 'चण्' और 'च' में तथा 'नञ्' और 'न' में अन्तर बताएं।

(ग) तिर कृत्वा और तिरःकृत्य में प्रक्रिया-भेद स्पष्ट करें।

—— . ० . ——

शून्य-वेद-नभो-नेत्रे वैक्रमे शुभवत्सरे।
आश्विनस्य सिते पक्षे परिबृंहितरूपधृक् ॥१॥

सर्वत्र शोधितो यत्नाद् बहुत्र परिवर्धितः।
समापन्ननवाऽऽकारः पुनराद्य प्रकाशितः ॥२॥

पूर्वमुद्रितभागेऽस्मिन् सशुद्धि-परिवर्धने।
विदुषा लेखकेनैव कृते नाऽन्येन केनचित् ॥३॥

श्रमस्यास्य महन्मूल्यं ज्ञास्यन्ति वीतमत्सराः।
रत्नस्यार्घे प्रमाणं हि ज्ञातारो न पृथग्जनाः ॥४॥

विद्वत्सु छात्रवर्गेषु गवेषणपरेषु च।
आदरं प्राप्नुयान्नूनं मत्कृतिः पूर्वतोऽधिकम् ॥५॥

द्वितीयावृत्ति { आश्विन २०४०, वैक्रमाब्द / अक्तूबर सन् १९८३ }

इति भूतपूर्वाखण्ड-भारतान्तर्गत-सिन्धुतटवर्त्ति-डेराइस्माईलखाना-
ख्यनगरवास्तव्य-भाटियावंशावतंस-स्वर्गत-श्रीमद्रामचन्द्र-
वर्मसूनुना एम्० ए० साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधि-
भृता वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्याया-
मव्ययप्रकरणं पूर्त्तिमगात्।

[समाप्तञ्चात्र पूर्वाऽर्धम् ॥]

[शुभम्भूयादध्यायकानामध्यापकानाञ्च ॥]

(१) परिशिष्ट—विशेष-स्मरणीय-पद्यतालिका

[भैमीव्याख्या-प्रथमभागस्थ दर्जनों पद्यों में से व्याकरणसम्बन्धी कुछ विशेष स्मरणीय पद्य यहां प्रस्तुत किये गये हैं ।]

(१) प्रत्ययाः शिवसूत्राणि आदेशा आगमास्तथा ।
धातुपाठो गणे पाठ उपदेशाः प्रकीर्तिताः ।। (पृष्ठ ८)

(२) परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाऽण्ग्रहा मताः ।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ।। (पृष्ठ २९)

(३) संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ।। (पृष्ठ ३५)

(४) द्वौ नञौ तु समाख्यातौ पर्युदास-प्रसज्यकौ ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ।। (पृष्ठ ३८)

(५) तुम्बिकातृणकाष्ठञ्च तैलं जलमुपागतम् ।
स्वभावादूर्ध्वमायाति रेफस्यैतादृशी गतिः ।। (पृष्ठ ५४)

(६) अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाऽङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः ।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ।। (पृष्ठ ६१)

(७) ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ।। (पृष्ठ ९०)

(८) अच्छौ अचच्छा अचशा अशाविति चतुष्टयम् ।
रूपाणामिह तुक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात् ।। (पृष्ठ १३१)

(९) सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः ।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः ।। (पृष्ठ १५६)

(१०) विद्वान्कीदृग्वचो ब्रूते को रोगी कश्च नास्तिकः ।
कस्याश्चन्द्रं न पश्यन्ति सूत्रं तत्पाणिनेर्वद ।। (पृष्ठ १६०)

(११) जकारश्च शकारश्च टकारश्च ङ्पावपि ।
सुङस्योरुदितौ चैव सुपि सप्त स्मृता इतः ।। (पृष्ठ १९१)

(१२) सकारो जश्शसोरोसि ङसि भ्यसि न चेड्ङसि ।
मकारश्च तथा ज्ञेय आमि भ्यामि स्थितस्त्वमि ।। (पृष्ठ १९२)

(१३) संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिध्यति ।
रात्तु तेनैव लोपः स्याद् हलस्तस्माद्विधीयते ।। (पृष्ठ २३०)

(१४) लक्ष्म्या वै जायते भानुः सरस्वत्यापि जायते ।
अत्र षष्ठीपदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः ।। (पृष्ठ २८१)

(१५) एकोना विंशतिः स्त्रीणां स्नानार्थं सरयूं गता ।
विंशतिः पुनरायाता एको व्याघ्रेण भक्षितः ।। (पृष्ठ २८१)

(१६) अवी-तन्त्री-स्तरी-लक्ष्मी-तरी-धी-ह्री-श्रियां भियः ।
अङ्यन्तत्वात् स्त्रियामेषां न सुलोपः कदाचन ॥ (पृष्ठ ३०६)

(१७) पाणिनेर्न नदी गङ्गा यमुना च स्थली नदी ।
प्रभु स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत् ॥ (पृष्ठ ३०६)

(१८) पीलुर्वृक्षः फलं पीलु पीलुने न तु पीलवे ।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः ॥ (पृष्ठ ३४३)

(१९) इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥ (पृष्ठ ३७०)

(२०) काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नासि बाले किमिदं विचित्रम् ।
विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह ॥ (पृष्ठ ३९३)

(२१) पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च षष्ठीप्रथमयोरपि ।
यान्यद्विवचनान्यत्र शेषे-लोपो विधीयते ॥ (पृष्ठ ४२२)

(२२) जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ्-चकास्तथा ।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ॥ (पृष्ठ ४५५)

(२३) सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम् ।
माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः ॥
(पृष्ठ ४७१)

(२४) जायन्ते नव सौ, तथामि च नव, भ्याम्भिस्भ्यसां सङ्गमे,
षट् संख्यानि, नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि ।
चत्वार्यन्यवचःसु कस्य विबुधाः! शब्दस्य रूपाणि तज्
जानन्तु प्रतिभास्ति चेन्निगदितुं षाण्मासिकोऽत्रावधिः ॥ (पृष्ठ ५०४)

(२५) गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागति-भेदतः ।
असन्ध्यवद्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥ (पृष्ठ ५०४)

(२६) राम सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग्धिक् ।
अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तञ्च धिग्धिक् ॥
(पृष्ठ ५३०)

(२७) अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तञ्चादिकर्मणि ।
सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्यते ॥ (पृष्ठ ५४६)

(२८) सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ (पृष्ठ ५८०)

(२९) वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥ (पृष्ठ ५८०)

(२) परिशिष्ट—ग्रन्थ-संकेत-तालिका

[इस व्याख्या में प्रायः ग्रन्थों का पूरा नाम दिया गया है। क्वचित् जो ग्रन्थ-संकेत दिये गये हैं उन की तालिका यहां प्रस्तुत की जा रही है।]

अथर्व० = अथर्ववेद
अमरु० = अमरुशतक
आप० ध० = आपस्तम्बधर्मसूत्र
ऋ० = ऋग्वेद
ऋतु० = ऋतुसंहार
उत्तरराम० = उत्तररामचरित
ऐ० ब्रा० = ऐतरेयब्राह्मण
कठोप० = कठोपनिषत्
कथासरित्० = कथासरित्सागर
काव्यप्र० = काव्यप्रकाश
किरात० = किरातार्जुनीय
कुमार० = कुमारसम्भव
कुवलया० = कुवलयानन्द
कौषी० ब्रा० = कौषीतकिब्राह्मण
गणरत्न० = गणरत्नमहोदधि
गीत० = गीतगोविन्द
गीता० = श्रीमद्भगवद्गीता
चर्पट० = चर्पटपञ्जरिका
चाणक्य० = चाणक्यनीतिकथा (लुडविक)
चौरपञ्चा० = चौरपञ्चाशिका
तै० उ० = तैत्तिरीयोपनिषत्
दशकु० = दशकुमारचरित
देवीक्षमा० = देवीक्षमापनस्तोत्र
द्व्या० = द्व्याश्रयकाव्य
नागानन्द० = नागानन्दनाटक
नीति० = नीतिशतक (भर्तृहरि)
न्यायद० वा०भा० = न्यायदर्शनवात्स्यायन०
पञ्च० = पञ्चतन्त्र
बृ० उ० = बृहदारण्यकोपनिषत्
भट्टि० = भट्टिकाव्य
भामिनी० = भामिनीविलास
मनु० = मनुस्मृति
महावीर० = महावीरचरित
मालती० = मालतीमाधव
मालविका० = मालविकाग्निमित्र
मार्कण्डेयपु० = मार्कण्डेयपुराण
मुण्डकोप० = मुण्डकोपनिषत्
मुद्रा० = मुद्राराक्षस
मृच्छ० = मृच्छकटिक
मेघ० = मेघदूत
मैत्रा० सं० = मैत्रायणीसंहिता
मोहमुद्गर० = मोहमुद्गरस्तोत्र
यजु० = यजुर्वेद
याज्ञ० = याज्ञवल्क्यस्मृति
रघु० = रघुवंश
रामचरित० = रामचरित (युवराजकवि)
लौकिक० = भुवनेशलौकिकन्यायसाहस्री
वामनवृत्ति० = काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
विक्रमो० = विक्रमोर्वशीय
वेणी० = वेणीसंहार
वैराग्य० = वैराग्यशतक (भर्तृहरि)
व्या० च० = व्याकरणचन्द्रोदय
व्या० सि०सु० = व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि
शत० ब्रा० = शतपथब्राह्मण
शिवराज० = शिवराजविजय
शृङ्गार० = शृङ्गारशतक (भर्तृहरि)
श्वेता० = श्वेताश्वतरोपनिषत्
समयोचित० = समयोचितपद्यमालिका
सांख्यका० = सांख्यकारिका
साहित्य० = साहित्यदर्पण
सि० कौ० = वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
सुभाषित० = सुभाषितरत्नभाण्डागार
सुभाषितसुधा० = सुभाषितसुधानिधि
स्वप्न० = स्वप्नवासवदत्त (भास)
हितोप० = हितोपदेश

(३) परिशिष्ट—अव्यय-तालिका

[इस ग्रन्थ मे व्याख्यात अव्ययो की वर्णानुक्रमणिका यहा दी गई है।]

१ अ (५४८)
२ अकस्मात (५५६)
३ अकाण्डे (५५३)
४ अग्निमात्(५७४)
५ अग्नी (५७४)
६ अघो (५५१)
७ अङ्ग (५४६)
८ अजस्रम् (५३३)
९ अञ्जसा (५३२)
१० अत (५६६,५६७)
११ अति (५६५)
१२ अतीव (५५४)
१३ अत्र (५६८)
१४ अथ(५३०,५४४)
१५ अथकिम् (५६१)
१६ अथवा (५६१)
१७ अथो (५४४)
१८ अद्धा (५२२)
१९ अद्य (५७०)
२० अद्यापि (५५५)
२१ अधरात् (५७२)
२२ अधरेद्यु (५७०)
२३ अधरेण (५७२)
२४ अध ५२०, ५७३)
२५ अधस्तात् (५७१)
२६ अधि (५६३)
२७ अधिहरि (५७६)
२८ अधुना (५६६)
२९ अधोऽध (५२०)
३० अध्ययनत (५७४)
३१ अनिशम् (५३३)
३२ अनु (५६३)
३३ अनेकधा (५७३)
३४ अनेकश (५७४)
३५ अन्त (५१५)
३६ अन्तरा (५२३)
३७ अन्तरेण (५२४)
३८ अन्यत (५६७)
३९ अन्यत् (५२६)
४० अन्यत्र (५६८)
४१ अन्यथा (५७०)
४२ अन्यदा (५६९)
४३ अन्यद्यु (५७०)
४४ अन्वक् (५६१)
४५ अप (५६५)
४६ अपरेद्यु (५७०)
४७ अपलुपम् (५७७)
४८ अपि (५६४)
४९ अपिवा (५६१)
५० अभि (५६४)
५१ अभित (५६७)
५२ अभीक्ष्णम (५२९)
५३. अमा (५५४)
५४ अमुत्र (५६८)
५५ अम्(५३०,५७५)
५६ अयि (५५०)
५७ अय (५४९)
५८ अरम् (५६२)
५९ अरे (५५१)
६० अरेरे (५५१)
६१ अर्जुनत (५७४)
६२ अलम् (५२६)
६३ अल्पश (५७४)
६४. अवगाहे (५७८)
६५ अवचक्षे (५७८)
६६ अवदत्तम् (५४५)
६७ अवरत (५७१)
६८ अव (५२०,५७३)
६९ अवश्यम् (५३४)
७० अव्यथिष्यै(५७८)
७१ अष्टधा (५७३)
७२ असकृत् (५७५)
७३ असाम्प्रतम् ५३४)
७४ अस्ति (५२६)
७५ अस्तु (५५६)
७६ अस्मि (५४७)
७७ अह (५३७)
७८ अहम् (५४६)
७९ अहह (५५१)
८० अहो (५५१)
८१. अह्नाय (५६०)
८२ आ (५४८)
८३ आ(ङ्) (५६३)
८४ आत (५५०)
८५ आतृद (५७६)
८६ आदह (५४५)
८७ आदित (५७४)
८८ आम् ५३१, ५७५)
८९ आरात् (५१८)
९० आर्यहलम् (५२९)
९१. आवि (५३३)
९२ आ (५६०)
९३ आहुवध्यै (५७८)
९४ आहो (५५४)
९५ आहोस्वित्(५५४)
९६ इ (५४८)
९७ इतरेद्यु (५७०)
९८ इत (५६७)
९९ इति (५५७)

१००. इत् (५५२)
१०१. इत्थम् (५७०)
१०२. इदानीम् (५६९)
१०३. इद्धा (५२१)
१०४. इवं (५५७)
१०५. इह (५६८)
१०६. ई (५४८)
१०७. ईषत् (५१९)
१०८. ऊ (५४८)
१०९. उच्चैः (५१७)
११०. उत (५५२)
१११. उताहो (५५४)
११२. उत्तरतः (५७१)
११३. उत्तरत्र (५६८)
११४. उत्तरात् (५७२)
११५. उत्तराहि (५७२)
११६. उत्तरेण (५७२)
११७. उत्तरेद्युः (५७०)
११८. उदकसात् ५७४)
११९. उदकी (५७४)
१२०. उदेतोः (५७९)
१२१. उन्मनी (५७४)
१२२ उप (५६५)
१२३. उपजोषम् ५६२)
१२४. उपधा (५२३)
१२५. उपरि (५७१)
१२६. उपरिष्टात् ५७२
१२७. उपर्युपरि (५७२)
१२८. उपांशु (५२७)
१२९. उभयतः (५६७)
१३०. उभयत्र (५६८)
१३१. उभयथा (५७०)
१३२. उभयद्युः (५७०)
१३३. उभयेद्युः (५७०)
१३४. उपा (५२३)
१३५. ऊ (५४८)
१३६. ऋते (५१७)
१३७. ऋधक् (५१७)
१३८. ऋषिवत् (५७६)
१३९. ए (५४८)
१४०. एकत्र (५६८)
१४१. एकदा (५६९)
१४२. एकधा (५७३)
१४३. एकपदे (५५०)
१४४. एकशः (५७४)
१४५. एतर्हि (५६९)
१४६ एव (५३७)
१४७. एवम् (५३७)
१४८ एषे (५७७)
१४९ ऐ (५४८)
१५० ऐकध्यम् (५७३)
१५१. ऐषमः (५७०)
१५२. ओ (५४८)
१५३. ओम् (५३३)
१५४. औ (५४८)
१५५. कच्चित् (५४०)
१५६. कथञ्चन (५७१)
१५७ कथञ्चित् ५७१)
१५८. कथमपि (५७०)
१५९. कथम् (५७०)
१६०. कथंकथमपि ५७१
१६१. कथा (५७१)
१६२ कदा (५६९)
१६३. कदाचन (५६९)
१६४. कदाचित् (५६९)
१६५. कदापि (५६९)
१६६. कम् (५२४)
१६७. कर्तवे (५७८)
१६८. कर्हि (५६९)
१६९. कर्हिचित् ५६९)
१७०. कस्मात् (५६१)
१७१. कामम् (५३२)
१७२. कार्षापणशः ५७४
१७३. किञ्च (५६०)
१७४. किन्तमाम् ५७५)
१७५. किन्तराम् ५७५)
१७६. किमङ्ग (५४९)
१७७. किमपि (५५३)
१७८. किमिति (५५३)
१७९. किमिव (५५३)
१८०. किमु (५५३)
१८१. किमुत (५५३)
१८२. किम् (५५३)
१८३. किम्पुनः (५१६)
१८४ किल (५४४)
१८५. कु (५३४)
१८६. कुतः (५६७)
१८७. कुत्र (५६८)
१८८. कुवित् (५३९)
१८९ कुह (५६८)
१९०. कूपत् (५३९)
१९१. कृतम् (५३३)
१९२. कृत्वा (५७९)
१९३. क्व (५६८)
१९४. क्वचित् (५६९)
१९५. क्वापि (५६९)
१९६. क्षत्त्रियवत् ५२२)
१९७. क्षमा (५२७)
१९८. खलु (५४३)
१९९. गत्वा (५७९)
२००. गुरुवत् (५७६)
२०१. च (५३६)
२०२. चतुर्धा (५७३)
२०३. चतुः (५७५)
२०४. च(ण्) (५३९)

२०५ चन (५५३)
२०६ चारित्रत ५७४)
२०७ चित (५५३)
२०८ चिरम् (५१६)
२०९ चिररात्राय ५३५
२१० चिरस्य (५३५)
२११ चिरात् (५३५)
२१२ चिराय (५३४)
२१३ चिरे (५३५)
२१४ चिरेण (५३४)
२१५ चेत (५३६)
२१६ चोरङ्कारम ५७७
२१७ चौरत (५७४)
२१८ जातु (५५२)
२१९ जीवम (५७७)
२२० जोषम (५१६)
२२१ ज्ञानत (५७४)
२२२ ज्योक् (५२४)
२२३ झटिति (५३२)
२२४ तत (५६७)
२२५ तत्र (५६८)
२२६ तथा (५७०)
२२७ तथाहि (५४३)
२२८ तदपि (५६०)
२२९ तदा (५६९)
२३० तद (५५८)
२३१ तद्वत (५७६)
२३२ तस्मा (५३०)
२३३ तर्हि (५६९)
२३४ तस्मात् (५६०)
२३५ तावत् (५४२)
२३६ तिर (५२३)
२३७ तु (५५५)
२३८ तुम (५४३)
२३९ तूष्णीम् (५१६)
२४० ते (५५६)
२४१ तेन (५५६)
२४२ त्वै (५४२)
२४३ त्रिधा (५७३)
२४४ त्रिश (५७४)
२४५ त्रि (५७५)
२४६ त्रेधा (५७३)
२४७ त्रैधम् (५७३)
२४८ दक्षिणत (५७१)
२४९ दक्षिणा (५७२)
२५० दक्षिणात् (५७२)
२५१ दक्षिणाहि ५७२)
२५२ दक्षिणेन (५७२)
२५३ दमदमा (५७५)
२५४ दातवै (५७८)
२५५ दिवा (५१८)
२५६ दिष्टया (५५८)
२५७ दुष्ठु (५३४)
२५८ दृशे (५७८)
२५९ दोषा (५२७)
२६० द्य (५५०)
२६१ द्राक् (५३२)
२६२ द्विधा (५७३)
२६३ द्विश (५७४)
२६४ द्वि (५७५)
२६५ द्वेधा (५७३)
२६६ द्वै (५४२)
२६७ द्वैधम् (५७३)
२६८ धिक् (५३०)
२६९ धिग्धिक् (५३०)
२७० ध्यायध्याय ५७७
२७१ न (५२१)
२७२ नकि (५४१)
२७३ नकीम् (५४१)
२७४ नक्तम् (५२१)
२७५ न(ञ्) (५२१)
२७६ ननु (५५६)
२७७ नम (५२६)
२७८ नवधा (५७३)
२७९ नह (५४०)
२८० नहि (५५२)
२८१ नाना (५२५)
२८२ नाम (५५७)
२८३ नामत (५७४)
२८४ नास्ति (५५६)
२८५ निकषा (५२०)
२८६ नीचै (५१७)
२८७ नु (५५८)
२८८ नूनम् (५३७)
२८९ नेत् (५३६)
२९० नैकधा (५७३)
२९१ नो (५५२)
२९२ नोचेत् (५५२)
२९३ न्वै (५४२)
२९४ पचतितमाम्५७५
२९५ पचतितराम्५७५
२९६ पञ्चकृत्व ५७५
२९७ पञ्चधा (५७३)
२९८ पटपटा (५७५)
२९९ पठितुम् (५७७)
३०० पठित्वा (५७६)
३०१ परत (५७१)
३०२ परश्व (५६२)
३०३ परस्तात् (५७१)
३०४ परारि (५७०)
३०५ परि (५६५)
३०६ परित (५६७)
३०७ परुत् (५७०)
३०८ परेद्यवि (५७०)
३०९ पशु (५४८)

३१०. पश्च (५७२)
३११. पश्चा (५७२)
३१२. पश्चात् (५७२)
३१३. पाट् (५४९)
३१४. पादशः (५७४)
३१५. पिबध्यै (५७८)
३१६. पीलुमूलतः५७५)
३१७. पुत् (५५०)
३१८. पुनरपि (५१६)
३१९. पुनः (५१६)
३२०. पुनःपुनः (५१६)
३२१. पुरतः (५६१)
३२२. पुरः (५७२)
३२३. पुरस्तात् (५७१)
३२४. पुरा (५२८)
३२५. पूर्वत्र (५६८)
३२६. पूर्वेद्युः (५७०)
३२७. पृथक् (५१८)
३२८. पृथक्पृथक् ५१८)
३२९. पृणध्यै (५७८)
३३०. प्याट् (५४९)
३३१. प्रकामम् (५३३)
३३२. प्रगे (५६२)
३३३. प्रचरितोः ५७९)
३३४. प्रतरम् (५७५)
३३५. प्रतान् (५३१)
३३६. प्रताम् (५३१)
३३७. प्रशाम् (५३१)
३३८. प्रति (५६४)
३३९. प्रत्यक् (५७१)
३४०. प्रत्युत (५५३)
३४१. प्रभृति (५५५)
३४२. प्रवदितोः(५७९)
३४३. प्रवाहिका ५२९)
३४४. प्रवाहुकम् ५२९)
३४५. प्रयै (५७८)
३४६. प्रशान् (५३१)
३४७. प्रसह्य (५५९)
३४८. प्राक् (५७१)
३४९. प्रातः (५१६)
३५०. प्रादुः (५३३)
३५१. प्रायः (५२८)
३५२. प्रायशः (५६१)
३५३. प्रायेण (५६१)
३५४. प्रेत्य (५६१)
३५५. प्रेषे (५७८)
३५६. बत (५५५)
३५७ बदि (५३३)
३५८. बलवत् (५६०)
३५९. बहिः (५२०)
३६०. बहुकृत्वः(५७५)
३६१. बहुत्र (५६८)
३६२ बहुधा (५७५)
३६३. बहुशः (५७३)
३६४. ब्राह्मणत्रा(५७५)
३६५. ब्राह्मणवत् ५२२)
३६६. भगोः (५५१)
३६७. भवतु (५६०)
३६८. भवितुम् (५७७)
३६९. भूत्वा (५७९)
३७०. भूयः५३२,५३८)
३७१. भूयोभूयः(५३८)
३७२. भूरिशः (५७४)
३७३. भो (५४९)
३७४. भोः (५४९)
३७५. मङ्क्षु (५३२)
३७६. मथुरावत् ५७६)
३७७. मध्यतः (५७४)
३७८. मनाक् (५१९)
३७९. मम (५५९)
३८०. मा (५३१)
३८१. माकिः (५४०)
३८२. माकीम् (५४१)
३८३. माङ्५३१,५४१)
३८४. मादयध्यै(५७८)
३८५. मा स्म (५३२)
३८६. मित्रवत् (५७६)
३८७. मिथः (५२८)
३८८. मिथुः (५३४)
३८९. मिथु (५३४)
३९०. मिथो (५२८)
३९१. मिथ्या (५२७)
३९२. मुधा (५२७)
३९३. मुहुर्मुहुः (५२९)
३९४. मुहुः (५२९)
३९५. मृषा (५२७)
३९६. मे (५५९)
३९७. म्लेच्छितवै५७८)
३९८. यज्ञदत्तवत्५७६)
३९९. यतः (५६७)
४००. यत्र५४०,५६८)
४०१. यथा (५७०)
४०२ यथाकथाच ५४९
४०३. यथावत् (५७६)
४०४. यथाशक्ति(५७९)
४०५. यदपि (५५९)
४०६. यदा (५६९)
४०७. यदि (५६०)
४०८. यदिवा (५६१)
४०९. यद् (५५८)
४१०. यद्वत् (५७६)
४११. यद्यपि (५६१)
४१२. यद्वा (५६१)
४१३. यर्हि (५६९)
४१४. यस्मात् (५६०)
४१५. यावत् (५४१)
४१६. युगपत् (५१८)
४१७. युत् (५५०)
४१८. येन (५५९)

४१९ रहं (५६२)
४२० राजवत् (५७६)
४२१ राजसात (५७५)
४२२ रात्रौ (५१८)
४२३ रे (५५०)
४२४ रे रे (५५०)
४२५ रै (५८२)
४२६ रोहिष्यै (५७८)
४२७ व (५६०)
४२८ वक्षे (५७७)
४२९ वत (५२२ ५७५)
४३० वदि (५३२)
४३१ वरम (५३३)
४३२ वषट (५२६)
४३३ वस्तुत (५६१)
४३४ वा (५३६)
४३५ वाम (५५९)
४३६ वारंवारम् ५६१
४३७ वासुदवत ५७४
४३८ विध्य (५७८)
४३९ विना (५२५)
४४० विभाजम ५७७)
४४१ विषु (५५०)
४४२ विसृप (५७९)
४४३ विहायसा (५२७)
४४४ वीयत (५७४)
४४५ वृत्तत (५७४)
४४६ वृथा (५२१)
४४७ वै (५६०)
४४८ वौषट (५२६)
४४९ शकम् (५४८)
४५० शनश (५७४)
४५१ शनैं (५१७)
४५२ शनैंशनैं ५१७)
४५३ शम (५२५)
४५४ शश्वत (५३८)
४५५ शुवम (५४८)
४५६ शुव नी (५७४)
४५७ शुदि (५३३)
४५८ शुभम (५४६)
४५९ श्रियसे (५७८)
४६० श्रौपट (५२६)
४६१ श्व (५१८)
४६२ षडधा (५७३)
४६३ षोढा (५७३)
४६४ सकृत (५७५)
४६५ सत्रा (५३२)
४६६ सदा (५६६)
४६७ सद्य (५७०)
४६८ सनत (५२३)
४६९ सना (५२२)
४७० सनात (५२३)
४७१ सनुत (५१६)
४७२ सपदि (५३२)
४७३ सप्तकृत्व ५७५)
४७४ सप्तधा (५७३)
४७५ समन्तत (५६०)
४७६ समन्तात (५६०)
४७७ समम (५३२)
४७८ समया (५२०)
४७९ समुपजोषम ५६२
४८० सम्प्रति (५३४)
४८१ सम्वत (५६७)
४८२ सर्वत (५६८)
४८३ सर्वथा (५७०)
४८४ सर्वदा (५६९)
४८५ सह (५५२)
४८६ सहसा (५२५)
४८७ सहस्रश (५७४)
४८८ सवत (५३२)
४८९ साकम् (५२९)
४९० साक्षात (५३३)
४९१ साचि (५३३)
४९२ सामि (५२२)
४९३ साम्प्रतम् (५३४)
४९४ सायम् (५१९)
४९५ साधम् (५२९)
४९६ सु (५३४)
४९७ सुदामत (५७५)
४९८ सुदि (५३३)
४९९ सुष्ठु (५३४)
५०० सूतवे (५७८)
५०१ सूपत (५३९)
५०२ स्तोकश (५७४)
५०३ स्थाने (५३३)
५०४ स्म (५४५)
५०५ स्मारस्मारम५७६
५०६ स्नाव् (५६२)
५०७ स्वधा (५२५)
५०८ स्वयम् (५२०)
५०९ स्व (५१५)
५१० स्वस्ति (५२५)
५११ स्वाहा (५४३)
५१२ स्वित (५५४)
५१३ ह (५३७)
५१४ हन्त (५४०)
५१५ हहो (५५१)
५१६ हा (५५१)
५१७ हि (५५६)
५१८ हिमवत्त (५७५)
५१९ हिरुक् (५३०)
५२० ही (५६०)
५२१ हे (५४९)
५२२ हेतौ (५३१)
५२३ है (५४९)
५२४ ह्य (५१८)

---

(४) परिशिष्ट---पूर्वार्धगताष्टाध्यायीसूत्रतालिका

[सूत्रों के आगे इस ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या दी गई है ।]

[अ]

अ इ उ ण् (२)
अकः सवर्णे० (७३)
अचि र ऋतः (३०३)
अचि श्नुधातु० (२४६)
अचोऽन्त्यादि० (६६)
अचो ञ्णिति (२३२)
अचो रहाभ्यां० (६५)
अचः (४४१)
अच्च घेः (२२५)
अट्कुप्वाङ्० (१७७)
अणुदित्० (२६)
अतो गुणे (३७१)
अतो भिस ऐस् (१८०)
अतोऽम् (३२१)
अतो रोरप्लु० (१४५)
अत्रानुनासिकः० (१३३)
अत्वसन्तस्य० (४५१)
अदर्शनं लोपः (८)
अदस औ सु० (४७३)
अदसो मात् (८४)
अदसोऽसेर्दादु० (४७४)
अदेङ् गुणः (४६)
अद्ड् डतरा० (३२८)
अनङ् सौ (२२७)
अनचि च (३८)
अनाप्यकः (३७२)
अनिदितां हल० (४४०)
अनुनासिकात्० (१३४)
अनुस्वारस्य० (१२०)
अनेकाल्शित्० (७८)
अन्तरं बहिर्यो० (२०६)
अन्तादिवच्च (७१)
अपृक्त एकाल्० (२२८)
अपो भि (४८८)
अप्तृन्तृच्० (२६३)
अमि पूर्वः (१७५)
अम्बार्थ० (२४५)
अम्संबुद्धौ (३६०)
अर्थवदधातु० (१५६)
अर्वणस्त्रसा० (३६६)
अलोऽन्त्यस्य (४३)
अलोऽन्त्यात्० (२२८)
अल्लोपोऽनः (३३८)
अवङ् स्फोटा० (७६)
अव्ययादाप्सुपः (५७६)
अव्ययीभावश्च (५७६)
अष्टन आ विभ० (४०१)
अष्टाभ्य औश् (४०२)
अस्थिदधि० (३३८)
अहन् (४६८)

[आ]

आकडारादेका० (२१८)
आङि चापः० (२८७)
आङो नास्त्रियाम् (२२४)
आङ्माङोश्च (१४१)
आच्छीनद्योर्नुम् (५०६)
आटश्च (२४६)
आणनद्याः (२४६)
आतो धातोः (२१६)
आदिरन्त्येन० (६)
आदेशप्रत्यययोः (१८६)
आदेः परस्य (११२)
आद् गुणः (५१)
आद्यन्तवदेक० (३७४)
आद्यन्तौ० (१२७)
आमि सर्व० (१६६)
आ सर्वनाम्नः (४५८)

[इ]

इकोऽचि वि० (३३४)
इको यणचि (३४)
इकोऽसवर्णे० (६४)
इग्यणः संप्र० (३५६)
इतोत्सर्वनाम० (३६७)
इदमो मः (३७०)
इदुद्भ्याम् (३०१)
इदोऽय् पुंसि (३७१)
इन्द्रे च (८१)
इन्हन्पूषा० (३८५)

[ई]

ईदूदेद् द्वि० (८३)

[उ]

उगिदचां सर्व० (३६१)
उच्चैरुदात्तः (१४)
उद ईत् (४४३)
उदः स्था० (११०)
उपदेशेऽजनु० (५२)
उपसर्गादृति० (६५)
उपसर्गाः क्रिया० (६४)
उभे अभ्यस्तम् (४५३)
उरण्रपरः (५३)

[ऊ]

ऊकालोज्झ्रस्व० (१३)

[ऋ]

ऋलृक् (२)
ऋत उत् (२६५)
ऋतो ङि० (२६२)
ऋत्यकः (६६)
ऋत्विग्दधृक्० (४०५)
लृ० प्र० (३८)

ऋदुशनस्० (२६३)
ऋत्व्येभ्यो० (३१५)

[ए]

एओङ् (२)
एकवचनस्य च (४७६)
एकवचन सबु० (१७२)
एकाचो बशो० ३५२)
एकजु...० (३८६
एङ पदा... ० (९४)
एङि प ... (८८
एङ्ह्रस्वात० (१७४)
एच ...० (३४६
एनोऽयवायाव (४६)
एत ईद ब०० (४७४)
एतत्तदो सु० (१५३)
एत्येधत्यूठसु (५६)
एरनेका ०० (२५०)

[ऐ]

ऐ औ च (२)

[ओ]

ओत (६१)
ओमाङोश्च (७०)
ओमि च (१८८)
ओ सुपि (२७०)

[औ]

औङ आप (२८६)
औतोऽम्शसो (२८२)
औत् (२३४)

[क]

कपय (२)
कानाम्रेडिते (१३६)
किम क (३६६)
कुप्वो ≍क ≍पौ (१३७)
कृत्तद्धित० (१६१)
कृदतिङ् (६०७)
कृन्मेजन्त (५७६)

क्त्वातोसुन्० (५७८)
क्विन्प्रत्ययस्य० (४०८)

[ख]

खफछठथचटतव् (२)
खरवसानयोर्० (१३४)
खरि च (११४)
ख्यत्यात्परस्य (२३३)

[ग]

गतिश्च (२५५)
गोतो णित् (२८१)

[घ]

घढधष् (२)
घेर्ङिति (२२४)

[ङ]

ङमो ह्रस्वाद० (१३१)
ङसिङसोश्च (२२५)
ङसिङ्यो स्मात् (१६५)
ङिच्च (७६)
ङिति ह्रस्वश्च (२६६)
ङेप्रथमयोरम् (४२०)
ङेराम्नद्याम्० (२४७)
ङेर्य (१८०)
ङ्णो कुँक्० (१२८)
ङ्याप्प्राति० (१६३)

[च]

चतुरनडुहो० (३५६)
चादयोऽसत्त्वे (८८)
चुटू (१७१)
चो कु (४१०)
चौ (४४२)

[छ]

छे च (१४०)

[ज]

जक्षित्यादय.० (४५४)
जबगडदश् (२)

जराया जरसन्य (२१२)
जश्शसो शि (३२३)
जसि च (२२२)
जस शी (१६४)

[झ]

झभञ् (२)
झयो होन्य० (११६)
झरो झरि० (११३)
झला जशोन्ते (१०५)
झला जश्झशि (४१)

[ञ]

ञमङणनम् (२)

[ट]

टाङसिङसाम्० (१७६)
टे (३२६)

[ड]

डति च (२३६)
ड सि धुँट् (१२६)

[ढ]

ढ्लोपे पूर्वस्य० (१५१)

[त]

तदो स साव० (४१७)
तद्धितश्चा० (५६५)
तपरस्तत्काल० (५०)
तवममौ ङसि (४३०)
तस्माच्छसो न ०(१७६)
तस्मादित्यु० (१११)
तस्मिन्निति० (३५)
तस्य परमा० (१३८)
तस्य लोप (८)
तिरसस्तिर्य० (४४५)
तुभ्यमह्यौ० (४२८)
तुल्यास्य० (१६)
तृज्वत्क्रोष्टुः (२६२)
तृतीयादिषु भा० (३४०)

तेमयावेक० (४३५)
तोलि (१०६)
तोः षि (१०४)
त्यदादिषु० (४५७)
त्यदादीनामः (२४१)
त्रिचतुरोः० (३०३)
त्रेस्त्रयः (२४०)
त्वमावेकवचने (४२४)
त्वामौ द्विती० (४३५)
त्वाहौ सौ (४२०)

[थ]

थो न्थः (३६८)

[द]

दश्च (३७२)
दादेर्धातोर्घः (३५१)
दिव उत् (३६४)
दिव औत् (३६३)
दीर्घाज्जसि च (२१५)
दूराद्धूते च (८१)
द्वितीयाटौस्० (३७६)
द्वितीयायां च (४२५)
द्व्येकयोर्द्वि० (१६६)

[ध]

धात्वादेः षः सः (३५५)

[न]

न ङिसम्बु० (३७६)
न चवाहा० (४३८)
न तिसृचतसृ (३०४)
न पदान्ताट्टोर० (१०२)
नपरे नः (१२५)
नपुंसकस्य झल० (३२४)
नपुंसकाच्च (३२२)
न भूसुधियोः (२५७)
न मु ने (४७७)
न लुमताङ्गस्य (२३८)
नलोपः प्राति० (२३१)
नलोपः सुप्स्वर० (३८१)
न विभक्तौ तुस्माः (१७२)
नशेर्वा (४५६)
नश्च (१२६)
नश्चापदा० (१२०)
नश्छव्य० (१३६)
न षट्स्वस्रा० (३१७)
न सम्प्रसारणे० (३६५)
न संयोगाद्० (३८४)
नहि-वृति-वृषि० (४८०)
नहो धः (४८०)
नाञ्चेः पूजा० (४४६)
नादिचि (१७०)
नाम्यन्ताच्छतु (४५४)
नामि (१८५)
निपात एका० (८६)
नीचैरनुदात्तः (१४)
नुम्विसर्ज० (४६४)
नृ च (२८०)
नॄन्पे (१३७)
नेदमदसो० (३७५)
नेयङुवङ्० (३१२)
नोपधायाः (४००)

[प]

पञ्चम्या अत् (४२६)
पतिः समास० (२३४)
पथिमथ्यृभु० (३६७)
पदान्तस्य (१३६)
पदान्ताद्वा (१४०)
परश्च (१६३)
परः सन्नि० (३१)
पश्चार्थैश्चा० (४३८)
पादः पत् (४३८)
पुमः खय्यम्० (१३५)
पुंसोऽसुङ् (४६८)
पूर्वत्रासिद्धम् (५६)
पूर्वपरावर० (२०२)
पूर्वादिभ्यो नव० (२०६)
प्रत्ययलोपे० (२३८)
प्रत्ययस्य लुक्० (२३७)
प्रत्ययः (१६३)
प्रथमचरम० (२०८)
प्रथमयोः पूर्व० (१६६)
प्रथमायाश्च० (४२३)
प्रादयः (८८)
प्लुतप्रगृह्या० (८२)

[ब]

बहुगणवतु० (२३६)
बहुवचनस्य वस्० (४३४)
बहुवचने झ० (१८३)
बहुषु बहु० (१७०)

[भ]

भस्य टेर्लोपः (३६८)
भूवादयो० (६४)
भोभगो० (१४७)
भ्यसो भ्यम् (४२८)

[म]

मघवा बहुलम् (३६१)
मय उञो वो० (६३)
मिदचोऽन्त्यात्० (३२४)
मुखनासिका० (१७)
मोऽनुस्वारः (११६)
मो नो धातोः (३६६)
मो राजि समः० (१२२)

[य]

यचि भम् (२१७)
यथासंख्यमनु० (४७)
यरोऽनुनासिके० (१०७)
यस्मात्प्रत्यय० (१७३)
यस्येति च (३२२)

[illegible] (२८३)
[illegible] (४०६)
[illegible] (८८३)
[illegible] (७३३)
[illegible] (४८३)
[illegible] (८३०)
[illegible] (८८८)
[illegible] (२८८)
[illegible] (८८३)
[illegible] (८८४)

[र]

[illegible] (३३६)
[illegible] (२३६)
[illegible] (२८८)
[illegible] (१४२)
[illegible] (१८६)
[illegible] (३६८)
[illegible] (८८३)

[ल]

[illegible] (२)
[illegible] (१८६)
[illegible] (४४)

[व]

[illegible] (२८२)
[illegible] (३६०)
[illegible] (४६६)
[illegible] (३४३)
[illegible] (१०५)
[illegible] (४८)
[illegible] (१२३)
[illegible] (३१३)
[illegible] (३१०)
[illegible] (१८३)
[illegible] (१४३)
[illegible] (३४३)

[illegible] (१४२)
[illegible] (१३१)
विभाषा ङिश्योः (२३६)
[illegible] (२६८)
[illegible] (२६५)
[illegible] (१६३)
[illegible] (८६५)
[illegible] (१३३)
[illegible] (१८३)
[illegible] (५३)
[illegible] (७३)
[illegible] (८०३)
[illegible] (४१२)

[श]

[illegible] (३०३)
[illegible] (३६८)
[illegible] (११३)
[illegible] (२)
[illegible] (४२६)
[illegible] (६६)
[illegible] (१३०)
[illegible] (३२२)
[illegible] (४२१)
[illegible] (२२३)
[illegible] (३६३)

[ष]

[illegible] (३६६)
[illegible] (२३३)
[illegible] (२०१)
[illegible] (४००)

[स]

[illegible] (२३१)
[illegible] (१४)
[illegible] (४४८)
[illegible] (१३३)
[illegible] (१६८)

[illegible] (७६)
[illegible] (२२८)
[illegible] (१६४)
[illegible] (२६२)
[illegible] (१६३)
[illegible] (१८४)
[illegible] (८८४)
[illegible] (३६३)
[illegible] (४४०)
[illegible] (४३१)
[illegible] (३४६)
[illegible] (२१६)
[illegible] (१३६)
[illegible] (१६४)
[illegible] (३१)
[illegible] (१४४)
[illegible] (३८४)
[illegible] (३४८)
[illegible] (२८६)
[illegible] (६१)
[illegible] (४२)
[illegible] (४१४)
[illegible] (६८)
[illegible] (३१४)
[illegible] (३१०)
[illegible] (१८१)
[illegible] (३३)
[illegible] (४६०)
[illegible] (२०४)
[illegible] (३३३)
[illegible] (११४)
[illegible] (२१६)
[illegible] (१६२)

[ह]

[illegible] (२)
[illegible] (४)

हलि लोपः (३७३)
हलि सर्वेषाम् (१४८)
हलोऽनन्तराः० (३१)
हल् (२)
हल्ङ्याब्भ्यो० (२२६)
हशि च (१४६)
हे मपरे वा (१२३)
हो ढः (३४६)
हो हन्तेर्० (३८७)
ह्रस्वनद्या० (१८५)
ह्रस्वस्य गुणः (२२२)
ह्रस्वो नपुंस० (३३२)

(५) परिशिष्ट—पूर्वार्धगत-वार्तिकादि-तालिका

[यहां पूर्वार्धमूलगत वार्तिकों तथा उणादि, गण और इष्टिसूत्रों की तालिका दी गई है। इन के आगे इस ग्रन्थ की पृष्ठसंख्या निर्दिष्ट है।]

अक्षादूहिन्याम्० (६१)
अध्वपरिमाणे च (४८)
अनाम्नवति० (१०३)
अन्तरं बहिर्० (१६३)
अन्वादेशे नपुं० (४६६)
अस्य सम्बु० (४७०)
आकृतिगणो० (६७)
उपसर्गविभक्ति० (५४५)
ऋलृवर्णयोर्० (२०)
ऋते च तृती० (६२)
ऋवर्णान्नस्य० (२७५)
एकतरात्प्रति० (३३१)
एते वान्नावाद० (४३७)
औङः श्यां० (३२३)
गतिकारके० (२५६)
ङावुत्तरपदे० (३८०)
चयो द्वितीयाः० (१२८)
छत्वममीति (११८)
तीयस्य ङित्सु० (२१०)
दन्करपुनः० (२७३)
द्विपर्यन्तानाम्० (२४१)
न समासे (६६)
नुमचिर० (२६७)
परौ व्रजेः षः० (४१४)
पूर्वपरावर० (१६३)
प्रत्यये भाषा० (१०८)
प्रथमलिङ्ग० (२४५)
प्रवत्सतर० (६३)
प्रादूहोढो० (६१)
यणः प्रतिषे० (४४)
यवलपरे० (१२३)
वृद्धौत्व० (३३६)
शकन्ध्वादिषु० (६७)
समानवाक्ये० (४३६)
संपुंकानां सो० (१३५)
संबुद्धौ नपुं० (४६६)
स्पर्शस्यैव इष्यते (१०१)
स्वमज्ञाति० (१६३)

(६) परिशिष्ट—सुबन्त-शब्द-तालिका

[निम्नस्थ शब्दों की रूपमाला तथा सुबन्तप्रक्रिया के लिये आगे पृष्ठसंख्या देखें।]

अग्निमथ् (४३६)
अतिचमू (२६६)
अतिलक्ष्मी (२४८)
अदस् (पुं०) (४७३)
अदस् (स्त्री०) (४६१)
अदस् (नपुं०) (५१३)
अधर (२०८)
अनडुह् (३५८)
अनेहस् (४७१)
अन्तर (२०८)
अन्य (पुं०) (२००)
अन्यतर (२००)
अपर (२०७)
अप् (४८७)
अम्बा (२६७)
अर्ध (२१०)
अर्यमन् (३६०)
अर्वन् (३६६)
अल्प (२१०)
अवर (२०७)
अष्टन् (४०१)
अस्मद् (४१६)
अहन् (४६७)
आशिष् (४६१)
इतर (२०१)
इदम् (पुं०) (३७०)
इदम् (स्त्री०) (४८४)
इदम् (नपुं०) (४६६)
उखास्रस् (३६२)
उत्तर (२०७)

उत्तरपूर्वा (२६४)
उदच् (४४३)
उदञ्च् (४४८)
उपानह् (४८१)
उभ (१६८)
उभय (१६६)
उल्लू (२७१)
उशनस् (४७०)
उष्णिह् (४८१)
ऊर्ज् (५००)
ऋत्विज् (४०६)
ऋभुक्षिन् (३६७)
एक (२०२)
एकतर (३३१)
एतद् (पु०) (४१६)
एतद् (स्त्री०) (४८७)
एतद् (नपु०) (५०१)
कतर (पु०) (२००)
कतर (नपु०) (३२८)
कति (२३६)
कतिपय (२१०)
करभू (२७३)
किम् (पु०) (३६६)
किम् (स्त्री०) (४८४)
किम् (नपु०) (४६६)
क्रुञ्च् (४४८)
क्रोष्टु (पु०) (२६२)
क्रोष्टु (स्त्री०) (३१५)
खञ्ज् (४११)
खलपू (२७०)
गिर् (४८२)
गुप् (४५७)
गो (२८१)
गोअञ्च् (गतौ) (५०१)
गोअञ्च् (पूजा) (५०२)
गोपा (२६८)
गौरी (३०५)
ग्रामणी (२५३)
ग्लौ (२८४)
घृतस्पृश् (४६१)
चतुर् (पु०) (३६६)
चतुर् (स्त्री०) (४८३)
चतुर् (नपु०) (४६५)
चरम (२०६)
चिकीर्ष् (४६५)
जक्षत् (४५५)
जरा (२६७)
ज्ञान (३२१)
तद् (पु०) (४१८)
तद् (स्त्री०) (४८६)
तद् (नपु०) (५००)
तादृश (४५८)
तादृश् (४५८)
तिर्यच् (४४६)
तिर्यञ्च् (४४८)
तुदत् (५०६)
तुरासाह् (३६२)
त्यद् (पु०) (४१७)
त्यद् (स्त्री०) (४८६)
त्रि (पु०) (२४०)
त्रि (स्त्री०) (३०३)
त्रि (नपु०) (३३३)
त्व (२०१)
त्विष् (४६०)
दक्षिण (२०७)
दण्डिन् (४६८)
ददत् (पु०) (४५४)
ददत् (नपु०) (५०५)
दधि (३३८)
दधृष् (४६१)
दशन् (४०४)
दिव् (४८२)
दिश् (४८६)
दीव्यत् (५०८)
दुह् (३५१)
दृन्भू (२७२)
दृश् (४८६)
देवेज (४१३)
द्यो (३१६)
द्रुह् (३५४)
द्वि (पु०) (२४१)
द्वि (स्त्री०) (३०५)
द्वि (नपु०) (३३२)
द्वितय (२०६)
द्वितीय (२११)
द्वितीया (२६६)
धनुष् (५१०)
धातृ (पु०) (२७४)
धातृ (नपु०) (३४८)
धीमत् (४५१)
धेनु (३१४)
नवन् (४०४)
नश् (४६०)
निर्जर (२१२)
नी (२५३)
नृ (२८०)
नेम (२१०)
नौ (३१६)
पचत् (५०७)
पञ्चन् (३६६)
पति (२३४)
पथिन् (३६७)
पपी (२४३)
पयस् (५१२)
पयोमुच् (४४६)
पर (२०७)

परिव्राज् (४१४)
पर्णध्वस् (३६२)
पितृ (२७९)
पिपठिष् (४६३)
पुनर्भू (२७३)
पुर् (४८३)
पुंस् (४६९)
पूर्व (२०७)
पूषन् (३८९)
प्रत्यच् (४४२)
प्रत्यञ्च् (४४७)
प्रथम (२०९)
प्रद्यो (३४६)
प्रधी (२४९)
प्ररै (३४७)
प्रशाम् (३६९)
प्राच् (४४१)
प्राञ्च् (४४७)
प्रियत्रि (२४१)
बहुश्रेयसी (२४४)
ब्रह्मन् (३८४)
भवत् (४५२)
भवत् (४५२)
भूपति (२३५)
भृस्ज् (४१५)
भ्रातृ (२८०)
भ्रू (३१६)
मघवन् (३९१)
मति (२९९)
मथिन् (३९७)
मधु (३४३)
महत् (४५०)
मातृ (३१८)
मुह् (३५५)
यज्वन् (३८३)
यद् (पुं०) (४१८)
यद् (नपुं) (५०१)
यवक्री (२५५)
यशस्विन् (३९०)
युज् (४०९)
युवन् (३९५)
युष्मद् (४१९)
रत्नमुष् (४६२)
रमा (२८५)
राजन् (३७९)
राज् (४११)
राम (१६७)
रै (पुं०) (२८३)
रै (स्त्री०) (३१९)
लक्ष्मी (३०९)
लिह् (३४९)
वधू (३१७)
वर्षाभू (२७२)
वाच् (४८७)
वारि (३३३)
वार् (४९५)
विद्वस् (४६६)
विभ्राज् (४१२)
विश् (४५९)
विश्व (१९७)
विश्वपा (२१५)
विश्वराज् (४१४)
विश्ववाह् (३५६)
विश्वसृज् (४१३)
वृत्रहन् (३८५)
वेधस् (४७२)
शकृत् (५०५)
शम्भु (२६०)
शार्ङ्गिन् (३८७)
शुद्धधी (२५६)
श्री (३११)
श्रीपा (३३१)
श्रेयस् (पुं०) (४६८)
श्वन् (३९४)
षष् (४६२)
सखि (२२७)
सजुष् (४९०)
सध्र्यच् (४४५)
सध्र्यञ्च् (४४८)
सर्व (१९४)
सर्वा (२९२)
सिम (२०१)
सुखी (२५८)
सुती (२५८)
सुदिव् (३६३)
सुधी (पुं०) (२५७)
सुधी (नपुं०) (३४०)
सुनौ (३४८)
सुपथिन् (४९९)
सुपाद् (४३८)
सुपुंस् (५१३)
सुयुज् (४१०)
सुलू (पुं०) (२७१)
सुलू (नपुं०) (३४३)
सुश्री (२५४)
स्त्री (३१०)
स्नुह् (३५५)
स्व (२०८)
स्वनडुह् (४९४)
स्वभू (२७१)
स्वयम्भू (३१७)
स्वसृ (३१७)
हरि (२२१)
हाहा (२२०)
हूहू (२६९)

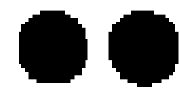
(७) परिशिष्ट—परिभाषा-न्यायादि-तालिका

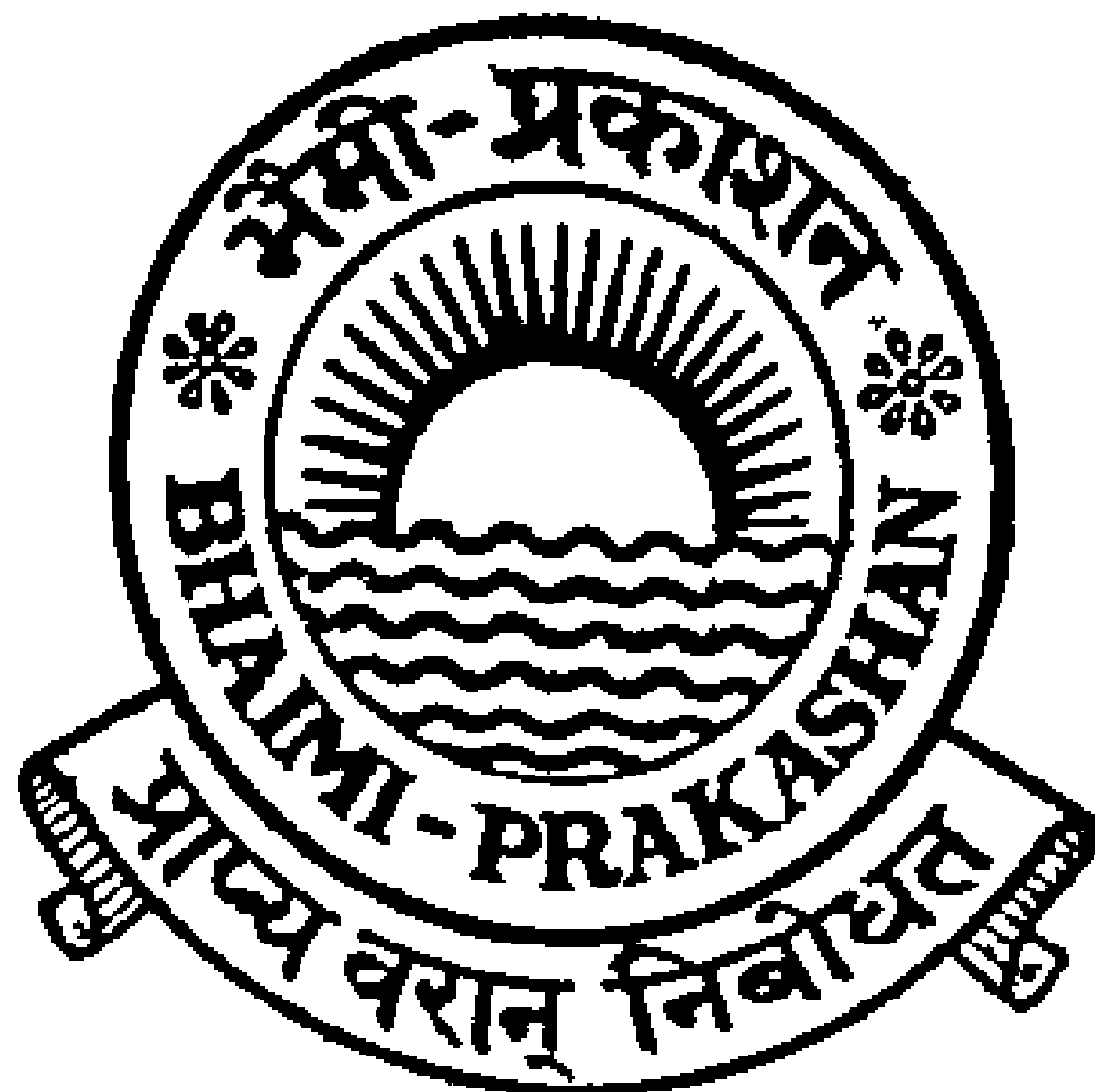
[व्याख्या वा मूलगत परिभाषाओं, न्यायों, पङ्क्तिकाओं तथा विशेष स्मरणीय वचनों की यहां तालिका दी जा रही है। ध्यान रहे कि इन को हृदयंगम कर लेने पर ही संस्कृत-व्याकरण में निष्णातता प्राप्त की जा सकती है।]

अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः (४६७)
अक्षौहिणी-प्रमाणम् (६१)
अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तौ अविधिर्० (४२८)
अच परस्यैव झलो नुम्विधानम् (२२४)
अज्झीनं परेण संयोज्यम् (४४)
अत एव गोपकादन्यस्य यण ० (३९५)
अतिदेशः (सिंहो माणवक) (२३२)
'अत्रैवाण्परेण णकारेण' विवेचन (२९)
अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रति० (४५३)
अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चान० (३९०)
अनुस्वारयमाना च नासिका० (२१)
अनेकाल्परिभाषाविवेचन (७८)
अन्तरतमपरिभाषाविवेचन (३७)
अन्तादिवद्भाव (अन्तादिवच्च) (७१)
अन्यत्राप्यनवकाशयोर् (१५२)
'अन्वादेश' सोदाहरणविवेचन (३७७)
अपवादो वचनप्रामाण्यात् (१००)
अभ्यार्थं द्व्यक्षरं यदि (२९७)
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रय० (२१)
अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं० (१३०)
अलोऽन्त्यपरिभाषाविवेचन (४३)
अवी-तन्त्री स्तरी-लक्ष्मी० (३०९)
अष्टम्य इति वक्तव्ये कृतात्वं० (४०२)
असति माद्ग्रहण एकारोऽप्यनु० (८७)
असंयुक्ता ये डलकास्तद्० (२९७)
असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे (१६८)
असिद्धाधिकार. (पूर्वत्रासिद्धम्) (५६)
'आकृतिगण' विवेचन (७०)
आदे परस्य (११२)
इतरेतराश्रयाणि कार्याणि न० (३५७)
इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतर० (३७०)
इह इङ्गितेन चेष्टितेन० (११९)
ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादा० (९०)
उणादिनिष्पन्नाना तृन्तृजन्ताना० (२७८)
उत्तरोत्तर मुनीना प्रामाण्यम् (२१)
उद्भूतावयव-अनुद्भूतावयवसमु० (१९४)
उपदेश आद्योच्चारणम् (७)
उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च (५४५)
उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो० (१२६)
एकतिङ् वाक्यम् (४३६)
एकदेशविकृतमनन्यवत् (२१४)
एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते (१६०)
एका च सिकता तैलदाने० (४८८)
एकादेश. (एक पूर्वपरयो) (५१)
एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भव मिलितैश्च० (१७८)
कर्तव्योऽत्र यत्नः (६)
काच मणि काञ्चनमेकसूत्रे० (३९३)
किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य० (३७७)
कृताकृतप्रसङ्गी यो विधि सः (३६४)
क्विबन्ता धातुत्व न जहति (२७०)
क्विबन्ता विजन्ता विडन्ता धातु० (३५२)
गुणदीर्घोत्वानामपवादः (३०४)
ङित्परिभाषाविवेचन (७९)
चादिगणः (५३६)
छन्दोवत्कवय कुर्वन्ति (२३६)
छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति (७)
जनोर्स' (३८१)
जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्यो० (५४)
जश्त्वचर्त्वे (जश् व चर्त्वे) (१८४)
डित्वाभावेऽपि सिद्धेऽपि० (३३०)

तदन्तविधि (येन विधिस्तदन्तस्य) (४२)
तदादिविधि (यस्मिन्विधिस्तदा०) (४८)
तद्गुणसंविज्ञान-अतद्गुणसंविज्ञान (१७४)
तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन० (१५४)
तपरः (तपरस्तत्कालस्य) (५०)
तस्मादित्युत्तरस्य (१११)
तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (३५)
तुम्बिकातृणकाष्ठं च तैल० (५४)
तेन विनेति मर्यादा (६०)
तेन सहेत्यभिविधिः (६०)
त्यदादिष्विति दृशेः क्विन्० (४८९)
त्रिमुनि व्याकरणम् (२१)
देवदत्तस्य हन्तरि हते० (४७६)
द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति (३२१)
द्वौ नञौ तु समाख्यातौ० (३८)
धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम् (७२)
न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या० (६६)
न पादादौ खल्वादयः (५४३)
नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे० (२७८)
नरजानां संयोगः (५००)
'न लुमताङ्गस्य' विवेचन (२३९)
'न लुमताङ्गस्य' अनित्यत्वम् (३३५)
न हि पिष्टस्य पेषणम् (१६२)
न हि सर्वः सर्वं जानाति (२१)
नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यास० (३७३)
नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् (७९)
निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्य० (३५५)
निरनुबन्धकग्रहणे न सानु० (३६४)
निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति (२१३)
पदाङ्गाधिकारे तस्य च तद० (२१३)
परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे० (२९)
पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः (६४)
पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा० (१४३)
पर्युदास-प्रतिषेधः (३८)
पश्य मृगस्ते धावति (४३७)
पाणिनेर्न नदी गङ्गा यमुना च० (३०९)
पूर्वत्रासिद्धमिति विभक्तिकार्यं० (४७५)
पूर्वत्रासिद्धम् (५६)
पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधो० (४७६)
पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानाम्० (३७५)
प्रकल्प्य चापवादविषयं ततः० (३५९)
प्रकृतिवदनुकरणं भवति (३३८)
प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः (५३)
प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः (१११)
प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् (१९९)
प्रत्ययलक्षणम् (प्रत्ययलोपे०) (२३८)
प्रत्यर्थं शब्दः (१६९)
प्रत्ययात् पूर्वं क्रियत इति प्रकृतिः (१६१)
प्रवृत्तिनिमित्तम् (३४१)
प्रसज्यप्रतिषेधः (३८)
प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्या० २९२)
ब्राह्मणवसिष्ठन्यायः (१५९)
भावसप्तमीविवेचनम् (३६)
भाव्यमानोऽप्यण् क्वचित्सवर्णान्० (२६६)
मित्रवदागमा भवन्ति (१२६)
यथा देवदत्तस्यैकः पुत्रः सः० (६७)
यथासङ्ख्यविधिः (४७)
यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्० (१९७)
यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति० (३७४)
यस्मात्पूर्वमस्ति परञ्च नास्ति० (३७४)
यस्य येनार्थसम्बन्धः० (३९)
यः शिष्यते स लुप्यमानार्था० (१६९)
या पराऽनवकाशा च (२१८)
युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु० (२४०)
रपरविधिः (उरण्रपरः) (५३)
रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति (३१)
लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्त० (७८)
लक्षणं विनैव निपतति लक्ष्येषु० (४०५)
लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्य० (५२)
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योर् (५८०)

वार्णादाङ्गं बलीय (४२२)
विप्रतिषेधे परं कार्यम् (२६७)
विप्रतिषेधे यद् बाधित तद्० (२४८)
विषादप्यमृतं ग्राह्यम् (१७२)
व्यपदेशिवद्भाव (३७५)
व्यवस्थितविभाषा (८०)
व्युत्पत्ति-अव्युत्पत्तिपक्ष (१६१)
शत्रुवदादेशा भवन्ति (३८)
संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्त० (१६६)
सन्निपातलक्षणो विधिरनि० (२१५)
समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैक० (२८८)
समां वा लोपमेके (१३५)
सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूप० (४७१)
सर्वापहारलोप (३४६)
सवर्णार्थमनिगन्तार्थं च (६६)
सयोगान्तस्य लोपे हि० (२३०)
संहितैकपदे नित्या० (३५)
सार्थकनिरर्थकयो० (३६०)
सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ. (२३५)
सिंहो माणवक (२३२)
सुंडस्योरुकारेकारौ जशट० (१६१)
सूत्रशाटकन्याय. (३५७)
सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तराद० (५)
स्थान-प्रयत्न-विवेक. (२१)
स्थानषष्ठी (षष्ठी स्थानेयोगा) (३४)
स्थानिवद्भाव (स्थानिवदादेशो०) (१८१)
स्पर्शस्यैवेष्यते (१०१)
स्वरादिगण. (५१५)
स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो० (२०३)
हकारादिष्वकार उच्चारणार्थ (३)





● भैमीप्रकाशन के ग्रन्थों की नवीन मूल्यसूची ●

वैद्य भीमसेन शास्त्री M.A. Ph. D. की मुद्रित अनुपम कृतियां

(१) **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या प्रथम भाग।** यह भाग पञ्च-सन्धि-षड्लिङ्ग-अव्ययप्रकरणात्मक है। यह द्वितीय बार मुद्रित हुआ है। इस नवीनतम संस्करण मे लेखक ने अनेक नये संशोधन वा परिवर्धन किये है। विषय को परिमार्जित तथा स्पष्ट करने के लिए सैकड़ों नये उदाहरण तथा दो सौ से अधिक नये शोधपूर्ण फुटनोट तथा टिप्पण दिये गये हैं। अव्ययप्रकरण को पहले से लगभग दुगना कर दिया गया है। इस प्रकार प्रायः दो सौ पृष्ठों की ठोस सामग्री पूर्वापेक्षया इस संस्करण में अधिक संगृहीत है। अन्य भागों की तरह इस भाग को भी समानरूप में परिणत किया गया है। चार प्रकार के नवीन आधुनिक टाइपों के द्वारा मुन्दर शुद्धतम छपाई, अंग्रेजी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिड आकर्षक सम्पूर्ण कपड़े की मजबूत जिल्द। (२३ × ३६) ÷ १६ साइज के लगभग साढ़े छः सौ पृष्ठों का मूल्य केवल एक सौ रु०।

(२) **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या द्वितीय भाग।** इस भाग में तिङन्त-प्रकरण (दस गण तथा एकादश प्रक्रिया) की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ७५० पृष्ठों पर आश्रित यह महाकाय भाग वैयाकरणजगत् में अपना अपूर्व स्थान बना चुका है। इस का विशेष विवरण विस्तृत सूचीपत्र में देखें। पूर्ववत् सुन्दर छपाई, अंग्रेजी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिड कपड़े की मनोहर मज़बूत जिल्द। मूल्य केवल एक सौ रु०।

(३) **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या तृतीय भाग।** इस भाग में कृदन्त और कारक प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिये कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्रटिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिन में अढ़ाई हज़ार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है। प्रायः प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है। कारकप्रकरण लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टतः बहुत अपर्याप्त है। भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्त्तिकों की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है। पूर्ववत् अङ्ग्रेजी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिड आकर्षक कपड़े की सम्पूर्ण जिल्द। मूल्य केवल पचास रु०।

(४) **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या चतुर्थ भाग।** इस भाग में समास, तद्धित तथा स्त्रीप्रत्यय प्रकरणों की नवीन शैली से विस्तृत व्याख्या की गई है। यह भाग शीघ्र उपलब्ध होगा।

(५) **अव्ययप्रकरणम् ।** लघुकौमुदी का अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित पृथक् छपवाया गया है। इस में लगभग सवा पाञ्च सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का सकलन किया गया है। कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है। *आजतक इतना शोधपूर्ण परिश्रम* इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है। *साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में* लगे जिज्ञासुओं के लिये यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है। सुन्दर अंग्रेज़ी सिलाई, आकर्षक जिल्द। मूल्य केवल पच्चीस रु०।

(६) **वैयाकरण-भूषणसार (धात्वर्थनिर्णय) भैमीभाष्य ।** इस हिन्दी भाष्य से इस ग्रन्थ की दुरूहता समाप्त हो गई है। अब परीक्षा में भूषणसार की पङ्क्तियों को रटने की कोई आवश्यकता नहीं रही। सरल भाषा में लिखे इस ग्रन्थ का एक बार पारायण करना ही पर्याप्त है। देश-विदेश में समानरूप से आदृत यह ग्रन्थ विद्वत्समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान पा चुका है। सजिल्द मूल्य केवल तीस रुपये।

(७) **बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन ।** यह निबन्ध विद्वत्समाज की आंखों को खोलने वाला विलक्षण शोधपत्र है। एक बार पढ जाइये, ज्ञानवृद्धि के साथ साथ आप का मनोरञ्जन भी होगा। मूल्य केवल पांच रुपये।

(८) **प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ? ।** इति माहेश्वराणि सूत्राणि—के अन्धविश्वासरूप तिमिर से मुक्त होने के लिये यह शोधपत्र प्रत्येक जिज्ञासु के लिये संग्रहणीय, मननीय तथा अभ्यसनीय है। अश्रुतपूर्व दरजनों प्रमाणों के आलोक में *निश्चय ही वर्षों से छाया इस विषय का अज्ञान* मिट जायेगा। मूल्य केवल बारह रु०।

(९) **न्यास-पर्यालोचन ।** यह ग्रन्थ व्याकरणसम्बन्धी सैंकडों अश्रुत विषयों का आगार है। इस प्रकार का शोधपूर्ण प्रयत्न व्याकरणविषय पर प्रथम बार प्रकाशित हुआ है। *इस के विषयवार वैशिष्ट्य के लिये पुस्तकसूची देखें।* स्क्रीन प्रिंटिड सुन्दर जिल्द, पक्की अंग्रेज़ी सिलाई। मूल्य केवल एक सौ रु०।

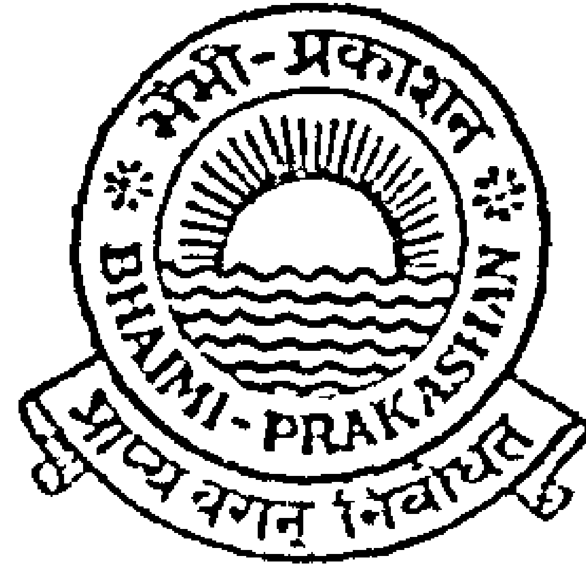
विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को विशेष कमीशन दिया जाता है।

विस्तृत सूचीपत्र के लिए लिखें—

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट,

दिल्ली-११०००६



पुस्तक-सूची

[देश-विदेश के सैंकड़ों विद्वानों द्वारा प्रशंसित संस्कृत व्याकरण के मूर्धन्य विद्वान् श्री वैद्य भीमसेन शास्त्री एम्० ए० पी० एच० डी० द्वारा लिखित उच्चकोटि के अनमोल संग्रहणीय व्याकरणग्रन्थों की सूची]

१९८०

---

१. लघुसिद्धान्तकौमुदी—भैमीव्याख्या (चार भाग)

२. वैयाकरणभूषणसार—भैमीभाष्योपेत

३. बालमनोरमाभ्रान्तिदिग्दर्शन

४. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?

५. न्यास-पर्यालोचन

भैमी प्रकाशन
५३७, लाजपतराय मार्केट
दिल्ली-११० ००६

"लघु-सिद्धान्त-कौमुदी—भैमीव्याख्या"

[वैद्य भीमसेन शास्त्री एम्० ए०, पी० एच्० डी० कृत विश्लेषणात्मक भैमीनामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित] प्रथम भाग

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है। कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली। इस व्याख्या में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास विग्रह, अनुवृत्ति अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ परिभाषाजन्य विशेषता अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शंका का पूर्णतया विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिये बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास संगृहीत किये गये हैं। इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थ सहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है। आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टि-गोचर नहीं होती। व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है। प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति व प्रसिद्ध वचन को संगृहीत करने का प्रयास किया गया है। अकेला अव्यय-प्रकरण ही लगभग साठ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि—"**यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था।**" सन्धिप्रकरण में लगभग एक हज़ार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए सङ्कलित किये गये हैं—उदाहरणार्थ अकेले '**इको यणचि**' सूत्र पर ३५ नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को तद्वत् नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है। स्थान-स्थान पर समझाने के लिये नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत प्रोत है। इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया। यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है। अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं। यह ग्रन्थ भारत-सरकार द्वारा सम्मानित हो चुका है। बृहदा-कार २०×२६—८ साइज के लगभग सात सौ पृष्ठों में इस व्याख्या का केवल पूर्वार्ध भाग समाप्त हुआ है। पूर्वार्ध भाग का लागत से भी कम मूल्य केवल तीस रुपया रखा गया है।

पाण्डीचरी स्थित अरविन्दयोगाश्रम का प्रमुख त्रैमासिक पत्र 'अदिति' इस व्याख्या के विषय में लिखता है—

"जहां तक हमें ज्ञात है यह आधुनिक शैली से विश्लेषणपूर्वक विषय का मर्म समझाने वाली अपने ढंग की पहली व्याख्या है। व्याख्याकार ने भाष्यशैली में आधुनिक-व्याख्याशैली का पुट देकर सर्वांग सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। इस में मूल ग्रन्थ के एक-एक शब्द व विचार को पूरा-पूरा खोल कर पाठकों के हृदय पर अंकित कर देने का सुन्दर यत्न किया गया है। विद्वान् व्याख्याकार ने लघुसिद्धान्त-कौमुदी की भैमी-नामक सर्वांगपूर्ण व्याख्या प्रकाशित कर के राष्ट्रभाषा की महान् सेवा की है। व्याकरण में प्रवेश के इच्छुक छात्र, व्युत्पन्न विद्यार्थी, जिज्ञासु, व्याकरणप्रेमी, अध्यापक और अन्वेषक सभी के लिये यह ग्रन्थरत्न एक-सा उपयोगी सिद्ध होगा।"

हिन्दी के प्रमुख मासिक पत्र 'सरस्वती' की सम्मति—

"लघुकौमुदी पर अब तक हिन्दी में कोई विश्लेषणात्मक व्याख्या नहीं निकली है। प्रस्तुत व्याख्या की लेखनशैली, क्लिष्ट स्थलों का विस्तृत उद्घाटन तथा सूत्रों की प्राञ्जल व्याख्या प्रत्येक संस्कृतप्रेमी पाठक पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकेगी। पुस्तक न केवल विद्यार्थियों वरन् संस्कृत का अध्ययन करने वाले सभी लोगों के लिये संग्रहणीय है।"

उत्तर भारत का प्रमुख पत्र 'नवभारत टाइम्स' लिखता है कि—

"लेखक महोदय ने कई वर्षों के कठोर परिश्रम के पश्चात् यह ग्रन्थ तैयार किया है जो उपयोगी है। ग्रन्थकर्ता स्वयं विद्याव्यसनी हैं और विद्याप्रसार ही उनके जीवन की लगन है। हमें पूरी-पूरी आशा है कि आबाल-वृद्ध संस्कृत-प्रेमी इस ग्रन्थरत्न को अपनाकर परिश्रमी लेखक के इस प्रकार अन्य भी अपूर्व ग्रन्थ प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे।"

दिल्ली का प्रमुख हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' लिखता है—

"वैसे तो कौमुदी की अनेक हिन्दी टीकाएं निकल चुकी हैं; मगर इस व्याख्या की अपनी विशेषताएं हैं। इसमें व्याकरण शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के आधुनिक तरीकों का सहारा लिया गया है। सूत्रार्थ और अभ्यास इसी के उदाहरण हैं। लघु-कौमुदी में आये प्रत्येक सूत्र की अर्थविधि को जानने के बाद विद्यार्थी को वृत्ति घोटने की आवश्यकता न रहेगी। वह सूत्रार्थ समझ कर स्वयमेव उसकी वृत्ति तैयार करने योग्य हो सकेगा। लघुकौमुदी के आये प्रत्येक शब्द के रूप देकर टीकाकार ने शब्द-रूपावली का पृथक् रखना व्यर्थ कर दिया है। इसी सिलसिले में करीब दो हज़ार शब्दों की अर्थसहित सूची देकर टीकाकार ने इस विशेषता को चार चाँद लगा दिये हैं। अव्यय प्रकरण इस पुस्तक की पाँचवी बड़ी विशेषता है—। यह हिन्दी टीका विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। एक बार अध्यापक से पढ़ने के बाद वे इस टीका के सहारे बड़े आराम से पुनरावृत्ति कर सकते हैं। उन्हें ट्यूटर रखने की आवश्यकता न रहेगी।

यह टीका उनके लिए ट्यूटर का काम करेगी। आशा है कि संस्कृत व्याकरण का अध्यापन करने वाली संस्थाएं इस ग्रन्थ का हृदय से स्वागत करेंगी।'

राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत, पदवाक्यप्रमाणज्ञ, स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, आचार्य पाणिनि महाविद्यालय काशी की सम्मति—

"मैंने लघुसिद्धान्तकौमुदी पर श्रीभीमसेनशास्त्रिकृत भैमीव्याख्या सूक्ष्मरीत्या देखी है। काश ! कि शास्त्री जी ने ऐसी व्याख्या अष्टाध्यायी पर लिखी होती। परन्तु इतना मैं निःसन्देह कह सकता हूं कि इस प्रकार विशद स्पष्ट और सर्वांगीण व्याख्या लघुकौमुदी पर पहली बार देखने को मिली है। इस व्याख्या में अष्टाध्यायी पद्धति का जो पदे-पदे मण्डन किया गया है उसे देख कर मुझे अपार हर्ष होता है।"

अनुसन्धानविद्यानिष्णात डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल की सम्मति—

"मैंने लघुसिद्धान्तकौमुदी पर श्रीभीमसेन शास्त्री जी की विशद भैमीव्याख्या का अवलोकन किया। यह व्याख्या मुझे बहुत पसन्द आई। ऐसा स्तुत्य परिश्रम हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा ही सर्वप्रथम प्रकट हुआ है। यह व्याख्या कठिन से कठिन विषय को भी अत्यन्त सरलशैली से हृदयंगम कराने में सफल हो सकी है। प्रश्न-उत्तर, शंका-समाधान, सूत्रार्थ का स्फोरण करते समय स्थान-स्थान पर परिभाषाओं का उपयोग, अविकल रूपावलियां, सार्थ शब्दसंग्रह तथा परिश्रम से जुटाए गये अभ्यास आदि इस व्याख्या की अपनी विशेषताएं हैं। अव्ययप्रकरण का निखार प्रथम बार इस में देखने को मिला है। व्याकरण के ग्रन्थों पर इस प्रकार की व्याख्याएं निःसन्देह प्रशंसनीय हैं। यदि शास्त्री जी इस प्रकार की व्याख्या सिद्धान्त-कौमुदी पर भी लिखें तो छात्रों और अध्यापकों का बहुत उपकार होगा। मैं हृदय से इस ग्रन्थ के प्रचार एवं प्रसार की कामना करता हूं।"

"लघु-सिद्धान्त-कौमुदी—भैमीव्याख्या"

(द्वितीय भाग—तिङन्तप्रकरण)

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में दस गण और एकादश प्रक्रियाओं की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है। तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Backbone) समझा जाता है। क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है। अतः इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है। लगभग दो सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है। प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य वैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं। चार

सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हज़ार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शंका-समाधान इसमें दिये गए हैं। अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिए गए हैं। जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों से प्रक्रियाओं को इसमें समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इससे प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छः प्रकार के परिशिष्ट दिये गए हैं। ग्रंथ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज़ पर अत्यन्त शुद्ध व सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है। यह ग्रन्थ भी भारत सरकार से सम्मानित हो चुका है। यह भाग २३ × ३६ ÷ १६ आकार के ७५० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मूल्य लागत से भी कम केवल तीस रुपये।

इस भाग के विषय में श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री पाणिनीय लिखते हैं—

"इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक कभी नहीं हुई। यह अद्वितीय ग्रन्थ है। यह व्याख्या न केवल बालकों अपितु उपाध्यायों के लिए भी उपयोगी है। शब्दसिद्धि सर्वत्र स्फटिकवत् स्फुट और हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष, परिपूर्ण और असन्दिग्ध है कि इस के ग्रहण के लिए अध्यापक की अपेक्षा नहीं रहती। कौमुदीस्थ प्रत्येक धातु की अविकलरूपेण सूत्राद्युपन्यासपूर्वक सविस्तर सिद्धि दी गई है। व्याख्यांश में भी यह कृति अत्यन्त उपकारक है। स्थान-स्थान पर धात्वर्थप्रदर्शन के लिए साहित्य से उद्धरण दिये गये हैं। धातूपसर्गयोग को भी बहुत सुन्दर काव्यनाटकों से उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। यह इस कृति की अपूर्वता है। इस व्याख्या के प्रणयन में शास्त्री जी ने अथाह प्रयत्न किया है। महाभाष्य, न्यास, पदमञ्जरी आदि का वर्षों तक अवगाहन करके उन्होंने यह व्याख्या लिखी है—।"

इस भाग के विषय में दिल्ली का नवभारत टाइम्स लिखता है—

"संस्कृत व्याकरण के अध्ययन में कौमुदी ग्रन्थों का अपना स्थान है। प्रायः लघुकौमुदी से ही व्याकरण का आरम्भ किया जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ का समझना आसान नहीं है। छात्रों के लिए यह ग्रन्थ वज्र के समान कठोर है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीभीमसेनशास्त्री ने इस की हिन्दी व्याख्या की है। व्याख्याकार राजधानी के सुप्रसिद्ध वैयाकरण हैं। इस व्याख्या को देखकर हम दावे के साथ कह सकते हैं कि ऐसी व्याख्या लघु तो क्या, सिद्धान्तकौमुदी की भी नहीं प्रकाशित हुई। इस व्याख्या का प्रथम भाग आज से बीस वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। तब इसका भारी स्वागत हुआ था। जनता को उस के उत्तरार्द्ध भाग की व्याख्या की तभी से उत्कट लालसा रही है। लेखक ने अब इसे प्रकाशित कर जहां छात्रों का उपकार किया है, वहां शिक्षकों, प्राध्यापकों को भी उपकृत किया है। इस में लेखक का गहन अध्ययन, कठोर परिश्रम

तथा विद्वत्ता स्थान-स्थान पर प्रकट होते ही हैं। छात्रोपयोगी किसी भी विषय का विवेचन छोड़ा नहीं गया। यह इस की बड़ी भारी विशेषता है। इस भाग मे तिङन्त-प्रकरण (दशगण तथा एकादश प्रक्रियाओं) का अत्यन्त विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह प्रकरण धातुसम्बन्धी होने से व्याकरण का प्राण है। इस मे प्रत्येक धातु के दस लकारों की ससूत्र प्रक्रिया साध कर उनकी सारी रूपमाला भी दी गई है। इससे विद्यार्थियो को धातुरूपावलियो की आवश्यकता नहीं रहती। छ सौ के करीब टिप्पणिया तथा साढे चार सौ से अधिक उपसर्गयोग इस ग्रथ की अपनी अपूर्व विशेषता है। इन के लिए व्याख्याकार ने महान् श्रम कर विपुल संस्कृत-साहित्य से जो डेढ हजार के करीब अत्यन्त सुन्दर संस्कृत की सूक्तियों का चयन किया है। वह स्तुत्य है। सैंकडो उपयोगी शका समाधान तथा णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त भावकर्म आदि अर्थ सहित कई शतक विद्यार्थियो के लिए निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होंगे। इस ग्रन्थ की उत्कृष्टता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अकेली भूधातु पर ही विद्वान् व्याख्याकार ने ६० पृष्ठों मे अपनी व्याख्या पूर्ण की है।

सक्षेप मे इस व्याख्या को लघुकौमुदी का महाभाष्य कह सकते हैं। यह ग्रथ न केवल छात्रो, परीक्षार्थियो तथा उपाध्यायो, अध्यापकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा बल्कि अनुसधान मे रुचि रखने वालों के लिए भी परमोपयोगी एव सहायक सिद्ध होगा। इसे पढने से जहा व्याकरण जैसे शुष्क विषय मे सरसता पैदा होती है वहा अनुसधान कार्य को भी बढावा मिलता है। हिन्दी मे ऐसे ग्रथ स्वागत योग्य हैं।" (२६.८.७१)

"लघु-सिद्धान्त-कौमुदी—भैमीव्याख्या"

(तृतीय एव चतुर्थ भाग—प्रेस मे)

भैमीव्याख्या के अन्तिम तृतीय तथा चतुर्थ भाग शीघ्र छपने जा रहे हैं। तृतीय भाग मे कृदन्त और कारक एव चतुर्थ भाग मे समास तद्धित और स्त्रीप्रत्यय का विस्तृत वैज्ञानिक तुलनात्मक विवेचन किया गया है। कृदन्तप्रकरण मे तव्यत्-अनीयर् प्रत्ययान्तो, क्त्वाप्रत्ययान्तों, ल्यबन्तो और तुमुन्नन्तो की सार्थ विस्तृत तालिका देखते ही बनती है। क्त और क्तवतु प्रत्ययान्तो की तालिका भी बडे यत्न से सगृहीत की गई है। यह भाग काव्यादि के सुन्दर उदाहरणो से यत्र तत्र ओत प्रोत है। स्थान-स्थान पर अनुसधानोपयोगी विशेष टिप्पण और शका-समाधान दिये गये हैं। कारक-प्रकरण को पर्याप्त लम्बा और स्पष्ट किया गया है। इस के स्पष्टीकरणार्थ मूलातिरिक्त अन्य अनेक सूत्र भी सार्थ सोदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकरण का छात्रोपयोगी शुद्धाशुद्धविवेचन विशेष उपयोगी है। समास और तद्धितप्रकरण का इतना विस्तृत व्याख्यान पहली बार इस व्याख्या मे उपलब्ध हुआ है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त मे अभ्यास दिये गये हैं। स्त्रीप्रत्ययो पर छात्रोपयोगी विस्तृत तालिका इस व्याख्या की अपनी विशेषता है। ग्रन्थ के अन्त मे अनुसन्धानोपयोगी नाना प्रकार के परिशिष्ट बडे काम की वस्तु हैं।

"वैयाकरण-भूषण-सार—भैमीभाष्योपेत"

(धात्वर्थनिर्णयान्त)

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है। व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिये इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है। परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली—हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रांतीय व विदेशी भाषा में इसका अनुवाद तक उपलब्ध नहीं। विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्रायः सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे। परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दीभाष्य के प्रकाशित हो जाने से उनका भय जाता रहा। छात्रों व अध्यापकों के लिये यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है। इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों व फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भांति व्यक्त किया है। भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं। अतः छात्रों व अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह-जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मक-रीत्या प्रतिपादित किया गया है। इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है। विषय को समझाने के लिये अनेक चार्ट दिये गये हैं जैसे—वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शन-शास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है। ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिये सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु हैं। वस्तुतः व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है। इस भाष्य की प्रशंसा में देश-विदेश के विद्वानों के प्रशंसा-पत्र धड़ाधड़ आ रहे हैं। **भारत सरकार द्वारा यह ग्रन्थ सम्मानित हो चुका है।** ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज़ पर अत्यन्त शुद्ध व सुन्दर ढंग से छः प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है। मूल्य २५ रुपये।

"नवभारत टाइम्स" इस ग्रन्थ की आलोचना करता हुआ लिखता है—

"ग्रन्थ के भावों और गूढ़ आशयों को व्यक्त करने वाले पदे-पदे वक्तव्यों और पादटिप्पणों से लेखक का गम्भीर अध्ययन व श्रम स्पष्ट झलकता है। पञ्चमी और त्रयोदशी कारिकाओं पर अकर्मक और सकर्मक धातुओं के लक्षण का आशय जैसा इस भाष्य में स्पष्ट किया गया है अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इस तरह के अन्य भी

शतश स्थल उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किये जा सकते हैं। शास्त्रीजी की शैली अध्येताओ व पाठको के मन मे उत्पन्न होने वाली सम्भावित शकाओं को बटोर-बटोर कर ध्वस्त करने की क्षमता रखती है। द्वितीय कारिका की व्याख्या का लगभग सत्तर पृष्ठो मे समाप्त होना ज्वलन्त प्रमाण है। हिन्दी मे इस प्रकार के यत्न स्तुत्य हैं।'

(९ मार्च, १९६९)

बम्बई विश्वविद्यालय के सस्कृतविभाग के अध्यक्ष डाक्टर त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर लिखते हैं—

'Students of Grammar will always remain indebted to Bhim Sen Shastriji for his very valuable help available in his commentary I wish Bhim Sen Shastriji writes similar commentaries on other works in the field of Grammar and renders service both to the subject of his love and to the world of students and scholars I once again congratulate him'

अर्थात् श्रीभीमसेन शास्त्री के इस बहुमूल्य व्याख्यान को पाकर व्याकरण के विद्यार्थी उन के सदा ऋणी रहेंगे। मैं चाहता हू कि शास्त्री जी इस प्रकार की व्याख्यायें व्याकरण के अन्य ग्रन्थों पर भी प्रकाशित करते हुए विद्यार्थियो तथा अनुसन्धानप्रेमियों का उपकार करेंगे। मैं शास्त्री जी को उनके इस कार्य के लिए पुन बधाई देता हू।

डा० सत्यव्रत जी शास्त्री व्याकरणाचार्य, प्रोफेसर एव सस्कृतविभागाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय लिखते हैं—

"वैयाकरणभूषणसार ग्रन्थ के क्लिष्ट शब्दावली मे लिखा होने के कारण विद्यार्थियों को इसे समझने मे बहुत कठिनाई हो रही थी। इसी कठिनाई को दूर करने की सदिच्छा से प्रेरित हो सुप्रसिद्ध वैयाकरण प० भीमसेन शास्त्री ने हिन्दी मे इसकी सरल और सुबोध व्याख्या लिखी है। शास्त्री जी का व्याकरणशास्त्र का अध्ययन अति गहन है। विषय स्पष्टातिस्पष्ट हो, इस विषय मे सतत उद्योगशील रहे हैं। इसका यह परिणाम है कि उन की व्याख्या मे गहराई भी है और विशदता भी। यह व्याख्या विद्वानों के लिए एव विद्यार्थियों के लिए एक समान उपयोगी है।"

स्व० श्री पण्डित कुबेरदत्तजी शास्त्री व्याकरणाचार्य प्रिंसिपल श्री राधाकृष्ण सस्कृतमहाविद्यालय, खुर्जा लिखते हैं—

"वैयाकरणभूषणसार पर विशद भैमीभाष्य को पाकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई। ऐसा परिश्रम हिन्दी में प्रथम बार हुआ है। यह भाष्य न केवल विद्यार्थियों व परीक्षार्थियों के लिए अपितु अध्यापकों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। व्याख्यान की शैली नितान्त हृदयहारिणी तथा स्तुत्य है। व्याकरण के अन्य दार्शनिक ग्रथों की भी इसी शैली मे उन्हें व्याख्या करनी चाहिये। मैं शास्त्री जी को उनकी सरल कृति पर बधाई देता हू।"

डा० रामचन्द्र जी द्विवेदी प्रोफेसर एव सस्कृतविभागाध्यक्ष, जयपुर यूनिवर्सिटी अपने एक पत्र मे लिखते हैं—

"I gratefully acknowledge receipt of a copy of the Vaiyakarana-Bhusana-Sara Your knowledge of the grammar is profound and subtle and the world of scholars expect many such good works from your pen."

अर्थात् "आप का व्याकरणविषयक ज्ञान गम्भीर एवं व्यापक है। विद्वत्समाज आप की लेखनी से इस प्रकार की अनेक सुन्दर कृतियों की आशा करता है।"

गुरुकुल झज्झर के आचार्य तपोमूर्ति श्रीभगवान्देवजी आर्य लिखते हैं—

"आप का परिश्रम स्तुत्य है। छात्रों के लिए इस ग्रन्थ का आर्यभाषानुवाद कर के आपने महान् उपकार किया है। आप को अनेकशः बधाइयां।"

बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन

[लेखक – वैद्य भीमसेन शास्त्री M. A. Ph. D. साहित्यरत्न]

श्री भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्री वासुदेव दीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है। पिछली अर्धशताब्दी में इसके कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो चुके है। परन्तु शोक से कहना पडता है कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादको ने इस ग्रन्थ के साथ जरा भी न्याय नही किया, इसे पढने तक का भी कष्ट नही किया। यही कारण है कि इस मे अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धिया दृष्टिगोचर होती है। इस से पठन-पाठन मे बहुत विघ्न उपस्थित होता है। इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध मे बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आप इस शोधपत्र को पढ़ कर मनोरंजन के साथ-साथ प्रक्रियामार्ग मे अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते है। इसमे स्थान-स्थान पर विद्वानो की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियां ली गई हैं। यह निबन्ध प्रकाशको, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियो सब की आंखो को खोलने वाला एक समान उपयोगी है। हिन्दी मे इस प्रकार का साहसपूर्वक प्रयत्न पहली बार किया गया है। अनेक प्रकार के टाइपों मे मैप्लीथो कागज पर छपे सुन्दर शोधपत्र का मूल्य—पाच रुपये केवल।

प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?

[लेखक —वैद्य भीमसेन शास्त्री M.A. Ph. D. साहित्यरत्न]

इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध मे प्रत्याहार सूत्रों (अइउण् आदि) के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक पूर्ण विचार किया गया है। दर्जनों नये प्रमाणों का युक्तियुक्त विवेचन पहली बार इस विषय पर प्रस्तुत किया गया है। एक बार इसे पढ़ जाइये आप अन्धविश्वास के घेरे से अपने आपको अवश्य मुक्त पाएंगे। अनेक प्रकार के टाइपों में मैप्लीथो कागज पर छपे सुन्दर शोधपत्र का मूल्य—पाच रुपये केवल।

न्यास—पर्यालोचन

[A CRITICAL STUDY OF JINENDRA BUDDHI'S NYASA]

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिकाविवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत्काय शोधप्रबन्ध है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी० एच्० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत किया गया है। यह शोधप्रबन्ध वैद्य भीमसेन शास्त्री द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है। इसमें कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है। जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इसमें उसे पूर्णतया वैदिकधर्मी सिद्ध किया गया है। यह शोधप्रबन्ध छ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवास-स्थान, न्यास का वैशिष्ट्य, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में 'न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण' नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है। इस में केवल पाणिनीय वैयाकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीतर चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में 'उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन' नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है। इस में उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं। चतुर्थ अध्याय में 'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन' नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है। इसमें काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है। पञ्चम अध्याय में न्यासकार की भ्रान्तियों तथा न्यास के एक सौ भ्रष्ट-पाठों का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है। व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय व पाणिनीतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है। यह ग्रन्थ प्रत्येक पुस्तकालय के लिए संग्राह्य है तथा व्याकरणशास्त्र में शोधकार्य करने वाले शोधच्छात्रों के लिए नितान्त उपयोगी है। सुन्दर मैप्लीथो कागज, पक्की अंग्रेजी सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिड, आकर्षक मजबूत जिल्द से सुशोभित ग्रन्थ का मूल्य—केवल एक सौ रुपये।

प्राप्तिस्थान—

भैमी प्रकाशन

५३७ लाजपतराय मार्केट, (दीवान हाल के सामने)

दिल्ली—११०००६

BHAIMI PRAKASHAN

(1) LAGHU SIDDHANT KAUMUDI—BHAIMI VYAKHYA PART-I

Bhaimi Vyakhya of Shri Bhim Sen Shastri is unique and first of its kind published in Hindi, in its detailed and scientific exposition of the Laghu Siddhant Kaumudi. The fact that part-I (पूर्वार्धं) runs into more than 600 pages (large size), speaks for the pains-taking nature, depth of learning and experience of the author. He has left no stone unturned to make the subject as simple and easy to grasp as possible for the students and to achieve this aim, he has combined traditional method with the modern and scientific method of teaching and analysis.

The author has taken great pains to bring home to students the meaning of the Sutras without the help of Vrittis. At the end of each section have been appended excercises, prepared with great care and caution to remove the doubts of studens. Declensions of all the words mentioned in the L. S. K. have been given in the Bhaimi Vyakhya. This does away with the need to have a separate Roopmala. The author has also given a list of about 2000 words with meanings. These include many rare and uncommon words. This is a real help in translation. The unique feature of the publication is the section on Avyaya (अव्यय), which has been acclaimed by eminent scholars and erudite pandits as an original contribution to the subject. The several indexes at the end are very useful.

The language of the work is very simple and lucid. The difficult and knotty points have been handled deftly. On controversial subjects, the views of all the well-known authorities have been quoted. The author is not a blind follower of tradition in matter of interpretation and meaning of Sutras. Wherever he

differs, he gives convincing arguments in support of his own view, which gives a stamp of his deep study, research and vast teaching experience Bhaimi Vyakhya in short is a self tutor and is of immense help to teachers and research scholars For a book of about 650 pages of large size the price of Rs 30/- is extremely low

(2) LAGHU SIDDHANT KAUMUDI—BHAIMI VYAKHYA PART-II

Part II of Bhaimi Vyakhya on Laghu Siddhant Kaumudi deals with the तिङन्त section which is known as the backbone of Sanskrit grammar The work is an original commentary in the traditional style which combines the modern scientific technique of exposition and comparative analysis The work is unique in the प्रक्रिया portion The author has given detailed प्रक्रिया of about 1500 verbal forms besides conjugations of more than 300 verbs in all the ten tenses and moods The use and meaning of different उपसर्गs in combination with verbs has been illustrated in about 1000 quotations taken from the famous Sanskrit works For the benefit of students, exercises have been given at the end of each sub section The causal, desiderative intensive and denominative verbal forms have been ably explained One hundred illustrations of each of these forms have been given with meaning The inclusion of well known controversies, with the view point of each side and author's own, is a special feature of the work In many places, the author has offered new solutions to difficult problems left un-attended even by Varadaraja himself At the end of the publication have been appended six indexes, of which special mention may be made of no 5

This voluminous work running into 750 pages has been priced Rs 30/- only which is very low, keeping in view its technical excellence and the labour involved in bringing out in such a publication

(3) LAGHU SIDDHANT KAUMUDI—BHAIMI VYAKHYA PART-III-IV

The last two parts of the Bhaimi Vyakhya on L.S K are being readied for the press Like the first two parts these parts too

deal in great details with कृदन्त, कारक, समास, तद्धित and स्त्रीप्रत्यय and contain excellent material for research scholars. The section on Karakas has been elaborated by inclusion of a sufficient number of new Sutras not found in the original L.S.K. of Varadaraja. The exposition of Samas and Taddhit has also been done at such a great length for the first time. As in the fiirst two parts, exercises have been added at the end of each sub-section.

(4) VAIYAKARAN BHUSHAN SARA

Vaiyakaran Bhushan Sara of Kaundbhatt is an important treatise of Sanskrit grammar and occupies a special position for its exposition of the principles of philosophy of grammar. This has been prescribed as a text-book for M.A., Acharya, Shastri etc. degrees. The work is quite a difficult one and at places incomprehensible for even the brilliant students. This is evident from the fact that till recently no translation of V.B.S. in English, Hindi or any other language of country (except in Sanskrit) was available. The Bhaimi Bhashya of Shri Bhim Sen Shastri has filled this long felt need. Bhim Sen Shastri is an eminent Sanskrit scholar and grammar is dear to his heart. He has been teaching Sanskrit grammar for more than 3 decades and through his researches has carved out a place for himself in the field. This is borne out by the commentary on the धात्वर्थ-निर्णय of V.B.S. This commentary has won him laurels from whithin and outside the country and has been given recognition by the Government of India too. The explanations of the knotty points in simple and flowing language are remarkable. His style of raising the doubt and putting forth its solution is commendable. Particularly praiseworthy are elucidations of Karikas 2, 5 and 13. At the end of the book, the author has given indexes which are very useful for teachers, students and reasearch scholars. Dr Satya Vrat Shastri, Professor and Head of Sanskrit Department, Delhi University has contributed a scholarly introduction.

The book has been printed very nicely on maplitho paper and is clothbound. This makes it very useful, particularly for libraries. It is priced only Rs. 25/- which is considered on the low side keeping in view the prices of research work of comparative merit.

(5) A STUDY OF NYASA

Recently the famous research work of Shastriji under the caption 'Nyasa Paryalochana' (in Hindi) has been published This is an original contribution towards the study of 'Kasika-Vivarana Panjika' also known as 'Nyasa the earliest known commentary on 'Kasika' and it has been accepted for the award of Ph D degree by the University of Delhi Infact it is the result of Shastriji's many years' continuous study and loving labour Several current notions have been boldly contradicted For example, Nyasakara is still believed to be a Buddhist, but in this thesis several evidences have been put forward to show that he was a follower of Vedic religion

The thesis is divided into six chapters The first chapter, while giving general introduction to the Nyasa and its author, deals with the latter's time and place, the salient features of Nyasa its elegant and fluent style and a comparative study of Nyasa and Hardatta's Padamanjari

The second chapter deals with entirely a new research subject 'Later Grammarians' indebtedness to Nyasa This discusses not only Paninian grammars but also includes the ten main non-Paninian grammars, viz Chandra, Jainendra, Katantra, Sakatayana, Saraswatikanthabharan, Hemchandra's Sabdanusasana, Malayagirisabdanusasana, Sankshiptasara, Mugdhabodha & Sarasvata

The third chapter entitled 'Refutation of Nyasa by Later Grammarians' discusses another topic not touched upon earlier by anyone Here the author examines the later grammarians' criticisms of Nyasakara by presenting in elaborated details the reasons for their soundness or otherwise

The forth chapter deals with an important issue 'Correction of Kasika texts in the context of Nyasa' The author has pointed out at length the grave mistakes committed by the modern eminent scholars in editing Kasika and has offered rectification of several of its incorrect texts with justifications in the context of Nyasa

The fifth chapter gives a detailed account of the misconceptions of Nyasakara and an hundred incorrect readings